प्रकाशक
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड,
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता – ६

मुद्रक
पं० हजारीलाल शर्मा, जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता – ७

प्रकाशकीय निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक के साथ, आयुर्वेद प्रेमी सज्जन तथा विद्वत् समाज के समक्ष, समुपस्थित होते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। हर्ष इसलिए नहीं कि एक हजार से अधिक पृष्ठों में समाप्त होनेवाली यह एक भारी-भरकम पुस्तक है। बल्कि हर्ष इसलिए कि इस ग्रन्थ से एक ऐसे विषय पर प्रकाश पड़ता है जिसकी व्यापक अनुपलब्धि के कारण चिकित्सा तथा आयुर्वेद-शास्त्र के अच्छे जानकार लोगों में भी निराधार भ्रम का संचार हो रहा था। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अब इस प्रकार के भ्रम का निराकरण होगा एवं संक्रामक रोगों को केवल वर्तमान विज्ञान की शोध का परिणाम न माना जाकर प्राचीन आयुर्वेदीय शोध और चिकित्सा की देन को भी स्वीकार किया जायगा।

संक्रामक रोग के जितने भी पर्यायवाची शब्द हैं, उन सब के मूल शब्द आयुर्वेदीय प्राचीनतम ग्रन्थों में पाये जाते हैं। औपसर्गिक रोग या संक्रामक रोग, ये शब्द वर्तमान शताब्दी द्वारा नवनिर्मित शब्द नहीं हैं। बल्कि ये शब्द आयुर्वेद के अति प्राचीन चरक-सुश्रुत जैसे ग्रन्थों में इन्हीं अर्थों में तथा इसी सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। चरक-संहिता में एपीडेमिक व इन्डेमिक महामारी के अर्थ में जनपदोध्वंसक शब्द प्रयुक्त हुआ है और संक्रामक रोगों के कारणों तथा चिकित्सा पर विशद विवेचन भी किया गया है। जिज्ञासु व्यक्तियों को उक्त पुस्तकों के मर्म तक पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिये।

पाश्चात्य मत से जब जीवाणुवाद का सिद्धान्त स्थिर हो गया, तो उसके बाद से ही उन्हें संक्रामक रोगों के निदान और चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त हुआ। क्योंकि इसके पूर्व संक्रामक रोगों के कारण व संक्रमण का उन्हें बिल्कुल जानकारी नहीं थी। इसीलिये उनका ख्याल था कि आयुर्वेद में भी इसका विवेचन नहीं होगा। किन्तु, भारतीय चिकित्सकों को ईसा से हजार वर्ष पूर्व इन संक्रामक रोगों के कारण—देश, जल, वायु तथा काल का ज्ञान था। वे इन रोगों के प्रसार-मार्ग त्वचा, श्वास तथा मुख को भलीभाँति जानते थे।

पाश्चात्य विज्ञान ने प्रायः सभी संक्रामक रोगों का कारण एक विशिष्ट

जीवाणु या कृमि को माना है। परन्तु फिर भी आज अनेक संक्रामक रोग जैसे— लघु मसूरिका, बृहन्मसूरिका, रोमान्तिका इत्यादि ऐसे हैं जिनके बहु व्यापक होते हुए भी इनके जीवाणुओं का पता अबतक आधुनिक विज्ञान को नहीं लगा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें रोगों के निदान और चिकित्सा का ज्ञान नहीं है अथवा वे संक्रामक रोगों की समुचित व्यवस्था की धारणा ही नहीं रखते हैं। इसी प्रकार डाक्टर केवल जीवाणुज्ञाता होने से यह नहीं कह सकते कि आयुर्वेदीय मत से चिकित्सा करने वाले वैद्य संक्रामक रोगों की चिकित्सा करने में असमर्थ होते हैं।

कितने ही रोगों के जीवाणु का ज्ञान होने पर भी उनके जीवाणु द्वारा निर्मित वैक्सीन उतने लाभदायक नहीं होते जितने उन्हें सैद्धान्तिक दृष्टि से होने चाहिए। यथा—सूजाक, उपदंश, मियादी बुखार, मैलेरिया ज्वर, हैजा, राजयक्ष्मा इत्यादि।

वैद्यों को यह नहीं सोचना चाहिए कि जीवाणुओं का ज्ञान न होने से हम संक्रामक रोगों के निदान या चिकित्सा करने में किसी से पीछे हैं। अबतक जितने भी नवीन सिद्धान्त प्रकट हुए हैं, उन सब का अन्तर्भाव आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अन्तर्गत हो जाते हैं। आयुर्वेद का शाब्दिक अर्थ ही जीवन-विज्ञान या शास्त्र है। अत जनकल्याणकारी अन्य पैथियों में भी जो उत्तम चीजें मिलें, उन्हें अपने में आत्मसात् कर लेने में कोई अनुचित नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक "संक्रामक रोग विज्ञान" में इसी दृष्टिकोण का आश्रय लेकर विद्वान् वैद्य प० बालक रामजी शुक्ल ने प्राच्य-पाश्चात्य सिद्धान्तानुसार संक्रामक रोगों के निदान और चिकित्सा का सविस्तर वर्णन कर पुस्तक को सर्वजनोपयोगी बना दिया है। इस परिश्रम के लिए श्री शुक्लजी समस्त आयुर्वेद प्रेमी संसार के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में एक निवेदन हम यहाँ और करना चाहते हैं। इस पुस्तक की छपाई बड़ी जल्दीबाजी में हुई है। अत इस संस्करण में हम कई आवश्यक संशोधन नहीं कर पाये। आशा है कि अगामी संस्करण में हम मनोवाञ्छित संशोधन-परिवर्द्धन कर सकेंगे। आयुर्वेद-जगत् को इस ग्रंथ के प्रकाशन से एक लुप्तप्राय रत्न की प्राप्ति हो रही है, इसी विश्वास के कारण इस ग्रन्थ के प्रकाशन से हमें सन्तोष है।

कलकत्ता
१२-१२-५३

व्यवस्थापक
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

भूमिका

आज मैं श्री गुरुचरणों को स्वान्त करण में रखकर सक्रामक रोग विज्ञान नामक ग्रन्थ को आयुर्वेदीय चिकित्सक-मण्डल तथा आयुर्वेद के प्रेमियों के समक्ष सक्रामक रोगों से पीड़ित जनता की रक्षा करने के लिये यथाशक्ति प्राच्य-प्रतीच्य सिद्धान्तों का समन्वय करते हुये उपस्थित करता हूँ।

संक्रामकरोग-विज्ञान का नामकरण

सक्रामक रोग विज्ञान—सम् उपसर्ग पूर्वक पादविक्षेपार्थक क्रम धातु से तद्धितान्त प्रत्यय द्वारा सक्रामक शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ यह होता है कि एक समय में समान रूप से जनपद, देश, नगर तथा ग्रामादि के निवासियों में सक्रमण करनेवाले रोगों को सक्रामक रोग (Infection Disease) कहते हैं। उन रोगों के जीवाणु-कारण-कलाप तथा सम्प्राप्ति, पूर्वरूप, रूप और चिकित्सा प्रभृति का एलोपथी और आयुर्वेदीय पद्धति से जिस ग्रन्थ में वर्णन किया गया हो उसे 'सक्रामक रोग-विज्ञान' कहते हैं।

प्रामाण्य चतुष्टय से संक्रामक रोगों का प्रतिपादन

जिस भारत भूमि में प्रादुर्भूत होने के लिये देवगण भी लालायित रहते थे और सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल पर जहाँ के विद्वान् शिक्षा-प्रसार कर गुरुपद पर आरूढ़ होते थे आज सक्रामक रोगों के द्वारा उसकी दीन-हीन अवस्था देखकर हृदय कम्पायमान हो जाता है। एक-एक सक्रामक रोग की भयकरता का नग्न स्वरूप राजकीय मृत्यु-तालिका से ज्ञात होता है।

सक्रामक रोगों के विज्ञान के विषय में पाश्चात्यशिक्षा शिक्षित महानुभावों की यह धारणा है कि भारतीय चिकित्सक संक्रामक रोगों के विज्ञान के विषय में सर्वथा शून्य होते हैं। इसका कारण वे यह समझते हैं कि सक्रामक रोगजनक जीवाणुओं का अन्वेषण डॉ॰ हाल्डर ने सन् १८४९ और डा॰ ब्यूनर ने १८५० ई॰ में किया, इसके पश्चात् जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् डा॰ काक ने सन् १८७६ में विशेष अनुसन्धान करके यह सिद्ध किया था कि बहुत से रोगों का मूल-कारण जीवाणु ह है। अत सक्रामक रोगों का ज्ञान और उनकी चिकित्सा का श्रेय एक शताब्दी

से पूर्व प्रतीच्य विद्वानों को ही प्राप्त हुआ है, ऐसा समझने वालों के समक्ष, आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा सक्रामक रोगों का विज्ञान, आयुर्वेदीय साहित्य से प्रमाणित करके उनके भ्रम निवारणार्थ उपस्थित किया जाता है।

आप्तोपदेश

पाश्चात्य पडित जिस जीवाणु-विज्ञान का श्रेय डॉ० काक को देते हैं उसका वर्णन पूर्णरूप से अथर्ववेद में मिलता है।

यथोक्तमथर्ववेदे—

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।
ये अस्माकं तन्व मा विविशुः सर्वं तद् हन्मिजनिम क्रमीणाम्॥

अन्यच्च—

ओतो मे द्यावापृथ्वी ओता देवी सरस्वती।
ओतो मे इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति॥

अथर्ववेद का. ५, सू० २३-१

इस मन्त्र मे स्पष्ट वर्णन है कि पृथ्वी और द्युलोक में सर्वत्र कृमि व्याप्त है। इनको नष्ट करनेवाली जमनी चिकित्सा—आथर्वण सम्प्रदाय का मन्त्र, औषध-चिकित्सा तथा अग्नि और विद्युत् है।

इससे स्पष्ट है कि वे दृश्य और अदृश्य उभय कृमि की चिकित्सा करना जानते थे।

प्लेग का वर्णन

इसका वर्णन वैदिक काल में मिलता है। अथर्ववेद के काण्ड ६, सूक्त १२७ मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि यह वातश्लेष्म प्रधान रोग ग्रथियों से होता है। कक्षा और मुष्क ग्रंथियों का प्रधान स्थान है। कफ की अधिकता से ये ग्रथियाँ रुग्ण हो जाती हैं।

उपदंश का वर्णन

वैदिक साहित्य स्पष्ट बतलाता है कि यह रोग दुष्ट स्त्री के सम्पर्क से पुरुषों में उत्पन्न होता है।

अथर्ववेद में इन जीवाणुओं का वर्णन कृमि, रक्ष राक्षस, यातुधान, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा आदि नामों से है। उनका जल, दूध आदि में निवास, मनुष्य और पशुओं के शरीर में रोगोत्पत्ति तथा सूर्यकिरण, अग्नि, गुग्गुल, पीलु, धातकी, जटामासी, अश्वत्थ, वट, अजश्रृङ्गी प्रभृति से उनके विनष्ट होने का वर्णन विस्तार से ८० मन्त्रों में मिलता है।

यथोक्तमथर्ववेदे—

उद्यन्नादित्यः कृमीन् हन्तु निम्रोचन हन्तु रश्मिभिः।

अथर्व० का० २।३२।१

उप प्रागाद्देवो अग्नीरक्षोहा अमीवचा हनः।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् क्रिमीदिनः॥

अ० क० १।२८।१

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्यौषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वोऽगस्त्यः॥
त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे।
अजश्रृंग्यजरक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय॥
नदीयन्त्वप्सरसोऽपा तारमवश्वसम्।
गुग्गुलू पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी॥
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन।
यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः॥
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन।

अथर्व० काण्ड ४।३७।१-४

अथर्ववेद में आये हुये, इन रक्ष, राक्षस, यातुधान, पिशाच, अप्सरा, गन्धर्व आदि शब्दों का अर्थ वैदिक साहित्य में रक्त तथा मास खाने वाले सूक्ष्म कृमि (जीवाणु) है। यथा—

रक्षः, राक्षस—रुधिर पीनेवाले सूक्ष्म कृमि, इनसे प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा करनी चाहिये।

असृग्भाजानि ह वै रक्षासि — कौ० १०।४

रक्षो रक्षितव्यमस्मात — निरुक्त ४।१८

रक्ष्यतेऽस्मात् (अपादाने असुन्) रहसि क्षणोति वा रात्रौ न क्षतः इति वा। निरुक्त ४।१२

यातुधान—यातुं वेदनां दधतीति यातुधाना. वेदनोत्पादकाः कृमिग्न।

अथवा—

यातवो धीयन्ते क्रियन्ते एभिरिति।

पिशाच—मांस को खाने वाले सूक्ष्म कृमि।

पिशितं मासमाचामतीति पिशाचः वाचस्पत्य कोष

पिशितं मांसमश्नातीति पिशाचः। शब्द कल्पद्रुम

अप्सरस्—जल में घूमने वाले कृमि।

अप्सु सरन्तीत्यप्सरस'

गन्ध इत्यप्सरसा उपाय हो

गन्ध वाले स्थान में रहने वाले —शतपथ १०।५।२।२०

गन्धर्व—रूप पर गिरने वाले (सुन्दर रूप पर गिरने वाले)

रूपमिति गन्धर्वा उपासते। शतपथ १०।५।२।२०

अथोगन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति।

शतपथ ९।४।१।४

उपर्युक्त व्युत्पत्ति रक्ष. आदि शब्द सूक्ष्म कृमिवाचक सिद्ध होते हैं, जिनका विनाश सूर्य-किरण, अग्नि, गुग्गुल आदि ओषधियों के धूप के गन्ध से होता है।

आयुर्वेदीय संहिता

दो सहस्र वर्ष से पूर्व सुश्रुत-चरकादि महर्षिप्रणीत संहिताओं में सक्रामक रोगों का वर्णन मिलता है। सुश्रुत सहिता में सक्रामक रोगों के सक्रमण-प्रकार का वर्णन और औपसर्गिक रोगों का वर्गीकरण किया हुआ है। यथा—स्त्री-प्रसङ्ग से, गात्र के स्पर्श से, रोगी के साथ उठने-बैठने से अर्थात् त्वचा के द्वारा उपदंश (Syphilis), पूयमेह (Gonorrhoea), धनुस्तम्भ, विसर्प (Erysipelas), जलसन्त्रास (Hydrophobia), मसूरिका प्रभृति रोगों का सक्रमण होता है। रोगी के नि श्वास के सम्पर्क से अर्थात् श्वास-प्रश्वास के द्वारा, राजयक्ष्मा (Tuberculosis), कफोल्वण सन्निपात (Influenza), श्वसनक ज्वर (Pneumonia), रोहिणी (Diphtheria), कुक्कुर कास (Hooping cough) प्रभृति का सक्रमण

होता है। रोगी के साथ भोजन करने से अर्थात् मुख के द्वारा आन्त्रिक ज्वर, प्रवाहिका, विसूचिका आदि का सक्रमण एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर होता है। एक शय्या पर लेटने से, वस्त्र, माला धारण करने से एव चन्दनादि द्रव्यों का लेप लगाने से भी एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर रोग का सक्रमण हो जाता है।

यथोक्तम् सुश्रुतोक्त निदाने—

प्रसंगात् गात्रसंस्पर्शात् निःश्वासात् सहभोजनात् ।
एक शय्यासनाश्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोपश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

जीवाणुओं की रोगकारणता

आयुर्वेद में रोगों के कारण वाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के माने गये हैं। इनमें वाह्य हेतु से उत्पन्न रोग को आगन्तुक और आभ्यन्तर हेतु से हुए रोग को निजरोग के नाम से निर्देश किया है।

स च हेतुमनेकधा...वाह्याभ्यन्तर भेदाच्च द्विधा। (माधव नि०म०को०)

निजागन्तु विभागेन रोगाश्च द्विविधा मताः।

अ० स० सू० १।४०

द्वे रोगानीके निमित्त भेदेन धातु वैषम्य निमित्तश्चागन्तुजश्च।

च० वि० ६।३

ते चतुर्विधाः आगन्तवः शारीराः मानसाः स्वाभाविकाश्चेति।

सु० सू० अ० १।२०

स पुनर्द्विविधो व्याधिरागन्तुर्निज एव च। काश्यप

अथर्ववेद के "येऽस्माक तन्वमाविविशु." इस मन्त्र में वर्णन किया है कि ये सूक्ष्म कृमि (जीवाणु) बाहर से हमारे शरीर में प्रवेश कर रोग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये जीवाणु रोगों के वाह्यकारण सिद्ध होते हैं और इनके संक्रमण से उत्पन्न होने वाले रोग आगन्तुक कहलाते हैं, जो चरक के मत में प्रज्ञापराधजन्य तथा सुश्रुत के मत में आधिभौतिक माने जाते हैं।

आगन्तुक रोगों के कारण

चरक के सिद्धान्त से आगन्तुक रोगों के कारण नख, दशन, पतन, अभिचार, अभिशाप, अभिषङ्ग, व्यध-वध, वन्ध, पीडन, रज्जु,दहन, मंत्र, अशनि, भूतोपसर्ग आदि विष, वायु, अग्नि सम्प्राहार माना जाता है। यहाँ पर जो भूत शब्द आया है वह कृमिवाचक है। इस भाँति आगन्तुक रोगों का कारण समूह कृमि (जीवाणु) ग्रहण किया जाता है। अत आयुर्वेद के सिद्धान्त से जीवाणु सक्रामक रोगों का वाह्य कारण सिद्ध होते हैं।

संक्रमण-विज्ञान

रोगोत्पादक जीवाणु जिस प्रक्रिया से एक शरीर से दूसरे शरीर पर आक्रमण कर रोग का सञ्चरण करते हैं उसको सक्रमण कहते हैं। एलोपैथी मे इसे इन्फेक्शन (Infection) कहते हैं।

इन तीन मार्गों के अतिरिक्त कुछ औपसर्गिक रोग कीड़ों द्वारा भी फैलते हैं। यथा—चूहे के पिस्सू के दश से प्लेग, मच्छरों के दश से मलेरिया ज्वर, श्लीपद, पित्तज्वर, दण्डकज्वर (डेंगू फीवर), एक प्रकार के भुनगे के दश से काला आजार और यूक-दश से पुनरावर्तक ज्वर, टाइफस ज्वर आदि फैलते हैं।

जीवाणु के दो भेद

सन् १६८३ ई० में गैलीलियो नामक विद्वान ने अणुवीक्षण यन्त्र का आविष्कार किया था। उसके एक शताब्दि के वाद आधुनिक विज्ञान ने दो प्रकार के जीवाणुओं का अन्वेषण किया। एक वे जो शरीर की रक्षा करते हैं, जिनको आयुर्वेद में सहज नाम से कहा है और दूसरे वे जो रोगोत्पादक होते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवाणुओं का ज्ञान महर्षि लोगों को कई सहस्र वर्ष पहले ही था।

यथोक्तं चरकविमानस्थाने—

इह खल्वग्निवेश विंशति विधा. कृमय' पूर्वमुद्दिष्टा. नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्य', ते पुन. प्रकृतिभिर्भिद्यमाना' चतुर्विधाः भवन्ति तद्यथा—पुरीपजा' श्लेष्मजाः शोणितजा' मलजाश्चेति।

शरीर जीवाणुमय है और सहज जीवाणु शरीररक्षक है जिसको कि महर्षि लोग सहस्रों वर्ष पूर्व ही जानते थे। श्री मद्भगवद्गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन

से कहा है कि जीवभूत प्रकृति से ही ससार की स्थिति है । अर्थात् सहज जीवाणु द्वारा ही ससार की स्थिति है । इस बात को पाश्चात्य विद्वानों ने अब जाना है ।

यथोक्तं गीतायाम्—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्राकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महावाहो ययेदं धार्यते जगत् ।

अदृश्य कृमियों का वर्णन

चरक सहिता में कृमियों का वर्णन करते हुये लिखा है कि ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि चक्षु से दिखलाई नहीं पडते ।

यथोक्तं चरके—

सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्या. ।

पूर्व में जिन चार प्रकार के रोगोत्पादक कृमियों का वर्णन किया गया है उनका यहाँ पर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा ।

कफजन्य कृमियों के नाम और तज्जन्य रोग

अन्त्रादाश्चोदरा वेष्टा हृदयादा महागुदा' ।
चुरवो दर्भ कसुमा' सुगन्धास्तेच कुर्वते ॥
हृल्लासमास्यश्रवणमविपाकमरोचकम् ।
मूर्च्छाछर्दि ज्वरानाह कार्श्य' क्षवथु पीनसान् ॥

रक्तजन्य कृमियों का वर्णन

रक्तवाहिनी शिराओं में रक्तज कृमि रहते हैं । ये बहुत सूक्ष्म होते हैं । कोई-कोई तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि देखे भी नहीं जाते । इनके पैर नहीं होते हैं । इनकी आकृति गोलाकार तथा वर्ण ताम्रवर्ण का होता है । इनके नाम केशाद, लोमविघ्वस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सहसौरस, मातर—ये छ प्रकार के होते हैं । इनका कार्यादि कुष्ठ के समान ही होता है ।

नोट—पुरीषजन्य और मलजन्य कृमियों का वर्णन कृमिरोग में देखें ।

यथोक्त वाग्भट्टे—

रक्तवाहि शिरास्थाना रक्तजा जन्तवोऽणव. ।
अपादा वत्त ताम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिदृदर्शना: ॥

केशादा लोमविध्वंसाः रोमद्वीपा उदुम्बराः ।
षट् ते कुष्ठैक कर्माणः सहसौरस मातरः ।

कुष्ठ की जीवाणु-कारणता

आयुर्वेद में कुष्ठ-रोग की उत्पत्ति दोषों के साथ कृमिजन्य भी मानी गई है।

यथोक्तं सुश्रुते—

सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सकृमीणि भवन्ति ।

उपरोक्त आप्तोपदेश से प्रमाणित हो जाता है कि आयुर्वेद में जीवाणुवाद का अस्तित्व विद्यमान है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

सक्रामक रोग राजयक्ष्मा, कुष्ठ, ज्वर, उपदंश आदि तथा शोणित, कफ, पुरीषादि में अणुवीक्षण यत्र की सहायता से सूक्ष्म जीवाणु प्रत्येक व्याधि में भिन्न-भिन्न स्वरूप के प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। परीक्षा के लिये भिन्न-भिन्न रोगों के जीवाणुओं को पृथक्-पृथक् प्राणियों में सक्रमण कर के रोगों की उत्पत्ति करते हैं। अन्वय व्यतिरेक से जीवाणु-कारणता भी सिद्ध होती है। यथा—जहाँ-जहाँ सक्रामक रोग होते हैं वहाँ-वहाँ रोगियों में विभिन्न रोगों के जीवाणु पाये जाते हैं। जहाँ इस प्रकार के जीवाणु नहीं पाये जाते वहाँ रोग भी उत्पन्न नहीं होते। इस भाँति प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सक्रामक रोगों की जीवाणु-कारणता सिद्ध होती है।

अनुमान प्रमाण

जिस स्थान पर सक्रामक रोगों का आक्रमण होता है वहाँ के सक्रामक रोग-पीड़ित व्यक्तियों में जीवाणुओं की उपलब्धि देखी जाती है। इस भाँति आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान से जीवाणु-कारणता प्रमाणित होती है।

जनपदोध्वंसक रोगों का कारण

भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले मनुष्यों और आहार विहार, बल, सात्म्य, सत्त्व, अवस्था आदि भिन्न-भिन्न स्वभाववाले प्राणियों में एक ही समय में सक्रामक रोग महामारी के स्वरूप में कैसे प्रकट होते हैं इसका उत्तर चरक सहिता में भगवान् आत्रेय ने यह दिया है कि प्रकृति आहारादि भावों के अतिरिक्त जो अन्य भाव

होते हैं वे सामान्य होते हैं। उनके विकृत हो जाने से समान काल में समान लक्षणवाले संक्रामक रोग उत्पन्न होकर जनपद को नष्ट कर देते हैं। वे समानभाव देश में—वायु, उदक, देश और काल होते हैं।

अनारोग्यकारक बातें

विषम ऋतु, अति स्तिमित, अति चल, अति परुष, अति उष्ण, अति शीत, अति रूक्ष, अति अभिष्यन्दी और अति भयंकर शब्दयुक्त आंधी, तूफान, वात्याचक्र, असात्म्य गन्धयुक्त वाष्प, धूलि एवं धूम से युक्त वायु दूषित हो जाती है।

दूषित जल

वायु के दूषित होने से जल भी दूषित हो जाता है। दूषित होने पर जल विकृत, दुष्ट एवं दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। उसका वर्ण, रस और स्पर्श भी दूषित हो जाता है, वह अधिक क्लेदयुक्त हो जाता है। जल में रहने वाले जीव-जन्तु भाग जाते हैं। जलाशय क्षीण हो जाता है और उसका जल अप्रीतिजनक और गुणविहीन हो जाता है।

दूषित देश

दूषित वायु और जल देश को भी विकृत कर देते हैं। देश की प्रकृति से विकृत गन्ध, वर्ण, रस और स्पर्श उत्पन्न हो जाता है। क्लेद अधिक हो जाता है। सर्प, हिंसक जन्तु, पतिङ्गे, टिड्डी, मच्छड़, चूहे उल्लू, काक, गृद्धादि पक्षी तथा गीदड़ आदि जीवों की वृद्धि हो जाती है। तृण, घास, लता-प्रतानादि भी अधिक हो जाते हैं। धान्य शुष्क और नष्ट हो जाते हैं। धूम वाली वायु चलने लगती है। पक्षी अधिक शब्द करते हैं। कुत्ते और गीदड़ अधिक रोने लगते हैं यानी पशु-पक्षी भ्रान्त और व्यथित हो जाते हैं। देशवासी मनुष्य सत्यधर्म, लज्जा, आचार आदि स्वाभाविक गुण से शून्य हो जाते हैं। तालाब, नदी आदि का जल क्षुभित तथा विकृत हो जाता है। विद्युत्पात, भूमिकम्प तथा भयकर घन गर्जन देश में अधिक होने लगता है। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र मंडल रूक्ष, लाल, ताम्रवर्ण तथा श्वेत वर्णयुक्त अभ्र जाल से संवृत रहता है। सम्भ्रम, उद्वेग, त्रास, आक्रन्दित और तमोयुक्त देश भी दूषित हो जाता है।

दूषित काल

वायु, उदक और देश के विकृत हो जाने से काल भी विकृत हो जाता है। काल-ऋतु के प्रतिकूल लक्षण, अति लक्षण, अहित और हीन लक्षणयुक्त हो जाता है।

यथोक्तं चरक संहितायाम्—

तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्। तद्यथा—यथर्तु विषममतिस्तिमितमतिचलमतिपरुषमतिशीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवाण्वमतिप्रतिहत-परस्पर गतिमतिकुण्डलिनमसात्म्यगन्धवाष्पसिकतापांशु-धूमोपहतमिति।

उदकन्तु खलु—अत्यर्थं विकृतगंधवर्णरसस्पर्शवत्क्लेदबहुलमपक्रान्तजल-चरविहङ्गमुपक्षीणजलाशयमप्रीतिकरमपगत गुणं विद्यात्।

देशं पुनः—प्रकृतिविकृतवर्णगन्धरसस्पर्शं क्लेदबहुलमुपसृष्टं सरीसृप व्यालमशक शलभ मक्षिका मूषकोलूक श्माशानिक शकुनि जम्बुकादिभिस्तृणोलुपोपवनवन्त लताप्रतानादिबहुलमपूर्ववदवपतितनष्ट सस्यं धूम्र पवनं च प्रध्मातपतत्रिगणमुत्क्रुष्ट श्वगणमुद्भ्रान्तव्यथित विविधमृगपक्षि संघमुत्सृष्टनष्टधर्मसत्यलज्जाचारशीलगुण शुष्क जनपद शश्वत्क्षुभितोदीर्ण सलिलाशयं प्रततोल्कापात निर्घात भूमिकम्पक्ष्प्रतिभयाचार रूपं रूक्ष-ताम्रारुण सिताभ्रजालसंवृतार्कचन्द्रतारकमभीक्ष्णंसंभ्रमोद्वेगमिव सत्रास रुदितमिवसतमस्कमिवगुह्यकाचरितम् इवाक्रन्दित शब्दबहुलंचाहितं विद्यात्।

काल तु खलु—यथर्तु लिङ्गाद् विपरीत लिङ्गमतिलिङ्गं हीन लिङ्गं च-अहितमेव व्यवस्येत्। च० वि० अ० ३

प्रतीकार

जनपदोध्वसात्मक महामारियों से त्राण पाने के लिये महर्षि आत्रेय ने निम्न-लिखित उपाय बतलाये हैं—

(१) रसायन औषधियों का सेवन।
(२) सद्वृत्तानुष्ठान।

(३) दोष प्रशमन।

(४) हितजनपद सेवन।

(५) ब्रह्मचर्यानुष्ठान।

(६) धर्मानुष्ठान।

(७) हित भोजन।

रसायन-सेवन

जब मनुष्य मिथ्याहार-विहार से अपनी क्षमता शक्ति (Vitality) को नष्ट कर देता है और व्याधि प्रतिकारक शक्ति भी नष्ट हो जाती है उस समय मनुष्य सांसर्गिक महामारियों से ग्रस्त हो जाता है। जिस प्रकार कि आजकल भारतवर्ष में उपयुक्त आहार-विहार के अभाव से दुर्दशा हो रही है। गौ वंश के सर्वतो विनाश से दुग्ध-घृत का अभाव-सा हो गया है और उसके स्थान पर वनस्पति घृत का उपयोग हो रहा है जिससे फुफ्फुसीय रोग, श्वास, कास, प्रतिश्याय, दृष्टिदौर्बल्य, असमय में बाल का झड़ना, मदाग्नि तथा वीर्यसम्बन्धी रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि वनस्पति घृत में सोडाकास्टिक आदि महाक्षारों द्वारा संस्कार किया जाता है जिससे तैल के स्वाभाविक गुण भी नष्ट हो जाते हैं। अत. बलकारक खाद्यसामग्री के अभाव के कारण मनुष्यों में रोग-निरोधक शक्ति के ह्रास होने से महामारियों का प्रकोप होता है।

वायु, जल, देश, काल इन चारों के दूषित हो जाने पर पञ्चकर्म विधि से शरीर का संशोधन करके रसायन द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। परन्तु शरीर की शुद्धि और रसायन का निर्माण महामारी उत्पन्न होने के पहले सञ्चित की हुई ओषधियों से होना चाहिए।

यथोक्तं चरके—

चतुर्ष्वपितु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नरा।
भेषजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा॥
येषां न मृत्यु सामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम्।
कर्म पञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते॥
रसायनानां विधिवच्चोपयोग' प्रशस्यते।
शस्यते देह वृत्तिश्च भेषजै पूर्वमुद्धृतैः॥

सद्वृत्तानुष्ठान

मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिये चरक संहितोक्त दिनचर्या, ऋतुचर्या तथा रात्रिचर्या के नियमों का पालन करना चाहिये। प्रतिदिन हित आहार-विहार सेवन, यथाशक्ति कार्य सम्पादन, विषयों में अनासक्त, कायिक, वाचिक और मानसिक पापात्मक कर्मों का त्याग, सत्यवादिता तथा ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर पर संक्रामक रोगों का आक्रमण नहीं होता।

दोष-संशमन

वर्षा ऋतु में वायु, शरद ऋतु में पित्त तथा वसंत ऋतु में कफ का प्रकोप होता है। ऐसे समय साधारणतया वस्ति प्रयोग, वमनादि और यथावल शरीर की शुद्धि करने से संक्रामक रोगों का भय नहीं रहता।

हितजनपद-सेवन

यदि किसी जनपद में संक्रामक व्याधि—विसूचिका, प्लेग आदि फैली हो तो उसको परित्याग कर स्वस्थ व कल्याणप्रद स्थान में जाकर निवास करें। यही महर्षियों का उपदेश है। आजकल भी यही किया जाता है।

यथोक्तं चरक संहितायाम्—

सत्यं भूते दयादानं वलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।

ब्रह्मचर्यानुष्ठान

वहुत से संक्रामक रोग उपदंश, पूयमेहयुक्त व्यभिचारिणी स्त्री तथा गणिका के प्रसंग से होते हैं। अतः उनसे बचना चाहिये। शुक्र का अपव्यय नहीं करना चाहिये। इसके लिये आठ प्रकार के मैथुन—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, एवं क्रिया निवृति का त्याग करके ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करें। ब्रह्मचर्याभिरत मनुष्यों पर संक्रामक रोगों का आक्रमण नहीं होता है।

यथोक्तम्—

सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्।

धर्मकार्यों का अनुष्ठान

महामारियों का प्रकोप अधर्मजन्य है—ऐसी आर्ष सम्मति है। अतः धर्म-कृत्य, यज्ञानुष्ठान, हवन, धर्मोपदेश, स्वास्थ्योपदेश प्रभृति कार्य सक्रामक रोगों का निरोधक उपाय है। क्योंकि हवन से वायु शुद्ध होता है और जीवाणु नष्ट होते हैं, आरोग्य एव वल की प्राप्ति होती है तथा प्राणप्रद (Oxygen) युक्त सुगन्धित वायु उत्पन्न होता है जिससे जीवनी-शक्ति प्राप्त होती है। अथर्ववेद में गुग्गुल की धूप से यक्ष्माणु के नष्ट होने का उपदेश है। यज्ञ ऋतु-सधियों में करना चाहिये। क्योंकि प्राय. ऐसे ही समय रोग होते हैं।

यथोक्तमथर्ववेदे—

अज्ञात् यक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुंचामि म० १
तस्याः (ग्राह्याः) इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तम् म० २

भैषज्या यज्ञा वा एते। तस्मादृतुषु संधिषु प्रयुज्यन्ते ऋतु संधिषु व्याधिर्जायते। गो०, ब्रा० २ प० १, १६

चरकेप्युक्तम्—

सं कथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसंम्मतैः॥
इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुष परिपालनम्।
येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे॥

सुश्रुताचार्य ने भी महामारी फैलने का प्रधान हेतु अधर्म, यज्ञ का न करना, पाप करना प्रभृति लिखा है। दूषित देश, दूषित जल और औषध आदि के उपयोग से दो प्रकार के रोग पैदा होते हैं। (१) सामान्य व (२) मरक उनके प्रतीकारार्थ स्थान परित्याग, शातिकर्म, प्रायश्चित्त, मगल, जप, होम, तपस्या, नियम, देवता पूजन आदि सत्कार्य अनुष्ठानादि करना चाहिये।

यथोक्तं सुश्रुते—

तासामुपयोगाद् द्विविधरोगप्रादुर्भावो मरको वा भवेदितिपुन कदाचिदव्यापन्नेषुऋतुषु कृत्याभिशापक्रोधाधर्मैरुपध्वस्यन्ते जनपदाः विषौषधपुष्पगन्धेनवायुनोपनीतेनाक्रम्यते यो देशस्तत्र दोषप्रकृति-विशेषेण कास-श्वासवमथुप्रतिश्यायशिरोरुग्ज्वरैरुपतप्यन्ते, ग्रह-नक्षत्र-

चरितर्वा, गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरण गर्हित लक्षणानि मित्रप्रादुर्भावैर्वा। सु० सू० अ० ६, २०

तत्रस्थानपरित्यागशांतिकर्मप्रायश्चित्तमंगलजपहोमोपहारेज्याञ्जलि नमस्कारतपोनियमदयादानदीक्षाभ्युगमदेवताब्राह्मण गुरुपरैर्भवितव्यमेवं साध भवति। सु० अ० ६, २१

औषध-सेवन

सक्षेप से चिकित्सा का सिद्धान्त यह है कि जिन कारणों से रोग उत्पन्न हो उनका परित्याग करें और रोग के लक्षण, उपद्रवादि शमनार्थ प्रतीकार करें।

धूप के विषय में वैज्ञानिक रहस्य

आधुनिक वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान किया है कि हवनीय सामग्री को अग्नि में डालने से जो गेस पैदा होती है उससे दूपित कीटाणुओं का विनाश होता है साथ ही वायु भी शुद्ध हो जाता है। इससे मलेरिया, क्षय, शीतला, प्लेग, आदि व्याधियाँ आसानी से नष्ट हो जाती हैं।

स्वास्थ्य विभाग के अध्यक्ष किंग महोदय ने उपदेश दिया था कि केशर और घी का हवन करने से प्लेग दूर हो जाता है। हेनकिन महोदय की लिखी हुई ब्यूबोनिक प्लेग नामक पुस्तक में लिखा है कि अग्नि मे केशर, घृत आदि डालने से प्लेग नष्ट होता है। जर्मनी के टिल्टि नामक विद्वान् ने लिखा है कि खांड़ को अग्नि में जलाने से फार्मिक-एल डी हाइड् उत्पन्न होकर रोग के कीटाणुओं का नाश करता है। कई पश्चिमी विद्वानों ने हवनीय सामग्री के तेल को पानी में डाल कर उस जल को गरम करके रोगी को सूघने दिया, इससे उसके शरीर की पीड़ा, स्फोट, एव वेदना आदि दूर हो गये।

मसूरिका रोग में टीका का प्रयोग

आजकल टीका जेनर द्वारा आविष्कृत माना जाता है। परन्तु भारतवर्ष में इसकी प्रथा प्राचीन काल से ही पाई जाती है जिसका साक्षी शास्त्र है। अर्थात् धन्वन्तरि कृत शाक्तेय ग्रन्थ में लिखा हुआ है कि यदि गौ के मसूरिका-युक्त दुग्ध को जो प्रथम वार व्यायी गौ में उत्पन्न होता है अथवा मनुष्य के मसूरिका की पूय अथवा लसीका को कूर्चकशस्त्र या मण्डलाग्रशस्त्र से खुरच कर रक्त

निकाल कर उस पर लगा दें तो उसमें मिलकर वह स्फोट व ज्वर उत्पन्न करता है। वह क्रिया बाहु-मूल पर होनी चाहिये। इसमे फिर मसूरिका नहीं निकलती है। इसमें पूय अथवा लसीका दोनों लगाने का विधान है।

यथोक्तं धन्वन्तरि कृत शाक्तेय ग्रन्थे—

धेनुस्तन्य मसूरी वा नराणाञ्च मसूरिका।
शस्त्रेणोत्कृत्य वाहुमूले विधारयेत्।
तत्पूयं रक्त मिलितं स्फोटज्वरकरं भवेत्॥

लसीका प्रयोग

धेनुस्तन्य मसूरी वा नराणाञ्च मसूरिका।
तज्जलं वाहुमूलाच्च शस्त्रान्तेन गृहीतवान्॥
वाहुमूले च शस्त्रेण रक्तोत्पत्ति करेण च।
तज्जलं-रक्तमिलितं स्फोटकज्वर संभवम्॥

अयुर्वेदोक्त सूत्रात्मक अन्तःक्षेपण का विधान

जिस विष से जो रोग पैदा होता है अर्थात् जिन-जिन जीवाणुओं के विष से जो-जो रोग उत्पन्न होते हैं उनके प्रतीकार के लिये विशेष विधि के द्वारा सगृहीत उन्हीं जीवाणुओं का विष शरीर में इन्जेक्शन करने से रोग नष्ट होता है। ऐसा प्राचीन लोग भी मानते हैं। क्योंकि लिखा है कि "विषस्य विषमौषधम्", यह सिद्धान्त उपर्युक्त प्रणाली को ही प्रमाणित करता है। सूचिकाभरण रस, बृहत्सूचिकाभरण रस, मृतसजीवन रस और विसूचिका विध्वसन रसादि का प्रयोग सूचिका द्वारा ही किया जाता था। सन्निपात, विसूचिका, सर्पदष्ट आदि में शिर के वाल साफ करा के काकपदाकार रूप में खुरच कर सूची के अग्रभाग से औषध लगाने का विधान है।

यथोक्तं रसरत्नसमुच्चये—

तालुनिवृश्चयित्वाऽथ रसमेनं विनिःक्षिपेत्।
सूच्यातिसूक्ष्मया तोय भिन्नयाऽतिप्रयत्नतः॥

—ज्वराधिकार

इस ग्रन्थ के निर्माण करने में अथर्ववेद ऋषिप्रणीत आयुर्वेदीय सहिताओं और आधुनिकग्रन्थों का आश्रय लिया गया है। अत पूजनीय महर्षियों के

चरणारविन्दों में तथा आधुनिक आचार्यों की सेवा में सानुनय प्रणामाञ्जलि समर्पण करता हूँ। अब आश्रय प्रदाता ग्रन्थों की निम्न सूची लिखी जाती है। अथर्ववेद, चरक सहिता, सुश्रुत सहिना, अष्टाङ्गहृदय, माधव निदान, भाव प्रकाश, शार्ङ्गधर सहिता, रसरत्नसमुच्चय, रसेन्द्रसार सग्रह, सिद्धान्त निदान, व्याधि विज्ञान, जीवाणु विज्ञान तथा औपसर्गिक रोग-विज्ञान प्रभृति।

अन्तिम निवेदन

यह ग्रन्थ स्वतन्त्रभारत के चतुर्थवर्ष की ता० २६ जनवरी, १९५१ को समाप्त हुआ है। अत. आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली को राष्ट्रिय चिकित्सा स्वीकार कराने में तथा सक्रामक रोगों से भारतीय जनता की रक्षा करने मे किञ्चिन्मात्र भी यदि सहायक हुआ तो लेखक अपने को कृतकृत्य समझेगा। 'स्खलन हि मनुष्य धर्म' इस नीति के अनुसार इस ग्रन्थ में त्रुटियों का होना स्वभाव-सिद्ध है। अत स्वास्थ्याभिलाषी भारतीय जन चिकित्सक मण्डल व छात्र मण्डल त्रुटियों पर दृष्टिपात न करते हुए सिद्धात को ग्रहण कर लेखक के ऊपर दयादृष्टि रखने की सर्वतो भाव से कृपा करें, इति शान्ति शान्ति. सुशान्तिर्भवतु।

प्राक्कथन

जीवाणु-विज्ञान

इस जगत की सजीवसृष्टि में इतने सूक्ष्म जीव होते हैं कि मनुष्य उनको चक्षुओं से नहीं देख सकता है। परन्तु अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) की सहायता से वे जीव देखे जाते हैं। अत उनको जीवाणु (Microbes, Micro organisms) कहते हैं। ये असख्य और सर्वव्यापक होते हैं।

जीवाणुओं का श्रेणी विभाग

(१) सहवासी जीवाणु—ये सदा पालतू प्राणियों के समान मनुष्यों की त्वचा और बालों में तथा पचन सस्थान, मूत्र प्रजनन सस्थान एव कर्ण-नासादि अङ्गों में सदा वर्तमान रहते हैं। ये 'सहवासी' कहलाते हैं।

(२) लाभकारी जीवाणु—ससार में बहुत से जीवाणु लाभकारी होते हैं। यथा—क्षीर को दधि रूप में परिणत कर देना, इक्षुरस या द्राक्षा-रस को मद्य में परिणत कर देना, मैले से खाद बनाना, मृत शरीरों को मिट्टी में मिला देना, वातावरण से नतृजन ग्रहण करके उससे पौधों के लिये खाद बनाना प्रभृति असख्य आवश्यक क्रियाए होती हैं और विशिष्ट क्रियाओं के अनुसार ही जीवाणुओं के नाम भी रक्खे जाते हैं। यथा—

पराश्रयी जीवाणु—ये जीवाणु केवल मृत शरीरों पर या सड़े गले सेन्द्रिय द्रव्यों पर अपना निर्वाह करते हैं और जीवधारियों से अधिकतर पृथक् रहते हैं। अत. इनको 'पराश्रयी जीवाणु' (Saprophytes) कहते हैं। जो नतृजन से खाद बनाते हैं उनको 'नैट्रोवैकर' कहते हैं।

विकारी जीवाणु—जो जीवाणु रोग उत्पन्न करते हैं उन्हें विकारी (Pathogenic) कहते हैं। ये अपना निर्वाह अन्य जीवधारियों के ऊपर करते हैं। अत इनको परोपजीवी (Parasites) भी कहते हैं। सहवासी जीवाणुओं में कुछ तो ऐसे हैं जो व्याधि नहीं पैदा करते परन्तु, कुछ ऐसे भी हैं जो अनुकूल परिस्थिति होने अथवा अपने नियत स्थान से अन्य स्थान में प्रविष्ट होने पर विकार उत्पन्न करते हैं। इनको अवसर ग्राही अथवा सामयिक विकारी

कहते हैं। इसके प्रधान उदाहरण वेसिलस कोलाय और स्ट्रेप्टो-फोकाय हैं। कोई-कोई वैकारिक जीवाणु भी कभी-कभी सहवासी-स्वरूप में अर्थात् शरीर मे रहते हुये भी व्याधिजनक नहीं होते हैं। वैकारिक जीवाणुओं की यह स्थिति वाहकों में दिखाई देती है। सब प्रकार के वैकारिक जीवाणु सम्पूर्ण प्राणियों में व्याधि नहीं पैदा कर सकते । कुछ मनुष्येतर प्राणियों में, कुछ केवल मनुष्यों में और कुछ तो दोनों जातियों में रोग उत्पन्न करते हैं। यहाँ पर केवल अन्तिम दो प्रकार के जीवाणुओं का ही वर्णन किया जायेगा।

जीवाणु के चार भेद

विकारी और सहवासी जीवाणुओं के प्रधानतया स्थूल रूप से निम्नलिखित वर्ग किये जाते हैं।

वैक्टेरिया सञ्ज्ञक प्रथमो विज्ञेयः सदा।
छत्रकाणु संज्ञाको वै द्वितीयकस्तु विज्ञेयः॥
प्रोटोजोपसञ्ज्ञकश्च तृतीयो विज्ञेयः सदा।
सूक्ष्म दर्शकातीतस्तु चतुर्थको विज्ञेयः सदा॥

(१) उद्भिदाणु (Bacteria)—ये वनस्पति वर्ग के अत्यन्त सूक्ष्म जीव माने जाते हैं। ये केवल एक कोशवान् (Cell) होकर आकृति मे गोल, लम्बे या टेढ़े होते हैं। इनके शरीर में केन्द्र नहीं होता है। सख्या-वृद्धि बड़ी तेजी के साथ लम्बाई या चौड़ाई के रुख फट जाने से होती है। कुछ तो गतियुक्त अथवा चञ्चल होते हैं और कुछ प्रतिकूल परिस्थिति में स्पोर (Spore) जैसे प्रतीकारक रूप धारण कर सकते हैं। वकटेरिया का दूसरा एक विभाग कुछ उच्च श्रेणी का होता है। इस विभाग को (Chlamydobacteria) कहते हैं। निम्न श्रेणी के वैक्टेरिया और छत्रकाणु—इनको सयुक्त करने वाली यह कड़ी होती है। इसका उदाहरण मदूरापाद का जीवाणु (Actinomyces) है।

(२) छत्रकाणु (Fungus)—इसकी दो श्रेणी है। प्रथम श्रेणी के जीवाणु अनेक सेलयुक्त, तन्तुजालकल्प होकर स्पोरों द्वारा सख्यावृद्धि करते हैं। ये हैफोमैसीट या मोल्ड कहलाते हैं।

इसकी दूसरी श्रेणी के जीवाणु एक कोश (Cell) कुछ लम्बोत्तर होकर अकुरों (Budding) से बढ़ते हैं। ये किण्व (Yeast, Blastomycetes) कहलाते हैं।

(३) कीटाणु (Protozoa)—ये प्राणि विभाग के अत्यन्त सूक्ष्म जीव माने जाते हैं। ये वैक्टेरिया के तुल्य एक कोश के होते हैं। परन्तु ; इनमें केन्द्र स्पष्टतया दिखाई देता है। ये गोलाकार वा अति लम्वायमान तथा प्रायः गतियुक्त होते हैं। सख्यावृद्धि विभजन, स्पोरोत्पत्ति या मैथुन से होती है। इनका निश्चित जीवन चक्र होना है और कई कीटाणुओं में इसके लिये दो स्वतन्त्र प्राणियों की आवश्यकना होती है। कुछ कीटाणु प्रतिकूल परिस्थिति में प्रतिकारक कोष (Cysts) वनाते हैं।

(४) सूक्ष्मदर्शकातीत (Ultra-microscopic)—ऊपर में वर्णन किये हुए तीनों श्रेणियों के जीवाणु अणुवीक्षण यन्त्र से दिखाई देते हैं। परन्तु इनके सिवाय कुछ ऐसे भी जीवाणु विद्यमान हैं जो अणुवीक्षण यन्त्र से नहीं दिखाई देते, अत ये सूक्ष्म "दर्शकातीत" कहे जाते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म निस्पन्दकों (Filters) से भी छनकर वाहर निकल आते हैं। अत. ये निस्पन्दनशील (Filterable) कहलाते हैं। अदृश्य होने के कारण इनके शरीरादि का ज्ञान असभव है। कार्य की दृष्टि से इस वर्ग के जीवाणु विषाणु (Virus) कहलाते हैं। इनका समावेश वैक्टेरिया या कीटाणु वर्ग में नहीं किया जाता है।

परिमाण-परिज्ञान

जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उनके शरीर को नापने के लिये जो मापदण्ड नियत किया गया है वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है और उसे मैक्रोन कहते हैं। इसकी लम्बाई १ मिलीमीटर का $\frac{१}{१०००}$ वाँ भाग या एक इञ्च का $\frac{१}{२५०००}$ वाँ भाग होती है। सूक्ष्मदर्शकातीतों के लिये जो मानदण्ड रखा गया है उसको म्यू कहते हैं। जो म्यू का $\frac{१}{१०००}$ वाँ भाग होता है। वैक्टेरिया साधारणतया कीटाणुओं की अपेक्षा परिमाण में छोटे होते हैं। सबसे छोटा विकारी वैक्टेरिया वै० इन्फ्लुएञ्जा का है जिसकी चौड़ाई १॥ से २ म्यू और लम्बाई २-४ म्यू होती है।

वैक्टेरिया के गृह का वर्णन

वासस्थानं तृणाणूनां निगदन्ति चिकित्सकाः।
जले वाते पृथिव्याञ्च प्राणिनां शरीरेषु च ॥

उद्भिदाणु का निवासस्थान भूमि, जल, वायु और प्राणियों का शरीर है। इन निवासस्थानों में दोनों प्रकार के विकारी और अविकारी उद्भिदाणु पाये जाते हैं।

पृथ्वी—पृथ्वी के ऊपर इनकी सख्या अधिक रहती है परन्तु, दो गज़ की गहराई के बाद कम हो जाती है। नीचे के भाग में वातापी स्वरूप के उद्भिदाणु होते हैं। भूमि निवासी उद्भिदाणु पराश्रयी होते हैं जो सेन्द्रिय पदार्थों में सड़न पैदा करके उनका नाश करती है।

इन अविकारियों के सिवाय विकारी स्वरूप के भी बहुत से उद्भिदाणु मिलते हैं। यद्यपि पृथ्वी इनके लिये अनुकूल स्थान नहीं है; क्योंकि प्रत्युपजीवियों द्वारा इनका नाश होता रहता है। तथापि ये समय-समय पर रोगियों के त्यक्त मल-मूत्र के साथ पृथ्वी पर पहुँचते हैं और रोगोत्पादकों में निम्नलिखित प्रधान रूप से पृथ्वी पर पाये जाते हैं। यथा—

पूयोत्पादक कोकाय, क्षयाणु, कुष्ठाणु, एन्थ्राक्स, धनुस्तम्भ, पेचिस, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर, श्लेष्मकज्वर, दूषित शोथ और वातिक शोथ के वैसिलाय प्रभृति।

जल-निवास—जल में भी अनेक उद्भिदाणु मिलते हैं। यथा—

(१) स्वाभाविक जलोद्भिदाणु—यह रोग नहीं पैदा करता है।

(२) भूमिबैक्टेरिया—यह वर्षा के कारण पृथ्वी पर से बह कर जल में मिलता है। अथवा तीव्र वायु के प्रवाह से धूलि के साथ उड़कर पानी में मिलता है।

(३) गन्दी नाली, पनाले (Sewage) के उद्भिदाणु—ये रोगजनक होते हैं। इन रोगों में प्रधान विसूचिका, पेचिस, और टाइफाइड फीवर हैं। इनके सिवाय पृथ्वी पर मिलने वाले अन्य सब उद्भिदाणु जल में मिल सकते हैं।

(४) वायु मण्डल—इसमें भी उद्भिदाणु मिलते हैं। इनकी सख्या, वायु प्रवाह, स्थान और ऋतु के अनुसार न्यूनाधिक होती रहती है। सख्या शरत् और हेमन्त ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में अधिक होती है परन्तु, वर्षा अधिक होने के बाद वायुमण्डल में इनकी सख्या का ह्रास हो जाता है और फिर तीव्र वेग से वायु के चलने पर इनकी सख्या बढ़ जाती है। मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के निवास-स्थान के वायुमण्डल में अन्य स्थानों की अपेक्षा इनकी सख्या अधिक होती है। वायुमण्डल में रोगजनक और अविकारी दोनों प्रकार के उद्भिदाणु मिलते हैं, जिनमें रोग-

जनक उद्भिदाणु निम्नलिखित पाये जाते हैं। यथा—पूयजनकाणु, क्षय, धनुस्तम्भ, एन्थ्राक्स, मौक्तिकज्वर, श्लेष्मक ज्वर तथा रोहिणी के जीवाणु।

प्राणि शरीर में निवास

प्राणियों के त्वचा, नाखून और बालों में हमेशा जीवाणु रहते हैं और शरीर के अन्दर महास्रोत में विशेषतः मुख, गला तथा अंतड़ियों में ये बहुत होते हैं। परन्तु ; अम्ल के प्रभाव से आमाशय में ये अल्प होते हैं। श्वसन-संस्थान में नासिका के पश्चिम भाग-ग्रसनिका और स्थूल श्वासप्रणालियों में भी जीवाणु पाये जाते हैं। परन्तु आरोग्यता में वायु-कोष और सूक्ष्मश्वास-प्रणालियों में जीवाणु नहीं पाये जाते हैं। इन शरीर-निवासियों को सहवासी (कॉमन सेल्स) कहते हैं।

मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के साथ रहनेवाले जीवाणु रोगोत्पादक तथा अरोगोत्पादक दोनों प्रकार के होते हैं। रोगोत्पादक जीवाणु कभी-कभी मनुष्यों के मुख, नासा और महास्रोत में रहते हुये भी विकार नहीं पैदा करते हैं। परन्तु उनका उत्सर्ग शरीर के छिद्रों से हमेशा होता रहता है जिससे अन्य मनुष्य रोगाक्रान्त हो जाते हैं। देह के अन्दर रहने की इस अवस्था को वाहकावस्था कहते हैं और जिस मनुष्य के देह से ये जीवाणु निकल आते हैं वह मनुष्य वाहक कहलाता है। यह अवस्था मुख्यतया आन्त्रिकाणु, रोहिण्याणु और विसूचिकाणुओं के विषय में मिलती है। जीवाणु रोगावस्था के अतिरिक्त शरीर की आभ्यन्तरिक धातु-रसादि में नहीं मिलते हैं।

अवसरवादी जीवाणु

आरोग्यजनक जीवाणुओं में कुछ तो निश्चित रूप से रोग नहीं पैदा करते परन्तु , कुछ ऐसे भी हैं जो समय मिलने पर रोग पैदा करते हैं। इनको अवसरवादी जीवाणु कहते हैं। यथा—बैसिलस कोलाय—जबतक अतड़ियों में रहते हैं तबतक तो आरोग्यजनक होते हैं परन्तु जब मूत्रोत्पादक संस्थान में जाते हैं तो मूत्राशय तथा अन्य स्थानों में शोथ और विद्रधि उत्पन्न कर देते हैं। उसी भाँति स्ट्रेप्टोकोकाय जब तक मुख में रहता है तब तक आरोग्यजनक रहता है परन्तु रक्त में जाने पर हृदय, सन्धि आदि स्थानों में शोथ पैदा कर देते हैं।

विशिष्ट स्थान

मनुष्य की त्वचा में स्टॉफिलो कोकाय, रोहिणी समवैसीलाय और एल वैसिलाय पाये जाते हैं। महास्रोत में स्टाफिलोकाय, चक्काणु, लैक्टोवैसीलाय, एन्ट्रोकोकाय, सार्सीनी, कोकोलाय, यीस्ट तथा धनुस्तम्भ के वैसीलाय प्रभृति पाए जाते हैं श्वसनसस्थान में—स्टाफिलोकोकाय, रोहिणी समवैसीलाय, मैक्रोकोकस कटराल्सि, न्यूमोकोकाय, स्ट्रेप्टोकोकाय, इन्फ्लुएञ्जाणु प्रभृति पाये जाते हैं। प्रजनन सस्थान में—स्ट्रेप्टोकोकाय, स्टाफिलोकोकाय, रोहिणी समवैसीलाय, सोग्मा, चक्काणु, डोडरलेन्स वैन्वै कोलाय, फ्युसीफार्म वैसीलस पाये जाते हैं। नेत्र मे—स्टाफिलोकोकाय, वैसिलसफेरोसिस और कर्ण में—स्टाफिलो कोकाय, तथा रोहिणी समवैसीलस पाये जाते हैं।

वैक्टेरिया के शरीर का वर्णन

तृणाणूनां शरीरञ्च संस्कारतस्त्रिधामतम्।
एकं कोकाय संज्ञकं द्वितीयं वैसिलायकम्॥
तृतीयं स्पैरिलायकं प्रवदन्ति वैज्ञानिका।
सर्षपाकारं प्रथमं, शलाकाकारं द्वितीयम्॥
वक्राण्वाकार तृतीयं सदा भवन्ति प्रायश॥

व्याख्या—उद्भिदाणुओं का आकार प्राय तीन प्रकार का होता है। अत ये तीन वर्गों में विभक्त किये जाते हैं।

(१) कोकाय (Cocci)—ये सर्षपाकार अथवा विन्दु के आकार के गोल-गोल तथा लम्वोत्तरे जीव होते हैं। लम्बाई-चौड़ाई में इनका व्यास तुल्य ही होता है। इनकी मोटाई १ म्यू के लगभग होती है। इनमें कुछ कोकाय कोषयुक्त तथा कुछ भाले की नोक के समान त्रिकोणाकार और शिम्वी-वीज के समान चपटे होते हैं। इनमें आपस मे इकट्ठे रहने की प्रवृत्ति अधिक होती है।

(२) वैसीलाय (Bacilli)—ये शलाकाकार होते हैं। इनमें कुछ चतुष्कोण तथा कुछ अण्डाकार होते हैं। इनकी लम्बाई चौड़ाई से दुगुनी होती है।

(३) स्पैरीला (Spirilla)—ये कुछ टेढ़े अथवा मुड़े हुए होते हैं। जब एक स्थान में वक्रता होती है, तव इस कीटाणु को वक्राणु (Vibrio) कहते हैं।

यथा—विसूचिकाणु (कालरा विब्रिओ), और जब चक्राकार वक्रताएं होती हैं तब इसको स्पायरोकायटा (Spirochaeta) कहते हैं। ये गतियुक्त, चञ्चल एवं अधिक लम्बे होते हैं।

शरीर रचना

Structure

सब उद्भिदाणु पारदर्शक, प्रकाशपरावर्तन, वर्णहीन और एक द्रव्य के बने हुए अरञ्जित दशा में प्रतीत होते हैं। परन्तु रञ्जितावस्था में ये स्पष्ट रूप से देखे जाते हैं।

आवरण (Membrane)—यह इनका बाह्य भाग है जो त्वचा के समान चारों तरफ रहता है। इस आवरण से भीतर के द्रव बाहर और बाहर के द्रव अन्दर जाते हैं। अत आवरण प्रवेशक स्वरूप का होता है।

कोष (Capsule)—कुछ उद्भिदाणु आवरण के बाहर एक दूसरा भी आवरण बनाते हैं। इसकी मोटाई भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। इस बाह्यावरण को कोष कहते हैं। यह कोष आवरण से निकले हुए स्राव से बनता है। ऐसा माना जाता है कि सब उद्भिदाणु कोष बना सकते हैं। परन्तु; कुछ जातियों में यह शक्ति अधिक होती है। यथा न्यूमोकोकस प्रभृति। ये प्राणियों के शरीर में कोष बनाते हैं। परन्तु, कृत्रिम वर्धन द्रव्य में वर्द्धित ये उद्भिदाणु कोष-विहीन होते हैं। कोष शरीर की रक्षा का साधन है। अत कोषयुक्त उद्भिदाणु अधिक उग्र और रोगजनक होते हैं।

केन्द्र (Nucleus)—उद्भिदाणुओं के शरीर में केन्द्र होता है। परन्तु, यह स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। केन्द्र के स्वरूप के विषय मे विभिन्न मत है। कुछ वैज्ञानिक कहते हैं कि केन्द्र-द्रव्य सपूर्ण शरीर में सूक्ष्म कणों के रूप में फैला हुआ रहता है। परन्तु, दूसरे विद्वान् कहते हैं—अभी उसके प्रत्यक्ष करने की विधि अज्ञात है।

स्पोर (Spore)—यह उद्भिदाणुओं की विश्रब्धावस्था है। इसमें सख्या-वृद्धि का काम नहीं होता है। यह स्वरूप प्रतिकूल स्थिति में शरीर की रक्षा और जाति-रक्षा के लिये धारण किया जाता है। किन्तु, सबमें यह शक्ति नहीं होती। वैसिलय वर्ग के कुछ जातियों में यह शक्ति होती है। यथा—एन्थ्राक्स और धनुस्तम्भक वैसीलस।

प्रत्येक शरीर में केवल एक ही स्पोर होता है। उसका आकार गोल अथवा कुछ लम्बा होता है। प्रत्येक जाति में उसका स्थान निश्चित होता है। शरीर की अपेक्षा स्पोर की मोटाई कुछ अधिक होती है। अनुकूल परिस्थिति में स्पोरों से मूल वैसीलाय उत्पन्न होने लगते हैं। पहले स्पोरों की झलक नष्ट होकर यह लम्बा होने लगती है। पश्चात् भीतर के वैसिलाय वाह्यावरण को अन्त अथवा मध्य मे तोड कर बाहर निकल आते हैं। इसको स्पोरोद्भेद (Germination of spores) कहते है।

तन्तुपिच्छ (Flagella)—ये अवयव सकोचनशील और तन्तु के आकारवाले होते हैं जो उद्भिदाणुओं के शरीर पर अनेक प्रकार से लगे रहते हैं। ये शरीर से बहुत पतले परन्तु लम्बे होते हैं। यह अवयव चिद् रस का ही शरीर-वाह्य शेष भाग माना जाता है। तन्तुपिच्छ गति प्रवर्तक अङ्ग है। इससे गति उत्पन्न होती है। जिनमे यह अवयव नहीं होता वे गति-विहीन होते हैं। यथा—कोकाय वर्ग। जिनमें यह अवयव होता है वे गतियुक्त होते हैं। यथा-अन्त्रिक ज्वर वर्ग, धनुस्तम्भ, विसूचिका और मूषिकदशज ज्वर के उद्भिदाणु। चक्रकाणु तन्तुपिच्छरहित होने पर भी चचल होते हैं।

तन्तु पिच्छ के भेद—(१) शरीर के एक ओर केवल एक ही तन्तुपिच्छ का होना यथा-विसूची वक्राणु, (२) दोनों तरफ एक-एक तन्तुपिच्छ का होना, (३) एक या दोनों तरफ तन्तुपिच्छों का गुच्छा होना यथा—मूषिकदश ज्वर, स्पैरिलम्, (४) भालू की तरह सम्पूर्ण शरीर पर अनेक तन्तुपिच्छों का होना। यथा—आन्त्रिक ज्वर और धनुर्वात के वैसीलाय।

अपचयाकार (Involution Forms)—जब जीवन के लिये आवश्यक परिस्थिति में प्रतिकूलता पैदा हो जाती है तब उद्भिदाणुओं की सख्या-वृद्धि रुक जाती है तथा रगग्रहण शक्ति और रोगजनक शक्ति भी घट जाती है। उनकी स्वाभाविक आकृति बदल जाती है। इस अवस्था में इनका आकार विकृत दिखाई देता है। इसको अपचयाकार कहते हैं।

सख्या वृद्धि (Reproduction)—इनमें स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं होता है। अत एक ही उद्भिदाणु से अनेकों उद्भिदाणु उत्पन्न हो जाते हैं। उचित खाद्य-द्रव्य में पुष्ट हुआ व्यक्ति (उद्भिदाणु) पहले शरीर के मध्य में कुछ सकुचित होकर पश्चात् उसी स्थान में दो भागों में विभक्त हो जाता है। इस भाँति एक से

दो, दो से चार, यह क्रम जारी रहता है। जब तक भोजन तथा जीवन के लिये अन्य आवश्यक सामग्री मिलती रहती है तब तक संख्या बढ़ती रहती है। इस संख्या-वृद्धि को द्वैधविभजन कहते हैं। कोकाय में विभजन अनेक दिशा में और वेसीलाय तथा स्पैरीलाय एक ही दिशा में होता है। विभजन का कार्य सामान्यत: आध घण्टे में एक बार होता है। परन्तु, कभी इससे कम तथा कभी अधिक समय में देखा जाता है। विभजन के बाद भी कुछ काल तक कुछ उद्भिदाणुओं (व्यक्तियों) में आपस में एकत्र रहने की प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति गोल वैक्टेरिया में अधिक होती है। इसके अतिरिक्त इनमें विभजन अनेक दिशाओं में होने के कारण इनके संघात अनेक प्रकार के होते हैं जो इनको पहिचान में अति सहायक होते हैं। यथा—

(१) स्ट्रेप्टो कोकाय—इसमें विभजन एक दिशा में होकर अनेक कोकाय माला के रूप में आपस में मिले रहते हैं।

(२) डिप्लो कोकाय—इसमें विभजन एक ही दिशा में होता है परन्तु दो-दो कोकाय एकत्र रहते हैं। यथा—न्यूमोकोक्स, एवं गोनो कोकस।

(३) टेट्रा कोकस—इसमें विभजन दो दिशाओं में होता है। अत: चार-चार कोकाय एक साथ रहते हैं।

(४) सार्सीना—इसमें विभजन तीन दिशा में होता है। अत: कोकाय का स्वरूप घन (Cube) की तरह होता है।

(५) स्टाफिलो कोकाय—इसमें विभजन विषम दिशा में होकर अनेक कोकाय—द्राक्षास्तवक के सदृश एकत्र रहते हैं।

(६) वेसीलाय—इसमें आपस में मिलकर रहने की प्रवृत्ति बहुत कम होती है। अत: ये अधिकतर अकेले ही रहते हैं। हाँ, फिर भी कुछ वेसीलाय में एकत्र रहने की प्रवृत्ति होती है।

(७) स्पैरिलाय—ये अधिकतर अकेले रहते हैं। हाँ, कभी-कभी लम्बाई में आपस में मिले रहते हैं। यथा—जब दो विसूचिकाणु आपस में मिलते हैं तब एस् (s) के तुल्य और अनेक मिलने पर चक्रकाणु मालूम होते हैं।

उद्भिदाणु का जीवन व्यापार

उद्भिदाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। परन्तु, फिर भी इनमें अन्य बड़े प्राणियों के तुल्य सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय रासायनिक पदार्थ वर्तमान रहते हैं। इन

रासायनिक यौगिकों से निर्मित हुये शरीर की क्रिया को उचित रूप से चलायमान रखने के लिये उन्हें उपयुक्त खाद्य, जल, वायु एव उचित तापक्रम प्रभृति की आवश्यकता होती है।

प्राणप्रद वायु (ऑक्सीजन)—कुछ उद्भिदाणु प्राणवायु की उपस्थिति में भली-भाँति वढ़ते हैं और कुछ नहीं वढ़ते हैं। प्राणप्रद वायु की उपस्थिति में वढ़ने वाले उद्भिदाणु निम्नलिखित होते हैं। यथा—प्लेगाणु, इन्फ्लुएञ्जा, एन्थ्राक्स।

धनुस्तम्भ का उद्भिदाणु प्राणवायु की उपस्थिति में नहीं वढ़ता है। अधिक सख्या में रोगोत्पादक उद्भिदाणु प्राणवायु की अनुपस्थिति में ही वढते हैं। परन्तु, गोनोकोकाय और मेनिञ्ज कोकाय—ये प्राणवायु की अल्पमात्रा में भी वढ सकते हैं।

आर्द्रता (Moisture)—उद्भिदाणु के शरीर में ⅘ जलीय भाग होता है। उनको वढ़ने के लिये जलाश की वहुत आवश्यकता होती है। जलाश प्राणियों के शरीर से मिलता रहता है। परन्तु जलाश के विना भी विसूचिकाणु कुछ घण्टों तक, स्टॉफिलोकोकाय कुछ दिनों तक, रोहिणी कुछ सप्ताहों तक, क्षयाणु कुछ महीनों तक तथा एन्थ्राक्स एव धनुस्तम्भ का स्पोर कुछ वर्षों तक जल के विना रह सकते हैं।

तापक्रम—उद्भिदाणुओं की वृद्धि के ऊपर वाह्य तापक्रम का वहुत प्रभाव होता है। प्रत्येक जाति के उद्भिदाणुओं की वृद्धि के लिये तापक्रम की भिन्न-भिन्न मर्यादा होती है। यथा—मनुष्यों में रोग पैदा करने वाले उद्भिदाणुओं के लिये ३७५° सें० (मनुष्य-शरीर का स्वाभाविक तापक्रम) तापक्रम की आवश्यकता होती है। जल में रहने वालों के लिए २०° सें० पोषक तापक्रम होना है। अन्य प्राणियों में रोगजनकाणुओं के लिये पोपक तापक्रम उन प्राणियों के स्वाभाविक तापक्रम पर निर्भर होता है। पक्षियों के शरीर का तापक्रम ४३° सें० होता है। अत उनके क्षयाणु की वृद्धि उसी तापक्रम पर होती है। परन्तु उसी उष्णता पर मनुष्य के क्षयाणु नहीं वढ़ सकते हैं। पूतिजनक जीवाणुओं का २०-२४° सें० पोषक तापक्रम होता है। गोवर तथा मल-मूत्रादिवासी जीवाणुओं के लिये ६० से ७०° सें० पोषक तापक्रम की आवश्यकता होती है। मनुष्यों के रोगोत्पादक जीवाणु अधिकतर २०-४०° सें० तापक्रम में रहनेवाले होते हैं। साधारणत रोगोत्पादक उद्भिदाणु ४५° सें० से

अधिक तापक्रम को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकते हैं, अतः नष्ट हो जाते हैं। जल में स्थित जीवाणु जिस तापक्रम पर १० मिनट मे मर जाते हैं वह घातक तापक्रम कहा जाता है। यथा—न्यूमोकोकाय के लिये ५२° सें०, आन्त्रिकाणु के लिये ५६° सें०, रोहिणी के वैसिलाय के लिये ५८° सें० और गोनोकोकाय के लिये ६०° सें० घातक तापक्रम है। इसी प्रकार प्रत्येक जाति के लिये भिन्न-भिन्न तापक्रम घातक होता है। शुष्क-उष्णता की अपेक्षा आर्द्र-उष्णता का परिणाम इनके ऊपर अधिक होता है। स्पोरों को नष्ट करने के लिये बहुत उष्णता की आवश्यकता है। यथा—एन्थ्राक्स के स्पोर को नष्ट करने के लिये १४०° सें० शुष्क उष्णता की ३ घंटे तक आवश्यकता होती है। परन्तु, १००° सें० का उबलता हुआ जल १० मिनट तक ही आवश्यक होता है। इसी भाँति धनुस्तम्भ के स्पोर उक्त उबलते हुये जल में १५-२० मिनट तक ही जीवित रह सकते हैं।

प्रकाश

(Light)

उद्भिदाणुओं की वृद्धि अन्धकार मे होती है। अत इनका संवर्धन अन्धकार-पूर्ण स्थान में ही किया जाता है। प्रत्यक्ष सूर्य-प्रकाश में अधिकतर सब उद्भिदाणु न्यूनाधिक काल में मर जाते हैं। अप्रत्यक्ष प्रकाश का परिणाम प्रत्यक्ष प्रकाश के तुल्य विनाशक नहीं होता है। प्रकाश से रोगोत्पादकाणुओं का प्रभाव भी कम हो जाता है। प्रत्यक्ष सूर्य-प्रकाश की किरणों के तुल्य नील-लोहित (वैंगनी) किरणें, नील लोहितातीत (अल्ट्रावाइलेट) किरणें, एक्स किरणें (X-rays), पारद वाष्प-दीप (मर्क्यूरी वेपर लैम्प), फिनसेन दीप आदि विद्युत् दीपों की किरणें तथा विद्युत् प्रवाह हानिकारक होता है।

संक्षोभ

(Movement)

उद्भिदाणुओं के बढ़ने के लिये निश्चलावस्था ही पोषक होती है। जिस स्थान अथवा पात्र में इनकी वृद्धि करना हो उसे निश्चल रखना चाहिये। पात्र के हिलाने अथवा मन्थनादि से वृद्धि सम्यक् रूपेण नहीं हो पाती।

रासायनिक पदार्थ

वहुत से रासायनिक पदार्थ अपने विषत्व-प्रभाव से उद्भिदाणुओं का नाश कर देते हैं। अथवा उनकी वृद्धि रोक देते हैं। कई वार एक ही द्रव्य न्यून मात्रा में प्रयुक्त होने से वृद्धि रोक देता है तथा अधिक मात्रा मे प्रयुक्त होने से नाश करने का काम करता है। वृद्धि निरोधक (Antiseptic) द्रव्य वृद्धि रोकता है। जीवाणु नाशक (Germicide or Disinfectant) द्रव्य जीवाणुओं का नाश करता है। प्रत्येक जाति के उद्भिदाणुओं में विविध जीवाणु-नाशक रासायनिक पदार्थों के साथ सघर्ष करने की शक्ति पृथक्-पृथक् होती है। यथा—एन्थ्राक्साणु ५० प्रतिशत फेनाइल में तत्काल मर जाते हैं परन्तु, इनके स्पोर २० मिनट पश्चात् मरते हैं। जहां पर जीवाणुओं के नाश करने की आवश्यकता होती है वहां शल्य चिकित्सक निम्नलिखित रासायनिक पदार्थ यन्त्र-शस्त्रादि विशोधनार्थ तथा हस्तादि शोधनार्थ प्रयोग करते हैं। यथा—

नतृकाम्ल (नैट्रिक एसिड), कास्टिक सोडा, रस कर्पूर (हाइड्रोजन पेरोक्साइड), पोटाश परमेंगनेट, ग्लिसरीन, पारद (मर्क्यूरी), पर क्लोराइड, ब्लीचिङ्ग पाउडर, आयोडीन, क्लोरोफार्म, एन्टीफार्मिन, फार्मेलिन्ट, अल्कोहल, थैमाल, विलियन्ट ग्रीन, एक्रीफ्लाविन प्रभृति ओषधियां व्यवहृत होती हैं।

उद्भिदाणु जनित पदार्थ

(Products of Bacteria)

शरीर के अन्दर या वाहर किसी स्वाभाविक या कृत्रिम वर्धन द्रव्य मे जव उद्भिदाणुओं की अच्छी तरह वृद्धि होती है तब उनसे अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह अनेकता तथा तृणाणुजन्य विविधता जिन खाद्य-द्रव्यों पर उनका परिणाम होता है उन द्रव्यों की विविधता के कारण हुआ करती है। प्रथम प्रकार के पदार्थ ऐसे होते हैं जो जीवित धातुओं पर कार्य करके उनमें विकार उत्पन्न करते हैं अथवा उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करते हैं। यथा—विष।

दूसरे प्रकार के पदार्थ ऐसे हैं, कि जो समीपवर्ती खाद्य-द्रव्यों पर कार्य करके उनसे अनेक द्रव्य उत्पन्न करते हैं। यथा—फर्मेंटस्। तीसरे प्रकार के पदार्थ न तो रोग ही उत्पन्न करते हैं और न कोई रासायनिक कार्य ही करते हैं।

वे एक प्रकार से अलकार रूप में होते हैं। यथा रग और प्रकाश की उत्पत्ति।

चूँकि पहले प्रकार के पदार्थ रोग उत्पन्न करते हैं अत चिकित्सा-शास्त्र में उसका विशेष महत्त्व होने से उसीका वर्णन किया जाता है।

(१) विष (Toxins)—वैक्टेरिया का विष वह पदार्थ है जो जीवित-धातुओं को हानि पहुँचाता है और जिसके परिणाम-स्वरूप विविध रोग उत्पन्न होते हैं। ये विष इनकी वृद्धि के साथ बनते हैं और प्राय विशिष्ट स्वरूप के होते हैं। वे विष निम्नलिखित दो वर्गों में विभक्त किये जाते हैं।

वहिर्विष (Exotoxin)—कुछ जातियाँ स्राव (Secretion) के रूप में विष को बनाती है जो उनकी जीवितावस्था में शरीर से वाहर निकल कर वर्धन द्रव्य में निकल आता है। अर्थात् वर्धन द्रव्य से उन्हें पृथक् करने पर विष स्वतन्त्र रूप से मिल सकता है। पृथक्करण का काम निष्पन्दकों से किया जाता है। जीवितावस्था में शरीर से पृथक् होना यही इस वर्ग के विष का प्रधान लक्षण है और इसी कारण यह विष वहिर्विष कहा जाता है।

इस प्रकार के विष बनानेवाले उद्भिदाणु सख्या में बहुत कम होते हैं। जिनमें अधोलिखित प्रधान है।

धनुर्वात, रोहिणी, शिगातिसार के वैसिलाय, स्ट्रेप्टो कोकाय, स्कार्लेटिनी और कुछ स्टाफिलोकोकाय।

अन्तर्विष—उद्भिदाणुओं में जो विष बनता है वह उनकी जीवितावस्था में शरीर के भीतर ही सीमित रहता है, वाहर नहीं आता। इस कारण यह विष अन्तर्विष कहलाता है। विकारी उद्भिदाणु अधिक परिमाण में इसी प्रकार का विष बनाते हैं। यह विष शरीर के साथ अभिन्न रूप से मिला हुआ रहने के कारण इनके शरीर विषैले होते हैं।

इन मुख्य लक्षणों के अतिरिक्त इन दो प्रकार के विषों में और भी अनेक भेद होते हैं। कुछ विकारी उद्भिदाणु शरीर के वाहर न तो विष बनाते हुये दीखते हैं और न उनके मृत शरीर अन्तर्विष-युक्त प्रतीत होते हैं। फिर भी प्राणियों के शरीर के भीतर प्रविष्ट होने पर वे अपना विषैला प्रभाव दिखलाते हैं। इसका प्रधान उदाहरण वैं० एन्थ्राक्स है।

ऊपर में लिखे हुए विशिष्ट स्वरूपों के विषों के सिवाय भी कुछ सामान्य स्वरूप के उद्भिदाणु विष बनाते हैं। जिनमें अधोलिखित तीन प्रधान हैं।

(१) अग्रेसिन (Agressins)—ये आक्रमण करने वाले विष-द्रव्य होते हैं अतः ये अग्रेसिन कहे जाते हैं। ये श्वेत कणों की भक्षण-शक्ति को कम करते हैं। इसका हेतु यह है कि इनकी उपस्थिति से श्वेत कण उद्भिदाणुओं के पास जाने नहीं पाते फिर भक्षण करने की बात तो दूर रही। इस प्रकार का विष वातिक शोथ (Gasgangrene) के वैसीलाय निर्माण करते हैं।

(२) रक्त द्रावक (Hemolysin)—लालकणों का द्रावण करने की शक्ति इस प्रकार के विष में होती है। इस प्रकार का विष उत्पन्न करनेवालों में स्ट्रेप्टोकोकाय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भी जो विशिष्ट रूप से इसको उत्पन्न करते हैं वे स्ट्रे-हीमोलिटिकस कहलाते हैं।

(३) श्वेतकण नाशक (Leucocidin)—इससे श्वेत कणों का ध्वंस किया जाता है। इस प्रकार के विष-निर्माणकों में स्टॉफिलोकोकाय महत्त्व के प्रतीत होते हैं।

ऊपर में वर्णन किये हुए विषों की उत्पत्ति और उनके कार्य का विज्ञान—रोग का प्रतिबन्धन करने और व्याधि की चिकित्सा करने के लिये अत्यन्त लाभदायक प्रमाणित हुऐ हैं।

अन्त में हम श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डाइरेक्टर पं० रामदयाल-रामनारायणजी वैद्य को अनेकशः धन्यवाद देते हैं, जिनकी असीम अनुकम्पा से यह पुस्तक इतनी शीघ्रता में ऐसे सुन्दर और आकर्षक रूप में प्रकाशित हुई है।

हृषीकेश-हरद्वार

विनीत
कविराज बालकराम शुक्ल :



संक्रामक रोग विज्ञान

विषय-सूची

संक्रामक रोग-विज्ञान

प्रथम खण्ड

स्पर्शाक्रमण

(Contagion)

जिन प्रक्रियाओं के द्वारा एक शरीर से दूसरे शरीर में रोग का सञ्चरण होता है, उसे स्पर्शाक्रमण कहते हैं और जिससे इस रोग का सञ्चरण प्रक्रिया होती है, उसे रोग विष (कॉण्टेजियम्—Contagium) कहते हैं।

एलोपैथी मे कॉण्टेजियन् और इन्फेक्शन (संक्रमण) ये दोनों अनेक चिकित्सकों के मत से असमान मात्र ही है। परन्तु कोई-कोई चिकित्सक इन शब्दों के प्रयोग मे बहुत भेद मानते है।

सक्रमण (Infection) की परिभाषा—जब रोगजनक जीवाणु मनुष्यों पर आक्रमण कर रोग उत्पन्न करता है, तो इस प्रक्रिया को हम संक्रमण कहते हैं। इस भाँति रोगसञ्चार की प्रथा और रोग विष की प्रबलता में भेद होने से भिन्न-भिन्न स्थलों पर कॉण्टेजियन् और इन्फेक्शन व्यवहृत होते हैं। प्रकृत पक्ष में दोनों शब्द के मध्य मे प्रभेद का निर्णय करना कठिन होता है, परन्तु यथाशक्ति इनके भेद का निम्नलिखित वर्णन किया जाता है।

यथा—पिडिकोत्पादक ज्वर (Eruptives fever) का विष और कुक्कुर कास (हूपिंग कफ Whooping cough) का विष वायु के द्वारा सञ्चारित होता है। अतः इसको संक्रमण (इन्फेक्शन) कहते हैं तथा सूतिका ज्वर, कोकिल व्याधि (एनथ्रक्स) कण्ठ रोग (ग्लैण्डर्स), पूयमेह आदि रोगों के सञ्चारित होने पर उनका विष शरीर के शोषणकारी प्रदेश पर साक्षात् रूप मे संलग्न होकर

रोगोत्पत्ति करते हैं। अतः इसे स्पर्शाक्रामक रोग कहते हैं। जल संत्रास (हाइड्रोफोबिया) और उपदंश रोग के जीवाणुओं का रक्त में प्रवेश होना अथवा क्षतयुक्त शरीरप्रदेश में संयुक्त होना आवश्यक है। मसूरिका रोग के जीवाणु टीका अथवा वायु द्वारा सञ्चारित होता है। विसूचिका और आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु खाद्य तथा पेय पदार्थों के द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो रोगोत्पत्ति करते हैं। इन सब कारणों से स्पर्शाक्रमण और संक्रमण के भेद का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

वैज्ञानिक लोग बाहर से जीवाणु शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर जो रोगोत्पत्ति करते है उसे संक्रमण कहते हैं। इस भाँति उत्पन्न हुए रोग को संक्रामक रोग (इन्फेक्शनल डिजीज़) तथा विशेष प्रकार के संक्रमण को स्पर्शाक्रमण कहते हैं। यथा—रोगग्रस्त व्यक्ति के देह से रोगोत्पादक जीवाणु निकलकर दूसरे व्यक्ति के शरीर मे साक्षात् सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर जो रोगोत्पत्ति करते हैं, उसे कॉण्टेजियन् (स्पर्शाक्रमण) कहते हैं। विसूचिका के जीवाणु रोगी के मल मे वर्तमान रहते हैं। जब ये जीवाणु किसी प्रकार अन्य व्यक्ति के उदर मे प्रवेश कर जाते है, तो ये विसूचिका रोग उत्पन्न करते हैं। अत' हम विसूचिका को निश्चितरूप से सक्रामक रोग कह सकते हैं।

जिनके जीवाणु रोगग्रस्त व्यक्ति के देह से नहीं निकलते या ऐसी अवस्था मे निकलते हैं जिससे प्रविष्ट ही नहीं हो सकते अथवा रोगोत्पत्ति मे सर्वथा असमर्थ होते हैं, उन्हे अस्पर्शाक्रामक (नान कॉण्टेजिन्स Non-Contagious) रोग कहते हैं।

यथा—मलेरिया ज्वर इसी श्रेणी का है। मलेरियाणु रोगग्रस्त व्यक्ति के देह से निकलकर अन्य देह मे प्रवेश नहीं कर सकते। ये जीवाणु मच्छर के शरीर मे परिवर्धित होकर जब मच्छर अन्य व्यक्ति को काटता है, तब उसके दंशक के द्वारा ही अन्य व्यक्ति के शरीर में पहुँचते है।

संक्रमण के भेद

संक्रमण दो प्रकार का होता है—(१) सामान्य और (२) विशेष।

सामान्य सक्रमण—अनेक जाति के जीवाणुओं द्वारा होता है। यथा—व्रण, फुंसियाँ, ये अनेक पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा होते हैं।

विशेष सक्रमण—यह केवल एक ही जाति के जीवाणु से होता है। यथा—ग्रैंतालिका रोग (प्लेग) वैसिलस पेस्टिस के द्वारा ही उत्पन्न होता है।

संक्रमण स्थान (Sources of Infection)

(१) मनुष्य के द्वारा—अनेक संक्रामकरोग स्वस्थमनुष्य पर आक्रमण करता है। यथा—ग्रीवाभञ्जकज्वर (सेरिब्रो स्पाइनल फीवर), श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया), पूयमेह, फिरंग, उपदंश, विसूचिका, प्रवाहिका, आन्त्रिक ज्वर, श्लेष्मोल्वणसन्निपात (इन्फ्लुएञ्जा), क्षय, कुक्कुर कास (हूपिंग कफ), कुष्ठ, रोहिणी, मसूरिका, रोमान्तिका, पीतज्वर, कर्णमूलिक शोथ ज्वर (मम्पस), मलेरिया और काला ज्वर प्रभृति।

(२) पशुओं के द्वारा—मनुष्य के समीप रहनेवाले पालतू पशुओं से निम्नलिखित रोग फैलते है। यथा—अश्व से धनुस्तम्भ, गौ से धनुस्तम्भ क्षय, कोकिल व्याधि (एनथ्राक्स) तथा माल्टा ज्वर, भेड़ से धनुस्तम्भ, बकरी से माल्टा ज्वर, कुक्कुर और शृगाल से जलसन्त्रास, बन्दरों से पीत ज्वर, चूहे से प्लेग, मूषिकदंश ज्वर तथा औपसर्गिक कामला।

(३) कृमि—ये कीडे अधिकतर मनुष्योपजीवी होते हैं। इनका जीवन प्राय. मनुष्य के रक्त पर आश्रित रहता है। इनका स्वयं अपना कोई रोग नहीं होता। वल्कि, ये रोगग्रस्त मनुष्यों वा पशुओं से जीवाणुओं का संवहन (मैकेनिकल कैरिअर) अथवा संवर्धन (Vector) करके उनको स्वस्थ मनुष्यों पर आक्रान्त कर देते हैं। यथा—चूहों की मक्खी (रेड फ्लीया) से प्लेग, घरेलू मक्षिका से टाइफाइड फीवर, विसूचिका, प्रवाहिका और मच्छर से श्लीपद, विषम ज्वर, पीत ज्वर, दण्डक ज्वर, तथा किलनी से पुनरावर्तक ज्वर, तान्द्रिक ज्वर और भुनगे से काला-ज्वर प्रभृति।

संक्रमण पथ (Modes of Transfeience)

प्रत्यक्ष (डाइरेक्टर)—इस पथ में रोग ग्रस्त व्यक्ति से मृत शरीर अथवा मनुष्य और पशुओं के द्वारा संक्रमण का विस्तार प्रत्यक्ष रूप में देखा जाता है। यथा–व्यवायजन्यरोग, उपदंश, पूयमेह इत्यादि इसी भाँति फैलते हैं। मृत शरीर से—एन्थ्राक्स रोग से मृत प्राणी की त्वचा के संसर्ग से फैलता है। इसको स्पर्शाक्रमण जन्य (Contagious) कहते हैं। कुछ व्याधियों के फैलने में प्रत्यक्ष संसर्ग की जरूरत नहीं होती। वे रोगी की खाँसी, छींक, तीव्र भापण, गम्भीर श्वास-प्रश्वास लेते समय, मुख से या नासा मार्ग से स्राव के सूक्ष्म कण वायु के द्वारा उड़कर सामने वैठने वाले मनुष्य के ऊपर आक्रमण करते है। इसका भी समावेश प्रत्यक्ष मे ही किया जाता है। इस प्रकार रोगी के मल के सूक्ष्मकणों से जो संक्रमण होता है उसे विन्दूत्क्षेपक संक्रमण कहते है। वस्तुत इस पथ से जननेन्द्रिय सम्बन्धी और श्वाससंस्थान के रोग संक्रमण करते हैं।

अप्रत्यक्ष (इन् डाइरेक्टर)—इस मार्ग से रोगग्रस्त व्यक्ति के खाद्य-पेय पदार्थों, वस्त्रों और पात्रों के द्वारा जीवाणुओं का संक्रमण स्वस्थ व्यक्ति पर होता है। इस मार्ग से परिपाक यन्त्र के रोग फैलते हैं। जैसे—टाइफाइड फीवर, विसूचिका, पेचिस आदि। इस के रोगजनक उद्भिदाणु (वैक्टेरिया) का प्रवेश मुख द्वारा होता है। घर की मक्खियाँ और वायु इसके प्रसार में अधिक सहायता करती हैं। वायु के प्रवाह से क्षयाणु और मसूरिका रोग का जीवाणु अधिक फैलाता है। स्कूल के वालकों मे उनके द्वारा प्रयुक्त की हुई वस्तु से रोहिणी रोग का प्रसार होता है। चिकित्सक, परिचारक आदि के द्वारा प्रसूति ज्वर, धनुर्वात आदि रोग फैलते हैं। वस्तुत संक्रान्त खाद्य, पेय, वस्त्र, पात्र, मुख सम्बन्धी वस्तुएं, मक्षिका, वायु, हाथ, यन्त्र शस्त्र आदि अप्रत्यक्ष संक्रमण के अनेक साधन हैं।

मध्यस्थ (Intermediat Ghost)—यह अधिकतर दंशक कीडों द्वारा फैलाता है।

शरीर में प्रवेश मार्ग

उपरोक्त प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष और मध्यस्थ के द्वारा संवहन किये जीवाणु नीचे लिखे मार्गों से शरीर मे पहुँचकर रोगोत्पत्ति करते हैं।

(१) त्वचा—रोगोत्पादक जीवाणु देह के भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर रोग की उत्पत्ति करते हैं। परीक्षा से सिद्ध हुआ है कि जो प्राणी रोग से आक्रान्त होने का वशवर्त्ती होता है, उसकी त्वचा के नीचे सूचीवेध से अनेक संक्रामक रोगों के वैक्टेरिया प्रविष्ट कराने से समय पर वही रोगविशेप प्रकाशित होता है। शरीर के किसी स्थान में व्रण अथवा छालें पड़ जावें और दुर्भाग्य से उसी स्थान पर जीवाणु का संसर्ग हो जाय तो रोग हो जाता है। दंशक कीटों के द्वारा भी त्वचा मार्ग से रोग होनेवाले हैं; परन्तु उनमें व्रण होने की आवश्यकता प्रत्येक उद्भिदाणु (वैक्टेरिया) के लिए नहीं है। यथा— अक्षुण्ण त्वचा होने पर भी कोकिलव्याधि (एनथ्रक्स), वैसिलस एनथ्राक्स स्वस्थ त्वचा के ऊपर संवर्पमात्र से रोगोत्पत्ति कर देते हैं। स्टाफिलो कोकाय रोम कूपों मे प्रविष्ट होकर फोडा पैदा कर देता है और फिरङ्गाणु (ट्रेपोनोपालिडा) स्वस्थ त्वचा के ऊपर संघर्षण मात्र से ही रोग पैदा कर देता है।

पाचन सस्थान—दूपित खाद्य-पेय द्वारा फैलनेवाले रोग इस मार्ग से प्रवेश करते हैं। यथा—विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर प्रभृति।

श्वास मार्ग—विन्दूत्क्षेप और वायु के द्वारा फैलने वाले रोगाणु इस मार्ग से प्रवेश करते हैं। यथा—श्वसनक ज्वर, यक्ष्मा, रोमान्तिका आदि।

मूत्र मार्ग—इससे व्यवायजन्य रोग फैलते हैं। यथा—उपदंश, सुजाक प्रभृति।

अधिकतर ९० प्रतिशत सक्रामक रोग नासिका और मुख द्वारा संक्रमण करते हैं और शरीर मे जो द्वार युक्त संस्थान हैं यथा—पचन सस्थान, श्वसन संस्थान, मूत्र प्रजनन संस्थान आदि द्वार से ही उनके रोगाणुप्रविष्ट होते हैं और जो द्वार शून्य है, उनके रोग त्वचा के द्वारा फैलते हैं। परन्तु विशेष स्थान पर इसका अपवाद भी देखा जाता है। यथा—

गर्दन तोड बुखार (मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर) ; मस्तिष्क रोग होते हुए भी नासाद्वार से प्रविष्ट होता है।

संक्रमण हेतु

संक्रमणकारी रोगाणु और संक्रमणधारी मनुष्य अथवा अन्य प्राणियों के बीच पहले महान संग्राम होता है। उस समय यदि जीवाणुओं की शक्ति मानवीय शक्ति से अधिक होती है तो उस अवस्था में संक्रमण होता है।

आक्रमण काल

प्रायः संक्रामक रोगों का क्रम और काल निर्दिष्ट होता है। इसका कारण यह है कि, जिस क्षेत्र से आहार लेकर सम्पूर्ण रोगाणुओं की संख्या पुष्ट होकर बढती है, अगर वही क्षेत्र इनके पालन-पोषण में असमर्थ हो जाय तो वे सब रोगाणु नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जो रोगाणु रोगी के देह से निकल कर दूसरे शरीर मे अनुकूल अवस्था को पाकर पूर्व के समान वंश वृद्धि करके रोग की उत्पत्ति करता है ; इसके अतिरिक्त संक्रामक रोग एक समय शरीर मे प्रकाशित हो जाने के बाद देह से उस रोग के रोगाणु के उपयुक्त आहार्य्य द्रव्य एक काल मे समाप्त हो जाते है। इसलिये एक व्यक्ति मे एक से अधिक बार संक्रामक रोग की प्रवणता नष्ट हो जाती है। परन्तु, किसी-किसी स्थल पर काल की सहायता से शरीर को प्रवणता पुनः प्राप्त हो जाती है।

यह सभी जानते हैं कि उद्भिद् अपना पालन-पोषण मिट्टी से ही ही करते हैं, जब उस क्षेत्र की मिट्टी में पालन-पोषण की शक्ति नहीं रह जाती, तो दूसरे स्थान पर गुलाब आदि के पौधे लगा दिये जाते हैं और उनमे खाद डाल दिया जाता है। इसीलिए एक खेत मे एक ही फसल एक साल मे बोई जाती है। जैसे—एकखेत में एक बार गेहू बोने के बाद उसमे फिर उडद बोया जाता है, तब कहीं फसल अच्छी होती है। इसी भाँति भिन्न-भिन्न संक्रामक रोगी की वशवर्त्तिता, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में समान रूप से नहीं होती है। एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न समय में

रोग विशेष से अक्रान्त होने की वशवर्त्तिता विभिन्न प्रकार की होती है और सार्वाङ्गिक अवस्था अवसादग्रस्त होने पर प्राय: संक्रामक रोग से अक्रान्त होने की सम्भावना रहती है। किन्तु कोई-कोई संक्रामक रोग जैसे विसूचिका, पीत-ज्वर प्रभृति वलिष्ठ और दुर्वल दोनों व्यक्तियों पर समान रूप से आक्रमण करता है। अतः संक्रामक रोगों की इस विलक्षणता का कारण नहीं जाना जा सकता है।

कोई-कोई संक्रामक रोग जनपद व्यापक रूप से आक्रमण करते हैं और वाद में शान्त हो जाते हैं। संक्रामक रोग जनपद व्यापक रूप से प्रकाशित होने पर उसकी व्याप्ति लोक की वाह्य दशा के ऊपर निर्भर करती है तथा आवद्ध वायु मे रोग के जीवाणुओं की संख्या वढती है, परन्तु विमुक्त वायु प्रवाह में सम्पूर्ण रोगोत्पादक जीवाणु विक्षिप्त, क्षीण और नष्ट हो जाते हैं। शीतकाल मे शीत प्रधान देशों में घर के जंगला, खिडकी, दरवाजा आदि प्राय: वन्द रहते है, जिससे वायु का आवागमन नहीं होता। अतः इस समय मे पिडिका वाले ज्वरों की उत्पत्ति अधिक होती है। रोगी के शरीर से त्यक्त मल-मूत्रादि रोग की खान होते हैं। इससे रोग के जीवाणु फैलते हैं। शरीर के वाहर जो रोगोत्पादक जीवाणु वढ़कर, वाहकों द्वारा अन्य स्थल मे पहुंचते हैं, ये सव क्रियाय—जीवाणु परिवर्धनादि उत्ताप और आर्द्रता में होती हैं और शैत्य से इनका ह्रास होता है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है, कि विस्तीर्ण देश में प्लेग आदि संक्रमण विशिष्ट स्वभावी व्याधियाँ एक वार महामारी के रूप मे प्रकाशित होकर पुनः शान्त हो जातीं तथा चिरकाल तक वहां नहीं होती हैं। यह भी देखा जाता है कि जहां पर मनुष्य की संख्या कम हो जाती है, वहा भी संक्रामक रोग कुछ दिन के लिए वन्द होकर पुन: प्रकाशित होता है। वड़े-वडे शहरों मे संक्रामक रोग का आक्रमण वालकों पर विशेष रूप से देखा जाता है। छोटे-छोटे गावों मे सक्रामक रोग का प्रकोप शीघ्र शान्त हो जाता है और दूसरे स्थान से संक्रमण होने पर ही फिर प्रकट होता है। परन्तु वड़े-वड़े

शहरों मे रोगाणुओं का अनुकूल क्षेत्र बने ही रहने अत. संक्रामक रोग फैलते ही रहते हैं।

मातृज संक्रमणता

मसूरिका, उपदंश, आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, आरक्त ज्वर प्रभृति अनेक संक्रामक रोग माता के रक्त-प्रवाह द्वारा गर्भस्थभ्रूण मे भी संक्रमण करते है।

संक्रमणकारी जीवाणुओं के लिये बलकारक अवस्था

आरोग्य शरीर मे रोगोत्पादकजीवाणुओं की अल्प संख्या नष्ट हो जाती है। परन्तु अल्प संख्या मे इन जीवाणुओं का बार-बार शरीर में प्रवेश करते रहने से शरीर में एक प्रतिकारक शक्ति (Immu nity) का प्रादुर्भाव हो जाता है। किन्तु जब ये जीवाणु अधिक संख्या मे प्रवेश करते रहते हैं, तब उग्र न होने पर भी देह पर अपना प्रभाव जमा लेते हैं। यथा—क्षय और कुष्ठ के जीवाणु। ये रोगोत्पत्ति मे निस्तेज होते हुये भी चिरकाल तक क्षयी और कुष्ठी के साथ सम्बन्ध रखने से रोग उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं। अधिक मनुष्यों का एक स्थान पर एकत्र होना जैसे कुम्भ का मेला आदि, दूषित जलवायु तथा काल ये जीवाणुओं की संख्या बढाने में सहायक होते हैं। ऐसी अवस्था मे विशेषकर वायु द्वारा फैलनेवाले जीवाणु जन्य रोग अधिक होते हैं। शरीर में प्रविष्ट होने के लिये भिन्न-भिन्न रोगों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। यथा विसूचिका, प्रवाहिका, आन्त्रिक ज्वर, इनके जीवाणु मुख द्वारा प्रविष्ट होने पर ही रोग उत्पन्न कर सकते हैं। ये त्वचा पर संघर्षण से या सूचीवेध द्वारा त्वचा मे प्रविष्ट होकर रोग नहीं पैदा कर सकते। इसके विरुद्ध स्ट्रेप्टो कोकाय मुख द्वारा सेवन करने पर नहीं ये त्वचा में प्रविष्ट होने पर ही रोग पैदा कर सकते हैं तथा पूय मेहाणु (गोनो कोकाय) जननेन्द्रिय और नेत्र की श्लेष्मल कला मे प्रविष्ट होकर रोग पैदा करते है।

आयु—बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में रोग प्रतिकारकशक्ति स्वाभाविकतया दुर्बल होती है। अत बाल्यावस्था मे रोमान्तिका, कुक्कुर कास

और रोहिणी प्रभृति रोग तथा वृद्धावस्था मे श्वसनक ज्वर अधिक होता है।

धनाभाव—शरीर और वस्त्र की मलिनता, दूपित आवासस्थान आलस्य, व्यायाम न करना, अधिक परिश्रम करना आदि अवस्थाएँ सक्रामक जीवाणुओं के लिए अनुकूल होती है।

खाद्याभाव—उचितमात्रा मे भोजन मे प्रोटीन, खनिज और जीवनीय (विटामिन) द्रव्यों की कमी से आरोग्यता नष्ट हो जाती है। ये अवस्थायें सक्रामक जीवाणुओं के लिये अनुकूल होती है।

आघात—इसमें त्वचा पर क्षत होने पर उसके द्वार जीवाणु अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं। वाह्य त्वचा पर प्रहार का जो परिणाम होता है, वही श्लेष्मल त्वचा पर सर्दी और शोथ का होता है।

प्राकृतिक रोग—मधुमेह, वातरक्त प्रभृति मे शरीर निर्वल हो जाने के कारण कोकाय जनक स्फोट, पीडिका, राजयक्ष्मा, श्वसनक ज्वर आदि अधिक होते हैं।

निर्वलताकारक सक्रमण—कुछ संक्रामक रोग ऐसे भी होते हैं जो स्वयं मारक न होकर शरीर को निर्वल कर देते हैं, जिससे आतुर (रोगी) के वच जाने पर भी वह दुर्वलता के कारण अन्य जीवाणुओं से आक्रान्त हो जाता है और श्लेष्म ज्वर (इनफ्लुएंजा), रोमान्तिका, कुक्कुरकास प्रभृति तथा क्षय, श्वसनक ज्वर आदि सांघातिक रोग हो जाते हैं।

संक्रमण का भावी परिणाम

अनुकूल परिस्थिति होने पर उद्भिदाणु शरीर मे प्रविष्ट होने के वाद तत्काल ही वढने लगते हैं, तथा साथ-साथ विप भी पैदा करते जाते हैं। कभी-कभी उद्भिदाणु (वैक्टेरिया) प्रविष्ट स्थान अथवा उसके निकटस्थ स्थान में सीमित रहते हैं अथवा कभी-कभी रसायनी या रक्तप्रणालियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हो जाते है। इनकी व्याप्ति के साथ-साथ इसके विष देहभर मे फैल जाता है। इससे शरीर में निम्नलिखित विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। यथा—टॅक्सीमिया (Toxemia)—इसमे उद्भिदाणु अपने प्रविष्ट स्थान मे सीमित रहकर वढते हैं तथा उनका विष

वहा से शोषित होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। इस दशा में बैक्टेरिया रक्त में कभी भी नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में डिफ्थिरिया (रोहिणी), धनुर्वात, विसूचिका, संक्रामक पेचिस (बैसिलरी डिसेन्ट्री) ये दृष्टिगोचर होती हैं।

पाइएमिया (Pyaemia)—इस अवस्था मे बैक्टेरिया. टॅक्सीमिया के साथ-साथ देह के अनेक अवयवों में बहुत-सी छोटी-बडी और मोटी विद्रधियाँ पैदा कर देता है। ये विद्रधियाँ देह के एक स्थान से दूषित थक्के (Thrombi) के छोटे-छोटे कण रक्त प्रवाह के साथ अनेक अङ्गों मे स्थित होने से होती हैं।

सैप्रीमिया (Sapraemia)—इस अवस्था मे केवल परान्नयी जीवाणुओं का विप देह में संचरण करता है, ऐसी स्थिति कभी-कभी धनुस्तम्भ और नाडी कोथ मे देख पडती है।

उद्भिदाणु शोषता (सेप्टीसीमिया)—इस अवस्था मे बक्टेरिया रक्त मे प्रविष्ट होकर बढ़ते हैं तथा साथ-साथ विप भी पैदा करते हैं। ऐसी दशा गम्भीरता प्रदर्शक प्रतीत होती है। यह स्थिति पूयोत्पादक कोकाय बैसिलस एन्थ्राक्स, बैसिलस पैसिट्स् मे दिखायी देती है। इस दशा के आधे आतुरों मे होमोलिटिक स्ट्रेप्टोकोकाय होते हैं। परन्तु मेनिङ्गो कोकाय से होनेवाली दशा अति शीघ्र ही घातक हो जाती है।

उद्भिदाणुता (Bacteriomia)—इसमे उद्भिदाणु शोणित मे पहुंचकर अधिक संख्या मे नहीं बढते और अधिकतर कुछ ही समय मे नष्ट हो जाते हैं। यह स्थिति मन्थर ज्वर, माल्टा ज्वर, खाण्डिक श्वसनक ज्वर, और स्ट्रेप्टोकोकाय और स्टॅफिलोकोकायजन्य व्याधियों में दिखायी पड़ती है। यह दशा अगम्भीरता प्रदर्शक है।

संक्रमण जन्य दैहिक विकृतियाँ

स्थानिक—उपसर्ग के प्रवेश-स्थान और धातुओं मे प्रतिक्रिया शुरू होकर उससे सूजन, अपक्रान्ति अथवा धातुओं का नाश होता है। कई व्याधियों में स्थानिक प्रतिक्रिया विशेष आकृति की होती है, जिससे

रोग-निर्णय में सहायता मिलती है। यथा—राजयक्ष्मा, महाकुष्ठ, उपदंश प्रभृति।

जब देह में स्वभावतः जीवाणु क्रियाराहित्य अर्थात् समता (इम्यूनिटी) होती है अथवा कृत्रिम रूप से पैदा की जाती है या सूजन की जगह में सौत्रिक (फैब्रिन) की उत्पत्ति होती है,तब संक्रमण अधिकतर स्थानिक होता है। यथा—स्ट्रेप्टोकोकाय और न्यूमो कोकाय के संक्रमण प्रसरण स्वभाव वाला होता है; परन्तु यदि मनुष्य पहले से ही कृत्रिम स्वरूप से उनके लिये सहनशील हो जाय तो उनके संक्रमण स्थानिक होते हैं। स्टाफिलो कोकाय का संक्रमण अधिकतर स्थानिक होता है, क्योंकि देह में उनके लिये पुंज-कारक पदार्थ वर्तमान रहते है, जो उनको प्रवेश-स्थान में नियमित कर देते हैं। ज्यादा से ज्यादा उद्भिदाणु लसीका वाहिनियों के द्वारा उस स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली लसीका ग्रन्थियों तक पहुँचकर उनमें सूजन और पूय पैदा कर देते हैं। जैसे—वैतालिका मे ग्रन्थियों का निकलना। पूयोत्पादक उद्भिदाणु (वक्टेरिया) मे तीव्र स्वरूप की स्थानिक विकृति होती है और अधिकतर राजयक्ष्मा, कुष्ठ, उपदंश आदि मे चिरकालिक स्वरूप की स्थानिक विकृति होती है। जब देह मे प्रतिकारक शक्ति की मात्रा अधिक रहती है तो उद्भिदाणुओं का पूर्णरूप से विध्वंस हो जाता है। परन्तु प्रतिकारक शक्ति की मात्रा कम होने पर, उद्भिदाणुओं का पूर्णरूप से नाश नहीं हो पाता। तब ये उद्भिदाणु चुपचाप पड़े रहते हैं और मौका पाकर फिर कुपित हो जाते है।

(२) सार्वाङ्गिक—उद्भिदाणु के तीव्र होने,अथवा शरीर के निर्बल होने से स्थानिक या लसीका ग्रन्थियों के प्रतिकार को ध्वंस करके उद्भिदाणु सम्पूर्ण देह में फैलकर उद्भिदाणु मयनादि दशाओं को पैदा कर देते हैं और उसका फल अनेक लक्षणों से युक्त होकर विभिन्न अङ्गों पर उत्पन्न होते है। मस्तिष्क और रक्त सञ्चालक संस्थान पर परिणाम होकर ज्वर, शरीर और हृदय की दुर्बलता, रक्तभार का न्यून होना आदि लक्षण पैदा होते हैं। और रक्तजनक तथा शरीर संरक्षक अङ्गों पर प्रभाव पड़ने से रक्त क्षय, श्वेतकणोत्कर्ष तथा प्रतियोगी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार

पाचक ग्रन्थियों पर प्रभाव पड़ने से विबन्ध, क्षुधानाश, मूत्र की कमी आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

(२) स्थान संश्रयात्मक—कुछ उद्भिदाणु अथवा विष शरीर में फैलने के बाद स्वभाव से ही विशिष्ट अङ्गों की तरफ अधिक आकृष्ट हो जाते हैं। इसको सवरणात्मक स्थान संश्रय कहते हैं। यथा—वैसिलस टाइफाइड आन्त्र की तरफ, मेनिङ्गोकोकाय मस्तिष्कावरण की तरफ, गनोरियाणु मूत्र प्रजनन संस्थान की तरफ और न्यूमोनियाणु फुफ्फुस की तरफ आकृष्ट होते हैं। रोहिणी विष स्वभावत हृदय, वृक्क और नाड़ियों की तरफ जाता है। धनुस्तम्भ विष सुषुम्ना नाडी की तरफ जाता है। कभी-कभी एक ही जाति के उद्भिदाणु (बक्टेरिया) एक समय में एक ही अङ्ग की तरफ तथा दूसरे समय में दूसरे अङ्ग की तरफ जाते दिखाई देते हैं। यथा—स्ट्रेप्टो कोकाय जब त्वचा की तरफ जाता है, तब विसर्प रोग पैदा करता है और गले की तरफ जाने से रक्त ज्वर (स्कार्लेट फीवर) पैदा करता और जब हृदय की तरफ आकृष्ट होता है, तब हृदयाभ्यन्तरिक शोथ पैदा करता है। जब यह पित्ताशय की तरफ जाता है तो पित्ताशयिक शोथ और जब आमाशय की तरफ जाता है तो आमाशयिक व्रण पैदा करता है। स्थान विशेष की तरफ आकृष्ट होने का अन्य कारण स्थानिक विकृति भी हो सकती हैं। यह विकृति आघात, सर्दी, रक्तस्राव प्रभृति से होती है। यथा—स्टॅफिलो कोकाय देह में सञ्चरण करने पर अस्थिमज्जा-शोथ के प्रशोथजनक होते हैं। किन्तु, इसके मूल कारणों के खोज करने से वैकारिक स्थान में आघात लगने या गिर पड़ने का इतिहास मिलता है।

स्थान संश्रय का तृतीय हेतु स्थानिक अनुकूलता है। यथा—क्षयाणु इसका उदाहरण है। इसके लिये प्राणप्रद वात (आक्सीजन) की अधिक आवश्यकता होती है। परन्तु देह में फुफ्फुस के तुल्य अन्य किसी अङ्ग में प्रचुर मात्रा में प्राणप्रद वायु नहीं मिल सकती है। अत क्षयाणु अधिकतर देह में प्रविष्ट होने के समय फेफड़े की तरफ सबसे पहले आकृष्ट होते हैं। अन्य भी हेतु हो सकते हैं, किन्तु यह इसका विशेष हेतु है। क्षय में कृत्रिम वातोरस का व्यवहार इसी कारण से किया जाता है। स्थान

संश्रय का चतुर्थ हेतु सहवास है। जब कोई उद्भिदाणु (बक्टेरिया) शरीर के किसी एक अङ्ग में चिरकाल तक वृद्धि को प्राप्त होता है तो वह अन्य शरीर मे प्रविष्ट होने पर यथाशक्य उसी अंग मे बढने अथवा विकृति करने का उद्योग करता है। अत स्थान संश्रय में उपरोक्त चार हेतु होते हैं।

विषम ज्वर

(Malarial Fever)

पर्याय—मलेरिया फीवर, मौसमी बुखार, विषम ज्वर, तपे नौबती, तपेलर्जा, शीत ज्वर, जूडी बुखार, सियाताप, जंगल फीवर, मार्स फीवर (Marsh Fever) और पैलुडिज्म प्रभृति इसके पर्याय हैं।

मलेरिया ज्वर का नामकरण संस्कार

मैलस (Malus) शब्द का अर्थ, इटली, फ्रेञ्च और लैटिन भाषा में दूषित (Bad) होता है। एअर (Air) शब्द का अर्थ वायु होता है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि अन्यान्य कारणों से युक्त दूषित वायु की सहायता से मलेरियाणु (Plasmodium) जन्य ज्वर को "मलेरिया-ज्वर" कहते हैं।

परिचयात्मक विवरण

भूमण्डल मे प्रतिवर्ष इस मलेरिया ज्वर से कई लक्ष व्यक्ति काल-कवलित होते हैं और उससे कई गुना अधिक लोग निर्बल होकर श्लेष्म ज्वर, श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया), प्रवाहिका (डिसेण्ट्री) प्रभृति व्याधियों से पीडित होकर मर जाते हैं। यह मलेरिया ज्वर अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप, एशिया प्रभृति संसार के सब भागों में उत्पन्न होता है। विशेषकर भारतवर्ष मे दशलक्ष से भी अधिक व्यक्ति इस भयङ्कर रोग से पीड़ित होकर सदा के लिये अपनी जीवनलीला समाप्त कर देते हैं। परन्तु काश्मीर और हिमालय के ६००० फूट से ऊँचे प्रदेशों मे प्राय

मलेरिया नहीं होता है। किन्तु भारतवर्ष में निम्नलिखित प्रदेश मलेरिया के केन्द्र समझे जाते हैं। यथा—उत्तर भारत में हिमालय की उपत्यका भूमि के स्थान, हृषीकेश, हरिद्वार, बिहार का पूर्वी भाग, आसाम, बंगाल, मध्यप्रान्त का जंगली भाग, कोचीन, ट्रावणकोर, मलाबार कोकण, प्रभृति स्थान मलेरिया के गृह समझे जाते हैं।

विषुवत (Equator) रेखा के समीपस्थ प्रदेशों में वर्षा और गर्मी में अधिक ह्रास-वृद्धि न होने के कारण मलेरिया-ज्वर सम्पूर्ण वर्ष में एकसमान देखा जाता है, किन्तु दूरवर्ती प्रदेशों में इसका स्वरूप मौसमी होता है। भारतवर्ष में इसका समय वर्षा और शरद् ऋतु है। इसका तात्पर्य यह होता है कि वर्षा के अन्त होने पर जब उष्णता आरम्भ होती है, तब मलेरिया अधिक होता है। मलेरिया ज्वर प्रायः स्थानबद्धिक स्वरूप (Endemic) का रोग है, जो वर्षभर न्यूनाधिक मात्रा में होता ही रहता है। परन्तु यह कभी-कभी जनपदोध्वंसक (Epidemic) का भी रूप धारण कर लेता है। यह स्वरूप विशेषकर पञ्जाब प्रभृति स्थानों में देखा जाता है। इसका जनपदोध्वंसक स्वरूप धारण करने के लिये जीवाणुओं के अतिरिक्त, दूषित जल, वायु, देश, काल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि और अकाल आदि कारणों का उपस्थित होना आवश्यक होता है। परन्तु सामान्यतया वर्षाकाल में जहाँ पर गर्तों (गढ़ों) में अधिक जल सञ्चित होता है और उनमें वृक्षों की पत्तियाँ, घास-फूस, कूड़ा-कर्कट आदि पड़कर सड़ते रहते हैं, इनसे जहरीली गैस उत्पन्न होती है, यह गैस जब वायु में मिलती है, तब इसको मलेरियल हवा कहते हैं।

इस मलेरियल हवा की सहायता से एनॉफिलीज (Anopheles) नामक मच्छरी के द्वारा मलेरियाणु मनुष्य के रक्त में पहुंचकर उसके शरीर में आमयिक अवस्था उत्पन्न करता है, उसको मलेरिया ज्वर कहते हैं। इसका प्रसार एक प्राणी से दूसरे प्राणी में इसी मच्छर द्वारा होता है। कभी-कभी गर्भिणी स्त्री के गर्भस्थ सन्तान पर भी इसका संक्रमण हो जाता है। कभी-कभी विषमज्वर पीडित व्यक्ति को सुई लगाने के बाद बिना संशोधन किये ही किसी स्वस्थ-मनुष्य को सुई लगा दी जाय

तो उस व्यक्ति को भी मलेरिया ज्वर हो जाता है। अथवा मलेरिया पीड़ित मनुष्य का रक्त जब किसी स्वस्थ मनुष्य मे प्रविष्ट किया जाता है तो उससे भी मलेरिया ज्वर हो जाता है। परन्तु ये सब संक्रमण के अप्रधान मार्ग हैं। इसका सबसे प्रधान मार्ग मच्छर के द्वारा ही है। इसका समय अनिश्चित है। यह कभी शीत लगकर तो कभी गर्मी लगकर चढता है। इसका आक्रमण कभी तीव्र वेग से तथा कभी साधारण वेग से होता है। और स्वेद निकल कर उतर जाता है। इसको मलेरिया ज्वर कहते हैं। अत "मलप्रायो मलेरिया भवति" यह कथन चरितार्थ होता है।

प्राचीन सिद्धान्त

प्राचीन वैज्ञानिकों का मत था कि कार्बन द्विओषित् (Carbon Dioxide) और उद्जन (Hydrogen) वायु के मिश्रण से मलेरिया विष उत्पन्न होता है और यह सूर्य की किरणों तथा भूमि के ऊपरी भाग से अधिक मात्रा मे उत्पन्न होकर दिन मे वायु के अन्दर फैल जाता है। परन्तु सूर्यास्त होने पर वायु की उष्णता घट जाती है, इसलिये यह विष जम करके पृथ्वी पर गिर पडता है। दिन मे जितनी गर्मी और रात में जितनी ठंढ अधिक पडती है, उसी प्रमाण से मलेरिया का विष वृद्धि को प्राप्त होता है। इसलिये श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्त्तिक आदि महीनों मे प्राय सब स्थानों पर मलेरिया का विष अधिक वढता है और यह उष्णप्रधान देश में अधिक भयंकर रूप धारण कर लेता है, परन्तु शीत प्रधान देश मे इसका प्रकोप कम होता है। दरिद्रता (गरीबी) इसका प्रधान सहायक है। जल संचय, पशुओं का ह्रास इस विष को फैलने मे सहायता देता है। गीली जमीन ही मलेरिया का क्रीडा क्षेत्र है। इस विष का परिमाणांश स्वभाव से ही वहुत अल्प होता है अत. वायु के साथ संयुक्त होने पर इसकी उग्रता और भी कम हो जाती है। मकान के चारों तरफ स्वच्छ वायु के आने-जाने का मार्ग खुला रहने पर मलेरिया के विष का प्रभाव कम देखा जाता है। नीचे के हिस्से मे रहनेवाली हवा में मलेरिया का विष अधिक और ऊपर के हिस्से मे रहनेवाली हवा

में कम रहता है। इसलिये मकान के दूसरे-तीसरे मंजिल में रहनेवाले की अपेक्षया नीचे के मकानों में रहनेवाले को मलेरिया अधिक होता है।

डाक्टर मेकूलिन् का मत है कि "मलेरिया का विष भूमिज है, इस विष की उत्पत्ति मिट्टी से होती है और यही मलेरिया का मूल कारण है।"

भ्रान्तमत

प्राचीन काल में यूरोप निवासियों का यह मत था कि मलेरिया का विष घर के पीछे की ओर से घुसता है। इसलिये इटली के लोग दरवाजा, खिड़की, जंगला आदि बन्द करके सोते थे। ये नदी, तालाबों और वृक्षों पर कोहरा (तुषार) पड़ता हुआ देखकर कहते थे, कि मलेरिया आ रहा है। इसी भाँति दक्षिण अफ्रिका के लोग कोहरा को देख कर डर जाते थे और उससे बचने के लिए वे मशहरी लगाकर सोते थे।

प्राचीन मत का खण्डन

आजकल वैज्ञानिकों ने अणुवीक्षण की सहायता से मलेरिया ज्वर-वाले मनुष्य के रक्त में प्लेज्मोडियम नाम के जीवाणुओं को देखा है। स्वस्थ मनुष्य के रक्त में उस जीवाणु के पहुँचने पर कुछ काल के बाद ज्वर हो जाता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से इस ज्वर के उत्पन्न होने में मलेरियाणु ही कारण है, परन्तु जहरीली भाप में मलेरियाणु नहीं मिलते हैं। इसलिये प्राचीन सिद्धान्तों को भ्रममूलक होने से त्याग दिया है।

विप्रकृष्ट कारण

जिस समय वायुमण्डल में उष्णता और आर्द्रता होती है, उस समय मलेरिया अधिक कुपित होता है। जब ग्रीष्मकाल में गर्मी अधिक पड़ती है और उसके मुताबिक वर्षा काल में यदि बारिस नहीं होती, तो वर्षा के पीछे धूप पड़ने से जमीन की भाप अधिक निकलती है, जो बहुत ही जहरीली होती है, इससे मलेरिया का प्रकोप अधिक होता है। इस सिद्धान्त को महर्षि आत्रेय ने आज से सहस्रों वर्ष पहले ही प्रकट कर

चुके थे कि वर्षाकाल में लगातार वर्षा होने के बाद धूप पडने से जमीन से जहरीली भाप (कार्बन डॉय ऑक्साइड—Carbondioxide) निकलती है। इस जहरीली भाप (कार्बन द्विओषित्) से और जल के अम्ल परिपाक से वर्षाकाल में मनुष्यकी जठराग्नि मन्द हो जाती है, इससे तीनों दोष कुपित हो जाते हैं तथा विशेष कर ग्रीष्मकाल मे संचित वायु अधिक प्रबल हो जाता है, जो मलेरिया ज्वर के विप्रकष्ट कारण बन जाते हैं।

चरक मे भी कहा है :—

भूवाष्पान्मेघनिष्यन्दात्पाकादम्लाज्जलस्य च।
वर्षास्वग्निबलेक्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः॥

भूमि पर मलेरिया के फैलने के लिये ६० तपांश, फार्नहीट से अधिक उत्ताप की आवश्यकता है और जहां पर गर्मी के दिनों मे स्वाभाविक गर्मी ३० तपांश,फार्नहीट से कम होती है, उस स्थान में मलेरिया उत्पन्न होने की कम सम्भावना रहती है। जिन कारणों से वर्षाकाल में मच्छर पैदा होते हैं, वे ही कारण मलेरिया की वृद्धि मे सहायक होते हैं। अत. ये विप्रकष्ट कारण कहलाते हैं।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों का जीवाणुओं में मतभेद

डाक्टर लेविरिन (Laverina) का मत है कि विषमज्वर के उत्पादक जीवाणु एक ही है। जिस शकल के ये जीवाणु दिखाई पड़ते हैं, उनके साथ ज्वर के प्रकार भेद का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु दूसरों के अङ्गों से पुष्ट हुए जीवाणुओं की बहुत सी शक्लें होती हैं। उनमें से विशेष करके चार प्रकार के जीवाणुओं का वर्णन नीचे लिखा जाता है।

(१) गोलाकार, (२) पुच्छधारी, (३) अर्द्धचन्द्राकार और (४) पुष्प दलाकार।

विवरण —इनमें सबसे बड़े जीवाणु का व्यास प्रायः रक्त के लाल कणों के समान होता है। इनमें अमीवा के तुल्य चलन शक्ति होती है। ये रक्ताणु से पृथक् भी रहते तथा उनमे चिपटे हुए भी रहते हैं। इनमें रङ्ग की चीज (पिगमेन्ट) दानेदार होती है तथा गोलाकार जीवाणुओं

मे एक पूंछ के सदृश बढी हुई वस्तु दिखलाई पड़ती है। इसमें भिन्न एक प्रकार के और जीवाणु दिखलाई पडते हैं, जो अर्द्धचन्द्राकार, स्वच्छ और रङ्गहीन होते हैं। ये रक्ताणुओं में मिले रहते हैं अथवा अलग भी रहते हैं, तथा रंग की वस्तु (पिगमेन्ट) इनमें भी दानेदार होती है।

तीसरे प्रकार के जीवाणु रक्ताणु के मध्य मे स्थित रहते हैं। वे देखने में गोलाकार होते हैं तथा उनमे भी दानेदार पदार्थ पाये जाते हैं।

डाक्टर लेविरिन का यह भी मत था कि विभिन्न आकारवाले जीवाणुओं से विभिन्न प्रकार के ज्वर नहीं पैदा होते, किन्तु अन्य चिकित्सकों के मतानुसार यह मत तथ्य नहीं है। क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्वर मे पृथक्-पृथक् आकारवाले जीवाणु देखे जाते हैं। विशेषकर निम्नलिखित तीन प्रकार के जीवाणु देखे जाते हैं। यथा—(१) तृतीयक ज्वर के जीवाणु, (२) तृतीयक विपर्यय के जीवाणु और (३) चतुर्थिक ज्वर के जीवाणु।

प्रधान कारण

मलेरिया ज्वर का मुख्य हेतु मलेरियाणु (प्लैज्मोडियम्—Plasmodium) है। इसकी तीन प्रधान उपजातियाँ हैं। इनसे तीन प्रकार के मलेरिया ज्वर उत्पन्न होते हैं। यथा—

(१) तृतीयक ज्वरोत्पादक कीटाणु (प्लैज्मोडियम् विवैक्स Plasmodium vivax) है।

(२) चातुर्थिक ज्वरोत्पादक कीटाणु (प्लैज्मोडियम् मलेरिया Plasmodium malaria) है।

(३) घातक विषम ज्वरोत्पादक कीटाणु (प्लैज्मोडियम् फैल्सीपैरम् Plasmodium falciparum) है।

इसके अतिरिक्त प्लैज्मोडियम् ओवेल (Plasmodium ovale) नामक चतुर्थ प्रकार के कीटाणु का नवीन आविष्कार हुआ है। यह रोगजनक कीटाणु अफ्रिका के लांगूल रहित बन्दरों मे पाया जाता है।

सम्प्रति इसको मनुष्य के रक्त की भी रुचि प्रतीति होने लगी है। अफ्रिका मे प्राय. इसीसे उत्पन्न होनेवाला रोग होता है। यह जीवाणु प्लैवैवाक्स के समान दिखाई देते है। इससे उत्पन्न होनेवाला रोग अत्यन्त सौम्य तथा विना उपक्रम के भी शीघ्र अच्छा होनेवाला होता है। इसके वेग अधिकतर सायंकाल के समय आते हैं और उस समय अस्थि में पीड़ा भी होती है।

विषम ज्वर में आयुर्वेदीय सिद्धान्त से जीवाणुवाद का अस्तित्व प्रतिपादन

श्री चरकाचार्यजी ने जो आगन्तुक अनुवन्ध विषमज्वर मे माना है, वही आगन्तुक अनुवन्ध मलेरियाणु (प्लैज्मोडियम्) का भी हो सकता है। अन्य आचार्यों ने भी विषमज्वर की उत्पत्ति में भूतों का अभिषङ्ग माना है। यहां भूत शब्द का अर्थ सूक्ष्म कीटाणु स्वीकार कर लेने से पाश्चात्य मत का समर्थन हो जाता है। तथा भूत शब्द कीटाणुवाचक है भी। इसका प्रमाण अमरकोप मे है। वहां अन्यान्य अर्थों के साथ यह अर्थ भी लिखा है—

भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ तथा क्षुद्रजन्तुष्वपीति—

चरक में भी कहा है

"आगन्तुरनुवन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे"

और भी

केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम्

मच्छरी में मलेरियाणु का जीवन चरित्र

(Sexuals orsero Gony)

एनोफिलीज नाम की मच्छरी जब मलेरिया वाले रोगी के रक्त को चूसती है, तो उस समय रक्ताणु के साथ-साथ मलेरियाणु भी उसके अन्दर चले जाते हैं और वहाँ जाकर ये जीवाणु स्वतन्त्र हो जाते हैं। इनका आकार अर्ध चन्द्राकार होता है, तथा ये नर और मादा भेद से दो प्रकार के होते हैं। नर कीटाणु मे चार या पाँच प्रकार की शाखायें निकलती हैं और

ये शाखायें मादा से चिपट कर उन्हें गर्भिणी करती हैं। ऐसी दशा में इस मादा को जॉयगॉट (Zygote) कहते हैं। इसके बाद मादा कीटाणु मच्छरी के उदर की दीवार से बाहर आकर उसकी बाहरी सतह पर लग जाते हैं। वहीं इनकी वृद्धि होती है, तथा बढने के बाद इनके सैकडों टुकड़े हो जाते हैं। ये टुकडे मच्छरी के रक्त संवहन द्वारा उसकी लालावाहिनी ग्रन्थियों में पहुंचकर डंक की नोक पर बैठ जाते हैं। मच्छरी के शरीर मे कीटाणुओं की वृद्धि १०-१२ दिन में होती है। इसको मैथुनीचक्र या स्प्रोगोनी कहते हैं।

सम्प्राप्ति (Morbid Changes)

एनोफिलीज़ नाम की मच्छरी जब स्वस्थ मनुष्य को काटती है तो रक्त चूसने के पहले ही कुछ थूक खून में मिला देती है। इस थूक के द्वारा मलेरियाणु रक्त के लाल कणों के अन्दर निश्चित रूप से प्रवेश कर जाते हैं। वहां पर रक्ताणुओं के कण रञ्जक को खाकर धीरे-धीरे बढते हुए, अमीवा के आकार को धारण कर लेते हैं। आरम्भ में इस विषमज्वराणु का आकार नगदार अंगूठी (Ring form) के सदृश होता है। फिर धीरे-धीरे यह विषमज्वराणु बडा हो जाता है और रक्ताणुभर में फैल जाता है। विषमज्वराणु के दो भाग होते हैं। जो नियमपूर्वक रंगने से रक्त के समान मालूम पड़ते हैं, यह इस की मींगी है, इसको क्रोमोटीन् (Chromatin) कहते हैं और दूसरा भाग रंगने पर नीला हो जाता है; उसे जीवौज कहते हैं। विषमज्वराणु के बडा होने पर क्रोमोटीन् के कई भाग हो जाते हैं और कुछ-कुछ जीवौज प्रत्येक क्रोमोटीन् के टुकड़ों के चारों ओर जमा हो जाते हैं। फिर रक्ताणु फट जाता है और ये बीजतुल्य छोटे-छोटे टुकडे रक्त में मिल जाते हैं। जब रक्ताणु फटता है, तब शीत लगकर ज्वर चढ जाता है। मनुष्य के शरीर में मच्छरी के लाला द्वारा विषमज्वराणु के प्रविष्ट होने के दिन से रक्तकण के भेदन काल तक, और छोटे-छोटे बीज सदृश विषमज्वराणु रक्त में विस्तृत होने तक लगभग १२ दिन लगते हैं। कभी-कभी १० दिन में ही जीवाणु का परिवर्त्तन होकर ज्वर आ जाता है

जब ये जीवाणु रक्तकणों को फोड़कर बाहर निकलते हैं, तभी ज्वर आता है। इसका कारण यह है कि रक्ताणुओं के फटते ही जीवाणुओं का विप रक्त में मिल जाता है अतएव उसी समय शीत लगकर ज्वर चढता है। फिर दूसरी बार जब छोटे-छोटे बीज सदृश विपमज्वराणु (स्पोर्स) रक्त में मिलते हैं और रक्ताणुओं में प्रविष्ट होकर इसको खाकर बढते हैं तथा अमीवा की शकल धारण करते हैं तब इस बड़े विपमज्वराणु के छोटे-छोटे बीज सदृश (स्पोर्स) बनते हैं। जब रक्ताणुओं का भेदन कर जीवाणु बाहर निकलता है, तभी पुनः ज्वर चढ़ता है।

इस प्रकार नियत काल के बाद जब जीवाणु अपनी वृद्धि पूरी कर लेते हैं, तब रक्ताणुओं को भेदन कर, बाहर निकल, पुनः अपने चक्र के लिए रक्ताणुओं मे प्रविष्ट हो जाते हैं। इस भांति प्रत्येक आक्रमण मे पहले से दस-बीस गुने अधिक रक्ताणु नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् प्रथम बार से दूसरी पारी मे दस-बीस गुना रक्ताणु नष्ट हो जाता है। तीसरी पारी में पहले की अपेक्षा सौ गुने से दो सौ गुने तक तथा कभी-कभी चार सौ गुने तक,चौथे बार में १०००-८००० गुने तक रक्ताणु क्षय हो जाता है।

मनुष्य के शरीर में जीवाणुओं के नर-मादा का भेद नहीं होता है। एक ही विपमज्वराणु १० या २० बन जाता है। इस भॉति जब कई बार मनुष्य-शरीर में जीवाणु चक्कर लगाता है, तब इससे विशेष जीवाणु नर और मादा के रूप मे अलग हो जाते हैं और रक्त मे घूमने लगते हैं। किन्तु ये रक्ताणुओं में नहीं घुसते। इस भांति मनुष्य के शरीर मे जीवाणुओं का जीवन चक्र चलता है। मलेरिया के जीवाणु निश्चित काल तक रक्तकणों मे रहकर तथा उसे खाकर, अधिक सख्या मे बढ़ जाते हैं। यहां तक कि ज्वर के आक्रमण काल में मनुष्य के शरीर में मलेरिया के जीवाणुओं की तायदाद पचीस करोड तक होने की सम्भावना रहती है। रक्तकणके भेदन काल मे इन जीवाणुओं से एक प्रकार का विप निकलता है, जो ज्वर की उत्पत्ति करता है।

भिन्न-भिन्न काल—तृतीयक ज्वर के जीवाणु बढकर बीजोत्पादन करने में इन्हें अधिकतर ४८ [illegible] लगते हैं। तृतीयक के जीवाणु ४८ घंटे

में १५–२० तक बन जाते और तृतीयक विपर्यय के जीवाणु ६–२० तक बन जातेहैं। इनके जीवाणुओं के दो दल होते है। प्रत्येक दल के जीवाणु एक दिन के अन्तर से बढते हैं, जिससे ज्वर का आगमन प्रतिदिन होता है। अतः इसको प्रत्याहिक (प्रतिदिन आनेवाला) ज्वर कहते हैं।

चातुर्थिक ज्वर के जीवाणु ७२ घंटे में बढते हैं। इतने समय में एक जीवाणु ६–१० तक बन जाते हैं। यदि जीवाणुओं का दल एक ही प्रकार का होता है, तो उसमें स्वाभाविक चातुर्थिक ज्वर होता है। यदि जीवाणुओं के दो दल होते हैं, तो चातुर्थिक विपर्यय ज्वर हो जाता है। ये जीवाणु अपने-अपने नियत समय पर वृद्धि को प्राप्त होते है और बढकर जब ये रक्ताणुओं का भेदन करते हैं, तभी ज्वर होता है।

मलेरिया के जीवाणु रक्तकणों को भक्षण करके बढते हैं। इनसे रक्ताल्पता और दुर्बलता प्रतिदिन बढ़ती है। विषमज्वर होने पर रक्त में और आभ्यन्तरिक यन्त्रों मे जो रञ्जक वस्तु (पिगमेन्ट) वर्तमान रहता है, वह इन जीवाणुओं से रक्त के वर्ण-द्रव्य के परिवर्त्तन से होता है। शरीर मे विनष्ट हुए रक्त के लाल कणों का भक्षण करना ही प्लीहा का काम है। विषमज्वर मे रक्ताणु अधिक संख्या मे नष्ट होते हैं, इससे प्लीहा का काम बढ जाने से स्वयं ही प्लीहा बढ जाती है और जीवाणु रक्तकणों के साथ प्लीहा में प्रविष्ट हो जाते हैं। ये प्लीहा मे पहुच कर उसकी कलों (सेलों) को दूषित करते हैं। चिरकाल तक जब यही दशा चलती है, तो प्लीहा में सूत्रमय तन्तुओं की रचना होकर यह कठोर हो जाती है और स्थिर रूप से बढ जाती है। विषमज्वर में यकृत् (जिगर) भी बढ जाता है। इसका कारण यह है कि यकृत् के अन्दर जीवाणु जाकर उसकी कलों (सेलों) को विक्षुब्ध कर देते हैं। इससे इसमे भी सूत्रमय-तन्तु बढ जाते हैं और रक्त कणों के अधिक विनष्ट होने से रक्तरञ्जक अधिक विमुक्त होकर रजकपित्त को बढाते हैं—रञ्जक पित्त अधिक मात्रा मे तैयार होता है। यकृत् उस सम्पूर्ण पित्त को निर्माण के लिये प्रयुक्त करने में असमर्थ होता है। इसलिये पित्तरञ्जक शोणित में मिलकर कामला

के तुल्य रंग कर देता है। जो रक्त रञ्जक के काम में नहीं आते, उन से कृष्णरञ्जक प्रभृति बनकर मूत्र में आकर उसको काला और लाल कर देते हैं अथवा नेत्रों के अधोभाग में गालों पर बैठ जाते हैं, जिससे गालों पर काले दाग मालूम होते है। रक्त कणों (Red Blood cells) के अधिक विनष्ट हो जाने पर प्रतनु (प्रोटीन) अधिक विमुक्त होने से यूरिया बन जाता है। इससे मूत्र का वर्ण गाढ़ा हो जाता है; मलेरिया ज्वर में—मूत्र में श्वेत कण भी अल्प हो जाते हैं। किन्तु बडे लसीकाणुओं का निपात वृद्धि को पहुंच जाता है। जब मलेरिया ज्वर में जीवाणु पक्वाशय, अन्त्रमण्डल और श्लैष्मिक कला मे पहुच जाते है, तब विसूचिका के लक्षण प्रकट होने हैं तथा जब मस्तिष्क की कैशिक रक्तप्रणाली में पहुचते हैं, तब उन्माद के लक्षण प्रकट होते हैं।

सुश्रुतोक्त विषमज्वर की सम्प्राप्ति

दोषोऽल्पोऽहित संभूत ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥

भावार्थ—जिस मनुष्य का ज्वर एकबारगी दबा दिया जाता है, उस पुरुष के अन्दर ज्वर का मूल कारण बना रहने पर जब पुरुष फिर मिथ्या आहार-विहार करता है, उस समय पुनः ज्वर हो जाता है अर्थात् दोष कुपित होकर रस-रक्तादि धातुओं को दूषित कर विषमज्वर को उत्पन्न करते हैं। यह दोषजन्य विषमज्वर की सम्प्राप्ति है। और प्रारम्भ से अल्पदोष की सम्प्राप्ति होने से वह प्रारम्भ से ही विषमज्वर उत्पन्न करता है। आगन्तु विषमज्वर की सम्प्राप्ति उपरोक्त ही है।

लक्षण

शरीर में अनेक प्रकार की पीड़ायें होने लगती हैं। शिर मे दर्द विशेष होता है। हाथ-पैरों मे ठंढक मालूम पड़ती है। किसी चीज को खाने मे रुचि नहीं होती है। इससे उत्पन्न पीडायें प्राय बार-बार आक्रमण करने वाली होती हैं। इसका आक्रमणकाल नियत होते हुए भी कभी जल्दी और कभी विलम्ब से ज्वर चढ़ता है। इसका भोग काल

कभी अल्प और कभी अधिक समय तक रहता है। ज्वर कभी जाड़ा लग कर तथा कभी संताप पैदा कर आता है। वेग भी मृदु और तीक्ष्ण होता है। जब विषमज्वर का अनुबन्ध चिरकाल तक रहता है, तब इसके उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। भालुकी तन्त्र में विषम ज्वर का निम्न लक्षण लिखा है—

य स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च।
वेगतश्चापि विषमः स ज्वरो विषम स्मृत' ॥

अष्टांङ्ग संग्रह मे भी—

विषमो विषमारम्भ क्रियाकालोऽनुषङ्गवान्।

विषमज्वर की तीन अवस्थाएँ

प्रथम अवस्था—रोगी के मन में बेचैनी और उदासीनता बनी रहती है। शरीर शिथिल हो जाता है। सन्धियों मे दर्द होने लगता है। इसके बाद रोगी इतने जोर से कॉपने लगता है कि उसकी चारपाई भी हिलने लगती है। उस समय एक-दो आदमी से घुटनों के द्वारा दबाये रहने पर भी वह कॉपता ही रहता है। रोगी दॉत कटकटाता है तथा कभी-कभी होठ और ऊँगलियोंके आगे का भाग नीला पड जाता है। इसके बाद धीरे-धीरे शरीर गरम हो जाता है। इस समय यदि गुदा मे ताप-मापक (थर्मामीटर) लगाया जावे तो उसका ताप १०४–१०५ डिग्री तक मालूम होता है। ताप के अधिक बढ़ने से बेचैनी बढ़ जाती है। जी मिचलाने लगता है तथा कै होने लगती है। नाडी की गति तीव्र हो जाती है और मुखमण्डल लाल हो जाता है। हाथ, पैर और सन्धियों मे भयानक ऐंठन होने लगती है, तथा रोगी अनेक प्रकार की वेदनाओं से अस्थिर हो जाता है।

द्वितीय अवस्था—ज्वर अत्यन्त तीव्र वेग से आक्रमण करके दो-तीन घटे तक उसी अवस्था में बना रहता है। इस समय शरीर का ताप १०३-से १०५ डिग्री तक कभी-कभी १०६ तक हो जाता है। विशेषकर बालकों मे ताप १०६ डिग्री तक देखा जाता है।

तृतीय अवस्था—इसमे स्वेद प्रथम मस्तक और फिर मुंह पर बूँद-बूँद

निकलना प्रारम्भ होता है। बाद मे समस्त शरीर से जल के रूप में निकलने लगता है। तत्पश्चात् रोगी को शान्ति मिलती है तथा ज्वर भी जल्दी ही उतर जाता है। इस समय वह आतुर गहरे रंग वाला पेशाब अधिक करता है तथा कभी-कभी शौच भी हो जाता है। ज्वर के बाद रोगी को कमजोरी मालूम होने लगती है और प्राय उसे निन्द आ जाती है। जागने पर वह अपने को स्वस्थ समझता है। यदि चिरकाल तक इसी भाँति ज्वर आता रहता है, तो रोगी धीरे-धीरे क्षीण और दुर्बल हो जाता है। शरीर का तेज क्षीण हो जाता है तथा रक्तहीनता उपस्थित हो जाती है। शारीरिक तेज के ह्रास होने से मानसिक दुर्बलता पैदा हो जाती है और रोगी क्रमश रोग यन्त्रणा से विह्वल हो जाता है। रोगी के अपथ्य सेवन से प्लीहा और यकृत बढ जाते हैं तथा ज्वर छोडना नहीं चाहता है।

उपद्रव

विषमज्वर में नीचे लिखे उपद्रव अधिक मात्रा मे देखे जाते हैं। यथा—अधिक मात्रा मे वमन होना, मस्तिष्कावरण प्रदाह (मेनिञ्जाइटिस्), अचेतनता (कोमा), उदररोग, रक्तातिसार, श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया), श्वासनलीयशोथ (ब्रोङ्काइटिस्), अथवा नाडी प्रदाह (न्यूराइटिस), नाडीशूल (न्यूरेलजिया), परिधिगत नाडीप्रदाह (पेरिफेरैल न्यूराइटिस्), मुखमण्डल में अल्पकालीय पक्षाघात, मृगी के तुल्य शीघ्रकारी आक्षेप, अन्धता, गलित क्षत (गैंग्रिन) आदि उपद्रव हो जाते है। अनेक स्थलों पर गर्भवती स्त्री का गर्भपात भी हो जाता है। किसी-किसी स्थान पर वृक्कशोथ और क्लेवाइटिस् भी देखे जाते हैं। पीडा के फलस्वरूप रक्ताल्पता भी उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी प्लीहा आघात लगने से अथवा स्वय भी फट जाती है। प्लीहा अपनी नाभि (हाइलम्) के समीप में फटती है तथा इससे मृत्यु भी हो जाती है। प्लैज्मोडियम् फैल्सीपैरम् के कारण पैदा हुए विषमज्वर मे कालमेह ज्वर (ब्लैक वाटर फीवर—Black water fever) उन्माद विषण्णता, (मैलनकोलिया), स्मृतिनाश प्रभृति रोग हो जाते हैं।

नेत्र की विकृति–सव्रण शुक्र (कार्निअल आल्सर), तारा-मण्डल शोथ (न्यूरल्जिक आइराइटिस्) हो जाती है तथा अर्धावभेदक आदि शिरःशूल हो जाते हैं।

सविराम ज्वर (Intermittent Fever)

निर्वचन—निश्चित विराम और वेगयुक्त ज्वर का आक्रमण, सहसा शरीर के ताप की वृद्धि और सहसा ज्वर के त्याग से युक्त मलेरियाणु से उत्पन्न हुए ज्वर सविराम ज्वर (पारी का बुखार) कहलाता है।

लक्षण

विषमज्वराणु से उत्पन्न हुए इस ज्वर मे शरीर के अन्य यन्त्रों मे रक्त की अधिकता होती है। तथा कभी-कभी स्थायी रूप से प्लीहा बढ जाती है। इस ज्वर की तीन अवस्थाएँ—शीतावस्था, उष्णावस्था और घर्मावस्था होती हैं। यह ज्वर कुछ काल के लिये छूट कर फिर बढ जाता है। इसके कई भेद हैं। चिरकाल तक अच्छा न होने पर विषम उपद्रव पैदा हो जाते हैं। मलेरिया ज्वर मे विराम ज्वर ही अधिक होता है। इस रोग से मरे हुए रोगी का शवच्छेदन करने पर ग्रहणी (डियोडिनम्) मे रक्त की अधिकता, कफ स्राव (कैटरल) का परिवर्तन, यकृत् मे रक्त की अधिकता और प्लीहा की वृद्धि देखी गयी है। रक्त में लोहित कणों की कमी होने से रक्ताल्पता हो जाती है। ज्वर चिर काल तक बने रहने पर मस्तिष्क में शोथ हो जाता है। यकृत् की रक्त-प्रणाली बन्द हो जाने से रञ्जक द्रव्य की कमी (पिगमेन्ट रीडिजेनेरेशन्) हो जाती है। वृक्क की रक्त-प्रणालियों के बन्द हो जाने से इसमे परिवर्तन होने लगता है और मस्तिष्क की रक्त प्रणालियों के अवरोध से धूसर वर्ण में परिवर्तन होकर मस्तिष्क की क्रिया में विलक्षणता पैदा हो जाती है।

विभाग

(१) सामान्य सविराम ज्वर (सिम्पल इन्टरमिटेन्ट फीवर)
(२) साघातिक विषम ज्वर (पर्निसियस इन्टरमिटेन्ट फीवर)

सामान्य सविराम ज्वर

गुप्तावस्था—यह अवस्था विभिन्न काल तक स्थायी रहती है। शरीर मे प्रविष्ट हुए मलेरियाणु (प्लैज्मोडियम्) की प्रवलता के भेद से, मलेरियायी प्रदेश मे स्थिति विशेष होने से और रोगी की शरीरावस्था भेद से रोग की गुप्तावस्था काल में न्यूनाधिक्य देखा जाता है। प्राय' शरीर में मलेरियाणु प्रविष्ट होकर एक सप्ताह से तीन सप्ताह के मध्य मे ज्वर प्रकाशित करता है। विष के अधिक प्रवल होने पर २४ घण्टे में ही ज्वर उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी २१ दिन के वाद भी ज्वर प्रकट होता है।

पूर्वरूप

ज्वर के आक्रमण के कई दिन पूर्व से ही रोगी के सव अंगों मे पीडा, उत्साह हीनता, सव कार्यों से विराग, मन्दाग्नि, शिर मे वेदना, पीठ और हाथों में पीड़ा, मलिन जिह्वा आदि दोष पैदा हो जाते हैं। मुख मलिन तथा मुख का स्वाद तिक्त, कोष्ठ काठिन्य (कब्जियत), मूत्र में कटुता और गहरा रंग लिये तथा थोडी-थोडी देर मे पेशाव का लगना आदि विकार पैदा हो जाते हैं।

लक्षण

इसकी चार अवस्थायें होती हैं :—

(क) शीतावस्था, (ख) उष्णावस्था वा ज्वरावस्था, (ग) घर्मावस्था और (घ) विरामावस्था। इन चारों अवस्थाओं के एकत्रित होने पर ज्वर का दौरा शुरू होता है। शीतावस्था से लेकर घर्मावस्था तक ज्वर वना रहता है। इन अवस्थाओं मे भिन्न-भिन्न रोगी की अवस्थाओं के काल में भिन्नता देखी जाती है। जैसे—शीतावस्था चार-पांच मिनट से १ घण्टा वा दो घण्टा तक रहती है, उष्णावस्था ३—६ घण्टे तक और घर्मावस्था ४—८ घण्टे तक स्थायी रहती है।

शीतावस्था

पूर्व लक्षणों के वाद अथवा अनेक स्थलों पर पूर्वरूप के विना ही

एकदम जाड़ा लगने लगता है। कभी-कभी इतना शीत लगता है कि रोगी की चारपाई भी हिलने लगती है। शिरः शूल, कटि वेदना, मुख मे मलिनता, अंगों मे सिकुड़ाहट तथा त्वचा मे सिकुड़न आ जाती है। वक्ष'स्थल के ऊपर भारीपन मालूम होता है और श्वास की गति तीव्र हो जाती है। प्रलाप, हृदय मे पीडा, श्वास कष्ट, नाड़ी की गति कभी तीव्र तथा कभी क्षीण हो जाती है। पिपासा की अधिकता, वमन की इच्छा, वमन मे कष्ट, जिह्वा का रग सफेद और मलयुक्त हो जाता है। हाथ-पैर छूने पर ठण्ढे लगते हैं और नख नीले हो जाते हैं। जिह्वा-तल मे उत्ताप १०२-१०४ डिग्री तक रहता है। स्वर क्षीण वा कम्पयुक्त मालूम होता है।

उष्णावस्था

पहले शीत लगने के वाद अचानक गर्मी मालूम होती है, फिर एक वार शीत लगकर धीरे-धीरे शरीर अत्यन्त गरम हो जाता है। इस समय रोगी ओढ़े हुए कपडों को फकता है तथा प्यास अत्यन्त वढ जाती है। शीतावस्था में सिकुडे हुए मलिन मुखमण्डल चमकते हुए लाल दिखलाई पडते हैं। नाड़ी की गति तीव्र, पूर्ण तथा पुष्ट प्रतीत होती है। अङ्गों मे दाह होता है और शिर की पीडा वढ जाती है। पृष्ठ वंश की वेदना मे साधारण कमी हो जाती है। प्रलाप, अस्थिरता, वमन या वमनेच्छा होती है। यह अवस्था २-४ घटे तक अथवा कभी-कभी इससे भी अधिक रहती है। मूत्र में यूरेट तथा क्लोराइड आफ सोडियम् का प्रमाण अधिक और स्फुरिकाम्ल अल्प देखा जाता है। किन्तु मूत्र अल्प निकलता है। कक्षा (वगल) की गर्मी १०५-१०६ डिग्री तक हो जाती है।

घर्मावस्था

पहले कपाल और मुख में, वाद को समस्त देह से पसीना निकल कर धीरे-धीरे ताप कम हो जाता है। साथ ही प्यास और विह्वलता भी कम हो जाती है तथा रोगी कुछ स्वस्थ हो जाता है।

शरीर स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है। मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है और उसमें यूरेट् ऑफ सोडा और एमोनिया भी निकलने लगता है। उष्णावस्था में हृदय की क्रिया में विकार होने से रक्त अन्दर के यन्त्रों से ऊपरी त्वचा में संवहन होने लगता है। इसलिए स्रावक यन्त्रों की क्रिया कम हो जाती है। स्वेदावस्था में स्राव क्रिया की कमी छिप जाती है और रक्त संचालन पूर्ववत् होने लगता है।

विरामावस्था

इस अवस्था मे ज्वर कुछ काल के लिये शान्त प्रतीत होता है। पृथक् विराम ज्वर के प्रकार (भेदों) में इस अवस्था का स्थायीपना विभिन्न काल व्यापी हो जाता है। एक आक्रमण के अन्त से दूसरे आक्रमण के आरम्भ तक विज्वरावस्था को विरामकाल कहते है। विराम की अवस्था में शारीरिक ताप स्वाभाविक रहती है। अनेक स्थलों में इस समय रोगी पूर्णस्वस्थ मालूम होता है और आहार-विहार ठीक-ठीक करने लगता है। किसी-किसी स्थल में ज्वर का वेग प्रवल या चिरस्थायी होने से विराम काल मे भी रोगी क्लान्त रहता है। शिर में चक्कर, क्षुधा का न लगना आदि लक्षण देखे जाते हैं। इस अवस्था में उपयुक्त चिकित्सा न होने पर ज्वर का आक्रमण फिर हो जाता है। किसी-किसी स्थल में इस ज्वर के वर्णन किये हुए क्रम में परिवर्तन भी देखा जाता है। उपद्रव संयुक्त द्विगुण युक्त आक्रमण होता है। और कभी-कभी एक आक्रमण की भिन्न-भिन्न अवस्था का स्थायित्व और प्रवलता में विलक्षणता देखी जाती है। चारों अवस्थाओं के मध्य में कोई एक अवस्था अनियमित रूप से दीर्घ स्थायी वा स्वल्प स्थायी भी हो सकती है। इसी भाँति पहली वा तीसरी अवस्था का एक काल मे अभाव भीहो सकता है। चिरकाल से मलेरिया प्रदेश में रहनेवालों के मध्य में वहुतों को ऐसा विरामज्वर होता है, जिसमें शीतावस्था न होकर पहले उष्णावस्था ही प्रकाशित होती है। इसको दाहिक विषमज्वर (डम्व एगिड) कहते हैं। कभी-कभी सहवर्ती अन्यान्य लक्षणों से सविरामज्वर के लक्षण इतने आच्छादित हो जाते हैं कि रोग का निर्णय करना भी कठिन

हो जाता है। श्वासनली की श्लैष्मिक कला रक्त के प्रवल वेग से आक्रान्त रहती है। साथ-साथ श्वास-प्रश्वास की गति शीघ्रगामी और कष्टदायिनी हो जाती है। खाँसी, पार्श्वशूल आदि लक्षणों के होने पर फुफ्फुसशोथ (न्यूमोनिया) की चिकित्सा करने का अनुमान किया जाता है। कभी-कभी वमन, विरेचन होने से विसूचिका का भ्रम होता है और कभी-कभी पृष्ठ, सन्धि, हाथ-पैर आदि अंगों मे तीव्र वेदना होने से वातव्याधि का भ्रम हो जाता है। इस अवस्था मे विचार कर अथवा रक्तपरीक्षण द्वारा विरामज्वर का निश्चय करके वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिये।

बालकों के सविरामज्वर का निर्णय

अधिकांश स्थलों पर दो वर्ष से न्यून और तीन-चार वर्ष के आयु-वाले बच्चों को कम्पवाला जाडा नहीं दिखलाई पडता है। किन्तु, ज्वर की शीतावस्था मे ओठ और नख नीले मालूम होते और नासाग्र भाग तथा दोनों हाथ ठण्डे, मुख मलीन तथा अक्षिगोलक मे नेत्र प्रविष्ट हुए दिखलाई पडते हैं। कभी-कभी बालक को दो-तीन वमन होकर नींद आ जाती है और कुछ काल के बाद मुख लाल, शरीर गरम तथा बेचैन होकर वह शय्या पर छटपटाने लगता है। कभी-कभी बीच में दौरा (द्रुताक्षेप) हो जाने से बेहोश भी हो जाता है। फिर स्वयं दौरा शान्त हो जाता है।

कभी-कभी बालक सम्पूर्ण ज्वर की दशा मे गाढ निद्रा से युक्त हो जाता है अथवा अर्द्धचेतनावस्था मे पडा रहता है। इसके बाद स्वेद निकलने पर फिर जाग पडता है। बालक तृतीयकज्वर (तिजारी) की अपेक्षा अन्येद्युष्क ज्वर से अधिक आक्रान्त होते हैं। विरामवस्था में भी सम्पूर्ण स्वस्थ नहीं होता है। रुक्ष स्वभाव, तंद्रा, मन्दाग्नि, पक्वाशय मे विकार आदि वर्तमान रहते हैं।

पूर्व मे वर्णन किये लक्षणों से भिन्न मलेरियाणुयुक्त विरामज्वर मे नवीन लक्षण होते हैं। यथा—जिह्वा मे सूजन तथा जिह्वा पर सफेद मल जमा हुआ दिखलाई पडता है। जिह्वा के किनारों पर दन्त-चिह्न प्रतीत होते हैं। कभी-कभी जिह्वा का मल नीला, पीला या शीशा के

सदृश श्वेत मालूम होता है। सामान्य विरामज्वर मे जिह्वा न सूखती न पीली ही पडती है। किन्तु विषमतायुक्त अल्प विरामज्वर मे मन्थर-ज्वर (टाइफाइड) के सदृश हो जाती है।

प्लीहा की दशा—कभी-कभी ज्वर के वेग के समय प्लीहा वढ़ जाती है और दवाने पर दर्द मालूम होता है। और विराम काल मे दूसरी वार पूर्ववत् स्वाभाविक अवस्था मे आ जाती है। पुराना मलेरिया ज्वर हो जाने पर प्लीहा इतनी वढ जाती है कि पेट मे वाईं तरफ से दाहिनी तरफ तक फैल जाती है। कभी-कभी मुख के चारों तरफ छाले (हेर्पिज —Herpes) पड़ जाते हैं, कभी-कभी आक्रमण से पहले ही छाले पड जाते हैं परन्तु कभी-कभी ज्वर के शान्त होने पर मुख मे तथा ओठों पर छाले निकल आते हैं। कभी-कभी वालकों की त्वचा पर छोटी-छोटी फुन्सियों के निकलने से आन्त्रिक ज्वर का भ्रम हो जाता है।

सामान्य सविरामज्वर के भेद

(१) अन्येद्युष्क ज्वर (कॉटीडियन फीवर)
(२) तृतीयक ज्वर (टरशियन फीवर)
(३) चातुर्थिक ज्वर (काटरन फीवर)

अन्येद्युष्क ज्वर (Quotidian Fever)

विवेचन—इसमे ज्वर का आक्रमण प्रतिदिन होता है याने २४ घण्टे के वाद फिर ज्वर चढ जाता है। इसका कारण यह है कि तृतीयक ज्वर के जीवाणुओं के जव दो दल रक्त मे स्थित रहते हैं तो प्रत्येक जीवाणु दल एक दिन के अन्तर से वढ़कर प्रतिदिन रक्ताणुओं का भेदन करते हैं, जिससे प्रतिदिन ज्वर चढ़ जाता है और जव रक्त मे चातुर्थिक ज्वर के जीवाणुओं के तीन दल स्थित रहते हैं, तो भी प्रति-दिन ज्वर चढ जाता है।

लक्षण

विषम ज्वर मे वर्णन की हुई, शीतावस्था, उष्णावस्था और स्वेदावस्था ये ही तीन अवस्थाएँ होती हैं, इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं पडता।

यथोक्तं चरके—

अन्येद्युष्कः प्रतिदिन दिनं हित्वा तृतीयक ।
दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ॥

तृतीयक ज्वर (Tertian Fever)

यह ज्वर मनुष्य के शरीर में एक दिन का अन्तर देकर आता है। इसका कारण यह है कि इसके जीवाणु दो दिन-रात्रि (२४ घण्टे) में अपना जीवन चक्र पूरा करते हैं। इसलिये इसका वेग तीसरे दिन होता है। इस ज्वर में उष्णता अधिक रहती है और ४ घण्टे तक इसका वेग बहुत तीव्र रहता है।

लक्षण

अन्येद्युष्क की भाँति इसकी भी तीन अवस्थायें होती हैं। किन्तु इन अवस्थाओं का काल १०—१२ घण्टा तक ही होता है। शीत काल में इसका दौरा मध्याह्न काल के समय होता है। इसमें सन्ताप मृदु होता है और प्लीहा बढ जाती है। यदि तृतीयक के रूप में परिवर्त्तन न होकर प्रतिदिन ज्वर आने लगे तो रोग की वृद्धि समझना चाहिये, परन्तु यदि चातुर्थिक में परिणत हो जाय तो रोग का ह्रास समझना चाहिये। कभी-कभी यह ज्वर एक दिन में दो बार (सायं और प्रात.) आने लगता है। दूसरे दिन ज्वर बिल्कुल न आकर तीसरे दिन पुन दो बार आ जाता है। इसको डुप्लीकेटेड टर्सियन फीवर—(Duplicated Tertian Fever) कहते हैं।

तृतीयक भेद

(१) नियमानुकूल तृतीयक ज्वर एक दिन का अन्तर देकर आता है। परन्तु (२) जब इसके दो वेगों के साथ आक्रमण होता है, तो प्रतिदिन ज्वर आता है।

तृतीयक विपर्यय

इसका जीवाणु मनुष्य-देह में अपना जीवन प्रवाह ४८ घण्टे में पूरा कर लेता है। इसलिये प्रति तीसरे दिन पर ज्वर चढता है और ३६

घण्टे तक बना रहता है। याने उस दिन के १२ घण्टे से लेकर दूसरे दिन के २४ घण्टे तक ज्वर चढा रहता है।

लक्षण

इसमे भी पहले के तुल्य तीन दशाएँ होती हैं। किन्तु इसमे शीत बहुत कम लगता है और सन्ताप का वेग तीव्र होता है। यहाँ तक कि २४—३६ घण्टे तक सन्ताप बना रहता है। स्वेद की दशा स्फुट रीति से प्रतीत होती है; किन्तु पसीना कम निकलता है। इसमें शिरो वेदना, छर्दि, हृल्लास प्रभृति लक्षण देखे जाते हैं। यह कष्टदायक है तथा इसमे रक्ताल्पता हो जाती है।

प्रभेद—(१) जब इसका आक्रमण सामान्य रूप से होता है; तब दिनभर ज्वर नहीं आता। किन्तु रात्रि से लेकर द्वितीय दिन के सम्पूर्ण रात्रि तक ज्वर चढा रहता है अर्थात् ३६ घण्टे बना रहता है।

(२) इस ज्वर मे जिस समय दो आक्रमण साथ-साथ चलते हैं तो यह सन्तत ज्वर का रूप धारण कर लेता है।

(३) जब इसका आक्रमण १६—२० घण्टे तक मृदु रूप मे रहता है और एक ही दौरा होता है तो यह तृतीयक ज्वर के सदृश होता है।

(४) कभी-कभी तृतीयक विपर्यय मे रक्त के अधिक क्षय होने से घातक ज्वर का रूप धारण कर लेता है और इसमे कई परिवर्त्तन होते हैं। जब जीवाणु पुंज रक्त में घूमता हुआ किसी अंग की रक्त केशिका अथवा सूक्ष्म धमनियों मे स्थित होता है, तो मार्ग का अवरोध हो जाता और इससे भयंकर उपद्रव उत्पन्न होकर मृत्यु का कारण बन जाता है। जिस अंग की रक्तवाहिनी नालियों का अवरोध होता है, उसके अनुकूल लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। जब मस्तिष्क की किसी रक्तवाहिनीमे रक्त-सञ्चार का अवरोध हो जाता है, तो मूर्च्छा, प्रलाप, पक्षाघात, आक्षेप आदि उपद्रव होने लगते है। अन्त्रमण्डल की दीवारों मे इस प्रकार की विकृति होने से प्रवाहिका, अतिसार आदि लक्षण प्रकट होते हैं। जिससे विसूचिका के सदृश लक्षण मालूम होते हैं। फुफ्फुस अथवा परिफुफ्फुसीया कला मे जीवाणु जाकर

श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया), या परिफुफ्फुसीया कलाप्रदाह (प्ल्यूरिसी) उत्पन्न करते है। यह हृदय मे जाकर हृद्रोग और वृक्कों मे वृक्कशोथ तथा रक्तमेह आदि उत्पन्न कर देते हैं।

चातुर्थिक ज्वर (Quartan Fever)

इसके जीवाणु मनुष्य के शरीर मे ७२ घण्टे मे अपनी वृद्धि कर ज्वर पैदा करते है। यह मृदु होता है तथा इसका आक्रमण तीन-तीन दिन के बाद होता है। इसका परिपाक काल ११–१८ दिन तक होता है। इसकी अवस्था पहले के तुल्य ही होती है।

चातुर्थिक ज्वर के भेद

(१) इस ज्वर का वेग जब नियमानुकूल चलता है तो दिन के मध्य मे ज्वर नहीं होता, सिर्फ पहले और चौथे दिन ज्वर होता है।

(२) चातुर्थिक विपर्यय—जब इसके दो वेग साथ-साथ चलते हैं तो प्रथम, दूसरे और तीसरे दिन ज्वर आता है, परन्तु फिर क्रमश दो दिन ज्वर होकर पहिले और चौथे दिन ज्वर नहीं चढता।

(३) जब चातुर्थिक ज्वर के तीन वेग साथ-साथ चलते है, तो प्रतिदिन ज्वर होकर उतर जाता है।

आयुर्वेदीय-सिद्धान्तानुसार

विषम ज्वर के भेद

सन्तत ज्वर, सतत ज्वर, अन्येद्युष्क ज्वर, तृतीयक ज्वर तथा चातुर्थिक ज्वर, ये पाँच विषम ज्वर के मुख्य भेद हैं।

यथोक्त वाग्भट्टे—

ज्वर' पञ्चविध प्रोक्तो मलकालबलाबलात्।
प्रायश· सन्निपातेन भूयसा तूपदिश्यते॥
सतत सततोऽन्येद्युस्तृतीयक चतुर्थकौ

कीटाणु की लीनता

मलेरिया नाशक ओषधियों के प्रयोग से जब ज्वर छूट जाता है, तो रक्त में कीटाणु नहीं मिलते या कभी-कभी विना ओषधि के ही ज्वर बन्द हो जाता है। यहाँ तक कि उद्दीपक औषधों के प्रयोग से भी कीटाणुओं की उपस्थिति प्रतीत नहीं होती, तब इस रोग का निर्मूलन कह सकते हैं। परन्तु कई वार ऐसा अनुभव में आया है कि वर्षों या महीनों के बाद पुनरुपसर्ग की सम्भावना न होने पर भी विषम ज्वर का पुनरावर्त्तन देखा गया है। इसका कारण वैज्ञानिकों ने अभी तक सिद्ध नहीं कर पाये है। किन्तु कुछ विद्वानों की कल्पना है कि रुधिरकायाणुबाह्य (Exo-Erythro-cytic) अर्थात् यकृत्, प्लीहा, वृक्क और केशिकाएँ, इनके अन्तस्तरीय कोशाओं में भी इनका गुप्त जीवन चक्र रहता है। मच्छरी के दंश से जो स्पोरोजाइट (Sporozoite) त्वचा में प्रविष्ट होते हैं, उनमें कुछ तो रक्तकणों के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं और कुछ स्थानिक केशिकाओं की कोशाओं में प्रविष्ट होकर अपनी लीन जीवन चक्र आरम्भ रखते हैं। मनुष्यों में इस अन्तस्तरीय गुप्त चक्र का प्रत्यक्षप्रमाण अभीतक नहीं मिला है। परन्तु पक्षियों में विषम ज्वर के कीटाणुओं में इस प्रकार का जीवन चक्र प्रत्यक्ष प्रमाणित हो चुका है। किन्तु प्राचीन आयुर्वेद में महर्षियों ने कई सहस्रवर्ष पहले ही इस सिद्धान्त को प्रकट कर चुके है, जिसको वैज्ञानिकों ने अभी तक सिद्ध नहीं कर सके हैं।

यथोक्तं सुश्रुते—

स चापि विषमो देहं न कदापि विमुञ्चति।
ग्लानि गौरव कार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते॥
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते।
धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते॥

अष्टाङ्ग सग्रहेतु—

सूक्ष्म सूक्ष्मतरास्येषु दूर दूरतरेषु च।
दोषोरक्तादि मार्गेषु शनैरल्पश्चिरेण यत्॥
याति देह च नाशेष भूयिष्ठ भेषजेऽपि च।
क्रमोऽय तेन विच्छिन्न सन्तापो लक्ष्यते ज्वर॥

सन्तत ज्वर (Malarial Remittent fever)

सन्तत ज्वर के रहने का स्थान रस धातु है। रसवाही स्रोतों के द्वारा कुपित हुए वात आदि दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर इस ज्वर को उत्पन्न करते है। यह ज्वर वायु की प्रधानता से सात दिन, पित्त की प्रधानता से दस दिन और कफ की प्रधानता से बारह दिन तक बराबर बना रहता है। दोषों की प्रबलता के समय इसका परिणाम अच्छा नहीं होता, परन्तु दोषों के अल्प होने पर शीघ्र ही अच्छा हो जाता है। अर्थात् सब धातुएँ, दोष और मल सात, दस या बारह दिन में शुद्ध हो जाते हैं, तब रोगी भी अच्छा हो जाता है। परन्तु इनकी शुद्धि न होने पर ज्वर मृत्युकारक होता है। जब कुछ दोष शुद्ध और कुछ अशुद्ध रहते हैं, तब सन्तत ज्वर का आश्रय सप्तधातु, दोष और मल होते हैं। उस समय इसके लक्षण बारहवें दिन कुछ कम हो जाते है, परन्तु फिर तेरहवें दिन सम्पूर्ण लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और ये लक्षण चिरकाल तक रहते हैं तथा इसका शान्त होना कठिन हो जाता है।

सन्तत ज्वर के विषम ज्वर होने में संशय

इस ज्वर के लक्षण बारहवें दिन कम हो जाते है। अत. इसको विषम ज्वर कहते हैं। कोई-कोई आचार्य लक्षणों की भिन्नता से सात-दस तथा बारह दिन तक लगातार चढ़ा रहने और विभिन्न चिकित्सा होने से इसको विषम ज्वर नही मानते हैं। किन्तु उनका मत सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि बारहवें दिन लक्षण कम होकर फिर तेरहवें दिन बढ जाने से इसकी विषमता सिद्ध हो जाती है और जीवाणु सिद्धान्त से भी इसकी विषमता सिद्ध है। क्योंकि तृतीयकादि ज्वरोत्पादक जीवाणु सन्तत ज्वर वाले आतुर के रक्त में भी देखे जाते है। परन्तु वृद्धि-काल में उनकी भिन्नता होने पर भी उनकी चिकित्सा तृतीयक ज्वर के समान ही होती है।

सततक ज्वर (Double Quotidian fever)

यह प्राय. रक्त धातु में आश्रय लेकर होता है और दोष के कुपित

होनेपर काल, प्रकृति, दूष्य, रक्तादि धातु इनमे से जब किसी से बल पाता है; तब दिन-रात्रि मे यह दो बार आक्रमण करता है।

अन्येद्युष्क ज्वर (Quotidian fever)

इस ज्वर का आश्रय मास धातु माना गया है और एक दिन मे यह एक ही बार आता है।

तृतीयक ज्वर (Tertion fever)

तृतीयक ज्वर अस्थि का आश्रय लेकर होता है। परन्तु यह एक दिन बीच मे छोड़कर आता है। यह जब कफ-पित्त से उत्पन्न होता है तब त्रिक् स्थान (मेरुदण्ड, कन्धा और ग्रीवा की सन्धि) मे वेदना पैदा करता है। तथा वात-पित्त से पैदा होने पर सिर मे और वायु-कफ से पैदा होने पर पृष्ठ वंश मे पीडा पैदा करता है। इस भाँति तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है।

चातुर्थिक ज्वर (Quartan fever)

चातुर्थिक ज्वर—यह अपनी स्थिति मज्जा धातु मे रख ज्वर पैदा करके दो दिन का विश्राम लेकर आता है।

चातुर्थिक के भेद

इसके दो भेद होते हैं। प्रथम—कफ से और द्वितीय वायु से पैदा होता है। कफ से पैदा होने वाला प्रथम जंघा (पिंडली) मे वेदना उत्पन्न करता है और वायु से उत्पन्न होने वाला, पहले सिर मे पीडा पैदा करके उत्पन्न होता है।

अन्य चातुर्थिक भेद

जिस चातुर्थिक ज्वर मे विपरीत लक्षण होते है। अर्थात् दिन के मध्य मे ज्वर आकर, आदि-अन्त मे ज्वर नहीं आता है। इसे चातुर्थिक ज्वर का भेद माना जाता है।

विषमज्वर के चढ़ने-उतरने का कारण

मनुष्य के शरीर को दूषित करने वाले वायु, पित्त, कफ अथवा जीवाणु विशेष धातुओं मे लीन रहते है और फिर दोष बढकर

दूसरे, तीसरे और चौथे दिन ज्वर का वेग पैदा करते हैं। विषमज्वर वाले रोगी की रक्त कणिकाओं में अन्य जीवाणु भी प्रतिदिन भिन्न-भिन्न क्रम से पृथक्-पृथक् बढते है। जैसे—अन्येद्युष्क ज्वर के जीवाणु २४ घण्टे मे, तृतीय के ४८ घंटे मे और चातुर्थिक ज्वर के जीवाणु ७२ घंटे मे अपनी वंश वृद्धि करके ज्वर का वेग पैदा करते हैं। इसका उदाहरण यह है कि जब समुद्र मे ज्वार-भाटा आता है तो जल उसकी सीमा को पार करके बडे वेग से बाहर चला जाता है और ज्वार भाटा के शान्त होने पर फिर समुद्र मे वापस चला जाता हैं। इसी भाति दोष अथवा जीवाणु अपनी वृद्धि करके ज्वर पैदा करते है। इसका एक दृष्टान्त चरक मे यों लिखा है कि जैसे भूमि मे गेहूँ, जौ आदि के बीज पडे रहते है और वे शरद् काल मे ही उत्पन्न होते हैं। इसी भाति विषम-ज्वर का आगमन समझना चाहिये।

यथोक्तं सुश्रुते—

यथा वेगागमेवेलां छादयित्वा महोदधे
वेग हानौ तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्विलीयते।
दोष वेगोदये तद्वदुदीर्येत ज्वरोऽष्टधा॥

चरकेऽप्युक्त—

अधिशेते यथा भूमि बीज कालेऽवरोहति
अधिशेते तथा धातु दोषः काले च कुप्यति

सुश्रुत-रहस्य

विषम् ज्वर के छूट जाने पर शरीर दुर्बल हो जाता है। परन्तु ऐसी स्थिति मे मिथ्या आहार-विहार करनेसे अल्प शक्ति वाले दोष फिर बढकर वायुसे प्रेरित हो, कफ स्थान के अनुसार यथा क्रम विषम ज्वर को पैदा कर देते हैं। यथा—आमाशय में स्थित दोष सतत ज्वर पैदा करता है और जब दोष वक्ष स्थल में रहते हैं तो वे एक ही दिन मे आमाशय मे आते हैं। अन्येद्युष्क ज्वर के होने पर यह दिन मे एकबार आता है। जब दोष कण्ठ मे स्थित होते हैं तो वे एक दिन में वहा से हृदय मे पहुच कर दूसरे दिन आमाशय में आकर ज्वर पैदा करते हैं।

अत तृतीयक ज्वर एक दिन बीच मे छोड़ कर आता है और जब दोष शिर में स्थित होते हैं, तो वे एक दिन मे शिर से कण्ठ मे, दूसरे दिन कण्ठ से हृदय मे और तीसरे दिन वहां से आमाशय मे पहुंच कर चातुर्थिक ज्वर पैदा करते हैं। यह दो दिन का व्यवधान देकर आता है; परन्तु कभी-कभी पूर्वोक्त समय से इसका भिन्न समय होता है, तब भी दोषों का स्वभाव ही इसमे हेतु हो सकता है।

शीत ज्वर

जब कफ और वायु दोष कुपित होकर त्वचा मे ठहरते हैं, तो पहले शीत लग कर ज्वर चढता है। कुछ समय बाद जब इसका प्रकोप कम होता है, तब पित्त कुपित होकर दाह आदि अपने लक्षण प्रकट करता है। इसको शीतपूर्वक विषम ज्वर कहते हैं।

यथोक्तं सुश्रुते—

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयते ज्वरम्।
तयो प्रशान्तयो पित्तमन्ते दाह करोति च॥

दाह ज्वर

जब पित्त कुपित होकर त्वचा मे ठहरता है तो पहले दाह उत्पन्न होकर ज्वर पैदा करता है। इसके बाद पित्त का वेग शान्त होने पर जाडा लगता है। यह अत्यन्त कष्ट साध्य होता है।

यथोक्तं—

करोत्यादौ तथा पित्त त्वक्स्थ दाहमतीव च।
तस्मिन् प्रशान्तेत्वितरौ कुरुत शीतमन्तत॥

विषम ज्वर के विशेष भेद

जब शरीर मे आहार का रस, कफ और पित्त दूषित हो जाते है, तब श्लेष्मा से आधा देह ठण्डा और पित्त से आधा देह गरम मालूम होता है। इसको नरसिंह ज्वर भी कहते हैं। जब कोष्ठ मे दूषित पित्त पहुँचता है, तो शरीर का मध्यभाग गरम रहता है और जब कफ हाथ-पैरों में स्थित रहता है, तब हाथ-पैर ठण्डे रहते हैं और इसके विपरीत

भी लक्षण होते है। अर्थात जब कोष्ठ में दूषित कफ और हाथ-पैरों में दूषित पित्त पहुँचता है, तब हाथ-पैरों मे गर्मी रहती है तथा शरीर के मध्यभाग में ठण्ढक रहती है।

प्रलेपक ज्वर (Hectic Fever)

दोषों के सन्धियों मे पहुँचने पर प्रलेपक ज्वर की उत्पत्ति होती है यह ज्वर सदा बना रहता है। प्रातःकाल मे इसका वेग कम हो जाता और अपराह्न या सायकाल मे बढ़ जाता है। इसमे स्वेद बार-बार निकलता है। यह स्वेद लसदार (पिच्छिल) होता है। इसमे गुरुता और शीत का अनुभव होता है। इसे प्रलेपक नामक विषम ज्वर कहते हैं। सुश्रुत के सिद्धान्तानुसार वैसे तो सब प्रकार के विषम ज्वर शोषयुक्त (यक्ष्मा) रोगी के लिये कष्टदायक होते हैं ; परन्तु प्रलेपक ज्वर विशेष कष्टदायी होता है।

यथोक्त सुश्रुते—

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च।
मन्दज्वर विलेपी च स शीतस्यात् प्रलेपक ॥
प्रलेपकाख्यो विषम प्रायश क्लेश शोषिणाम्।
ज्वराश्च विषमा सर्वे प्राय क्लेशाय शोषिणाम् ॥

सिद्धान्त निदाने तु—

प्रातर्हीनोऽपराह्णे य साय वापि प्रवर्त्तते।
स्वेदै प्रलिम्पन् गात्राणि सोऽय ज्ञेय प्रलेपक ॥
शोषिणां स भवेत् प्रायो विद्धध्यादिवतां तथा
कफ पित्तोल्वण कष्टो विषमो धातु शोषकृत् ॥

वात बलासक ज्वर (Beri Beri or Epidemic dropsy)

यह ज्वर वायु और कफ के कुपित होने पर होता है। इसमे रोगी को प्रतिदिन मन्द ज्वर रहता है, शरीर रुक्ष हो जाता है, शोथ पहले हाथ-पैर, फिर मध्यभाग मे और बाद को धीरे-धीरे सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाता है। इसमे दुर्बलता और वेदना से शरीर जकड जाता है।

श्लेष्मा के आधिक्य होने पर मुख से जल निकलता रहता है और जाड़ा लगता है। कास, श्वास आदि उपद्रव भी हो जाते हैं। हृदय की दुर्बलता से शरीर मे शिथिलता रहती है। इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। यह ज्वर जहाँ पर अधिक पानी होता है और जहाँ के लोग चावल अधिक खाते हैं वहाँ विशेष होता है। यह चिरकाल तक दु ख देता है। कभी-कभी इसमे पित्त की अधिकता देखी जाती है। यह विशेषत. आनूप भूमि मे एक साथ फैलता है।

पुराना विषम ज्वर

इसमें ज्वर सूक्ष्म वेगयुक्त तीन सप्ताह तक वना रहता है और मन्दाग्नि हो जाती तथा तिल्ली और जिगर एक साथ वढ जाते है, परन्तु कभी-कभी एक ही वढता है। जिगर और तिल्ली के दवाने पर पीडा मालूम होती है तथा कुछ समय वाद तिल्ली कठिन हो जाती है। रक्त की लाल कणिकाओं के क्षय हो जाने से शरीर पीला पड जाता है। ये लक्षण पुराने विषम ज्वर के हैं।

यथोक्तं सुश्रुते—

त्रिसप्ताह व्यतीतेतु ज्वरोयस्तनुतां गतः।
प्लीहाग्निसाद कुरुते स जीर्ण ज्वर उच्यते॥

विषम ज्वर का निर्णय

विषमज्वर अनेक प्रकार का होता है। अत. इसके निर्णय में कभी-कभी गल्तियाँ भी हो जाती हैं। किन्तु निम्न वातों पर ध्यान देने से रोग के निर्णय करने में सहायता मिलती है। विषम ज्वर-पीडित स्थान में निवास या प्रवास तथा पूर्व आक्रमणों का इतिहास, अकस्मात् आक्रमण और आक्रमण के समय शिरोवेदना, वमन, सर्दी लगना, झुरझुरी (कंप-कंपी) लगना, उसके पश्चात् सन्ताप और स्वेदागमन, दारुण ज्वर मोक्ष, ज्वर उतर जाने पर अच्छा मालूम होना, प्लीहा वृद्धि, वा वेदना, ज्वर की नियत समयता(periodicity)प्रभृति लक्षण, विशेषत नियत समयता, तृतीयकादि के निर्णय मे अधिक सहायक होती है। मारक ज्वर में उपर्युक्त सव लक्षण

रहते हैं। परन्तु उनमें अनिश्चिति रहती है। इसके अतिरिक्त आक्रमण के पश्चात् दो-तीन दिनों में सिर दर्द, प्रलाप, बेहोशी, परम ज्वर आक्षेप शीताङ्गता, नेत्रों और त्वचा पर कामला के चिह्न, पित्त के कारण मूत्र का पीलापन या तृणमणि (Amber) के वर्ण का होना प्रभृति लक्षण मस्तिष्क के होते हैं।

कीटाणु दर्शन—ये मलेरिया के निर्णय के लिये सर्वश्रेष्ठ विश्वसनीय उपाय है। इसके लिये निम्न द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

(१) प्लीहा रस—जीर्ण परिवर्तनशील विशेषत. तृतीयक ज्वर में इसका उपयोग किया जाता है। परन्तु प्लीहा वेधन से रस संग्रहण करने पर रक्तस्राव का भय रहता है। अत इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(२) अस्थि-मज्जा—रक्त की अपेक्षा मज्जा मे अधिक कीटाणु पाये जाते है। अत जब कीटाणु रक्त में नहीं मिलते, तब इसका परीक्षण किया जाता है। अत' उर'फलक की मज्जा कटिवेध की मोटी सुई से वेधन करके प्राप्त की जाती है। इस कर्म मे किसी प्रकार का भय नहीं है।

रक्त परीक्षा

(३) मलेरियाणु देखने के लिये रक्त का सबसे पहले उपयोग किया जाता है। ये शोणित कीटाणु (Haematozoa) युक्त होने के कारण यदि निम्नोक्त बातों पर ध्यान देकर परीक्षण किया जाय तो बहुत सफलता मिलती है। मलेरिया भारत का प्रधान ज्वर है। अत' प्रत्येक रोगी के ज्वर का निर्णय उसके रक्त परीक्षण द्वारा ही किया जा सकता है। परन्तु कई बार विषम ज्वर से भी पीडित रोगी के रक्त मे कीटाणु नहीं मिलते हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं।

(१) कीटाणु अदर्शन के कारण—रोग के आरम्भ में कभी-कभी त्वचागत रक्त मे जीवाणु नहीं होते है। यह स्थिति विशेपतया मारक ज्वर मे होती है। (२) काँच की पट्टी पर किया हुआ प्रलेप को ठीक-ठीक न देखने से कीटाणु नहीं मिलते हैं। ये कीटाणु प्राय प्रलेप के किनारे मे अधिक होते हैं। (३) अल्प संख्यक कीटाणुओं के कारण कभी-कभी एक-आध

पट्टी में उनकी अनुपस्थिति हो सकती है। (४) कभी-कभी प्लीहा में असंख्य कीटाणु होते हैं, परन्तु त्वचा के रक्त में नहीं होते। (५) किनिन के सेवन से भी कभी-कभी त्वचा में कीटाणु नहीं होते। अतः रक्त परीक्षार्थ लेने के समय तक कुनैन का सेवन न करें। (६) उचित समय पर रक्त न लेने से भी कभी-कभी रक्त में कीटाणु नहीं मिलते। अतएव चढे हुए विषम ज्वर के समय परीक्षार्थ रक्त लिया जाता है।

शोणित ग्रहण और परीक्षण की व्यवस्था

(१) किनिन से मारक विषम के व्यवायकों को छोड कर शेष सब प्रकार के अन्य अवस्थाओं में कीटाणु त्वचा गत रक्त से अदृश्य हो जाते हैं। अतः रक्त ग्रहण से पूर्व कुनैन का व्यवहार न करें।

(२) शीत लगने के कुछ घंटे पहले अथवा कुछ घंटे बाद जब ज्वर मध्यम रहता है; तब रक्त ग्रहण करना चाहिये। जीर्णविषमज्वर में कीटाणु प्लीहा में अधिक तथा त्वचा के रक्त में अत्यल्प होता है। इसलिये रक्त ग्रहण करने का उनमें कोई उचित समय नहीं होता। रक्त ग्रहण के पूर्व प्लीहाको कई बार नीचे झुकाना, प्लीहा पर ठण्डे पानी छिडकना, एड्रेनलीन या पिच्यूट्रिन की सूई देना इत्यादि प्रोद्दीपक साधनों का उपयोग करें। इनसे प्लीहा संकुचित होकर उसके कीटाणु त्वचा के रक्त में आ जाते हैं।

(३) प्रलेप और रञ्जन अच्छा होना चाहिये। प्रलेप समतल और पतला होना चाहिये। प्रायः इस प्रकार की स्थिति प्रलेप के अन्तिम भाग में हुआ करती है उत्तम रञ्जन का परिचय श्वेत कणों की नलिकाओं के रञ्जन से होता है।

(४) उपयुक्त क्षेत्र का उचित काल तक परीक्षण करना चाहिये। प्राय प्रलेप का अन्तिम भाग विशेषतया उसके किनारे, कीटाणु मिलने की दृष्टि से अधिक योग्य होते हैं। ऐसे स्थानों का परीक्षण अणुवीक्षण यंत्र द्वारा १० मिनट तक करना चाहिये। इतनी सावधानी करने पर भी कई बार एक प्रलेपक में उनका मिलना असंभव होजाता है। अतः अन्तिम निषेधार्थी निर्णय देने से पहले तीन पटरियों का परीक्षण करना चाहिये।

(५) उचित दिनों तक परीक्षण होना चाहिये। प्राय देखा जाता है कि प्रथम दिन कीटाणु नहीं मिल कर दूसरे दिन मिलते हैं। अत यदि एक दिन के रक्त-प्रलेपों में कीटाणु नहीं मिल तो क्रमश. दो-तीन दिन लगातार परीक्षा करे।

(१) नवार्द्र प्रलेप—कर्णपाली या अंगुली को सुई से चुभो कर निकले हुए रक्त की बूँद को एक स्वच्छ काच (Cover Slip) के ढक्कन मध्य मे लेकर एक स्वच्छ पटरी पर उलटा करके धीरे से रख दिया जावे, इससे एक पतला प्रलेप बनकर लालकण ढक्कन काच के किनारों पर इकट्ठा होकर मध्यभागखाली हो जाता है। फिर इस ढक्कन के चारों ओर मृद्रसा (वैसलिन) लगायी जाती है। जिससे रक्त जल्दी सूखने न पावे। फिर इसको तैलावगाही वीक्षण (Oil Immersion Lens) इस परीक्षा के लिये, अणुवीक्षण पर उष्ण यंत्र (Warm Stage) का प्रबन्ध हो तो अच्छा है।

(२) तनु प्रलेप (Thinfilme)—इसमें उपर्युक्त पद्धति से निकाला हुआ रक्त का बूँद काच की एक साफ पटरी पर लेकर दूसरी पटरी से पतले प्रलेप के रूप मे फैलाया जाता है। फिर इसको हवा मे सुखाया जाता है।

(३) स्थूल प्रलेप—इसमे स्वच्छ पटरी के मध्य मे ¼-½ इञ्च व्यास के क्षेत्र मे रक्त की ४-६ बूंद लेकर वे उतने ही स्थान में स्थूल प्रलेप के रूप में फैला दिये जाते हैं। उसके बाद उष्ण शोषक (धूप मे नहीं) या छाया में ढकने के नीचे रखकर सुखाया जाता है। इसको रोस (Ross) की पद्धति भी कहते है।

(४) सकेन्द्रित रक्त प्रलेप—इसमें केन्द्रापसारक यंत्र मे सकेन्द्रित रक्त का उपयोग प्रलेप के लिये किया जाता है।

गुण-दोष वर्णन

प्रथम प्रणाली का उपयोग केवल वर्धन शील कीटाणुओं की अनेक दशाओं को देखने के लिये किया जाता है। रोग के निश्चयार्थ तनु-प्रलेप प्रणाली का व्यवहार नैत्यिक परिपाटी के तौर पर उस समय किया

जाता है, जब रक्त मे कीटाणुओं की संख्या अत्यल्प होती है। यथा—जीर्ण रोग में; तब तीसरी या चौथी विधि का उपयोग किया जाता है। तीसरी और चौथी विधि का उपयोग सूक्ष्म श्लीपदियों को देखने के लिये भी किया जाता है। आर्द्र प्रलेप को छोड कर शेप तीनों को लीशमन या जीम्सा से रंजित करके देखा जाता है। स्थूल प्रलेप को मामूली जल से या विशोणवर्तुलीकरण (Dehemoglobinization) द्रवों से विरञ्जित करके, सुखानेके पश्चात् रञ्जित करना चाहिये। स्थूल प्रलेप में कीटाणु अधिक होने के कारण वे आसानी से पाये जाते है परन्तु उनका प्रकार मालूम करने में कठिनाई होती है। तनु प्रलेप मे कीटाणु कम होने के कारण उनके मिलने मे कठिनाई होती है, परन्तु मिलने पर वे आसानी से जाने जा सकते हैं।

संकेन्द्रण प्रणालियाँ (Concentration Methods)

परीक्ष्य रक्त मे कीटाणुओं की संख्या वढाने की जो प्रणालियाँ होती हैं; उनको संकेन्द्रण प्रणालियाँ कहते हैं। इनका उपयोग सामान्य प्रणाली से परीक्षित रक्त मे कीटाणु न मिलने वा मिलने की आशा कम होने पर किया जाता है। परीक्ष्य रक्त में कीटाणुओं का सकेन्द्रण निम्न पद्धतियों से वढाये जा सकते हैं।

(१) स्थूल पद्धति—रोस की स्थूल प्रलेप पद्धति एक दृष्टि से संकेन्द्रण पद्धति ही है, क्योंकि उसमे थोड़े स्थान मे अधिक रक्त लेकर कीटाणुओं का सकेन्द्रण किया जाता है।

(२) प्रोद्दीपन पद्धति—(Provocative)—विषम ज्वर में प्लीहा के भीतर सबसे अधिक कीटाणूपसृष्ट लाल कण एकत्र रहते हैं। यदि प्लीहा में सकोच उत्पन्न करके वे वाहर निकाल दिये जायँ, तो परिभ्रमणकारी रक्त मे कीटाणुओं की संख्या वढेगी। यह कार्य व्यायाम, प्लीहा तथा उदर पर शीत और हिम जल का अवसेचन, प्लीहा पर क्ष रश्मि का प्रयोग, प्रोटीनाघात उत्पन्न करने वाली ओषधियों मे से किसी एक (यथा घोड़े की लसीका) की, स्ट्रिकनीन, साल्वर्सन, पोषणिका ग्रन्थि (पिच्यूटरी एक्सट्राक्ट) के निस्सार, या उपवृक्क ग्रन्थि के रस की

सूई लगाने से होता है इनमे उपत्र्कीय रस की मृट सनने उत्तम है। इसके ३=१००० के २ (Cubic centimeter) (घ० शि० मा०) ३०० घ० शि० मा० प्रकृत लवणाम्बु मे विद्रुत करके शिरा मे दिये जाते। साधारणतया सूई लगाने के २० मिनट बाद कीटाणु रक्त मे आने लगते है। एक घण्टे बाद उनकी संख्या मे अधिकता हो जाती है और उस समय रक्त लेने से बहुसंख्यक कीटाणु मिलते हैं।

केन्द्रापसरण पद्धति-(Centrifugalization)

(अ) १ सी. सी रक्त लेकर उसको २% एसेटिक एसिड के ५ सी. सी. घोल के साथ अच्छी तरह मिला कर केन्द्रापसारक में केन्द्रित किया जाता है। इसका उपयोग प्रलेप के लिये करते है। (आ) बास और जेम्स की पद्धति—यह पद्धति इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि कीटाणुप-सृष्टकण औरों की अपेक्षा हल्के होने के कारण तेजी से (प्रतिमिनट २५०० वार) घुमाने पर ऊपर आ जाते है। अतः उनका प्रलेप ऊपर के कण द्वारा बनाया जाता है। इसके लिये सिरा से १० सी. सी. रक्त लेकर उसमे ३ सी सी सैट्रेट डेक्स्ट्रोज घोल मिला कर वह रक्त घुमाया जाता है।

रञ्जन प्रणालियाँ—लेशमन का रग–काच-पट्टी के प्रलेप को रंग से पूरी तरह आच्छादित करना चाहिये। एक मिनट के पश्चात् उस रग मे नल के जल की दुगुनी राशि छोड कर नलिका से या काच की पट्टी को हिला कर दोनों को अच्छी तरह मिलाना चाहिये। पाँच-सात मिनट बाद पट्टी को धोकर हवा मे सुखाना चाहिये और अन्त में तैलावगाही वीक्ष (Lens) के साथ सूक्ष्मदर्शक से देखना चाहिये।

आवश्यकीय सूचनायें

इस रंग मे ऑल्कोहल होने के कारण लेप रजित करने के पूर्व उसको अन्य रीति से दृढ करने की आवश्यकता नहीं पडती। (२) रक्त का लेप हवा मे पट्टी पर सुखाना चाहिये। इसे बत्ती के ऊपर कभी भी न सुखाना चाहिये। (३) ऑल्कोहल के कारण पट्टी पर छोडा हुआ रग जल्दी उड जाता है। रंग के कण लेप पर बनते हैं; इसलिये रग छोडने पर पट्टी के ऊपर कोई गोल ढक्कन रखना उचित है। (४) रंग

में मिलाने के लिये सादा नल का पानी भी अच्छा होता है। (५) अन्त में धोने के पूर्व पट्टी के ऊपर के रंग को न फेंक कर, उसी के साथ धोना चाहिये। (६) धोने के पश्चात् सुखाने के लिये सोख्ते का उपयोग न करें। इसे हवा में सुखाना अच्छा है। सोख्ते से उसके तन्तु लेप पर चिपक जाते है।

जीम्स का रग—(१) कांच की पट्टी का लेप प्रथम तीन मिनट तक मेथिल ऑल्कोहल मे दृढ कर के पश्चात् उस पर दुगुना तिर्यक् पातित जल मे मिलाया हुआ जीम्स का रंग छोडो। पॉच मिनट के पश्चात् तिर्यक् पातित जल से आधा मिनट तक पट्टी को धोकर और हवा मे सुखा कर सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र से देखो। यह शीघ्र पद्धति है।

(२) मेथिल ऑलकोहल मे दृढ़ की हुई पट्टी दश गुने तिर्यक पातित जल मे मिलाये हुए रंग में आधे घण्टे तक रखकर पश्चात् तिर्यक् पातित जल से धोकर और हवा मे सुखाकर सूक्ष्म दर्शकयन्त्र से देखना चाहिये। यह मध्यम पद्धति कहलाता है।

(३) विलम्बी पद्धति—इस पद्धति मे वीस गुना पतले किये हुए रंग में काँच की पट्टी रात्रिभर रक्खी जाती है। पश्चात् पट्टी को रंग से निकालकर पातित जल से धो तथा सुखाकर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के तैलावगाही काँच (आइल इमर्सन लेन्स) से देखी जाती है।

श्वेतकण संख्या

ज्वरावेग के समय को छोडकर विषम ज्वर मे श्वेतकणों की सख्या स्वाभाविक से कम होती है। इसकी सख्या पुराने विषमज्वर में भी कम होती है। ज्वरावेग के समय इनकी संख्या स्वाभाविकतया अधिक से अधिक १०००० तक वढती है। १२००० से अधिक संख्या प्राय: पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग की सूचक होती है। एक न्यष्टीलियों का प्रमाण २०% तक वढता है और उनकी कुल संख्या ६०० से अधिक हो जाती है। इनकी अधिकता क्विनीन से जीवाणु नाशक के पश्चात् दो तीन महीनों तक मिलती है। इसके सिवाय इनके भीतर रंजक के

कण मिलते हैं। संक्षेप में श्वेतकणों की संख्याल्पता, एक न्यष्टील्वियों की अधिकता और उनके भीतर रग द्रव्य की उपस्थिति और कीटाणु न मिलने पर विपम ज्वर सूचक होती है।

रक्तस्थ जीवाणुओं का स्वरूप

(१) मारक जीवाणु—इसके वलयक (Ring Forms) त्वचागत रक्त मे अधिक संख्या मे मिलते हैं। ये तृतीयक या चतुर्थक के वलयकों की अपेक्षा छोटे होते है। ये मोटाई मे १·२५ से १·५ अणु (लालकण के ⅙ वे हिस्से के) आकार मे समकक्ष (Symmetric) पतले और सुकुमार होते हैं। प्राय. इनमे क्रोमॉटिन के दो कारण होते है। ये कण कभी पास-पास और कभी एक-दूसरे के विरुद्ध दिशा मे होते हैं। ये कई बार वलयक कणों के ऊपर चिपके हुए रहते (Acoleforms) हैं।

(२) त्वचागत रक्त मे वलयाकार अधिक संख्या में मिलते हैं। क्योंकि इस प्रकार मे उप सृष्ट कणों का प्र० श० प्रमाण अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक (३० प्र० श० तक) होता है।

(३) एक-एक लाल कण मे दो या तीन वलयकों का मिलना एक प्रकार मे दिखाई देता है। इस प्रकार कणों का अनेकोपसर्ग (Multiple Infection) दूसरे प्रकार मे कचित मिलता है।

(४) इसके पुष्टकेत और विभक्तक त्वचागत रक्त मे नहीं दिखाई देते। ये अवस्थाएँ प्लीहादि आन्तरीय अङ्गों मे सीमित रहती है। यदि प्लीहादि रक्त का निरीक्षण किया जाय, तो उसमे इन अवस्थाओं के कीटाणु दिखाई देगे। ये सब रूप अत्यन्त घातक अवस्था मे त्वचागत रक्त में दिखाई देते हैं। पुष्टकेत या विभक्तत्व स्थूलता में ये लालकण से ⅔-¾ होते हैं। इसलिये जिन कणों मे ये होते हैं, वे कण आकार मे कुछ छोटे और आकुञ्चित होते हैं। इनका वर्ण फीका होता है और इनमे कुछ मोटे-मोटे कण (Manrers dots) दिखाई देते है।

(५) इसके अंशुकेतों (मोराझाइट) की संख्या ८-३२ या इससे भी अधिक आशुकेत उत्पन्न हो जाते हैं। इसके सिवाय 'क' स्वरूप मे अर्ध चन्द्राकारी (क्रेसेनस) केले के आकार के या शरावाकृति

(Sansage shaped) होते हैं। ये चौडाई मे २-५ और लम्बाई मे १०-२५ 'णु' अर्थात् लालकण से लम्बे होते है। जब ये पूर्ण प्रगल्भ हो जाते हैं, तब इनके निम्नभाग पर कण के आवरण का कुछ हिस्सा धनुप के समान लगा रहता है। मादा व्यवायक पतला होकर उसका वर्ण-द्रव्य और रंग-द्रव्य मध्य मे एकत्र हुआ करता है। नर व्यवायक मोटा होकर, उसका वर्ण-द्रव्य तथा रंग-द्रव्य कुछ अधिक होकर शरीर मे इधर-उधर फैला हुआ रहता है। मादा व्यवायक का रंग हलका-नीला और उसके दोनों टोंक कुछ नोकीले होते है। नर व्यवायक का रंग कुछ हरापन लिये हुए, नीला और उसके टोंक कुछ थोथे होते है। ये व्यवायक किनिन प्रतिकारक होते है।

(६) त्वचागत रक्त मे केवल वलयक या व्यवायक मिलते हैं। दूसरी अवस्था के रूप प्लीहा प्रभृति गंभीर अंगों मे मिलते हैं।

(७) असैथुनी चक्र की अवधि अनियमित रूप से २४—४८ घंटे तक होती है।

तृतीयक कीटाणुओं का रक्तगत स्वरूप

(१) इसके वलयक (रिंग फार्म्स) वडे २-३ म्यू या लाल कण के ⅓ व्यास के आकार मे विपम तथा कुछ मोटे होते है। इनमे क्रोमैटिकका एक ही कण होता है। यह कण काफी वडा होने के कारण इसका स्वरूप मुद्रिका वलय (सिजनेटरिंग) के समान दिखलाई देता है।

(२) त्वचा गत रक्त मे वलयक वहुत कम दिखलाई देते हैं। क्योंकि इसमे उपसृष्ट कणों का प्र० श० वहुत कम (२-५ प्र० श० तक) होता है। तथा इसके अन्य स्वरूप भी मिलते हैं।

(३) एक लाल कण मे एक ही वलयक होता है। अर्थात् इस प्रकार में अनेकोपसर्ग प्राय नहीं होता है।

(४) इसके पुष्टकेत विभक्तक और व्यवायक अर्थात् सव अवस्था के रूप त्वचागत दिखाई देते हैं। पुष्टकेत अधिक मोटे (८-१० म्यू०) होने के कारण जिन लाल कणों मे ये पाये जाते हैं, वे आकार मे स्वाभाविक

से कुछ बडे होकर फूले हुये मालूम होते हैं। इन कणों का रङ्ग बहुत फीका होता है, तथा उनके अन्दर बहुत-सी छोटी-छोटी बिन्दियाँ दिखाई देती है। ये शुक्र की बिन्दियाँ कहलाती हैं। ये मादा की बिन्दियों की अपेक्षा संख्या मे अधिक और बारिक होती हैं।

(५) विभक्तक की अवस्था में, इसमे १२—२४ दीर्घवृत्त आशुकेत बनते हैं। ये कण के अन्दर कदम्ब पुष्प के तुल्य कई वलयों में इकट्ठे होते हैं और इसके मध्य में रङ्ग-द्रव्य होता है। इसके व्यवायक आकार मे गोल या कुछ लम्बे होते हैं। स्त्री व्यवायक मोटाई मे १३-१६ म्यू० होता है। इसका केन्द्र परिसर मे तथा लघु होता है। रंजन अधिक स्पष्ट तथा रङ्गकण अधिक और दण्डाकार होते हैं। स्त्री व्यवायक मोटाई मे ९-१३ म्यू०, केन्द्र मोटा और विस्तृत रंजन अस्पष्ट, रङ्गकण थोडे और बारिक होते हैं। पुरुष व्यवाय की अपेक्षा स्त्री व्यवायक अधिक दिखाई देते हैं। त्वचागत रक्त मे इसकी सब अवस्थायें मिलती है। इसमे भी कभी-कभी एक कण मे दो जीवाणु मिलते हैं। परन्तु इस तरह ह्युपसृष्टकणों का प्रमाण मारक प्रकार की अपेक्षा बहुत कम होता है।

चातुर्थिक जीवाणुओं का रक्त गत स्वरूप

प्रारम्भिक वलयक तृतीयक के समान बडे (लाल कण के ⅙ व्यास के) एक बिन्दी के परन्तु, गोल और चौडी किनारी के होते हैं। रक्त में ये बहुत खोज करने पर पाये जाते हैं। क्योंकि उपसृष्ट कणों का प्रमाण इसमे सबसे कम (½%) होता है। एक कण में एक ही कीटाणु होता है।' इसमे गति बहुत कम होती है। कण मे इसकी वृद्धि एक ओर से दूसरी ओर होती है, जिससे यह फीते के समान लम्बा दिखाई देता है। पूर्ण प्रवृद्ध कीटाणु का आकार गोल और मोटाई ·६ म्यू होती है। अतः इस तरह उपसृष्टकण आकार में स्वभाविक कणों के बराबर या उससे भी कुछ छोटे होते हैं—पूर्ण प्रगल्भजीवाणु-कण मे पूर्णतया व्याप्त नहीं होता है उसका कुछ हिस्सा खाली रहता है। उससे ६—१२ आशुकेत बनते हैं; जो चमेली के पुष्पदल के समान कण के भीतर एक वलय मे इकट्ठा होते

हैं और इसके मध्य में रंग कण होते हैं। इसके व्यवायक तृतीयक के व्यवायक के समान परन्तु उससे कुछ छोटे होते हैं। त्वचागत रक्त में इसकी सब अवस्थाएँ मिल जाती हैं। आरम्भ होने के सात दिन बाद व्यवायक रोग पैदा होने लगते हैं। सात दिन के बाद उसकी वृद्धि पूरी हो जाती है। इसलिये प्रारम्भिक सप्ताह में व्यवायक रक्त में नहीं मिल सकते हैं।

क्विनीन से विषमज्वर का निर्णय

विषम ज्वर को अन्य ज्वरों से पृथक करने का सहज उपाय यह है कि कुनैन की पूर्णमात्रा (५ रत्ती) दिन में तीन बार सेवन कराने से ज्वर ३६ घण्टे से ७२ घण्टे में अवश्य उतर जाना चाहिये। यदि इससे ज्वर न उतरे तो विषम ज्वर नहीं समझना चाहिये। प्लीहा प्रथम सप्ताह में नहीं बढती है; किन्तु दूसरे सप्ताह में स्पर्श लभ्य हो जाती है। जीर्ण विषम ज्वर में यकृत् की अपेक्षा प्लीहा अधिक बढ जाती है। रक्त की कमी, त्वचा का पीलापन आदि निदान के सहायक हैं। पर इसका वास्तविक निश्चय रक्त परीक्षा से ही होता है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से रक्त परीक्षा करने पर उसमें मलेरिया के जीवाणु मिलते हैं। घातक विषम ज्वर में जीवाणु-युक्त रक्त का कण रक्तकण के समान होता है। पर तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर में कण का आकार बढ़ा हुआ होता है।

सापेक्ष रोग निर्णय

रोगों का निर्णय करने के लिये रक्त में जीवाणुओं की उपस्थिति विशेष महत्त्व की होती है। यदि तीव्र विषम ज्वर में तीन स्वतन्त्र परीक्षाओं द्वारा जीवाणु न मिले तो वह रोग विषम ज्वर नहीं हो सकता है। पुराने विषम ज्वर में इस प्रकार का नियम नहीं कर सकते हैं। शरीर में जीवाणुओं के उपस्थित होने का अर्थ रोगी में विषम ज्वर का उपसर्ग है। विषम ज्वराक्रान्त प्रदेश के निवासियों के रक्त में प्रत्यक्ष रोग के लक्षण प्रकट न होते हुये भी जीवाणु मिल सकते हैं। जब ऐसा मनुष्य दूसरे रोगों से पीड़ित होता है; तब ये जीवाणु जोर देकर विषम ज्वर उत्पन्न

करते है। ऐसी अवस्था मे रक्त मे जीवाणु मिलने पर भी केवल विषम ज्वर के निदान से रोगी के रोग का पूर्ण निदान नहीं हो सकता है। अन्य लक्षणों का विचार कर ; दूसरे रोग का भी निदान करना चाहिये। संक्षेप मे रोग के निदान के समय संयुक्त उपसर्ग (Combined Infection) का भी ध्यान रखना चाहिये। अधोलिखित रोग विषम ज्वर के निर्णय मे कठिनता पैदा करते हैं। यथा—आन्त्रिकज्वर, यकृत विद्रधि, प्रारम्भ मे श्वसनक ज्वर, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, मूत्र विकार व वृक्काश्मरी का ज्वर, पित्ताश्मरी या पित्ताशय शोथ का ज्वर, वृक्कालिन्द शोथ (पाइलाइटिस) जन्य ज्वर, आवर्त्तक ज्वर, काल ज्वर, राज यक्ष्मा, सव्रण अन्तर्हृच्छोथ (आलसरेटिव इण्डोकार्डाइटिस) वैनाशिक रक्तक्षय प्रभृति। मारक विषम ज्वर के विविध प्रकारों मे उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त अनेक रोगों का विचार रखने की आवश्यकता है।

भावी परिणाम

किनीन अथवा अन्य विशेष औषधियों के द्वारा आरम्भ मे ही उचित चिकित्सा करने पर विषम ज्वर कभी भी घातक नहीं होता। चिकित्सा न करने पर रोग की तीव्रता और जाति के अनुसार जीवाणुओं की साध्यासाध्यता होती है। चातुर्थिकज्वर सब से कम घातक होता है। तृतीयक ज्वर कभी-कभी घातक होता है। मारक विषम ज्वर और इसके घातक प्रकार प्राय: घातक होते हैं। यदि इन घातक प्रकारों मे गम्भीर लक्षण उत्पन्न होने के पश्चात् २५ घण्टे के भीतर किनीन दिया जाय, तो प्राय: मृत्यु नहीं होती है। यह २४—४८ घण्टे के भीतर देने से ६०% रोगी बच सकते हैं। इससे अधिक विलम्ब करने पर अधिकतर मृत्यु हो जाती है। अर्थात् रोग का संदेह होते ही किनीन प्रयोग करने से असाध्यता कम हो जाती है। रक्त मे मारक जीवाणुओं की अधिक संख्या में और सर्वावस्था मे उपस्थिति प्रलाप, बेहोशी, ग्लानि, आक्षेप, परम ज्वर प्रभृति। मस्तिष्कगत प्रकार मे यदि प्रथम सिरा द्वारा और पेशी मे इस भांति दो सूई देने पर भी फायदा न दिखाई दे तो वह रोग असाध्य

समझा जाता है। जब लाल कणों की आधी संख्या जीवाणुओं से उपसृष्ट हो, तब रोग को असाध्य समझना चाहिये। इसमें अमोघ औषध भी निष्फल होती है। बालकों, अकाल पीड़ितों, दुर्बलों, अतिसारादि ग्रस्त रोगियों में कृच्छ्र साध्य विषम ज्वर होता है। इसके सिवाय यह स्वयं घातक न होकर भी विषम ज्वर के रोगी को दुर्बल और रक्त हीन कर देता है। अत: न्यूमोनिया, अतिसार प्रभृति रोग विषम ज्वरोपसृष्ट मनुष्यों पर आक्रमण कर उनका विनाश कर सकते हैं।

चिकित्सा प्रकरण

अनागत बाधा प्रतिषेधार्थ ज्ञातव्य विषय

मच्छर का जीवन चरित्र

मच्छर के दो पंख और छः पैर होते हैं। यह अपना जीवन निर्वाह वनस्पतियों का रस चूस कर करता है। यह मनुष्य को विक्षेप हानि नहीं पहुंचाता है। किन्तु स्त्री जाति की मच्छरी प्राय: अन्य प्राणियों का रक्त पान करके ही रहती है। मच्छर के शरीर के तीन विभाग होते हैं। यथा—सिर, वक्ष और उदर।

(१) सिर—इसमें दो आँख होती हैं। इसके आगे की ओर सूई के तुल्य लम्बा हिस्सा होता है, जिसे शुण्डी[1] कहते हैं। यह शुण्डी कई हिस्सों से बनी होती है। शुण्डी के इधर-उधर छोटा या बड़ा एक हिस्सा होता है। इसको बोधिका[2] कहते हैं। बोधिका के इधर-उधर वाला जो हिस्सा होता है, उसे स्पर्शनी[3] कहते है। स्त्री और पुरुष जाति के मच्छर की पहचान स्पर्शनी के द्वारा होती है। मच्छर में प्राय स्पर्शनी पर बहुत लम्बे-लम्बे बाल होते है, परन्तु मच्छरी में लम्बे-लम्बे बालों की जगह केवल रोम होते हैं। इनकी भेदनी रचना भी विचित्र है। चक्षु से अवलोकन करने पर सूई के तुल्य एक चीज मालूम होती है। किन्तु वस्तुत इसके सात हिस्से होते हैं, जिनके मिलने से खोखली

१—शुण्डी (Proboscis), २—बोधिका (Palpi), ३—स्पर्शनी (Antenna)

सूई वनती है। जव मच्छरी रक्त पीती है, उस समय इस सूई को त्वचा में चुभा देती है। चुभाने पर पहले कुछ थूक इस सूई के द्वारा त्वचा में प्रवेश करता है और फिर शोणित ऊपर को चढकर मच्छरी के उदर में जाता है।

(२) वक्षस्थल—इससे छः पैर और दो पंख निकलते हैं।

(३) उदर

जाति भेद

मच्छर की कई जातियाँ होती हैं। उनमें तीन जातियों को जानने की विशेष आवश्यकता होती है।

(१) क्युलेक्स—इस जाति के मच्छर अधिकतर घरों मे रहते हैं। इसकी मुख्य पहचान यह है कि जव कहीं किसी दीवार आदि पर वैठता है, तो उसकी छाती पर पेट झुका रहता है। अर्थात् वह कुवडा सा दिखलाई पडता है और उसका सम्पूर्ण शरीर दीवार मे चिपटा-सा मालूम होता है।

(२) एनोफिलीस—यह मच्छर जव दीवार पर वैठता है, तव उसका शिर, छाती और पेट एक लाइन मे रहते हैं। उसका शरीर दीवार से समतल रहने के सिवाय उससे एक कोण वनाता है। अधिकतर पंख पर धव्वे या चित्तियां पडी रहती है। क्युलेक्स की अपेक्षा कुछ पतला और मृदु शरीर वाला होता है।

(३) स्टीगोमाया (ऐडिस)—इसकी छाती और पैरों पर सफेद या पीली लकीर या धव्वे मालूम होते है।

भेद वर्णन

क्युलेक्स	*एनोफिलीस*
(१) क्युलेक्स के अंडे इस तरह इकट्ठे रहते हैं मानो एक नौकाकार जत्था वन गया हो।	(१) एनोफिलीस के अण्डे इकट्ठे नहीं रहते हैं।
(२) क्युलेक्स का लहर्वा शिर नीचे करके लटकता है और पूंछ	(२) एनोफिलीस का लहर्वा जल की सतह से चिपट जाता है। पिछले सिरे पर नालियों के स्थान

क्युलेक्स	एनोफिलीस
जिसमें वायु लेने की नलियाँ होती हैं, पानी की सतह की ओर ऊपर को रहती है।	पर केवल छिद्र रहते हैं।
(३) बैठने पर कूबड़ सा निकल आता है; पैर पर धब्बे नहीं होते हैं।	(३) यह बैठने पर एक कोण बनाता है। इसके पैर के ऊपर प्राय चित्तियाँ होती है।
(४) मच्छरी का शिर, शुण्डी, स्पर्शनी, बोधिका शुण्डी से बहुत छोटी होती है।	(४) मच्छरी का शिर, बोधिका-शुण्डी के बराबर लम्बी होती है।
	(५) स्पर्शनी साम्यभाव नर मच्छर का शिर दोनों मे समान होता है। इसके लम्बे बाल वाली स्पर्शनी और लम्बी बोधिका भेदनी होती है।

व्यवाय वर्णन

प्राय इनके मैथुन का समय सायंकाल होता है। गर्भिणी मच्छरी खून पीने के तलाश मे रहती है। रक्त से उसके अंडों का पोषण होता है। क्युलेक्स के अण्डे इकट्ठे एक नाव की शक्ल मे रहते हैं। एनोफिलिस का अण्डा नौका की आकृति का होता है। ये प्रायः अलग-अलग अथवा दो-दो या चार-चार के झुण्ड मे रहते हैं। उनके मेल से एक चित्र का आकार बन जाता है। स्टीमगोया के अण्डे समीप-समीप किन्तु अलग-अलग पडे रहते हैं।

अण्डे देने के स्थान—जल मे, जल के किनारे जैसे तालाब और नदी के किनारे में, चौबच्चा, कुएँ, चौडा नल, नालियों, वृक्ष की खोह में तथा मकान के समीप पडे हुए मिट्टी के घड़े के कल्लों मे, टीनों मे, छप्परों में, छतों मे छोटे-छोटे गड्ढों मे, नादों मे, कुण्डों मे, गमलों में और हौजों में मच्छरी अण्डे देती है।

अंडों की संख्या

मच्छरी पैदा होने के सात दिन बाद गर्भिणी होकर अण्डे देने का काम प्रारम्भ कर देती है। एक मच्छरी प्रायः ३०० अण्डे देती है।

एक मौसम मे यह कई वार गर्भवती होती है। एक जोड़े से एक मौसम में वहुत से मच्छर तैयार हो जाते है।

मच्छर की आयु

मच्छर कई महीनों तक जीवित रह सकता है। जो मच्छर शीतकाल काल के प्रारम्भ मे उत्पन्न होते हैं, वे हिन्दुस्तान के उष्ण भागों मे प्रायः शीतकाल भर जीवित रहते हैं। इनसे गरमी के आरम्भ मे नये मच्छर पैदा होते हैं। किन्तु इन्हे खाना-पीना मिलते रहना चाहिये। जो लोग मच्छर की उम्र ३-४ सप्ताह कहते हैं, उनके कहने में सत्य का लेश नहीं है।

मच्छरों की गति

मच्छर पैदा होने के स्थान से कुछ गजों की दूरी पर जाकर रहने लगता है। क्षुधा-पिपासा लगने पर ज्यादा से ज्यादा आधमिल तक उड सकते हैं, किन्तु रेल, जहाज जैसे सवारियों के द्वारा वहुत दूर तक सफर कर सकते हैं। ये वायु के झोंके से एक गांव से दूसरे गांव तक पहुंच जाते हैं।

अण्डे से मच्छर की उत्पत्ति का समय

अण्डे से दो तीन दिन मे एक सूक्ष्म कीड़ा निकलता है, जो पानी मे तैरता है। धीरे-धीरे यह वडा हो जाता है। इस कीडेवाली अवस्था को लहर्वा (Laiva) कहते हैं। लहर्वा (लार्वा) नाम इसलिये पडा है कि यह लहरा कर तैरता और चलता है। लहर्वा कई वार चोली वदलता है। जैसे सर्प के ऊपर से केचुली उतर जाती है, उसी भांति लहर्वा के ऊपर से उसकी त्वचा एक खोल की शकल मे उतर जाती है। क्युलेक्स लहर्वे मे पूंछ के पास छोटी-सी दो श्वास नालियां होती हैं। एनोफिलीस के लहर्वे मे केवल छिद्र होते हैं। जव वह श्वास लेना चाहता है तो जल की सतह के समीप आ जाता है। इनकी नालियां अथवा छिद्र जल की सतह से मिल जाते है। क्युलेक्स का लहर्वा श्वास लेने के समय में उलटा लटका करता है। एनोफिलीस का लहर्वा

पानी की सतह से चिपट कर उसके समतल मे रहताहै। कुछ काल के वाद लर्द्वा भोजन, पानी और लहराना वन्द कर देता है। धीरे-धीरे उसकी आकृति भी वदल जाती है तथा उसका एक सिरा मोटा हो जाता है। इस अवस्था को कुप्पा कहते हैं। यह पानी मे तैरता है और यह नालियों अथवा छिद्रों के द्वारा (एनोफिलीस मे) श्वास लेता है। एक दो दिन मे 'कुप्पा' फटता है और उसके भीतर से मच्छर निकल कर उसके ऊपर खड़ा हो जाता है। इस प्रकार मच्छर की चार दशाएँ होती है।

मच्छरों का स्वभाव

ये सूर्य के प्रकाश को सहन नही कर सकते हैं। अन्धकार को पसन्द करते हैं और सायंकाल होते ही अपने छिपने की जगहों से निकल आते हैं। ये सम्पूर्ण रात्रि मे आनन्दपूर्वक विचरते हैं। जव गर्मी अधिक पडती है, तो वे अधिक चैतन्य को प्राप्त हो जाते हैं। गरमी मे ज्यादा प्यास लगने के कारण अधिक काटते हैं। मच्छर प्राय सायंकाल और रात्रि को ही काटते है। यदि कमरे मे अन्धेरा होगा तो दिन मे भी काट सकते हैं। रक्त मच्छरी ही चूसती है, मच्छर नहीं चूसता। विपय भोग करने की इच्छा से मच्छर, और मच्छरी अधिकतर साथ ही साथ रहते हैं। इनको जवही समय मिला उसी समय मैथुन हो जाता है; किन्तु अधिकतर सायकाल और चारवजे प्रात काल मैथुन करते हैं।

मच्छरों का घर

ये घर के अन्धेरे कोने मे, अलमारियों मे, स्नानागार मे, रसोइ घर मे, अन्धेरे पाखानों मे, अस्तवल मे, गोडा मे, ताखो में, छप्पर, घास, कूडा, कुर्सी के नीचे, मेज़ के नीचे, खपरैल, कितावों के पीछे आदि स्थानों में रहते हैं। काली वस्तुएँ वहुत पसन्द करते है। वाग, फुलवाडी, सब्जीवाले खेतों मे, गीली जमीन में, तालाव, नदी के किनारे की घासों में मच्छर वहुत रहते हैं।

मच्छरों का व्याधि से सम्बन्ध

(१) एनोफिलीस मच्छर (Anopheles) मलेरिया ज्वर को पैदा करता है।

(२) स्टीगोमाया (ऐडिस) (Stego myia, Aedes) मच्छर पीला ज्वर पैदा करता है। यह अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका में होता है। भारतवर्ष मे नहीं होता।

(३) क्युलेक्स (Culex) मच्छर, श्लीपद, अस्थिभञ्जक ज्वर (Dengue) आदि रोग पैदा करता है।

व्याधि के सिवाय मच्छरों का कार्य

इनके काटने से लाल चकत्ते पड़कर फोड़े-फुन्सी बन जाते हैं और रात्रि को नींद नहीं आने देते हैं। बडे आदमियों की अपेक्षा वालकों को मच्छर अधिक काटते हैं। क्योंकि वालकों की त्वचा वहुत पतली होती है। हाथ, पैर और कान की शिरायं खुली होती हैं। अत. इन स्थानों पर अधिक काटते है।

मच्छर नाशक उपाय

मलेरिया जीवाणु वाहक एनोफिलीज़ नामवाली मच्छरी जाति का पूर्ण रीति से नाश करने के लिये नीचे लिखे हुये उपायों का अवलम्बन करं। घर के चारों तरफ कूडा-करकट न रहने देवें। तालाव, पल्वल, गड्ढा आदि को जहां पर वर्षा काल मे जल एकत्र होने से वहां मच्छर रहने लगते हैं, मिट्टी से भरवा देवें। अथवा उनमें मिट्टी का तेल, चूना आदि छोड़ना चाहिये। तालावों में मछलियों को छोड़वा देने से भी वे मच्छरों के अण्डे-बच्चे खा जातीहैं। घर मे रहनेवाले मच्छरों को मारने के लिये मकान की खिडकी, दरवाजा वन्द कर पन्द्रह मिनट तक गन्धक का धूम देवें। इससे मच्छर भाग जायेगे अथवा मर जायेंगे। गुग्गुल, लोवान, और नीम की पत्तियों का धूम देवें। प्रतिदिन मकान मे हवन करें। सरसों के तेल मे कपूर, अजवाइन का सत्त्व और पिपरमिन्ट मिलाकर देह मे लगावे। अथवा यूकलिप्टस लेमन आइल, मलहम

एमोनियां और लाइमचूस आदि की मालिश करने से मच्छर नहीं काटते हैं। यदि और कोई तेल न मिले तो विशेपकर हाथ, पैर और मुख मे सरसों का ही तैल लगा लेवें, इससे भी मच्छर नहीं काटते हैं। घर से पानी निकलने वाले नालियो को प्रतिदिन साफ करा के उसमे फिनाइल डालना चाहिये। अथवा मिट्टी का तैल नालियां मे इतना छोड देवे; जिससे जल पर मिट्टी का तैल चमकने लग जायँ, इससे मच्छर मर जाते है। मच्छरों को मकानों के कोने मे मारने के लिये फ्लिट को काम में लावे। अथवा फ्लिट के बदले पिचकारी द्वारा इनका नाश करें।

मच्छर नाशक योग

पेट्रोल	१	गैलन
कार्बोलिक एसिड्	¼	सेर
नैफथेलिन की गोलिया	¼	,,
फॉर्मेल्डी हाइड	४	औंस
सिट्रोनेला तैल	४	,,

विधि—इन सब को एक मे मिलाकर फ्लिट की तरह दीवालो के कोनों में छिड़कने से मच्छर बहुत शीघ्र मर जाते हैं।

मृत्ति का तैल योग

विशुद्ध मिट्टी का तैल	१ गैलन
कार्बन टेट्रा क्लोराइड्	२ औंस

विधि—इसको पहले के समान ही छिडकना चाहिये।

नोट—उपरोक्त दोनों योगों मे जलनेवाली चीजें हैं। अत इन्हें अग्नि, दीपक और बत्ती से अलग रखना चाहिये।

लहर्वा नाशक उपाय

जहाँ पर लहर्वा हों, वहाँ पेट्रोल या मिट्टी का तैल और मोटर का पुराना मोबिल ऑयल टपकावे। इससे ये खूब मरते है।

पानी पर तैल या पेट्रोल की पतली तह के सदृश बन जाता है।

लहवें बिना श्वास लिये हुए जीवित नहीं रह सकते है। तैल के कारण उनको वायु नहीं मिलेगी, फिर वे शीघ्र मर जावेंगे।

कमरा बन्द करके तम्बाकू का धुआँ देना चाहिये। आध सेर तम्बाकू का धुआँ १००० घन फीट स्थान के लिये काफी है और हाथ-पैरों मे नीचे लिखा हुआ तैल मालिश करे। इससे मच्छर दूर रहेंगे।

सिट्रोनेला तैल	३¾ तोला
बढ़िया मिट्टी का तैल	२½ तोला
नारियल का तैल	५ तोला
कार्बोलिक एसिड	२० बूँद

विधि—इनको एक मे मिलाकर हाथ और पैरों में मल। सायंकाल के समय मोटे मोजे पहनना चाहिये। पतले मोजे पहनने से मच्छर, पिस्सू काट लेते हैं।

मकान के चारों तरफ खुला मैदान होना चाहिये। मकान की कुर्सी सदा ऊँची होनी चाहिये। मकान दो मञ्जिल का बना होना चाहिये। वर्षाकाल मे विशेषकर मलेरिया स्थान मे मकान के ऊपर के कमरे मे सोना चाहिये। किन्तु ऊपर के कमरे मे भी वर्षा के समय जल के छींटे, शीत, भाप आदि शरीर मे न लगे। जैसा कि वाग्भट मे लिखा है—

आपादचारी सुरभि सतत धूपिताम्बर·
हर्म्य पृष्ठे वसेद् वाष्प शीत शीकर वर्जिते।

मलेरियल स्थान में अधिकतर मनुष्यों को सफेद धुला हुआ खद्दर पहनना चाहिये। साफा और टोपी भी सफेद ही लगावे। इससे मच्छर पास मे कम आते हैं। रात्रि में घर से बाहर न जावे। यदि जरूरत आ पडे तो लालटेन लेकर हाथ और पैरों मे तैल मालिश कर बाहर निकले, जिससे मच्छर न काट सके। रात्रि मे मच्छरदानी लगाकर सोवें अथवा सफेद चादर ही ओढ लें। शरीर को खुला रखें। मलेरियल जगह मे खुले स्थान पर न सोवे। ऊपर के मकान में सोने के लिये क्यों लिखा गया है? इसका कारण यह है कि मलेरियल वायु

का दूषित विष जमीन से १०-१२ गज से ऊपर नहीं उठता है। तख्त पर न सोकर मूँज की बनी हुई खाट पर ही सोना चाहिये। घर के चारों तरफ युकलिप्टस के वृक्ष लगावें। इससे मलेरिया का प्रभाव दूर होता है। निम्ब आदि बड़े-बड़े वृक्षों के लगाने से भी मलेरिया के विष का नाश होता है। किन्तु वायु का आवागमन बन्द नहीं होना चाहिये।

भाद्रपद और आश्विन की धूप से बचना चाहिये। यह धूप मलेरिया का सहायक कारण है। जल को गरम कर छान करके ठण्ढा करके सदा पीवें। स्नान के लिये भी यही जल उपयुक्त है। रात्रि में अधिक जागरण, शारीरिक परिश्रम, अधिक परिभ्रमण और मिथ्या अहार-विहार त्याग देवें। प्रातःकाल तुलसी के पत्ते ३ माशा, ७ काली-मिर्च, इनकी चाय बनाकर पीवें। अथवा चाय-काफी पीवें। किन्तु चाय के अन्दर टेनिन नामक विष होता है, जो पाचन शक्ति को बिगाड़ता है। इसलिये चाय के स्थान पर तुलसी की पत्तियों का ही व्यवहार करें। इसमें मलेरिया के जीवाणुओं को नाश करने की असीम शक्ति है। कभी-कभी सप्तपर्ण की छाल का चूर्ण ३ माशे सेवन कर लेना चाहिये। इससे मलेरिया का भय नहीं होता है।

रोग निर्णय

मलेरिया ज्वर लक्षणों से पहिचाना जा सकता है। बारी से आने-वाले सब ज्वर विषम ज्वर हैं। किन्तु उपसर्गावस्था व जीर्ण ज्वरों में रोग की मीमांसा करना कठिन है। अणुवीक्षण यन्त्र से रक्त की परीक्षा करने पर मलेरिया के जीवाणु रक्त में मिलते हैं। परन्तु कीनीन देने के प्रथम ही यह निर्णय हो सकता है। क्योंकि कुनैन से विषम ज्वर के जीवाणु मर जाते हैं। तुलसी, द्रोणपुष्पी और सप्तपर्ण के क्वाथ से भी रोग के जीवाणु मर जाते है। औषध देने से प्रथम रोग परीक्षा कर लेना चाहिये। चरक में लिखा है—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्,
ततः कर्मभिषक् पश्चाद् ज्ञान पूर्वं समाचरेत्।

भावार्थ—वैद्य का कर्त्तव्य है कि पहले रोग की परीक्षा करे, बाद को रोग के अनुकूल औषध की विवेचना करे। इसके बाद सोच-समझकर चिकित्सा करनी चाहिये। आजकल कुनैन मलेरिया ज्वर की पेटेण्ट दवा मानी गई है। किन्तु यह पित्त ज्वर मे छर्दि, मूर्च्छा, दाह आदि भयङ्कर उपद्रव करती है। उस समय इसके स्थान पर मृत्युञ्जय, दन्ती और प्रवाल लाभ करता है। परञ्च कफ-वातज विषम ज्वर मे इसकी विचित्र शक्ति है।

मलेरिया की चिकित्सा

प्राय. मलेरिया ज्वर मे कोष्टवद्धता (कब्जी) होती है। इसलिये ज्वर के शान्त होने पर तीसरे वा चौथे दिन कोष्टवद्धता को दूर करने के लिये रसपुष्प (कैलोमल) १ रत्ती, २॥ रत्ती तक से सोडावाई कर्व ५ रत्ती मे मिलाकर रात्रि मे सोते समय अथवा मैग्नेशिया साल्ट ४ ड्राम, २॥ तोला पानी मे मिलाकर प्रात.काल देवे अथवा रात्रि मे शुद्ध एरण्ड तैल २॥ तोला गोदुग्ध १ पाव मे मिलाकर दे देवे अथवा रात्रि को केलोसिन्थ (इन्द्रवारुणी सत्त्व) की १ गोली गरम दूध के साथ रात्रि मे सेवन करने से दस्त साफ हो जाता है। यदि रोगी दुर्बल हो तो सिकिलिस पाउडर १ पुड़िया और टारटरिक एसिड की एक पुडिया, दोनों पुडियों को पहिले जल मे अलग-अलग घोल ले फिर एक में मिला देने से इसमे झाग उठेगी, उसी समय रोगी को पिला दें। इससे दो-तीन घण्टे के वाद साफ पाखाना हो जाता है। इस भाँति कोष्टवद्धता दूर हो जाने पर तीन-तीन घण्टे के पीछे कुनैन ५ ग्रेन, सोडावाई कार्व ५ ग्रेन दोनों मिलाकर दें। इस भाँति दिन मे तीन वार कुनैन देवे। पीने के लिये दूध दें और वीच-वीच मे सन्तरा का रस दें। कोई-कोई चिकित्सक कुनैन की एक मात्रा में १० ग्रेन के हिसाव से दिन में चार-चार घण्टे के पीछे तीन वार देने की व्यवस्था करते हैं। किन्तु अधिक मात्रा से अनेक हानियाँ होती हैं। इसलिये अधिक मात्रा मे कुनैन न देकर ५ ग्रेन की मात्रा में देवें, नहीं तो कुनैन के विपाक्त पदार्थ (सिनकोनिज्म) से वक्षस्थल मे दौर्वल्य

(Cardiac Depression) आदि उपस्थित हो जाता है। अथवा अधोलिखित मिक्सचर दें।

कुनीन सल्फेट ५ ग्रेन, मृदुगन्धकाम्ल ५ बँद, परिश्रुत जल २॥ तोला मिला करके एक मात्रा मे दें। इस भाँति तीन-तीन घण्टे पीछे दें। आहार नलिका से कुनीन अन्दर जाने पर शीघ्र ही रक्त मे मिल जाता है। इसका प्रमाण यह है कि मिक्सचर पीने के १५ मिनट के बाद मूत्र में कुनीन बाहर निकलती हुई देखी जाती है। किन्तु रक्त मे इसका अधिक प्रभाव ३-६ घण्टे में देखा जाता है। कुनीन का प्रभाव रोगी के ऊपर उसके रक्ताभिसरण के अनुसार होता है। शरीर के तन्तु कुनीन को ग्रहण करते हैं, किन्तु उन पर कुनीन का प्रभाव अल्प होता है। इसलिये तीन घण्टे के पहले दूसरी मात्रा न दें। इस भाँति कुनीन के सेवन करने से यदि ज्वर छूट जाए; तब भी कुछ दिन तक बराबर कुनीन सेवन करते रहे, नहीं तो आठ-दश दिन मे ज्वर का पुनराक्रमण फिर हो जाता है, जो अधिक हानिकारक होता है। इसलिये ज्वर छूट जाने पर भी दो सप्ताह तक ५-१५ ग्रेन तक कुनीन का सेवन करे। बाद में मात्रा कम कर दें। किन्तु दो मास तक अवश्य सेवन करें।

क्विनीन की उत्पत्ति

सबसे पहले दक्षिण अमेरिका के पेरू प्रान्त के वायसराय काउन्ट सिनकोन को कुनीन के वृक्ष का ज्ञान प्राप्त होने का सौभाग्य हुआ था। इसकी किम्वदन्ति इस भाँति है। एक समय गवर्नर की पत्नी पेरु प्रांत में विषम ज्वर से आक्रान्त हो गई थी। उस समय डान लुई महाशय ने पेरुवियन बार्क के छाल का चूर्ण वायसराय की पत्नी को खिलाया। इससे उनका ज्वर छूट गया, जो कि बहुत दिन से कई दवाइयों के सेवन करने से नहीं छूटा था। फिर सिनकोन महोदय वायसराय की पदवी से मुक्त होकर जब यूरोप में आये, उस समय इस छाल को यूरोप में लाये थे। वहां पर इसका खूब प्रचार किया। तभी से इनकी पत्नी के सिनकोना नाम से इस छाल का नाम प्रसिद्ध हो गया। बहुत दिनों के पीछे सिनकोना की छाल से सत्त्व स्वरूप मे डाक्टरों ने कुनीन

निकाला। इस समय भारतवर्ष में भी सरकार ने सिक्कम, नीलगिरी, दार्जिलिंग आदि पार्वतीय स्थानों पर इसके वृक्ष लगवाये हैं। कुनीन मलेरियल ज्वरों की अक्सीर (specific) दवा है। इसका कारण यह है कि मलेरिया के जीवाणु (प्लैज्मोडियम) इससे मर जाते हैं।

कुनीन के भेद

(१) कुनीन सल्फेट—यह श्वेत वर्ण की दानेदार रेशम के सूत्र के समान प्रतीत होती है। स्वाद में अत्यन्त तिक्त है। कुनीन अल्प-मात्रा से सेवन करने पर बलकारक और अग्निवर्द्धक है। अधिक मात्रा में विष-तुल्य लक्षण पैदा करती है। ज्वर में अधिक मात्रा में सेवन करने पर लाभ करती है। इसमें विषम ज्वर को शमन व निवारण करने की अद्भुत शक्ति है। मलेरिया के मौसम में प्रतिदिन १ रत्ती से १½ रत्ती तक सेवन करने से मलेरिया ज्वर का आक्रमण नहीं होता है। मृदु प्रकृति वालेको शीत ज्वरमें थोडी मात्रा से कुनाइन ४-५ बार तक देंव। किन्तु, तीक्ष्ण प्रकृति वाले ज्वर में अधिक मात्रा से देंव। इस अवस्था में ज्वर आने के एक घंटा पहले अनेक चिकित्सक १०-२० ग्रेन तक कुनाइन का प्रयोग करते हैं, किन्तु एकबारगी अधिक मात्रा में नहीं देना चाहिए। पहली मात्रा से ६ घंटा का अन्तर देकर ५-१० ग्रेन कुनाइन नियमित रूप से देने पर बहुत लाभ होता है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि स्वेदावस्था उपस्थित होने पर एकबार में १० ग्रेन कुनाइन का प्रयोग करें। दूसरी बार ज्वर आने के पूर्व में ५ घंटे के अन्तर से इसी मात्रा में सेवन करने पर विशेष लाभ होता है। सन्तत ज्वर में शरीर की गर्मी कम होने पर ५-१० ग्रेन की मात्रामें कुनाइन लाभ करता है। किन्तु, ज्वर के विराम काल की अपेक्षा न करके, एकबार में अधिक मात्रा से प्रयोग करने पर, इस ज्वर में विशेष लाभ होता है।

मलेरिया ज्वर से उत्पन्न हुई आमाशय की पीडा में पहले पूरी मात्रा में देंवे। बाद को एपीकाक् के प्रयोग करने से लाभ होता है और मलेरिया से उत्पन्न होने वाले सब उपद्रवों को कुनाइन शान्त करता है। कुनाइन शीतल जल में नहीं घुलता है, किन्तु सुरा, ईथर, क्लोरोफार्म में यह घुल

जाता है। विशेष करके कुनाइन सल्फेट और सम भाग मृदुगन्धकाम्ल (डाइल्यूट सलफ्यूरिक एसिड) में घुल जाता है। अधिकतर मिक्सचर के रूप में इसको ही देते हैं।

(२) क्विनीन बाई सल्फ—अधिकतर इसकी गोली प्रयोग में आती है।

(३) क्विनीन हाईड्रोक्लोरस् क्विनीन म्यूरियम्—इसको सम भाग मृदु-लवणाम्ल (डाइल्यूट् हाइड्रोक्लोरिक एसिड) मे घोलकर प्रयोग करना चाहिए। यह अधिकतर पारी के विषमज्वर की चिकित्सा में गोली रूप में काम आती है। इसे कभी-कभी मिक्सचर के रूपमे भी देते हैं। मात्रा १—१० ग्रेन तक।

(४) क्विनीन क्लोराइड्—यह अधिकतर सूचीवेध चिकित्सा मे प्रयोग की जाती है।

(५) क्विनीन हाइड्रो ब्रोमस—यह हाइड्रो ब्रोमिकाम्ल के सहयोग से प्रस्तुत किया जाता है। यह देखने मे श्वेत वर्ण का है किन्तु; इसके दाने छोटे होते हैं।

क्रिया—आमयिक प्रयोग क्विनीन सल्फेट के तुल्य ही है। इसकी अल्पमात्रा से क्विनीनिज्म नहीं होता है। मात्रा—१-५ ग्रेन तक है। इससे खुश्की वहुत कम होती है।

(६) क्विनीन वेलिरियनस् (Quinine Valerianas)—सल्फेट ऑफ क्विनीन को एमोनिया से अलग करते हैं, उससे जो क्विनीन निकलता है, उसमें वेलिरियनिक् एसिड् मिलाने पर वेलिरियनेट् ऑफ क्विनीन तैयार होता है। यह श्वेत, उज्वल और दानेदार होता है।

क्रिया—यह नाडी सम्बन्धी शिरोवेदना आदि मे हितकारी है। मात्रा—१-४ ग्रेन तक।

(७) क्विनीन सल्फो कार्बोलस् (Quinine Sulpho carbolous)—यह एक भाग सल्फेट ऑफ क्विनीन और २ भाग कार्बोलिक् एसिड् के सहयोग से वनता है। इसमे उपरोक्त दोनों दवाइयों के गुण रहते हैं।

क्रिया—सूतिका ज्वर में यह विशेष लाभकारक है। मात्रा—१-५ ग्रेन।

(८) क्विनीन सेलिसिलस् (Quinine Salicylas)—यह सफेद दानेदार होती है।

क्रिया—यह संताप हारक, अवसादक और पर्याय (पारी) ज्वर नाशक है। इसे अनेक ज्वरों मे शरीर की गर्मी कम करने के लिये दिया जाता है। मात्रा—२—६ ग्रेन तक।

(९) यूक्विनीन—यह बच्चों के लिये दिया जाता है। इसका कारण यह है कि यह कडवा नहीं है। किन्तु; अम्लों में घोलने से तिक्त हो जाता है। अतः बच्चों को सोडा बाई कार्ब अथवा मिल्क शुगर मे मिला कर देवें। क्विनीन के बहुत भेद हैं, किन्तु मलेरिया के लिये प्रायः ये ही बर्ते जाते हैं।

क्विनीन का उपयोग

(१) मुख द्वारा (Oral) (२) गुदा द्वारा (Rectal) (३) त्वचा द्वारा (Hypodermic) (४) रक्तनली द्वारा (Intravenous) और (५) श्वास द्वारा होता है।

प्रथम विधि

मुख द्वारा—चूर्ण, गुटिका, कैप्सूल (capsule) और ओवेफर (कागज की पुड़िया) में रखकर, मिक्सचर (Mixture) के रूप मे क्विनीन का व्यवहार होता है।

चूर्ण विधि—क्विनीन का चूर्ण ५ ग्रेन, सोडा बाई कार्ब ५ ग्रेन दोनों को मिलाकर ज्वर आने के पहले तीन-तीन घण्टे का अन्तर देकर सेवन करें।

गुटिका विधि—क्विनीन बाई सल्फ की गोली प्रायः दी जाती है और क्विनीन बाई हाईड्रोक्लोर की भी गोली दी जाती है। किन्तु, इसमे इतना दोष है कि कभी-कभी गोली पेट में घुलती नहीं है और मल में ज्यों की त्यों निकल जाती है। यदि गोली ही देनी हो, तो ताजी गोली बना कर दें, अथवा दाँतों से तोड़ कर उसे निगलें।

विधि—सल्फेट क्विनीन ५ ग्रेन, सोडाबाईकार्ब ५ ग्रेन में

जरा-सा शहद मिलाकर गोली बाँध लेवें। इस भाँति प्रतिदिन ४ मात्रा सेवन करें।

मिश्रण विधि—क्विनीन का मिक्सचर सेवन करने पर कोई हानि नहीं है।

विधि—सल्फेट क्विनीन ५ ग्रेन, मृदुगन्धकाम्ल ५ बूँद, मॅग्नेशिया सल्फास ६ माशे, पोटेसियम ब्रोमाइड् ५ ग्रेन, शर्वत नारङ्गी ४ माशे, टिंचर कार्डामम् ३ बूँद। यह युवा मनुष्य के लिये १ मात्रा है। इसको तीन-तीन घण्टे के पीछे देवें।

साधारण मिक्सचर—क्विनीन सल्फेट ५ ग्रेन, मृदुगन्धकाम्ल पाँच बूँद, परिस्नुत जल २½ तोले।

विधि—पहले शीशी में जल डालकर, क्विनीन डालें फिर गन्धकाम्ल डालकर शीशी को हिलावें। एक एक मात्रा है।

क्विनीन मिश्रण

अपां सार्द्धं द्वि कर्षं स्यात् कार्षिकं निम्बुलेहनम्।
गन्ध-द्रुतेश्च षड् विन्दून् कुनैनं स्याद् द्वि रक्तिकम्॥
काच कूप्यां विनिःक्षिप्य सर्वं संमिश्र्य यत्नतः।
मात्रामिमां पिवेदेकां प्रहरे प्रहरे दिने॥
यावज्ज्वरो न वर्द्धेत तावदेव पिवेदिमाम्।
येन कीटाणु जन्योऽयं शीघ्रं नश्येन्मलेरियः॥

भावार्थ—परिस्नुत जल २½ तोला, निम्बू शर्वत १ तोला, गन्धकाम्ल ६ बूँद, क्विनीन २ रत्ती।

विधि—इन सब को शीशी में डालकर हिला देवें, यह १ मात्रा है। इसी भाँति ३-३ घण्टे के अन्तर से इसको लेवें। जब तक ज्वर न चढ़े, तब तक इसी क्रम से पीवें। ३ मात्रा पर्याप्त है। इससे कीटाणुजन्य मलेरिया नष्ट होता है।

क्विनीन वटिका

इलायची १ तोला, वंशलोचन १ तोला, प्रवालभस्म १ तोला, टार्टरी १ तोला, क्विनीन १ तोला।

विधि—गुलाब के अर्क से घोंटकर २-२ रत्ती की गोली बनावें। मात्रा एक गोली, गाजवान के अर्क से अथवा गरम दूध से प्रातः, मध्याह्न, और सायंकाल तथा रात्रि में लेव। तीन दिन में मलेरिया ज्वर नष्ट हो जाता है।

यथोक्तम्-

एलावांगी प्रवालञ्च चिञ्चायाः सत्त्वमेव च,
हावर्टस्य कुननञ्च समं ग्राह्यं पृथक् पृथक्।
गुलाबार्केण संमर्द्य वटीं कुर्याद् द्वि रत्तिकाम,
प्रातः मध्याह्न समये सायं रात्रौ तथैव च।

आयुर्वेदीय चिकित्सा-रहस्य

चिकित्सक का कर्त्तव्य—प्रथम रोगी की अवस्था पर ध्यान देकर साधारण रीति से तीन दिन तक लंघन कराना चाहिए। यदि दोष अधिक हो, तो उसके अनुसार लंघन की अवधि बढा देनी चाहिए। विषम ज्वर का प्रधान कारण मन्दाग्नि ही है। इससे तीनों दोष कुपित हो जाते हैं। लंघन से दोषों की शक्ति का ह्रास और अग्निदीप्त हो जाती है। शरीर मे हल्कापन उत्पन्न कर ज्वर नष्ट हो जाता है। भोजन में रुचि और इच्छा उत्पन्न होती है। किन्तु, विषम ज्वर में अधिक लंघन नहीं कराना चाहिए। क्योंकि, जीवाणु ही इसका कारण होता है। वे जीवाणु रक्त में जाकर रक्त के लालकणों को खाकर ही पलते हैं। इससे लाल कणों के अधिक ह्रास हो जाने पर रक्ताल्पता (एनीमिया) उपस्थित हो जाती है। उससे वायु बढ जाता है। यदि उसे अधिक लंघन कराया जावेगा तो वायु और भी बढ़ेगा जिससे हानि होने की संभावना रहती है। इसलिये दोषों की आमावस्था तक ही लंघन करावें।

यथोक्तं चरके—

ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिल भयक्रोध कामशोक श्रमोद्भवात्॥

भावार्थ—क्षय और वायु से उत्पन्न हुए ज्वर तथा भय, क्रोध,

काम, शोक और परिश्रम से उत्पन्न होने वाले ज्वरों को त्यागकर अन्य ज्वरों मे लंघन करावे। किन्तु इसमें अधिकतर कोष्ठवद्धता रहती है। इसकी परीक्षा जिह्वा, नाडी आदि देखकर तथा पूछ करके करनी चाहिए। जिह्वा पर सफेद मल जमा हो, तो अवश्य ही मलवद्धता जाननी चाहिए। इस अवस्था में रोगी को सायंकाल मृदु विरेचक ओषधि दें।

पञ्चसकार चूर्ण

सोंठ, १ तोला, सौंफ १ तोला, सनायकी पत्ती १ तोला, वड़ी हर्रे १ तोला, सेंधा नमक एक तोला।

विधि—इन सब ओपधियों को कूटकर कपड़छान करे। फिर एक तोला चूर्ण गरम पानी के साथ सायंकाल देनेसे प्रातःकाल साफ पाखाना होगा। यदि इससे पाखाना न हो, तो निम्नलिखित मागधी चूर्ण दें।

मागध्यादि चूर्ण

वडी पीपल एक तोला, सोंठ एक तोला, आँवला एक तोला, हर्रे एक तोला, वहेडा एक तोला, सोहागे का फूला एक तोला, वड़ी इलायची एक तोला, यवाक्षार एक तोला, सनाय की पत्ती एक तोला, कालाजीरा एक तोला, सफेद जीरा एक तोला, काला नमक एक तोला, सधा नमक एक तोला, गुलाव के फूल २ तोला।

विधि—इन सव ओपधियों को कूट-कपड़छान करके चूर्ण को शीशी में भर लेवें। मात्रा—६ माशे से एक तोला, अनुपान—गरम जल चार छटांक ऊपर से पीवें। इससे दो-तीन दस्त होते हैं। अथवा अन्य कोई मृदु विरेचनकारी औषध देवें। जिससे खुलकर दस्त हो जावे। वाद में निम्नलिखित करञ्जादि वटी दें।

करञ्जादि वटी

करञ्ज की गूदी ३ तोला, कल्पनाथ की पत्ती ३ तोला, अतीस ३ तोला, कुटकी ३ तोला, चिरायता ३ तोला, पित्त पापड़ा ३ तोला, गिलोय का सत्त्व ३ तोला, कड़ुवा परवल का फल २ तोला, शुद्ध मीठा तेलिया विष शुद्ध हिंगुल २ तोला लें।

विधि—इनको कूट-पीस-छान करके द्रोणपुष्पी (गूमा) के रस में घोंट करके चना प्रमाण गोली बना लेवें। ज्वर आने के ३ घण्टे पहले एक गोली फिर एक घण्टा बाद एक गोली, बाद को ज्वर आने के एक घण्टा पहले तीसरी गोली दें। अनुपान—तुलसी पत्ती का रस।

पथ्य केवल दूध दें। इससे ज्वर का वेग बन्द हो जाता है, यह व्यवस्था विषमज्वर के लिये अत्यन्त लाभदायक है।

वात आदि दोषानुकूल चिकित्सा प्रणाली—कफाधिक्य विषम ज्वर में रोगी की अवस्था देख करके वमन का प्रयोग करें। इसके बाद पाचक और रूक्ष अन्न-पान तथा कषाय-उष्ण द्रव्यों का प्रयोग करें। पित्त की अधिकता में दस्तावर औषध दें। मृदु विरेचन करने वाली ओषधियों मे दूध अथवा घृत पकाकर तथा तिक्त-शीत वीर्य वाली ओषधियां देवें। वायु की अधिकता मे निरूह वा अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें। वायु नाशक घृत, उष्ण और स्निग्धकारक अम्ल-पान के प्रयोग करने से वात विषम ज्वर शान्त होता है।

यथोक्तम्—

वमनं पाचन रूक्षमन्नपान विलङ्घनम्।
कषायोष्णञ्च विषमे-ज्वरे शस्त कफोत्तरे॥
विरेचनेन पयसा सर्पिषा सस्कृतेन च।
विषम तिक्त शीतैश्च ज्वर पित्तोत्तरं जयेत्॥
वात प्रधानं सर्पिभिर्वस्तिभि सानुवासनै।
स्निग्धोष्णैरन्न पानैश्च शमयेद् विषमज्वरम्॥

कषाय प्रकरण

इन्द्रजव, कुटकी, परवल की पत्ती इन द्रव्यों को मिला करके दो तोला लेवें। इन्हें कुछ २ कूट लेवे। फिर आधा सेर जल मे पकावें। जब आध पाव जल बाकी रह जावे, तब उसे छान करके गरम-गरम पी जावें। इससे सन्तत ज्वर नामक विषम ज्वर अच्छा हो जाता है। परन्तु; अवस्था देखकर क्वाथ पिलावें। साधारणतया सात दिन बाद दोषों के पाक हो जाने पर पिलावें। विशेष कर दोष की आमावस्था में क्वाथ

नहीं पिलाव। परन्तु; यह निषेध कषाय रसवाले क्वाथ का ही है। विशेष करके इसका सन्तत ज्वर मे जो सात दिन, दस दिन, और बारह दिन तक लगातार बना रहता है, निषेध किया गया है। इसमे सात दिन के बाद अथवा दोषों के अनुकूल परिपक्व अवस्था देखकर क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए।

सतत ज्वर नाशक क्वाथ

परवल की पत्ती, अनन्तमूल, नागरमोथा, जलजमनी (पाठा), कुटकी। इन द्रव्यों को २ तोला समान भाग में मिला आध सेर जल में पकावें, दो छटाँक जल शेष रहने पर इसे छान कर पी लेवें। इससे सतत ज्वर नष्ट हो जाता है।

अन्येद्युष्क ज्वर नाशक क्वाथ

नीम की छाल, परवल की पत्ती, हरीतकी, आँवला, बहेड़ा, किसमिस, नागरमोथा और इन्द्रजव इनका क्वाथ बना कर पीवें। इससे अन्येद्युष्क विषमज्वर नष्ट हो जाता है।

तृतीयक ज्वर नाशक क्वाथ

चिरायता, गुरुच, लाल चन्दन, सोंठ प्रत्येक २-२ तोला लेकर आधा सेर जल मे पकावे। आधा पाव जल शेष रहने पर इसका क्वाथ पीने को दें। इससे तृतीयक विषम ज्वर नष्ट हो जाता है।

चातुर्थिक ज्वर नाशक क्वाथ

गिलोय, आँवला, नागरमोथा इन द्रव्यों का एकत्र मिला हुआ प्रमाण २ तोला लेकर आधा सेर जल मे पकाव। आधा पाव जल अवशिष्ट रहने पर उतार लें। इस क्वाथ को पीने से चातुर्थिक विषम ज्वर दूर हो जाता है।

त्रिफलादि क्वाथ

हरीतकी, आँवला, बहेडा—इन सब द्रव्यों का मिश्रित भाग २ तोला लेकर आधा सेर जल में पकावें। दो छटाँक क्वाथ बाकी रह जाने पर उसे छानकर उसमे पुराना गुड़ डालें तथा इसे पीने को दें। इससे विषम ज्वर दूर हो जाता है।

मुस्तकादि क्वाथ

नागरमोथा, ऑवला, गिलोय, सोंठ, और कटेली इन सब द्रव्यों का मिश्रित भाग २ तोला लेकर आधा सेर जल में पकावें। जब २ छटाँक क्वाथ रह जावे, तो उसे छान कर पिप्पली का चूर्ण और मधु मिलाकर उसे पीवे। इससे सब प्रकार के विषम ज्वर दूर हो जाते हैं।

विश्वादि क्वाथ

सोंठ, गिलोय, नागरमोथा, लाल चन्दन, खस, धनियाँ इन सब द्रव्यों को मिलाकर २ तोला लेवें। फिर उसे आध सेर जल मे पकावें। आध पाव शेष रह जाने पर इसमें चीनी और मधु मिला कर पीवें। इससे तृतीयक विपम ज्वर नष्ट हो जाता है।

स्थिरादि क्वाथ

शालपर्णी, अडूसे की छाल, ऑवला, देवदारु, हरीतकी, सोंठ इनको मिलाकर २ तोला लेकर आध सेर जल में पकावें। आध पाव शेष रहने पर उतार छानकर इसमे मिश्री और शहद मिला कर पीवे। इससे चातुर्थिक ज्वर नष्ट हो जाता है।

स्वरस प्रयोग

२ तोले संभालू के पत्तों के स्वरस मे शहद मिलाकर पिलाने से सब प्रकार के विषम तथा अन्य ज्वर भी नष्ट हो जाते हैं।

यथोक्तम्—

मधुना सर्व ज्वरनुच्छेफालीदलजो रस ।

अजाजी प्रयोग

अग्नि मे कुछ काला जीरा को भुन लेवें फिर इसमे गुड़ मिला कर खिलावे। इससे विषम ज्वर नष्ट हो जाता है।

रसोन प्रयोग

लहसुन का छिल्का निकाल कर पीस लेवे। फिर उसको तिल के तैल मे मिला कर उपर्युक्त मात्रा मे प्रतिदिन आहार के पूर्व मे सेवन करें।

इससे विषम ज्वर अच्छा हो जाता है। अथवा प्रातः काल लहसुन को पीस करके घी के साथ प्रयोग करें।

वर्द्धमान पिप्पली प्रयोग

प्रतिदिन एक-एक पिप्पली बढाते हुए दूध के साथ पीसकर अथवा मधु के साथ प्रयोग करें। इस भाँति दस दिन तक एक-एक पिप्पली बढावें। फिर ग्यारहवें दिन से एक-एक पिप्पली कम करते हुए दस दिन तक सेवन करें। रोगी की प्रकृति, बल, वीर्य और ऋतु प्रभृति की विवेचना करके एक-दो अथवा तीन तक बढा करके प्रयोग कर सकते हैं। पिप्पली सेवन के समय केवल दूध के साथ वा मांस के रस के साथ अन्न का सेवन करें।

ज्वर भैरव चूर्ण

सोंठ, देववला अथवा वनफ्शा, नीम की छाल, यवासा, हरीतकी, नागरमोथा, वच, देवदारु, कटेली, काकडासिंगी, शतावरी, पित्तपापड़ा, पीपरामूल, इन्द्रायण की जड, कूठ, कचूर, मूर्वा की जड, पीपल, हरिद्रा, दारुहल्दी, लोध्र, लाल चन्दन, पाढल, इन्द्रयव, कोरैया की छाल, मुलेठी, चीते की जड, सहजने के बीज, खरेंटी, अतीस, कुटकी, मुसली, पद्माख, अजवाइन, शालपर्णी, मिर्च, गिलोय, वेल की छाल, नेत्रवाला पंकपर्पटी, तेजपत्र, दालचीनी, आँवला, पृश्निपर्णी, परवल के पत्ते, शु० गन्धक, शु० पारद, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, शुद्ध मैनसिल इन सब द्रव्यों को समान भाग मे लेकर चूर्ण बनावें। बाद को इन मिश्रित द्रव्य का आधा भाग चित्रक का चूर्ण मिलावें। इसमें से रोगी के दोष और बलाबल का विचार कर दो आने से आठ आने तक प्रयोग कर सकते हैं। इसके सेवन करने से विषम ज्वर, प्लीहा, और यकृत् जन्य मलेरिया भी अच्छा हो जाता है।

सर्वज्वरहर लौह

चित्रक की जड, बहेडा, आँवला, हरीतकी, सोंठ, पीपल, मिर्च, वायविडंग, नागरमोथा, गजपीपल, पिपरामूल, खस, देवदारु, चिरायता,

नेत्रवाला, कुटकी, कटेली, सहजने के बीज, मुलेठी, इन्द्रजव इनको समान भाग में लेकर सबके बराबर लोह भस्म मिलावें। फिर जलके साथ मर्दन करके एक-एक रत्ती की वटी बना लेवें। यह सब प्रकार के ज्वर, प्लीहा, जिगर (यकृत्) वृद्धि को नाश करती है।

पञ्चानन रस

शुद्ध मीठा तेलिया २ तोले, काली मिर्च ४ तोले, शु० गंधक ३ तोले, शुद्ध हिंगुल २ तोले, ताम्र भस्म २ तोले, इन सबको लेकर मन्दार की जडके साथ मर्दन करके एक-एक रत्ती की गोली बनावे। इनके सेवन करने से सब प्रकार के विषम ज्वर नष्ट हो जाते हैं।

अर्द्धनारीश्वर रस

शुद्ध पारद, गन्धक, मीठा विष और सोहागे की खील—इन सब द्रव्यों को एकत्र मर्दन करके काले साँप के मुख में भरे। उसके ऊपर कपडमिट्टी कर देवे। फिर उसको धूप में सुखा लेवें, फिर एक लवणपूर्ण हाँडी में उसको रख करके हाँडी के ऊपर से शराव ढंक करके कपड मिट्टी के लेप से मुख बन्द कर देवे। फिर चार पहर तीक्ष्ण अग्नि पर रखें। जब शीतल हो जावे, तो औषध को हाँडी के अन्दर से निकाल लेवे। इस औषध की एक रत्ती मात्रा नस्य रूप से व्यवहार की जाती है। जिस नासिका के छिद्र में सुँघाई जावेगी, उसी अङ्ग का ज्वर उसी समय उतर जाता है।

विषमज्वरान्तक लौह

शुद्ध पारद २ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, ताम्रभस्म १ भाग, स्वर्ण-माक्षिक भस्म १ भाग, लौह भस्म ६ भाग—इन सबको लेकर क्रम से जयन्ती (अरनी), तालमखाना, पान, अदरक और अडूसा के रस में प्रत्येक की अलग-अलग पाँच-पाँच भावना देकर मटर प्रमाण गोलियाँ बनालें। इसके सेवन करने से विषम ज्वर, गुल्म और प्लीहा शान्त हो जाते हैं।

तृतीयकारि रस

शुद्ध पारद १ भाग, गन्धक १ भाग, शुद्ध मैनशिल १ भाग, शुद्ध हर-ताल एक भाग, अतीस ४ भाग, लोह भस्म २ तोला, चाँदी की भस्म आधा भाग—इन सब द्रव्यों को नीम के छाल के रस और अपराजिता (कोयल) के रस की भावना देकर मर्दन करके ३-३ रत्ती की गोली बनावें। अनुपान—अतीस का क्वाथ। इसके सेवन से तृतीयक ज्वर नष्ट हो जाते हैं।

चातुर्थिकारि रस

पारद, गन्धक, लोहभस्म, अभ्रक भस्म, शुद्ध हरताल—ये सब द्रव्य समान भाग और पारद का आधा स्वर्ण लेवें। इन सब द्रव्यों को काले धतूरे के स्वरस से और मौलसरी के पुष्पों के रस से मर्दन करके २-२ रत्ती की गोली बनावें। अनुपान—चम्पा की छाल का रस। इन ज्वरों में आक्रमण काल के पहले इस रस का प्रयोग करें।

अमृतारिष्ट

गिलोय ऽ१२॥ सेर और मिलित दशमूल ऽ१२॥ सेर इनको कूट लेवें, फिर २५६ सेर जल मे पकावें। जब ६४ सेर क्वाथ अवशिष्ट रह जावे, तो इसको अग्नि से उतार कर छान लेवें। फिर इस क्वाथ मे ऽ३७॥ साढ़े सैंतीस सेर गुड मिलावें। इसके बाद काला जीरा ऽ२ सेर, पित्त पापड़ा एक पाव, सप्तपर्ण की छाल, सोंठ, मिर्च, पीपल, नागरमोथा, नागकेशर, कटुकी, अतीस, इन्द्र जौ प्रत्येक द्रव्य आठ-आठ तोला लेकर डाल देवें। इन सबको मिट्टी के पात्र में भरकर पात्र का मुख बन्द कर देवें। एक मास तक मुख बन्द रखें। यह अरिष्ट सब प्रकार के विषम ज्वर को नष्ट करता है।

नोट—बहुत से चिकित्सक इसमें क्विनीन मिला करके ज्वर में पीने के लिये देते हैं।

षट्कट्वर तैल

मूर्च्छित तिल तैल ऽ४ सेर, तक्र ऽ२४ सेर और कल्कार्थ सज्जीक्षार,

सोंठ, मूर्वा की जड (चूरनदार अभाव में मरोड फली), लाक्षा, हल्दी, मजीठ मिलित ≶१ सेर, तैलपाक विधि से पका कर रख लेव। यह तैल शीत और दाह संयुक्त विषम ज्वर को नष्ट करता है।

विषम ज्वर उतारनेवाली प्रसिद्ध दवा

शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, फुलाया हुआ सोहागा, काली मिर्च।

विधि—इन सब ओषधियों को समान भाग लेकर मछलीके पित्त में तीन दिन तक भावना देकर खूब घोटें।

मात्रा—२ रत्ती। अनुपान तुलसी स्वरस ३ माशा।

इससे चढा हुआ विषम ज्वर उतर जाता है। केवल कालीमिर्च को मछली के पित्त से भावित कर देने पर भी चढ़ा हुआ विषम ज्वर पसीना निकलकर शान्त हो जाता है। यह योग फैनेसिटीन, एन्टीफेवरीन आदि अंग्रेजी ओषधियों के ही समान लाभ करता है। परन्तु, ये दवाइयाँ फैनीसिटी की तरह हानिकारक नहीं होतीं।

स्वेदोत्पादन वनफ्शा अर्क

अर्क खीचने की विधि के अनुसार वनफ्शा का अर्क खीच लें। इस खिचे हुये अर्क को वारीवारी से तीन वार फिर खींचें' फिर चौथी वार अर्क खींचते समय ऊपर से और गुल वनफ्शा का अर्क मिलाकर खींचें, इसीको फिर पाँचवी वार भी खींचकर वाद में प्रयोग करें, यह अर्क फैनेसिटीव से भी शीघ्र पसीना निकाल कर ज्वर को उतार देता है।

स्वेदोत्पादक शतपुष्पा योग

मिश्री २ छटॉक लेकर खद्दर के कपड़े मे लपेट कर उस कपड़े को जल से गीला कर देव। फिर उसको भू वल से गाड़ देवें और सौंफ एक छटांक लेकर तावा पर भूनें, फिर मिश्री निकाल सौंफ में डालकर पीस लेवें। मात्रा—२ तोला गरम गरम ही खिलाकर ऊपरे से कुछ गरम पानी पिलाकर फिर वस्त्र से ढँक देवें। इससे पसीना आकर ज्वर उतर जाता है।

लोवान का प्रयोग

शुद्ध लोवान का चूर्ण २ रत्ती चढ़े हुए विषम ज्वर में देने से ज्वर की गर्मी दूर हो जाती है। आध-आध घण्टे पर २-३ मात्रा देने से चढा हुआ ज्वर बिल्कुल उतर जाता है।

मन्दारत्वक् प्रयोग

आक की छाल का चूर्ण २ रत्ती गुड में मिलाकर खाने से विषम ज्वर उतर जाता है।

अर्कक्षीर प्रयोग

तृतीयक अथवा चातुर्थिक ज्वर में अर्क दूध ३ बूंद २ माशा गुड में मिलाकर ज्वर आने के ३ घण्टा प्रथम देने से ज्वर नहीं आता है। परन्तु, कोष्ठ शुद्धि करके औषध प्रयोग करें।

एलादि प्रयोग

सफेद इलायची के बीज, वंशलोचन, सौंफ, तुरञ्जवीन।

विधि—इनको समान भाग लेकर पानी से घोंट कर जगली वेर के वरावर गोली वनावें। आध-आध घण्टे बाद शुद्ध जल से ३-४ गोली का प्रयोग करें। इससे विषम ज्वर का वेग कम हो जाता है। इन ओपधियों के प्रयोग करने से जब शारीरिक तापमान (Temperature) ९९-१००° तक शेष रह जाय, तव इसका प्रयोग वन्द कर देवें।

अपराजिता का विचित्र प्रभाव

श्वेत अपराजिता अथवा पलाश के पत्ते हाथ से मसल कर कपड़े में लपेट कर पोटली बाँध कर सूंघे। इससे विषमज्वर नहीं आता है। इसका रहस्य यह है कि वाम और दक्षिण नासिका छिद्र में इड़ा और पिंगला नाडी होती है। इसी को चन्द्रस्वर और सूर्यस्वर नाम से कहा है। इन नाड़ियों एवं सुषुम्ना नाडी पर इन ओपधियों का विचित्र प्रभाव पड़ता है। जिसका फल ज्वर का विनाश करना होता है। इसी प्रकार आगे कही जाने वाली ओषधियों का वाह्य

प्रयोग करने पर भी आश्चर्यकारी प्रभाव होता है। इसी सिद्धान्त को लेकर टोटका योग (मेजिकल चार्म्स) का भी उल्लेख किया जावेगा। इसे मिथ्या ढकोसला नहीं समझना चाहिए। इनमें वैज्ञानिक रहस्य भरा पड़ा है।

बन्धन-प्रयोग

सुवर्चला (हुलहुल) की दो पत्तियाँ लेकर हाथ से थोड़ा-थोड़ा मसल कर सीधी कलाई पर बाँध देवें। ऊपर से २ चने के वरावर फिटकिरी रख कर कपडे से कस कर वांध देवें। परन्तु; जडी ज्वर आने के एक घंटा पहले बाँधें। इससे ऐकाहिक, तृतीयक, और चातुर्थिक ज्वर छूट जाता है। जहाँ पर दवा बाँधी जाती है, वहाँ पर छाला पड़ जाता है। परन्तु, , वह दो-तीन दिन मे स्वयं अच्छा हो जाता है।

विषम ज्वर नाशक दन्त धावन

ज्वर आने के एक घंटा पहले से ही पीपल-वृक्ष की दातून करना शुरू कर देवें। इसका कुछ रस चूसने से उसी दिन से ज्वर आना बन्द हो जाता है।

दर्शनमात्र से ज्वर को हरने वाली जड़ी

जिसको तृतीयक ज्वर आता हो, उसे उत्कटासन से विठलावें और उसके दोनों हाथों को जानुओं के अन्दर रखें। पीछे से कोई रोगी के कन्धे को दबाए खडे रहे। वाद को चिकित्सक "पथरचटा के जड़" रोगी को दिखावे। उस समय पहले उसके ललाट में झनझनाहट होगी, फिर कमर मे और वाद को पैरों मे होती हुई तृतीयक ज्वर उतर जायगा। जिन-जिन स्थानों पर झनझनाहट उत्पन्न हो, उन-उन स्थानों को पीछे वाला मनुष्य मर्दन करता रहे। परन्तु; इस प्रयोग के लिये रोगी और वैद्य को आस्तिक होना चाहिए। जडी को नियमानुकूल अभिमन्त्रित कर उखाड ले आवें, तव पूरा लाभ होता है। स्वयं अनुभव करके देखिये।

नस्य प्रयोग

सुवर्चला (हुलहुल) के पत्तों का स्वरस निकाल लें और ज्वर आने

के ३ घंटे पूर्व इसका दो-तीन वार नस्य देवें। हाथ, पैर और नाखूनों में लेप करें। इससे शीत विषमज्वर नहीं आता है। यहाँ तक देखा गया है कि इसकी पत्तियों का कल्क वना कर मणिवन्ध के ऊपर वांध देने से ज्वर नहीं आता है। परन्तु ; जहाँ पर यह वाँधा जाता है, वहाँ पर छाला पड़ जाता है। अथवा, संभालू के पत्तों का स्वरस निकाल कर नस्य देने से भी विषमज्वर नष्ट हो जाता है। अथवा, शिरस के फूलों के रस में हल्दी और दारुहल्दी का चूर्ण घृत के साथ मिला कर नस्य देने से भी चातुर्थिक ज्वर नहीं आता है। अथवा, अगस्त के पत्तों का रस निकाल करके नस्य देवे। इससे भी चातुर्थिक ज्वर नहीं आता है।

यथोक्तम्—

शिरीष पुष्प स्वरसो रजनीद्वय संयुतः।
नस्य सर्पिः समायोगाच्चातुर्थक ज्वरं जयेत्॥

अञ्जन प्रयोग

सेंधा नमक, पिप्पली के वीज और मैनशिल इन द्रव्यों को उपयुक्त मात्रा में लेकर तैल के साथ पीस कर नेत्रों मे लगाने से विषमज्वर नष्ट होता है।

मलेरिया ज्वर नाशक कुछ वनस्पतियाँ

(१) करञ्ज—यह विषम ज्वर के कीटाणुओं को नष्ट करके विषमज्वर को दूर करता है। उपयोग विधि निम्नलिखित है।[१] करञ्ज का कटुतत्त्व १०-२० सेन्टीग्राम दिया जावे, तो मलेरियाज्वर मे किनीन सॉल्ट की भाँति काम करता है।

द्वितीय विधि यह है कि करञ्ज के शुद्ध वीजोंका चूर्ण ऽ— छटाँक और पिप्पली चूर्ण १½ तोला मिला कर शहद से घोट कर ४-४ रत्ती की गोली वनावें।

विधि—१-१ गोली ३-३ घंटे के वाद ज्वर चढने से पहले दें।

इससे विषम ज्वर छूट जाता है। शिरोवेदना, प्यास, हस्त-पाद शोथ, आध्मान आदि उपद्रव शान्त हो जाते हैं। क्षुधा पीड़ित रोगी को

दूध पिला कर गोली देवें; नहीं तो वमन हो जाता है। इसका युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सब पर प्रयोग कर सकते हैं। किसी प्रकार की हानि नहीं होती। परन्तु गोली कोष्ठ को शुद्ध करके देवें। क्विनीन से क्षुधानाश, बाधिर्य, हृदयदौर्बल्य आदि जो हानियाँ होती हैं, वह इससे नहीं होतीं।

(२) सप्तपर्ण—इसमें डिटेनिन नामक सत्त्व होता है। जो क्विनीन के बदले सफलता पूर्वक दिया जाता है। इसमे मलेरिया ज्वर को नाश करने की पूर्ण शक्ति है। इसमे कृमिनाशक शक्ति भी है।

उपयोग विधि—छाल का चूर्ण २ तोला ऽ॥ सेर जल मे क्वाथ विधि से पकावें। दो छटॉक जल शेष रहने पर छान कर रोगी को पिलावें। अथवा छाल का चूर्ण ३-६ माशा तक देवें। इसके सत्त्व की मात्रा ५-१० रत्ती है। इसके घन सत्त्व की मात्रा १॥-३ माशा है।

(३) यवतिक्ता—इसको यू० पी० मे "कल्पनाथ" और बंगाल में "कालमेघ" कहते हैं।

विधि—इसकी ऽ— छटाँक पत्तियों को १ तोला काली मिर्च के साथ पीस कर चना के बराबर गोली बना कर देवें। इससे मलेरिया, जीर्णज्वरादि सब नष्ट होते हैं। बंगाल केमिकल से इसके टिञ्चर आदि भी मंगा कर प्रयोग कर सकते है।

(४) द्रोणपुष्पी—यह भी मलेरिया ज्वर को दूर करती है।

उपयोग—१ तोला द्रोणपुष्पी स्वरस मे ५ काली मिर्च मिला पीस कर प्रातः समय सेवन करें।

(५) गेंदा—एक छटाँक गेंदा की पत्ती में १ तो० काली मिर्च और ३ माशा कपूर मिला ४ रत्ती की गोली बनावें। ज्वर आने के ३-३ घंटे बाद जल से गोली देवें।

(६) सहदेवी—इसके स्वरस का प्रयोग कालीमिर्च के साथ करने से ज्वर छूट जाता है। इसका सिर पर लेप करने से भी लाभ होता है।

(७) अर्क (आक)—इसकी जड की छाल का चूर्ण काली मिर्च के साथ सेवन करें। इसके दूध का प्रयोग आगे लिखा जायगा।

(८) निम्बपत्र—इसका शास्त्रीय प्रयोग निम्बादि चूर्ण (भाव प्रकाशोक्त) पुराने मलेरिया के लिये अत्युत्तम है।

(९) तुलसी पत्र—आधुनिक वैज्ञानिकों ने इसे मलेरिया नाशक स्वीकार किया है। इसके पत्तों का क्वाथ-बनाकर उसमे काली मिर्च का चूर्ण उपयुक्त मात्रा में मिलाकर पीवें। अथवा तुलसी पत्र-स्वरस १ तोला में ७ काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर प्रात काल पीवें। इसका चाय बनाकर पीने से भी मलेरिया ज्वर नहीं आता है।

विषमज्वरान्तकार्क

विधि—पित्तपापड़ा २½ तोला, मुण्डी २½ तोला, चिरायता २½ तोला, और अजवाइन २½ तोले में २ सेर जल डाल कर क्वाथ विधि से पकावें। जब १० छटाँक जल शेष रह जाय तो उसे छान कर बोतल मे भर लें। फिर उसमें नवसादर १ तोला और गन्धकाम्ल (सलफ्यूरिक एसिड) २५ बूँद डाल कर बन्द कर दें।

मात्रा—२-२ तोला। समय तीन-तीन घंटे के बाद देने से विषमज्वर उतर जाता है। ज्वर आने के पहले ३ मात्रा देने से ज्वर नहीं आता।

विकृत विषमज्वरान्तक फाण्ट

खूबकला ३ माशे, पीपल १ माशा, काली मिर्च, १ माशा, अजवाइन १॥ माशा, कासनी ६ माशे, निम्ब के पत्ते २१ नग और वासा के पीले पत्ते ५ नग।

विधि—उपरोक्त सब ओषधियों को खूब सिल पर पीस कर दो छटाँक जल में छान लें फिर खूब गरम किये हुए एक मिट्टी के सकोरे मे उसको छोड दें, ऊपर से दूसरा सकोरा ढँक दें, फिर उसमें १ माशा काला नमक मिला कर कुछ गरम ही पी लें। प्रति दिन प्रातःकाल पीने से विकृत विषम ज्वर, जीर्ण ज्वर आदि नष्ट हो जाते हैं।

विद्वानों के कुछ अनुभूत प्रयोग

शुद्ध श्वेत संखिया १ तोला, कालीमिर्च ५ तोले, शुद्ध हिंगुल १ तोला।

विधि—इन ओपधियों को करेला के पत्तों के रस में ३ दिन घोटकर सर्पप (सरसों) प्रमाण गोली बनालें।

प्रयोग—रोगी के कोष्ठ को शुद्धि करके ६ घंटे पहले १ गोली बतासा मे रखकर खिला दें। इसी तरह दो-दो घंटे के बाद दें। ज्वर चढने के प्रथम भी १ गोली दें।

गुण—शीत लग कर आनेवाले विपम ज्वर के लिये यह रामबाण दवा है।

स्व० रा० वै० पं० चन्द्रिका प्रसाद शुक्ल

अनुभूत ग्राम्य प्रयोग

सहदेवी की पत्ती १ छटॉक, काली मिर्च १ तोला, अतीस १ तोला करञ्ज की भुनी हुई गिरी १ तोला, ढाक के बीज १ तोला और अर्क की जड़ की छाल १ तोला।

विधि—इन सब ओपधियों को जल मे पीसकर जंगली बेर के बराबर गोली बनाले। पहले रोगी के कोष्ठ की शुद्धि के लिये तितली नाम की ओपधि जो खेतों में अधिक होती है, उसका चूर्ण ६ माशे गरम जल से दें। इससे दो-तीन पाखाना होकर कोष्ठ शुद्ध हो जाता है। इसके बाद ३ घंटे के अन्तर से एक-एक गोली तुलसी स्वरस १ तोला के साथ दें। विपम ज्वर मे इससे ९० प्रतिशत लाभ होता है।

श्रीमान् स्व० पं० रघुवरदयाल शुक्ल

प्रसिद्ध प्रयोग

शुद्ध वंगपत्राख्य हरिताल एक छटॉक, लालफिटकिरी एक पाव।

विधि—इन दोनों को लेकर एक सकोरे मे नीचे आधी फिटकिरी रखकर उसके ऊपर हरताल रक्खे। फिर ऊपर से फिटकिरी का चूर्ण रखें। इसके बाद दूसरे सकोरे से बन्द कर दें और कपडमिट्टी करके सुखा कर पॉच सेर कण्डा की अग्नि में रक्खें। स्वाङ्ग शीतल हो जाने पर खरल में डाल कर पीसकर शीशी मे रख ले।

मात्रा—१ रत्ती। अनुपान—तुलसी दलोंपर रखकर खिलावें।

समय—ज्वर आने के पहले ३-३ घण्टे के अन्तर से एक-एक पुड़िया दें।

ज्वर आने पर न द। रोगी का कोष्ठ शुद्धि होना आवश्यक है। इससे प्रतिवर्ष सैकड़ों रोगी अच्छे होते हैं।

श्रीमान् रा० वै० पं० शिवनारायण शुक्ल

अभ्यङ्ग प्रयोग

बादाम की गिरी छिली हुई एक तोला, जायफल ६ माशे, कपूर ६ माशे, वंदन (सिन्दूर) एक माशा।

विधि—ऽ≈छटांक गौ का नवनीत लेकर निम्ब की पत्तियों के काथ से एक सौ एक बार धोना चाहिए। फिर उस नवनीत में उपरोक्त ओषधियाँ मिला कर रोगी के हाथ-पैर और नाखूनों में खूब मालिश करें। इससे शीतपूर्वक मलेरिया ज्वर नहीं आता है।

चिरदिनों का अनुभूत योग

कल्पनाथ की पत्ती ऽ– छटाँक, काली मिर्च १ तोला, शुद्ध मीठा तेलिया विष १ तोला, करञ्ज के भुने हुए बीज ४ तो०, अर्क के फूल ऽ– छटाँक।

विधि—इनको कूट-पीस-छान करके सप्तपर्ण के स्वरस की सात भावना देकर घोटकर चना बराबर गोली बनावें।

प्रयोग—रोगी के कोष्ठ की शुद्धि करके तीन घण्टे पूर्व से एक-एक घण्टा का अन्तर देकर एक-एक गोली सात तुलसी पत्तों पर रख कर खिलावें। इससे शीत विषम ज्वर अवश्य ही दूर हो जाता है। सरकारी अस्पताल मे दिये जाने वाले किनाइन से हताश हुए, इस साधारण योग से सैकड़ों रोगी अच्छे हुये हैं।

श्रीमान् रा० वै० स्व० मुरलीधर शुक्ल

गोदन्ती प्रयोग

गोदन्ती हरताल लेकर आक के दूध में सात बार भावना देकर गजपुट में रखकर भस्म बनावें।

मात्रा—एक रत्ती, बतासा मे रखकर खिलाने से विषम ज्वर अच्छा हो जाता है।

अर्क दुग्ध योग

तृतीयक ज्वर में अर्क दुग्ध तीन बूँद ७ माशे गुड़ में मिलाकर रोगी को ज्वर आने के तीन घण्टे पहले खिला दें। इससे तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर अच्छा हो जाता है।

विशिष्ट प्रभावकारी प्रयोग

रविवार के दिन रोगी के पृष्ठवंश पर पैर लगाकर सात लाल सूत के धागों से अपामार्ग (चिरचिरा) की मूल कमर में बाँध दें। इसके प्रभाव से तृतीयक ज्वर नहीं आता है। किसी-किसी तान्त्रिक का मत है कि विना हाथ-पैर धोये हुए ही कमर में पूर्वोक्त विधि से अपामार्ग मूल बाँधे।

यथोक्तम् भावप्रकाशे—

अपामार्ग जटां कट्यां लोहितैः सप्त तन्तुभि ।
बध्वा वारे रवेस्तूर्णं ज्वरं हन्ति तृतीयकम् ॥

अन्य प्रयोग

काकजंघा (चकसेनी), वला (खरेटी), विधारा, ब्रह्मदंडी लज्जावन्ती, पृश्निपर्णी और भंगरा।

विधि—इन ओषधियों में से किसी एक ओषधि को पुष्य नक्षत्र में विधि पूर्वक उखाड़ आवें और सात लाल सूत के धागों से लपेट कर सिर में बाँधे। इससे ऐकाहिक प्रभृति ज्वर अच्छे हो जाते हैं।

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

तृतीयकादि विषम ज्वरों की युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा के साथ ही दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये। इसके लिये विष्णुसहस्र नाम-स्त्रोत्र का पाठ, पूजन, हवन, स्वस्त्ययन आदि दैव मूलक उपाय करने से विलक्षण प्रभाव देखा जाता है।

यथोक्तम् चरक संहितायाम्—

कर्म साधारण जह्यात् तृतीयक चतुर्थकौ।
आगन्तुरनुवन्धोहि प्रायशो विषमज्वरे ॥

टोटका प्रयोग (Magical charm)

विधि—रविवार के दिन रोगी जिस चारपाई पर लेटता हो, उसको बिछाकर उसके ऊपर मूसल रखकर उसको रजाई से ढँक दें। रोगी को वहाँ से अलग दूसरे कमरे में लिटा दें और गुग्गुल की धूप दें, तो उस दिन ज्वर नहीं आवेगा।

अथवा—शनिश्चर के दिन अर्क के मूल मे अक्षत, धूप देकर कह आवे कि कल हमारे घर मे जो अतिथि आयेगा, उसे यहाँ पर रोक लेना। रोगी का स्थान बदल कर ज्वर का समय विस्मृत करा दें तो ज्वर नहीं आवेगा।

मन्त्र प्रयोग

प्रात काल स्नान-पूजा करके पीपल के पत्र पर रक्तचन्दन को पानी मे घिसकर रक्खे। उसमे अनार की लकड़ी की कलम को डुवाकर निम्न मंत्र लिखने से तृतीयक चातुर्थिक ज्वर नहीं आता है। उक्त पत्र को ज्वर आने के दिन प्रात'काल ही बाँध दें, तो ज्वर नहीं आता है। होलिका, दीपावली में मंत्र पढ़कर धूप देने से मंत्र सिद्ध हो जाता है।

मन्त्र—ओं वाण युक्ते महाघोरे द्वादशार्क समप्रभे।
जातोऽसौ सुमहावीर्यो मुञ्चस्त्वैकाहिको ज्वरः॥
लिखित्वाऽश्वत्थ पत्रे तु बाहौ मन्त्र प्रधारयेत्।

मलेरिया हर धूप —

गूगल, शुष्क निम्ब पत्र, वच, असली कूठ, हरीतकी-वल्कल, श्वेत सर्षप, जौ और घृत।

विधि—प्रत्येक औपध सम भाग लेकर कूट लें, फिर गुग्गुल मिला पुनः कूटें। बाद को गो घृत मिला पात्र में रक्खें।

प्रयोग विधि—निर्वातस्थान में रोगी को नगे खाट पर लिटा कर ऊपर से चद्दर ओढ़ा दें। रोगी की खाट के नीचे कोई पात्र रख कर उसमें निर्धूम, पीपल या बेर की लकडी के कोयले रक्खें। ऊपर से थोड़ा-थोडा धूप छोडें, रोगी का मुख खुला रखें। इससे पसीना

निकलेगा। पसीने को श्वेत वस्त्र से पोंछ दें या वस्त्र बदल दें। धूप का प्रयोग दिन में दो बार करें। इससे मलेरिया ज्वर अच्छा हो जाता है। यथोक्तं चरके—

पलकषा निम्ब पत्र वचा कुष्ठ हरीतकी।
सर्षपा सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम्॥

सर्पकंचुकादि धूप

साँप की केचुली, सरसों, हींग, शुष्क निम्ब पत्र इसकी धूप उपरोक्त विधि से दें। इससे विषम ज्वर, भूत, राक्षस, डाकिनी आदि भाग जाते हैं।

अर्कादि धूप

आक की जड, राल, निम्बपत्र, वच, गुग्गुलु, कतृण, मिर्चागन्ध (फीवर ग्रास) अगर, देवदारु।

विधि—पूर्वोक्त विधि से धूप देने पर विषम ज्वर छूट जाता है।

विडाल-विष्ठा धूप

बिल्ली के विष्ठा की धूप दें। इससे भी विषम ज्वर छूट जाता है।

यथोक्तं चक्रदत्ते—

वैडाल वा शकृद् योज्य वेपमानस्य धूपने।

लोहबाणादि धूप

लोहबान, कर्पूर, अगर, कचूर, हल्दी, दारुहल्दी, बालछड, निम्ब-पत्र, वायविडंग, देवदारु, गुग्गुलु, वच, कूठ, अजवाइन।

विधि—सब ओषधियों को कूटकर अष्टमांश गो-घृत मिलाकर धूप दे। इससे मलेरिया के जीवाणु तथा मलेरिया ज्वर दूर हो जाते हैं। गृह में इस धूप को देने से मच्छड नहीं आते हैं।

चातुर्थिक ज्वर नाशक धूप

नवीन वस्त्र को भृङ्गराज आदि के स्वरस में रंगकर सुखाकर उसमें गुग्गुलु २½ तोला और उल्लू पक्षी का एक पंख लेकर दोनों को

कूट और वस्त्र में बाँधकर शनिश्चर के दिन अग्नि में जला कर धूप दे, तो जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस धूप से चातुर्थिक ज्वर नष्ट हो जाता है।

सविराम ज्वर की चिकित्सा

सविराम ज्वर की चिकित्सा में तीन उद्देश्य रखना चाहिए।

१. विकारग्रस्त रक्त के स्वाभाविक उपादान का संस्थापन करना।

२. रक्त के दूषित पदार्थों को निकालना।

३. सविराम ज्वर की अधिकता एवं ज्वर के पुनराक्रमण को नाश करना।

प्रथम उद्देश्य की सिद्धि के लिये लोह भस्म सबसे अच्छा है।

द्वितीय उद्देश्य की सिद्धि के लिये नीचे लिखे हुए लक्षणों के प्रति ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि—जब ये लक्षण हों, तो बलकारक औषधि न देवें। यथा—जिह्वा के ऊपर सफेद मल जमा हो, रसनेन्द्रिय की विकृति, मलिन त्वचा, सिर में दर्द, चक्कर, गाढ़ा वर्ण वाला और गुरु मूत्र, अल्प मात्रा में ज्वर का अभाव आदि। इन लक्षणों के वर्तमान होने पर बलकारक औषधि न देकर संशोधक और परिवर्तक औषधि देवें। जब ये लक्षण हों तो पारदयुक्त औषधि सबसे अधिक लाभ पहुँचाती है। इसलिए रसपुष्प (कैलोमल) डेढ़ रत्ती से ढाई रत्ती तक सोडाबाईकार्ब अथवा चीनी के साथ देने से मलाशय शुद्ध हो जाता है, किन्तु कभी-कभी इसके प्रयोग से अधिक दस्त और कै होने लगते हैं। इसलिए; ब्लूमस आदि गोली या पंचसकार चूर्ण देवें। इसके साथ-साथ बलकारक और संशोधक औषधियों को एकमें मिला कर प्रयोग करें।

रोग का आक्रमण दबाने के लिये कुनैन अच्छी दवा है। मलेरिया ज्वर के रोगी के परिपाक यंत्र पर विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। इसके लिये पेप्सीन का प्रयोग अच्छा है। किन्तु, इससे अधिक फायदा द्राक्षासव से होता है। डाक्टर वेमिस का मत है कि शैत्यावस्था में रोगी की शारीरिक-अवस्थानुसार अहिफेन, क्लोरोफार्म, वेलाडोना,

क्लोरेलहाइड्रेट और ब्रोमाइड आफ पोटासियम का विवेचनपूर्ण प्रयोग से विशेष लाभ होता है। इनमें सबसे अधिक लाभदायक अहिफेन है। अहिफेन का टिञ्चर १० बूँद, स्प्रिट क्लोरोफार्म एक ड्राम की मात्रा से भी विशेष लाभ होता है और शीतावावस्था मे नाइट्राइट ऑफ एमिल के प्रयोग से भी लाभ होता है।

कागजी नीबू के फाण्ट का प्रयोग

एक कागजी नीबू लेकर उसे छोटे-छोटे टुकडे कर डालें। उसके बाद तीन गिलास जल मिट्टी के वर्तन मे डालकर उसमे नीबू के टुकड़ों को पकावें। जब जल जलकर सिर्फ एक गिलास शेष रह जाय, तब उसको अग्नि से उतार ले। फिर उस जल को साफ कपड़े से छान कर ठंडा होने के लिये वायु मे रख दे। जब वह ठंडा हो जाय, तब पीवें। यह जल कुनैन के समान गुण करता है अथवा यह कहें कि वह कुनैन से भी अधिक फायदेमन्द है तो अत्युक्ति नहीं होगी। क्योंकि, कुनैन के सेवन से कर्णनाद, बधिरता आदि कुलक्षण प्रकट होवे हैं, परन्तु इस जल से कुछ भी हानि नहीं होती।

ज्वर के पूर्वरूप में कर्त्तव्य

ज्वर के पूर्वरूप में हाथ-पैर और पीठ में दर्द, आलस्य, जम्हाई, गौरव, क्लम, नेत्रों में आँसू भर जाना, धूप, अग्नि-वायु सेवन, शीत जल, इनकी वार-बार इच्छा तथा इनसे द्वेष होता है। अविपाक, आस्य-वैरस्य, वर्ण और वल की हानि आदि होने पर रोगी को चारपाई पर सुला दें। खाना-पीना वन्द कर दें। इससे यन्त्रणा और वमन आदि उपद्रव वढ जाते हैं। रोगी को शीत लगने पर रजाई, कम्बल आदि गरम कपडा ओढादें और शरीर की गर्मी वढ़ाने के लिये तुलसी की पत्ती ३ माशा, काली मिर्च १० नग लेकर चाय बनवा कर देवें एवं इसके साथ-साथ ज्वर नाशक लेप करें। यथा—करंज, संभालू, हुलहुल, द्रोणपुष्पी, मकोय, आकाशवल्ली, इनकी पत्तियों का स्वरस २ छटाँक निकालें। उसके वाद उसमे अफीम १ माशा, जायफल १ माशा, सिन्दूर १ माशा,

मिला कर गर्म कर के हाथ-पाँव में मालिश करनी चाहिए। अथवा चाय या काफी की मालिश करें। पृष्ठ देश में और हाथों पर गर्म जल से भरी हुई बोतल में या रबड़ की थैली में गर्म पानी भर कर स्वेदन करें।

वमन की चिकित्सा

जब वमन होने लगे किन्तु वमन अच्छी तरह न हो, तो रोगी को गर्म जल पिला कर वमन करावें। इसमें रोगी को शान्ति मिलेगी। अगर इसमें वमन बन्द न हो. तो राई का लेप पेट पर लगावें अथवा क्लोरोफार्म में कपड़े का टुकड़ा भींगोकर आमाशय के ऊपर रखें। इससे वमन शान्त हो जायगा। किन्तु, क्लोरोफार्म उड़ जाता है इसलिए कपड़े के टुकड़े को पान से ढक देवें। इसमें भी वमन शान्त न हो तो अफीमसत्त्व, (मार्फीन) का त्वचोऽन्त. क्षेपण (हाइपोडर्मिक) से प्रयोग करें। इससे वमन शान्त हो जाता है।

शीत लगने की पूर्व-अवस्था में ही त्वचोऽध क्षेपण विधि (हाइपोडर्मिकसिरिञ्ज) से अफीम के सत्त्व, (मार्फीन) का प्रयोग करने पर शीतावस्था दब जाने की सम्भावना रहती है। अन्त की शीतावस्था में रोगी को यंत्रणा कम होती है। बालकों की चिकित्सा करते समय सावधानी रखनी चाहिए। इस अवस्था में कोई-कोई चिकित्स पाइलोकार्पिन, हाइड्रोक्लोरेट ⅐ ग्रेन त्वचोऽध क्षेपण विधि से प्रयोग करते हैं। अथवा १ ड्राम की मात्रा में स्प्रिट क्लोरोफार्म का आभ्यन्तरिक प्रयोग करते हैं। नाइट्राइट ओफ एमिल और अन्यान्य नाइट्राइट से भी अधिकाश स्थलों में शीतावस्था दब जाती है। बालकों की जब पतनावस्था (कोलैप्स) आरम्भ हो, तो उस समय उत्तेजक ओषधि दें। वृद्ध और कैकहेक्शिया (Cacheuia) ग्रस्त व्यक्ति की जब पतनावस्था आरम्भ हो, तब उसको भी उत्तेजक ओषधि दें। इसके लिये सुरा का प्रयोग करें। हाफ मैनेर एनोडाइन, स्प्रिट एमोनिया, ऐरोमैटिक और गरम-गरम काफी का भी व्यवहार किया जाता है।

एट्रोपाइन् की हाइपोडर्मिक पिचकारी $\frac{१}{६०}$ से $\frac{१}{३०}$ ग्रेन तक विशेष लाभदायक है। इसके साथ शरीर में जायफल और भाँग के चूर्ण का मर्दन करें और उत्तेजना उत्पन्न करनेवाले द्रव्यों की पिचकारी द। अथवा आवश्यकता होने पर त्वचोऽधः क्षेपण विधि से ईथर का प्रयोग करें।

वमन की आवश्यकता

कभी-कभी अमाशय मे खाये हुए पदार्थ के अपरिपक्व होने पर ही शीत लगने लगता है। उस समय लवण मिश्रित गरम पानी पिला कर वमन करा दें। इससे शीतावस्था चिरकाल तक नहीं रहती है, अन्यथा जाडा चिर काल तक लगता रहता है। ऐसी दशा में उष्णावस्था होने पर गरम कपडा शरीर पर से हटा दें और हल्की चादर ओढा दें।

पिपासा प्रतिकार

वरफ चूसने के लिये दें। सौंफ और गावजवान दोनों का मिश्रित अर्क पिलावें। शीतल अथवा कुछ गरम जल मे कपडा भिगोकर उसको पहले निचोड दें फिर उससे अंग को पोछ दें। इससे शरीर का दाह और ज्वर वहुत अंश में कम हो जाता है।

शिरोवेदना का प्रतिकार

शिर की पीडा और मस्तिष्क की वेदना दूर करने के लिये शीतल जल की पट्टी अथवा वर्फ का टुकड़ा कपड़े मे लपेट कर स्थानिक प्रयोग करें। शीतल जल से मस्तिष्क धो देने से भी लाभ होता है।

गेंदाफूल का प्रयोग

गेंदा के फूल को अर्क गुलाव मे पीसकर लेप करने से पित्त से उत्पन्न सिर दर्द शीघ्र ही वन्द हो जाता है।

कई चिकित्सक शिर दर्द को दूर करने के लिये एकोनाइट (वत्सनाभ) का प्रयोग करते हैं।

रक्त के वेग से अधिकतर यकृत और प्लीहा के स्थान में वेदना होती हैं। अत: सरसों का पलस्तर, अथवा सरसों से मिली हुई पुल्टिस आदि से यह वेदना शान्त होती है। स्वेदावस्था में कोई विशेष लक्षण

नहीं देखे जाते हैं। यदि स्वेद अधिक निकलता हो, तो सूखे कपड़े से स्वेद को पोंछ दें। आवश्यकता होने पर फिटकरी मिला हुआ गर्म जल से शरीर को पोछ दें। इस अवस्था में रोगी को इच्छानुसार जल पीने की अनुमति दी जा सकती है। ज्वर छूट जाने पर रोगी का कपड़ा बदल देना चाहिए। चारपाई भी वदल दें। इस अवस्था मे स्वस्थ होने वाले रोगी नियमानुसार यदि कुनैन खायँ, तो ज्वर पुन' नहीं होता। यदि रोगी के स्नायुओं में दुर्वलता, शिर मे पीडा, वमन करने की इच्छा, क्षुधामान्द्य आदि हों, तो कुनैन के प्रयोग से दूसरी वार ज्वर के आक्रमण की सम्भावना रहती है।

अनेक चिकित्सकों का विचार है कि कोष्ठ शुद्धि के विना कुनैन का प्रयोग करने पर आशानुरूप फल प्राप्त नहीं होता, किन्तु परीक्षा से यह सिद्ध हुआ है कि उनका यह विचार भ्रमात्मक है। यदि कोष्ठ काठिन्य, जिह्वा मल से आवृत, रूक्ष त्वचा और विवर्णता हो तो, कैलोमल, वाइ-कार्वनेट ऑफ सोडियम और ऐरामेटिक चूर्ण के साथ अल्पमात्रा मे वार-वार कुनैन का प्रयोग करें। यदि अत्यन्त विरेचन क्रिया की आवश्यकता हो तो, कम्पाउण्ड एक्सट्राक्ट (सार) ऑफ कैलोसिन्थ (इन्द्रवारुणी) सुगन्धित तेल, वा एक्सट्राक्ट ऑफ वेलाडोना के साथ कैलोमल की व्यवस्था करें। इसके वाद लावणिकविरेचक औषध दें। जैसे रोचलेस साल्ट और क्रीम ऑफ टार्टर का प्रयोग करें। इस स्थलपर समय व्यर्थ व्यतीत नहीं करना चाहिए, क्योंकि विरेचन और ज्वर को दवाना अत्यन्त आवश्यक है। अत कैलोमल और कुनैन एक साथ मिलाकर गोली के रूप में दें। दुर्वल व्यक्तियों को और इससे पहले जिसका परिपाक-यन्त्र विकार से युक्त हो, उसको वहुत सावधानी से विरेचन देना चाहिए।

मलेरिया ज्वर में नियमानुकूल ठीक समय मे और उपयुक्त मात्रा में कुनैन का प्रयोग न किया जाय, तो ज्वर का आक्रमण और ज्वर की भिन्न-भिन्न अवस्था अनियमितरूप धारण कर लेती है। फिर रोगी भिन्न-भिन्न विकारों से पीडित हो जाता है। ये विकार पक्वाशय और

अन्त्र मे होते हैं। इस अवस्था मे मृदु विरेचक औषध से अन्त्र की शुद्धि करें और उपयुक्त औषध से पकाशय की उग्रता को दूर करें। पथ्य के लिये कार्बोनिक एसिड से मिला हुआ जल अथवा चूने का जल मिला कर दूध की व्यवस्था करें। अधिकांश स्थल मे इस चिकित्सा से ही रोग के लक्षण की शान्ति हो जाती है, फिर इसके बाद शीघ्र ही कुनैन से चिकित्सा आरम्भ कर दें। ऐसी हालत मे उपयुक्त औषध नहीं होने पर अनेक समय मे सविराम ज्वर, अविराम ज्वर का पुराना रूप धारण कर लेता है।

उपद्रव रहित मलेरिया से युक्त सविराम ज्वर मे आक्रमण प्रगट होने के दिन घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए। लघु पथ्य दें और बीच-बीच मे शरीर के ताप की परीक्षा करते रहे। यदि स्पष्ट ज्वर न हो, तो उस दिन कुनैन का प्रयोग न करके आगे आक्रमण की प्रतीक्षा करें। ज्वर प्रगट होने पर या ज्वर छूटने के समय ८-१० ग्रेन अथवा इससे अधिक मात्रा मे कुनैन का प्रयोग करने से ज्वर बन्द हो जाता है। ज्वर के बन्द हो जाने पर बलकारक, रक्तबर्द्धक और रक्त संचालक चिकित्सा करनी चाहिए। पुष्टिकारक और लघु पथ्य देकर कोष्ठ को शुद्ध रखना चाहिए। अधिकतर कुनैन मिश्रित बलकारक औषध का प्रयोग करें। ऐसी अवस्था मे अधोलिखित प्रयोग काम में लावें।

कुनैन सल्फ २६—४३ ग्रेन, एसीड, हाइड्रोक्लोर ५ ड्राम से १ औंस, एक्स्ट्राटैरिक सेसाई फ्लूइड ३ औंस, एलिक्सरकैलिसेयी ५ औंस।

विधि :—इनको एक में मिलाकर शीशी मे रख लें। इसमें से दो ड्राम मिक्सचर निकाल कर डेढ औंस जल मिलाकर एक मात्रा भोजन के बाद दें। इससे पूरा लाभ होता है।

अनेक चिकित्सक ज्वर का आक्रमण प्रकाशित होने पर पूर्व वर्णित व्यवस्था के साथ लोह और संखिया का तब तक प्रयोग करते है, जब तक रोगी अच्छा न हो जाता है।

ज्वर का आक्रमण हो जाने पर कुनैन सल्फेट में लोह भस्म मिलाकर कुछ दिन तक सेवन कराना चाहिए, जिससे फिर ज्वर न आवे। कुनैन

के प्रयोग से हानि न हो, इसलिए उसके साथ सहयोगी अथवा उचित अनुपान की व्यवस्था करें। जैसे—पाइपारिन्, कैपसिसिन्, अर्गट और हाइड्रोब्रोमिक एसिड आदि कुनैन के प्रधान सहयोगी हैं। कोई-कोई अर्गट की अधिक प्रशंसा करते हैं और वे कुनैन के साथ-साथ अथवा चूर्ण रूप मे अर्गट का प्रयोग भी करते है। परन्तु, अधिकतर हाइड्रोब्रोमिक एसिड का प्रयोग किया जाता है।

विषमज्वर जन्य प्लीहा की चिकित्सा

विषमज्वर से उत्पन्न हुई प्लीहा की वृद्धि मे उसी स्थान पर विन् आइयोडाइड ऑफ मर्करी का मलहम धूप मे बैठकर मलने से लाभ होता है। कोई-कोई चिकित्सक प्लीहा की वृद्धि मे पारद का व्यवहार करने का विरोध करते हैं। कोई-कोई हाइपोसल्फाइड ऑफ सोडा का प्रयोग करते हैं।

डाक्टर ओलियम प्लीहा की वृद्धि में पूर्ण मात्रा में ब्रोमाइड ऑफ पोटासियम के प्रयोग की प्रशंसा करते हैं। प्लीहा और यकृत् की वृद्धि मे अपक पेपाइन (Papain) (पपीते का दूध) एक चाय के चमचे के परिमाण में लेकर चीनी मिलाकर तीन गोली बनायें। एक गोली दिन मे तीन वार मे दें। यदि इससे आमाशय में उग्रता हो, तो थोडी मात्रा में अफीम के संयोग से २०-२५ दिन सेवन करें। इससे बढी हुई प्लीहा अच्छी हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुमार्यासव दो तोले की मात्रा मे प्रात:-सायं पीने से भी प्लीहा वृद्धि दूर हो जाती है।

सांघातिक सविराम ज्वर
(Pernicious Intermittent fever)

निर्वचन—शरीरके आभ्यान्तरिक यन्त्रों में जब रक्त का संचय हो जाता है, तो नाडी विधान मे अनेक विषम विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के मलेरिया से उत्पन्न हुए विराम युक्त ज्वर को "सांघातिक

सविराम ज्वर" कहते हैं। इसको 'कंजेष्टिवचिल्स' अथवा 'कन्जेष्टिव इन्टरमीटेन्ट फीवर' भी कहते हैं। यह विराम से रहित अथवा स्वल्प विरामयुक्त होता है।

परिचय

इसका मुख्य कारण प्लेज्मोडियम कैलासीफेरम नामक मारक कीटाणु हैं। इससे उत्पन्न अत्यधिक मात्रा मे मलेरियाणु का विष शरीर के अन्दर प्रविष्ट होने पर किसी-किसी स्थल पर नाडी मूल मे प्रवल क्रिया दिखला करके अचैतन्य, हृदयावसाद, (सिन्कोप) आदि विषम नाड़ी विकार उत्पन्न कर देता है अथवा उदरगुहा या उरोगुहा और फुफुस आदि अंगों मे अत्यन्त रक्त संग्रहजन्य विकार उत्पन्न कर देता है। इस रोग के पहले या दूसरे वेग मे ही इतने खराव लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे रोगी की जीवनलीला समाप्त हो जाती है। यह रोग अधिकांश स्थल मे पूर्वरूप के विना उत्पन्न हुए ही अनभ्र व्रजापात के समान शीघ्र ही रोगी के जीवन को अन्त कर देता है। कभी-कभी एकाध सामान्य विक्षेपयुक्त ज्वर के आक्रमण के पश्चात् रोगी की जीवन-लीला समाप्त कर देता है। कभी-कभी सविराम ज्वर में सांघातिक रूप धारण करने के पहले ही ज्वर का आक्रमण अत्यन्त प्रवल रूप मे हो जाता है, ऐसे सांघातिक ज्वर में आक्रमण के कुछ पूर्व अत्यन्त सिर दर्द, तन्द्रा, द्रुताक्षेप या दारुण वमन आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रकार-भेद

सन्यासयुक्त सांघातिक विषम ज्वर—सामान्यतया रोगी अचैतन्य या संन्यास रोग के लक्षण से ग्रसित दिखलायी पडता है। इसको 'कोमा-रोज' अथवा एपोप्लेटिक' प्रकार का सांघातिक विषम ज्वर कहते हैं। इसमे विरामावस्था मे भी तन्द्रा, जड़ता, और अत्यन्त सिर में पीड़ा होती रहती है। कभी-कभी कुछ जाडा-सा लगता है, उष्णावस्था मे रोगी अचेत पडा रहता है, लाल मुख और फैली हुई कनीनिका आलोक से भी संकुचित नहीं होती है और श्वास-प्रश्वास शब्द करता हुआ निकलता

है तथा नाड़ी की गति क्षण में तीव्र और क्षण में मन्द हो जाती है। पेशियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, त्वचा शुष्क और उष्ण हो जाती है, कक्षा-प्रदेश की गर्मी कभी-कभी १०४-१०५ तापांश फार्नहीट हो जाती है। यह अवस्था ६ से २४ घण्टे तक और कभी-कभी कई दिनों तक स्थायी रहती है। इसके पश्चात् रोगी धीरे-धीरे संज्ञायुक्त हो जाता है या नाड़ी और जीवन-शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। मनोवृत्ति की विशृङ्खलता, सिर दर्द, प्रलाप, हाथ-पैर मे अवसन्नता उत्पन्न हो जाती है। बाद को विराम अवस्था मे सवल लक्षण धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं।

आक्षेपयुक्त सांघातिक विषम ज्वर

इसमें ज्वर के साथ आक्षेप (दौरे) आते हैं। ये आक्षेप (दौरे) ज्वरोष्मा के साथ ही शुरू होते हैं और ज्वर मोक्ष के समय कम हों जाते हैं। ज्वर कम होने के समय रोगी कुछ होश में आता है उस समय रोगी के शरीर के किसी अंग में घाव हुआ होता है, तो वह भी कम हो जाता है। आक्षेपों का स्वरूप धनुर्वाण तुल्य या अपस्मार के तुल्य होता है। यह प्रकार प्रायः बच्चों में अधिक प्रकट होता है।

तन्द्रायुक्त सांघातिक विषम ज्वर

इसमें :रोग का आक्रमण मौक्तिक ज्वर के तुल्य होता है, परन्तु मौक्तिक की अपेक्षा इसमे तन्द्रा, प्रलाप आदि लक्षण पहले से शुरू हो जाते हैं।

मस्तिष्कावरण शोथतुल्य सांघातिक विषम ज्वर

इसमें मस्तिष्क सुषुम्नावरण शोथ (सेरिब्रोस्पाइनल फीवर) के तुल्य लक्षण मालूम होते हैं। यह प्रकार प्राय. युवा पुरुषों में तथा स्त्रियों में दिखलाई देता है। इसमे कर्निङ्ग चिह्न (Kernings Sign) नहीं मिलता है। रोगी से पूछने पर (विषम ज्वर का) और आक्षेप की नियत कालिकता का इतिहास मिलता है। इन लक्षणों के अतिरिक्त मस्तिष्कीय मलेरिया (सेरिब्रल मलेरिया) मे स्मृति, वुद्धि, वाचा और ज्ञानेन्द्रियाँ

विकृत हो जाती है। अर्दित, एकांगवात, पक्षाघात, सर्वाङ्गवात, उन्माद दृष्टि-हीनता (Amblyopia) प्रभृति अनेक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

अति तीव्र संताप (हाईपर पाइरेक्सिया)

इस ज्वर में शरीर की गर्मी १०६ से १०७ डिग्री तक बढ जाती है और कभी-कभी इससे भी अधिक १११ डिग्री तक तापांश पहुँच जाता है। रोगी प्रायः प्रलापयुक्त होकर कई घण्टों में मर जाता है। अति तीव्र संताप ज्वर होने के पूर्व ताप मध्यम भी हो सकता है। यह प्रकार, प्राय. जब वायुमण्डल मे उष्णता या आर्द्रता अधिक होती है, उसी समय होता है और यदि रोगी का पूर्ववृत्त नहीं मालूम होता है, तो सूर्यांशुघात (Heat stroke) का निदान करके भ्रम हो सकता है। इसमें विषमयता बहुत होती है।

विसूचिकासम सांघातिक विषम ज्वर

ग्रीष्म प्रधान देश में यह ज्वर प्रकट होता है। इसमें श्वेतवर्ण के अनेक पतले दस्त, वमन, पैरों में एंठन, अवसाद प्रभृति विसूचिका के लक्षण प्रकट होते हैं। अत्यन्त पिपासा, आन्त्र मे निपातावस्था (कोलेप्स) होकर मृत्यु हो जाती है।

रक्तातिसार युक्त विषम ज्वर

इसमें अतिसार के तुल्य रक्त और ऑव मिले हुए अनेक दस्त आते हैं और विरामावस्था में इसकी शान्ति हो जाती है।

आमाशयिक विषम ज्वर

इसमें आमाशय प्रदेश में पीडा तथा असहिष्णुता, पित्तयुक्त वमन की अधिकता, कभी-कभी वमन में खून भी आ जाता है। उदर प्रदेश भीतर को धँसा हुआ, कामला, मूत्र मे पित्त की उपस्थिति प्रभृति लक्षण मिलते हैं।

न्यूमोनिक सांघातिक विषम ज्वर

इसमें न्यूमोनिया के लक्षण प्रकट होते हैं। शीतावस्था में अथवा उष्णावस्था मे श्वासकृच्छ्र, शुष्क कास, वक्ष प्रदेश में वेदना, वक्ष स्थल

पर प्रतिघात करने से गम्भीर शब्द और कण्ठस्वर के कम्पन मे वृद्धि, सुनने मे सूखे वालों के झाडने के समान शब्द और बाद मे ब्रेङ्कियल (श्वासनलीय) श्वास-प्रश्वास व ब्रेकफोनि वा लोह के मल के समान काला कफ हो जाता है। घर्मावस्था मे ज्वर का ह्रास हो जाता है। साथ-साथ लक्षण आदि की भी शान्ति हो जाती है। ज्वर के छूटने पर सम्पूर्ण लक्षण एक काल में छिप जाते हैं, नाडी पूर्ण व जल्दी-जल्दी चलती है। प्रत्याहिक वा त्र्याहिक रूप मे ज्वर फिर प्रकाशित होने पर ये सब लक्षण पुनः उपस्थित हो जाते हैं। कुनैन से ज्वर बन्द न करने पर वार-वार ये ही लक्षण फुफ्फुस से युक्त प्रकाशित होने पर इनकी जड बँध जाती है। अधिकतर ज्वर के चौथे या छठे आक्रमण में रोगी सांघातिक हो जाता है। किसी-किसी स्थल मे सविराम-फुफ्फुसावरण प्रदाह (प्लूरिसी) रूप में यह ज्वर प्रकाशित होता है।

शीतांग विषमज्वर

इससे भिन्न ग्रीष्म प्रधान देश में और एक प्रकार का सविराम मलेरिया युक्त ज्वर देखा जाता है। इसको शीतलता (एलूजिड) संयुक्त सविराम ज्वर कहते है। यह अति विषम रोग है। रोग के आक्रमण से वहुत काल तक साधारण ठंढक या कम्प उपस्थित होता है। उष्णावस्था मे शरीर पत्थर के तुल्य शीतल हो जाता है। मुख के भीतर का ताप ९६ या ९८ तापांश फार्नहीट होता है; किन्तु अत्यन्त आभ्यन्तरिक दाह और प्यास लगती है। त्वचा मलीन, शीतल, गोंद के समान स्वेद से अभिषिक्त रहती है और कनीनिका फैल जाती है। नाडी अत्यन्त मन्द गति या अनियमित रहती है। मन्द गति वाला गम्भीर श्वास-प्रश्वास चलता है तथा शीतल निःश्वास, क्षीण व अस्पष्ट कण्ठ-स्वर हो जाता है। रोगी अन्त तक ज्ञान से युक्त रहता है, किन्तु उसके चारों तरफ क्या होता है, कुछ भी नहीं जानता। उसकी अवस्था क्या है, इसका उसे एक वार भी ज्ञान नहीं होता। रोगी देखने पर मृतक के तुल्य मालूम होता है। अधिकतर पहले या द्वितीय ज्वर के वेग

मे ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। रोगी के अच्छे हो जाने पर भी दुर्वलता चिरकाल तक रहती है। किसी-किसी स्थल मे रक्तस्राव से सयुक्त ज्वर प्रकाशित होता है, ज्वर सामान्य सविराम ज्वर के तुल्य आरम्भ होता है और शीघ्र ही आभ्यन्तरिक यन्त्र में रक्तसग्रह के सव लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। वमनेच्छा, वमन, श्वासकृच्छ्रता, यकृत् और मूत्राशय प्रदेश मे अत्यन्त वेदना होती है। कई घण्टे वाद सहसा रोगी का सव अंग पीला हो जाता है और रक्त मिश्रित मूत्र निकलता है। इसके वाद ज्वर तथा उसके साथ के अन्य भी सव लक्षण शान्त हो जाते हैं। ज्वर के द्वितीय वेग मे सव लक्षण अत्यन्त प्रवल रूप मे प्रकाशित होते हैं अथवा मस्तिष्क में रक्त संग्रह के लक्षण दिखलाई देते है। ऐसी स्थिति मे शरीर के अन्यान्यस्थान से रक्तस्राव भी हो सकता है।

पाचनसंस्थान-स्वरूप—जिह्वा मलिन रहती है, मुख मे दुर्गन्धि, स्वाद तिक्त तथा वमन होता है। ग्रहणी (डिओडिनम्) में शोथ होने से कामला उत्पन्न हो जाती है। अन्त्र मे सूजन हो जाने से अतिसार व विसूचिका के तुल्य दस्त आने लगते हैं। कभी-कभी अन्त्र से रक्तस्राव भी होने लगता है।

रक्त-संचालक यन्त्र-स्वरूप

हृदय दुर्वल और तीव्र गतिवाली नाडी कभी-कभी मन्द गति वाली हो जाती है। इसका कारण यह है कि विपमज्वर के विप का परिणाम प्राणदा नाडी पर पडता है।

मूत्र-स्वरूप

विपमज्वर में मूत्र की मात्रा न्यून हो जाती है और वह गहरा हो जाता है। इसकी गुरुता (स्पेसिफिक ग्रेविटी) अधिक हो जाती है और ज्वर की मुक्तावस्था मे मूत्र की अधिकता तथा स्वच्छता होती है तथा गुरुता कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त त्वचा काली, पीली वा खाकी वर्ण की हो जाती है। ओष्ठ और नासिका के समीप विस्फोट,

(हेर्पीज) पैर की अँगुलियों मे विपादिका शरीर पर चकत्ते (आर्टीकेरिया) आदि हो जाते हैं।

रक्तस्रावी

इसमें मस्तिष्कादि देह के विविध अङ्गों से तथा मल-मूत्र और वमन द्वारा रक्तस्राव होता है। जिस अङ्ग से रक्त-स्राव होता है, उसके लक्षण प्रकट होते हैं। मस्तिष्क मे रक्त-स्राव होने के पश्चात् पक्षाघात, एकांगघात संज्ञानाश, मूकता, आदि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकार के होते हैं। कालमेहज्वर (Black water Fever) रक्तस्रावी विषम ज्वर का ही एक लक्षण है।

चर्म शीतलता संयुक्त विषमज्वर

इसमे त्वचा बिलकुल शीतल हो जाती है और स्वेद से भींगी रहती है।

हार्दिक तथा रक्त संचालक संस्थानीय विषम ज्वर

(Cardiec Vascular)

इसमें हृदय का कार्य ठीक-ठीक नहीं होता, उसकी गति अनियमित हो जाती है, कभी हृदय का विस्फार तथा कभी हृदय का कार्यावरोध हो जाता है।

कामलायुक्त विषमज्वर

इसमें पैत्तिक वमन, पैत्तिक प्रवाहिका, आमाशय में बेचैनी, कभी विड्विबन्ध प्रभृति पाचन-सस्थान के लक्षण तेज हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त रक्त मे यदि पित्त-रक्त की अधिकता होती है तो, उससे आँखे पीली, शरीर पीला या केसरिया रंग का हो जाता है। यह प्रकार घातक नहीं है किन्तु; रोगीका स्वास्थ्य बहुत खराब हो जाता है और कामला के लक्षण मिलने लगते हैं।

रोग का स्थायित्व

यह १—२ दिन तक तथा कभी-कभी कई दिनों तक प्राय स्थायी रहता है। रोग के दूसरे आक्रमण के बाद भी आरोग्य विरले ही देखे जाते हैं। इसके तीसरे वेग मे प्राय मृत्यु हो जाती है।

रोग-निर्णय

रक्त-स्राव से युक्त सांघातिक सविराम ज्वर का पीतज्वर के साथ भ्रम हो सकता है। इस रोग मे शरीर पीला हो जाता है तथा रक्त स्राव होता है। पित्तज्वर के वमन में कृष्णवर्ण के पदार्थ वर्तमान रहते हैं, किन्तु, इस ज्वर में वे नहीं होते हैं। विचार पूर्वक सब दशाओं को देखने से रोग का निर्णय हो जाता है। मस्तिष्क के लक्षण से युक्त ज्वर में संन्यास (एपोप्लेक्सी) शिरोवरीयकलाशोथ (मेनिञ्जाइटिस) यूरीमिया (Uroemia) से संयुक्त द्रुताक्षेप रोग का भ्रम हो सकता है। इनका भेद निर्णय करना कठिन हो जाता है। आक्रमण के प्रति लक्ष्य करने पर निर्णय किया जा सकता है। परिपाक यन्त्र के लक्षणों से युक्त ज्वर में विसूचिका का भ्रम हो सकता है। परन्तु, विसूचिका संक्रामक रोग है, उसके जीवाणु तथा लक्षण भी भिन्न होते हैं।

चिकित्सा

शीतावस्था होने पर शरीर में उत्ताप कारक और उत्तेजक ओषधियों का प्रयोग करें। उष्णावस्था में अफीमसत्त्व (मर्फाइन) और परिवर्तित अवस्था में पूर्ण मात्रा मे कुनैन का प्रयोग करें। कुनैन का मुख से प्रयोग न हो सके, तो त्वचोऽधः क्षेपण विधि से प्रयोग करे। यदि ज्वरातिसार हो तो, आनन्द भैरव की १ गोली एक-एक घण्टे के बाद दें अथवा कर्पूरासव दें।

श्वास यन्त्र में विकार होने पर स्थानिक ब्लिष्टर (स्फोटजनक लेप) लगावें और कार्वनेट आफ एमोनियम का आन्तरिक प्रयोग करें। मस्तिष्क मे विकार होने पर रक्तमोक्षण और चन्दनादि तैल की मालिश करें तथा विरेचक, स्वेदकारक और मूत्रकारक ओषधि देवें।

रक्तातिसार में अहिफेनासव तथा कुटजारिष्ट का प्रयोग करें। अथवा कर्पूरादि वटी देवें। इससे दस्त वन्द न होने पर त्वचा द्वारा (हाइपोडर्मिक) मर्फाइन का प्रयोग करें। विरामावस्था मे कुनैन मिश्रित प्रयोग करें।

विषमज्वरिक दुःस्वास्थ्य
(Malarial Cachexia)

मलेरिया जिन स्थानों पर अधिक फैलता है, वहा पर मलेरिया ज्वर से उत्पन्न होने वाले शरीर मे विशेष विकृतचिह्नों को "मलेरियल कैक हेक्शिया" कहते हैं। जिनको मलेरिया ज्वर चिरकाल तक आता हो या स्पष्ट रूप से ज्वर का आक्रमण नहीं होता हो अथवा शरीर मलेरिया के विष से जीर्ण-शीर्ण हो गया हो, वे इस विशेष लक्षण से पीडित हो जाते हैं। अनेक चिकित्सक रोग की प्रथम-अवस्था मे ही मलेरियल जीवाणु से उत्पन्न हुई, इस दशा का अनुमान कर लेते हैं। किन्तु, अब यह निश्चित हो चुका है कि सम्पूर्ण दशा प्राय. लिशमैनबॉडी (Lishman Body) से संक्रमणवश होकर उत्पन्न होती है। जिससे सम्पूर्ण लक्षणों की कल्पना की जा सकती है, वे सम्पूर्ण रूप मे मलेरिया घटित कैक हेक्शिया ग्रसित व्यक्ति में वर्तमान रहते हैं। साधारणतया क्षुधा का न लगना, मुख का विकृत स्वाद, अजीर्ण, निरन्तर क्लान्ति से युक्त, ठीक-ठीक नींद का न आना, कटि मे संकोच के तुल्य वेदना, सामान्य परिश्रम से श्वास की कल्पना, हाथ-पैर की सब सन्धियों मे और पेशियों मे कुछ-कुछ वेदना आदि लक्षण दिखलाई देते हैं। साधारणतया कोष्ठ नियमित रहता है। रोगी देखने मे शीर्ण, मलिन और विवर्ण लगता है। नाडी, कुछ तेज गति वाली शरीर का स्वाभाविक उत्ताप अधिकतर बढी हुई, प्लीहा को दवाने से वेदना अथवा देह की अवस्थान विशेष से उसमे वेदना मालूम होती है। रोग प्रबल हो जाने पर पाण्डुरोग प्रकाशित होता है। थोड़ी मात्रा मे मूत्र निकलता है, अनियमित कोष्ठ, बढा हुआ पेट और अन्त मे मुख मंडल तथा दोनों हाथ-पैर शोथ से युक्त हो जाते हैं इसका विशेष प्रकार रक्ताल्पावस्था (एनीमिया) है जो मलेरियल कैकहेक्शिया का प्रधान लक्षण है। एनीमिया ग्रसित रोगी की त्वचा मलिन और विवर्ण होती है तथा प्लीहा अधिक बढ जाती है। अन्त मे रोग की प्रथम अवस्था में यकृत् भी सामान्यतया बढ जाता है। अधिकतर रोगी मध्य-मध्य में अनियमित क्रम से ज्वराक्रान्त होता रहता है। प्रधानतया

श्रम, धूप सेवन, ठंढ लग जाना, आहार और निद्रा का व्यतिक्रम होने पर यह ज्वर प्रकाशित होता है।

मलेरियाजन्य कैकहेक्शिया उत्पन्न होते ही सब स्थलों मे ज्वर होने के बाद या ज्वर के साथ-साथ यह उत्पन्न होता हो, ऐसा नहीं है। किन्तु, विषम मलेरिया ग्रसित स्थल में यह रूप अधिकतर देखा जाता है। रोगी को ज्वर कभी नहीं होता अथवा कभी-कभी साधारण ज्वर हो भी जाता है। अथवा बहुत काल पहले या बाल्यावस्था में रोगी को स्मरण भी नहीं रहता है कि ज्वर कभी हुआ था। इस अवस्था में विषम मलेरियल कैकहेक्शिया द्वारा रोगी आक्रान्त हो सकता है। मलेरिया देशवासी लोगों की प्लीहा विषम रूप से बढ जाती है। रोगी को देखने से ही इसकी स्वाभाविक अवस्था जानी जा सकती है। रोगी का उदर बढ जाने पर परीक्षा करने से मालूम होता है कि प्लीहा बहुत बढ गयी है। उदर प्रदेश की अपेक्षा नितम्ब प्रदेश और वक्ष प्रदेश मोटा—हाथ-पैर और मुख मण्डल शीर्ण, नेत्र मलिन, मस्तक की ऊपरी त्वचा पतली और रूक्ष होती है। चर्म शुष्क, रूक्ष, मलिन वर्ण और किसी-किसी स्थल में त्वचा में रंजकद्रव्य के संचय से कालावर्ण हो जाता है। किसी-किसी स्थान में जिह्वा और तालु में रंजक द्रव्य के संचय से काला दाग दिखाई देता है।

किसी-किसी विषम मलेरिया ग्रस्त प्रदेश मे बालक पैदा होने के बाद कभी-कभी उसकी प्लीहा बढी हुई दीख पडती है। ऐसे बालक भ्रूण अवस्था मे ही मलेरिया के विषम ज्वर से आक्रान्त हो जाते हैं। यह कहांतक सत्य है, इसका अभी निर्णय नहीं हुआ है। किन्तु, देखा जाता है कि अल्प आयु वाले बालकों की प्लीहा बढने से उदर प्रदेश बढा हुआ दिखाई देता है। किसी-किसी स्थल में शैशव-अवस्था में मलेरियल कैकहेक्शिया वर्तमान होने पर रोगी का सार्वांगिक बढना घट जाता है। ऐसे रोगी की यौवनावस्था विलम्ब से प्रकट होती है। मलेरिया जनित कैकहेक्शिया ग्रस्त स्त्रियों के गर्भवती होने पर प्रायः गर्भस्राव हो जाता है, ऐसी स्त्रियाँ प्रायः बन्ध्या हो जाती हैं। शरीर

की विभिन्न अवस्था विशेष में यह रूप होता है। रोगी मलेरिया विष से आक्रान्त होने के लिये बाध्य नहीं होता है। यदि इस अर्जित दैहिक अवस्था में कैकहेक्शिया प्रबल रूप से दिखलायी भी पड़ता है, तो भी रोगी कम्पज्वर अथवा और किसी प्रकार के ज्वर-विशेष के लक्षणों से युक्त होते नहीं देखा जाता है।

साराश यह है कि, अफीम आदि विष खाने से शरीर जैसे उसकी क्रियाओं को सहन कर लेता है; उसी भाँति बार-बार मलेरिया के जीवाणुओं से आक्रान्त होने पर उसकी ज्वरोत्पादकक्रिया अभ्यस्त हो जाती है। साधारण से मलेरियल कैकहेक्शिया रोग मे ज्वर के ये सब लक्षण दिखलायी पड़ते हैं। इससे भिन्न मलेरियाजनित कैकहेक्शिया रोग में अनेक प्रकार के लक्षण तथा पिडकाएँ देखी जाती हैं।

मलेरिया जनित न्यूरोसेस की नाडी सम्बन्धी सब रोग और पहले कहे हुये ज्वर के विकार व रक्ताल्पता (एनीमिया) के साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्रकार वाले यान्त्रिक क्रिया के विकार दिखलाई देते हैं। पूर्व वर्णित प्रत्याहिक, द्व्याहिक, त्र्याहिक प्रभृति ज्वर जिस आक्रमण से प्रकाशित होते है उसी के अनुसार इन क्रिया विकारों की भी प्रगति देखी जाती है। नाडी शूल (न्यूरैलजिया) पक्वाशय शूल (ग्रैस्ट्रालजिया) उदर रोग, वमन, शिर पीडा, हृदयकम्पन का आक्रमण, श्वास आदि का रूप सामयिक रूप मे प्रकाशित होता है। इनसे भिन्न पामारोग (एक्जिमा) आर्टिकेरिया (उदर्द) आदि चर्म रोग भी प्रकाशित होते हैं। ये रोग मलेरिया जन्य ही होते हैं।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा विषम ज्वर के समान ही की जाती है। इसमें सर्व-ज्वरहर लौह (भैषज्य रत्नावली प्रोक्त) और पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह उचित अनुपान से विशेष लाभ करता है। भोजन के बाद लोहासव २ तोला बराबर जल मिलाकर प्रतिदिन पीवे।

परिधिगत नाड़ी-प्रदाह
(Peripheral neuritis)

विवरण—विषम ज्वर से पीडित रोगी में प्रायः निम्न नाडी सम्बन्धी पीडा दिखलाई पड़ती है। जैसे—कभी-कभी रोगी खड़ा नहीं हो सकता है। कभी-कभी मन्द ज्वर के साथ विषम परिधिगत नाडी-प्रदाह के उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। उस समय रक्त-परीक्षा करने पर इसमें तृतीयक विषम ज्वर के जीवाणु पाये जाते हैं। कभी-कभी दोनों पैरों में आक्षेप होकर नाड़ी प्रदाह तथा बधिरता हो जाती है।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा कुनैन ही है क्योंकि इससे विशेष और शीघ्र लाभ होता है। अथवा ज्वरारि अभ्रक, ज्वर संहार आदि भी आर्द्रक रस के साथ पूरा लाभ करते हैं।

मलेरियल लूतापिडिका
(Herpetic Eruption)

विवरण—मलेरियायुक्त पीडा में मकड़ी लगने के तुल्य जल पिडिकायें निकल आती हैं। आसाम-देशवासी मनुष्यों के शरीर में विशेष कर ओष्ठों में ये पिडिकाएँ निकलती हैं। इनके निकलने पर ज्वर छूट जाता है। साधारण लोग कहते हैं कि ज्वर मूत्र करके चला गया है।

रक्तस्राव
(Hemorrhage)

विषमज्वर जन्य कैकहेक्शिया पीडित व्यक्तियों में अनेक प्रकार से रक्तस्राव होता है। इस अवस्था में नासिका से रक्तस्राव, रक्तयुक्त खासी, रक्त की छर्दि, रक्तातिसार, दृष्टिपीठ (रेटिना) से रक्तस्राव, अनेक आभ्यन्तरिक यन्त्रों से रक्तस्राव समय-समय पर होता है। कभी-कभी रक्त प्रमेह (हिमोग्लोबिन्युरिया) भी हो जाता है। मलेरियल कैकहेक्शिया ग्रस्त व्यक्ति को अत्यन्त साधारण कारणों से भी रक्तस्राव अधिक होने लगता है। यथा दाँतों के उखाडने या साधारण शस्त्र चिकित्सा आदि से। ऐसा रोगी कष्ट साध्य होता है।

अजीर्ण

विषमज्वर से उत्पन्न हुए कैकहेक्शिया ग्रस्त रोगी सदा अजीर्ण, अनियमित कोष्ठबद्धता और प्रात कालिक उदर रोग से पीडित रहता है। इसमे पहले पित्त मिला हुआ मल निकलता है। वाद मे झागदार, मलिन और अधिक परिमाण मे दस्त होते हैं। ये कैकहेक्शिया ग्रस्त व्यक्ति समय-समय पर मृदुक्रम से युक्त या सांघातिक न्यूमोनिया से आक्रान्त होने के वशवर्ती हो जाते हैं।

मलेरियाजनित कैकहेक्शिया रोग के स्थायित्व के अनुसार इसे दो श्रेणी मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकार—अर्थात् स्वल्पकालस्थायी कैकहेक्शिया मे रक्ताल्पतावस्था (एनीमिया) प्रधान लक्षण के रूप में प्रकाशित होता है, साथ-साथ पोर्टल (यकृत् सम्बन्धी) विधान मे रक्त सग्रह उपस्थित हो जाता है। इस स्थल में रोगी मलेरियावाले प्रदेश को छोड दे और नियमित रूप से उपयुक्त चिकित्सा कराने से रोगी आरोग्य हो जाता है। दूसरे प्रकार मे—अर्थात् चिरकाल का कैकहेक्शिया रोग होने से प्रवल एनीमिया (रक्ताल्पता) के साथ-साथ यकृत्, प्लीहा, मूत्रग्रन्थी आदि उदर के सब यन्त्रों मे दीर्घकाल-स्थायी रक्त के वेग के वश से इनमे वैधानिक पीडा उत्पन्न हो जाती है। यन्त्रों मे वैधानिक परिवर्तन होने से रोगी को मलेरिया प्रदेश से हटा देने पर भी कभी-कभी एनीमिया (रक्ताल्पता) शान्त नहीं होती और रोगी चिरकाल तक रोग को भोग कर अन्त में मृत्यु के मुख में गिर जाता है।

निदान वा नैदानिक देहतत्त्व

प्रकृतपक्ष मे मलेरिया से उत्पन्न हुए कैकहेक्शिया का निदान मुख्य रूप से तरुण मलेरिया ज्वर के तुल्य है। मलेरिया के जीवाणुओं की साक्षात क्रिया और इन जीवाणुओं के विष से उत्पन्न हुई क्रिया से रक्तध्वंस अथवा रक्त विकृति हो जाती है। इससे ओलीगोसाइथीमिया (Oligocythoemia) और शारीरिक तन्तुओं के मध्य मे हिमेजोइन (Hoeme-

zoin) और हिमो-साइडरिन (Hoemocideum) या पीले रंगवाले द्रव्य संचित हो जाते हैं। इस प्रतिक्रियासे अथवा इस प्रतिक्रिया की स्थिति के अनुसार यकृत, प्लीहा, वृक तथा कभी-कभी अस्थि-मज्जा में और अंतड़ियों में यान्त्रिक परिवर्तन हो जाता है।

ज्वर के बार-बार आक्रमण होने से बार-बार प्लीहा में रक्त के वेग से ज्वर के न होने पर भी रक्त के अपकर्ष और विकृति में प्लीहा इतनी बढ जाती है कि सम्पूर्ण उदर में फैल जाती है। उसका वजन कई सेर तक हो जाता है। शवच्छेद करके देखा गया है कि प्लीहा की स्थली या आवरण (कैप्स्यूल) विशेष करके उसके उन्नत प्रदेश के आवरण मोटे हो जाते हैं और उसमे स्थान-स्थान पर सौत्रिक-तन्तु (फाइब्रसटिश्यू) उत्पन्न हो जाते है। जिन परिवेष्टककला तन्तुओं के द्वारा प्लीहा का संगठन होता है वे बढ जाते हैं। इस भाँति बढी हुई प्लीहा छुरी से काटने पर बहुत कठिन मालूम होती है और साधारण लाल पन लिये पीले रंग की दिखलाई पडती है। यदि ज्वरावस्था में अथवा ज्वरावस्था के कुछ काल के बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है तो ऐसी अवस्था में प्लीहा के काटने पर लाल मण्डल (हिमोजोइन) के सञ्चय से कटा हुआ प्रदेश कृष्ण वर्ण का दिखाई देता है और प्लीहा कोमल मालूम होती है। बढी हुई प्लीहावाले मनुष्यों के उदर में आघात लग जाने पर अधिकतर प्लीहा के फटने की सम्भावना रहती है। मलेरिया प्रधान देश वाले गरीब मनुष्य पेट भर में बढ़ी हुई तिल्ली के होते हुए भी रोटी के लिये काम करते रहते हैं। किन्तु इनको सावधान होकर रहना चाहिये। जिसमे कठिन परिश्रम हो वह काम न करें। कारण, अति शारीरिक परिश्रम से प्लीहा फट जाती है। इसके सिवाय सहसा ज्वर के बढ जाने पर बढी हुई प्लीहा के फटने से शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी प्लीहा के फटने पर अधिक रक्तस्राव न होकर केवल स्थानिक रक्त स्राव होता है और कभी प्लीहा के स्थान पर फोडा पैदा हो जाता है।

यकृत् वृद्धि

मलेरियल कैक्हेक्शिया की अवस्था मे प्लीहा के तुल्य यकृत् भी वढ जाता है। किन्तु यकृत् की वृद्धि आक्रमणों के अनुसार होती है। रोग पुराना होने पर यकृत् मे शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसके वाद यकृत् वृद्धियुक्त (हाइपर ट्रॉफिक) हो जाता है। अथवा ह्रास (एट्रोफी) वा यकृत् सौत्रिक वृद्धि (Cirrhosis) द्वारा आक्रान्त हो जाता है। इस समय मे यकृत् की सांघातिक पीडा, पोर्टल (याकृतीय) अवरोध, जलोदर (एसाइटिस्) आदि उत्पन्न हो जाते हैं और यकृत् में एक प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाता है जिसे सिडेरोसिस् (Siderosis) कहते हैं।

मलेरियाजन्य यकृत् में रक्त सग्रह व मलेरियल यकृत् प्रदाह (हिपेटाइटिस्) पैदा होने पर जो लक्षण और भावी फल प्रकट होते हैं, उनके प्रति विशेप ध्यान देना चाहिये। यथा—यकृत् की इस दशा में यकृत् मे पूय की उत्पत्ति नहीं होती है। यकृत् के साथ-साथ प्लीहा भी वढ जाती है। इन अवस्थाओं के प्रति लक्ष्य करने से यकृत्-फोडा से मलेरिया जन्य यकृत प्रदाह रोग का निर्णय किया जाता है।

इसके सिवाय मलेरिया से नवीन, थोड़े समय से वढे हुए यकृत की चिकित्सा करने से लाभ होता है। किन्तु, चिरकाल से मलेरियाजन्य यकृत् की जो वृद्धि होती है, वह अच्छी नहीं होती। इसका कारण यह है कि यकृत् के संयोजक तन्तु (कञ्जेक्टिव् टिश्यू) वढ जाते हैं। अथवा यकृत् दालीय (सिरोटिक्) अवस्था को प्राप्त हो जाता है। मलेरिया से यकृत् जिस अवस्था को प्राप्त होता है, वृक्क भी उन्हीं कारणों से उसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इससे वृक्कामय (Brights Disease) उत्पन्न हो जाता है।

दीर्घकाल से रक्ताल्पता (एनीमिया) और वार-वार ज्वर के आक्रमण से शरीर के पोपण का अभाव हो जाता है। पुराने मलेरिया वाले रोगी के

हृदय का पैशिक विधान क्षीण होने लगता है और उसका क्षेपक कोष्ठ (Ventricles) फैल जाता है। अथवा, दोनों पैरों मे ठीक समय पर सूजन पैदा हो जाती है। इसके सिवाय पेचिश (प्रवाहिका), उदरव्याधि और साधारण शीत लगने पर क्षीणकारक श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) हो जाता है। इस तरह का न्यूमोनिया फेफडे के फोडे के रूप मे परिणत हो जाता है। अथवा वायुवक्ष (एम्फीसीमा) रोग का सहवर्त्ती होने के लिये बाध्य हो जाता है। फैला हुआ सड़ने वाला कैंजडिना (Chagedoena) वा नोमा (Noma) जैसे—अन्यान्य सडनेवाले घाव साघातिक ज्वर उत्पन्न करके मलेरिया जनित कैकहेकशिया ग्रस्त रोगी की मृत्यु कर देता है।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा के लिये कुनैन सबसे अच्छी दवा है। आयुर्वेदीय "ज्वर सहार रस" भी अत्यन्त लाभकारी है।

विधि—फिटकिरी एक पाव लेकर सकोरा में ऊपर नीचे रखें। मध्य मे शुद्ध सखिया की एक तोले की डली रख करके कपड़ मिट्टी कर पुट में फूँक द।

मात्रा—२ रत्ती, तुलसी की पत्ती मे रखकर खिलावे। इससे लाभ होता है। अथवा लोह भस्म और कुचिला का यौगिक या आयोडीन युक्त औपध द्रव्य या युकलिप्टस से भी लाभ दिखाई देता है।

पथ्य—लघु-पुष्टिकारक आहार, मृदु व्यायाम, शुद्ध वायु का सेवन तथा मलेरिया युक्त स्थान का त्याग अत्यावश्यक है।

स्वल्प विराम युक्त पैत्तिक ज्वर

(Remittent Fever)

परिचय—यह ज्वर विपमज्वर के जीवाणु से उत्पन्न होता है। किन्तु इसमे विराम वा ज्वर की तीक्ष्णता का विशेष नियम दिखलाई नहीं पडता। विराम बहुत कम होता है। ज्वर की वृद्धि बार-बार दिखलाई पडती है। यकृत में यांत्रिक विकार दिखलाई पडता है तथा

त्वचा पीली पड़ जाती है। पूर्व में लिखे हुये विषम ज्वर के समान इसमें ज्वर विल्कुल नहीं उतरता। हाँ, ज्वर कुछ कम अवश्य हो जाता है। भारतवर्ष आदि उष्ण प्रदेश मे यह अधिक होता है। इसमे प्लीहा और यकृत् मे विलक्षण रोग पैदा हो जाता है। शवच्छेद करने पर कुछ कृष्णवर्ण व ताम्रवर्ण तथा मृदुतायुक्त यकृत् देखा जाता है। यकृत के कोष वा द्वार मे, यकृत् की शिरा और कैशिक जाल वाले विधान मे रञ्जक द्रव्य (Pigment) का सञ्चय यकृत् मे इन वर्णों की प्राप्ति का कारण है। इसमें प्लीहा वढी हुई तथा वेदनायुक्त होती है।

लक्षण

इसके पूर्ववर्ती लक्षण पहले ज्वर के तुल्य ही हैं। प्रथम पाचन संस्थान सम्वन्धी अनेक लक्षण प्रकाशित होने के वाद ज्वरारम्भ होता है। वाद को ज्वरावस्था में उष्णता की अधिकता, अनिद्रा, प्रलाप आदि लक्षण होते हैं। आक्रमणकारी ज्वर के तुल्य इस पैत्तिक ज्वर की भी तीन अवस्था होती है। (१) शीतावस्था, (२) उष्णावस्था (३) स्वल्पविरामावस्था।

(१) शीतावस्था आक्रमण ज्वर के तुल्यही है। रोगी को क्षण-क्षण में स्पष्ट रूप से शीत लगता है।

(२) उष्णावस्था के आरंभ मे हरित-पीत वर्ण वाला वमन होता है। जिह्वा सफेद मल से लिप्त तथा नाडी की गति द्रुतगामिनी होती है। शुष्क-उष्ण शरीर, रक्त वर्ण युक्त मुख, शिरोवेदना, कटि पीडा और हाथ-पैरों मे वेदना होती है। गर्मी अधिक वढ जाती है, फिर रोगी विह्वल हो जाता है। ४६—४८ घंटे तक ये ही लक्षण रहते हैं। धीरे-धीरे सव लक्षण कम हो जाते हैं। कुछ स्वेद भी निकलता है, उसके वाद रोगी कुछ स्वस्थ हो जाता है। ज्वर का सम्पूर्ण विच्छेद नहीं देखा जाता है। इस अवस्था को स्वल्प विरामावस्था कहते हैं।

अति प्रवल ज्वर स्वल्प विरामावस्था में इतना स्पष्ट होता है कि उसका निरूपण नहीं किया जा सकता है। २ से ८ घंटे तक यह

अवस्था रहकर ज्वर फिर प्रकटहो जाता है। ज्वर प्रकाशित होने के पहले प्रायः शीतावस्था नहीं देखी जाती। ज्वर के पूर्वोक्त सब लक्षण इस समय मे अत्यन्त प्रबलता से बार बार प्रकाशित होते हैं। फिर स्वल्प विरामावस्था आ जाती है। अधिकांश स्थल मे रोगी कुछ बकने लगता है। किसी किसी स्थल मे बहुत बकने लगता है। बाद को बेहोश होकर मृत्यु ग्रास मे गिर जाता है। पक्वाशय मे अत्यन्त उग्रता होने पर अधिक हिचकी आने लगती है। साधारण कोष्ठबद्ध हो जाता है अथवा कभी २ पतले दस्त आने लगते हैं।

दो तीन बार ज्वर के अधिक होने पर त्वचा कुछ पीली हो जाती है। नाडी १२० की अपेक्षा द्रुत, क्षुद्र तथा अङ्गुली से दबाने पर नमनीय (कम्प्रेसिब्ल) हो जाती है। जिह्वा मलिन और शुष्क, दाँत मलिन, श्वास-प्रश्वास द्रुतगामी, उदर स्फीत और कोष्ठ तरल हो जाता है। किसी-किसी के नासिका, मुख और अन्त्र से रक्त निकलने लगता है। बाद को प्रलाप प्रकाशित होकर अचैतन्य मे परिणत हो जाता है।

यह ज्वर प्रायः एक सप्ताह से एक पक्ष तक ठहरता है। इससे कभी-कभी पाण्डुरोग हो जाता है। यकृत् और प्लीहा को दबाने पर वेदना मालूम होती है। प्राय. ज्वर प्रात' काल में शांत रहता है। परन्तु, अन्य काल मे तेज हो जाता है।

स्वल्प विरामज्वर मे किसी प्रकार की पिडकाएँ नहीं निकलती हैं। कभी-कभी ओठों के ऊपर विस्फोट (हेर्पिज़) निकल आते हैं।

प्रभेद

(१) सूक्ष्म विरामयुक्त ज्वर (Mild remittent Fever)

(२) आमाशयिक विराम ज्वर (Gastric remittent Fever)

(३) पैत्तिक संतत ज्वर (Bilius remittent Fever)

(४) गंभीर सतत ज्वर (Grave remittent Fever)

सूक्ष्म विराम युक्त ज्वर (माइल्ड रेमीटेन्ट फीवर)—इसमे दो रोज पहले से ही आलस्य, उत्क्लेश, आमाशय पर दबाव तथा वेदना मालूम

होने लगती है। किन्तु, अनेक स्थल पर पूर्व लक्षण प्रकाशित नहीं होते। स्पष्ट कम्प होकर ज्वर चढ़ जाता है। कभी २ कुछ शीत लगकर ज्वर चढ़ जाता है और कभी २ बिना कम्प और शीत के ही ज्वर चढ़ आता है। शरीर की गर्मी १०२-१०५ डिग्री तक हो जाती है। हाथ-पैरों तथा पृष्ठ वंश मे पीड़ा होने लगती है। आमाशय भरा हुआ और उसमे दबाव मालूम होता है। वमनेच्छा, निष्फल वमन चेष्टा तथा कभी २ वमन भी हो जाता है। ६—८ घंटे बाद शरीर का उत्ताप दो-तीन तापांश घट जाता है। किन्तु, एक समय मे ज्वर विच्छेद नहीं होता है। त्वचा आर्द्र हो जाती है। किसी-कसी स्थल में अधिक स्वेद निकलने पर सब लक्षण शान्त हो जाते हैं। रोग सामान्य होने पर ऐसे ज्वर का आधिक्य व स्वल्पविराम अवस्था तीन-चार दिन तक स्थायी रहती है। प्रबल पीडा मे सात वा दश दिन और प्रबलतर रोग में दो सप्ताह से तीन सप्ताह अथवा इससे अधिक काल ज्वर का वेग वा स्वल्प विराम-अवस्था रहती है।

ज्वर का आक्रमण दिन के भिन्न-भिन्न समय में हो सकता है। अगर ज्वर द्वि-त्र्याहिक (डबलटार्शियान्) ज्वर के स्वभाव से युक्त हो तो आक्रमण एक दिन का अन्तर देकर एक समय मे एक रूप वाला प्रबलता से युक्त आता है। किसी-किसी स्थल में चौबीस घण्टा के मध्य मे दो बार—मध्याह्न और मध्यरात्रि में एक बार ज्वर का आक्रमण होता है। प्रात:काल और सायंकाल में विरामावस्था दिखलाई पडती है। ज्वर कम्प के साथ तथा बिना कम्प के भी आरम्भ होता है। कभी-कभी परवर्त्ती ज्वर का आक्रमण कम्प देकर होता देखा जाता है। ज्वर वृद्धि की अवस्था मे प्रचुर स्वेद निकलने पर भी ज्वरका त्याग नहीं होता है। स्वल्प विराम ज्वर की प्रकृति घर्मावस्था नहीं होती है। इस ज्वर के घर्मावस्था में मस्तक तथा बगल में कुछ-कुछ स्वेद निकलता है। देह की त्वचा शुष्कावस्था में लीन हो जाती है। प्रकृत रोग के उपशम होने के समय में अधिक स्वेद निकल सकता है। किन्तु, सब स्थलों में ऐसी अवस्था नहीं देखी जाती। स्वल्प विरामावस्था साधारणतया दो से बारह घण्टे तक रहती

है। अगर रोग प्रबल अथवा चिरकाल तक स्थायी होता है तो स्वल्प विरामावस्था अत्यन्त अल्प काल तक स्थायी रहती है। मृदु रेमिटेन्ट ज्वर मे विरामावस्था एक समयमे दिखलाई नहीं पड़ती। किन्तु, भिन्न-भिन्न समय मे शरीर के उत्ताप की यथेष्ट विभिन्नता देखी जाती है। उत्ताप प्राय. १०५ डिग्री फार्नहीट से अधिक नहीं होता। जिह्वा बढ़ी हुई, कोमल और शिथिल होती है। इसका मध्य स्थल पीला तथा यह पूर्ण मलावृत रहती है। स्वल्प विरामावस्था मे विशेष कर जिह्वा गीली रहती है। पक्वाशय के खात प्रदेश मे दबाने से वेदना मालूम होती है। ये लक्षण सदा वर्तमान रहते हैं। ये अत्यन्त कष्टदायक और चिरकाल तक रहते हैं। अधिकांश स्थलों मे रोग का जितना भाग होता है; उतना ही तरल मल पीला-पीला होकर निकलता है। अगर ज्वर एक सप्ताह मे शान्त हो जाता है तो प्लीहा नहीं बढती है। किन्तु; ज्वर के इससे अधिक काल तक रहने पर प्लीहा बढ जाती है। कभी-कभी ज्वर के आरम्भ में प्रलाप होने लगता है। किन्तु; विरामावस्था में वह शान्त हो जाता है, फिर प्रकाशित नहीं होता। अथवा परवर्त्ती ज्वर के आक्रमण की अवस्था में रोगी में सामान्यतया मानसिक विभ्रम देखा जाता है। प्राय पाण्डु रोग प्रकाशित नहीं होता। सब लक्षण धीरे-धीरे शान्त हो जाते हैं। स्वेद अधिक निकलता है और विराम ज्वर मे परिणत होकर रोगी अच्छा हो जाता है।

आमाशयिक सविराम ज्वर

(Gastric Remittent Fever)

इस प्रकार का स्वल्प विराम ज्वर प्राय' ग्रीष्मकाल मे देखा जाता है। शीत प्रधान देश वाले व्यक्ति जब ग्रीष्म प्रधान देश में (मलेरियल स्थान मे) जाते हैं तो पहले इस ज्वर से आक्रान्त होते हैं। प्रारम्भ मे अत्यन्त कम्प उपस्थित होकर ज्वर प्रबल हो जाता है। त्वचा शुष्क और दाहयुक्त हो जाती है। नाडी कठिन और शीघ्र गतिवाली हो जाती है। शिर, पृष्ठवंश और हाथ-पैरों मे अत्यन्त वेदना होने लगती है।

मुखमण्डल तथा नेत्र लाल वर्ण के हो जाते है। जिह्वा शिथिल, वढी हुई, गम्भीर पीत वर्ण वाली और श्वेत मल से आवृत हो जाती है। आमाशय प्रदेश में उत्क्लेश और भारीपन मालूम होता है। रोगी कभी-कभी दुर्गन्ध युक्त वमन, पैत्तिक वमन, विवन्धता और उदर व्याधि से पीड़ित हो जाता है। मूत्र गाडा और पीत पदार्थ से रहित होता है। ज्वर प्रात:काल मृदु रहता है। परन्तु अपराह्न व रात्रि मे फिर वढ जाता है। इस ज्वर की अवधि ३ से ७ दिन तक होती है। ज्वर मुक्त होने पर रोगी दुर्वल हो जाता है और भविष्य मे सविराम ज्वर या अल्प-विराम ज्वर से आक्रान्त ही रहता है।

पैत्तिक सन्तत ज्वर

(Bilious Remittent Fever)

यह दो प्रकार का होता है। तरुण और अप्रवल। पैत्तिक सन्तत ज्वर (विलियस रेमीटेन्ट फीवर) का आक्रमण अधिकतर प्राथमिक ज्वर के समान ही होता है। यह चार से दस दिन तक स्थायी रहता है। शरत्काल मे जिस समय मलेरिया की प्रवलता होती है, उस समय यही ज्वर प्रकाशित होता है। इसका प्रकोप अन्य ऋतुओं मे भी देखा जाता है। ज्वरारम्भे के दो-तीन दिन पूर्व से ही मस्तक मे भार वोध, सव अङ्गों मे ग्लानि और क्लान्ति मालूम होती है। पक्काशय प्रदेश मे खिंचाव व पीडा होने लगती है। पैत्तिक वमन, रोग प्रवल होने पर वान्तपदार्थ गहरा हरा वर्ण वाला निकलता है। यह प्राय:कृष्ण वर्ण वाला भी होता है। इस रोग का यही प्रधान लक्षण है। इसमे पैत्तिक विरेचन के साथ-साथ शीघ्र ही पाण्डुरोग भी हो जाता है। मूत्र पीत वर्ण-द्रव्य-संयुक्त और थोड़ी मात्रा में निकलता है। ज्वर साधारण से द्वि-त्र्याहिक (डवल टार्शियन्) का आकार धारण कर लेता है। विरामावस्था किसी स्थल में अल्पकाल और किसी स्थल में दीर्घ काल तक स्थायी रहती है। ये सव लक्षण तीन-चार दिवस तक स्थायी होने के वाद रोग के अन्त तक दुर्वलता वनी रहती है। किसी-किसी स्थान

में ज्वर यथेष्ट ह्रास होने के बाद अथवा एक काल मे ज्वर मग्न होने के बाद यह फिर प्रकाशित होता है। पैत्तिक वमन भी उपस्थित हो जाता है। इसी तरह ज्वर दूसरी बार भी पहले के समान तीन-चार दिन तक स्थायी रहता है। इसी रूप में ज्वर के चिर काल तक स्थायी होने से नासिका या दूसरे स्थान से रक्तस्राव होने लगता है। कभी-कभी शेषावस्था में शोथ प्रकाशित हो जाता है। यकृत् को दबाने से वेदना मालूम होती है, किन्तु यह साफ-साफ बढा हुआ मालूम नहीं होता। दीर्घकाल तक यह रोग रहने से प्लीहा बढ जाती है।

अप्रबल (सब एक्यूट)—पैत्तिक स्वल्प विराम ज्वर अपेक्षाकृत चिर काल तक स्थायी रहता है। साधारणत स्वल्प विराम ज्वर के आवेग के समान दो-एक बार ज्वर का आवेग होकर रोग आरम्भ होता है। विरामावस्था स्पष्ट वर्तमान रहती है। तीसरे दिन से छठे दिन के मध्य में पैत्तिक वमन और पाण्डुरोग प्रकाशित होता है। प्लीहा क्रमश॰ बढ जाती है। ज्वर धीरे-धीरे शान्त हो जाता है अथवा सम्पूर्ण वेग के पहले यह सविरामज्वर का रूप धारण करता है। पैत्तिक सन्ततज्वर (विलियस् रेमीटेन्ट) के परिणामस्वरूप कभी-कभी मानसिक जडता तथा सम्पूर्ण मोह हो जाता है। रोग साघातिक होने पर अचैतन्य (कोमा) उपस्थित हो जाता है। अथवा रोगी टाइफाईड (आन्त्रिक ज्वर) की अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

पैत्तिक सन्तत ज्वर का प्रधान लक्षण यह है कि पित्त अधिक निकलता है। वमन, मल और मूत्र मे पित्त वर्तमान होने से पाण्डु रोग प्रतीत होता है। इस ज्वर मे रक्त के लाल कण शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। अन्त मे पित्त की अधिकता होने पर पाण्डु रोग हो जाता है। उस समय मूत्र द्वारा पित्त अधिक निकलने लगता है। पैत्तिक सन्तत ज्वर मे रक्त के लाल कण बहुत कम हो जाते हैं। इसी तरह ज्वर के प्रति वेग मे रक्त कणों की संख्या घटती रहती है। इससे रक्ताल्पता (एनीमिया) उपस्थित हो जाती है। ज्वर के चिरकाल तक रहने से शोथ पैदा हो जाता है।

गम्भीर सन्तत ज्वर

(Grave Remittent Fever)

पूर्व वर्णित सामान्य स्वल्पविराम ज्वर कभी-कभी साक्षात् सम्बन्ध से साघातिक हो जाता है। किन्तु इस ज्वर से शरीर मे वह सम्पूर्ण क्रिया उत्पन्न हो जाती है या वढ़ जाती है; जिससे क्रॉनिक मलेरिया के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। इस ज्वर के आक्रमण मे ऐसे अनेक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जिससे जीवन मे सन्देह हो जाता है। इन लक्षणों को चार श्रेणी मे विभक्त कर सकते हैं। (१) मस्तिष्क सम्बन्धी सव लक्षण, (२) मन्थर ज्वरीय (टाइफाइड फीवर,) (३) अत्यन्त दुर्वलता और शीताङ्गता के सव लक्षण और (४) रक्तमिश्रित मूत्र (हिमोग्लोविन्यूरिया)। इनमे एकाधिक श्रेणी के सव लक्षण एक स्थान मे वर्तमान हो सकते है।

मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षणों से युक्त गम्भीर सन्तत ज्वर (ग्रेव रेमीटेन्ट फीवर) में अनेक स्थानों पर प्रलाप, द्रुताक्षेप और अचैतन्य आदि लक्षण अकस्मात् उपस्थित हो जाने से रोग सांघातिक हो जाता है। यह अवस्था रोगाक्रमण के पाचवें दिन से उपस्थित हो जाती है। प्रलाप के लक्षण होने पर शरीर की गर्मी कम हो जाती है। यदि इस रोग में पहले से ही अचेतनता उपस्थित हो जाये तो भयङ्कर परिणाम होता है। ज्वर के अन्त में प्रलाप होवे तो लक्षण मृदु होते हैं। टाइफाइड में भी प्राय. ऐसी ही अवस्था प्रकट होती है।

आन्त्रिक संततज्वर

सव प्रकार के स्वल्प विराम ज्वर के भोग काल मे आन्त्रिक ज्वर के लक्षण प्रकट होते हैं। किन्तु अधिकांश स्थल में आमाशयिक और पैत्तिक संतत ज्वर मे ३—९ दिन के मध्य ये सव लक्षण प्रकट हो जाते हैं। मलेरियल प्रदेश में स्वल्पविरामज्वर की प्रथम अवस्था में आन्त्रिक ज्वर के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। नाडी क्षीण तथा शीघ्रगामी होती है। इसमे अति दुर्वलता, अचैतन्य, मृदु प्रलाप, जिह्वा शुष्क व कृष्णवर्ण की, दन्त और दन्तवेष्ट मलिन, त्वचा पीली और पाण्डु वर्ण

वाली हो जाती है, प्लीहा वढ़ जाती है। मूत्र रक्त वर्ण का निकलता, पाखाना पतला और पित्त मिला हुआ होता है। रोग की वृद्धि होने पर पैत्तिक वमन होता है। रोगी की अन्तिम अवस्था मे दोनों पैरों मे सूजन हो जाती है। इन सव लक्षणों के होने पर ज्वर का विलक्षण न्यूनाधिक्य देखा जाता है। शारीरिक ताप स्वाभाविक अवस्था मे रहता है। दो-एक दिन वाद ज्वर की सामान्यदशा अथवा विशेपदशा हो जाती है। किन्तु, रोगी की अवस्था मे किसी प्रकार की उन्नति नहीं देखी जाती।

वाद को १०४-१०५ डिग्री ज्वर हो जाता है। यह टाइफाइड ज्वर की अवस्था रोगी के मृत्यु काल तक अथवा जवतक रोगी अच्छा नहीं होता वर्तमान रहती है। कई दिन वाद दौर्वल्य और शीतल (एडिनेमिक और एल् जिड्) अवस्था प्रकाश होने पर सव विपम लक्षण पैदा हो जाते हैं। सांघातिक शीतल अवस्था से संयुक्त ज्वर के वेग से भिन्न इस प्रकार की शीतल अवस्था अन्यत्र कहीं भी स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ती। इस अवस्था के प्राप्त होने पर टाइफाइड ज्वर की अवस्था के स्वाभाविक सव लक्षणों के साथ-साथ हाथ पैरों मे शीतलता मालूम होती है। प्राय कक्षा का उत्ताप स्वस्थावस्था के उत्ताप की अपेक्षा २-३ तापांश अधिक हो जाता है। रोगी का स्वर इतना क्षीण हो जाता है कि शव्द सुनाई नही पडता है। मुखमण्डल का भाव निराश और उदासीनता व्यंजक होता है। इस विपम-अवस्था मे कभी-कभी क्रमश' लक्षण शान्त होकर रोगी अच्छा भी हो जाता है। कभी-कभी टाइफाइड अथवा दौर्वल्य के लक्षण क्रमश. वढकर सांघातिक सिन्कोप अथवा अत्यन्त दौर्वल्य शेष रह जाता है और शीतलता तथा दुर्वलता के लक्षणों से युक्त समस्त स्वल्प विराम ज्वर के भोग काल मे दैहिक शीतलता, उपस्थित होकर पूर्व वर्णित सांघातिक शीतलता से संयुक्त ज्वरावेग (पेर्निशस एलजिड्-पॉरक्सिजस) के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट होते है। एक और प्रकार का दीर्घ-काल स्थायी दौर्वल्य युक्त ज्वर उत्पन्न होता है। यह ज्वर एक-दो मास से भी अधिक काल तक स्थायी रहता है। जो विषम ज्वरी दुःस्वास्थ्य

(मलेरिया कैकेक्शिया) से आक्रान्त हो जाते हैं, अथवा जिनका शरीर बार-बार मलेरिया ज्वर के कारण दुर्बल हो जाता है, इन्हे इस प्रकार की पीडा होती है। ऐसी अवस्था मे ज्वर अनियमित रूप धारण कर लेता है, इसमें कई दिनों तक ज्वर की अधिकता और पश्चात् शरीर का उत्ताप स्वाभाविक या स्वाभाविक की अपेक्षा कम हो जाता है। इसके बाद अतिशय कम्प होकर शरीर का उत्ताप १०४-१०५ डिग्री तक हो जाता है। पैशिक क्षीणता, हृदय दौर्बल्य, अत्यन्त मानसिक निस्तेजस्कता और विषम रक्तहीनता ये इस रोग के प्रधान लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमे नासिका और अन्य अंगों से भी रक्तस्राव होता है जिसका पहले ही वर्णन किया जा चुका है। दन्तवेष्टक (मसूडा) मुख के अन्दर या जनेन्द्रिय मे व्रण हो जाते हैं। अधिकतर पैत्तिक उदर रोग हो जाता है।

रक्त-पैत्तिक संतत ज्वर

(Bilious Hemoglobin Neuric Fever)

इस देश मे इस प्रकार का मलेरियल ज्वर अधिकतर नहीं देखा जाता है। मलेरियासे उत्पन्न हुए ज्वर के साथ-साथ ऐसी कई अनिर्दिष्ट अवस्थाएँ वर्तमान रहती हैं, जिनसे सब लोहित रक्तकण नष्ट हो जाते हैं। अधिकतर मूत्रावरोध होकर अचैतन्य और द्रुताक्षेप (सिन्कोप), कोमा (अचेतनता) से रोगी की मृत्यु हो जाती है। टाइफाइड के लक्षणों से युक्त सतत ज्वर (रेमिटेण्ट) का यही भेद है कि, स्वल्प विराम ज्वर से पीड़ित व्यक्ति का मुखमण्डल ज्वरावस्था में झलकने लगता है और लाल हो जाता है, आँखें रक्तवर्ण की हो जाती हैं। किन्तु आन्त्रिक ज्वर (टाइफड) की लालिमा की अपेक्षा आँखें बहुत कम लाल रहती हैं।

स्वल्प विराम ज्वर में, शरीर शीघ्र विवर्ण हो जाता है। जिह्वा—शुष्क-गुलाबी वर्ण से युक्त और फटी हुई तथा जिह्वा बाहर निकालने में कष्ट होता है। किन्तु इसमे टाइफड ज्वर की तरह जिह्वा काँपती नहीं है। स्वल्प विराम ज्वर में साधारणतया कोष्ठ-काठिन्य रहता है और विरेचन से अन्त्र संचालित करने पर पित्त मिला

हुआ दस्त आता है। यह मल आन्त्रिक ज्वर के मल से बिलकुल भिन्न प्रकार का होता है। इस ज्वर की सब अवस्थाओं में प्रलाप उपस्थित हो सकता है किन्तु आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड) वा पित्त ज्वर के प्रलाप के समान इसमे विवेक शक्ति का ह्रास अधिक नहीं होता। स्वल्प विराम ज्वर सांघातिक होने पर प्रायः द्वितीय सप्ताह के अन्त में अथवा तृतीय या चतुर्थ सप्ताह मे रोगी की मृत्यु हो जाती है। सांघातिक सविराम ज्वर के तुल्य ही यदि स्वल्प विरामज्वर भी सांघातिक हो जाता है तो इसको साघातिक सन्तत ज्वर (पेर्निशस रेमिटेन्ट फीवर) कहते हैं। इस रोग मे लक्षण आदि का पूर्ण विराम न होकर स्वल्प विराम होता है। रोग की अनिवार्य गति होने पर चौबीस घण्टा से तीन-चार दिन मे साघातिक हो जाता है। इसके लक्षण और प्रकार-भेद आदि सविरामज्वर के तुल्य होते हैं। अन्तर केवल यही है; कि विराम के बदले स्वल्प विराम होता है।

चिकित्सा

पहले रोगी को दूषित स्थान से अलग करें। अथवा रोगी को शुद्ध वायु वाले स्वच्छ गृह में रखें। इस की शीतावस्था इतनी अल्प होती है कि उसकी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। इस ज्वर की ऊष्णावस्था में वमन कारक औषध का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यदि अपने से वमन न हो और पकाशय प्रदेश पूर्ण मालूम हो तथा वमन की इच्छा हो तो एक-दो वार कुछ गरम जल पिला कर वमन करा दें। विवन्ध होने पर विरेचन औषध देकर आँत का संशोधन करें। इसके लिये कैलोमेल, कैलोसिन्थ (इन्द्रवारुणी),स्कैमोनि, मैगनेसिया, एरन्डतेल आदि का व्यवहार करें। उष्णावस्था मृदु होने के लिये वर्फ का जल, लेमनेड, सोडावाटर और शीतल जल से भिन्न अन्य कोई औषधि प्राय उपयोग मे नहीं लायी जाती है। किन्तु सिरपीडा अत्यन्त अधिक होने पर और शरीर का उत्ताप अधिक होने पर तथा कटि देश मे अत्यन्त वेदना होने पर और अत्यन्त वेचैनी होने पर रोगी की यन्त्रणा

को हटाने के लिये चिकित्सा करनी चाहिये। सिर के बाल बनवा कर बरफ आदि का शीतल प्रयोग करे। यदि प्रलाप और हाथ-पैरों मे कम्प हो तो मस्तक के ऊपर और ग्रीवा के पश्चात् भाग मे ब्लिस्टर का प्रयोग करें, त्वचा की गर्मी को कम करने के लिये शीतल जल से स्नान करावे। कुछ गरम जल से शरीर को पोंछ दे अथवा शीतल जल मे वस्त्र भिगो कर सब अङ्गों पर लपेट दें। आधुनिक चिकित्सक एन्टीपाइरिन, केइरिन, एकोनाइट, सेलिसिन आदि ज्वर नाशक ओषधियों का प्रयोग करते हैं। किन्तु अनेक परीक्षाओं से यह सिद्ध हुआ है, कि उपरोक्त ज्वरनाशक ओषधियों के प्रयोग से ज्वर को शान्त करने की चेष्टा करना अयुक्त है क्योंकि इससे ज्वर की गर्मी कुछ काल के लिये तो कम हो जाती है, बाद को फिर बढ जाती है और रोगी क्षीण भी हो जाता है। वमन की अधिकता होने पर बरफ चूसने के लिये दे। आमाशय प्रदेश पर सर्षप का प्रलेप लगावे। क्लोरोफार्म उचित मात्रा में सुंघावे। अथवा जल के साथ आमलकी के प्रयोगसे भी लाभ होता है। इसके अतिरिक्त प्रति घण्टा पर एक बिन्दु की मात्रा मे 'वाइनम् इपेकाकुयानी' विस्मथ, हाइड्रोसिएनिक एसिड प्रभृति का व्यवहार करे।

यकृत् प्लीहावृद्धि का प्रतिकार

यकृत् और प्लीहा के ऊपर दबाने से वेदना और यन्त्रणा मालूम होती हो, तो उसके ऊपर स्वेद और प्रत्युग्रतासाधक ओषध का प्रयोग करे। यथा सर्षप का प्लास्टर लगावें। अथवा क्लोरोफार्म रूई की पिचू में सिक्त करके रखकर ऊपर से बाँध द। अन्त मे तारपीन का तेल लगावें।

ज्वर चिकित्सा

ज्वर की स्वल्प विरामावस्था मे ५-१० ग्रेन की मात्रा में कुनैन का प्रयोग करे यदि आमाशय की उग्रता से कुनैन उदर मे न रुके और दो-तीन मात्रा देने पर भी वमन हो जावे तो २० ग्रेन कुनैन एनीमा (वस्ति) द्वारा गुदा में प्रयोग करें। यदि वमन न हो तो ३-३ घण्टा के

अन्तर से प्रयोग करें। ज्वर चढने पर कुनैन का प्रयोग न करें। ज्वरके विरामावस्था मे कुनैन का प्रयोग करे। इसके सिन्कोनिज्म के लक्षण प्रकट होनेके बाद अधिक स्वेद आकर ज्वर छूट जाता है। ज्वर की अधिकता में २-३ ग्रेन की मात्रा मे ३-४ घण्टा के अन्तर से कुनैन के प्रयोग से विरामावस्था स्पष्ट मालूम हो जाती है। इसमे उत्तेजक ओपधि सुरा, (ब्रान्डी) आदि का प्रयोग न कर विरामावस्था मे वर्णन की हुई चिकित्सा करे। इसकी सम्पूर्ण चिकित्सा विराम ज्वर के तुल्य ही करें। सांघातिक मलेरिया ज्वर की ओपधि एलोपैथी मे कुनैन ही है।

विशेष विज्ञान

किसी-किसी अवस्था मे रोगी के ऊपर जव सांघातिक मलेरिया का प्रथम आक्रमण होता है, तव उसके पैर के अंगूठे शीतल हो जाते है, यह विशेष लक्षण है। अधिक स्थलों मे इसके पूर्व कोई भी लक्षण प्रकट नहीं होते। कभी-कभी ज्वर-वेग के पूर्व में अत्यन्त स्फूर्ति प्रतीत होती है। साघातिक ज्वर में स्वल्पविरामावस्था इतनी अल्पस्थायी होती है कि उसका ज्ञान करना कठिन हो जाता है। परन्तु कुनैन का प्रयोग उसी स्वल्पविरामावस्था मे करें। इसके साथ-साथ पूर्ण मात्रा मे मर्फाइन और एट्रोपाइन देना चाहिये। इसके वाद लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करें। कुनैन देने के वाद रोगी के हृदय को बल देनेवाली ओपधि देवें। इसके लिये "पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लोह" अच्छा है। साथ मे खिंचा हुआ द्राक्षासव का भी प्रयोग करें।

एलोपैथी मे—सांघातिक मलेरिया ज्वर मे हृदय को उत्तेजना देनेवाली ओपधियों में ष्ट्रिकनाइन, नाइट्रोग्लीसरीन और ईथर श्रेष्ठ हैं। १/३० ग्रेन से १/६० ग्रेन की मात्रा में ष्ट्रिकनाइन का हाइपोडर्मिक (त्वचोऽध क्षेपण) विधि से प्रयोग करें। इटली और जर्मनी के चिकित्सक ईथर का हाइपोडर्मिक विधि से प्रयोग करने के लिये अनुमति देते हैं। अचेतनता होने पर रसपुष्प (कैलोमेल) का आभ्यन्तरिक प्रयोग करें और उत्तेजक ओषधि की पिचकारी दें। शीतलतावस्था होने पर—मल्ल

सिन्दूर १ रत्ती, गिलोयसत्त्व १ माशा; मधु-आर्द्रक स्वरस के साथ ३-३ घंटा के अन्तर पर प्रयोग कर। इससे बहुत लाभ होता है।

विसूचिका के लक्षण होने पर कर्पूररस, आनन्द भैरव और कर्पूरासव का प्रयोग करें। अन्यान्य लक्षणों की चिकित्सा विराम ज्वर के तुल्य करें।

माल्टा ज्वर

पर्याय—लहरी ज्वर (अण्डुलैन्ट फीवर), ब्रूसेलिया, एवोर्टस फीवर, भूमध्य समुद्री ज्वर।

परिचय—सबसे प्रथम यह ज्वर माल्टा द्वीप के निवासियों मे पैदा हुआ था, अत इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया है। परन्तु, अब यह अन्य प्रदेशों में भी होता है। भारत, आसाम और पञ्जाब मे विशेपतया होता है। इसके अतिरिक्त स्पेन, पोर्तुगाल, दक्षिण अफ्रिका उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका और चीन आदि में भी यह ज्वर होता है।

प्रधान कारण व प्रसरण

इस रोग को उत्पन्न करने वाले बैसिलसमैलिटेन्सिस् (Bacillus Melitensis) नामक विन्दु तुल्य आकृतिवाला अत्यन्त छोटा जीवाणु होता है। इसकी दो उपजातियाँ—(१) बैसिलस एवोर्टस (B Abortus) तथा (२) बैसिलस पैरामेलिटेन्सिस् (B Para-melitensis) होती है। इसके जीवाणु बकरी के शरीर मे होते हैं। बकरी के दूध से तथा उससे बने अन्य वस्तुओं से इसका प्रसरण होता है। बकरी के मूत्र तथा मल मे इसके जीवाणु होते हैं। इनके स्पर्श से अथवा मक्षिका तथा धूलि से (जीवाणु-युक्त धूलि, मक्खी के) खाद्य-पेय पदार्थों के सम्पर्क में आने से उसमे इसके जीवाणु का प्रवेश हो जाता है। उसके व्यवहार से मनुष्य इस ज्वर से आक्रान्त हो जाता है। मच्छर भी इस रोग का संक्रमण बकरी के द्वारा मनुष्य पर करता है।

समय—यह रोग गर्मी मे होता है। बाल-वृद्धों की अपेक्षा तरुण व्यक्तियों पर इसका आक्रमण अधिक होता है।

यथोक्तम्—

गदस्यास्य कीटाणवो विन्दु-तुल्याकृति धारयन्तो रुजार्ताष्वजाद्य ।
पयस्यालयं स्वे प्रकुर्वन्ति एते विदध्युर्गदार्तान् सदा तत्प्रसक्तान् ॥
क्वचि (चाजमल्पेत्यतं) सन्निमित्त मलवाथ मूत्र च रक्त हि पित्तम् ।
तदाऽऽश्वाल वृद्धेभ्य एषोऽत्र नून समानां प्रवृत्ति विधत्तेऽप्य नूनम् ॥

सम्प्राप्ति

बकरी के दूध मे जो जीवाणु होते है, उस जीवाणु युक्त दूध को पीने से आहार नली से जीवाणु अन्त्र मे प्रविष्ट हो जाते हैं और वहाँ से जाकर रक्त को दूषित कर ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं। प्लीहावृद्धि तथा यकृत् और वृक्क मे रक्त की अधिकता हो जाती है और उदर्यकला मे पहुँचकर लसीका को उत्पन्न करते हैं। इससे सम्पूर्ण ग्रन्थियों मे शोथ हो जाता है।

यथोक्तम्—

अजादुग्ध पानादिना रोग कीटाणवस्त्वन्न मार्गेण चान्त्र प्रविष्टाः ।
तत शोणित चोपगम्याति दुष्ट समुत्पादयन्ति ज्वर वै विशिष्टम् ॥
ततश्चोदरस्थां कलामास्थितांस्तान् लसीका समुत्पादने सिद्धहस्तान् ।
अपि ग्रन्थिराशीनशेषानवश्य स्वय शूनयन्ति प्रसह्य प्रशस्तम् ॥

लक्षण

प्रारम्भ में ज्वर न्यूनाधिक (घटा-बढी) के साथ ऊँचे तापांश मे दो-तीन सप्ताह तक बराबर रहता है। इसके बाद आठ दिन कम रहता है अथवा मुक्त हो जाता है। इसके बाद फिर बढ जाता है। इस भाँति ज्वर के कई दौरे होते हैं। ज्वरावस्था मे स्वेद पर्याप्त मात्रा मे आता है। त्वचा पर सूक्ष्म राजिका सदृश पिडकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। आलस्य, दौर्बल्य, गृध्रसी, नाडीशूल, कब्ज, श्वास मे दुर्गन्ध, पेट मे पीडा, आध्मान, प्लीहा, यकृत् की वृद्धि तथा वृक्क मे रक्त की अधिकता हो जाती है। सन्धियों में पीडा, रक्त मे लाल कण तथा श्वेत कण कम हो जाते हैं। निद्रानाश, मूत्र मे अल्ब्यूमिन और पेशियों मे कार्य-शक्ति का ह्रास हो जाता है।

भेदवर्णन

इसके चार भेद होते हैं। यथा—(१) मृदु, (२) साधारण, (३) विषम और (४) दारुण।

मृदु—इसमें अत्यन्त मृदु लक्षण होते है। ज्वर मन्द रहता है। दो सप्ताह तक अनियमित ज्वर रहकर अच्छा हो जाता है।

साधारण—इसमें सब लक्षण उपर्युक्त प्रकार के ही होते हैं।

विषम—प्रातःकाल इसमें तापक्रम स्वाभाविक होता है। मध्याह्न में शीत लगकर १०५ या इससे अधिक ज्वर हो जाता है। सध्या समय में स्वेद आकर ज्वर उतर जाता है।

दारुण—इसमें सहसा ज्वर हो जाता है। वमन, विरेचन, तीव्र ज्वर, प्रलाप, सर्वाङ्ग में पीडा आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। सतत प्रकार में ज्वर आरम्भ होकर अच्छा होने तक बराबर रहता है।

अवधि

इसकी अवधि ३ से ४ मास तक है। यह ज्वर कम से कम ३ सप्ताह, और अधिक से अधिक २ वर्ष तक रहता है।

उपद्रव

कास, ब्राङ्कोन्यूमोनिया, नाडीशूल, कर्णमूलिक शोथ, वृक्क शोथ, हृदय शोथ, नाडी-मन्दता, गर्भपात, अकाल प्रसव, स्तनशोथ तथा बालकों मे मस्तिष्कावरणीय शोथ अधिक होता है। इसको मन्थर ज्वर विषम ज्वर, राजयक्ष्मा, कालाजार, अभिघात जन्य यकृत विद्रधि तथा शरीर में किसी स्थान पर पूयोत्पत्ति इन स्थितियों से रोग को पृथक् करना चाहिये। साधारणतया इस रोग से २-३ प्रतिशत मृत्यु होती है।

चिकित्सा

इस ज्वर की समान्य चिकित्सा करें। पथ्य में दूध और फलों का रस दें। निद्रानाश मे निद्राकारक औषध दें।

अन्तः क्षेपण चिकित्सा

एक्रीफ्लेविन १/२० ग्राम २० सी. सी जल में घोल कर दें। उसकी

मात्रा धीरे-धीरे १/५० से १/४ ग्राम तक बढाना चाहिये। इसी जीवाणु से प्रस्तुत किया हुआ वैक्सीन २०० दश लक्ष से ५०० दश लक्ष तक देना चाहिये। फ्लैमोडीन की सूई. १ से ५ मी सी. तक दे। प्रथम दिन १॥ सी सी. से प्रारंभ करें फिर दूसरे दिन ३ सी. सी. इसके बाद एक दिन के अन्तर से ५-५ सी. सी. की सुईयां १७ दिन तक दें। इसकी सुई सिरा में दे। ज्वर निवृति के पश्चात् २१ दिन रोगी को आराम करना चाहियें। कुछ भी परिश्रम करने पर पुनरावर्तक होने का भय रहता है। देह गरम वस्त्र से ढके रखना चाहिये। बलकारक, पौष्टिक, रक्त वर्धक अन्न और ओषधियों का प्रयोग करें। इसमे स्थान परिवर्तन से बहुत लाभ होता है।

अनागत बाधा प्रतिषेध

जहाँ पर यह रोग फैला हो वहाँ प्रतिबन्ध के लिये मिश्र मसूरिका का उपयोग पाँच-पाँच दिन के पश्चात् ३ मात्रा सूचिका भरण द्वारा करें। इसकी दूसरी मात्रा ३/४ घ० शि० मा० (१५० करोड़) और तीसरी मात्रा ३ घ० शि० मा० (२००) करोड की होती है।

मूषिक दंशज ज्वर

(Rat Bite Fever)

निर्वचन—यह ज्वर चूहों के काटने से पैदा होता है। इसका प्रधान हेतु स्पायरिल्लम माइनस् (Spirillum minus) नामक जीवाणु है।

लक्षण

दंश के स्थान पर क्षत हो जाता है, वह कभी अच्छा हो जाता है और कभी नहीं भरता है। क्षत के समीप की लसीका ग्रन्थि सूज जाती है। क्षत के भर जाने पर भी जब ज्वर चढ़ता है (दंश के ५ वें दिन से ४२ वें दिन के मध्य में यह ज्वर चढता है) उस समय क्षत के स्थान पर फिर वेदना होती है। व्रण बढ कर उसमें सड़ाँद पैदा हो जाती है तथा उसके आसपास फँसियाँ पैदा हो जाती हैं। ज्वर शीत लगकर आता

है। छर्दि, हृल्लास, पतले दस्त, शिर में वेदना, और संधियों मे पीडा होने लगती है। कभी-कभी सम्पूर्ण अंगों मे लाल रंग के फफोले निकल आते हैं। कभी-कभी शरीर पर चकत्ते (कोठ) निकल आते हैं। ज्वर छः दिन रह कर उतर जाता है। ज्वर १०४ शतांश तक चढता है। इस प्रकार का ज्वरयुक्त अथवा ज्वरमुक्त काल कई मास तक और कभी-कभी वर्षों तक चलता है। इस ज्वर के आक्रमण के साथ दुर्बलता भी बढ़ती जाती है।

रोग निर्णय

रक्त की परीक्षा में इयोसिल नामक श्वेत कण अधिक रहते है। रोगी से पूछने पर मूषिक दंश का इतिहास मिलता है। व्रणग्रन्थि या रक्त में जीवाणु रहते हैं। इसको रसायन शाला मे देखना चाहिये। यह सांघातिक न होने पर भी दीर्घकालिक व्याधि है और उपयुक्त उपक्रम न होने पर महीनों अथवा वर्षों तक स्थिर रहता है। रोगी क्षीण होता जाता है। दुर्बलता अत्यन्त होने पर मृत्यु भी हो जाती है।

सूचिकाभरण चिकित्सा

(१) सोडियम एन्टीमनी टार्ट, (२) नियोसाल्वर्सन या साल्वर्सन इन मे से किसी एक का इन्जेक्शन दें। सोडियम एन्टीमनी टार्ट के २ प्र० श० के विलयन को १ सी. सी. से ५० सी सी तक सात दिन मे दो बार देना चाहिये। इस ज्वर मे पारद के योग यथा आखु विषान्तक रस, हरताल भस्म अथवा सोमल युक्त रसों का प्रयोग लाभदायक है। दंश स्थान पर तत्काल अग्निकर्म (Cauterisation) करने से प्रायः रोग की उत्पत्ति नहीं होती है।

यथोक्तमष्टाङ्गहृदये—

> आखुना दष्ट मात्रस्य दंश काण्डेन दाहयेत।
> दग्धं विस्रावयेद्दंश प्रच्छिन्नञ्च प्रलेपयेत्॥

कर्णमूलिक ज्वर

(Mumps Fever)

पाषाण गर्दभ (Mumps)—

, पर्याय—गलसुवा, कनपडे, मम्पस, पाषाण गर्दभ।

सुश्रुतोक्तं लक्षणम्—

वात श्लेष्म समुद्भूत· श्वयथुर्हनु सन्धिज ।
स्थिरो मन्द रुज· स्निग्धो ज्ञेय· पाषाण गर्दभ ॥

निर्वचन—इस रोग मे कर्ण की अग्रवर्ती लाला ग्रन्थियाँ शोथयुक्त हो जाती हैं और अण्डकोषों मे शोथ मुख्य रूप से उपसर्ग के रूप में प्रकट होता है। इसकी संक्रामक-शक्ति भयंकर होती है। यह बालक और युवा पुरुषों मे विशेष होता है। इससे वात श्लैष्मिक ज्वर हो जाता है। इसको कर्ण मूलिक ज्वर या पाषाण गर्दभ ज्वर कहते हैं।

निदान

इसके एक प्रकार के कीटाणु होते हैं। ग्रंथियों की सूजन से पहले और रोग अच्छा होने के बाद २१ दिन तक इसके रोगी से रोग फैलने का डर रहता है। यह रोग रोगी के द्वारा अथवा वाहक कीटाणु रोग द्वारा अन्य व्यक्तियों मे फैलता है। अथवा रोगी के दूषित रूमाल आदि कपडों से भी प्रसरण करता है। रोगी के छींकने व खाँसने या लाला-स्थित विष वायु मे मिलकर पास के व्यक्तियों मे इस रोग को फैलाता है। यह रोग विशेष कर माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख आदि महीनों में फैलता है।

सम्प्राप्ति

कीटाणु मुख मे पहुँच कर लाला-ग्रन्थि-प्रणालियों द्वारा लाला ग्रन्थियों (Salivary glands) मे पहुँच जाते हैं। वहाँ कुछ काल तक स्थिर रह कर उनमे सूजन पैदा कर देते हैं। सूजन अधिकतर कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थियों (Piotid Glands) मे होती है। किसी-किसी स्थल पर जिह्वा के अधोभाग में रहने वाली ग्रन्थियों (Sublingual Glands)

और अधोहनु (ठोढी) मे रहने वाली ग्रन्थियों (Submaxillary Glands)मे सूजन हो जाती है। सूजन प्राय. पहले एक तरफ बाद को दूसरी तरफ में होती है।

रूप

पहले एक कर्ण के अधोभाग में वेदना और स्तब्धता मालूम होती है। कुछ समय पश्चात् कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। किसी-किसी स्थल मे यह प्रारंभ मे ही सूज जाती है और वात श्लैष्मिक ज्वर के लक्षण धीरे-धीरे प्रकट हो जात हैं। दो-तीन दिन तक ज्वर स्थित होकर उतर जाता है। कभी-कभी ज्वर नहीं भी देखा जाता है और सूजन कुछ दिन पश्चात् ठहर कर धीरे-धीरे शान्त हो जाती है। किसी-किसी स्थल पर सूजन अचानक ही नष्ट हो जाती है। किन्तु , ऐसा कम देखा जाता है। सूजन की दशा में मुख को हिलाना-डुलाना, खाना-पीना कठिन हो जाता है। सूजन प्रथम एक तरफ की ग्रन्थि में पश्चात् चार-पाँच दिन मे फिर दूसरी तरफ भी हो जाती है। ये ग्रन्थियाँ कभी-कभी पक जाती हैं। इसके बाद जिह्वाधोवर्त्ती ग्रन्थियाँ और हनु के नीचे की ग्रन्थियाँ सूज जाती है। शोथ और पीडा ५-६ दिन मे शान्त हो जाती है।

उपद्रव

मनुष्यों के अण्डकोपों तथा स्त्रियों के बीज कोपों में अधिकतर ७-८ दिन में सूजन हो जाती है। यह सूजन दश दिन के बाद शान्त होती है। कभी-कभी अण्ड क्षीण भी हो जाते हैं। स्त्रियों के स्तन और भगनासा (Clitoris) में सूजन हो जाती है। बीज कोपों में सूजन होने से वंक्षण में बहुत वेदना होती है। इसके अतिरिक्त क्लोम में शोथ, मस्तिष्कावरणी कलाशोथ, अर्दित आदि उपसर्ग उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

यथोक्त सिद्धान्त निदाने :—

एकत. कर्णमूलेऽथानुपदश्चान्यत पुन ।
शोथ. सल्प् ज्वरो यत्र सज्ञेय कर्णमूलिक ॥

पञ्चपैस्तु दिनैस्तत्र रुजाशोफौ प्रणश्यतः।
स्यातां च कोषयो॰ प्रायो दशाहाच्च सुख भवेत्॥
स प्रायो जानु पदिको वातश्लेष्म कृतोज्वरः।
वालानामथ यूनाञ्च विशेषेण प्रवर्त्तते॥

चिकित्सा

यह व्याधि प्राय' सुखसाध्य होती है। इसमे रोगी को विश्राम कराना चाहिये, जिससे अण्डकोषों मे शोथ न होवे। ज्वर होने पर प्रातः काल संजीवनी वटी २ गोली (शार्ङ्गधरोक्त) पुनर्नवादि काथ के साथ दें। सायं काल पुनर्नवादि गुग्गुल १ गोली उष्ण जल के साथ दें। यदि रोगी को कोष्ठबद्धता हो तो एरण्ड तेल २½ तोला पिलावें; जिससे शुद्ध संशोधन हो जाय। मुख शुद्धार्थ पोटास क्लोरेट तथा उदुम्बर सार विलयन से कुल्ला करावें। वेदना अधिक होने पर एस्प्रीन दें।

पुनर्नवादि गुग्गुल योग—पुनर्नवा १ तो०, देवदारु १ तो०, हरड़ १ तो०, गिलोय १ तो० और शुद्ध गुग्गुल ४ तो० को एरण्ड तैल में मिला कर छोटे वेर के वरावर गोली वनावे।

मात्रा—१ गोली गोमूत्र के साथ प्रातः सायं दें।

प्रलेप – काली जीरा, कुचिला, आवा हल्दी, कल कंदरा (जंगली पियाज) और अफीम, इनको समभाग लेकर जल से पीस कर गरम करके सुवह-शाम लेप लगावें और ऊपर से सेंक दें। ४-५ दिन मे अच्छा हो जायगा।

द्वितीय प्रलेप

इन्द्रायण के फल और कलकंदरा को समान भाग मे लेकर पीस कर गरम करके लेप कर।

पुटस्वेद

पुनर्नवा, नीम के पत्ते, संभालू, अपामार्ग, भॉग और ताल मखाना को कपडे मे वांध कर पोटली वनावे। पोटली को तवे पर गरम करके सेंकने से वहुत लाभ होता है।

दशांग लेप—शिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लाल चन्दन, छोटी-इलायची, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ और सुगन्धवाला इन द्रव्यों को समान भाग में गो-मूत्र से पीस कर और कुछ घी मिला कर गरम करके लेप करें। इससे शोथ अच्छा होता है। इसमें बेलाडोना और ग्लिसरीन भी लाभ पहुंचाता है। इसके अभाव मे धतूर के पत्तों का लेप लगावें। इनसे यदि शोथ अच्छा न हो तो जोंक लगावे। इससे कुछ शान्ति मिलती है।

काल ज्वर (काला आजार)

(Black Sickness)

पर्याय—सततक भेद, कृष्ण रोग (ब्लैक सिकनेस) वर्तमान ज्वर, दमदम ज्वर, वर्धमान ज्वर।

निर्वचन—यह ज्वर चिरकाल तक थोडा-थोडा आता रहता है। इसमें प्लीहा और यकृत् बढ़ जाता है तथा रक्ताल्पता भी उपस्थित हो जाती है। इस पुरातन और अनियमित ज्वर युक्त पीडा से विशेष प्रकार की रञ्जक वस्तु संचित हो जाती है। इस संक्रामक पीडा विशेष को "कालज्वर" कहते है।

निदान

(Leishman Donoman Body)

इसका प्रधान कारण लिशमानिया जीवाणु माना जाता है। यह जीवाणु खटमल के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैलता है। कभी-कभी मच्छर, पतंग तथा छोटे-छोटे कीडों के द्वारा भी एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में ये जीवाणु पहुँचते हैं। केवल काटने वाले कीट-पतंगों से ही यह रोग फैलता हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि शरीर और अन्त्र की श्लैष्मिक कला मे क्षत होने पर उसमें ये जीवाणु पाये जाते हैं। यह रोग अधिकतर आसाम, बंगाल, लका आदि उष्ण प्रदेश में अधिक देखा जाता है। यह यूरोप में अल्प होता है। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न देशों मे यह कभी-कभी कुत्तों की मक्खियों के द्वारा भी फैलता हुआ

देखा जाता है। कुत्तों में यह ज्वर बड़ा भयंकर होता है। इसलिये इसको वहां कुक्कुर ज्वर कहते हैं। दो वर्ष के बच्चों को काल ज्वर बहुत तीव्र वेग से होता है। काल ज्वर के जीवाणु भी मलेरियाणु (प्लैज्मोडियम) की भाँति अपनी जीवन वृद्धि मच्छी के शरीर में करते हैं।

अन्तर्भाव और इतिहास

आयुर्वेदोक्त प्लीहोदर में कालज्वर का अन्तर्भाव हो सकता है। इसका हेतु यह है कि रोग पुराना होने पर प्लीहा की बहुत वृद्धि हो जाती है।

यथोक्तं सुश्रुते—

> वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र।
> मन्दज्वराग्निः कफपित्त लिङ्गैरुपद्रुत क्षीण बलोऽति पाण्डु ॥

यद्यपि आयुर्वेदीय प्राचीन ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से इसका वर्णन नहीं मिलता है तथापि रोग की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है। विषम ज्वर के साथ इसकी साम्यता अधिक प्रतीत होती है। यदि निदान की प्रायोगिक विधियों की सहायता न ली जावे तो कई बार यह विषम-ज्वर ही माना जाता है। १९०३ ई० में लीशमन और डोनोवन नामक दोनों आचार्यों ने साथ-साथ परन्तु स्वतन्त्र रूप से इस रोग के कीटाणु का अनुसन्धान किया था। उसके पूर्व प्रसिद्ध पश्चिमी चिकित्सक इस ज्वर को विषमज्वर का ही भेद मानते थे। प्राचीन परिभाषा के अनुसार इसका समावेश विषमज्वर में हो सकता है। कालाजार शब्द यवन भाषा का है।

सम्प्राप्ति

कालज्वराणु शरीर के अन्दर फेफड़ा, अन्त्र, अन्त्र की दीवार, अस्थि, मज्जा, प्लीहा, यकृत् और अण्डकोष आदि सब अङ्गों में पहुँच कर अपनी वृद्धि करके ज्वर को उत्पन्न करते हैं। ज्वर की प्रच्छन्नावस्था ८-१० दिन तक स्थायी रहती है। प्लीहा और यकृत् में सौत्रिक तन्तु अधिक वन

कर बढ़ जाते हैं। यह रोग स्त्री और पुरुष दोनों के ऊपर सब अवस्थाओं मे आक्रमण करता है। यह भी देखा जाता है कि जिस स्थान पर यह ज्वर फैलता है वहाँ के रहने वाले लोग तथा उस देश मे नवीन आये हुए व्यक्ति दोनों इस रोग से आक्रान्त हो जाते हैं।

लक्षण

इस रोग के प्रारम्भ मे ज्वर प्रबल होता है। ज्वर होने के पहले अति वेग से शरीर कांपने लगता है। किसी-किसी स्थल मे ज्वर के साथ-साथ अत्यन्त वमन होता है। प्रथम अवस्था मे ज्वर बहुत प्रबल होता है। किसी-किसी स्थल मे यह सविराम ज्वर का रूप धारण कर लेता है। किन्तु, अधिकतर ज्वर स्वल्प विराम के स्वभाव को धारण करता है।

भोग काल—ज्वर २-६ सप्ताह तक स्थायी रहता है। कभी-कभी इससे भी अधिक काल तक स्थायी रहता है। काल ज्वर का क्रम जितना ही विलम्ब से प्रकाशित होता है, उतनी ही प्लीहा और यकृत के आकार मे वृद्धि होती है, ऐसा लक्ष्य करने पर देखा जाता है।

पूर्वानुसार वृद्धि के साथ-साथ पहले पहल ज्वर की कमी तथा प्लीहा और यकृत् की वृद्धि मे घटती-बढती देखी जाती है। इसके बाद ज्वर छूट जाता है और रोगी का स्वास्थ्य कुछ-कुछ अच्छा होने लगता है। परन्तु, इतने में ज्वर फिर आ जाता है और फिर यकृत, प्लीहा बढ जाते हैं। इनके ऊपर दबाने से पीड़ा मालूम होती है। यह अवस्था कई मास तक रहती है। ज्वर बार-बार छूटता और आता है। अन्त मे वह मृदु अविराम ज्वर के स्वरूप को धारण कर लेता है। शरीर का ताप १०२ तापांश से अधिक नहीं बढता है। ज्वर की सब दशाओं मे स्वेद अधिक निकलता है। रोगी कभी-कभी कॉपने लगता है, हाथ-पैरों में अधिक वेदना होती है। इस अवस्था में वात ज्वर समझ कर भ्रम हो सकता है। जब रोग पूर्ण अवस्था को प्राप्त होता है तो अत्यन्त क्षीणता और रक्ताल्पता प्रकाशित हो जाती है। इसके साथ-साथ यकृत-प्लीहा मे

विलक्षण वृद्धि देखी जाती है। इस समय दोनों पैरों में शोथ हो जाती है। कभी-कभी सीमाबद्ध स्थान में शोथ तो कभी उदर-रोग हो जाता है। त्वचा का रंग बदल जाता है। बाल उज्ज्वलता रहित, शुष्क, भंगुर और परिपक्व हो जाते हैं। कक्षा में फुंसियाँ निकल आती हैं, दंतवेष्टकों (मसूड़ों) में रक्त दिन भर निकलता रहता है। कभी-कभी दिन में न निकल कर रात्रि में मसूड़ों से रक्तस्राव अधिक होता है। नासिका से भी रक्त निकलता है। पूर्व वर्णित अवस्था अर्थात् पुराना ज्वर, प्लीहावृद्धि, यकृत्-वृद्धि, रक्ताल्पता, क्षीणता, कई मास तक अथवा एक दो मास तक वर्त्तमान रहती है। इसके बाद कोई-कोई रोगी अच्छा होने लगता है; किन्तु, अधिकतर रक्तातिसार, राजयक्ष्मा, श्वसनकज्वर आदि उपद्रव उपस्थित होकर रोगी की मृत्यु भी हो जाया करती है। इस ज्वर में एक विलक्षणता यह देखी जाती है कि रोगी चिरकाल तक पुराने ज्वर को भोगता है। धीरे-धीरे शरीर का क्षय हो जाता है परन्तु, तो भी शुद्ध जिह्वा तथा क्षुधा और पाचन क्रिया अधिकतर ठीक ही रहती है।

शवच्छेद-परीक्षा

इस रोग से मरे हुए व्यक्ति के देह की परीक्षा करने पर प्लीहा बढ़ी हुई, प्लीहा की आवरक स्थली (कैप्स्यूल) में शोथ, प्लीहावरणीकला प्रदाह (पेरिस्प्लीनाइटिस) के चिह्न, प्लीहा के परिवेष्टन कला तन्तु (ट्रेबेक्यूली) की वृद्धि, प्लीहाशस्य (पल्प) की वृद्धि आदि लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। प्लीहा के अवयव रक्त से भरे हुए दिखलाई देते हैं। यकृत् बढ़ा हुआ और काटने पर गुलाबी व चितकबरा रंग दिखलाई पड़ता है। काल ज्वराणु, प्लीहा और यकृत की कैशिक रक्त प्रणालियों में अधिक पाये जाते हैं। अन्य अङ्गों में काल ज्वराणु कम मिलते हैं।

रोग निर्णय—इस रोग के इतिहास और क्रमादि के ऊपर लक्ष्य रखने से रोग के निर्णय में भ्रम होने की कम संभावना रहती है। परन्तु, रक्त की परीक्षा करने पर कोई सन्देह नहीं रहता। क्योंकि, काल ज्वराणु रक्त

में रहते हैं, जो परीक्षा द्वारा देखे जाते हैं : और गणना से श्वेत व रक्त कण की संख्या का निश्चय हो जाता है। श्वेत कण बहुत अल्प दो हजार अथवा इससे भी अल्प प्रति शतांश मीटर हो जाते हैं। बड़े लसीकाणु १०--१२% तक बढ़ जाते हैं। रक्त कण २३ लक्ष और कण रञ्जक पचास प्रतिशत हो जाते हैं।

परीक्षा

एल्डेहाइड टेस्ट (Aldehyde Test)—इन्जेक्शन देने वाली पिचकारी से रोगी के शिरा से ४-५ सी.सी. तक रक्त निकाल ले, उसे एक परीक्षा-नलिका में रख छोड़ें। जब पानी की तरह लसीका निथर जावे, तो इस में से १ सी. सी. दूसरी परीक्षा नलिका में लेकर उसमें फार्मेलीन के दो बूंद छोड़ दें। नलिका को खूब हिला लें, काला जार से पीडित होने पर लसीका श्वेत वर्ण, लसदार और घन बन जाती है। श्वेत वर्ण के साथ में अपार दर्शकता अधिक महत्त्व का है। यह विधि विश्वसनीय तथा शास्त्रीय है। परन्तु यह ज्वर प्रारम्भ होने के २३ मास बाद व्यक्त होती है तथा पूर्ण व्यक्त ६ महीने के बाद उस समय होती है जब कि चिकित्सा से लाभ की आशा नहीं रहती।

(२) यूरिया स्टेबीमाइन परीक्षा —एक छोटी नलिका में ३ सी० सी० लसीका लेकर यूरिया स्टेबीमाइन के परिश्रुत जल में बनाया गया ४ प्रतिशत घोल १ सी. सी. वेग से लसीका पर डालें, जिसमें दोनों द्रव मिल जायँ। परीक्षा व्यक्त होने पर दोनों के मिलने के स्थान पर अपार दर्शक श्वेत अवक्षेप बनता है।

(३) चोप्रा की विलयन परीक्षा - यह उपर्युक्त प्रकार से ही होती है। केवल लसीका एक भाग तथा लवण जल ९ भाग मिलाकर इस मिली हुई लसीका के मिश्रण का लसीका के स्थान पर प्रयोग होता है।

(४) नेपियर परीक्षा (Napier's Test)—इसमें ३ प्र० श० यूरिया स्टेबीमाइन का घोल २ सी सी लेकर उसमें लसीका दो

बूंद छोड़ते है। परीक्षा व्यक्त होने पर १० मिनट या अधिक से अधिक दो घंटे मे हल्का श्वेत अवक्षेप वन जाता है। वहाँ से रक्त निकाल कर कॉच पट्टी पर लेप करके रंजित कर सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखने पर इसके जीवाणु दिखाई पडते है।

चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा के लिये रोगी को नियमित रूप से स्नान, सहज से पचने वाला हल्का और वलकारक पथ्य दे। जिस कमरे मे विशुद्ध वायु आती हो, उसी मे रोगी को रक्खे। पचन शक्ति के अनुसार समयानुकूल मीठा अनार, सन्तरा, अंगूर आदि फल दें। ज्वर को शान्त करने के लिये इस में कुनीन और संखिया का प्रयोग किया जाता है। किन्तु, इससे पूरी सफलता नहीं मिलती। इसलिए; इसकी विशेप औपध एन्टीमनी टार्टर अथवा पोटैस्सिक एन्टीमनी टॉर्टर है। अन्तः क्षेपण (Injection) विधि से त्वचा, मांसपेशी अथवा शिरा के अन्दर इसका प्रयोग करना चाहिए।

प्रथम सप्ताह मे एक वार सूचिका भरण चिकित्सा का प्रयोग करे। इसके वाद दूसरे सप्ताह में दो वार तथा तीसरे सप्ताह में तीन-चार वार अन्त क्षेपण (इन्जेक्शन) दें। इस भाँति तीन-चार मास तक वरावर अन्तः क्षेपण का प्रयोग करें। इससे स्थायी फल होता है।

वढी हुई प्लीहा के ऊपर गरम किये हुए गो मूत्र से सेक करें। अथवा प्लीहा प्रदेश के ऊपर प्रतिदिन कैन्थराइडिस (तेलनीमक्खी) से एक रुपया के आकार मे व्लिस्टर (छाला जनक) का प्रयोग करे। इन व्लिस्टरों से उत्पन्न हुए फफोले शीघ्र शुष्क नहीं होते। इसमे आयोडिन का भी प्रयोग करते हैं। इस रोग मे डनवान सेलूशन और थाइमल का भी व्यवहार होता है। इस रोग की चिकित्सा का प्रधान नियम यह है कि जिस स्थान मे यह रोग हो उसको छोड दें। फिर चिरकाल तक ओषधि सेवन से पूर्ण लाभ हाता है। इसमे "यूरिया" स्टिवेमिन नामक दवा वहुत लाभ करती है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा के लिये रोगी को नियमित रूप से कोष्ठ शुद्धि करके ओषधि का प्रयोग करना चाहिए। यदि रोगी की वात प्रकृति है तो त्रिभुवन कीर्ति रस २ रत्ती की मात्रा में अदरक के स्वरस के साथ ज्वर तीव्र न होने पर चार-चार घंटे पीछे दें।

इन्द्रवारुणी योग

इन्द्रायण का चूर्ण ४ तोला, शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक ४ तोला, अकरकरा-३ तोला, छोटी पीपल का चूर्ण २ तोला।

विधि—प्रथम पारा गंधक की कज्जली बना उसमें वस्त्र से छाना हुआ काष्ठोषधियों का चूर्ण मिलावें। फिर उन्हें इन्द्रायण रस से ही खरल करके ४-६ रत्ती की गोलियाँ बनावें।

मात्रा—१ गोली

अनुपान—गिलोय क्वाथ २॥ तोला के साथ दिन में दो बार दें।

लाभ—इससे वायु का अनुलोमन होकर, मलशुद्धोपरान्त स्वेद आकर ज्वर धीरे-धीरे उतर जायगा।

पित्त प्रधान की चिकित्सा

इसमें टंकण वटी का प्रयोग करें। इसका योग नीचे लिखा जाता है।

योग—शुद्ध सोहागा १ तोला, शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक १ तोला, काली मिर्च १ तोला, और मिश्री ४ तोला।

विधि—प्रथम पारा-गन्धक की कज्जली बना कर फिर अन्य ओषधियों का चूर्ण मिला कुटकी के क्वाथ की चार भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनायें।

मात्रा—४ घण्टे के अन्तर से १ गोली अनार के रस से दें।

कफ प्रधान की चिकित्सा

श्वास कुठार रस २ माशा की मात्रा से शहद के साथ दिन में तीन बार दें।

अथवा—वृहल्लोक नाथ रस (भैषज्य रत्नावली) मात्रा २ रत्ती रोहितारिष्ट १ तोला के साथ सुबह सेवन करें। सायंकाल पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लौह १ रत्ती अनुपान अमृतारिष्ट १ तोला के साथ दें। इस प्रयोग से अति लाभ होता है।

द्रोणपुष्पी-प्रयोग

विधि—शनिवार के दिन सायंकाल एक पुराने गूमा के पौधे को निमन्त्रित कर आवें तथा उसके पास एक प्याली भी रख दें। रविवार को प्रातः काल स्नान पूजा करके औषध उत्पादन का मन्त्र पढ़ता हुआ जड सहित उखाड ले आवे। फिर उसको पवित्र जल से धोकर २ तोला औषध और पित्तपापडा ३ माशा लेकर दोनों को जल से पीसें। तत्पश्चात् दो छटॉक जल मे घोल कर सूर्याभिमुख हो पी जायँ। इसके बाद १२ बजे तक कुछ न खायँ। इससे एक पाखाना होकर काल ज्वर तथा बढ़ी हुई प्लीहा उसी दिन कम हो जाती है। पथ्य मे दुग्ध भात दें। इस भॉति दो-तीन रविवार करने से प्लीहा निर्मूल हो जाती है।

होमियोपैथी-चिकित्सा

सियानोथस अमेरिकेन्स मदर टिंचर १x का पॉच बूँद तक देने से फायदा होता है। किसी-किसी को आर्सेनिक से भी लाभ होता है। ज्वर मे सूजन और रक्त की कमी हो, तो आर्सेनिक ३x या २०० दें। रक्तस्राव हो तो फास्फो ३-३० और यकृत बढ़ा हो तो कार्डुयसमैरियानस ०-३x दें। उपरोक्त ओषधियॉ गर्भिणी स्त्रियों को भी दी जा सकती है।

सूचीवेध-चिकित्सा

यूरिया स्टिबोमिन (Urea stibomine) का इन्जेक्शन २½ नम्बर से २० नम्बर तक धीरे-धीरे बढ़ा कर री-डिस्टिल्ड वाटर (Redistilled water) के साथ 1c. c. से 4 c c. तक मिला कर नस मे चार दिन पर इन्जेक्शन दें। इससे ९० प्रतिशत रोगी अच्छे होते हैं।

छोटे-छोटे बालकों के जिनकी नस दिखलाई न पड़े अथवा जिनकी नस मे औषध सहन न हो सके या जहाँ पर इसके साथ मलेरिया ज्वर

का सन्देह हो, वहाँ न्युस्टीबोशन ५ नम्बर से २० नम्बर तक पूरी उम्र वाले को तथा २½ नम्बर से १० नम्बर तक अर्थात् १० ग्राम (Gram) तक १ सी. सी. से ४ सी. सी. री-डिस्टिल्ड वाटर मे मिला कर नितम्ब के पास मांस पेशी मे चार दिन पीछे इंजेक्शन देना चाहिये। ये दोनों अन्त. क्षेपण प्रातः काल खाली पेट होने पर दें। री-डिस्टिल्ड वाटर अपने घर मे द्रोण पुष्पी से तैयार करें।

विधि—पुराने गूमा की जड़ का चूर्ण १ सेर लेकर १० सेर पानी मे भिगो दें। जब गूमा का प्रभाव भलीभाँति पानी में आ जाय, तो तिर्यक् पातन यन्त्र से ४ सेर अर्क खींच ले। फिर उसमे ½ सेर गूमा का चूर्ण मिलाकर फुलावें। बाद को इसमे से दो सेर अर्क खींचे और फिर खींचे हुए अर्क में से ½ सेर अर्क खींचे। यह शुद्ध और निर्मल री-डिस्टिल्ड वाटर है।

काल ज्वरघ्न द्रव

शंख द्राव १० बूँद, कागजी नीबू का रस १० तोला में मिला कर प्रातः काल खाली पेट मे देने से काल ज्वर, प्लीहा आदि ४० दिन मे बिल्कुल अच्छा हो जाता है।

पीत ज्वर

(Yellow Fever)

परिचय—इस ज्वर मे त्वचा पीली पड जाती है। अत इसको "पीत ज्वर" कहते हैं। यह संक्रामक ज्वर है अतएव यह सम्पूर्ण देश मे शीघ्र ही व्याप्त हो जाता है। आनूप-प्रदेश मे अधिक होता है। शीत देश की अपेक्षा उष्ण देशों में इसका प्रकोप अधिक होता है। वियाना, रिपोजेनिया, क्यूबा और ब्राजिल प्रभृति स्थानों मे यह ज्वर विशेष देशव्यापी होकर उत्पन्न होता है।

कारण

यह ज्वर स्टेनोमाया फेशियेटा नाम के मच्छर के दंश से पैदा होता है। किन्तु, अभी तक पीत ज्वर का कारण स्थिर नहीं हुआ है। फिर

भी निश्चय है कि यह मलेरिया जनित नहीं है। मकान के चारों तरफ संचित मल-मूत्र से जो विष उत्पन्न होता है, वही इस रोग का कारण माना जाता है। यह ज्वर अधिकतर बड़े-बड़े शहरों मे जहाँ पर अल्पस्थान मे बहुत से मनुष्य निवास करते है, आक्रमण करता है। कई सप्ताह तक ७०-७२ तापांश गर्मी मे इस ज्वर का पैदा होना देखा जाता है। इससे कम गर्मी वाले स्थान मे यह नहीं होता है। इसकी स्पर्श-संक्रामकता मे बहुत मतभेद है। अध्यापक सैलरिल महोदय का यह मत है—यह रोग विशेष निष्पन्दन शील विषाणु से उत्पन्न होता है। अयुक्त आहार, अपरिमित मद्यपान, अस्वास्थ्यकारक जल-वायु आदि इसकी उत्पत्ति और प्रसार के लिये उद्दीपक कारण हैं।

लक्षण

पीत ज्वर की गुप्तावस्था कई घण्टों से लेकर दो सप्ताह (१५ दिनों) तक रहती है। रोगी का स्वभाव क्रोधी हो जाता है। रोगी का मन आलस्ययुक्त और विह्वल हो जाता है। तत्पश्चात् शीत लग कर शरीर काँपने लगता है। भ्रू प्रदेश, पृष्ठ वंश और दोनों हाथों में वेदना होने लगती है। विबन्ध हो जाता है। कुछ स्वच्छ तरल वमन भी होता है। ये लक्षण ज्वर के आरंभ में प्रकट होते हैं। ज्वर के कुछ समय तक बने रहने पर वमन से जो कृष्ण वर्ण का पदार्थ निकलता है, इससे रोग की कष्टसाध्यता प्रतीत होती है। अधिकतर पूर्व लक्षण के प्रकाशित हुए बिना ही अचानक ज्वर आ जाता है। कभी कभी रक्त का भी वमन होता है। वमन मे निकली हुई वस्तुएँ अत्यन्त पीली और काफी के चूर्ण के समान होती हैं। पहले कई दिन तक प्रायः ताप १०४-१०५ तापांश तक रहता है। चौथे-पाँचवे दिन ताप कम हो जाता है। इस समय शरीर का स्वाभाविक ताप अपेक्षा से कम हो जाता है। नाडी की गति प्रति-मिनट १०० से अधिक नहीं होती है। कभी-कभी नाडी की गति प्रति मिनट में ३०-४० तक हो जाती है। प्राथमिक अवस्था में जिह्वा गीली और मल से लिप्त रहती है। रोग के बढ़ने पर

यह चिकनी, सूखी और लाल हो जाती है। पहली अवस्था में मूत्र अम्ल गुण विशिष्ट होता है। किन्तु, रोगान्त मे दुर्बलता आ जाने पर मूत्र क्षारीय हो जाता है। ज्वर के पहले कई दिन तक मूत्र का वर्ण स्वाभाविक होता है, इसके वाद शीघ्र ही वण मे कुछ विलक्षणता उत्पन्न हो जाती है और वाद को पीला हो जाता है। परीक्षा करने पर मूत्र मे एलब्यूमिन पाया जाता है। ज्वर के समय शरीर पीला हो जाता है। कभी-कभी (यूरीमिया) से अचैतन्य हो जाता है तथा कभी-कभी आक्षेप-प्रलाप भी देखा जाता है। उदर प्रदेश मे अत्यन्त वेदना, पक्वाशय मे उग्रता, श्वास की गति मे तीव्रता और दाँत-मसूडे काले पड़ जाते है। कर्ण, नासिका और अन्त्र से रक्तस्राव होने लगता है। नाड़ी की गति क्षीण और दुर्बल हो जाती है। इस ज्वर मे मुख मण्डल का भाव विचित्र हो जाता है। मुख पर चमक और कुछ सूजा हुआ, नेत्र की पलकें सूजी हुईं और उनके किनारे लाल मालूम होते हैं। आँखें जल से भरी हुई उज्ज्वल और पीत रंग से रंगी हुई मालूम होती हैं। कनीनिका छोटी और उज्ज्वल मालूम होती है।

रोग निर्णय

पीत ज्वर में रोगी के मुख का भाव, मूत्र मे अलब्यूमिन, नाडी की क्षीण गति और ज्वर का शमन न होना अथवा ज्वर की वृद्धि इन लक्षणों के प्रति ध्यान रखने से दण्डक ज्वर और सन्तत ज्वर से भेद किया जा सकता है। शवच्छेद करने पर कोई विशेष लक्षण नहीं पाये जाते। सिर्फ यकृत् मे कुछ विकृति देखी जाती है।

चिकित्सा

रोगी को स्वच्छ हवादार मकान मे रक्खे। इसके लिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि रोगी के जलवायु का परिवर्तन करा दें। रोग की प्रबलता न होने पर विशेष व्यवस्था का प्रयोजन नहीं होता है। यूरिया (मूत्र-विष) से विषाक्त होने की शंका होने पर विरेचक औषध का प्रयोग करें। पक्वाशय की उग्रता रोकने के लिए क्रियाजोट अथवा

अल्प मात्रा मे प्रुसिक एसिड व वरफ दें। अथवा, विसमथ सवनाइट्रस १० ग्रेन, क्रियाज़ोट १ मिनिम, सोडा १० ग्रेन मिलाकर एक मात्रा युवा रोगी को तीन-तीन घण्टे के वाद मे दें। उदर के ऊपर सरसों का प्रलेप करावें अथवा तारपीन का तैल मालिश कर सेंक करावें। ज्वर की अधिकता मे उष्ण जल से स्नान करावें अथवा रोगी के ऊपर गीली चद्दर डाल दें। ज्वर की गर्मी मे कमी होने पर रोगी को वायु से वचा कर कम्बल उढा कर ऊँचे स्थान पर लिटा दें। शीत लगने पर परिस्रुत द्राक्षासव पिलावें। ज्वर को रोकने के लिए कुनैन भी उपयोगी है। स्वेदकारक औषध और क्लोरेट् आफ पोटास भी दिया जा सकता है।

सविराम ज्वर और पीत ज्वर का भेद्

सविराम ज्वर

सविराम ज्वर नौ दिन अथवा इससे अधिक काल तक स्थायी रहता है। पूर्ववर्ती अवस्था के समय ज्वर का निरूपण नहीं होता है। सविराम ज्वर की पूर्वावस्था कई दिनों तथा महीनों तक वर्तमान रहती है। वार-वार ज्वर की अधिकता और स्वल्प विराम दिखलाई पडता है। वमन और वमन की इच्छा पीत ज्वर के तुल्य प्रवल नहीं होती है। पीत ज्वर के तुल्य प्रारम्भावस्था मे ही रोग के सभी लक्षण प्रकाशित नहीं होते। इसमे पकाशय प्रदेश में अत्यल्प यन्त्रणा होती है। वमन मे पित्त और पक्वाशय मे से स्थित भुक्त पदार्थ निकलता है। रक्त स्राव नहीं होता है। जिह्वा मलावृत होती है। नाडी तेज चलती है। चक्षु मे कोई विशेष लक्षण दिखलाई नहीं पडता। शिर मे पीडा और मस्तक पर वोझ-सा मालूम होता है। मन सुस्त तथा प्रलाप अधिक होता है। मूत्र मे शुक्ल पदार्थ नहीं निकलते हैं। पेशियों में अत्यन्त दुर्वलता रहती है। धीरे-धीरे रोग अच्छा हो जाता है। रोग के अन्त मे दारुण उपद्रव होते हैं। एक वार रोग होने पर वार-वार प्रकाशित होता रहता है। मृत्यु संख्या अत्यल्प और रोग स्थान विशेष में होता है। उपयुक्त चिकित्सा से रोग शान्त हो जाता है।

पीत ज्वर

यह अधिकतर तीन से सात दिन मे शेष हो जाता है। पाँच दिन से नौ दिन तक इसकी पूर्वावस्था रहती है। एक बार मे ही ज्वर अधिक होकर रोगी अच्छा हो जाता है। इसमें अचेतनता उपस्थित हो जाती है। अधिक मात्रा मे वमन होता है तथा बार-बार मिचली आती है। रोग के प्रारम्भ मे ही पक्वाशय प्रदेश पर दबाने से अत्यन्त यंत्रणा होती है। काले रंग का वमन होता है। मसूढा और शरीर के अनेक स्थानों से रक्त निकलता है। जिह्वा स्वच्छ अथवा कुछ मैली होती है। नाडी में स्थिरता नहीं होती। शेषावस्था मे नाड़ी मन्दगामी हो जाती है। नेत्र लाल और जल से भरे रहते हैं। मुखमण्डल का भाव उग्र और चिन्त जनक मालूम होता है। भौंह के ऊपर वेदना होती है। कभी-कभी प्रलाप भी होता है। अधिकतर मन स्थिर रहता है।

मूत्र मे शुक्लाण्ड निकलता है तथा अधिकतर मूत्र बन्द हो जाता है। पेशियों मे अत्यंत दुर्बलता रहती है। अतिशीघ्र ही ज्वर अच्छा हो जाता है। रोग के अन्त मे उपद्रव नहीं देखा जाता। मृत्यु संख्या अत्यंत अधिक होती है। रोग जनपद मे फैल कर मारक रूप से प्रकाशित होता है। चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता है।

आरक्त ज्वर

(Scarlet fever)

परिचय—यह संक्रामक और स्पर्शाक्रामक ज्वर है। इसमे शरीर का उत्ताप बढ जाता है। ज्वर के दूसरे दिन से गले मे शोथ हो जाता है। फिर कण्ठ पक जाता है तथा शरीर में लाल पिडिकाएँ निकल आती हैं। इसलिए इसको आरक्त ज्वर कहते हैं।

निदान

नासिका, कण्ठ, और श्वास प्रणालियों की श्लैष्मिक झिल्ली मे इसके कीटाणु पाये जाते हैं। ये कीटाणु लाल पिडिकाओं तथा पिडिकाओं

के उपचर्म मे भी देखे जाते हैं। इसलिए; इन स्थानों के कीटाणुओं के संसर्ग से दुष्ट हुए पदार्थों, रोगी की सेवा करने वाले मनुष्यों और कीटाणु दूषित जल, दुग्ध आदि भोज्य पदार्थों के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के नासा अथवा कण्ठ मे पहुँच कर रोग पैदा कर देते हैं। चारपाई, वस्त्र आदि चीजों मे लिपटे हुए ये कीटाणु बहुत दिनों तक अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यह उन गरीब आदमियों में जिनके पास शरीर को ढकने के लिए कपड़ा, खाने के लिए अन्न और रहने का स्थान नहीं होता, अधिक फैलता है। इसका प्रकोप श्रावण, भाद्रपद आदि मे विशेष होता है। चैत्र-वैशाख मे अल्प होता है। यह एक साल से अधिक उम्र वाले बालकों को अधिक होता है। किन्तु; इसका प्रकोप मसूरिका से अल्प होता है

भेद

आरक्त ज्वर के तीन भेद होते हैं—

(१) सामान्य आरक्त ज्वर—इस मे लाल पिडिकाएँ निकलती हैं। कण्ठ नली लाल हो जाती है। किन्तु; कण्ठ नली मे क्षत नहीं होता है।

(२) ग्रैविक आरक्त ज्वर—(स्कार्लेटिना एन्जाइनोसा)—यह रोग पूर्वोक्त की अपेक्षा अधिक होता है। गले की नली लाल हो जाती है और इसमे क्षत भी हो जाता तथा ग्रीवा-प्रदेश मे स्फोट उत्पन्न हो जाता है।

(३) सांघातिक आरक्त ज्वर—(स्कार्लेटिना मैलिग्ना) इसमे गले की नली पक जाती है। शरीर में अधिकतर पिडिकाएँ दिखलाई नहीं पड़तीं और ज्वर अत्यन्त प्रबल होता है।

लक्षण

ज्वर की प्रच्छन्नावस्था ४-६ दिन तक होती है। कभी-कभी एक सप्ताह तक गुप्तावस्था रहती है। बाद को शीत बोध, कम्प, वमन और गले की नली मे प्रदाह होकर ज्वर पैदा हो जाता है। ज्वर के साथ अङ्गमर्द, शिरोवेदना प्रभृति लक्षण हो जाते हैं। शरीर का उत्ताप

शीघ्र ही बढ़ कर १०३-१०४ तापांश हो जाता है। इस समय नाडी की गति १२०°-१४०° तक हो जाती है। वालकों मे नाडी की गति १६०° तक हो जाती है। अर्थात् उत्ताप की अपेक्षा नाडी की गति तीव्र होती है। इस श्रेणी के ज्वरों मे अन्यान्य ज्वर के समान पिडिकाएँ निकलने पर भी शरीर का उत्ताप कम नहीं होता है। प्रथम अवस्था में उपजिह्वा लाल हो जाती है केवल गले की नली मे सूजन रहता है। अविराम ज्वर से भिन्नता होने पर यह आरक्त ज्वर कहा जाता है।

ज्वर के दूसरे दिन सायंकाल मे शरीर का ताप १०५°-६ डिग्री तक हो जाता है। तीसरे दिन मे प्रायः १०५°-८° तापांश तक ज्वर बढ जाता है। वाद को ९ वें दिन तक ताप १०२°९° से १०३ °८° तक रहता है। दशवें दिन ज्वर का ताप घट कर १०० ९ तापांश तक हो जाता है। वाद को फिर धीरे-धीरे यह घट जाता है और १५ दिन मे शरीर का ताप स्वाभाविक हो जाता है।

सामान्य आरक्त ज्वर मे गले की नली और तालु मे शोथ अधिक नहीं होता है। प्रारंभ मे कभी-कभी रोगी गले के मध्य मे किसी प्रकार की पीडा का अनुभव नहीं करता। ग्रैविक आरक्त ज्वर और सांघातिक आरक्त ज्वर होने पर गले की नली मे अत्यन्त प्रबल शोथ हो जाता है। गले की ग्रन्थियों मे शोथ और वेदना होती है जिससे अति कष्ट होता है। प्रथम अवस्था में जिह्वा के ऊपर श्वेत मल जमा रहता है और ऊपर छोटे-छोटे दाने निकल आते हैं। उस समय जिह्वा के ऊपर वालू पडी हुई मालूम होती है। रोग के बढने के साथ-साथ जिह्वा साफ और लाल वर्ण का होकर फूल जाती है। पिडिकाओं के निकलने के समय प्रायः प्रलाप देखा जाता है। मूत्र में शुक्लाण्ड (अल्ब्यूमिन) निकलता है। पिडिकाओं के निकलने का समय ४-५ दिन तक स्थायी होता है। इनके अदृश्य होने के पहले ही शरीर की त्वचा फूलने लगती है। उस समय त्वचा मे अत्यन्त खाज उठती है। इस ज्वर में संधियों में वात के तुल्य वेदना होती है। सामान्य आरक्त ज्वर से भिन्न अन्यान्य प्रकार के आरक्त-ज्वर में गले की नली में अधिक

शोथ होता है। गले की ग्रंथियां भी अत्यन्त सूज जाती हैं। तालु इतना फूलता है कि स्वर वन्द हो जाता है। निगलने में कष्ट और निश्वास में दुर्गन्धि आने लगती है। शरीर में पिडिकाएँ बहुत कम निकलती है। कभी-कभी आरक्त ज्वर में गले की नली के रोगों की भयंकरता से मृत्यु भी हो जाती है। सांघातिक आरक्त-ज्वर की शेष अवस्था मे उदर रोग हो जाता है। रोग अच्छा हुवा प्रतीत होता है। रोगी दूध आदि भी पीता है। फिर इसके पश्चात् ३-४ घटे के मध्य में रोगी का अन्त हो जाता है। मूत्र में एलब्यूमिन और उदर रोग ये इसके भावी फल है। ये सब उपद्रव अधिकतर शरीर की त्वचा के फूलने के समय प्रकट होते हैं। गले की नली की सूजन के बढ़ने से कण के अन्दर भी विकृति हो जाती है। यहाँ तक कि कण्ठ कर्णीय नाली भी बन्द हो जाती है और कर्ण पटह में विकृति होकर बधिरता उत्पन्न हो जाती है। उदर रोग उपस्थित होने के पहले ही मुख मण्डल और हाथ पैरों मे सूजन आ जाती है। मूत्र-विप (यूरीमिया) से कभी-कभी मूर्च्छा और आक्षेप हो जाता है।

रोग निर्णय और भावीफल

रोमान्तिक ज्वर के लक्षणों से इस ज्वर के लक्षणों में प्रभेद यह है कि—कफ, प्रतिश्याय, श्वास आदि लक्षण इसमे नहीं होते। गल नलीय शोथ, जिह्वा की दशा, पिडिकाओं का विशेप वर्ण और व्याप्ति प्रभृति के द्वारा अन्य रोगों से इसका भेद किया जा सकता है। ज्वर की अधिकता, नाडी की शीघ्रता, सन्धि विकार, और उदर रोग आदि उपद्रव इस रोग के निर्णायक लक्षण है। गले की नली के रोग और अन्य लक्षणों की प्रबलता देखने पर इसका भावी फल निश्चित किया जा सकता है। मूर्च्छा और आक्षेप होने पर रोग असाध्य समझा जाता है।

चिकित्सा

ज्वर के सामान्य होने पर चिकित्सा भी सामान्य ज्वर के भाँति करें। रोगी का गृह हवादार और स्वच्छ होना चाहिये। शीत न लगने

पावे। प्यास लगने पर स्निग्ध जल दें। अतः क्लोरेट् ऑफ पोटाश ३० रत्ती १० छटाँक जल मे मिला कर पीने को दें। विवन्ध होने पर वस्तिका प्रयोग करें। रोगी को चारपाई पर से उठने न दें। स्वेदल और मूत्रल औषधों का प्रयोग करें। इसकी चिकित्सा लक्षण और उपद्रवानुसार करे।

ग्रैविक आरक्त ज्वर में पूर्व वर्णित चिकित्सा से भिन्न गल-नली के विकार के लिए वोरोग्लिसेराइड, चूने का पानी, क्लोरेट् ओफ\पोटाश और क्लोरिनेटेड सोडा के द्रव से कुल्ला करावे। क्लोरेट् ऑफ पोटाश का मिक्सचर वना कर आभ्यन्तरिक प्रयोग करें। शरीर के ताप का ह्रास करने के लिए गरम जल मे तौलिया भिगोकर निचोड दे और उससे शरीर पोंछकर रोगी को गरम कपड़ा ओढा दें। इससे स्वेद आकर ज्वर कम हो जाता है। लिसोड़े के पत्तों को हाथ-पैर पर रगडनेसे भी ज्वर कम हो जाता है। लिसोड़े के पत्ते रगडते-रगडते जब काले पड़ जाएँ और गरम हो जाएँ तो उन्हें फेंककर फिर दूसरे पत्तों से रगडे। शरीर का ताप कम करने के लिए एन्टीपाइरीन आदि औषधों का व्यवहार होता है। इसमें कुनैन की पूरी मात्रा से लाभ होता है। आवश्यकतानुसार १५ मिनट वाद वत्सनाभारिष्ट (टिञ्चर ऑफ एकोनाइट) १ बूँद की मात्रा में दे।

सांघातिक आरक्त ज्वर में—पहले से ही सुरा का प्रयोग करें। इसमें सिन्कोना वार्क, क्लोरेट् ऑफ पोटाश अथवा कार्वसेट ऑफ एमोनिया से विशेष उपकार होता है। कोई-कोई आचार्य—सल्फा कार्वनेट ऑफ सोडा का व्यवहार करते हैं और गले की नली के क्षत मे नाइट्रेट ऑफ सिल्वर का प्रयोग करते हैं। टॉनिक एसिड में ग्लिसरीन मिलाकर लगाने से विशेष लाभ होता है। सब प्रकार के आरक्त ज्वर मे सम्पूर्ण शरीर पर तैल की मालिश करें। इससे पिडिकाएँ निकलने मे सहायता मिलती है। यदि पिडिकाएँ निकलना वन्द होकर उदर रोग हो जाय तो कटि देश में गिलास लगाएँ। इसके बाद निरन्तर गरम अलसी की पुल्टिश का प्रयोग करें। उदर रोग के लिए लोहासव २ तोले की मात्रा मे पिलावें अथवा जलापा (हरड विशेष) आदि विरेचक औषधें उचित मात्रा में

है। अनिद्रा और वेदना निवारण के लिए वेदना निवारक और निद्राकारक औषधों का प्रयोग करे। यथा—डोवर्स पाउडर, क्लोरोडीन, अहिफेन आदि।

दण्डक ज्वर

(Dengue Fever)

पर्याय—डेण्डीफीवर (Dandy Fever), तीन दिन का ज्वर, [illegible] ज्वर, अस्थिभञ्जन ज्वर (Break Bone Fever) आदि।

परिचय—इस ज्वर में अस्थियों में टूटने के समान बड़ी पीड़ा होती है। मस्तिष्क तथा सम्पूर्ण सन्धियों और अस्थिकोटर में भयङ्कर पीड़ा होती है। पेशी और ग्रन्थियों में सूजन तथा पीड़ा होती है। यह सूजन और पीड़ा एक ग्रन्थि से दूसरी ग्रन्थि में चली जाती है। इसके साथ प्रतिश्याय के सब लक्षण; गलशोथ (सोर थ्रोट), तालु के श्लैष्मिककला में रक्त की अधिकता और त्वचाभ्यन्तर्वर्ती लाला ग्रन्थियों में पीड़ा के साथ तरुण संक्रामक-शक्तियुक्त यह ज्वर उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी इस ज्वर में आरक्त ज्वर के तुल्य अथवा रोमान्तिका या शीत-पित्त (urticaria) के तुल्य पिटिकाएँ भी निकल आती हैं। इसको 'दण्डक ज्वर' कहते हैं।

भूगोलस्थिति

यह ज्वर भारतवर्ष, ब्रह्मदेश, फारस, मिश्रदेश और अफ्रीका के अन्यान्य प्रदेशों में तथा अमेरिका आदि देशों में देशव्यापी Epidemic) और विक्षिप्त (Sporadically) रूप से फैलता है। सर्व प्रथम १८२४ ई० में रंगून की सेना के मध्य इसकी उत्पत्ति पाई गई उसके बाद यह १८७१ से १८७५ ई० तक भारतवर्ष में बड़े प्रबल रूप से फैला।

निदान

इसका कारण एक प्रकार का कीटाणु है। यह कीटाणु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में स्टेगोमिया फैशियेटा (Stagomyia fasciata) नामक मच्छर के द्वारा संक्रमण करता है। मच्छर के अन्दर में कीटाणु

की वृद्धि होती है, फिर मच्छर रोगी को काटता है और काटने के चार दिन बाद से दण्डक ज्वर को फैलाने का जीवन पर्यन्त कारण हो जाता है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि ज्वरोत्पादक विष रक्त रस (लाइकर सेंगूइनस्) मे रहता है और अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से भी नहीं देखा जा सकता है। इस रोग के अधीन प्राणी मे रोग का विप पिचकारी से प्रयोग करने पर प्राकृतिक दण्डक ज्वर उत्पन्न हो जाता है। इस रोग की गुप्तावस्था ३ से १४ दिन तक है।

सम्प्राप्ति

यह आबाल, वृद्ध नर-नारियों पर समान रूप से आक्रमण करता है। अधिकतर कीटाणु शरीर के अन्दर वृद्धि को प्राप्त कर यथासमय ज्वर पैदा कर देता है। फिर वह अपने समय पर उतर जाता है। देह में कोई मुख्य परिवर्तन नहीं होता है, किसी-किसी स्थल पर फुस्फुसों में अल्प सूजन हो जाती है। यह बहुत कम मारक होता है। इसका परिपाक काल तीन से पाँच दिन तक माना जाता है।

साधारण लक्षण

ज्वर की पूर्व-अवस्था मे कुछ समय चित्त मे ग्लानि और अंगों मे टूटने के समान दर्द होता है। इसके बाद जाड़ा लगकर अचानक ज्वर चढ जाता है। हाथ-पैर, कटि और शंखास्थि में उत्कट वात वेदना तथा पेशियों में मीठी वेदना होती है। इस व्यथा में विराम नहीं होता है। अतिसार, दौर्बल्य, अवसाद और शरीर मे एक प्रकार की पिडिकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ज्वर के भोग काल में और ज्वर के विराम मे सम्पूर्ण शरीर और मुख वैवर्ण्य हो जाता है। सब सन्धियों मे पीड़ा और शोथ उत्पन्न हो जाता है। ग्रन्थियों मे विशेप वृद्धि हो जाती है। अण्ड-ग्रन्थि प्रदाह (ओर्काइटिस्), दृष्टि की शक्ति मे दुर्बलता, बधिरता, प्रवाहिका (डिसेन्ट्री), अतिसार के तुल्य कोई उदर रोग, यकृत में विकार, व्रण, विस्फोट और स्थल विशेष मे उन्माद हो जाता है। स्त्रियों की जरायु से रक्त-स्राव तथा गर्भपात भी होजाता है।

यथोक्तं सिद्धान्त निदाने—

अस्थि सन्धि रुजास्तीवा दण्डाहति कृता इव ।
प्राय क्षिप्रोदयलयो विसर्प. सर्वगात्रग. ॥
ज्वरश्च कण्ठलयुक्तः पुनरावर्त्तते गत' ।
सञ्चारिणा सशोथेन सन्धि शूलेन लक्षित. ॥
प्रतिश्या-कासवान् प्रायेणाष्टाहेन प्रमुच्यते ।
चिर सन्धि रुज सन्ति स ज्ञेयो दण्डक ज्वर. ॥
प्रायोऽसौजानपदिक. वातश्लेष्म प्रकोपन ।
बालानां जरताश्चाति दारुण परिलक्ष्यते ॥

विशेष लक्षण

सहसा दण्डक ज्वर आक्रमण करता है। यहाँ तक कि आक्रमण के अत्यन्त समीप तक रोगी अनेक समय बहुत अच्छा रहता है और ज्वर का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। सबसे पहले किसी एक सन्धि मे सम्भवतः अँगुली की किसी सन्धि में उत्कट वेदना होती है। देखते-देखते ही दूसरी सन्धि में और अस्थि मे पीडा होने लगती है। कभी-कभी रोगी को एक प्रकार की पीड़ा का अनुभव होता है, जो एक या दो दिवस तक रहता है। इसके मध्य में क्षुधा का अभाव, क्लान्ति, दुर्बलता, वमन, उत्क्लेश, शीत, अधिक कम्प और मस्तिष्क अथवा चक्षु-गोलक मे उत्कट वेदना होती है। दण्डक ज्वरीय पिडिकाएँ तीसरे दिन दिखाई देती हैं। मुख लाल और सूजा हुआ मालूम होता है। गलक्षत और चक्षु के श्वेत मण्डल में रक्त की अधिकता हो जाती है। सम्पूर्ण देह मे आरक्त ज्वर के तुल्य लाल पिडिकाएँ प्रकाशित होती हैं। जिह्वा का अग्रभाग और किनारा लाल दिखाई देता है। शेष जिह्वा मल से ढकी रहती है। आरंभ मे नाड़ी की गति १००—१२० तक तो कभी १४० तक हो जाती है, परन्तु, उत्तरोत्तर मंद हो जाती है। ज्वर की गति बढने के साथ-साथ नाड़ी की गति और श्वास-प्रश्वास की गति मे तीव्रता आ जाती है। किसी-किसी आचार्य का मत है कि जिह्वा स्वच्छ होती है। लसीका ग्रंथियों और अण्डकोषों मे वेदना होती है।

शरीर का ताप १०३-१०४ तापांश तक हो जाता है और ज्वर आने के पहले ये सब लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं जो २४ घंटे से ४८ घंटे तक रहते हैं वाद मे इसकी पिडिकाएँ अदृश्य हो जाती है और ज्वर भी कम हो जाता है। इस दशा में २-३ दिन तक कभी-कभी चार दिन तक रोगी निमग्न रहता है, इसके वाद ज्वर दिखाई देता है। इसके साथ दूसरी वार भी पिडिकाएँ निकलती हैं।

डा० रावर्ट का मत—ज्वर के साथ-साथ उत्कट वेदना अथवा सिर में पीड़ा होने लगती है। जिह्वा मलिन और उदर मे अनेक दोषों का सञ्चार, उत्क्लेश आदि होने लगते हैं। पिडिकाएँ ५-७ दिन के मध्य मे दिखाई देती हैं। ये पहले शरीर के ऊपरी भाग मे निकलती हैं।

डा० कोड्रन का सिद्धान्त—पहले हाथ में पिडिकाएँ निकलती हैं। वे देखने मे आरक्त ज्वर व रोमान्तिकाओं की पिडिकाओं के तुल्य होती हैं। कभी-कभी सव अङ्गों मे शिथिलता आ जाती है। पिडिकाएँ इतनी वारीक होती हैं कि सहज मे जानी भी नहीं जा सकतीं। फिर ये सव लक्षण शनैः-शनैः अदृश्य हो जाते हैं। रोगी की दुर्वलता वढ जाती है; उस समय भी उसकी सन्धियाँ सूजी हुई और वेदना से युक्त रहती हैं। कभी-कभी रोग का द्वितीयाक्रमण भी देखा जाता है।

साध्यासाध्यता—यह सुसाध्य है। परन्तु, वालक, वृद्ध और दुर्वलों के लिये यह कभी-कभी घातक हो जाता है। वालकों में नासा से रक्त-स्राव, प्रलाप आदि उपद्रव होने पर सांघातिक हो जाता है।

प्रकार भेद

दण्डक ज्वर नाना प्रकार से प्रकाशित होता है। यथा—कभी-कभी शारीरिक सन्ताप और वायु की वेदना वढ जाती और कभी घट जाती है। ज्वर के साथ-साथ कभी-कभी प्रलाप तथा वालकों में आक्षेपक हो जाता है। समय-समय पर सांघातिकस्वरूप धारण कर लेता है। इसके लक्षण अत्यन्त उत्कट होने पर कभी-कभी कालज्वर (कालाजार) के रूप मे वदल जाते हैं।

चिकित्सा

एक आचार्य का मत है कि पहले विरेचन और वमनकारक ओषधि देनी चाहिए। परन्तु, दूसरे आचार्य का मत है कि इसमें वमन, विरेचन की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इनसे कोई लाभ नहीं होता; बल्कि हानि होती है। इससे रोगी की दुर्बलता और वेदना बढ़ जाती है। जब रोगी का मल काला तथा झागदार निकले तो इन्द्रायण का सत्त्व (कैलोसिन्थ) दें, रसपुष्प (कैलोमल) भी दे सकते हैं। शरीर का ताप १०४ डिग्री होने पर शीतल-जल से परिषेक करें। सन्धियों में वेदना होने पर बेलाडोना के साथ अफीम देने से लाभ होता है। इन दोनों का अरिष्ट १० बूंद की मात्रा में भी दे सकते हैं। किसी-किसी आचार्य का मत है कि शुद्ध बेलाडोना १०-१५ बूंद की मात्रा में एक-एक घण्टे के बाद देने से विशेष लाभ होता है। इसकी दो-तीन मात्रा से पूर्ण लाभ होता है। वेदना और रात्रि में होनेवाली अस्थिरता को दूर करने के लिए अफीम सत्त्व (मार्फीन) अथवा डोवर्स पाउडर देना आवश्यक है।

अभ्यङ्ग प्रयोग—पृष्ठ वंश और संधियों में अफीम, बेलाडोना और क्लोरोफार्म का मर्दन विशेष उपकार करता है। अर्क के पत्ते गरम कर बाँधने से भी लाभ होता है। ज्वर को दूर करने के लिए कुनैन ४ ग्रेन की मात्रा में दें। आवश्यकता होने पर १० ग्रेन की मात्रा में भी दे सकते हैं। आक्षेप (विशेष कर बालकों में) होने पर ब्रोमाइड ऑफ पोटाशियम का प्रयोग करें। खिंचा हुआ द्राक्षासव भी दे सकते हैं। वेदना को दूर करने के लिए नारायण तैल का अभ्यंग करें।

विज्वरावस्था

ज्वर निर्मुक्त हो जाने पर बलकारक (टॉनिक) औषध दें। रोगी के पथ्य के ऊपर विशेष ध्यान दें। अतः लघु, सुपाच्य और बलकारक पथ्य दें। वायु परिवर्तनार्थ स्थानान्तर में जाना आवश्यक है। दुर्बलता दूर करने के लिए—विषमुष्टिक वटी १ गोली, लोह भस्म १ रत्ती, गिलोय

सत्त्व ½ माशा और सितोपलादि चूर्ण २ माशा मिलाकर प्रातः सायं मधु के साथ सेवन करें। भोजन के बाद १ तोला लोहासव पीवें। स्थान परिवर्तन से इसमें विशेष लाभ होता है।

पुनरावर्तक ज्वर

(Relapsing Fever)

पर्याय—दुर्भिक्ष जन्य ज्वर (Famine Fever)।

वर्णन—यह ज्वर अत्यन्त स्पर्शाक्रामक है। इसके रोगी के श्वास से दूसरा व्यक्ति आक्रान्त हो जाता है। यह अल्प काल तक स्थायी रहता है। इसमे फुंसियाँ नहीं निकलती हैं। इस ज्वर का सहसाक्रमण होकर एक सप्ताह तक रहता है। इसलिए इसको साप्ताहिक ज्वर भी कहते हैं। इसके आक्रमण क्रमशः तीन-चार बार देखे जाते हैं। इसके बाद रोगी प्राय. अच्छा हो जाता है। इसको 'पुनरावर्तक ज्वर' कहते हैं।

पूर्व प्रवर्तक कारण

अपवित्र, अपरिष्कृत स्थान में वास करना, विकृत, पर्युषित, विषम और विरुद्ध वीर्यवाले पदार्थों का सेवन, उपवास, अल्प आहार, दरिद्रता आदि इसके पूर्व प्रवर्तक कारण हैं।

प्रधान कारण

(Spironema or Boroelia)

इस ज्वर का प्रधान कारण, स्पायरोनीमा वा बोरीलिया नामक कर्षिणी स्वरूप का जीवाणु है। ये जीवाणु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में जूँ या किलनी द्वारा पहुँचते हैं। इसलिए मलिन वस्त्र ओढ़ने, पहनने वाले गरीब मनुष्यों मे यह अधिक फैलता है। एक स्थान पर कई मनुष्यों के सोने से भी इसका आक्रमण होता है। जाडे के मौसम मे इसका प्रकोप अधिक होता है। इस जीवाणु की कई जातियाँ अमेरिका, अफ्रिका, यूरोप और एशिया मे भिन्न-भिन्न शकल में देखी गई हैं। दक्षिण अफ्रीका में टिक्किल से उत्पन्न होने वाला टिक् ज्वर भी विशिष्ट स्पायरोनीमा के कारण ही उत्पन्न होता है।

पुनरावर्तक के कारण

ज्वर मुक्त हो जाने पर भी जब तक दुर्बलता का ह्रास न हो तब तक शारीरिक परिश्रम, व्यवाय, स्नान, परिभ्रमण प्रभृति परिश्रम का कार्य न करें। क्योंकि दौर्बल्यावस्था में ये सब करने से फिर उसको पुनरावर्तक ज्वर हो जाता है। थोड़े-से ही मिथ्याहार-विहार करने पर रोगी को पुनरावर्तक ज्वर हो जाता है। चिरकाल से परिक्लिष्ट, दुर्बल, दीन चित्तवाले व्यक्ति को शीघ्र ही पुनरावर्तक ज्वर विनष्ट कर देता है। अथवा क्रम से दोष और धातुओं के परिपाक के लक्षण उत्पन्न करते हुए शोथ, दैन्य, ग्लानि, पाण्डुता, अन्न की अनभिलाषा, मंदाग्नि, कण्डू, पिडिका प्रभृति रोग भी उत्पन्न कर देते हैं।

यथोक्तं चरके—

व्यायाम च व्यवायञ्च स्नानं चङ्क्रमणानि च।
ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत्॥
असञ्जातबलो यस्तु ज्वर मुक्तो निषेवते।
वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः॥
दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते।
स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः॥
चिरकाल परिक्लिष्ट दुर्बल दीनचेतसम्।
अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागतः॥
अथवाऽपि परीपाक धातुष्वेव क्रमान्मला।
यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाप्यपकुर्वते॥
दीनतांश्वयथुंग्लानि पाण्डुतां नान्नकामताम्।
कण्डूरुत्कोठ पिडिकाः कुर्वन्त्यग्नि च ते मृदुम्॥
एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः।

जीवाणु-वैलक्षण्य

इस ज्वर से आक्रान्त व्यक्ति के रक्त में स्पायरोनीमा नामक जीवाणु अति सूक्ष्म दिखलाई पड़ते हैं। ज्वर की अवस्था मे इन जीवाणुओं

की संख्या वढ जाती है । ज्वर छूट जाने पर ये दिखलाई नहीं पडते । ज्वर के दो आक्रमणों के मध्य मे जव ज्वर नहीं रहता है, उस समय ये जीवाणु रक्त मे नहीं होते । किन्तु ; ज्वर के आक्रमण के पहले से ही दिखाई देने लगते हैं । ज्वरकालीन रोगी के रक्त को लेकर वम्बई के डॉ० कार्टर ने २२ वन्दरों को इसका टीका लगाया था । उनमे १६ बन्दर इस रोग से आक्रान्त हो गये थे । ६ वन्दरों को रोग का स्पर्श भी नहीं हुआ था । किन्तु , ज्वर की विरामावस्था में जिस समय रोगी के रक्त में ये जीवाणु वर्तमान नहीं होते , उस समय का रक्त हानिकारक नहीं होता ; तथा टीका लगाने से रोग भी उत्पन्न नहीं होता । मनुष्य के शरीर में इसकी टीका लगाने से रोग पैदा हो जाता है ।

सम्प्राप्ति

उपरोक्त जीवाणु वलक्षण्य ही सम्प्राप्ति काल होता है । ज्वरावस्था में ये जीवाणु रक्ताणु के इधर-उधर लिपटे रहते हैं । किन्तु , ज्वर की विरामावस्था मे ये जीवाणु प्लीहा मे पहुँच जाते हैं । इससे प्लीहा कुछ वढ़ जाती है । परन्तु , शरीर मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता । यह ज्वर स्त्री-पुरुष में सब अवस्था तथा समय मे प्रकाशित होता है । समय-समय पर देश में संक्रामक होने से व्यापक रूप मे प्रकाशित होता है । इससे मृत्यु कम होती है । किन्तु, यूरीमिया (Uroemia) या मूर्च्छा, श्वसनक ज्वर, श्वासनलीय प्रदाह, अतिसार प्रभृति उपसर्ग मृत्यु के कारण होते हैं ।

लक्षण

पौन. पौनिक ज्वर की गुप्तावस्था थोड़े दिन तक रहती है । किसी-किसी स्थल में शरीर में इसका विष प्रवेश होने के वाद ही रोग प्रकाशित हो जाता है । अधिकतर गुप्तावस्था पाँच से सात दिन तक स्थायी रहती है । इस गुप्तावस्था में रोगी सुस्त और क्लान्तियुक्त रहता है । कभी-कभी देह के स्थान-स्थान में वेदना का अनुभव होता है । यह ज्वर अकस्मात् आक्रमण करता है । पहले जाडा लगकर शरीर अत्यन्त

काँपने लगता है। शिर मे पीडा, पीठ, हाथ-पैरों में वेदना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं। युवा व्यक्ति में वमन की इच्छा, वमन और द्रुताक्षेप दिखलाई पड़ते हैं। शीघ्र ही शरीर की गर्मी १०२-१०७ डिग्री तक बढ़ जाती है। ज्वर अधिक होने पर रोगी वकने लगता है। जिह्वा श्वेत-मलावृत रहती है। नाडी तेज चलती है, इसकी गति प्रति मिनट १००-१२० तक कभी-कभी १४० तक हो जाती है। अधिकतर वमन में पित्त कृष्ण व पीत वर्ण तथा तरल व गाढा निकलता है। इसमें वद्धकोष्ठ हो जाता है। आमाशय प्रदेश (एपिगैस्ट्रियम्) मे अत्यन्त वेदना का अनुभव होता है। मूत्र अत्यन्त लाल और थोडा-थोडा निकलता है। किसी-किसी स्थल मे स्वेद अधिक निकलता है। यकृत् और प्लीहा वढ़ जाती तथा उसमे वेदना होती है। अधिकतर पक्वाशय मे वहुत विकार पैदा हो जाते हैं। प्राय: चौथे दिन मे पाण्डु रोग प्रकाशित होने की सम्भावना हो जाती है। पौनः पौनिक ज्वर मे शरीर पर किसी प्रकार की पिडिकाएँ नहीं निकलती हैं। इसमे रोगी कभी-कभी वकने लगता है। ज्वर आरम्भ होने के सातव दिन वाद प्रायः ज्वर दिन में पसीना देकर उतर जाता है। किसी-किसी स्थल में तीसरे दिन ही सहसा ज्वर मोक्षण (क्राइसिस्) प्रकाशित हो जाता है। कभी-कभी यह दस दिन तक भी वना रहता है। किन्तु ज्वर छूटने पर रोगी अत्यन्त दुर्वल हो जाता है। दुर्वल और वृद्ध व्यक्तियों को सहसा ज्वर मोक्षण (क्राइसिस्) की अवस्था में शीताङ्ग (कोलैप्स) उपस्थित हो जाता है। ज्वर छूटने के प्रायः सात दिन के वाद ज्वर के सव लक्षण सहसा प्रकाशित हो पुनः ज्वर हो जाता है। ऐसे ही तीन या चार वार ज्वर प्रकाशित होता है। इस रोग मे अधिकतर उपसग आदि प्रकाशित नहीं होते। इस ज्वर से गर्भवती स्त्रियों का गर्भपात हो जाता है।

अरिष्ट लक्षण

अङ्गों में भयंकर पीडा और पिडिकाएँ निकलना, हाथ-पैरों मे वात के समान वेदना, कभी अतिसार, स्तैमित्य, हिमाङ्ग, मृदु प्रलाप, हाथ-

पैर आदि का स्पन्दन, दाँतों मे मल (Sordes), शय्याकर्षण प्रभृति से अरिष्ट के लक्षण जानना चाहिये।

उपसर्ग—श्वासनली प्रदाह, (ब्रोङ्काइटिस्), श्वसनक ज्वर, मूर्च्छा, सब सन्धियों मे वेदना, नेत्राभिष्यन्द (ऑफ् थैलमिया) अनेक स्थान से रक्तस्राव, उदर रोग, पाद और कर्णमूल मे शोथ, रक्ताल्पता (एनीमिया) आदि उपसर्ग रूप से प्रकाशित होते हैं।

भावीफल

रोग सामान्य होने पर एक सप्ताह के मध्य मे ज्वर होजाता है। इस ज्वर का भावीफल उतना अमङ्गलकारी नहीं है। किन्तु वृद्ध और रोग के भोग से दुर्वल, अधिक भोजन व लङ्घन से भग्न स्वास्थ्यवाले को ज्वर होने पर प्राय अनिष्ट फल देता है। स्पष्ट पाण्डु रोग, कठोररक्तस्राव, विशेषकर वृद्धावस्था मे होने पर सब अङ्गों मे पिडिका व पार्प्यूरा (Purpura) से दाग पड जाते हैं। दन्तमूल मे मल (Sordes), जिह्वा व मुख के अन्दर घाव, असम्पूर्ण ज्वर वियोग, मूत्रावरोध अथवा अल्प-अल्प मूत्र, कठोर मस्तिष्क के लक्षण, सिनकोप के सब लक्षण और कठोर उपसर्ग सब विपत्तियों के लक्षण हैं। अनेक स्थलों मे रोग की प्रकृति का ज्ञान करना कठिन हो जाता है।

मृत देह की परीक्षा

वढ़ी हुई कोमल प्लीहा, वृद्धियुक्त मृदु यकृत्, वृक्क और हृदय क्लोडीस्वेलिङ्ग नामक अवस्था से ग्रसित दिखलाई पडता है। इसके सिवाय त्वचा पीली तथा किसी-किसी स्थल मे श्लैष्मिक कला के नीचे वहुत-सी पिडिकाएँ दिखलाई पडती हैं।

प्रभेद निर्णय

पुनरावर्तक ज्वर का अचानक आक्रमण, शरीर मे पिडिकाओं का सामान्य रूप से न निकलना, सहसा ज्वर का छूट जाना और सात दिन के वाद प्राय ज्वर का आक्रमण प्रभृति लक्षणों से इसकी टाइफस और आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड्) से भिन्नता की जा सकती है। अणुवीक्षण-

यन्त्र से परीक्षा करने पर स्पाइरोकेटी (Spirochaetæ) नामक कर्पिण्याकार का जीवाणु मिलने पर कोई सन्देह नहीं रह जाता है।

पुनः पैनिक ज्वर (भेद)

स्थायित्व—सात दिन तक स्थायी रहता है। ज्वर आक्रमण के दिवस से चौदहवे दिन मे फिर आक्रमण करता है।

मृत्युसख्या—प्रतिशत १।

वय क्रम—सव आयुओं मे।

आक्रमण प्रथा—देशव्यापी।

शरीर के चिह्न—से रहित होता है।

कारण—अनशन, वहुत मनुष्यों की भीड मे रहना।

रोग निर्णय—पेशियों मे वेदना, रोजिओला नहीं होता, मुख के मध्य मे हर्पिज, यकृत का विवर्धन और वेदना, ज्वर सहसा वन्द, प्रलाप अति विरल।

टाइफस्

स्थायित्व—चौदह दिन तक स्थायी रहता है।

मृत्युसख्या—प्रतिशत १६-२०।

वय. क्रम—प्राप्त वयस्क में।

आक्रमण प्रथा—देशव्यापी।

शरीर के चिह्न—कुछ कृष्ण वर्ण की अनुज्वल गुटिका होती है।

कारण—स्पर्शाक्रमण, दूषित वायु सेवन, अनशन, वहुत जनों से व्याप्त स्थान में वास करना।

रोग निर्णय—Herpes (हर्पिज) और फेसिएलिस उपस्थित नहीं होता, अधिकतर प्रलाप और चर्म विवर्ण हो जाता है।

टाइफाइड्

स्थायित्व—एक्कीस दिन तक स्थायी रहता है।

मृत्युसख्या—प्रतिशत १६-१७।

वयः क्रम—युवावस्था में।

आक्रमण प्रथा—देश और जातिभेद से आक्रमणहोता है।

शरीर के चिह्न—रक्तवर्ण के ज्वराङ्क और गुटिका, अन्त्र के ग्रन्थिसमूह (पेयार्स पैच) में रक्त संग्रह और क्षत हो जाता है।

कारण—दूषित वायु सेवन, अशुद्ध जल का पीना प्रभृति।

रोग निर्णय—रोजिओला वर्तमान रहता है—अतिसार और मृदु प्रलाप होता है।

चिकित्सा

इस ज्वर में अधिकतर विवन्ध रहता है। इसलिए मलाशय की शुद्धि के लिए पञ्च सकार चूर्ण ६ माशे की मात्रा में ज्वर न होने पर दें। इससे तीन घण्टे के बाद खुलकर पाखाना हो जाता है। यदि क्रूर कोष्ठी हो तो शुद्ध एरण्ड तैल २॥ तोला दें। यदि इससे पाखाना न हो तो इसकी मात्रा दूनी कर दें। किन्तु; विरेचन अधिक न दें। इसके बाद ज्वर का आक्रमण बन्द करने के लिये संखिया के यौगिक "ज्वर संहार" की २ रत्ती की मात्रा ७ तुलसी के पत्तों में रखकर तीन-तीन घण्टे के पीछे दें। इससे ज्वर नहीं आता है। यदि इससे खुश्की मालूम हो तो नीचे लिखा हुआ क्वाथ दें।

यथोक्तं चरके—

किरात तिक्तक तिक्ता मुस्त पर्पटकोऽमृता।
घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात्पुनरावर्तक ज्वरम्॥

भावार्थ—चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, पित्तपापडा, गुर्च इनको सम मात्रा में २॥ तोला लेकर यव कुट करके आधसेर जल में पकावें। शेष क्वाथ १ छटाँक को छानकर ज्वर के पहले कुछ गरम ही पीवें। इसे सात दिन पीने से पुनरावर्तक ज्वर नहीं आता है। हरिताल भस्म मधु के साथ १ रत्ती की मात्रा में देने से भी बहुत लाभ होता है।

सूचिकाभरण प्रयोग

डाइओक्साइडियामिडो आर्सनोवेञ्जल का त्वचोऽधः क्षेपण (हाइपोडर्मिक) विधि से प्रयोग करें। अथवा साल्वर्शन, न्यू साल्वर्शन तथा उपदंशघ्न सिद्धयोगों का प्रयोग अन्त क्षेपण विधि से करने पर पूरा लाभ होता है।

अन्तःक्षेपण का समय

समय—नियोसाल्वर्सन (६ ग्राम) १० सी. सी. परिस्रुत जल में घोल कर शिरा मे प्रविष्ट करें। परन्तु ज्वर-मध्य में इसका प्रयोग करें, क्योंकि ज्वर उतरने पर इसका प्रयोग करने से कुछ भी लाभ नहीं होता। ज्वर की तीव्रावस्था मे एक वार औषध को शिरा में प्रविष्ट करने से ही रोग के रक्तगत जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। किन्तु व्याधि को समूल नाश करने के लिए ६ सूई देनी चाहिए। ध्यान रहे, हृदय की दुर्बलता मे इस औषध को न दें।

एसीटीलार्सन (Acetylarson) मात्रा २ से ३ सी. सी. त्वचा या पेशी मे सूई द्वारा प्रविष्ट करें। अथवा सल्फोर्टाव (Sulphostab, Boots) इसकी मात्रा $\frac{३}{२०}$-$\frac{६}{२०}$ धान्य है। इसकी विशेपता यह है कि यह पेशी या त्वचा में भी दी जाती है।

स्टोवार्सल—जब सूचिकाभरण की सुविधा न हो तो मुख द्वारा स्टोवार्सल का उपयोग करें। मात्रा ४ ग्रेन की गोलियाँ दिन मे ३ बार दें। इस चिकित्सा को ३ दिन तक प्रयुक्त करें। ज्वर मुक्ति के समय हृदय—बलदायक औषध का प्रयोग करें। यथा—डिजीटेलिस्, स्ट्रिकनीन् प्रभृति दें। रोगी को पूर्ण विश्राम, उचित प्रकाश और शुद्ध वायु वाले स्थान में रक्खें। खाद्य-पेय तरल दें।

यूरोमिया की चिकित्सा—नाइट्रेट् ऑफ पोटाश और लवणिक मूत्र कारक औषध देने से मूत्र यन्त्र की क्रिया बढ जाने से फिर यह रोग नहीं होता है।

शिरोवेदना—गेंदा के फूल को गुलाब के अर्क में पीसकर लेप करें अथवा बरफ की थैली रखे।

पिपासा में—षडङ्ग पानीय दें। एलादि वटी (चरकोक्त) चूसने के लिए दें। अथवा कार्बोनिकाम्ल से मिश्रित जल दें, इससे ज्यादा प्यास लगना बन्द हो जाती है। यकृत्-प्लीहा के स्थान पर वेदना होने से स्थानिक शैत्य और उपनाह (पुल्टिस्) का प्रयोग करें। मलेरिया ज्वर में बढी हुई प्लीहा के तुल्य इसकी चिकित्सा करें। शीताङ्ग (कोलैप्स) की दशा में

कस्तूरी, मकरध्वज आदि बलकारक औषधों का प्रयोग करें। अथवा कार्बोनेट आफ अमोनियां और मद्यसार का प्रयोग करें। प्रलाप उपस्थित होने पर १५ ग्रेन की मात्रा में सेवन कर एक-दो ड्राम जब तक न हो जायें तब तक सेवन करते रहें। प्रति घंटा के अन्तर से क्लोरेल की व्यवस्था करें।

रक्ताल्पता में—लोहासव २ तोले की मात्रा मे सेवन करें। अथवा नाइट्रोम्यूरियेटिक एसिड् की उचित मात्रा दे।

चक्षुप्रदाह में—कपाल के पार्श्व मे जलौका (जोंक) लगावें। एट्रोपीन से कनीनिका प्रसारित रखना चाहिये। अन्य उपद्रवों की उनके अनुसार ही चिकित्सा करें। विश्राम, लघु-स्निग्ध और बलकारक तथा पुष्टकारक आहार और रसायन के प्रयोग इसमे अच्छे हैं।

मरुमक्षिका ज्वर

(Sand Fly fever)

निर्वचन—यह एक संक्रामक ज्वर है जो बालू की मक्षिका के काटने से पैदा होता है। यह ज्वर तीन दिन तक रहता है। इस मक्खी का नाम फ्लेबोटोमस पेपेटसाइ (Flebotomus papataci) है।

निदान

इसका निदान एक भाँति का विशेष निस्पन्दन शील कीटाणु है। यह कीटाणु बालू की मक्खी के द्वारा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में पहुँचता है। इस मक्खी के रहने का स्थान अंधेरे सील वाले घरों के कोने हैं। जब यह आतुर को काटती है तो खून चूसने के साथ ही कीटाणु को भी चूस लेती है और विषम ज्वर के जीवाणु के तुल्य यह कीटाणु अपना जीवन बालू-मक्षिका के अन्दर पूरा करके ज्वर का कारण होता है। इस मक्खी के काटने के दो दिन बाद ज्वर के लक्षण शुरू हो जाते हैं। अणुवीक्षण यंत्र से ये कीटाणु अभी तक नहीं देखे जा सके हैं। इसलिए मनुष्य तथा मक्खी के अन्दर इसके परिवर्तन क्या-क्या होते हैं यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह मृदु होता है, इससे अनिष्ट

होने की संभावना नहीं रहती। इसका परिपाक काल तीन से सात दिवस तक है।

लक्षण

ज्वर के पूर्व रूप होने पर अङ्गों मे पीडा, क्लम, वमन की इच्छा, और विह्वलता प्रतीत होती है। इसके बाद ज्वर सहसा जाड़ा लगकर १०३, १०४, १०५ तापांश तक चढ़ जाता है। शिर मे अत्यन्त वेदना, कमर मे दर्द आदि लक्षण पैदा हो जाते है। अधिकतर रोगी को कब्जियत रहती है अतः जिह्वा मैली रहती है। कभी-कभी अतिसार भी हो जाता है। रोगी का मुख सूजा हुआ और रक्त वर्ण का प्रतीत होता है। दूसरे दिन ज्वर कुछ कम हो जाता है। तीसरे दिन अत्यल्प होकर चौथे दिन विल्कुल छूट जाता हे। कभी-कभी ज्वर उतरते समय स्वेद भी निकल आता है।

चिकित्सा

तीन दिन के पश्चात् ज्वर स्वयं ही उतर जाता है। इसलिए कोई विशेप उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। सञ्जीवनी वटी (शार्ङ्गधरोक्त) २ गोली अनुपान ७ तुलसीदलों में रख कर दिन मे तीन बार दें। प्यास के लिए षडङ्ग पानीय दें। यदि शरीर मे अधिक दर्द हो तो एस्प्रीन १ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती मे मिला कर षडङ्ग पानीय के साथ दें। इससे पीडा दूर होती है और हृदय की दौर्बल्यता का भय नहीं रहता। बालु-मक्षिका के नाश करने का उपाय यथा सम्भव करना चाहिये। दंश स्थान पर टिञ्चर आयोडिन अथवा उदुम्बरसार का गाढा लेप करें। अन्य चिकित्सा दण्डकज्वर की भॉति करें। इसमे अफीम बहुत लाभ करती है। प्रारम्भ मे ही टिञ्चर ओयाय के ३० बूँद पानी के साथ देने से बहुत लाभ होता है। रोगी को सदा मशहरी में रक्खें।

तन्द्रिक ज्वर

पर्याय—टाइफस् फीवर, बन्दीगृह ज्वर (Jail fever), अकाल ज्वर (Famine fever), शिविर ज्वर (Camp fever)।

वर्णन—इसमे कृशता, आलस्य और लसीका की ग्रन्थियाँ बढ जाती है। तन्द्रा, ज्वर आदि लक्षण प्रकट होते हैं। यह चिरकाल तक रहनेवाला संक्रामक ज्वर है।

कारण

इसका प्रधान हेतु एकजीवाणु विशेष है, जिसका नाम 'ट्रियेनोसोम' है। यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे मक्खी के द्वारा फैलता है।

लक्षण

प्रथम श्रेणी में—विषम ज्वर के तुल्य आक्रमण होता है। कुछ समय तक प्रति दिन ज्वर आता है। इसके बाद कुछ दिन नहीं आता है। फिर इसके आक्रमण होने लगते हैं। प्लीहा बढ जाती है। लसीका ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न हो जाता है।

द्वितीय श्रेणी में—प्रति दिवस धीरे-धीरे ज्वर आने लगता है और सुबह ज्वर उतर जाता है। आलस्य अधिक बढ जाता है, जिससे तन्द्रा अधिक होती है। इसमे रक्ताल्पता के साथ-साथ दुर्बलता अधिक बढ जाती है। कुछ दिन के लिये मध्य मे ज्वर से छुटकारा भी मिल जाता है।

तृतीय श्रेणी में—मुख पर सूजन आ जाती है। बुद्धिभ्रंश उपस्थित हो जाता है तथा अस्पष्ट और विलम्वयुक्त शब्द निकलता है। तन्द्रा अधिक बढ जाती है। रोगी कभी-कभी चलते-चलते गिर पडता है। अन्त मे संन्यास की दशा होकर इस संसार से सदा के लिये चल देता है। यदि तन्द्रा विलम्ब से शुरू होती है तो रोगी अधिक समय तक जीता है और यदि तन्द्रा जल्दी ही शुरू हो जाती है तो रोगी जल्दी मर जाता है। सदा तीनों श्रेणियाँ स्पष्टरूप से मालूम हो यह जरूरी नहीं है।

रोग परीक्षा

अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से सूजी हुई लसीका-ग्रन्थियों से रक्त लेकर परीक्षा करें। यदि उसमें जीवाणु पाया जाय तो उसका प्रतिकार करें।

चिकित्सा

प्रारम्भिक दशा मे यदि उपचार किया जाय तो विशेष लाभ होता है। इसमे एटोक्सील, एण्टीमेनी, टारट्रेट तथा बेयर २०५ पृथक्-पृथक् दें अथवा मिलाकर देने से भी विशेष लाभ देखा गया है। इस रोग में हृदय दौर्बल्य हो जाया करता है। इसको दूर करने के लिये डिजिटेलिस कोरामीन, स्ट्रिकनीन, ब्राण्डी, ग्लूकोज इत्यादि हृद्य-औषधों का प्रयोग मुख या शिरा द्वारा करें।

प्रलाप, शिरोवेदना, निद्रानाश प्रभृति मस्तिष्कगत लक्षणों के लिये कटिवेध, क्लोरल हाइड्रेट, सिर पर बर्फ, ब्रोमाइड, मार्फिया इत्यादि का उपयोग कर। रक्तस्रावी प्रवृत्ति को कम करने के लिये जीवतिक्ति (विटामिन) सी० का उपयोग मुख द्वारा अथवा सूचिकाभरण से करें। विषमता दूर करने के लिये लवणाम्बु, ग्लूकोज और उपवृक्क रस के साथ ५००—१००० घ० शि० मा० की मात्रा मे प्रति दिन दे सकते हैं। सन्निवृत्त लसीका अथवा घोडे या खरगोश की परमक्षम (Hyper-immune) लसीका का भी प्रयोग किया जाता है। परन्तु; विशेष लाभ नहीं दिखाई देता है। चिनी कार्टन किनीन और सल्फोनामाइड का योग २ घ० शि० मा० की मात्रा मे शिरा द्वारा और २ गोलियाँ प्रति दिन मुख द्वारा दी जाती हैं। यूरंट्रोपीन १०-२० रत्ती की मात्रा मे ५ घ० शि० मा० जल में विद्रुत कर शिरा द्वारा तीन दिन दें। नोवासुराल १०% घोल का १ घ० शि० मा० पेशी मे १-२ बार दिया जाता है।

पथ्य—दूध, फलों का रस, यूप और ग्लूकोज का पानी प्रभृति द। मुख की सफाई का विशेष ध्यान रक्खें।

श्लैष्मिक-ज्वर

(Influenza)

निर्वचन—श्वास-मार्ग की श्लैष्मिक-कला में शोथ हो जाता है। कभी-कभी इसके साथ-साथ परिपाक-नली की श्लैष्मिक-कला मे भी शोथ हो

जाता है। इससे प्रतिश्याय और कफ ज्वर के लक्षण प्रकट होते हैं। यह जनपद व्यापक-सक्रामक-ज्वर है। इसको जनपद व्यापक-प्रतिश्याय (एपीडेमिक कॉटर), प्रतिश्यायज ज्वर (कैटेरल फीवर) अथवा सक्रामक सर्दी भी कहते हैं।

कारण

इसका प्रधान कारण एक प्रकार का शलाकाणु है; जिसको 'बैसिलस इन्फ्लुएंजा' कहते हैं। यद्यपि आज तक इसके विषय मे कोई निश्चित रूप से निर्णय नहीं हुआ है। उपरोक्त अणु के साथ-साथ प्रतिश्यायाणु और स्टैफिलो कॉकस ऑरियस भी देखे जाते हैं। इसका संक्रमण वायु द्वारा होता है। इसलिए एक स्थान मे रहने वालों में यह साथ-साथ ही फैलता है। जो गीली तथा तराई के जमीन मे रहते हैं तथा जो दुर्बल, रोगी, क्षय रोगी, फुफ्फुस और हृदय के रोगी हैं, वे इससे बहुत जल्द आक्रान्त होते हैं। मलेरिया के समान इसका पुनराक्रमण भी होता है। शरद्‌ऋतु मे शीत लगने से जो आक्रमण होता है, वह कष्टसाध्य होता है। इसी के समान वसन्तऋतु में भी आक्रमण होता है। रोगी की सेवा-सुश्रूषा करने तथा दूपित वस्त्रों के स्पर्श होने से इसका संक्रमण होता है। कोई-कोई आचार्य एक निस्पन्दन शील जीवाणु जो कि फिल्टर पेपर से छानने पर छने हुए द्रव्य में चला जाता है उसके समान, मानते हैं। कुछ लोगों ने उस जीवाणु का प्रत्यक्ष करके 'बैक्टेरियम न्यूमोसिन्टिस्' नाम रक्खा है। यद्यपि इसे सब विद्वान् नहीं स्वीकार करते। किन्तु वे भी निस्पन्दन शील जीवाणु को कारण मानते हैं। बैसीलस इन्फुएंजा अत्यन्त छोटा वृत्ताकार जीवाणु होता है।

इतिहास

श्लेष्मज्वर सबसे पहले उत्तर इटली देश में १५४१ ई० में हुआ था। यह भारतवर्ष में विक्रमीय सवत् १९७५-७६ में अति भयंकर महामारी के रूप में प्रकाशित हुआ था। इससे पहले भी यह तीन बार हुआ था किन्तु, उस समय कुछ कम हुआ था।

श्लैष्मिक ज्वर का परिचय—

प्रादुः सन्तीह यत्प्रायः श्लेष्मजोपद्रवा भृशम् ।
ततोजनपदोध्वसी ज्वरोऽसौ श्लेष्मक' स्मृतः ॥

निदानम्—

वायुवाहित जीवाणु विष युगपदत्र सा ।
लोकेषु प्रसृत प्राय श्वास मार्गेण त ज्वरम् ॥
विदधाति क्वचिद् वाथ भुक्त मार्गेण सत्रमः ।
जनाज्जने च सक्रान्तिः श्वसनादि निमित्ततः ॥

—सि० नि०

सम्प्राप्ति

इसके जीवाणु श्वासयन्त्र मे पहुँच कर उसमें शोथ, व्रण आदि विकार उत्पन्न करके रोग की उत्पत्ति करते हैं। अथवा आहार नलिका का श्लैष्मिक-कला में प्रदाह उत्पन्न करके ज्वर की उत्पत्ति करते हैं। अथवा, सम्पूर्ण धातुओं को दूपित करके कफ वातोल्वण सन्निपात उत्पन्न कर देते है। इसका विप धातुओं को विकृत कर देता हैं जिससे सैंकड़ों मनुष्य मर जाते हैं। फुफ्फुसों में विप पहुंच कर व्रण, शोथ प्रभृति और वायु की नलियों को कफ से पूर्ण कर देता है। अतः न्यूमोनिया के तुल्य लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। विप अमाशय और पक्वाशय में पहुंच कर वमन, अतिसार आदि लक्षण उत्पन्न होकर श्लेष्मज ज्वर पैदा हो जाता है।

यथोक्तम्—

प्रायश्चास्य विकारा स्युः श्वासयत्रे क्वचित्पुन ।
अन्न मार्गे समप्रेऽपि क्वापि वा सर्वधातुषु ॥
कफ-वातोल्वण तच्च सन्निपातमुदीरयत् ।
विषं धातून् विकुर्वते हन्ति तेन सहस्रशः ॥

—सि० नि०

पूर्वरूप, रूप

सामान्य रूप से सहसा ही इस ज्वर का आक्रमण होता है। किसी-किसी स्थल पर दो-तीन दिन तक सब अङ्गों मे असुख प्रतीत होता है। रोग के आरंभ होने पर आक्रमण के समय शीत अथवा गर्मी मालूम होकर शीघ्र ही नासिका के अन्दर और कण्ठ के मध्य मे प्रतिश्याय के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। खांसी, गले की नली मे वेदना, पुरः कपाल (माथे) मे वेदना, शिर मे दर्द, हाथ-पैरों में वेदना, सब पेशियों में दुर्बलता, वक्षः प्रदेश मे वेदना, ग्लानि तथा मनमे चिन्ता हो जाती है। इनके साथ-साथ ज्वर भी हो जाता है। उपद्रव-शून्य ज्वर के होने पर ५-६ दिन तक १०३-१०४ तापाश ज्वर रहता है। नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है, नाडी का दबाव और प्रभाव बदल जाता है। साथ-साथ तरुण प्रतिश्याय के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। मस्तिष्क मे भारीपन, भरा हुआ और सर्दी-सी प्रतीत होती है। नेत्र लाल और आँसुओं से भरे हुए मालूम होते हैं। नासिका के छिद्र में उग्रता मालूम होती है।

इस अवस्था में नासिका के अन्दर से शीघ्र- शीघ्र कफ निकलता है। जल्दी-जल्दी छीकें आती हैं। कभी-कभी नासिका से रक्त भी निकलने लगता है। मुख के अन्दर की झिल्ली रक्त के वेगसे युक्त होती है और गले में वेदना, स्वर भेद, वा कठिन स्वर, स्वर लोप, आदि उपस्थित हो जाता है। रोग के मृदु होने पर स्वरयन्त्र के नीचे हिस्से मे सर्दी नहीं फैलती है। स्वरयन्त्र का सबसे निचला भाग आक्रान्त होने पर रोग की अवस्था उत्कट हो जाती है। रोगी की कटि, पृष्ठ और वक्षस्थल में अत्यन्त पीडा होती है। ज्वर रात्रि में बढता है। पहले शुष्क और रूक्ष कास आता है। फिर शीघ्र ही खाँसी में अल्प मात्रा मे पूय से मिला हुआ श्लेष्मा कफ के रूप मे निकलने लगता है। क्रमिक रोग के बढने पर कफ का परिमाण भी बढ जाता है और अन्त में रक्त मिश्रित कफ निकलने लगता है। फुफ्फुसों में रोग का आक्रमण होने पर वह श्वास-कृच्छ्र, और श्वासावरोध आदि लक्षणों से युक्त हो जाता है।

डा० शेली का मत—श्वास-मार्ग के आक्रान्तस्थानों पर पिडिकाएँ प्रकट हो जाती हैं। यह इस रोग का निर्देशक लक्षण है। प्राय. ३-४ दिन वाद प्रतिश्याय के लक्षण शान्त होने लगते हैं। किन्तु श्वास-नली मे शोथ (ब्रोंक्काइटिस्) होने पर कास चिरस्थायी हो जाता है। अनेक स्थलों मे रोग-भोग के मध्यकाल मे आमाशय में विकार पैदा होने से अग्निमान्द्य हो जाता है; जिससे क्षुधा नहीं मालूम होती। जिह्वा मल से आवृत, पक्वाशय-प्रदेश के दवाने पर उदरशूल तुल्य वेदना, वमन की इच्छा या वमन हो जाता है। रोग के आरम्भ मे अजीर्ण और वाद मे अतिसार व रक्तातिसार हो जाता है। इस रोग में नाड़ी सम्बन्धी सव लक्षण विलक्षण प्रकाशित होते हैं। अक्षिगोलक और शिर मे अति तीव्र वेदना होती है। सव अङ्गों की पेशियों और नाडी-तन्तुओं मे नाडी-शूल की तरह वेदना होती है। ग्रीवा और मस्तिष्क मे चेतनाधिक्य प्रतीत होता है। इस रोग का विशेप लक्षण कायिक और मानसिक क्षीणता है। यह क्षीणता रोग के नष्ट हो जाने पर भी चिरकाल तक वनी रहती है। शरीर के उठाने पर सिर हिलने लगता है। किसी-किसी स्थान मे मृदु प्रलाप, अस्थिरता, अनिद्रा तथा कभी-कभी रोगारम्भ में तन्द्रा और निद्रा से व्याकुलता आदि लक्षण दिखाई पडते हैं। रोग के तीव्र वेग में पेशियों में कम्प, चारपाई पर से कपडों का फेंकना, प्रलाप आदि लक्षण देखे जाते हैं। साधारण रूप से श्लैष्मिक ज्वर तीसरे दिन वहुत वढ जाता है, वाद को शीघ्र ही शान्त होने लगता है। ज्वर अचानक पाँचवें या छठे दिन उतर जाता है। कभी-कभी २८ दिन तक भी चलता है। रोग के विषम होने या उपद्रवयुक्त होने पर १०-१२ दिन के वाद अन्त मे दुर्वलता, स्वेद की अधिकता तथा कभी-कभी मात्रा से अधिक पुरीप और मूत्र निकलता है। कफ अधिक निकलने पर ज्वर छूट जाता है किन्तु दुर्वलता अधिक हो जाती है।

श्लैष्मिक ज्वर के लक्षण

प्रतिश्याय शिर शूल शीतकम्पौ च कुत्रचित्।
अङ्गमर्द· कटीपृष्ठोरसां तीव्राश्च वेदना॥

कासो ज्वरोऽवसादश्च कार्श्यञ्चाल्पैर्दिनैर्भृशम् ।
अन्वर्थं बलहानिश्च लिङ्गानि श्लेष्मके ज्वरे ॥
सामान्यतो, विशेषात्तु फुफ्फुसाक्रमणे सति ।
सरक्तष्ठीवन प्रायः प्रलापः श्वसनन्तथा ॥
अथान्नमार्गेत्वाक्रान्ते वम्यतीसारयोर्द्वयो. ।
एकस्य वा प्रवृत्ति. स्यात् शूल क्वापि च कामला ॥
अत्यर्थं विष दोषेण सर्व धातु प्रदूषणात् ।
अभिन्यास सम क्वापि रूप तस्मान्न मुच्यते ॥
नैरुज्य स्वल्प दोषस्य शीघ्रं यद्यपि जायते ।
बलहानिश्चिरायैव कृच्छात्तु बहुदोषता ॥

—सि० नि०

प्रकार भेद

(१) वातिक—शिर मे शूल, निद्रा नाश, कमर में पीडा, हाथ-पैरों में पीड़ा, क्षीणता, प्रतिश्याय, कास, प्रलाप आदि वातिक लक्षण प्रकाशित होने के साथ-साथ ज्वर विषम रूप को धारण कर लेता है। कभी-कभी मस्तिष्क परवेष्टनी-कला शोथ (मेनिञ्जाइटिस्) और पक्षाघातादि के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। यह वातिक-श्लेष्मक ज्वर है।

(२) उरोगुहाजन्य श्लेष्मक ज्वर—इसमे प्रतिश्याय, कण्ठनलीय शोथ, (लेरिञ्जाइटिस्) और श्वासनलीय शोथ (Bronchitis), फुफ्फुस प्रदाह, (Pneumonia) प्रभृति के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। इस ज्वर में अन्य लक्षणों के साथ-साथ खाँसी अधिक आती है। रक्त मिश्रित कफ निकलता है। रोग टेटुवा से वात-प्रणाली और उसके आगे फेफड़ों तक फैल जाता है। जिससे प्रणालीय श्वसनक ज्वर तथा कभी-कभी खण्डिक श्वसनक ज्वर हो जाता है। यह स्वरूप तीसरे दिन मालूम होता है। कभी-कभी आर्द्र, शुष्क व पूययुक्त न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर) हो जाता है। यह बहुत भयानक है। इससे कदाचित ही रोगी बच पाते हैं।

(३) हार्दिक श्लेष्मक ज्वर—हृदय की क्षीणता, दवाव और यन्त्रणा मालूम होती है। वृहत् रूप धारण करने पर एञ्जाइना पेक्टोरिस के लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं।

(४) आन्त्रिक श्लेष्मक ज्वर और आमाशयिक श्लेष्मक ज्वर—इसमें अन्त्र विकृति और आमाशयिक विकृति के कारण वमनेच्छा, वमन और अतिसारादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अतिसार मे पीडा और प्रवाहण के साथ कामला का भी लक्षण प्रकट होता है। जो चार-पॉच दिन के वाद प्राय' शान्त हो जाता है।

श्लेष्मक ज्वर के साधारण लक्षणों का वर्णन कर दिया गया है। इस रोग मे प्रधानता से जो लक्षण प्रकाशित होते है। उनका वर्णन संक्षेप से नीचे लिखा जाता है।

रोगाक्रमण की अवस्था

किसी-किसी स्थल मे रोग सहसा इतना प्रकाशित हो जाता है और सार्वाङ्गिक क्षीणता इतनी वढ जाती है कि इस रोग के सिवा अन्य रोग मे ऐसी दशा नहीं होती, वलवान् पुरुष भी क्षण के मध्य में शय्या से उठ नहीं सकता है। विसूचिका की पतनावस्था (कोलैप्स) के तुल्य अवस्था हो जाने से क्षीणता चिरकाल तक रहती है।

शिरः शूल

शिर में अनेक प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं। अधिकतर पुर कपाल और आँखों मे ऐसी भयानक पीडा होती है कि निद्रानाश होकर रोगी चकने लगता है। किन्तु यह वेदना २-३ दिन मे शान्त हो जाती है।

विविध वेदनाएँ

अस्थि तथा सम्पूर्ण अङ्गों मे वेदना वर्तमान रहती है। कभी-कभी वेदना इतनी प्रवल हो जाती है मानो हड्डी टूटी जाती हो। कभी-कभी पृष्ठवंश के रोग में टेविस् डर्सेलिस् तथा विजली के तुल्य वेदना होती है। कभी-कभी मस्तक, कंधा, कमर और उरूमें इतनी वेदना और यंत्रणा होती है कि अङ्ग-प्रत्यङ्ग को किसी प्रकार से रखने पर आराम

नहीं मिलता है। विषम अस्थिरता उपस्थित हो जाती है। किन्तु; ऐसी प्रबल वेदना और शिर पीड़ा सिर्फ दो-तीन दिन ही रहती है।

जिह्वा की अवस्था

जिह्वा अधिकतर ढीली, दाँत गड़े हुए, काँपती हुई, श्वेतवर्ण वाली, मोटी और मलाई के तुल्य सफेद मल से ढँकी हुई होती है। साथ-साथ निःश्वास में विशेषत खराब गन्ध आती है।

नाड़ी की अवस्था

इस रोग में नाडी की विशेष अवस्था देखी जाती है। रोग के अत्यन्त प्रबल होने पर नाडी में तेजी आ जाती है। ज्वर की प्रबलावस्था में नाडी की संख्या प्रति मिनट ८०-९०; तापांश होते हुए देखी जाती है।

सर्दी (प्रतिश्याय)

किसी-किसी स्थल में रोग के प्रादुर्भाव में सर्दी के अत्यन्त प्रबल लक्षण होते हैं। कभी-कभी ये प्रारंभ में नहीं भी होते हैं। विशेषतया रोगोत्पत्ति के प्रारंभ मे सर्दी के लक्षण अधिकतर प्रकाशित होते हैं।

कास

यह खाँसी बहुत सूखी और दुःख देने वाली होती है। रोगाक्रमण के समय बहुत वेग से खाँसी होने लगती है। यहाँ तक कि कभी-कभी कुक्कुर खाँसी (हूपिंग कफ) का वेग समझ कर भ्रम होने लगता है। इसके साथ-साथ शिर में पीडा, अत्यन्त यातना और अस्थिरता पदा हो जाती है। खाँसी मे कफ नहीं निकलता, सिर्फ कुछ परिमाण मे लाला निकलती है।

ज्वर

वातश्लेष्मक-ज्वर किसी क्रम का अवलम्बन नहीं करता है। फुस्फुस सम्बन्धी ज्वर आदि उपद्रव न होने से ज्वर प्रबल नहीं होता। ज्वर की स्थिति का भी कोई निश्चय नहीं है। अनेक स्थलों में ज्वर तीन-

चार दिन से अधिक नहीं ठहरता है। परन्तु ; कभी-कभी दस-बारह दिन अथवा इससे भी अधिक दिन तक ठहरता है। कभी-कभी तो यह तीन सप्ताह तक भी ठहर जाता है। सारांश यह है कि ज्वर विराम से रहित अथवा विरामयुक्त व अल्प विराम युक्त होता है।

स्वेद

अनेक स्थलों में रोगाक्रमण के दो-तीन दिन बाद स्वेद निकलने लगता है। भिन्न-भिन्न स्थलों में स्वेद की वृद्धि और कमी देखी जाती है। किसी की पीठ मे मामूली स्वेद निकल कर ठंढक मालूम होती है। किसी-किसी के सब अङ्गों से अधिक स्वेद निकलता है। इस रोग के अन्य लक्षणों के साथ यह लक्षण भी चिरकाल तक स्थायी रहता है। कभी-कभी अन्य लक्षणों के शान्त हो जाने पर भी यह लक्षण वर्तमान रहता है। इस भाँति कई सप्ताह व कई महीने बाद ये लक्षण धीरे-धीरे शान्त हो जाते हैं।

कम्प

कई स्थानों पर इस रोग मे कम्प, प्रधान लक्षण के रूप मे प्रकाशित होता है। स्वेद के अधिक निकलने पर यदि कम्प वर्तमान रहे तो इसका मलेरिया से उत्पन्न हुई पीडा के साथ विशेष सादृश्य देखा जाता है। इस रोग में वार-वार जो कम्प प्रबल रूप से उपस्थित होता है, वह स्वयं शांत न होकर कम्प ज्वर (एग्यू फीवर) उत्पन्न कर देता है। अथवा यकृत् के कोषीय तन्तु (सेल्यूलर टिश्यू) आदि स्थानों मे पूय की उत्पत्ति अथवा उससे उत्पन्न हुई विप क्रिया वा कोई नवीन रोग उपस्थित कर देता है। कभी-कभी श्लेष्मक ज्वर मे कई सप्ताह तक कम्प वार-वार आता रहता है।

राल्स (अस्वाभाविक शब्द)

इस रोग के अधिकांश स्थल मे फुस्फुस के तल देश से विम्बस्फोटन के समान शब्द (अर्थात् तरल पदार्थ के अन्दर से वायु निकलने से अस्वाभाविक शब्द) सुनाई पड़ता है। यह शब्द विस्तृत स्थान मे व्याप्त

हो जाता है। कोई-कोई चिकित्सक इस लक्षण को श्लेष्मक ज्वर का निर्देशक लक्षण कहते हैं। खाँसी में कफ नहीं निकलता है। किन्तु; चिरकाल के वाद ज्वर अच्छा हो जाता है और फुस्फुस भी ठीक हो जाता है। अनेक स्थलों में कूजन (राल्स) शब्द होना—इस ज्वर का विपम लक्षण समझा जाता है। क्योंकि यह अवस्था फेफडे के एक तरफ से अल्प स्थान से शुरू होकर सम्पूर्ण फेफडे मे फैल जाती है। वाद को दूसरा फेफड़ा भी खराव हो जाता है। रोग का प्रतिकार न हो सकने से श्वास रुक जाती है जिससे रोगी की मृत्यु हो जाती है।

उपसर्ग

इस रोगमे रोगी को खूब सावधान रहना चाहिये। नहीं तो साधारण कारण से वा अनियम से रहने पर सांघातिक उपद्रव पैदा हो जाते हैं। रोग के भोग काल मे अथवा रोग के वाद दुर्वलावस्था मे हार्दिक मास (माइपो कार्डियम्) में पीडा प्रकाशित होकरके फिर श्लेप्मक ज्वर का भयंकर आक्रमण होता है। सामान्य श्लेष्मक ज्वर मे श्वास नली-शोथ (ब्रोंकाइटिस) प्रधान रूप से प्रकट होता है। प्राय. सव स्थलों पर रोग की प्रथम-अवस्था में श्वास-मार्ग का ऊपरी भाग इतनी उग्रता से ग्रस्त हो जाता है कि उग्रता स्वरयन्त्र (Larynx) और टेटुवा (Trachea) मे फैल कर श्वास-नली तक फैल जाती है। यह श्वास-नलीय प्रदाह (शोथ) विस्तृत होकर छोटी-छोटी श्वास प्रणालियों तक फैल जाता है। फिर श्वास-नलीय फुस्फुस प्रदाह (ब्रोंको न्यूमोनिया) पैदा हो जाता है। इन्फ्लुएञ्जा रोग में फुस्फुस के उपद्रवों और चिह्नों के प्रति विशेप ध्यान रखें कि फुस्फुस के तल प्रदेश के शिखर (एपेक्स) के कितने अंश मे फुस्फुस प्रदाह के लक्षण वर्तमान हैं। खाँसी में श्लैष्मिक पिच्छिल विकृतिजन्य फुस्फुस प्रदाह (Cropous Pneumonia) के कफ के तुल्य कफ निकलता है। अथवा लोहे के मुर्चा (जंग) के तुल्य रक्त मिश्रित कफ निकलता है। किन्तु; आश्चर्य का विपय यह है कि २४—४८ घंटे के वाद यह कफ दिखलाई पड़ता है। तथा रोगाक्रांत अंश से रोग सम्पूर्ण रीति

से गुप्त हो जाता है और उससे दूर अंश में शोथ के चिह्न प्रकट हो जाते हैं। अन्त में रोगी फुस्फुस के परिवर्तनशील रक्त के वेग से आक्रांत हो जाता है। इसके साथ-साथ हृदय की क्रिया क्षीण हो जाती है। इस रोग मे फुस्फुस के यंत्र आक्रान्त न होकर हृदय ही विशेष रूप से आक्रान्त हो जाता है। हृदय की गति कभी तीव्र कभी मन्द हो जाती है। अधिकांश स्थलों मे हृद् विधान के ताल (रिथ्म) की अव्यवस्था मालूम होती है। अथवा हृदय इतना क्षीण हो जाता है कि रोगी के हाथ-पैर हिलाने पर भी हृदय मे विकार उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी हृदय की क्रिया का लोप हो जाता है तथा अनेकों विषम उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। श्लैष्मिक ज्वर के भोग काल में अथवा रोग की अन्तिम अवस्था मे दुर्बलता होने पर अनेक नाड़ी सम्बन्धी लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। इनके मध्य में निद्रा का सर्वथा नाश हो जाता है। इस रोग से आक्रान्त होने पर गर्भवती स्त्रियों का गर्भपात हो जाता है। राजयक्ष्मा, वृक्क रोग, वायुवक्ष (एम्फीसेमा) स्वर यंत्र प्रदाह आदि उपसर्ग पैदा हो जाते हैं।

श्लैष्मिक ज्वर का परवर्ती-फल

श्लैष्मिक ज्वर के वातिकउपद्रवों में सार्वाङ्गिक क्षीणता ही परवर्ती फल स्वरूप में प्रकट होती है। कई मास तक यह दुर्बलता रहती है। कभी-कभी रोगी के शिर मे शूल सदा बनी रहती है। रोगी साधारण रीति से उद्यम रहित तथा अकर्मण्य होकर पडा रहता है। शारीरिक- और मानसिक क्लान्ति सदा बनी रहती है। हिलने-डुलने में भी थकावट मालूम होती है। पसीना अधिक निकलता है। विचार-शक्ति क्षीण हो जाती है और जडता का अनुभव होता है। किसी कायिक व मानसिक कार्य करने पर कटि, पृष्ठिवंश, उर. फलक में श्रम और कष्ट होने लगता है। इसलिए शरीर और मन को भली-भाँति विश्राम दें। किन्तु, इससे भी कमजोरी दूर नहीं होती है। रोगी असहाय और सञ्चालन शक्ति से शून्य हो जाता है। मन मे यही होता है कि रोगी की यह दशा क्षणिक हो जावे और रोगी अच्छा हो जाय। ऐसी दशा

कभी-कभी कई सप्ताह व कई महीनों तक रहती है। अनेक समय रोगी का मन चाहता है कि उसका अन्त हो जाय। कभी-कभी रोग के मध्यकाल मे रोगी के मुख से रक्त-प्रवाह तथा शरीर में उष्णता प्रतीति होती है। कभी-कभी रोगी में अवर्णनीय कष्ट का अनुभव होता है। यह लक्षण आसन्न मृत्यु का सूचक है।

इस रोग के परवर्ती-फलस्वरूप मे वातिक पीडाओं के अतिरिक्त अस्थायी मानसिक विकार, विमर्शोन्माद, उन्मत्तता, सार्वाङ्गिक पक्षाघात प्रभृति उपस्थित हो जाते हैं। श्लैष्मिक ज्वर के बाद आत्महत्या की इच्छा बलवती होती है। इसके सिवाय परवर्ती-फलस्वरूप में फुस्फुस प्रदाह उपस्थित होने पर उसमे श्लैष्मिक ज्वर के जीवाणु नहीं मिलते हैं। बल्कि न्यूमोनिया के जीवाणु मिलते हैं और साक्षेप श्वास, कास प्रभृति उत्पन्न हो जाते हैं। पूय विशक्त रक्त (एम्पायिमा), पूययुक्त हृद् वेष्टनी कला (पाइपोकार्डियम्) प्रभृति इसके परवर्ती-फलस्वरूप से प्रकाशित होते हैं। आन्तरिक हृदय प्रदाह (Endocarditis) और देह के विभिन्न स्थानों तथा यन्त्रों में पूय पड़ जाता है। कभी-कभी वृक्क प्रदाह (निफ्राइटिस्), वृषण-ग्रन्थि प्रदाह (ओर्काइटिस्), रक्त नलीय घातक शोणिमा (पर्प्यूराहेमरेजिका), तरुण पेम्फाइगस (Pemphigus) प्रभृति रोग प्रकट होते हैं। किसी-किसी स्थल मे रोग के शान्त हो जाने के बाद शरीर का संताप कम हो जाता है और क्षुधा इतनी बढती है कि भोजन की मात्रा में आश्चर्य जनक वृद्धि पायी जाती है। सारांश यह है कि इस रोग के उपद्रव और परवर्ती-फल इतने भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाशित होते है कि उनका वर्णन करना असभव है।

भावीफल

यदि इस रोग से स्वस्थ और बलवान् पुरुष आक्रान्त होते है और कोई विशेष उपद्रव नहीं होता तब तो रोग साध्य होता है। यदि बालक वृद्ध और रोगी हृदय, फुस्फुस और वृक्क आदि से पीड़ित होते हैं तब इसका फल अशुभ होता है।

रोग-निर्णय

जब श्लष्मिक-ज्वर की उत्पत्ति सम्पूर्ण देश में होती है, इस समय निर्णय करने मे कोई कठिनता नहीं होती। किन्तु; जब किसी एक ही स्थान पर होता है तब साधारण प्रतिश्याय और दण्डक ज्वर (Denguo Fevei, डेङ्गु फीवर) के साथ भ्रम हो जाता है। भेद यह है कि श्लैष्मिक-ज्वर ३-१० दिन तक स्थायी रहता है और दण्डक ज्वर उपद्रव रहित सामान्य रीति से २-३ दिन तक ही स्थायी रहता है। श्लैष्मिक ज्वर में पेशियों में अधिक दुर्बलता हो जानी है और दण्डक ज्वर में सम्पूर्ण सन्धियों मे विशेष कर जानु-सन्धि मे अत्यन्त वेदना होती है। श्लैष्मिक ज्वर मे विविध श्लैष्मिक-कलाओं मे उग्रता और सर्दी वर्तमान रहती है। किन्तु दण्डक ज्वर मे यह नहीं होता है। दण्डक ज्वर मे विशेप प्रकार की फुसियाँ निकलती हैं और शरीर में गर्मी स्वल्प विराम से युक्त होती है। श्लैष्मिक ज्वर मे शरीर की गर्मी वहुत वढ जाती है और रक्त परीक्षा द्वारा भिन्न-भिन्न जीवाणुओं के मिलने पर कोई संदेह नहीं रह जाता। रोमान्तिका ज्वर (Measles) की अवस्था के ऊपर ध्यान देने पर और विशेष पिडिकाएँ देखने और उसकी स्थिति पर ध्यान देने से श्लैष्मिक ज्वर से भेद किया जा सकता है।

श्लैष्मिक-ज्वर की चिकित्सा

रोगी को रोग के आरम्भ से जबतक रोगजन्य दौर्बल्यावस्था वनी रहे तवतक चारपाई पर विश्राम करने के लिये कहें। रोगी को शीत से वचाना चाहिये नहीं तो विषम-उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी को अलग शांत कमरे मे जहां भीड न हो रखना चाहिये। रोगी के थूक फेंकने के लिए ऐसा पात्र हो जिसमें कृमिघ्न विलयन पारद द्रव (मर्करी लोशन) आदि पडा हुआ हो। कमरे में लोवान, गन्धक, कपूर का धूप जलाना चाहिये। मलत्याग के लिये शय्या पर ही प्रवन्ध करें। गर्म हवादार कमरे में ग्रीवा और वक्षः स्थल ढक कर रक्खें। रोगी को अधिक वोलने न दें। सूर्य का प्रकाश रोगी के शरीर मे पडने से

लाभ होता है। पोटाशियम परमेगनेट के विलयन से गण्डूष कराना चाहिये। इसमें क्षीणता अधिक होती है, इसलिये इसमें प्राय: लंघन का निषेध ही समझना चाहिये। आरंभ से ही रोगी के बल की रक्षा करे। ध्यान रक्खें कि इसमें कब्जियत नहीं होने पावे। इसके संक्रमण से बचने के लिये उपचारक को दालचीनी का प्रयोग कराना चाहिये। रोग के प्रादुर्भाव के समय १ ग्रेन कुनीन प्रति दिन सेवन करें। रोगी के पास जाने के समय अपने मुख पर कोई वस्त्र डाल ले अथवा रोगी से दूर रहे। दाल चीनी का तेल रूमाल पर छिड़क कर सूंघने तथा ४-४ बूंद पानी में देकर सुबह-शाम पीने से यह रोग नहीं होता। तुलसी और काली मिर्च की चाय तथा भोजन के पश्चात् ४ लवंग और थोड़ा सा लवण जलमें घोल कर पीने से भी इसके संक्रमण से बचाया जा सकता है।

औषध-चिकित्सा

इसके लिये कोई मुख्य औषध पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति में नहीं है। इसलिये इसके उपद्रवों के अनुसार ही चिकित्सा करें। ज्वर के आरंभ में जब शरीर में विशेष कर कटि, पृष्ठ, हाथ और पैरों में बहुत पीडा होती हो, उस समय उसके अंगों पर जायफल, राई और भॉग का चूर्ण एकत्र करके उसमें कुछ टरपेन्टाइना मिलाकर मालिश करें। इससे शांति मिलती है। इसके बाद गरम जल में कपड़ा भिगोकर निचोड दें, उससे हाथ-पैरों को बार-बार पोंछ दें। ऐसा करने से शरीर की वेदना कम हो जाती है। इससे लाभ न होने पर अधोलिखित क्वाथ दें।

सुरसा क्वाथ—तुलसी की पत्ती २१, बेल पत्र २१, गिलोय ६ माशा, कलम्बी (करमुआ) ३ माशा, मिश्री ६ मा० इनका विधि पूर्वक क्वाथ बना कर दिन में दो बार पिलावें। इससे शारीरिक वेदना कम हो जाती है। इस ज्वर के सब लक्षण आम दोष से युक्त होते हैं। इसलिए रोगी के ज्वर का वेग जब तक कम न हो जाय तब तक ३-४ दिन शृत जल के सिवाय कुछ खाने पीने को न दें। निराम दोष हो जाने पर मल की शुद्धि के लिये दूध मे मुनक्का और पिप्पली पका कर दें। अथवा तुलसी

की पत्ती १२ नग काली मिर्च तथा अदरक १-१ माशा की चाय बना कर रोगी को दें इससे बहुत लाभ होता है। इसमें क्षीणता अधिक होती है; इसलिये लंघन तभी तक करावें जब तक दोष कच्चे रहे। क्योंकि अधिक लंघन से हानि होती है।

ज्वरोपचार—ज्वर के वेग को कम करने के लिये तीव्र औषध का प्रयोग कभी न करें। यदि भलीभाँति लंघन कराने पर भी ज्वर कम न हो तो उसके उपद्रवों की पहले चिकित्सा करे। इससे ज्वर शान्त हो जाता है। यदि कदाचित् शान्त न होवे तो संजीवनी वटी २ गोली लवंग ७, काला नमक १ रत्ती इनको एकत्र पीस कर गरम जल के साथ दिन में दो बार दें। जबतक ज्वर कम न हो इसीका प्रयोग करें। इससे ज्वर शांत हो जाता है। ज्वर की तीव्रावस्था मे निम्न केशरादि वटी का प्रयोग करें।

प्रयोग—केशर १ रत्ती, कपूर १ रत्ती, लवंग ५ नग, शुद्ध हुए लहशुन के ५ दानें।

विधि—इनको सौंफ के अर्क से घोट कर २ रत्ती की गोली बनावें। तीन घटे पीछे १ गोली दें। इससे ज्वर का वेग शान्त हो जाता है। यदि ज्वर के साथ फेफड़ों में विकार होने से तीव्र खाँसी आती हो तो केशरादि वटी के साथ सितोपलादि चूर्ण ४ रत्ती, शृङ्ग भस्म १ रत्ती, त्रिभुवन कीर्ति रस (भैषज्य र०) आधी रत्ती, इन्हें एकत्र मिलाकर दो मात्रा बनावें और मधु के साथ दें। यदि पित्त की प्रबलता हो, खाँसने से कफ में खून आता हो तथा मूत्र में रक्त मालूम हो तो केशरादि वटी बन्द करके शेष औषध ही चटावें। एलादि वटी (चरकोक्त) में पिपरमेन्ट और नवसादर मिलाकर गोली बनावें। ये गोली चूसने के लिये दें इससे कास बन्द होता है। चूसने के लिये मुलेठी का सत्त्व और उन्नाव के सत्त्व की लाल टिकिया भी दे सकते हैं। द्राक्षारिष्ट में कुछ अफीम मिलाकर और मधुयष्ट्यादि क्वाथ में पोस्ते के डोडे मिलाकर क्वाथ बनाकर देनेसे भी लाभ होता है।

कासनाशक वाष्प-प्रयोग

पिपरमेन्ट (मेन्थोल) १ भाग, युक्लिप्टस आइल १ भाग अथवा इसके साथ टिञ्चर वेञ्जोनिको ४ भाग मिलाकर खौलते हुये पानी मे थोडा-थोडा डाल। फिर इस की वाष्प को लें और रूमाल पर छिडक कर सूँघे। इससे खाँसी को पूरा लाभ होता है।

श्लैष्मिक ज्वर की सान्निपातिक दशा मे जब प्रलाप, मूर्च्छा, हाथ-पैर का फकना आदि लक्षण हों तो निम्नलिखित योग दे।

महावात गजांकुश २ रत्ती, अभ्रक भस्म २ माशा, तुलसीस्वरस २ माशा, मधु ६ माशा इनको एकत्र मिलाकर कांच के कटोरे मे रख ले। इसकी ६ मात्रा बना दिन भर मे ६ वार चटावें। इससे वातिक सन्निपात दूर होता है।

महावात गजांकुश रस

योग—५०० पुटी अभ्रक भस्म १ माशा, लोह भस्म १ माशा, ताम्र भस्म १ माशा, शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक की कज्जली २ माशा, हरताल भस्म १ माशा, भार्ङ्गीमूल १ माशा, सोंठ १ माशा, वलामूल १ माशा, धनियाँ १ माशा, कायफल १ माशा, वडी हरड़ १ माशा, शुद्ध मीठा तेलिया विप १ माशा।

विधि—छोटी पीपल के क्काथ से खरल कर दो-दो रत्ती की गोलियाँ वनावें तथा उपरोक्त विधि से सेवन करें। यदि रोगी के वामभाग में चेष्टाएँ (फड़कन) अधिक हों तो सूतशेखर रस (रसरत्न सम्मुच्चयोक्त) उक्त अनुपान के साथ दें।

फुफ्फुस-विकृत होने पर फुफ्फुस-प्रदाह (न्यूमोनिया) के लक्षण मालूम हो तो 'महालक्ष्मी विलास' १ रत्ती, वंशलोचन १ रत्ती, मधु ३ माशे के साथ दे। यह १ मात्रा है। इस भाँति दिन मे ३ वार दे। खिंचा हुआ द्राक्षासव दिन में दो वार एक तोला की मात्रा मे दें। अथवा सुवर्ण भस्म ½ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ माशा में मिलाकर सुवह-

शाम मधु मे मिलाकर चटावे। इससे पूरा लाभ होता है और खाँसी के लिए 'मधुकादि अवलेह' दिन मे कई वार चटावे।

योग—मुलेठी का सत्त्व २ माशा, जवाखार २ रत्ती, वहेड़ा का चूर्ण १ माशा, सुहागे की खील २ रत्ती, इनको एकत्र पीसकर ४ तोला मधु मे मिलाकर चटाने से खाँसी का वेग शान्त हो जाता है। यदि खाँसी मे खून निकले तो जवाखार और सुहागा निकाल दे। उसके स्थान पर वासावलेह मिलाकर चाटें, इससे अवश्य लाभ होता है।

पथ्य—जौ का पानी, मूँग की दाल, परवल का यूप, पिप्पली पक्क दूध आदि लघु-सुपाच्य और पौष्टिक पदार्थ दे।

प्रातःप्रयोग

श्वास-कास चिन्तामणि १ रत्ती और कस्तूरी १ सर्षप के बरावर लेकर प्रातः काल मधु से चटावे और सायंकाल महालक्ष्मी विलास ½ रत्ती, 'शृङ्गाराभ्र' ½ रत्ती, नवसादर ऊर्ध्व पातन यंत्र से उडाया हुआ ३ रत्ती को मधु से चटावें।

एलोपैथिक योग

डोवर पाउडर (Dover's Powder) ५-१० ग्रेन, पोटास साइट्रस १५-२० ग्रेन, लाइकर एमोनिक एसिटेटिस १-२ ड्राम, स्पिरिट इथेरिस नाइट्रोसी (Spirit Etheris Nitrosi) इनके साथ सोडा सैलिसिलस १० ग्रेन मिलाकर उपयोग करे। श्वसन-संस्थान के विकार के लिये टिंचर वेन्जाइनको ४ ड्राम, यूक्लिप्टस आयल १ ड्राम, १ पाइन्ट उबलते हुए पानी मे मिलाकर रोगी को सुँघाना चाहिये। वक्ष पर सरसों पीसकर लेप कर तथा एन्टीफ्लोनिस्टीन का प्लास्टर लगावे। पीने के लिये निम्न लिखित योग दे।

सीरप क्लोरल ½ ड्राम, एमोनियम ब्रोमाइड् २० ग्रेन, एक्सट्रैक्ट ग्लीसिराइन लिकिड २० बूँद, पानी १ औंस। इस मिश्रण को प्रति ४-४ घटे पर दे।

निद्रानाशक प्रतिकार

ल्यूमिनल ½ ग्रेन से १ ग्रेन अथवा वेरोनाल ५—१० ग्रेन या पोटास ब्रोनाल १५—३० ग्रेन की मात्रा में दें। इस ज्वर में श्वसनक ज्वर का उपद्रव होने पर न्यूमोनिया की चिकित्सा करें। मस्तिष्कावरण शोथ उत्पन्न होने पर कटिवेध करके इन्फ्लुएंजा विरोधी लसीका सुषुम्ना में प्रविष्ट करें। स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलिटिक्स के कारण रोगी की तीक्ष्णता बढ़ जाती है अतएव स्ट्रेप्टोकोकस विरोधी लसीका का उपयोग प्रारंभ से ही करें।

श्लेष्मज्वर की मुक्तावस्था

इसमें शारीरिक और मानसिक दुर्बलता अधिक होती है। अतः कुछ दिन तक आराम करना चाहिये। शुद्ध जल-वायु युक्त स्थान में स्थानान्तर तथा किनिन, लोह, संखिया, कुचिला प्रभृति वल्य ओषधियों का सेवन करें। शीत से बचना चाहिये क्योंकि, रोग के पुनरावर्त्तन का भय रहता है, अत उपर्युक्त नियमों का पालन अवश्य करें।

मन्थर ज्वर ०

(Typhoid fever)

पर्याय—मधुरक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, मौक्तिक ज्वर, संशोषी, सन्निपात, एन्टेरिक फीवर, टाइफाइड फीवर, तारकी, मुवारिकी प्रभृति।

परिचय

घृताशनात् स्वेदरोधान्मन्थरो जायते नृणाम्।
ज्वरो दाहो भ्रमो मोहो ह्यतीसारोवमिस्तृषा॥
अनिद्रा च मुखं तालु जिह्वा च परिशुष्यति।
सप्ताहात् द्वादशाहाद्वा स्फोटाश्च सर्षपोपमा॥
ग्रीवायां परिदृश्यन्ते एक विंशति शाम्यति।
एभिस्तु लक्षणैर्विद्यात् मन्थराख्य ज्वरं नृणाम्॥

वक्तव्य—यद्यपि टाइफाइड फीवर के लक्षण और कारण मन्थर ज्वर के लक्षण और कारणों से कुछ भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु यह प्रभेद देश

काल आदि की भिन्नता से हो सकता है, किन्तु साम्यावस्था अधिक है। अतः टाइफाइड फीवर का नाम 'मन्थर ज्वर' ही रखा गया है।

निर्वाचन

इस संक्रामक और अविराम ज्वर मे क्षुद्रान्त्र के अधोभाग की लसीका ग्रन्थियों मे तथा सम्पूर्ण क्षुद्र-ग्रन्थि समूह (पेपिरियन पेंच) मे शोथ हो जाता है। इसके बाद शोथ, क्षत मे परिणत हो जाता है। आक्रान्त स्थान के अनुसार अन्त्रधारक कला (Mesentery) भी विकृत हो जाती है और क्रमशः दिन-रात्रि मे शरीर का संताप बढ़ जाता है। ७—१४ दिन के मध्य शरीर के सब अङ्गों मे विशेप करके उदर और वक्ष. प्रदेश में अलग-अलग उभरे हुए गुलावी रंग के दाने निकल आते हैं। ये दाने पंक्तियों मे प्रकट होते हैं। प्रत्येक दाने का दल २—५ दिन तक स्थायी रहता है। दवाने पर दाने अदृश्य हो जाते हैं और वाद को फिर प्रकाशित हो जाते हैं। उदर मे आध्मान प्रतीत होता है तथा दवाने से वेदना मालूम होती है। साथ ही कुल-कुल शब्द की ध्वनि प्रतीत होती है। अतिसार अथवा रक्तातिसार हो जाता है तथा ज्वर १२ से ६० दिन तक रहता है। कभी-कभी न्यूनाधिक काल भी देखा जाता है। किन्तु अधिकतर तीन सप्ताह लगते हैं। जर्मन मे इस ज्वर को औदरिक ज्वर (एब्डोमिनल टाइफस) कहते हैं।

निदान

इसका प्रधान कारण शलाकाकार जीवाणु है। इसका नाम इवेर्थस टाइफोसिस (Eberths Basıllus typhosus) है। यह जीवाणु आतुर के आन्त्रिक क्षत, मूत्राशय, पित्ताशय, प्लीहा, रक्त और पिडिकाओं मे रहता है, जो रोगी के मल-मूत्र द्वारा निकलता है। यह पसीना द्वारा भी कभी-कभी निकलता है। रोग के शान्त हो जाने पर भी कुछ दिन तक यह रोगी के मल-मूत्र द्वारा निकलता रहता है। ये जीवाणु जल मे कई सप्ताह तक जीवित रहते है। दूध मे ये जीवाणु वहुत जल्दी बढते हैं। मिट्टी और वरफ मे कई महीनों तक इनकी जीवनी-शक्ति स्थिर रहती है।

आन्त्रिक ज्वर से मरे हुए व्यक्ति के अन्त्र की लसीका ग्रन्थियों के तन्तुओं, अन्त्रधारक कला (मेसेन्टरी), यकृत आदि मे ये जीवाणु देखे जाते हैं। ये जीवाणु जल, वायु और भोजन के द्वारा एक व्यक्ति से अन्य व्यक्ति मे पहुँच कर रोग का कारण हो जाते हैं।

सङ्क्रमण—रोगी के मल-मूत्र पर मक्खी आदि बैठकर इसके जीवाणुओं को अपने पैरों मे चिपटा लेती है। फिर वही मक्खी भोज्य द्रव्यों पर बैठ जाती है जिससे उस भोज्य पदार्थ के भोक्ता को भी यह ज्वर हो जाता है। यदि परिचारक के हाथ-पैरों में रोगी के मल का स्पर्श हो गया हो और उनको बिना शुद्ध किये ही भोजन कर ले तो परिचारक को भी यह ज्वर हो जाता है। रोगी का उच्छिष्ट दूध या जल पीने से भी रोग हो जाता है। यदि रोगी के वस्त्रों को किसी कुएँ के पास धोवे और उसका दूषित जल किसी प्रकार कुएँ में पहुँच जाय तो उस जल के पीने वाले को भी यह रोग हो जाता है। इसके सिवाय यदि रोगी का मल किसी गन्दी नाली में फेंक दिया जाय तो रोगोत्पादक कीटाणु हवा में फैलकर मुख-नासिका द्वारा शरीर में पहुँच कर रोग के कारण हो जाते हैं। दूध में ये जीवाणु बहुत बढ़ते हैं। यही कारण है कि दूध बेचने वालों के द्वारा इसका प्रसार अधिक होता है। मल के सूखने पर इसके कीटाणु हवा द्वारा खुले रक्खे हुए खाद्य पदार्थों मे पहुँच जाते हैं फिर उसके खाने वाले को यह रोग हो जाता है। लेकिन ऐसा कम होता है क्योंकि मल के सूखने पर प्रायः जीवाणु मर जाते हैं। कूड़ा-कर्कट स्थित जीवाणु भी मक्खी द्वारा हमारे भोज्य पदार्थों में पहुँच कर रोग पैदा कर देते है।

सहायक कारण

इसका प्रकोप दुर्गन्धयुक्त स्थान मे रहने वालों जिन्हें शुद्ध जल वायु नहीं मिलता, मार्ग मे चलने वालों तथा उपवास करने वालों और धातुक्षीण व्यक्तियों मे अधिक होता है। यह ज्वर सब देशों में होता है, किन्तु समशीतोष्ण प्रदेश मे अधिक होता है। यह अधिकतर ग्रीष्म,

शरद, वर्षा और ऐसी जगह जहाँ जल की अधिक वृद्धि हो कर एकाएक कम हो जाय उस स्थान में होता है। प्राणियों का विकृत भोजन तथा कभी-कभी गर्मी की अधिकता भी इसके सहायक कारण होते हैं। कोई-कोई दूषित जल से उत्पन्न दूषित वायु भी इसके सहायक कारण मानते हैं।

यथोक्त सिद्धान्त निदाने '—

अध्वोपवास क्लिष्टानां दुर्गन्धाभ्यर्ण वासिनाम्।
प्रायो मलादि संसृष्ट भक्ष्य पानोपयोगत ॥
सर्वेष्वृतुषु भूम्नातु ग्रीष्मे शरदि वार्षिके।
आन्त्रिकाख्यो ज्वरः कृच्छ्रो दृश्यते घोर लक्षण ॥
तस्य जीवाणव केचिन्मल मूत्रादि संभवा।
विशिष्ट तु निदानस्यु .... ॥

सम्प्राप्ति

मन्थर ज्वराणु क्षुद्रान्त्र में पहुँच कर अंत्र की दीवार मे रहने वाली लसीका-ग्रन्थियों के समूह मे सूजन पैदा कर देते हैं। यह सूजन क्रमश' वृद्धि को प्राप्त होती है। ७ दिन के बाद सूजन क्षत में परिणत हो जाती है। क्षत के ऊपर श्लैष्मिक झिल्ली के खण्ड गिरने लगते हैं। उदर्या कला की लसीका ग्रन्थियाँ भी शोथ युक्त हो जाती हैं और उनमे वेदना होने लगती है। प्लीहा और यकृत् बढ़ जाते हैं। क्षत के बढ़ जाने से यदि रक्तवाहिनी नली उसमे आकर विदीर्ण हो जाती है तो रक्तस्राव उपस्थित हो जाता है और जब क्षत अंत्र की दीवाल को विदीर्ण कर उदर्याकला (पेरिटोनियम्) मे पहुँच जाता है तो उदर की कला मे सूजन पैदा हो जाती है। यह क्षत क्षुद्रान्त्र के अधोभाग मे अधिकतर प्रकाशित होता है और उससे वृहदन्त्र की लसीका ग्रंथियाँ और ऊर्ध्व गुद लसीका ग्रन्थियाँ अधिक आक्रांत होती हैं। पहले क्षत अल्प संख्या मे छोटा और गंभीरता से रहित होता है। फिर विस्तृत होकर श्लैष्मिक झिल्ली के व्याप्तस्थान को आक्रान्त कर लेता है।

विभिन्न मत

किसी-किसी आचार्य का मत है कि जीवाणुओं के परिवर्धन और संख्या-वृद्धि काल मे टाइफोटोक्सिन् नामक एक प्रकार का रासायनिक विप उत्पन्न हो जाता है और रक्त के साथ मिल कर सब अङ्गों मे होने वाला ज्वरीय विकार को उत्पन्न कर देता है तथा साथ-साथ लसीका-ग्रन्थियाँ, यकृत और प्लीहा बढ जाती हैं।

गुप्तावस्था

इसकी गुप्तावस्था ४-५ दिन से लेकर तीन सप्ताह तक रहती है। साधारण रीति से एक सप्ताह से दो सप्ताह तक है। रोग की इस गुप्तावस्था मे रोगी को अधिकतर आलस्य प्रतीत होता है। साधारण परिश्रम से थक जाता है तथा कभी-कभी निद्रानाश, भग्ननिद्रा, कुस्वप्न, और शिर मे अत्यन्त पीड़ा होती है।

यथोक्तं सम्प्राप्ति लक्षणम् :—

.... अथान्त्राश्रयिणश्च ते।
रस रक्तञ्च दोपञ्च कोपयन्त्यचिरादपि॥
क्षिण्वति चान्तिम भाग क्षुद्रान्त्राणां शनै. शनैः।
ततोऽन्त्रक्षत सवृद्धौ क्वचिद् रक्तस्य नि स्रव.॥
भिन्नान्त्रताऽथवाऽसाध्येत्येपत्वैकृत निश्चयः॥

पूर्वरूप

अरुचि, शिर मे वेदना, हाथ-पाँवों में विशेप टूटने के तुल्य पीड़ा, मन मे बेचैनी, कब्जी, और आँखों के सामने अन्धकार-सा दिखाई देता है। कभी-कभी पूर्व लक्षण स्फुट तथा कभी अस्फुट रहता है।

यथोक्तं सिद्धान्ते :—

शिरो रुगरुचि सादो विबन्धोऽरतिस्तम।
स्फुटास्फुटं पूर्व लिङ्ग प्राय· स्यादान्त्रिकेज्वरे।

लक्षण

रोग आरंभ मे इतने धीरे-धीरे प्रकट होता है कि रोगी रोग के आरम्भ काल का निर्देश नहीं कर सकता है। अनेक स्थल मे शीत लगता है और पूर्वरूप स्फुट होने लगता है। हाथ-पैरों मे कम्प प्रतीत होता है और वात व्याधि के तुल्य वेदना का अनुभव होने लगता है। कभी-कभी नासिका से रक्त निकलने लगता है। रोगी के निःश्वास मे दुर्गन्धि, गले की नली मे क्षत, अन्त्र की उग्रता और कोष्ठबद्धता देखी जाती है। अनिद्रा, नाडी की गति मन्द, ज्वर का प्रतिदिन वढना, जिह्वा मलिन तथा उसके ऊपर रक्तवर्ण के कुछ उभरे हुये-से दिखाई पडते हैं। रोगी क्रमशः अशक्त होता जाता है। अन्त मे विषम कम्प तथा तीव्र संताप १०४-१०५ तक हो जाता है। शिर में अत्यन्त पीड़ा और पेशियों मे दुर्वलता हो जाती है। अन्त में रोगी शय्या की शरण ले लेता है।

प्रथम सप्ताह के मुख्य लक्षण

रक्त सञ्चालन-यन्त्र में उत्तेजना प्रतीति होती है। वात-सस्थान मे क्षीणता आ जाती है। नाडी का स्पन्दन ९०—१२० तक होता है। नाडी की गति कभी तीव्र, कभी अटक-अटक कर (मन्द) होती है। शरीर का सन्ताप वढ जाता है। प्यास तेज लगती है। रात्रि मे प्रलाप, विह्वलता तथा भयजनक स्वप्न दिखलाई पडते हैं, जिनसे नींद टूट जाती है। नींद के टूट जाने पर रोगी आधी ऑख खोले हुए चेतनावस्था में ही पडा रहता है। किन्तु, उसके चारों तरफ क्या होता है, पलक उठाकर नहीं देखता। प्रलापावस्था मे ऊंचे स्वर से किया गया प्रश्न क्षण भर के लिए रोगी को चैतन्य कर देता है। मनोवृत्ति मे इतना वैलक्षण्य उपस्थित हो जाता है कि रोगी अपने रोग के सम्वन्ध मे अत्यन्त कष्ट होने पर भी अल्प ही वतलाता है। के आरम्भ मे वद्धकोष्ठ होकर पहले सप्ताह के अन्त मे अतिसार हो जाता है। मल पतला, फीका वर्णवाला और आसव के तुल्य निकलता है। दिन में ७-८ वार दस्त

आते हैं। उदर वायु से भरा हुआ कठिन मालूम होता है। दवाने पर सम्पूर्ण उदर मे विशेषकर दक्षिण जघनफलोर्ध्वावर्ती क्षुद्रान्त्र (इलियक्) प्रदेश में वेदना मालूम होती है और अँगुली से उदर प्रदेश को दवाने पर विशेष करके दक्षिण जघनफलोर्ध्वावर्ती क्षुद्रान्त्र खात (इलियक् फोसा) के ऊपर दवाने से कुल-कुल शव्द सुनाई पडता है। इसका कारण यह है कि वृहदन्त्र (कोलन) के मध्य में तरल मल वायु (गैस) वर्तमान रहने से यह शव्द होता है। सामान्य रीति से नाभि के नीचे दवाने पर पीड़ा मालूम होती है। प्रथम सप्ताह के अन्त में प्लीहा के अवयव दो-तीन गुणा वढ़ जाते हैं। किन्तु वढी हुई प्लीहा कठिन न होकर अति कोमल ही रहती है। पेशियाँ और मेदोधातु नष्टप्राय-से मालूम होने लगते हैं। अतः रोगी जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। मूत्र थोड़ा-थोड़ा गहरा लाल होता है। आहार की कमी से तथा मल स्वेद द्वारा अधिक परिमाण में क्लोराइड के निकल जाने से मूत्र मे क्लोराइड की मात्रा कम हो जाती है।

द्वितीय सप्ताह

दूसरे सप्ताह के आरम्भ में उदर प्रदेश पर लाल रंग की पिडिकाएँ निकल आती हैं। सव पिडिकाएँ द्रल वाँध कर निकलती हैं। एक दल की पिडिकाएँ तीन-चार दिन वाद मिल जाती हैं। ये त्वचा से कुछ उठी हुई और कोमल होती हैं। ये दवाने से कुछ समय के लिए अदृश्य होकर फिर निकल आती हैं। परन्तु मिलने पर कोई चिह्न नहीं रहता है। किसी-किसी स्थल में समस्त शरीर में विशेष करके ग्रीवा, वक्षस्थल और उदर पर प्रचुर परिमाण में सफेद रंगवाली सावूदाने के तुल्य पिडिकाएं निकल आती हैं। किसी-किसी स्थान में दो पिडिकाएँ साथ-साथ निकलती तथा कभी-कभी पिडिकाएँ नहीं भी निकलतीं हैं। ये मन्थर ज्वर की पिडिकाएँ कही जाती हैं। ये पिडिकाएं स्वेद-ग्रन्थियों के मुख पर शोथ होने या रक्त-धातुगत ज्वर होने पर निकलती हैं। कभी-कभी ये पिडिकाएँ कफजन्य उपद्रव स्वरूप से भी होती हैं। जैसा चरक ने कहा है—

प्रलापः पिडिकातृष्णा रक्त प्राप्ते ज्वरे नृणाम्।

उपद्रव रूप मे—

शीत पिडिकाश्च भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठन्ति।

शिरो वेदना शान्त रहती है। मुख मलिन हो जाता है। शरीर मे क्षीणता और दुर्बलता अधिक बढ जाती है। रोगी सदा उत्तानावस्था मे ही सोता है। बेचैनी, बेहोशी, कण्ठ-स्वर की क्षीणता, वाक्य की जडता प्रवल अथवा मृदु प्रलाप आदि लक्षण बढ जाते है। द्वितीय सप्ताह के अन्त मे जिह्वा शुष्क होकर फट जाती है। दाँतों पर मैल जम जाता है। कभी-कभी ओठों पर भी मैल जमा हुआ देखा जाता है। मल-मूत्र के निकलने से बहुत दुर्गन्धि आती है। मल आदि का निकलना रोगी की इच्छा पर नहीं रहता है। यदि क्षतों में धमनी फट जाती है तो मल के साथ-साथ रक्त भी आने लगता है। यदि क्षत बढकर अन्त्र की दीवार को पार कर जाता है तो औदर्यकला (पेरिटोनियम्) में शोथ हो जाता है। कभी-कभी कर्कटक सन्निपात (न्यूमोनिया) और कास उपस्थित हो जाता है। ज्वर अपनी सीमा तक पहुँच जाता है।

तृतीय सप्ताह

तीसरे सप्ताह मे क्रमश सब उपर्युक्त लक्षण बढ जाते हैं अथवा कम हो जाते हैं। शीर्णता और दुर्बलता बढ जाती है। रोगी शय्या के पाँवों के तरफ सरक जाता तथा बिल्कुल चित्त होकर सोता है। नाडी का स्पन्दन तेज और विषम हो जाता है। श्वास-प्रश्वास दीर्घ और कष्ट से निकलता है। अति स्वेद निकलने पर रोगी अत्यन्त कमजोर हो जाता है। दोनों कपोल रक्तवर्ण के हो जाते हैं। मूत्राशय की क्षीणता के कारण मूत्र बन्द हो जाता है।

चतुर्थ सप्ताह

रोगी चौथे सप्ताह मे ज्वर से चिल्लाता तथा धीरे-धीरे बेहोश हो जाता है। रोगी परिचित मनुष्यों को भी नहीं पहिचान पाता है। धीरे-धीरे असंगत बात कहने लगता है। शय्या के वस्त्रों को फेंकने

अथवा फाड़ने लगता है। पुनः स्वस्थ होने पर पीड़ित अवस्था की घट्नाओं का स्मरण उसे नहीं रहता है। त्रिकास्थि प्रदेश में लाल पिडिकाएँ (एरिथिमा) निकल आती हैं। बाद को ऊपर की त्वचा के नष्ट हो जाने पर शय्याक्षत मे परिणत हो जाता है। अन्त मे धीरे-धीरे अथवा जल्दी रोगी आरोग्योन्मुख हो जाता है। जिह्वा की नोक और दोनों किनारे गीले हो जाते हैं। रोगी क्रमशः चैतन्य हो जाता है। रोगी आहार तथा शय्या छोड़ने की इच्छा प्रकट करता है। इस दशा मे रोगी के अच्छे होने मे शंका रहती है। श्वासनलीय प्रदाह, फुस्फुस प्रदाह, परिफुस्फुसीयकला प्रदाह, विसर्प ज्वर, आन्त्रिक रक्तस्राव, स्वर यन्त्र में क्षत, अन्त्रविदारण से अन्त्रावरण प्रदाह, अति तीव्र सन्ताप, टाक्सीमिया, प्रलाप, आध्मान, वृक्कशोथ आदि उपसर्ग उपस्थित हो जाते हैं। अधिकतर तीसरे सप्ताह के बाद मृत्यु हो जाती है। अनेक समय आन्त्रिक विकार ही सांघातिक हो जाते हैं। रोग की प्रथमावस्था में अन्त्र से रक्तस्राव होने पर मृत्यु हो जाती है। दुर्बलता में पाँचवें व सातवें सप्ताह में अन्त्र का भेदन होकर मल निकलता है तथा अन्त्रावरण प्रदाह होकर मृत्यु हो जाती है। रोगी के आरोग्योन्मुख होने पर भी यदि अन्त्र में उग्रता, समय-समय पर रक्तस्राव, रक्तवर्ण की जिह्वा, तीव्र नाडी-गति, अन्त्रावरण प्रदाह, अन्त्र का भेदन होने पर सहसा पेट फूल जाना आदि लक्षण प्रकट हो तो रोगी तीन-चार दिन के मध्य में ही प्राण छोड़ देता है। सिद्धान्त निदान मे इसका निम्नलिखित लक्षण लिखा है—

तदेव सज्वर रूपमष्टाहेन स्फुटी भवेत्।
ज्वरश्च वर्द्धते नित्य क्रमारोहेण लक्षित ॥

प्रायशो दृश्यते किञ्चित् प्लीहश्चाप्यभि वर्द्धनम्।
क्वचिच्च समवलयौ गात्रेष्वारक्त लक्षणम् ॥

पञ्चाहात्परत प्रायः क्वचिन्नैव चिरेण वा।
घणमुद्गादि यूपाभ साध्मानमतिसार्यते ॥

अथ द्वितीये सप्ताहे प्रवृद्धस्तिष्ठति ज्वर ।
तदास्युररतिस्तन्द्रा मुखशोप प्रमीलक ॥
कास. प्रलापो दौर्बल्यमाध्मानञ्च विशेपत ।
जिह्वा च रक्त पर्यन्त' कर्कशा स्फुटितोपमा ॥
सन्तापोऽप्यधिकश्चापि धमनी नाति चञ्चला ।
सान्निपातिक लिङ्गानामन्येपाञ्चापि सभवः ॥
अथास्य दोप पाकेन नैरुज्ये सम्भविष्यति ।
प्रायस्तृतीये सप्ताहे क्वचित्तुर्येऽथवा पुन. ॥
ज्वर. सोपद्रव गण. क्रमेणैवावरोहति ।
वेपम्य वैति मुञ्चेत्तु सद्वाविंशति वासरै ॥
द्वाचत्वारिंशतावस्रै: क्वचिद्वा मुञ्चति ज्वरः ।
क्रमारोहावरोहाभ्यां पुनर्दर्शित लक्षण. ॥
दशाहात् परतो वापि दारुणे रक्त निःस्रवः ।
सोऽति कृच्छ्रो भवेज्जातु ततोऽप्यारोग्य सभव. ॥
सन्निपात ज्वरान्तोक्तं वाधिर्यादि च वैकृतम् ।
कस्यापि जायते तच्च प्रायः शाम्यत्युपक्रमात ॥

विशिष्ट लक्षणावलि

किसी-किसी स्थल पर पूर्व वर्णित लक्षणों से विशेष लक्षण देखे जाते हैं। उनका वर्णन संक्षेप से किया जा जाता है।

(क) प्रवल नाडी सम्बन्धी लक्षण—मुखमण्डल में प्रवल नाडी शूल, शिर'शूल, प्रलाप, मस्तिष्क परिवेष्टनी कला शोथ (सेरिब्रो मेनिञ्जाइटिस्), आलोकातङ्क, मस्तिष्क मे आकर्षण, पैशिक आक्षेप, द्रुताक्षेप, तन्द्रा, विह्वलता, अचेतनतावस्था तथा उन्माद रोग आदि लक्षण मिलते हैं।

(ख) प्रवल फुफ्फुस सम्बन्धी लक्षण—स्वर नलीय प्रतिश्याय (ब्रोङ्कियल कैटार), पार्श्वशूल (प्लूरिसी) और खाण्डिक फुफ्फुस प्रदाह (लोवर न्यूमोनिया)।

(ग) आमाशयिक और पक्वाशयिक लक्षण—वमन तथा कभी-कभी भयंकर अतिसार हो जाता है।

(घ) तरुण वृक शोथ के लक्षण—रक्त मिश्रित मूत्र, अल्ब्यूमिन युक्त मूत्र व ट्यूबकॉस्ट (Tube coste) युक्त घुला हुआ मूत्र होता है।

(ङ) किसी-किसी स्थल पर रक्तस्राव पहले ही होता है; किन्तु ऐसा कम देखा जाता है।

चलनशील मन्थर ज्वर (एम्बुलेटरी टाइफाइड्)

इस ज्वर के आरंभ मे रोगी काम-काज करता रहता है, विशेष अस्वस्थ नहीं होता। कई दिनों के बाद रोगी का सताप १०४—१०५ शतांश तक हो जाता है बाद को पिडिकाएं निकलती हैं फिर प्रबल लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसको चलनशील मन्थर-ज्वर कहते हैं।

ज्वर की विचित्र दशा

इसमे जब ज्वर नियमित क्रम का अवलम्बन करता है तो ५-६ दिन पहले से ही प्रतिदिन शरीर का ताप क्रमशः बढता है। प्रतिदिन प्रात' काल की अपेक्षा सायंकाल मे १ डिग्री व १½ डिग्री ताप बढ जाता है। प्रथम सप्ताह के शेष भाग मे १०४ से १०५ डिग्री तक ताप हो जाता है। ज्वर इसी वर्धित या परिणतावस्था को प्राप्त होकर चलता है। २४ घंटा के मध्य प्रात' ४ बजे से ८ बजे के बीच ज्वर का ताप सबसे कम तथा सायं ४ बजे से ८ बजे के मध्य सबसे अधिक रहता है। द्वितीय सप्ताह के अन्त मे और तृतीय सप्ताह के आरंभ मे स्वल्प विरामयुक्त ज्वर स्पष्ट हो जाता है। प्रात' तथा सायंकालिक ज्वर के मध्य ३-४ डिग्री की कमी-वेशी हो जाती है। यहाँ तक कि प्रातः शरीर का ताप स्वाभाविक हो जाता है। ज्वर क्रमश. (लाइसिस्) कम होता है। किसी-किसी स्थल मे ज्वर की प्रथमावस्था मे पूर्व वर्णित सोपान के तुल्य क्रमशः शरीर का ताप बढता हुआ नहीं दिखाई पडता है। प्रायः शीत लगकर ज्वर सहसा १०३-१०४ तापांश तक बढ़ जाता है। अनेक स्थल मे द्वितीय सप्ताह के अन्त में ज्वर कम हो जाता है। १२-२४ घंटा

के मध्य शरीर का ताप स्वाभाविक हो जाता है। कभी-कभी ज्वर विपरीत गति को धारण करता है। अर्थात सायंकाल में ताप कम हो जाता है और प्रातः काल ताप बढ जाता है। कभी-कभी ज्वर अधिक हो जाता है। किसी-किसी स्थल पर आन्त्रिक रक्तस्राव होने के बाद शारीरिक ताप सहसा कम हो जाता है।

इसके सिवाय मन्थर ज्वर की दौर्बल्यावस्था में शारीरिक ताप ५-६ दिन तक स्वाभाविक रहता है। इसके बाद २-३ दिन में सहसा ज्वर बढ कर १०२-१०३ तापांश तक होकर फिर स्वाभाविक हो जाता है। इस ज्वर के साथ-साथ कोई सार्वाङ्गिक विकार दिखलाई नहीं पडता है। जिह्वा पर सफेद मल नही दिखाई देता और उदर में आध्मान भी नहीं होता है। इस प्रकार का शारीरिक ताप प्रायः पथ्य के बिगड जाने, कब्जियत होने तथा मानसिक चिन्ता से होता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि तृतीग सप्ताह के अन्त मे शरीर का ताप प्रायः स्वाभाविक हो जाता है। जिह्वा स्वच्छ दिखाई देती है किन्तु, सायंकाल मे शरीर का ताप ९८.५ तापांश न होकर अधिकतया ९९ ५ व १०० तापांश हो जाता है। समय-समय पर १००.५ डिग्री तक ताप हो जाता है। इन सब स्थलों मे ज्वर के अन्त में नीरक्तावस्था (एनीमिया) ही इसका कारण है। उपद्रवों के प्रति विशेप ध्यान रखना चाहिए।

पुनराक्रमण—कभी-कभी ज्वर छूट जाने के बाद भी फिर इसका आक्रमण होता है। यह २-३ सप्ताह तक स्थायी रहता है।

शीतावस्था—मन्थर ज्वर मे भिन्न-भिन्न समय पर ठंढक लगती है तथा भिन्न-भिन्न लक्षण उपस्थित होते है। कभी ज्वर के आरंभ मे ठंढ लगती है तो कभी मध्य में, बाद मे स्वेद निकलता है। अनेक उपद्रवों के होनें तथा उपशमन काल में भी कभी-कभी ठंढ लगती है।

रक्तसंचालक यंत्र की दशा

पहले दो सप्ताहों मे रक्त के अन्दर कोई परिवर्तन नहीं होता।

अधिक स्वेद और प्रबल अतिसार होने पर रक्तकणों की संख्या बढ जाती है। तृतीय सप्ताह में अधिकतर रक्त कणों मे रक्त रञ्जक (हीमोग्लोबिन) का ह्रास प्रतीत होता है। बाद को रोग के अन्त मे दुर्बलता होने पर बढ जाता है। फिर स्वाभाविक रूप मे हो जाता है। श्वेत कण और वर्णहीन कणों की संख्या ज्वर के भोग काल मे सामान्य मात्रा से कम संख्या में हो जाती है। दुर्बलता तथा रोग के अन्त में इनकी संख्या का सबसे अधिक ह्रास हो जाता है। श्वेत कणों की वृद्धि (ल्यूकोसाइटोसिस) आदि मे नहीं दिखाई पडती है। इस संपूर्ण अवस्था से सप्तक ज्वर (सेप्टीसीमिया फीवर) और तरुण प्रादाहिक पीड़ा से मंथर ज्वर का प्रभेद किया जा सकता है। कभी-कभी मन्थर ज्वर के बाद विषम रक्ताल्पता (एनीमिया) उपस्थित हो जाती है।

नाड़ी की दशा

इस रोग मे नाड़ी की कोई विशेष अवस्था नहीं दिखाई पडती। नाड़ी पूर्ण और अनेक स्थलों में द्विघाती (डाईक्रेटिक) हो जाती है।

हृदय की अवस्था

प्रथमावस्था में हृदय के ऊपर अंगुलिप्रहार करने से स्पष्ट, ऊँचा और साफ-साफ शब्द सुनाई पडता है। किसी प्रकार का मर्मर शब्द नहीं सुनाई पडता है। किन्तु रोग के अत्यत प्रबल होने पर जब दुर्बलता प्रकाशित हो जाती है तब हृदय का प्रथम शब्द क्षीण हो जाता है। हृदय के आगे के कोण (Apex) का उर फलकास्थि के बाएँ कोने मे आकुञ्चनिक (सिस्टोलिक) मर्मर शब्द सुन पडता है और प्रथम हृदय के प्रतिघात (परकशन) का शब्द धीरे-धीरे लुप्त होने लगता है। रोग के अधिक प्रबल हो जाने पर अतिक्षीणता हो जाने से हृदय के ऊपर प्रतिघात करने पर प्रथम और द्वितीय शब्द एक ही प्रकार का हो जाता है तथा चिर काल मे अल्पता हो जाती है।

पाचक यंत्र

पहले से ही कम और अन्न मे अरुचि उत्पन्न हो जाती है। प्यास सदा बनी रहती है। पहली अवस्था में जिह्वा गीली, फूली हुई, और पतले सफेद मल से ढँकी हुई रहती है। रोग जितना बढ़ता है उतना ही सफेद मल मोटा होता जाता है। जिह्वा बराबर गीली रहती है। रोग के प्रबलावस्था में विशेप कर के प्रलाप होने पर जिह्वा अत्यन्त सूख जाती है। किसी २ स्थल पर जिह्वा गुलाबी रंग व गुलाबी रंग से मिला हुआ काले रंग वाले मल से ढकी हुई दिखाई पडती है अथवा मोटे-मोटे छाले पडने के तुल्य हो जाती है।

जिह्वा कई जगह फट जाती है अथवा जिह्वा मे गर्त हो जाते हैं। दन्त, ओष्ठ, गंभीर गुलाबी रंग के पदार्थ से ढँके रहते हैं। इसको दन्त-मल कहते हैं। रोग के अन्त मे दुर्बलता रहने पर भी जिह्वा क्रमश साफ होने लगती है। मल हट जाता है और साधारण रूप से लाला निकलने मे कमी हो जाती है। आमाशय सबंधी सभी लक्षण विलक्षण दिखाई देते हैं। वमन की इच्छा होती है और कभी कभी वमन भी हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भयंकर वमन होता है कि जिससे अत्यन्त क्षीणता होकर मृत्यु हो जाती है।

अन्त्र मण्डल की दशा—अन्त्र संबंधी सब लक्षण अधिकतर एक रूप वाले नहीं होते हैं। कभी-कभी सामान्य अतिसार तथा कभी-कभी बार-बार दस्त होते हैं। किसी-किसी स्थल मे कोष्ठ नियमित या काठिन्य युक्त होता है। मन्थर ज्वर मे अतिसार होने पर अन्त्र की आमयिक अवस्था सामान्य होती है ऐसा निर्देश करना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि अनेक स्थल मे कोष्ठ काठिन्य होने पर क्षुद्रान्त्र की लसीका ग्रन्थियों मे और क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग मे प्रसारण (इनफिल्ट्रेशन) और क्षत वर्तमान रहता है तथा कठिन मल से बृहदन्त्र भरा रहता है। प्राय प्रथम सप्ताह के अंत मे और द्वितीय सप्ताह मे अतिसार वर्तमान रहता किन्तु, तृतीय तथा चतुर्थ सप्ताह के पूर्व अतिसार पैदा नहीं होता है। दिन रात्रि मे ३—१८ बार तक दस्त होते हैं।

मल

प्रचुर परिमाण मे तरल, धूसराभ पीत वर्ण दानेदार मल निकलता है। यह देखने मे दाल के यूप के तुल्य प्रतीत होता है तथा अत्यन्त बदबूदार होता है। मल रख देने पर उसके ऊपर पतला रक्त रस का स्तर पृथक् हो जाता है। इसमे शुक्लाण्ड (एल्ब्यूमिन) और सब लवण वर्तमान रहते हैं। नीचे के स्तर मे उपत्वक् के खण्ड और भुक्त पदार्थ के अवशिष्ट भाग और अधिक संख्या में ट्रिपल फास्फेट् (Trepple-Phosphate) के दाने पाये जाते हैं। जितनी सामान्य मात्रा में रक्त वर्तमान रहता है, वह आणुवीक्षणिक यत्र की सहायता से देखा जा सकता है। अन्त्र की लसीका ग्रन्थियाँ पक कर के धुमैले रंग से मिले हुए पीले रंग वाले खण्ड-खण्ड के रूप में अथवा डिम्बाकारपिण्ड के रूप में निकलती हैं। प्रथम सप्ताह के अंत में और द्वितीय सप्ताह के मध्य मे मल मे जीवाणु पाये जाते हैं।

रक्तस्राव

कभी-कभी अन्त्र से मामूली रक्तस्राव होता है। कभी-कभी रक्तस्राव इतना अधिक होता है कि रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। प्राय. द्वितीय सप्ताह के अन्त से चतुर्थ सप्ताह के आरम्भ काल के मध्य मे रक्तस्राव होता है। रक्तस्राव होने पर कोई पूर्व लक्षण प्रकाशित नहीं होता है। रोगी हिमाङ्ग (कोलैप्स) अथवा निर्जीवता का अनुभव करता है। शरीर की गर्मी कम हो जाती है, यहाँ तक कि कुछ घण्टे मे ही ताप ८-१० डिग्री तक कम हो जाता है।

आध्मानादि

किसी-किसी स्थल पर उदर मे आध्मान (आफरा) हो जाता है। यह इतना अधिक होता है कि वक्षोदर मध्यस्थ महाप्राचीरक पेशी (डायाफ्राम) को ऊपर हटा देता है तथा फुफ्फुस और हृदय की क्रिया में व्याघात हो जाता है। उदराध्मान-अन्त्र के विदारण मे सहायता देता है। कभी-कभी अत्यन्त वेदना के साथ उदर की पेशियों में

अपकर्ष (Degeneration) हो जाता है। गुदोदर सम्बन्धी भाग (रेक्टाई एबडोमेनलेस्) विच्छिन्न हो जाता है और क्षुद्रान्त्र के नीचे का भाग (इलियम्) स्थूल हो जाता है। अन्त्रबन्धनी (मेसेन्टरिक) ग्रन्थियाँ स्पर्श करने से जानी जा सकती हैं। अनेक स्थलों में इस शोथ और उसकी कठिनता आदि से उपान्त्र-शोथ (अपेन्डिसाइटिस्) समझ कर भ्रम हो जाता है।

अन्त्रक्षत—अन्त्र मे जो क्षत हो जाता है उससे औदर्याकला (पेरीटोनियम्) विस्तृत हो जाती है। यह क्षत प्राय द्वितीय सप्ताह के अन्त मे अथवा तीसरे सप्ताह मे उपस्थित होता है। ऐसा होने पर सहसा पेट मे दर्द और शैत्यावस्था (कोलेप्स) के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अनेक स्थल मे साथ-साथ रक्तस्राव भी होता है। अन्त्र के मध्य में भुक्त पदार्थ वर्तमान होने पर प्रबलरूप से वमन और आध्मान हो जाता है। विशेष करके एस्केराइडेस् कृमि प्रभृति इस अवस्था का कारण अनुमान किया जाता है। प्रायः क्षुद्रान्त्र के अधोभाग मे अन्त्र-विदीर्ण हो जाता है। कभी-कभी वृहदन्त्र (कोलन) भी विदीर्ण हो जाता है। ऐसी दशा उपस्थित होने पर उदर में शोथ, वेदना, उदर की पेशियों मे दृढता, मुख मलीन, शीताङ्ग (कोलैप्स), वमन, नाडी की गति द्रुत और क्षुद्र हो जाती है। औदर्याकला शोथ (पेरिटोनाइटिस) के सब लक्षण जल्दी-जल्दी उपस्थित हो जाते हैं। कभी-कभी प्रबल मानसिक विकार उपस्थित हो जाते हैं तथा स्थानिक स्फोट उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी अन्त्र विदीर्ण न हो कर अन्त्र के क्षत से शोथ का विस्तार होने अथवा अन्त्रबन्धनी (मेसेन्टरिक) ग्रन्थियों के विच्छिन्न होने से औदर्याकला (पेरीटोनियम्) मे शोथ हो जाता है।

प्लीहावृद्धि प्रभृति

मन्थर ज्वर मे प्रथम सप्ताह के शेष भाग में प्लीहा बढ जाती है और चतुर्थ सप्ताह मे वृद्धि का ह्रास हो जाता है। किसी-किसी स्थल पर प्लीहा मे क्षुद्र विपाक्त कणज कैशिकावरोध (इन्फर्कटस्) और स्फोट उत्पन्न हो जाता है। कभी स्वय ही तथा कभी आघात लगने से प्लीहा फट

जाती है। उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त अन्याय विविध यन्त्रों मे अनेक प्रकार के उपद्रव हो जाते हैं। यथा—

श्वास-यन्त्र—नासिका के अन्दर से रक्तस्राव, स्वरयन्त्र प्रदाह, श्वास-नलीय शोथ (ब्रोङ्काइटिस्), खाण्डिक श्वसनक ज्वर (लोअर न्यूमोनिया), फुफ्फुस के एक तरफ शोथ (ईडिमा), रक्तोत्कास प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं।

नाडी-सस्थान—नाड़ीकोष—प्रदाह (शोथ) स्थानिक होता है। हस्त-पादादि की नाडियों मे भी शोथ हो जाता है। शीर्पसौपुम्निक ज्वर (Poliomyelitis), धनुस्तम्भ (टेटॉनस) और कभी-कभी ज्वर के अन्त में उन्माद हो जाता है।

मूत्र-यन्त्र—शुक्लाण्डिक प्रमेह (एल्व्यूमिन्यूरिया), नवीन वृक्क शोथ (एक्यूटनिफ्राइटिस). दन्त पूय (पायरिया) और रोग के अन्त मे गवीनी मुखप्रदाह (Pyelitis), वृपण ग्रन्थि शोथ (ओर्काइटिस्) प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं।

अस्थि-विधान—सर्व सन्धि प्रदाह (मालट्रिपल् ओर्थाइटिस्), मृतास्थि (निक्रोसिस्) और टाइफाइड स्पाइन् नामक उपद्रव इसमें होता है। इससे ज्वर अच्छा हो जाने के वाद सामान्य कारण हो जाने पर पृष्ठ वंश में वेदना और पैरों में चलने पर वहुत पीडा होती है।

उष्णदेशीय (ट्रौपिकल टाइफाइड) मन्थर-ज्वर

परिचय—रोग विक्षिप्त रूप से प्रकट होता है। प्राय' शरीर मे लाल रंग की पिडिकाएँ नहीं निकलतीं। कभी-कभी रोगी अतिसार के वदले कोष्ठ काठिन्य से पीड़ित रहता है। सम शीतोष्ण देश के मन्थर ज्वर के समान इसमें तापक्रम का स्वभाव लक्षित नहीं होता। कभी-कभी विपम ज्वर व संतत ज्वर के तुल्य आरम्भ होता है। इसकी गुप्तावस्था की स्थिरता नहीं देखी जाती है। यह अवस्था कभी-कभी एक सप्ताह से चार सप्ताह तक स्थायी रहती है। तराई वाले स्थानों में १०-१४ दिन तक इसका स्थायित्व रहता है। रोग की गुप्तावस्था में रोगी दुर्वल और

दु:खी रहता है। मलेरिया ज्वर वाले रोगी को शीत ज्वर के लक्षणों मे मन्थर ज्वर का आरम्भ होता है। ज्वर का आक्रमण काल प्राय: निश्चित नहीं किया जा सकता है। कभी-कभी इस ज्वर के द्वितीय सप्ताह मे एक आध रोगी को पिडिकाएँ दिखलाई पड़ती हैं। कभी-कभी इन दानों को देखकर मच्छरों के काटे हुए चकत्तों से भ्रम हो जाता है। दक्षिण जघन फलोदूर्ध्ववर्ती क्षुद्रान्त्र भाग (एलियक) के दबाने पर वेदना और कुल-कुल शब्द अधिक सुनाई पड़ता है। इसमे प्राय श्वासनलीय प्रतिश्याय बना रहता है। अन्त मे फुफ्फुस-शोथ (न्यूमोनिया) व फुफ्फुस के नीचे के भाग मे रक्त का सञ्चय हो जाता है। इसका कभी-कभी पुनराक्रमण भी देखा जाता है। इसका कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण पूर्व के तुल्य ही होते हैं

मृदु मन्थर-ज्वर (एवार्टिव टाइफाइड फीवर)

जिस स्थान मे मृदु प्रकृति से यह रोग होता है उस स्थल मे इसको मृदु प्राकृतिक मन्थर ज्वर कहते हैं। लक्षण आदि से रोग का स्पष्ट निर्णय किया जा सकता है। किन्तु रोग अति मृदुभाव से प्रकट होता है। एक-दो सप्ताह के मध्य मे अथवा रोग के अन्त मे दुर्वलता होती है। कभी-कभी आन्त्र-विकार के भी सब लक्षण देखे जाते हैं। शरीर मे पिडिकाएं भी निकल आती हैं किन्तु, आदि में ज्वर नहीं होता है।

भ्रमजनक मन्थर-ज्वर (ओपॉकिङ्ग टाइफाइड फीवर)

इस प्रकार के ज्वर मे रोगी अपनी मूर्खता के कारण पीडा की गुरुता नहीं समझता और काम-काज करता ही रहता है। बाद को जब अति दुर्वलता और लगातार शिर मे पीडा होने लगती है तब वैद्य के पास जाता है। इस समय रोगी का प्राय द्वितीय सप्ताह होता है। इसका भावी फल प्राय' सांघातिक होता है।

गंभीर मन्थर-ज्वर (ग्रेव टाइफाइड फीवर)

विपम प्रकार के मन्थर-ज्वर मे कोई-कोई लक्षण अथवा बहुतसे लक्षण अति प्रबल रूप से प्रकट होते हैं। यथा—ज्वर की प्रबलता,

विषम मूर्च्छा, अचैतन्य (कोमा), अनियमितता (एटाक्सिया) उपस्थित हो जाता है। रोगी पथ्य या भुक्त पदार्थ को परिपाक करने मे असमर्थ होता है। प्रवल अतिसार, अन्त्र के मध्य से रक्तस्राव, हृदय की क्षीणता के साथ अति दौर्वल्य, रक्त नीलिमा (Ciyanosis) के लक्षण मालूम होते हैं। कभी-कभी अन्य उपद्रवों से युक्त होकर रोग प्रवल रूप धारण कर लेता है।

रोग-निर्णय

लक्षणों से मन्थर ज्वर का निर्णय करना कठिन नहीं है। क्योंकि यह ज्वर क्रमश चढ़ता है। ताप की अपेक्षा नाड़ी की गति मन्द होती है। जिह्वा का वर्ण मन्थर-ज्वर अति स्पष्ट कर देता है। कभी-कभी पिडिका ज्वर और विषम ज्वर के साथ इसका भ्रम हो जाता है। विशेष करके कम्प-ज्वर (एग्यू फीवर) और सन्तत ज्वर (रेमीटेन्ट फीवर) के साथ भ्रम हो जाता है। किन्तु यह उस समय होता है जब ज्वर अचानक वा शीघ्र ही अपनी सीमा पर पहुँच जाता है। भारत में मलेरिया ज्वर का अधिक प्रकोप देखा जाता है। अतः प्रकृत-मन्थर-ज्वर के प्रारम्भ में मलेरिया का प्रभाव देखा जाता है। इसका निर्णय शवच्छेद करके किया गया है। सन्तत-ज्वर में अन्त्र का वैधानिक वैषम्य हो जाता है और सर्वाङ्गीण सर्षपाकार यक्ष्मपिडिका (जेनरल मिलियरी ट्यूवर्क्यूलोसिस्) हो करके कोई स्थानिक लक्षण प्रतीत न होने पर आन्त्रिक-ज्वर के साथ भ्रम हो जाता है। किन्तु, यह स्मरण रखना चाहिए कि सब रोगियों को मौक्तिक पिडिकाएँ (रोजरॉश) और प्राय' अतिसार हो जाता है। इनको देखने पर रोग का प्राय. निर्णय हो जाता है। इस रोग का पूय-ज्वर (पाइमिया) के साथ भ्रम होने की संभावना रहती है। किन्तु; पूय ज्वर में शरीर का ताप बहुत बढ जाता जिससे रोग निरूपण में सहायता मिलती है। यक्ष्म कीटाणुजनित (ट्यूवर्क्यूलर) शिरोवरसौपुम्नीपरिवेष्टनी कला-प्रदाह (मेनिञ्जाइटिस) के साथ भी भ्रम हो जाता है। किन्तु, मन्थर ज्वर में प्रलाप होने के पहले शिरोवेदना एक वार होकर

दूर हो जाती है। शीर्षावरण-प्रदाह (मेनिञ्जाइटिस) के लक्षण साथ-साथ प्रकाशित होते हैं। जिस स्थल में ये लक्षण उपसर्ग रूप में होते हैं; उस स्थल में आन्त्रिक ज्वर के अन्यान्य प्रकृति के लक्षण न होने पर रोग निर्णय करना कठिन हो जाता है। इनके सिवाय क्षयाणु (ट्यूबर्क्यूलर) जन्य औदर्याकला-प्रदाह (पेरीटोनाइटिस) टिफलाइटिस, बृहदन्त्र मे तरुण प्रदाह, यकृत् का स्फोट और वृक का स्फोट समझ कर भ्रम हो जाता है।

क्षयजन्य शिरोवर सौपुम्नीकला-प्रदाह और मन्थर-ज्वर का प्रभेद—

ट्यूबर्क्यूलर मेनिञ्जाइटिस

कई सप्ताह में रोगी धीरे-धीरे दुर्बलता को प्राप्त होता है। रोगी का उग्र स्वभाव अत्यन्त अधिक और दीर्घ काल तक स्थायी रहता है। निद्रावस्था मे भी बेचैनी रहती है। प्रकाश सहन नहीं होता है। शारीरिक ताप की कोई विशेष अवस्था दिखलाई नहीं पड़ती। प्रातःकाल मे ताप बढ जाता है और सायंकाल में समभाव में रहता है।

अकारण वमन होता है जिससे आहार द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध लक्षित नहीं होता है। जिह्वा साफ होती है। दिन-रात्रि मे शिर की पीड़ा एक-सी बनी रहती—घटती-बढ़ती नहीं है। प्राय सदा कोष्ठ काठिन्य रहता है। उदर प्रदेश में दबाने पर वेदना नहीं होती है। नाडी का आयतन उत्तम, नाडी मृदु गति और कभी-कभी अनियमित हो जाती है। नासिका से रक्तस्राव नहीं होता है।

मन्थर-ज्वर (टाइफाइड फीवर)

ज्वर कुछ काल तक रह कर बाद को दुर्बलता प्रकट करता है। स्वभाव विशेष उग्र नहीं होता तथा निद्रा की दशा मे रोगी स्वस्थ रहता है। प्रकाश सहन कर सकता है। दैहिक ताप विशेष क्रम को अनुसरण करता है। ज्वर क्रम से बढता है, प्रातःकाल की अपेक्षा सायंकाल में शरीर का ताप बढ़ जाता है।

पक्काशय में विकृत दुग्ध या दूसरा पथ्य वर्तमान होने पर या खराब औषध के सेवन करने से वमन होता है। जिह्वा मलिन होती है। सायंकाल जिस समय ज्वर बढता है उसी समय शिर की पीडा भी वढ जाती है।

कभी अतिसार तो कभी कोष्ठ काठिन्य होता है। उदर को दबाने से वेदना होती है। आध्मान भी होता है, नाडी कोमल, द्रुत गति और नियमित रहती है। नासिका के रन्ध्र से रक्तस्राव होता है।

परिवर्द्धितावस्था

ट्यूबर्क्युलर मेनिञ्जाइटिस

शरीर के ताप की अवस्था नियमित नहीं होती है। अथवा विज्वरावस्था रहती है, साधारणतया वमन शान्त रहता है। संज्ञाहीनता (स्टूपर) सदा वनी रहती है। रोगी सहज से नहीं जागता, जगाने पर शीघ्र ही फिर पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है। दुर्दम कोष्ठ काठिन्य होता है, पेट मे आध्मान आदि कोई विकार नहीं होते।

त्वचा मे नख से आघात करने पर वह स्थान फूल जाता है और साथ ही लाल भी हो जाता है। गण्ड प्रदेश और जो स्थान सञ्चाप के अधीन होता है, वह समुदाय स्वयं और एक वारगी लाल हो जाता है। मस्तिष्क क्रियाहीन, श्वासवैषम्य (काइन् स्टोकस्), श्वास-प्रश्वास तथा नाडी अनियमित रहती है। स्थानिक पक्षाघात, आक्षेप (स्पैजम्स) अक्षिगोलक स्थिर, कनीनिका असम और अप्रसारित होती है। उर्वस्थि के ऊपर दवाव डालने से अत्यन्त वेदना होती है। मूत्र में यूरोहेमेटिन् वर्तमान रहता है। किन्तु इंडिकेन व रक्ताण्ड नहीं पाये जाते हैं।

मन्थर-ज्वर (टाइफाइड फीवर)

अविराम-ज्वर समभाव से होता है अथवा ज्वर क्रमश वढ़ता है। प्रात काल मे यथेष्ट स्वल्प विराम रहता है। भुक्त पदार्थ वमन द्वारा निकल जाता है। सहज मे संज्ञा को नहीं प्राप्त करता है। कुछ देर

के बाद होश मे आ जाता है और जल की इच्छा करता है। जागरित अवस्था मे अधिकतर विवेक-शक्ति का वैलक्षण्य नहीं लक्षित होता है। अतिसार में अधिकतर पीला और लाल मल निकलता है। उदर को दबाने से वेदना होती है और उदराध्मान होता है। शरीर मे कुछ लाल वर्ण के दाने निकल आते हैं। श्वास-प्रश्वास समय-समय पर अत्यन्त अनियत अथवा दीर्घ-श्वास से युक्त होता है। एक दिन अनियमित और दूसरे दिन सम्पूर्ण नियमित होता है। नाडी क्षीण और नियमित होती है। पक्षाघातादि लक्षण नहीं होते हैं। उर्वस्थि के ऊपर दबाव पडने से वेदना नहीं होती है। शुक्लाण्ड और इण्डिकेन सदा वर्तमान रहता है।

विविध परीक्षा-प्रणाली

मन्थर-ज्वर (टाइफाइड) का निर्णय करने के लिये इसके सीरम (रक्त-रस) की विडाल परीक्षा (विडाल्स टेस्ट) और रक्त, मल, मूत्र में कीटाणुओं की वृद्धि (Cultuie) करके परीक्षा की जाती है। कभी-कभी ड्याजो क्रिया (Diazo Reaction) नामक मूत्र-परीक्षा से बहुत सहायता मिलती है। इन परीक्षाओं के द्वारा इस रोग के कीटाणुओं का अस्तित्व मालूम हो जाने से रोग निश्चित हो जाता है। परन्तु, ये परीक्षाएँ उपकरण साध्य हैं। अतः मन्थर ज्वर के नवीन रोग निर्णायक लक्षणों के प्रति ध्यान रखना चाहिये।

क्रमश: तीन दिन तक रोगी के मलाशय का ताप प्रात:काल मे १०२.५ तापांश और सायंकाल १०३ तापांश होता है। विशेष करके इसके साथ शिर में पीडा, आलस्य और उदासी रहे तो रोगी को ९० तापांश गरम पानी में स्नान कराने की व्यवस्था करें। रोगी को जल से भरे हुए पात्र मे लिटा करके क्रमश: उसका ताप कम करके ८० तापांश तक कर दें। रोगी के शरीर को लगातार घर्षण करें। यदि तीन घंटे के बाद भी ज्वर १०२.५ तापांश से ऊपर रहे तो फिर रोगी को ५ तापांश शीतलतर जल मे पूर्व प्रकार से स्नान करावें। इस रूप मे स्नान का जल क्रमश: शीतल करके जब तक स्नान के जल का ताप ७५ तापांश न हो

जाय तब तक बार-बार स्नान करायें। यदि एक या एक से अधिक बार के स्नान के बाद भी मलाशय (गुदा) का ताप आध घंटा के मध्य २ तापांश कम न हो तो मन्थर-ज्वर समझना चाहिये। इसका सिद्धान्त यह निकला कि घर्षण के सहयोग से जल में १५ मिनिट मे ताप ७५ तापांश हो जाता है। स्नान के बाद भी गुदा का ताप कम न हो तो निश्चित रूप से मन्थर ज्वर समझना चाहिये। किन्तु ; यह परीक्षा कभी-कभी हानिकारक भी हो जाती है। अत विडाल परीक्षा व डयाजो परीक्षा से रोगी को कोई हानि नहीं होती। अत. यही परीक्षा उपयुक्त हैं।

भावी-फल

अधिक आयु वाले, स्थूल शरीर, क्षीण शरीर व मद्यपायी पुरुषों मे इसका परिणाम भयानक होता है। बड़ों की अपेक्षा बच्चे इस रोग को सहन कर लेते हैं। किन्तु, क्षीरपायी बच्चों के लिये यह सांवातिक होता है। दूसरे स्थान पर गये हुए स्त्री-पुरुषों पर इसका आक्रमण अमंगलकारी होता है। इससे सम्पूर्ण आरोग्य न होने पर भावी फल अच्छा नहीं कहा जा सकता है। उदर मे उत्कट वेदना, अतिसार, शोथ, अन्त्र से रक्तस्राव, अन्त्रविदारण, औदर्याकलीय शोथ (पेरिटोनाइटिस्), अति दुर्बलता, हस्त-पाद मे कम्प प्रभृति अरिष्ट लक्षण होते हैं। प्रात' काल ताप बढकर सम्पूर्ण दिन में बराबर रहे और रात्रि मे कम हो जाय—ये लक्षण भी अच्छे नहीं हैं। एक बारगी ताप बढ जावे अथवा घट जाय, यह भी अशुभ लक्षण है। किन्तु ; प्रात. काल में शरीर का ताप कम हो जाना अच्छा है।

मन्थर-ज्वर की चिकित्सा

मन्थर-ज्वर की चिकित्सा प्रधानतया दो विभागों में विभक्त की जा सकती है। (१) रोग निवारक और (२) आरोग्यकारक।

साधारण निवारक उपायों का विशेष वर्णन अनावश्यक है। व्यक्ति विशेष को किन-किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिये, यह संक्षेप से लिखा जाता है। प्रतिशत ९९ व्यक्ति दूषित जल से

रोगाक्रान्त होते हैं। अतः इस रोग के फैलने के समय और एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने पर औंटाया हुआ जल पीना चाहिये। अधिकतर पीनेवाले दूध के साथ आन्त्रिक ज्वर के कीटाणु पेट में चले जाते हैं। जो दूध बाजार मे विकता है उसमें यथेष्ट मात्रा मे दूषित जल मिला रहता है। अथवा यदि दूध मे जल मिश्रित नहीं होता है तो दूध के पात्र दूषित जल से धोये जाते हैं जिससे जलस्थित कीटाणु दूध में आ जाते हैं। दूध मे आन्त्रिक ज्वर के कीटाणु बहुत जल्दी बढते हैं। गोशाला आदि से जो दूध आता है; वह दूषित स्थान मे खुला रख दिया जाता है। दूध दुहनेवाले बिना हाथ धोये ही दुह लेते हैं, इत्यादि कारणों से दूध मे जल के मिश्रित न होने पर भी ये कीटाणु दूध मे आ ही जाते हैं। यही कारण है कि पीने के पहले दूध गरम कर लेना आवश्यक है।

दूषित नाली, नावदान, पाखाना आदि से उत्पन्न हुई वाष्प के साथ टाइफाइड का विष शरीर मे प्रविष्ट हो सकता है। अतः इन सब स्थानों को संक्रमण नाशक द्रवों से भलीभाँति स्वच्छ रखना चाहिये। इसके साथ-साथ वायु भी शुद्ध होना चाहिये। टाइफाइड ग्रस्त रोगी के मल में वर्तमान कीटाणुओं का नष्ट करना रोग-व्याप्ति-निवारण का प्रधान उपाय है।

और विशेष व गवेषणा करके यह निश्चय किया गया है कि नियमानुकूल वैसिलस् टाइफोसिस् नामक कीटाणु वंश-वृद्धि करते हैं। उनसे प्रतिरोधक वैक्सीन तैयार करके त्वचोऽध· क्षेपण (इन्जेक्शन) करने पर व्यक्ति विशेष में कुछ काल के लिये रोग के आक्रमण की शक्ति नष्ट होती है। इसके सिवाय इस रोग की चिकित्सा के लिये विविध प्रकार के प्रस्तुत सीरम (रक्तरस) आदि व्यवहृत होते हैं। इस ज्वर की चिकित्सा करते समय नीचे लिखे विषयों पर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

रोगी को साफ और हवादार कमरे में रखना चाहिये। आवश्यक वस्तुओं को शुद्ध कर घर में रखें और रोगी के घर मे परिचारक

के सिवाय किसी को प्रवेश न करने दें। परिचारक को भी रोगी की सुश्रूषा करने के बाद सदा हाथ-पैरों को कार्बोलिकाम्लयुक्त जल से धोना चाहिये। यदि रोगी के वस्त्र मे मल लग जाय तो उसी समय उस वस्त्र को त्याग दे और फिर उसे कार्बोलिक द्रव तथा गरम पानी से धोकर काम मे लाय। आन्त्रिक-ज्वर के जीवाणु मल-मूत्र और स्वेद द्वारा निकलते हैं। अतः जिस पात्र में रोगी मल त्याग करता हो, उस पात्र में चूने का पानी व कार्बोलिकाम्ल का पानी डाल दे। इससे आन्त्रिक-ज्वर के जीवाणु मर जाते हैं। रोगी के मूत्र और थूक-पात्र मे भी कार्बोलिक द्रव डाल दे। रोगी के मल को मिट्टी के नीचे नहीं दबाना चाहिये। क्योंकि ९ फिट गहरे गर्त मे भी दबाने पर इसके जीवाणु नहीं मरते हैं; प्रत्युत बढ़ते ही हैं।

रोगी को देखने के बाद वैद्य को भी रसकर्पूर के पानी से हाथों को साफ कर डालना चाहिये। रोगी के कपड़ों को छ-सात घण्टे के बाद प्रतिदिन धूप मे डाल दे। मल त्यागने के बाद रोगी के मलद्वार को गरम जल और कार्बोलिक जल से धोवे। अथवा कर्बोलिक द्रव मे भिगोई हुई रूई से मलद्वार को पोंछ दे। रोगी को औषध तथा पथ्य देने के लिये काम मे आनेवाले पात्र को गरम पानी से धोवे। रोगी के घर के दरवाजे और खिडकी खुला रहने चाहिये साथ ही घर मे गन्धक, लोबान आदि का धूम प्रतिदिन देना चाहिये। घर को प्रति दिन साफ करना चाहिए। रोगी के आरोग्य होने के बाद दरवाजा आदि बन्द कर घर मे चौबीस घण्टा तक गन्धक, नीम आदि का धूम देना चाहिये। तदुपरान्त चूने से घर को पोत कर कार्बोलिक द्रव से धो देवे और फिर दरवाजे तथा खिडकियों को खोल दे।

मुख प्रक्षालनादि—एक सेर उदुम्बर पत्र के क्वाथ मे आधा तोला शुद्ध सोहागे का चूर्ण डाल कर मुख-दन्तादि का प्रक्षालन करें। यदि रोगी असमर्थ हो तो परिचारक को उपरोक्त क्वाथ मे रूई का फाहा भिगोकर जिह्वा और दन्त, मुखादि को उससे साफ करना चाहिये। इससे मुखव्रण

अच्छा हो जाता है। रोगी के गृह मे यूक्लिप्ट्स तल में शोपक कागज (ब्लाटिंग पेपर) भिंगो कर जगह-जगह पर रख दें।

यथोक्तं प्रति संस्कृत निदाने—

गृह तस्य चतुष्पार्श्वं सर्वत· परिमार्ज्यताम् ।
एकत्र गणशोवासो ध्यानेन परिहार्यताम् ॥
मलमूत्र-प्रणाल्यश्च प्रत्यह बहुवारिणा ॥
मार्जनीया विशेपेण मौक्तिक ज्वर सभवे ॥
मूत्रस्य च पुरीपस्य स्थाने कार्यो विधानत· ।
सुधा चूर्णस्य प्रक्षेप प्रत्यह चावधानत· ॥

आरोग्यकारक चिकित्सा

इनके दो भेद होते हैं। (१) सार्वाङ्गिक और (२) विशेष चिकित्सा।

सार्वाङ्गिक चिकित्सा

इस चिकित्सा का प्रधान उद्देश्य है रोगी के बल की रक्षा करना। रोग का जब से पूर्वरूप आरम्भ हो उसी समय से स्वच्छ-हवादार घर में चारपाई बिछा कर रोगी को आराम से लिटा देना चाहिये। घर प्रकाशित होना चाहिये। रोगी के शरीर में वायु, धूप आदि न लगनी चाहिये। घर मे शोर-गुल न होना चाहिये। रोगी का बिछौना मुलायम होना चाहिये अन्यथा शय्याक्षत होने की सम्भावना रहती है। बिछौने के चद्दर को दूषित होने पर बदलते रहना चाहिये। कोई-कोई बिछौने के चद्दर के नीचे वाटरप्रूफ कपडा बिछा देते हैं। जिससे बिछौना खराब नहीं होता है। इस रोग में पथ्य-विधान ही प्रधान चिकित्सा है। अतः दो मूल नियमों के ऊपर लक्ष्य करके पथ्य का निश्चय करना चाहिये। (१) जो आन्त्रिक ज्वर के जीवाणुओं को नाश करने में सहायक हों। (२) अधिकतर आन्त्रिक ज्वर मे उदर विकार होता है। इसलिये ऐसा पथ्य दें जो शीघ्र ही परिपाक को प्राप्त हो जाय। जिस पथ्य का पाक विलम्ब से हो उसका निषेध है। ज्वर की प्रथमावस्था

में जल के तुल्य तरल-लघु पथ्य दें। जहाँ पर रोगी को दुग्ध न पचे वहाँ पर जौ का जल (वार्ली) दें। आन्त्रिक-ज्वरी को प्रचुर मात्रा में द्रव द्रव्य दें और शृत-शीत जल का प्रयोग करें। इससे ज्वर की ऊष्मा से शुष्क हुये जलांश की पूर्ति होती है। अधिक मूत्र के निकलने से रोग का विष भी निकल जाता है। अत निस्सन्देह होकर २½ सेर तक द्रव द्रव्य दे सकते हैं। जिस रोगी को दूध नहीं पचता है, उसको मोरट (whey) दें।

मोरट विधि

गो-दुग्ध २ छटाँक लेकर अग्नि में पकावें। जब दूध में उबाल आवे उसी समय कागजी नीबू के रस की कुछ बूंद डाल दें। डालने पर वह दूध—दधि के आकार मे जम जाता है। फिर शुद्ध वस्त्र से जल को छान लें। वाद, किलाट को अलग कर उस पानी को पिलावें। जब पिलावे तब ताजा ही और मिश्री के स्थान पर ग्लूकोज (सिता भेद) दें। कभी-कभी केवल ग्लूकोज ही २-२ माशे की मात्रा में दिया जाता है। इससे रोगी के अन्दर शक्ति पैदा होती है। यह १५ मिनट में रक्त को उत्पन्न करती है। दूध का पाचन होने के लिए कभी-कभी इसमें सोडा-वाई कार्व आदि मिला कर भी देते हैं।

आन्त्रिक ज्वर में मद्य का विधान

अधिकतर इस ज्वर में सुरा का निषेध है। यदि रोगी युवा और वलवान हो तथा रोग मृदु हो; तो उस समय सुरा का प्रयोग नहीं करना चाहिये। रोग की प्रथमावस्था में भी सुरा का प्रयोग न करें। किन्तु रोग के अन्त में दुर्वलता होने पर इसका प्रयोग करें। अथवा उस समय करें जब नाड़ी क्षीण और हृद्दौर्वल्य प्रतीत हों। इसमे दालचीनी का तैल १ बूंद, वबूलगोंद काजल २ माशा, और सुरा १ ड्राम मिला कर दे। यह एक मात्रा है। २४ घंटे मे २ तोला तक सुरा दे। अत्यन्त क्षीणावस्था मे इससे अधिक मात्रा मे भी दे सकते हैं। ज्वरावस्था में यवमद्य, ब्राण्डी और ज्वर के अन्त

में दौर्बल्यावस्था होने पर पोर्ट वाइन उपयोगी होती है। परिस्रुत द्राक्षासव भी लाभदायक होता है। स्त्री-दुग्ध से भी हृत्साद नष्ट होता है। कनकासव भी २०—३० बूँद की मात्रा मे देने से हृत्साद को दूर करता है।

विशेष चिकित्सा

जिन औषधों से मन्थर ज्वर के जीवाणु नष्ट हो जाएँ ऐसी दवा दे। इस के लिये अधोलिखित ओषधियाँ व्यवहृत होती हैं। यथा—क्विनीन, क्लोरीन, आइपोडीन, आइडोफार्म, रस पुष्प (कैलोमल) कार्बोलिक एसिड, क्रिया जोट, सल्फो कार्बलेट, सल्फ्यूरस एसिड, हाइपो सल्फाइटस्, सालिसिलिक एसिड, सैलेल, सौभाग्याम्ल (बोरिक एसिड) तारपीन का तैल, यूक्लिप्टस तैल, अजवाइन का तैल और कर्पूर आदि।

क्लोरीन की प्रयोग विधि—एक १२ औंस की बोतल मे पोटासिक् क्लोरेट ३० ग्रेन डालें। उसमे उग्र हाइड्रोक्लोरिक एसिड ८ बूँद मिनिम डालें। इससे क्लोरिन वाष्प वियुक्त होती है। बोतल का मुख कार्क से वन्द कर बीच-बीच मे हिलाते रहे। जब हरे-पीले वाष्प से बोतल भर जाय तब उसमें थोड़ा-थोड़ा पानी डाल, हिला दिया करें। जब तक बोतल क्लोरीन के द्रव से न भरजाय तब तक ऐसा ही करते रहे।

इसका विधिपूर्वक सेवन करने से उदर के विकार शान्त हो जाते हैं और यह संक्रमण नाशक भी है। अथवा इसके बदले मे लाइकर क्लोराइड का भी व्यवहार कर सकते हैं। पूर्व वर्णित विधि से प्रस्तुत १२ औंस द्रव में क्विनीन २४—३० ग्रेन मिलाकर उसमे सन्तरा का शर्बत १ औंस मिला करके रोग की अवस्था का विवेचन कर यह मिश्रण १ औंस की मात्रा में २-३ घटा के अन्तर से दे। इससे मलिन जिह्वा साफ हो जाती है तथा मल में आने वाली दुर्गन्धि २४—४८ घटे मे दूर हो जाती है। यह मिश्रण पक्वाशय—अन्त्र मे लीन होकर रक्त में कार्य करता है।

रस पुष्प (Calomel) की प्रयोग विधि

इस रोग में रस पुष्प यथेष्ट लाभकारक है। क्योंकि इससे आन्त्रिक जीवाणु नष्ट हो जाते है। यदि रोगी के उदर में गौरव हो तो रस पुष्प २½ रत्ती, स्वर्जिकाक्षार १० रत्ती मिलाकर जल से दें। इससे पाँच-सात

घंटा के वाद ही दो-तीन विरेचन आते हैं। इससे उदर में भारीपन और वेदना दूर होकर जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। मन्थर ज्वर में जब अतिसार होता है उस समय इसका प्रयोग निषिद्ध है। क्योंकि उस समय इसके प्रयोग से रक्तातिसार हो जाता है जिससे रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसका प्रयोग प्रथम सप्ताह के चार दिन तक ही विट्संग होने पर करना चाहिये। उसके बाद दूसरे सप्ताह में यदि मल की प्रवृत्ति न हो तो उस समय गलित स्नेह (ग्लिसरीन) की पिचकारी लगावें। अथवा पिपल्यादि तैल (अर्श—प्रकरणोक्त) की पिचकारी लगावें। परन्तु; यह ध्यान रहे कि जब ५-६ दिन मल प्रवृत्ति न हो तभी पिचकारी लगावें।

तारपीन तैल-प्रयोग

तारपीन तल १ औंस, ऑलिव ऑयल २० औंस इन दोनों को एक में मिला कर वस्ति द्वारा प्रयोग करे। तीन दिन तक यह पिचकारी व्यवहार मे लावें। बाद १½ तोला तारपीन का तैल मिलाकर जब तक रोगी के अन्त्र में दुर्बलता उपस्थित न हो तबतक एक दिन का अन्तर देकर इसका प्रयोग करें। यदि रोगी पहली अवस्था में चिकित्सक के अधीन आ जाय तो चिकित्सा आरम्भ करने के पहले रस पुष्प का प्रयोग करें। अजवाइन सत्त्व (थाइमल) के प्रयोग से भी मन्थर ज्वर के लक्षण नहीं बढ़ते हैं।

ताम्र भस्म-प्रयोग

ताम्र भस्म १ चावल की मात्रा में दिन मे ५-६ बार लवंग जल के साथ दें अथवा ताम्र भस्म मे रस पर्पटी और अभ्रक भस्म मिलाकर दें। अथवा केवल अभ्रक भस्म ही दें। मकरध्वज का प्रयोग भी ३-४ घंटे का अन्तर देकर लवंग जल के साथ दे। इससे इस ज्वर के जीवाणु नष्ट होकर ज्वर मे लाभ होता है।

पेनिसिलीन और सल्फोनामाइड का प्रयोग

आजकल आन्त्रिक ज्वर में पेनिसिलिन और सल्फोनामाइड का संयुक्त प्रयोग किया जा रहा है। कुछ लोगों का अनुभव है कि इससे

लाभ होता है। इसकी मात्रा—८ लाख पिनिसिलीन और ८ धान्य सल्फोनामाइड है।

जीवतिक्त (ग)—इससे रक्तस्रावादि कम होते हैं। इसका प्रयोग प्रामलक अम्ल (Asocribic acid) १००-२०० सहस्रधान्य प्रति दिन, सेवियान (मर्क) हाइड्रोवेझन इत्यादि के रूप मे कर सकते हैं।

फेलिक्स की प्रतिलसीका (Felix's Anti-serum)

यह लसीका अत्यन्त उग्र प्रकार के (vi) तृणाणुओं से वनाई जाती है। इसका उपयोग २५।५० घ० शि० मा० की मात्रा मे पेशी मे तीन दिन लगातार किया जाता है। रोग के प्रारम्भ मे इसके सेवन से वहुत लाभ होता है। अत्यन्त तीव्र रोग मे लवण जल के साथ इसका प्रयोग शिरा मार्ग से भी कर सकते हैं।

तृणाणुभक्ष (Bacteriophage)—इसका उपयोग २ घ० शि० मा० की मात्रा मे पानी के साथ मुख द्वारा दिन मे तीन बार किया जाता है। आजकल प्रकार विशेष (Types pecific) तृणाणुभक्ष १ घ० शि० मा० की मात्रा मे ५ प्रतिशत ग्लूकोज ४०० घ० शि० प्याले के साथ मिलाकर शिरा द्वारा धीरे-धीरे ३ घंटे के अन्तर से दिया जाता है। इससे अधिक लाभ होता है, ऐसा कुछ चिकित्सकों का अनुभव है।

रांगा (Tin) तन्द्रा भी दण्डाणु नाशक है। इसलिए आन्त्रिक में इसका उपयोग किया जाता है। श्लेष्मत्रपु या टिनरिटआरेट का योग काम मे लाया जाता है। प्रत्येक गोली ०.०१२ धान्य रांगा होता है। युवावस्था मे प्रथम दिन २० गोलियाँ और उसके पश्चात् ९ दिन लगातार प्रतिदिन १० गोलियाँ दी जाती हैं। आजकल आल्डेस्टन (Aldestan) नामक रांगा या और एक योग प्रयुक्त हो रहा है। मात्रा जवानों मे प्रतिदिन ५ गोलियाँ १२ दिन लगातार तथा १० वर्ष तक के वालकों मे प्रतिदिन आधी गोली के हिसाव से दें।

अन्त्रिक ज्वर के उपद्रवों की चिकित्सा

यदि ज्वर अधिक प्रबल हो तो उसे शान्त करने के लिए विविध उपायों और औषधों का अवलम्बन करना चाहिये। अतः प्रारंभ से

ज्वर के अन्त काल तक केवल अभ्रक भस्म का उपयोग करने से कोई उपद्रव नहीं होते हैं। ताम्र भस्म आन्त्रिक-कृमि को नष्ट करती और हृन्मोह (Heart fail) की शंका को दूर करती है। चतुर्मुख (भैषज्य रत्नावली प्रोक्त) का भी बबूल के गोंद और दालचीनी के क्वाथ से प्रयोग करने पर हृन्मोह की शंका नहीं रहती है। ज्वर को कम करने के लिए यवानी आधी रत्ती की मात्रा मे दे। यदि शरीर का ताप १०४-१०५ अथवा १०२.२ तापांश हो तो उस समय स्वेदन करना चाहिये।

स्वेदन विधि

(Sponging)

एक पात्र में गरम पानी करके उसमे नवीनवस्त्र को भिगो कर निचोड डालें। उससे रोगी का समस्त शरीर पोंछ कर फिर शुष्क वस्त्र से पोंछें। रोगी को गरमकपड़ा से ढँक दें और स्वेद निकलने पर तौलिया से पोंछ दें। ऐसा करने से २-३ तापांश तक ज्वर कम हो जाता है। यदि रोगी को खाँसी हो तो उर. पृष्ठ देश मे स्वेदन न करें।

ज्वर ह्रास के लिये हिम प्रयोग

(Use of Icebag)

ज्वर का ताप १०३ तापांश होने पर शिर पर बरफ की थैली का प्रयोग करें। उसका विधान यह है कि रोगी के बालों को बाल काटने की मशीन से कटवा कर रबर की थैली मे बरफ के टुकड़े भर कर एक थैली शिर पर और दूसरी गले के पृष्ठ पर रखें। बरफ के गल जाने पर फिर बरफ के टुकडे भरना चाहिये। यदि रोगी बरफ की थैली को हाथ से हटा दे तो नहीं रखना चाहिये।

शीतल जल विधि—जहाँ पर बरफ न मिले वहाँ पर तीन भाग शीतल जल में यूडीकलोन एक भाग मिलावें। फिर उसमें वस्त्र भिगो कर तथा पानी निचोड़ कर वस्त्र को शिर के ऊपर लपेट दें। जब वस्त्र गरम हो जाय तो फिर उसे भिगो कर निचोड कर प्रयोग करें। इससे ज्वर २-३ तापांश तक कम हो जाता है।

कोई-कोई चिकित्सक उपरोक्त विधि का प्रयोग सम्पूर्ण शरीर पर करने के लिये कहते हैं।

पानीय जल—ताम्र के पात्र में जल को पका-छान कर ताम्र के पात्र में ही रक्खे। बाद को थोड़ा-थोड़ा पीने को दें। इससे भी ज्वर के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

एलोपैथी में ज्वर का दमन करने के लिये कुनैन का प्रयोग करते हैं। किसी-किसी स्थल पर कुनैन के साथ हृत्पत्रिका (डिजीटेलिस) का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी हाइड्रो ब्रोमाइड ऑफ किनीन के साथ फेनासटीन का प्रयोग करते हैं। एन्टीपाइरिन आदि ज्वर नाशक औषधों का भी प्रयोग करते हैं।

आयुर्वेदिक चिकित्सा-विधि

मन्थर-ज्वर में सबसे प्रथम चिकित्सा यह है कि "ज्वरादौ लंघनं प्रोक्तम्"—इस सिद्धान्त के अनुसार रोगी को लंघन कराना चाहिये और ज्वर उतारने वाली कोई औषध नहीं देनी चाहिये; केवल उपद्रवों से रक्षा करनी चाहिये। पीने के लिये शृतशीत जल अथवा प्यास की अधिकता में षडंग पानीय देवे। अथवा तुलसी की पत्ती जल में डालकर पकाना चाहिये बाद को वह पानी पीने के लिये दें। प्रातः काल का पकाया हुआ जल दिन भर दें और सायंकाल में पकाया जल रात्रि में दें।

यथोक्तं भाव प्रकाशे—

दिवाश्रृतं पयो रात्रौ गुरुत्वमधिगच्छति।
रात्रौ श्रृतं दिवा पीतं गुरुत्वमधिगच्छति॥

लवङ्ग-प्रयोग—जितने वर्ष का रोगी हो उतनी संख्या में लवंग ले कर उनका क्वाथ बनावें। फिर उसे प्रातः-सायं पिलावें। किन्तु यह नियम रोगी के बलाबल पर दृष्टि रखते हुए करना चाहिये। अथवा ३२ वर्ष की आयु तक वृद्धि क्रम से फिर उसके बाद एक-एक लवंग घटा कर प्रयोग करें। किसी-किसी आचार्य का मत है कि २७ संख्या से अधिक नहीं बढाना चाहिये।

संजीवनी वटी (शार्ङ्गधरोक्त) का प्रयोग—ज्वर का संताप १०१ डिग्री प्रातः और १०२ सायं हो तो संजीवनी २ गोली मधु के साथ दें। जब ज्वर का संताप १०३-१०५ तक हो जाय तो उस समय 'ज्वर धूम्रकेतु रस' २ रत्ती की मात्रा में दें। वाताधिक्य में पान के स्वरस से, पित्त की अधिकता में परवल के पत्तों के रस से और कफ की अधिकता में अदरक के रस तथा मधु के साथ दें। इससे शरीर का ताप अधिक न बढ कर कम हो जाता है। ताप कम करने के लिये 'ज्वरारी अभ्रक' का भी प्रयोग कर सकते हैं।

धूम्रकेतु रस

शुद्ध पारा और शुद्ध गंधक की कज्जली २ तोला, समुद्र फेन १ तोला, शुद्ध सिंगरफ १ तोला।

विधि—अदरक के रस से तीन दिन घोट कर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बनावे।

ज्वरारि अभ्रक-रस

अभ्रक-भस्म ३ मा०, ताम्र भस्म ३ मा०, शुद्ध पारा-गन्धक की कज्जली ६ मा०, शुद्ध मीठा तेलिया ३ मा०, शुद्ध धत्तूर के बीज ६ माशा, त्रिकटु चूर्ण १। तोला।

विधि—जल से घोंट कर १-१ रत्ती की गोलियाँ बनावे। इसके बाद दोषानुसार अनुपान के साथ १-१ गोली दें। इससे ज्वर का ताप नहीं बढता है। ज्वर कम होकर मूर्च्छा, प्रलापादि उपद्रव शान्त हो जाते हैं। शिर पर रोगन बादाम १ तोला, काहू-कद्दू का तैल २ तोला, पिपरमेन्ट ४ रत्ती, कपूर ३ माशा, अजवाइन का सत्त्व ३ माशा, इनको एकत्र मिलाकर शिर पर मालिश करे। इससे मूर्च्छादि शान्त होते हैं। इस तेल के न मिलने पर गन्ने के रस के सिरका को कुछ गरम करके उसमें कपडा भिगो कर शिर पर रक्खें तो इससे भी गर्मी शान्त हो जाती है। जब ज्वर का ताप १०० तापांश से कम हो जावे; उस समय वसन्त-मालती १ रत्ती, गुडूची सत्त्व ४ रत्ती, मृत्युञ्जय १ गोली इनको पीसकर

अदरक के रस के साथ दें। पीने को अर्क सौंफ दें। अथवा—यदि ज्वर का ताप १०२ डिग्री से अधिक हो जाय, मूर्च्छा, प्रलाप के लक्षण और प्यास की अधिकता हो, तो उस समय प्रवाल भस्म १ रत्ती, मुक्ता भस्म ½ रत्ती, संजीवनी २ गोली, तालीसादि चूर्ण १ माशा मिला कर शर्बत वनफ्शा के साथ दें। इस भांति ३ घण्टे के अन्तर से प्रयोग करें।

पिडिका निर्गमन कालिक चिकित्सा

दाना निकलने के लिये २-४ नग अनविधे असली मोती रोगी को निगलवाना चाहिए। रोगी अगर सम्पन्न हो तो उसको मोती की माला पहनावे और संजीवनी २ गोली, प्रवाल पिष्टी १ रत्ती मधु के साथ ३ घण्टा के अन्तर से दें। अमृता का अर्क भी पिलावें। यदि प्रलाप हो तो उसके शिर पर गुलाब जल और सिरका मिला कर उसमें रूई का फाहा भिगो कर सिर पर रखें।

आध्मान चिकित्सार्थ सुधाखण्ड वटी

यदि रोगी को अफारा हो तो सुधाखण्ड की १ गोली गरम पानी से दें। इससे एक पाखाना खुल करके आता है।

सुधाखण्ड-निर्माण विधि—सनाय की पत्ती २ तोला, द्राक्षा २ तोला, मिश्री एक छटाँक। इनमें पहले सनाय को पीस कर फिर मुनक्का, मिश्री और द्राक्षा मिला ३-३ माशे की गोलियाँ बनावें और उष्ण जल के साथ खाने को दें।

पिडिका निर्गमनावरोध प्रतिकार

बसन्त मालती के प्रयोग से दाने अवश्य निकल आते हैं। यदि न निकलें तो खुबकला बिस्तर पर बिछा कर उस पर चद्दर डाल कर रोगी को लिटाने से दाने निकल आते हैं। इस पर भी यदि दाने कुछ निकल कर रुक जाएँ और उनको निकालना उचित हो तो, संजीवनी ९ गोली, शृङ्ग भस्म ४ रत्ती, मौक्तिक पिष्टी ४ रत्ती इनको एकत्र पीस कर ४ मात्रा बना, तीन तीन घण्टे पीछे एक मात्रा मधु से दें। यदि

कब्जी हो तो खूबकला १ तोला, मुनक्का १ तोला—इनका क्वाथ दें। इससे दाने निश्चित ही निकल आते हैं।

विबन्ध-चिकित्सा

यदि रोगी को कई दिनों तक पाखाना न हो और उदर में कड़ापन मालूम हो तो, ऐसी दशा में एनीमा करना चाहिए।

विधि—साबुन का पानी १ सेर, शुद्ध एरण्ड तेल २॥ तोला, तारपीन तेल १० बूँद, इनको एक में मिला कर बस्ति देवें। इसे देने के १० मिनट बाद ही दस्त आता है। यदि दस्त आने के बाद विशेष दुर्बलता मालूम हो तो मौक्तिक पिष्टी २ रत्ती, शृङ्ग भस्म ३ रत्ती, संजीवनी १० गोली, प्रवाल ४ रत्ती इनको एक में मिला कर ४ मात्रा बना तीन-तीन घण्टे बाद अनार के शर्बत से दें।

कर्णमूलिकशोथ चिकित्सा

कर्णमूल में शोथ हो जाय तो आमवातघ्न और कफ नाशक लेप करें। अत: कुचिला २ रत्ती, कायफल, सोंठ, काली जीरी और अफीम २-२ रत्ती, इनको पीस कर गरम करके लेप करें। इससे शोथ शान्त हो जाता है। टिंचर आइडिन भी लगावें। यदि इस क्रिया से शान्त न हो तो जोंक तथा सिंगी लगा कर रक्त निकाल दें, तो शान्त हो जाता है। यह शोथ कभी-कभी पक भी जाता है। उस समय इन्द्रायण के फल पीसकर उसमें नमक, और हल्दी मिलाकर गरम करके लेप करें। इससे व्रण फूट जाता है। न फूटने पर चीर दें और व्रणवत् उसकी चिकित्सा करें। साथ में सजीवनी ३ गोली, शृङ्ग भस्म १ रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती, रस सिन्दूर ½ रत्ती, मोती भस्म ½ रत्ती इनको मिला कर मधु से ४-४ घण्टे पर दें।

स्वेदातिप्रवृत्ति नाशक उपाय

यदि रोगी को पसीना अधिक निकले, वायु का प्रकोप हो तथा मूर्च्छा, प्रलापादि उपद्रव हों तो भुनी हुई कुलथी का चूर्ण और कौड़ी की भस्म का उद्धूलन करना चाहिये। अथवा भाँग का चूर्ण, धतूरे के फल की भस्म, जायफल और सोंठ का उद्धूलन करें।

औषध—चन्द्रोदय १ रत्ती, शृङ्ग भस्म १ रत्ती, सञ्जीवनी ३ रत्ती, मृत्युञ्जय ३ गोली, इनको एकत्र पीस कर एक मात्रा में मधु के साथ दें। तीन घण्टे के पीछे इसी मात्रा में फिर दें। इससे स्वेद बन्द हो जाता तथा शरीर का ताप बढ़ जाता है और चेतना आ जाती है। पीने के लिए अमृतारिष्ट २ तोला की मात्रा में दें।

अञ्जन का प्रयोग

यदि तन्द्रा और मूर्च्छा के लक्षण हों, तो उस समय मोर-पंख की भस्म मधु के साथ मिला कर अञ्जन लगावें। अथवा शिरीषाद्यञ्जन (भै० र०) का प्रयोग करें।

अतिसार

एलोपैथिक चिकित्सा—२४ घण्टा में ४ बार से अधिक दस्त आने पर अथवा दस्त के बाद अति दुर्बलता होने पर संकोचक औषध का प्रयोग करें। अतः प्रति बार दस्त के बाद पाईल्यूलाप्लम्बाईकम ओपियो २-३ ग्रेन की मात्रा में दें। अथवा खटिका मिश्रण के साथ अफीम का प्रयोग करें।

रक्तस्राव में ४ घण्टा के अन्तर से गैलिक एसिड १० ग्रेन की मात्रा में दें। यदि इसके साथ अति दौर्बल्य हो तो ब्राण्डी दें। इसमें तारपीन का तेल १०-१५ बूँद की मात्रा में दें। अथवा क्लोरोडाइन का प्रयोग करें। आभ्यतरिक रक्तस्राव होने पर बनजीन्स ऑफ कैलसियम यथोचित मात्रा में दें।

अतिसार में प्राच्य वैद्यक रहस्य

यदि मन्थर-ज्वर की प्रथम-अवस्था में रसपुष्प (कैलोमल) के द्वारा शुद्धि की गई हो, अथवा इसके जीवाणुओं का विनाश करने के लिये ताम्र भस्म का प्रयोग लहसुन के रस के साथ किया गया हो, तो ऐसी अवस्था में अतिसार नहीं होता है। परन्तु जलीय पदार्थ पथ्य में व्यवहार करने और जीवाणु नाशक औषधों के प्रयोग करने पर भी अतिसार हो गया हो तथा मल-परीक्षा से विकृतदुग्ध का भाग और अपक्व

द्रव्य भी नहीं देखे जाते हों तो ऐसी दशा में जानना चाहिये कि आन्त्रिक जीवाणुओं ने अन्त्र में क्षत कर दिया है। यहाँ पर रस पर्पटी २ रत्ती की मात्रा में लहसुन के स्वरस के साथ ३-३ घण्टे के बाद प्रयोग करें। अथवा सिद्ध प्राणेश्वर १ रत्ती, मुक्ता पिष्टी ½ रत्ती, शंख भस्म १ रत्ती, सितोपलादि २ माशा, इन्हें शर्बत अनार के साथ ३-३ घण्टा के अन्तर से दें। अथवा कपूर रस की २ गोली, बबूल के गोंद का जल और दाल-चीनी के क्वाथ के साथ दें। इससे अतिसार बन्द हो जाता है। यदि अतिसार बन्द न हो तो मात्रावस्ति का प्रयोग करें।

मात्रावस्ति

गूलरपत्र का क्वाथ १ छटाँक, शर्करा १ तोला, कर्पूर रस २ रत्ती, इनको एक में मिला कर प्रत्येक दस्त के बाद मात्रावस्ति दें। और साथ में जातीफलादि वटी का भी सेवन करावें।

अतिसार-अनिवारणसमय

यदि मल में विकृत दुग्ध का भाग, बदबूदार तथा अपक्व वस्तु निकले तो, ऐसी दशा में दस्त बन्द न करें। क्योंकि इस अवस्था में दस्त बन्द करने से पेट फूल कर ज्वर बढ़ जायगा। ऐसा मल जब तक बाहर निकलता रहे; तब तक रोगी के लिए मंगल समझें। ऐसी दशा में यदि २४ घण्टे में ३०-४० बार तक दस्त आते हों और हृदय तथा नाड़ी दुर्बल हो गये हों, तो मृत संजीवनी सुरा अथवा मकरध्वज, मृगमदासव, लक्ष्मी विलासादि उचित मात्रा में दें।

रक्तातिसार

कर्पूर रस १ गोली, आनन्द भैरव १ गोली, विषमुष्टिक वटी १ गोली, तालीसादि चूर्ण २ माशा, इनको एक में मिला कर शर्बत अनार के साथ ३-३ घंटे के बाद दें। पीने के लिये कुटजारिष्ट २ तोला की मात्रा में दें। इससे लाभ होता है। अथवा उदुम्बरपत्र सार ५ रत्ती की मात्रा में ३-३ घंटेके बाद दें। अथवा शोणितार्गल १

गोली वटदुग्ध के साथ ३-३ घंटे के बाद दें। इससे भी लाभ होता है। तारपीन का तेल १ बूँद की मात्रा में बबूल के गोंद के पानी के साथ दें। अहिफेनासव १५ बूँद की मात्रा में ईसबगोल के द्रव में दें। गोदन्ती भस्म १ माशा की मात्रा में शर्बत अनार के साथ लाभ करती है। इसके अलावे मोच रस और वट के प्ररोह के क्वाथ में कर्पूर वटी २ गोली देने से भी लाभ होता है।

वस्ति-प्रयोग—गूलर के पत्तों का उष्ण क्वाथ, ईसबगोल का द्रव और अफीम इनकी वस्ति दें। इससे रक्तातिसार शीघ्र ही बन्द हो जाता है। रक्त के बन्द हो जाने पर भी बीच बीच में वस्ति दें। ऐसी दशा में एक सप्ताह तक भी यदि मल की प्रवृत्ति न हो तो कोई क्षति नहीं। १५ दिन के बाद मलप्रवृत्ति के लिये जैतून का तेल ४ तोला दें या ग्लिसरीन की पिचकारी लगावें। यदि इससे भी मल न निकले तो आधा सेर उष्ण जल में उचित मात्रा में साबुन घोल कर वस्ति दें। रक्तस्राव के समय तरल पथ्य दें। पिपासा निवारण के लिये गाजावाँ और सौंफ का अर्क मिला कर दें और पेट पर गरम कपड़ा लपेट दें।

जब तक अन्त्र में शोथ और क्षत रहता है तब तक छिद्रान्त्रोदर की सम्भावना रहती है। अतः मल-मूत्र त्यागने के लिये रोगी को उठने नहीं दें। लेटे हुए ही मल-मूत्र कराना चाहिये और सावधानी से करवट बदलवावें। जैसा कहा है —

ज्वरे प्रमोहो भवति स्वल्पैरपि विचेष्टितैः।
निषण्णं भोजयेत्तस्मान्मूत्रोच्चारौ च कारयेत्।

पृष्ठव्रण

इस पर यसद भस्म, और शर्करा दोनों सम भाग में लेकर व्रण पर डालना चाहिये। यदि पहले से ही रोगी की पीठ को सुरा से प्रतिदिन पोंछ दिया करें तो पृष्ठ व्रण नहीं होता है। यदि व्रण हो ही जाय तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रलाप-चिकित्सा

शिर के ऊपर बरफ की थैली रखें। बरफ न मिलने पर शीतल जल में वस्त्र भिगो कर निचोड करके शिर पर लपेट दें। अथवा नवसादर और सोरा १०-१० तोला, आध सेर जल मे मिलाकर रखें; उसमें वस्त्र भिगो कर शिर पर लपेटें। इससे प्रलाप और शिर की पीडा दूर हो जाती है।

गेंदाफूल-प्रयोग—गेंदा के फूलों को अर्क गुलाव मे पीस शिर पर लगाने से प्रलाप और शिरोवेदना शान्त होती है।

निद्रानाश—प्रलाप अधिक होने पर नींद नहीं आती है। अत: श्वेत वरुआ की जड (सर्पगंधा) का चूर्ण १० रत्ती जल के साथ रात्रि मे दो-तीन वार दें। इससे नींद आती है और प्रलाप भी नष्ट हो जाता है। नाडी दुर्बल होने पर ताम्रभस्म ½ रत्ती की मात्रा मे दें। शिर पर शतवार धोया हुआ घृत लगावें। भाव प्रकाशोक्त (सतगरवर) तिक्तादि क्काथ दें। यदि प्रलाप में अतिसार हो तो उपरोक्त क्काथ न देकर कर्पूर ४ माशा लवंग ४ माशा, जायफल ४ माशा, सुवर्ण भस्म २ माशा, कस्तूरी २ माशा और रससिन्दूर १। तोला, सबको खरल कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावें। पान के रसके साथ १-१ गोली ३-३ घण्टे बाद दें। इससे प्रलाप नष्ट हो जाता है। मूर्च्छा, उन्माद, गात्रकम्प आदि वेदनाओं के होने पर यदि शैत्य और प्रलाप हो, तो चतुर्मुख रस दो रत्ती की मात्रा में ताड की शाखा के रस में मधु मिलाकर दें। सन्निपात के लक्षण के साथ-साथ यदि प्रलाप हो, तो पुराने घी की मालिश करे। इससे भी लाभ होता है।

यकृत्शोथ की चिकित्सा

आन्त्रिक ज्वर में यकृत् मे शोथ हो जाने पर पुटपक विषम ज्वरान्तक लौह १ रत्ती की मात्रा मे शर्बत वनफ्शा के साथ दे। यदि विबन्ध हो तो कुमार्यासव के साथ दें।

श्वसनकज्वर मिश्रित मन्थर ज्वरोपचार

अधिकतर दूसरे सप्ताह मे न्यूमोनिया और लघु श्वासनली में शोथ के लक्षण मालूम होने हैं। इसमें चतुर्मुख रस और श्वास चिन्तामणि रस

का प्रयोग पुनर्नवा और निर्गुण्डी क्वाथ से करें। छाती और पृष्ठ पर सैन्धवादि तेल की मालिश करें। ऊनी वस्त्र छाती पर लपेट दें। मालिश के समय दरवाजा और खिड़की बन्द कर दें। कफ को पतला करने के लिये वासावलेह, अष्टाङ्गावलेह आदि दें। न्यूमोनिया की चिकित्सा के तुल्य इसकी चिकित्सा करें।

छिद्रान्त्रोदर की चिकित्सा

सहसा ज्वर कम होकर उदर में असह्य वेदना हो जाय और शीताङ्ग के लक्षण, आध्मान, श्वास लेने पर उदर ऊँचा-नीचा न हो तो नाडी की दुर्बलता और हृन्मोह की अधिक सम्भावना रहती है। अत हिरण्यगर्भ पोट्टली, कस्तूरी, कपूर, चन्द्रोदय आदि उचित मात्रा में ३-३ घण्टे के बाद दें। ऊनी वस्त्र उदर पर लपेट दें। मध्य में थोडा-थोडा शीतल जल पिलावें। यदि आरोग्य के लक्षण दिखाई दे तो १०-१५ दिन मलप्रवृत्ति का अवरोध करें। फिर १५ दिन बाद जैतून का तेल (Olive Oil) व पिप्पल्यादि तेल की मात्रावस्ति दें।

आध्मान की चिकित्सा

ज्वर की वृद्धि के साथ आध्मान की वृद्धि होती है। ज्वर के ह्रास होने पर आध्मान भी कम हो जाता है। कभी-कभी अतिसार प्रबल होने पर आध्मान शान्त नहीं होता है। यहाँ पर अन्त्र में रहने वाले जीवाणुओं के नाश करनेवाली चिकित्सा होनी चाहिये। केवल आध्मान होने पर ग्लिसरीन की पिचकारी लगावें अथवा गुह्यवर्त्ती (सायोजिटरी) गुदा में प्रवेश करें, इससे आध्मान शान्त हो जाता है। हिंग्वादि वटी और लशुनादि वटी भी दें। उदर पर उडद के आटे की रोटी एक तरफ पकाकर उस पर एरण्ड-तेल चुपड कर बाँधें। इससे आध्मान शान्त होता है। अथवा जौ का आटा २ छटाँक, जवाखार २ छटाँक तक्र में मिला कर गरम कर पेट पर लेप करने से भी आध्मान शान्त हो जता है।

सरलतैल-स्वेद

एक टीन के पात्र में तारपीन का तेल रखें। उसको गरम पानी से भरे हुये पात्र के ऊपर रख कर गरम करें। इसके बाद फलालेन के कपड़े को अति गरम जल में भिंगो कर निचोड डालें। फिर उसको तारपीन के तेल में भिंगो कर निचोड डाले और गरम-गरम उसको पेट पर लपेट दें। बाद को उसके ऊपर शुष्क वस्त्र लपेट दें। ध्यान रखें कि वस्त्र विशेष गरम न हो, नहीं तो फफोले पड जाने की सम्भावना रहती है। इससे भी आध्मान शान्त हो जाता है।

कास-चिकित्सा

यदि रोगी को खाँसी आने लगे तो उसे बन्द नहीं करनी चाहिये। क्योंकि कफ को निकालने के लिए रोगी के बार-बार खाँसने पर वक्षःस्थल की त्वचा फैलती है, जिससे दाने बहुत जल्दी निकल आती हैं। यदि खाँसी अधिक हो तो लवङ्गादिवटी (योगरत्नाकरोक्त), सितोपलादि चूर्ण २ माशा इनको एक में मिलाकर मधु से ३-३ घण्टे के बाद चटाना चाहिये। एलादि वटी मुख में रख कर चूसें। छाती पर राई २ तोला, अलसी ३ माशा इनको सूखी ही पीस कर अफीम का अरिष्ट (टिञ्चर ओपियम) इस पर छिड़क कर छाती पर बाधे। इससे खाँसी बन्द हो जाती है।

पथ्य—रोगान्तर की दुर्बलता में विशेष सावधानी रखनी चाहिये। इससमय लघुपथ्य ही दें। अत बाजरा को भून कर उसका मण्ड धान के खीलों का मण्ड और कूटु के लावा की दलिया दें। यथोक्तम्

वज्रान्न मौक्तिके शस्तम्

यदि रोगी को प्यास लगे तो ब्राह्मी और लवग का पानी दें।

यथोक्तम्

मौक्तिक स्वर्ण गिलन लवग मण्डूकपर्णिकातोयम्

ज्वर के उपशमन होने पर कुछ दिन तक कठिन द्रव्य पथ्य रूप से न दें।

सावधानी

ज्वर छूटने पर १५ दिन तक यवमण्ड, मोरट, अनार का रस, मुद्ग का यूष, परवल का रस आदि लघु पथ्य दें। इसके बाद गेहूँ की रोटी का छिल्का, मास-यूष, मास का अर्क और दूध दिन के दस बजे दें। फिर चार बजे दूध, फलों का रस, साबूदाना तीन दिन तक दें। इसके बाद पुराने शालि चावल का भात और नारंगी का रस दें। इस भाँति सात दिन तक पथ्य दें। बाद को गरम पानी से शरीर को एक या दो दिन पोछें। फिर उष्ण जल से स्नान करें। बल-वृद्धि, शिर पर बाल उगाने और क्षुधा लगने के लिये च्यवन प्राश, मकरध्वज, प्रवाल और विषमुष्टिका प्रयोग करे। भोजन के बाद पुराना द्राक्षारिष्ट २ तोला पीवें अथवा परिस्रुत द्राक्षासव १ तोला पीवें।

लघुमन्थर-ज्वर

(Paratyphoid)

इसके दो भेद माने जाते हैं। A पाराटायफाइड और B पाराफाइड। ये दोनों पूर्वोक्त मन्थर ज्वर की अपेक्षा हल्के होते हैं। इनमे हल्के व्रण होते हैं। ये दोनों साधारणतया तीसरे सप्ताह मे अच्छे हो जाते हैं। इनमें गुलाबी दाने बहुत कम निकलते हैं और लक्षण मृदु होते हैं। पुनरावृत्ति और रोगी की मृत्यु कम होती है, प्लीहा बढ जाती है। इसके दो भेद और माने जाते हैं; किन्तु इन चारों मे एक ही पीड़ा-कारक है। इन सबके कीटाणु अलग-अलग होते हैं। इनकी परीक्षा विडाल परीक्षा नामक रक्त परीक्षा से करनी चाहिये। इसमे थोडी किन्तु बडी पीडिकाएँ निकलती हैं। इससे मृत्यु भी अधिक होती है। इसकी चिकित्सा पूर्वोक्त प्रकार से ही करनी चाहिए।

बीकोलाइ संक्रमण जन्य रोग

आरोग्यावस्था मे कुछ शलाकाकार अक्षतिकारक कीटाणु सदा ही बने रहते हैं। किन्तु कई घटनाओं में मुख्यतया पुरानी व्याधियों मे मूत्र-ग्रन्थि (गुर्दे), मूत्राशय, पित्ताशय, उपान्त्र अथवा रक्तादि में ये

कीटाणु पहुँच कर रोग के कारण हो जाते हैं। अधिकतर तीन ही रोग पाये जाते हैं। (१) वृक्क—मूत्राशय मे विकार, (२) क्षुद्रान्त्र और उपान्त्र में विकार तथा (३) ज्वर।

प्रथम में—यह रोग सहसा आरम्भ हो जाता है और कभी-कभी धीरे-धीरे प्रच्छन्न रूप से भी प्रकट होता है। वृक्क तथा मूत्राशय मे सूजन हो जाती है। उस समय जाडा लगकर ज्वर चढता है। मूत्रकृच्छ्र, उष्णवात, श्रोणिपीड़ा व पेड़ू मे दर्द आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी पेशाब मे रक्त भी आने लगता है। जब व्याधि की उत्पत्ति का ज्ञान हो उसी समय औषध करनी चाहिये।

(२) आन्त्रिक रोग—अनेक भाँति के होते हैं। कभी उपान्त्र मे सूजन हो जाती है और किसी-किसी स्थल पर उदर मे वेदना आदि हो जाती है।

(३) ज्वर—पुराने उदर रोगों में कीटाणु अन्त्र की कला से शोणित में पहुँच कर ज्वर उत्पन्न कर देते हैं फिर आतुर को धीरे-धीरे ज्वर हो जाता है। प्रथम ठंढक लगकर ज्वर चढ कर उतर जाता है। फिर इसके पश्चात् मन्दज्वर के स्वरूप में सदा बना रहता है। यकृत्, प्लीहा आदि मे कोई विकृति नहीं होती और कोई मुख्य लक्षण भी प्रकट नहीं होता। अति दुर्बलता भी नहीं होती। इसकी परीक्षा रक्त परीक्षा के द्वारा हो सकती है और मल-मूत्र की परीक्षा से अन्त्र और मूत्र विकार का निर्णय हो सकता है।

चिकित्सा

मूत्र में विकार होने पर मूत्र प्रवर्त्तक, शोथ नाशक और कृमिघ्न औषध उपयोगी है। इसलिए गोक्षुरादि गुग्गुल १ गोली, पुनर्नवादि क्वाथ (शार्ङ्गधरोक्त) के साथ प्रातः-साय देना चाहिये। भोजन के बाद चन्दनासव २ तोला की मात्रा से दें। अथवा यवक्षार १ माशा, मिश्री ३ माशा, सोरा १ माशा इनको एकमें मिलाकर पञ्चतृणमूल के साथ पिलाने से शोथ दूर होता है।

चन्दनादि वटी

चन्दन का तेल १ तोला, विलायती विरोजा का तेल १ तोला, वंशलोचन १ तो०, शीतलचीनी का तेल ६ माशा, कौड़िया लोवान २ तोला, सफेद इलायची का चूर्ण आधा तोला।

विधि—पीसने योग्य ओषधियों को पहले पीस-छान कर पीछे तेल मिलाकर छोटे वेर के वरावर गोली वनावें। १ गोली गोक्षुर-क्वाथ के साथ दें। इससे मूत्राशय और मूत्र मार्ग का शोथ दूर हो जाता है।

एलोपैथिक चिकित्सा

इसमें वीकोलाई का वैक्सीन सूचीवेध द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट करने से लाभ होता है। प्रस्तुतविधि—रोगी के मल-मूत्र व रक्त से कीटाणु लेकर और कृत्रिम उपाय से उनकी वृद्धि करके फिर उससे वैक्सीन वनाया जाता है। आज-कल वाजार में जो वीकोलाई वैक्सीन मिलता है उसीका प्रयोग करें।

औषध—मूत्र रोगों में मूत्र-कृमि नाशक दवाइयाँ देनी चाहिये। इसके लिये हैक्सिमिन अति हित कारक है। इसके साथ एसिड सोडा फास्फास १०-१५ रत्ती दिन में तीन वार दें। इससे मूत्र अम्ल गुण युक्त हो जाता है। क्योंकि हैक्सिमीन अम्लीय मूत्र में ही हितकारी होता है। ये दोनों दवाइयाँ एक-एक घंटे के व्यवधान से जल में देनी चाहिये।

ज्वर की चिकित्सा में जीर्ण ज्वर नाशक चिकित्सा का अवलम्बन करें। वातादि दोषानुकूल औषध करें। संजीवनी वटी गुडूचीक्वाथ के साथ प्रयोग करने से लाभ होता है। इसमें मृत्युञ्जय, आनन्द भैरव, सर्वज्वरहर लोह, पुटपक्व विषमज्वरान्तक लोह, लोहासव और दश-मूलासव विशेष उपयोगी है।

आन्त्रिक विषम-ज्वर

(Typho malarial Fever)

परिचय—मलेरिया ज्वर से पीडित व्यक्ति के शरीर में मलेरियाणु विद्यमान रहते ही हैं। अत उनके मिथ्याहार-विहार करने पर (प्राय:) आन्त्रिक विषम ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

कारण, सम्प्राप्ति

मलेरियाणु शरीर में प्रविष्ट होकर कई मास तक रहते हैं। उस समय अधिकशीत लगने या परिश्रम करने पर, या मानसिक-शारीरिक चिन्ता करने पर मलेरियाणु रक्त मे वढकर ज्वर पैदा कर देते हैं। इसी अवसर में आन्त्रिक जीवाणुओं का सयोग हो जाने पर दोनों के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

लक्षण

ज्वर स्वल्प विराम से या विराम देकर के कभी-कभी होता है। शिरो वेदना, क्षुधा का अभाव आदि आन्त्रिक ज्वर के विशेष क्रम का अवलम्बन न करके सहसा प्रवल कम्प उपस्थित हो जाता है। और शीघ्र ही दो-एक घंटा के मध्य में देह का ताप १०४-१०५, व इससे भी अधिक तापाश फार्नहीट हो जाता है। फिर एक घटा के वाद प्रचुर स्वेद होकर ज्वर शान्त हो जाता है। अथवा एक समय मे छोड देता है। वाद को दो-तीन दिन तक इसी प्रकार ज्वर का वेग फिर प्रकाशित होता है। किन्तु, प्रति दिन ज्वर का उपशमन अपेक्षाकृत कम होता जाता है। इस अवस्था मे मलेरिया जन्य रोग की विवेचना करके कुनैन का प्रयोग करने पर देखा जाता है कि ज्वर की ह्रास-वृद्धि शान्त होने पर भी प्रवल ज्वर वर्तमान रहता है और क्रमशः टाईफाइड के लक्षण प्रकाशित होते हैं।

किसी-किसी स्थल में गुप्त भावसे टाईफाइड ज्वर के तुल्य सव लक्षण धीरे-धीरे प्रकाशित होते हैं। एक या दो सप्ताह तक प्रकृत टाइफाइड ज्वर की प्रकृति का अनुसरण करते हैं। वाद को अत्यन्त कम्प और दैहिक ताप की ह्रास-वृद्धि से मलेरिया के लक्षण प्रकाशित होते हैं। इस अवस्था में किनीन का प्रयोग करने पर मलेरिया जनित दैहिक ताप में ह्रास-वृद्धि होकर ज्वर दव जाता है और आन्त्रिक ज्वर नियमित क्रम का अनुसरण करता है। इसके अलावे और भी एक रूप देखा जाता है। इस अन्त्रिक ज्वर के लक्षणों से आक्रान्त ज्वर के शेष होने पर इसकी दौर्वल्यावस्था में मलेरिया

के मत्र लक्षण उत्पन्न होते हैं। टाइफाइड ज्वर से किसी प्रकार मलेरिया जनित स्वल्प विराम (रेमिटेन्ट) ज्वर का प्रभेद निर्णय करना वडा कठिन हो जाता है। यहां तक कि चिह्न और लक्षणादि से रोग का निर्णय करना असंभव हो जाता है। केवल अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से और सीरम (रक्त-रस) द्वारा परीक्षा करने पर रोग का निरूपण किया जा सकता है। साधारणतया निम्न लिखित लक्षणों के ऊपर दृष्टि रखने पर रोग निर्णय मे विशेष सहायता मिलती है। टाईफाइड ज्वर की और मलेरिया घटित ज्वरग्रस्तरोगी की देह की तापावस्था--

(१) टाईफाइड ज्वर मे क्रमश ज्वर वढ कर ५-६ दिन मे शरीर का ताप सवसे अधिक वढ जाता है। यह विषय पहले लिखा जा चुका है। मलेरिया ज्वर मे अत्यन्त कम्प उपस्थित होने के वाद देह का ताप सहसा वढ जाता है। यहाँ तक कि १०५°-१०६° डिग्री तक हो जाता है। (२) इन दोनों प्रकार के ज्वरों मे अन्नवहानाली से सम्वन्ध रखने वाले सव लक्षणों का विशेष पार्थक्य होता है। साधारण मलेरिया जनित रेमिटेन्ट ज्वर मे पैत्तिक वमन, कभी-कभी पैत्तिक उदरामय, यकृत प्रदेश, पकाशय प्रदेश और प्लीहा प्रदेश को दवाने से वेदना मालूम होती है। कभी-कभी त्वचा पीली पड जाती है। टाइफाईड ज्वर में उदर प्रदेश फूल जाता है। दक्षिण इलिएक प्रदेश को दवाने से वेदना और कुल-कुल शब्द प्रतीत होता है। दस्त का वर्ण मटर की दाल के यूष के तुल्य (Pea Soup) होता है। यह आन्त्रिक ज्वर की विशेष पिडिकाओं के निर्गमन के प्रति लक्ष्य करके रोग का निर्णय करने की चेष्टा करना बिल्कुल निष्फल है। इसका कारण यह है कि ग्रीष्म प्रधान देश मे अनेक कारणों से शरीर पर विभिन्न प्रकार की पिडिकाएँ निकलती हैं। मलेरिया और आन्त्रिक ज्वर मे गात्र के ऊपर अनेक तरह की पिडिकाएँ निकलती हैं। ज्वर की नियमित ह्रास-वृद्धि पर लक्ष्य करके रोग का निश्चय करें। अथवा रक्त-परीक्षा द्वारा मलेरियाणु का निश्चय करें। किनीन से चिकित्सा करने के वाद ज्वर के

दब जाने पर ज्वर के निर्णय में कोई संदेह नहीं रहता है। उपरोक्त सिद्धान्त से मलेरिया घटित आन्त्रिक ज्वर का निर्णय हो जाता है।

चिकित्सा

इसकी मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये और लक्षण तथा उपद्रवों के अनुसार व्यवस्था करनी चाहिये।

बाल-मन्थर-ज्वर

यह दो प्रकार का होता है (१) मृदु और (२) प्रबल—मृदु में सम्पूर्ण लक्षण क्रमश और गुप्त भाव से प्रकाशित होता है। इस समय बालक खेलता नहीं, पड़ा रहता है। रात्रि को नींद नहीं आती है। शरीर में वेदना होने से चारपाई पर लोटता रहता है। ज्वर १०३ तापांश हो जाता है। बालक बकने लगता है। द्वितीय सप्ताह के अन्त में कुछ प्लीहा बढ़ जाती है और ज्वर के उपद्रव मृदु रूप से प्रकट होते हैं। २-३ सप्ताह के अन्त मे ताप स्वाभाविक दशा मे आ जाता है। कभी-कभी फिर भी १०२-१०३ तापांश तक ज्वर दो तीन-दिन में बढ़ जाता है। इसके बाद सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

प्रबल-ज्वर

प्रबल ज्वर के आरंभ मे ही सम्पूर्ण लक्षण सहसा प्रबल रूप से प्रकट हो जाते हैं। ज्वर १०५-१०६ तापांश तक रहता है। प्रलाप, अरति, निद्रानाश, नासिका से रक्त स्राव और तन्द्रा के वेग होते हैं। जिह्वा सूख जाती है, पेट फूल जाता है, कभी-कभी एक घंटा मे ३-४ बार दस्त लग जाते हैं। प्लीहा बढ़ जाती है। पूछने से उत्तर नहीं देता है। कान से शब्द सुनाई नहीं पड़ता है। उदर प्रदेश को दबाने से वेदना मालूम होती है। नाडी की गति तीव्र हो जाती और कास भी होता है। दूसरे सप्ताह मे अत्यन्त विह्वलता और अधिक प्यास लगती है। और अन्त मे लाल पिडिकाएँ निकल आती हैं। तृतीय सप्ताह मे लक्षण घटने लगते हैं अथवा सांघातिक हो जाते हैं। कभी-कभी फेफड़ा आदि भी विकृत हो जाते हैं। आन्त्रिक-

ज्वर से ९९ प्रतिशत बालक अच्छे हो जाते हैं। यह ज्वर कन्याओं की अपेक्षा बालकों को अधिक होता है। पाँच वर्ष से कम बालकों में बहुत कम देखा जाता है।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा तरुण पुरुष के आन्त्रिक ज्वर के तुल्य करनी चाहिए। संजीवनी वटी १ गोली लवंग के जल से प्रात. मध्याह्न और सायंकाल में दें। प्रात. १-१ असली मोती निगलने को दें। अथवा शुक्ति भस्म २ रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती, तालीसादि १ माशा की मात्रा से ६ वर्ष के बालक को मधु के साथ दिन मे दो-बार चटावें। यदि विबन्ध हो तो १ छोटी हरड़ और ३ लवंग पीस कर २ तोला जल मे पकालें। संजीवनी वटी एक गोली खिला कर ऊपर से हरड़ का पानी पिला दें। इससे विबन्ध दूर होगा। पथ्य में दूध, यवमण्ड, मांस-रस, और सुरा आदि दें

पाश्चात्य वैद्यक में—साइट्रेट या क्लोरेट ऑफ़ पोटास, शर्करा और जल मिला कर प्रयोग किया जाता है। विरेचन के लिये एरण्ड तैल का प्रयोग करते हैं। शरीर के ताप को कम करने के लिये पूर्वोक्त उपायों का अवलम्बन करें।

आन्त्रिक ज्वर, तरुण हाइड्रोसेफेलस् और श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया)

रोग-प्रभेद निर्णायक तालिका

शैशवीय स्वल्प विराम ज्वर व आन्त्रिक ज्वर

(१) तीन वर्ष से कम आयुवाले पर आक्रमण नहीं करता और पाँच वर्ष से न्यून आयुवाले बालकों पर कभी-कभी आक्रमण करता है।

(२) वमनेच्छा और वमन नहीं होता है।

(३) रोग के आरम्भ में ही अन्त्र शिथिल हो जाता है। जल के समान दस्त होता है। मल कुछ हल्दी के समान वर्ण वाला होता है।

(४) उदर प्रदेश में अल्प दबाव से भी वेदना होती है। इलिएक प्रदेश मे वेदना अत्यन्त अधिक होती है।

(५) ज्वर के आरम्भ से ही जिह्वा के मूल में और मध्यस्थल में पीला मल जम जाता है। जिह्वा का अग्रभाग तथा किनारे लाल और सूखे होते हैं।

(६) रोगी को अरुचि, अत्यन्त पिपासा और जल पीने की अत्यन्त व्यग्रता होती है।

(७) गात्र तीव्र उत्ताप युक्त होता है।

(८) रोगी सिर की पीड़ा से अल्प कष्ट पाता है। प्रथमावस्था में प्रलाप होता है। बाद मे हाइड्रोसेफेलस उपस्थित हो जाता है।

(९) प्रातःकाल में रोग की शान्ति और रात्रि मे वृद्धि होती है।

(१०) ज्वर कुछ काल का स्थायी न होने पर वक्ष मे प्रतिघात करने से न्यूमोनिया के चिह्न नहीं मिलते हैं।

तरुण हाइड्रो सेफेलस्

(१) पाँच वर्ष से कम आयुवाले वालकों को अधिक होता है।

(२) प्रायः वमन होता है। सदा वमन की इच्छा रहती है।

(३) कुछ काला धुमैला दस्त होता है।

(४) उदर को दबाने पर पहले वेदना नहीं होती है।

(५) जिह्वा आर्द्र और मध्यस्थल में सफेद मल से युक्त होती है।

(६) अन्न-पान में अरुचि होती है।

(७) त्वचा शुष्क किन्तु; शरीर का ताप अपेक्षा से कम होता है।

(८) रोगी सिर की पीडा से अत्यन्त विह्वल हो जाता है। पीडा सांघातिक होने पर भी शेषावस्था मे भिन्न प्रकृति-प्रलाप नहीं होता है।

(९) सब लक्षण स्थिर नहीं होते, कभी कम और कभी ज्यादे होते हैं।

(१०) वक्ष स्थल के यन्त्रों में विकार नहीं होता है।

श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया)

(१) सब अवस्था के वालकों पर आक्रमण करता है।

(२) अल्प वमन होता है और वमन शीघ्र ही शान्त हो जाता है। वमन की इच्छा नहीं होती है।

(३) अन्त्र की स्वाभाविक अवस्था रहती है। कभी-कभी दस्त आने लगते हैं।

(४) वक्षःस्थल में वेदना होती है।

(५) ग्रस्त रोगी की अपेक्षा जिह्वा अत्यन्त लाल होती है।

(६) पिपासा अत्यन्त प्रबल होती है।

(७) त्वचा शुष्क और उष्ण होती है।

(८) शिर में पीड़ा सामान्य होती है।

(९) स्वल्प विरामावस्था भी देखी नहीं जाती है।

(१०) वक्षःस्थल की परीक्षा में इसके विशेष चिह्न और लक्षण पाये जाते हैं।

तन्द्रिक ज्वर (मस्तिष्क ज्वर)

(Typhus Fever)

निर्वाचन—यह ज्वर स्पर्शाक्रामक और अविराम से युक्त होता है। इसमें शरीर का तेज क्षीण हो जाता है। शरीर मे प्राय पाँचवे दिन गुलाबी रंग की पिडिकाएँ निकल आती है। अन्त्र सम्बन्धी कोई विशेष पीडा नहीं दिखलाई पडती। सारांश यह कि जीवन-क्रिया को क्षीण करने वाले दो व तीन सप्ताह तक लगातार तीक्ष्ण वेग से रहने वाले ज्वर को टाइफस ज्वर कहते हैं। इस ज्वर में उत्कट मस्तिष्क सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अत इसको 'मस्तिष्क ज्वर' कहते हैं। कोई-कोई वैद्य इसे 'प्रलापक सन्निपात' भी कहते हैं।

कारण

इस ज्वर के एक प्रकार का कीटाणु होता है। जिसका विशेष वर्णन आजतक ज्ञात नहीं हुआ है। किन्तु इतना ज्ञात हुआ है कि इस ज्वर के कीटाणुओं का गमन जूओं द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे होता है। मलेरिया ज्वर के जीवाणु के तुल्य यह कीटाणु भी जूंओं में अपनी वृद्धि करने के लिये आठ दिन से दश दिन तक समय लेता है। इसलिये रोगी के काटने के दसदिन के पश्चात् जूंएं रोग को फैलाने में समर्थ

होते हैं। कोई-कोई चिकित्सक कहते हैं कि रोगी की त्वचा के रोम कूपों से या श्वास के द्वारा निकल कर अन्य व्यक्ति के शरीर मे नासिका तथा फुफ्फुस में और आहारनली द्वारा उदर में कीटाणु पहुँचते हैं। जो रोगी के समीप मे रहते हैं, वे इस रोग से अधिक आक्रान्त होते हैं। अत परिचारक और चिकित्सक इस रोग से अधिक आक्रान्त होते हैं। इसके अनेक रोगियों का एक स्थान पर रहने से रोग की तीक्ष्णता वढ जाती है। अत' रोगी के मकान पर जाने से भी रोग से आक्रान्त हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है। ज्वर से आक्रान्त रोगी के समीप में जाने से एक विशेष गन्ध आती है। काले रग वाले और गरम वस्त्रों मे इसके कीटाणु अधिक दिन तक रहते हैं। मकान के नीचे के तल्ले से यह ऊपरी तल्ले मे जा सकता है। परन्तु ऊपरी तल्ले से नीचे के तल्ले मे कम देखा जाता है। आन्त्रिक ज्वर के संक्रमण के जो मार्ग हैं, उन्हीं मार्गों से इसका भी संक्रमण होता है।

पूर्व प्रवर्तक कारण

(१) अत्याचार, आहार-दोष, अथवा किसी पुरातन रोग से शारीरिक दुर्बलता।

(२) एक घर मे अधिक आदमियों का आवास, विशेषत जहाँ पर वायु की आवाध गति नहीं होती है।

(३) मकान का गन्दा रहना, शरीर का स्वच्छ न होना और शरीर का खुला रहना आदि।

(४) अधिक परिश्रम, मानसिक उद्वेग, अथवा रोग की शंका से चित्त में अवसाद। इनसे शारीरिक-ताप खूब ऊँचा नहीं होता।

अन्यान्य कारण

पूर्वोक्त कारणों के अनुसार दीन-हीन व्यक्तियों के मध्य मे टाइफस ज्वर का सबसे अधिक प्रादुर्भाव होता है। बडे-बड़े शहरों में जहाँ बहुत से मनुष्य इकट्ठे होते हैं और स्वास्थ्य सम्बन्धी अव्यवस्था रहती है, उन स्थानों और निम्नभूमि मे शीत और नातिशीतोष्ण काल मे

यह अधिक उत्पन्न होता है। इसलिये कोई-कोई कहते हैं कि बहुसंख्यक जनता ही इसका प्रधान कारण है। अन्यान्य देशों की अपेक्षा ग्रेट-ब्रिटेन और आयर्लैण्ड मे टाइफस ज्वर का अधिक प्रादुर्भाव देखा गया है। उष्ण प्रधान देश मे इसका आक्रमण कम होता है। ऊँची श्रेणी वाले मनुष्य मानसिक दुश्चिन्ता से आक्रान्त हो जाते हैं। इसलिये पात्र विशेष मे रोगाक्रमण की प्रबलता अधिक विद्यमान रहती है। बाल्यावस्था की अपेक्षा तरुण-अवस्था में रोग का अधिक आक्रमण देखा जाता है। परन्तु; किसी-किसी का मत है कि समय-समय पर बालक, तरुण सब समभाव से आक्रान्त होते हैं।

अन्त्रस्फुरण काल

९ दिन से १२ दिन तक अन्त्रस्फुरण काल रहता है। इस समय रोगी के सब अङ्गों मे व्यथा, शिर मे पीड़ा, अस्थिरता, क्षुधामान्द्य और शीत लगने लगता है। अनेक स्थलों मे ये सब लक्षण प्रकाशित नहीं होते। टाइफस ज्वर के आक्रमण मे शरीर के विभिन्न यन्त्रों मे जो लक्षण प्रकाशित होते हैं, क्रमश. उनका वर्णन नीचे किया जाता है।

(१) पाक-यन्त्र—कभी-कभी अत्यन्त वमन की इच्छा और वमन होता है। जिह्वा मैली तथा सूखी हुई हो जाती है। पीडा कठोर होने पर जिह्वा फट जाती, पीली पड जाती तथा काँपने लगती है। ओष्ठ और दाँत के मसूड़ों मे मल उत्पन्न हो जाता है अत्यन्त प्यास लगती है। क्षुधामान्द्य, कोष्ठरोध और आस्वाद का व्यतिक्रम हो जाता है। कभी-कभी प्लीहा बढ़ जाती है।

(२) नाड़ी-मण्डल—सहसा शीत और कम्प लगता है। सब अङ्गों मे वेदना, मस्तिष्क मे भारीपन, शिर का इधर-उधर परिचालन, धमनी का स्पन्दन, श्रवण-शक्ति का ह्रास, कान के मध्य में विविध शब्द, आलस्य, आलोक से कष्ट, दृष्टि पथ मे समय-समय पर उज्ज्वल आलोक का आविर्भाव, अस्थिरता, भग्ननिद्रा, निद्रावेश व अनिद्रा ये लक्षण होते हैं। रोग के कठोर प्रकृति धारण कर लेने पर प्रलाप और अचैतन्य प्रभृति उपस्थित हो जाते हैं।

(३) श्वास-प्रश्वास यन्त्र—खाँसी और श्लेष्मा का उद्गम होता है। वक्षःस्थल के मध्य से नाना प्रकार के शुष्क राल्स (श्वास के स्वाभाविक शब्दों के अतिरिक्त श्वास के अस्वाभाविक शब्द) सुनाई पड़ते हैं। कभी-कभी श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) हो जाता है।

(४) रक्तसंचालन-यन्त्र—नाडी तेज, पूर्ण और नमन के योग्य हो जाती है। नाड़ी का स्पन्दन प्रति मिनट १ वार से लेकर १२० वार तक होता है।

(५) मूत्र-यन्त्र—मूत्र का वर्ण लाल और परिमाण अल्प होता है। इसमें यूरिया का भाग अधिक होता है। क्लोराइड्स कम हो जाता है। कभी-कभी शुक्लाण्ड (अल्ब्यूमिन) भी मूत्र मे निकलता है।

(६) शरीर-ताप—त्वचा उत्तप्त और शुष्क हो जाती है। शरीर का ताप अधिकतर १०४-१०५ डिग्री तक और समय-समय पर १०६-१०७ तक हो जाता है। अधिकतर पांचवें दिन तक उत्ताप क्रमशः बढता है और छठे दिवस के प्रातःकाल से कम हो जाता है। ताप-परिमाण ९५ डिग्री तक कम हो जाने से रोगी की मृत्यु की सम्भावना रहती है।

स्फोटक-अवस्था—इस समय दो प्रकार की दाने वाली (इरप्सन Eruptios) वा पिडिकाएँ उत्पन्न होती हैं।

(१) इस-पीडा की विशेष पिडिकाएँ मलवेरी रैश (Mulberry Rash मैक्यूली Maculoe) हैं। ये पिडिकाएँ कुछ ऊँची और छोटी-छोटी होती हैं। ये एक साथ जब मिली रहती हैं तो बडी-बडी हो जाती हैं। बडी पिडिकाओं का आयतन दो-एक लाइन से अधिक नहीं होता है। पहले मणिबन्ध (पहुँचा), बगल (कक्षा) और उदर के ऊपरी प्रदेश में पिडिकाएं दिखाई पडती हैं। इसके बाद दो-तीन दिन के मध्य में उनसे सब अङ्ग आच्छन्न हो जाता है। बहुत-सी पिडिकाओं का वर्ण पहले लालपन लिये हुए होता है। बाद को सहतूत के रस के तुल्य हो जाती हैं। दबाने से कुछ काल के लिये अदृश्य हो जाती हैं; किन्तु, दबाव हटते ही फिर ज्यों की त्यों हो जाती हैं।

(२) अन्य प्रकार की पिडिकाओं का नाम त्वचोऽधो विकृत

रक्त जन्य कृष्ण पिडिका (सबक्यूटिक्यूलर मोटलिङ्ग Subecuticular Mottling) हैं। ये पिडिकाएं काली और अत्यन्त छोटी होती हैं, त्वचा के नीचे भाग में दिखलाई पडती हैं तथा बालकों को प्रायः अधिक होती हैं। पहले शरीर के पश्चात भाग से आरम्भ होकर क्रमशः सम्पूर्ण अङ्गों में फैल जाती हैं, ये कभी-कभी पूर्वोक्त रैश (Rash) के साथ तरुण व्यक्तियों मे भी देखी जाती है। दोनों प्रकार की पिडिकाएँ ज्वर के चौथे व पाँचवें दिन मे दिखाई पडती है और १४-२१ दिन तक रह कर अदृश्य हो जाती हैं। पिडिकाओं के विलुप्त होने के समय त्वचा में निर्मोक (Desquamation) नहीं होता है। कभी-कभी चौदह दिन बाद अंधौरी के तुल्य पिडिकाएँ स्यूडेमिना (Sudamina) प्रकाशित हो जाती है। उस समय त्वचा से एक प्रकार की विचित्र दुर्गन्ध निकलती है।

अरिष्ट लक्षणावलि

पिडिकाओं के निकलने के समय पूर्व मे वर्णन किये हुए सब लक्षण बढ जाते हैं। प्रबल प्रलाप, शिर मे पीडा, अतिशय दुर्बलता, हाथ-पैरों में कंपन, शय्या का आकर्षण, स्तैमित्य, आक्षेप, पेशियों का विशेष स्पन्दन, मुख का वर्ण मृत्तिका के समान, आँखों का बन्द अथवा खुला होना, आँखें लाल तथा आसुओं से भरी रहती हैं। कनीनिका संकुचित, त्वचा शीतल और स्वेद से आवृत रहती है। जिह्वा सूखी, काली और मैली होती है। दन्त और ओष्ठाधर मल से आवृत रहते हैं। नासिका के छिद्र बन्द हो जाते तथा उदर फूल जाता है। नाड़ी की गति १२० से १४० तक हो जाती है। हृदय दुर्बल हो जाता है साथ ही नि:श्वास भी तेज हो जाता है। मुख से दुर्गन्ध आती है और वक्ष के मध्य से नाना प्रकार के आर्द्र अस्वाभाविक शब्द (राल्स) सुनाई पडते हैं। मूत्र में अलब्यूमिन निकलता है और कभी-कभी सामान्य शर्करा मिश्रित निकलता है। शरीर के अधोभाग मे शय्याक्षत देखा जाता है। हिचकी आने लगती है। शरीर के ताप की अचानक वृद्धि व ह्रास हो जाता है तथा नाडी का लोप एक बारगी ही हो जाता है।

विरामावस्था

१३ दिन से १७ दिन के मध्य मे ज्वर का प्रायः विराम हो जाता है। उस समय ज्वर एक बार कम हो जाता है अथवा धीरे-धीरे कम होकर स्वाभाविक हो जाता है। कभी-कभी रात्रि के समय ज्वर अचानक कम हो जाता है और रोगी को नींद आ जाती है। प्रात' काल जागने पर वह स्वस्थ मालूम पड़ता है। धीरे-धीरे प्रलाप कम हो जाता है। जिह्वा का आस्वाद ठीक होने लगता है तथा नाड़ी का वेग कम हो जाता है। दुर्बलता बनी रहती है, परन्तु, कोई उपद्रव न होने से रोगी धीरे-धीरे अच्छा हो जाता है।

प्रकार भेद

नाडी मडण्ल, रक्त संचालक यंत्र और श्वास-प्रश्वास यंत्र इनके आक्रान्त होने से अथवा अनेक स्थान में पचन व वियोजन होने से यथा क्रम से ये पीडाएँ उपस्थित हो जाती हैं। जो स्नायवीय, सर्क्यूलेटरी (रक्त सचारी), श्वास निःश्वास सम्बन्धी (रेसपिरेटरी) और शटन-शील शोणित विन्दुक मस्तिष्क ज्वर (प्यूट्रिड टाइफस) के नाम से कहा जाता है।

उपसर्ग और आनुसङ्गिक पीड़ा

श्वासनलीय प्रदाह (ब्रोङ्काइटिस), श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) परिफुस्फुसीय कला प्रदाह (प्लूरिसी), राजयक्ष्मा (थाइसिस), तीव्र पीडा कारक (डोलेनस), शीताद (Scurvy-स्कर्वी), आंशिक पक्षाघात और आमाशय। पैर की अगुलियों का गलना कान के मूल में स्फोट और सब सन्धियों मे पूय (पस) हो जाता है। समय-समय पर मूत्र-यंत्र मे प्रदाह भी होता है।

भोग

१४ दिन से २१ दिन तक इसका भोग काल है। इस रोग के आक्रमण से २० फी सदी की मृत्यु हो जाती है। इसमे सहसा अचैतन्य और हृदय क्रिया लोप हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

आक्रमण-काल

इस रोग का आक्रमण पुरुष तथा स्त्री दोनों पर समान रूप से होता है। इसमें प्रायः अवस्था भेद नहीं देखा जाता। किन्तु; १५ वर्ष से ७० वर्ष के मध्य मे अपेक्षा से अधिक आक्रमण देखा जाता है। एक बार इस रोग के होने पर फिर इसका दूसरा आक्रमण नहीं देखा जाता है। जैसे मसूरिका रोग एक बार उत्पन्न होकर फिर इसका दूसरा आक्रमण प्रायः नहीं होता है। इस रोग का भी समय-समय पर यही रूप प्रकाशित होता है। पशु जाति को किसी भी रूप में संक्रामक ज्वर हो, तो वह रूप मनुष्य जन्य ज्वर मे नहीं पाया जाता।

रोमान्तिका (Measles) और वृहन्मसूरिका (Small pox) की प्रारम्भिक अवस्था मे और अन्यान्य स्फोटक ज्वरों के साथ इस रोग का भ्रम होने की सम्भावना रहती है। किन्तु, रोग के पूर्व रूप में विशेष ध्यान देने पर और इसके स्फोटों का स्मरण रखने से भ्रम होने की कोई संभावना नहीं रहती।

भावी फल

यह ज्वर ३० वर्ष से ऊपर वाले व्यक्ति और अत्यन्त मद्य पीने वालों को होने से मारात्मक होता है। मस्तिष्क में विकार तथा सब अङ्गों मे दुर्बलता हो जाती है। रोग के प्रारम्भ मे कठोर लक्षण उपस्थित होने पर प्रायः ज्वर सांघातिक होता है।

चिकित्सा

रोगी को शुद्ध वायु वाले मकान मे रक्खे। क्योंकि अधिक मात्रा में शुद्ध वायु का सेवन करना ही इसकी प्रधान चिकित्सा है। रोगी के बलाबल के अनुसार वमन, विरेचक और संशोधक औषधियों का प्रयोग करें। कोष्ठ का शुद्ध रखना आवश्यक है। इसके लिये वस्ति का प्रयोग करें। अथवा, ग्लिसरीन की पिचकारी दें। ज्वर की अधिकता में शिर के बाल बनवा कर बरफ की थैली का प्रयोग करें। पथ्य के लिये दूध, मोरट, अनार और मौसमी आदि का रस दो से तीन

आक्रमण-काल

इस रोग का आक्रमण पुरुष तथा स्त्री दोनों पर समान रूप से होता है। इसमें प्राय: अवस्था भेद नहीं देखा जाता। किन्तु; १५ वर्ष से ७० वर्ष के मध्य में अपेक्षा से अधिक आक्रमण देखा जाता है। एक वार इस रोग के होने पर फिर इसका दूसरा आक्रमण नहीं देखा जाता है। जैसे मसूरिका रोग एक वार उत्पन्न होकर फिर उसका दूसरा आक्रमण प्रायः नहीं होता है। इस रोग का भी समय-समय पर यही रूप प्रकाशित होता है। पशु जाति को किसी भी रूप में सक्रामक ज्वर हो, तो वह रूप मनुष्य जन्य ज्वर मे नहीं पाया जाता।

रोमान्तिका (Measles) और वृहन्मसूरिका (Small pox) की प्रारम्भिक अवस्था मे और अन्यान्य स्फोटक ज्वरों के साथ इस रोग का भ्रम होने की सम्भावना रहती है। किन्तु, रोग के पूर्व रूप मे विशेष ध्यान देने पर और इसके स्फोटों का स्मरण रखने से भ्रम होने की कोई संभावना नहीं रहती।

भावी फल

यह ज्वर ३० वर्ष से ऊपर वाले व्यक्ति और अत्यन्त मद्य पीने वालों को होने से मारात्मक होता है। मस्तिष्क में विकार तथा सब अङ्गों में दुर्बलता हो जाती है। रोग के प्रारम्भ मे कठोर लक्षण उपस्थित होने पर प्राय: ज्वर सांघातिक होता है।

चिकित्सा

रोगी को शुद्ध वायु वाले मकान मे रक्खें। क्योंकि अधिक मात्रा में शुद्ध वायु का सेवन करना ही इसकी प्रधान चिकित्सा है। रोगी के बलाबल के अनुसार वमन, विरेचक और संशोधक औषधियों का प्रयोग करें। कोष्ठ का शुद्ध रखना आवश्यक है। इसके लिये बस्ति का प्रयोग करें। अथवा, ग्लिसरीन की पिचकारी दें। ज्वर की अधिकता मे शिर के बाल बनवा कर बरफ की थैली का प्रयोग करें। पथ्य के लिये दूध, मोरट, अनार और मौसमी आदि का रस दो से तीन

घटे के अन्तर से दें। रोगी की पाचन शक्ति के अनुसार दिन रात्रि मे १ सेर से १½ सेर तक दूध दे सकते हैं। मास भोजियों के लिये मास-रस (Broth) की व्यवस्था अति क्षीणावस्था मे करें। रोगी की क्षीणता में उत्तेजक औषधियों का प्रयोग करें। इसके लिये वृहत्कस्तूरी भैरव ½ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती, गिलोय सत्त ४ रत्ती और सितोपलादि १ माशा मिला कर शर्बत अनार से ३-३ घटे के अन्तर से प्रयोग करें तो बहुत लाभ होता है। परन्तु; सावधानी से उत्तेजक औषध देना चाहिये। उत्तेजक औषध का प्रयोग एक बार करके जितने दिन ज्वर रहे उतने ही दिन दें, ऐसा नियम नहीं है। साधारण रीति से ज्वर के प्रथम सप्ताह के व्यतीत होने के पहले उत्तेजक औषध का प्रयोग करने पर हानि होती है। रोग के स्वरूप और स्वभाव-भेद के ऊपर इसकी उपकारिता निर्भर है। जब रोगी अत्यन्त दुबला हो जाय, नाडी तेज और क्षीण हो जाय तथा हृदय का प्रथम शब्द क्षीण हो जाय उस समय उत्तेजक औषध दें। यदि प्रथम मात्रा के प्रयोग के बाद ज्वर बढ जाय' साथ ही देह का उत्ताप भी चढ़ जाय और रोगी विह्वल हो जाय तो उत्तेजक औषध का प्रयोग बन्द कर देना चाहिये। यदि पहली मात्रा के बाद क्लान्ति और प्रलाप शान्त हो जाए, जिह्वा आर्द्र हो, नींद अच्छी तरह आए, रोगी को नींद से सहज मे ही जगाया जा सके और जागने पर ज्ञान युक्त हो जाय तो सुरासार (अलकोहल Alcohal) के प्रयोग से लाभ होता है। प्रयोजन के अनुकूल दो-तीन घटे के अन्तर से १-४ ड्राम की मात्रा में जल मिला कर सुरा का प्रयोग करें। आसव का प्रयोग करना हो तो द्राक्षासव सबसे श्रेष्ठ है। अत्यन्त नाडी सम्बन्धी उग्रता और अनिद्रा वर्तमान होने पर क्लोरेल और ब्रोमाइड ऑफ पोटासियम का मिश्रित प्रयोग करें। प्रलाप-अनिद्रा और नाडी सम्बन्धी विकारों के निवारण करने के लिये अहिफेन का प्रयोग बडा उपयोगी है। शय्याक्षत निवारण करने के लिये जल पूर्ण शय्या अर्थात् रबर की बनी हुई गद्दी जो बाजार में मिलती है, उसमे जल भर लें और फिर उसका प्रयोग करें। रूई की गद्दी से स्थानिक दबाव का ह्रास करना चाहिये।

किसी-किसी स्थान में यदि कुछ ललाई दिखलाई पड़े तो फिटकिरी में अंडे की जर्दी व सफेदी और सुरा मिला कर उस पर लगावें, अथवा सायं-प्रातः धोकर ग्लिसरीन लगावें। यदि शय्याक्षत प्रकाशित हो जाय तो अलसी की पुल्टिश, नमक और हल्दी मिलाकर गरम करके बाँध दें। पकने पर चीरा लगा कर मांस आदि को निकाल दें और उसमें आइडोफार्म (Iodoform) छोड़ दें अथवा अन्य उपयोगी व्यवस्था करें। फुफ्फुस सम्बन्धी उपद्रव हो तो वक्ष के ऊपर गरम अलसी की पुल्टिश बाँध दें। परन्तु यदि उपयुक्त न जान पड़े तो पुल्टिश का प्रयोग न करें तथा इसके बदले सम्पूर्ण वक्षःस्थल और पीठ में उत्तेजक मलहम लगाकर उस पर फलालेन बाँध दें। फिर वाइनम्, इपेकाकूयानी का आभ्यन्तरिक प्रयोग करें। इसके बाद प्रयोजन होने पर तीन घण्टा का अन्तर देकर ५ ग्रेन की मात्रा में कार्बनेट् ऑफ एमोनिया का दूध के साथ प्रयोग करें। यदि फुफ्फुसीय लक्षण न हो तो ये औषध न दें। पिपासा निवारण के लिये षडंग-पानीय दें।

विधि—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खश, लालचन्दन, नेत्रवाला, सोंठ—प्रत्येक औषध दो-दो माशा लेकर एक सेर जल में पकावें। जब आधा रह जाय तो उसे उतार कर छान लें और शीतल होने पर प्यास निवारण के लिये दें।

यथोक्त चरके—

मुस्त पर्पट कोशीर चन्दनोदीच्य नागरैः।
शृतशीत जलं दद्यात् पिपासा-ज्वर शान्तये॥

इससे पिपासा शान्त हो जाएगी। शरीर में अधिक उत्ताप हो तो कुछ गरम व शीतल जल से गात्र को पोंछ दें। कोई-कोई इस रोग में प्रायः ८७ तापांश उत्तप्त जल में स्नान कराने के विशेष पक्षपाती हैं। गात्र का उत्ताप १०३ से अधिक हो तो दिन-रात्रि में बार-बार शीतल जल से स्नान करावें। कोई-कोई ६४ तापांश फार्नहीट उत्तप्त जल में स्नान करने की व्यवस्था कराते हैं। रोगी को टब में बैठा कर उसके

मस्तक के ऊपर शीतल जल की धार छोड़ें। रोगी की अवस्था विवेचन के लिए १०-२० मिनट तक स्नान की व्यवस्था करते हैं। किसी-किसी का सिद्धान्त है कि डिजिटेलिस से इस ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये। प्रयोग २० बूँद डिजिटेलिस का अरिष्ट और २० बूँद क्लोरिक ईथर जल मे मिला कर तीन-चार घण्टे का अन्तर देकर करना चाहिये। इससे नाड़ी का बल बढ़ जाता है, शरीर की गर्मी कम हो जाती है और प्रलाप शान्त हो जाता है। मूत्र-पुरीष ठीक-ठीक निकलने लगते हैं। रोग के अन्त मे दुर्वलता रहने पर पौष्टिक आहार सेवन करें। वसन्तमालती, अभ्रक, प्रवालभस्म आदि वलकारक औषधियों का सेवन करें। वायु परिवर्त्तन करना आवश्यक है। नाडी-क्षीणता मे मृगमदासव अत्यन्त उपयोगी है। शेष चिकित्सा आन्त्रिक-ज्वर के समान करें।

टाइफाइड और टाइफस-ज्वरका प्रभेद

प्रभेद-निर्णय

टाइफाइड

अधिकतर १८ वर्ष से ३५ वर्ष तक की अवस्था मे इस ज्वर का आक्रमण होता है। ४० वर्ष के वाद वहुत कम देखा जाता है।

आन्त्रिक-ज्वर आदि में यह स्पर्शाक्रामक नहीं होता है अथवा अति अल्प मात्रा मे होता है। अधिकतर स्थान मे दो एक रोग प्रकाशित होता है। ज्वर धीरे-धीरे गुप्तावस्था में आक्रमण करता है। और पूरे तीन सप्ताह तक स्थायी रहता है। प्रायः इसका स्थायित्व और अधिक होता है।

रोगी की दो सप्ताह के पहले मृत्यु नहीं होती है। अधिकतर दूसरे सप्ताह के वाद और तीसरे सप्ताह मे रोगी की मृत्यु होती है। मृत्यु क्षीणता और दुर्वलता होकर होती है।

मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षण धीरे-धीरे प्रकाशित होकर अधिक काल तक स्थायी होते हैं। दौर्वल्यता वढ जाती है। मुख मलिन, गण्ड-प्रदेश

कुछ लाल और शरीर उष्ण होता है। कहीं-कहीं पर अल्प स्वेद निकलता है। अतिसार, आध्मान आदि उदर के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। प्रायः अन्त्र तथा अधिकतर नासिका से रक्तस्राव होता है। श्वासनली-प्रदाह और फुस्फुसावरण-प्रदाह उपद्रव रूप में प्रकाशित होते हैं। अधिकतर शरीर में दशवें दिन कुछ उठी हुई मसूर के तुल्य लाल वर्ण के दाने निकलते हैं और निकल कर मिल जाते हैं। दोनों हाथ-पैरों में दाने नहीं निकलते। अंगुली से दबाने पर ये अदृश्य हो जाते हैं। व्यवच्छेदक चिह्न और पेयर्स पैच की अप्रकृत अवस्था मालूम होती है। सेमेन्टरिक ग्रन्थि का विवर्धन हो जाता है, अन्त्र के मध्य की श्लैष्मिक झिल्ली में क्षत हो जाता है, प्लीहा बढ़ जाती है और कोमल हो जाती है तथा गले में क्षत हो जाता है।

टाइफस.

सब अवस्था में टाइफस-ज्वर आक्रमण करता है। अधिकतर मध्य अवस्था के बाद रोग का आक्रमण होता है। यह अत्यन्त संक्रामक, अधिक देशव्यापी व मारक रूप से प्रकाशित होता है। टाइफस ज्वर सहसा आक्रमण करता है, और रोग के पूर्व की गुप्तावस्था मालूम नहीं पड़ती। इसका स्थायित्व अपेक्षा से कम होता है। यह दो सप्ताह से अधिक स्थायी नहीं होता है। अधिकतर प्रथम सप्ताह के अन्त में और प्रायः द्वितीय सप्ताह के शेष होने के पहले ही रोगी की मृत्यु बेहोशी होकर हो जाती है। प्रलाप व अचैतन्य जल्दी उपस्थित होता है। कभी-कभी रोगाक्रमण के साथ-साथ ये प्रकाशित होते हैं। प्रायः दश दिन के मध्य में ही शिर में पीड़ा होकर शान्त हो जाती है। अपेक्षाकृत अत्यल्प शीर्णता, अत्यन्त दौर्बल्यता और क्षीणता उपस्थित हो जाती है।

मुखमण्डल अत्यन्त लाल और चमकदार होता है, नेत्र लाल हो जाते हैं, त्वचा अत्यन्त तीव्र ताप से युक्त रहती है, और शरीर से एमोनिया के तुल्य गन्ध आती है। अन्त्र सम्बन्धी लक्षण वर्तमान नहीं रहते हैं। कोष्ठबद्ध हो जाता है और कभी-कभी उदराध्मान भी देखा जाता है।

आन्त्रिक-रक्तस्राव अति विरल होता है। कभी कभी रोग के आरम्भ में यह आमाशय से प्रकाशित होता है। नासिका से रक्तस्राव नहीं होता।

फुफ्फुस प्रदाह उपसर्ग रूप में होता है। अन्त्र और फुफ्फुस मे अति प्रबल रक्त-संग्रह होता है। श्वासनली में कुछ प्रदाह होता है। तीसरे दिन से लेकर सातवें दिन के मध्य में कुछ उठी हुई तथा कुछ काले रंग के दाने निकलते हैं। दाने सम्पूर्ण शरीर मे निकलते है, तथा दबाने से सब दाने अदृश्य नहीं हो जाते। कोई विशेष व्यवच्छेदक चिह्न दिखलाई नहीं पड़ता। रक्त अधिकतर कृष्ण वर्ण और तरल होता है। प्लीहा बढ़ जाती है। टाइफाइड ज्वर की अपेक्षा टाइफाइस् ज्वर मे हृदय कोमल हो जाता है। अन्त्र के मध्य मे कोई हानि दिखलाई नहीं देती है।

कर्कटक सन्निपात

(Pneumonia)

नाम करण संस्कार—अंग्रेजी भाषा में न्यूमो (Pneumo) शब्द का अर्थ वायु (Air) होता है। वायु और श्वास का समवाय सम्बन्ध है। इसलिये न्यूमोनिया शब्द का अर्थ यह हुआ कि श्वास-यन्त्र में उत्पन्न होने वाली व्याधि को न्यूमोनिया कहते है। इस रोग का सार्थक नाम पूजनीय भाव प्रकाश के आचार्य ने ३०० वर्ष से पहिले ही प्रकट कर दिया था। अर्थात् न्यूमोनिया का सार्थक नाम कर्कटक सन्निपात है। क्योंकि कर्क शब्द का अर्थ कर्कोटक (केकड़ा) अथवा कर्कराशि और जल-कुंभ है। यहाँ जल-कुंभ अर्थ ही चरितार्थ होता है। क्योंकि, इस रोग मे श्वास-यंत्र जल-स्वरूप श्लेष्ममय हो जाता है।

कर्कटक सन्निपात का परिचय

इषुणेवाहतं पार्श्वं तुद्यते खन्यते हृदि।
प्रमीलकः श्वास हिक्का वर्द्धते तु दिने दिने॥
जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गल शूकैरिवावृतः।
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत्॥

अतीव श्लेष्मणा पूर्ण. शुष्कवकोष्ठ तालुक. ।
तन्द्रा निद्राति योगार्त्तो हतवाट् निहतद्युति. ॥
नरति लभते किञ्चित् विपरीतानि चेच्छति ।
आयम्यते च बहुशो रक्त निष्ठीवति चाल्पशः ॥
एष. कर्कटको नामा सन्निपातः सुदारुण. ।
(भाव प्रकाश)

श्वसनक-ज्वर

(Pneumonia)

पर्याय—फुफ्फुस प्रदाह, कर्कोटक सन्निपात, भुग्ननेत्र सन्निपात आदि ।

निरुक्ति

तीव्र-ज्वर के साथ फुफ्फुस के अवयवों मे शोथ उत्पन्न हो जाता है। शोथ विशेष कर फुफ्फुस के खण्डों और वायु कोषों मे होता है। कोष-समूह जब प्रादाहिक रक्त-रस से अवरुद्ध हो जाता है, उस समय वक्षः स्थल के सम्मुख मे वेदना होती है और रोगी खाँसी-श्वास से पीडित होकर लोहे के जंग के समान लाल-काला रंग वाला श्लेष्मा थूकता है। दुर्बलता, पार्श्वशूल, शिरः शूल आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस ज्वर मे फुफ्फुसों में अनेक प्रकार की आमयिक अवस्था उत्पन्न हो जाती है। रोगोत्पादक कारणों तथा फुफ्फुस के अवयवों के स्वभाव के अनुसार, अथवा परिवर्तन के अनुसार श्वसनक ज्वर को दो प्रकार से विभक्त करके आगे वर्णन किया जायगा। फुफ्फुस के रोगों को उनके कारणों के अनुसार श्रेणी विभाग करके वर्णन करना अच्छा है। किन्तु, सब स्थलों पर कारणों का निर्देश करना संभव नही है। साधारणतया न्यूमोकोकस नामक रोगाणु फुफ्फुस मे पहुँच कर श्वसनक-ज्वर उत्पन्न करता है। इसकी संक्रामकता बहुत भयंकर होती है।

यथोक्तं चरक सिद्धान्ते—

लाक्षा रसाभं यः ष्ठीवेत् रक्त श्वास ज्वरार्दितः
रक्तान् फुफ्फुस मूलस्य तस्य श्वसनको ज्वर. ॥

रोगाणु समूह

जिन साधारण जीवाणुओं से शोथ और पूय की उत्पत्ति होती है; उनके मध्य में पूयजनक कीटाणु (स्टैफिल कोक्साई), शृंखलाकार दल संचित कीटाणु (स्ट्रेप्टोकोक्साई), डॉ० फैंकेल का युगुल कीटाणु, (डिप्लोकोकस), नश्तर की शकल का कीटाणु (लैनसिलेटस्), डॉ० फ्रेडलिंडारे का आविष्कृत न्यूमोनियाणु (न्यूमोवैसिलस्) व वृहदन्त्र शोथ कारक कीटाणु (वैसिलस् कलाई कम्यूनिस)—इन कीटाणुओं की गणना की जाती है। इनसे न्यूमोनिया के लक्षण प्रथम फुफ्फुस में कभी-कभी दोनों फुफ्फुसों में संपूर्ण अंश व कुछ अंश मे प्रकट हो सकते हैं। इन कीटाणुओं से उत्पन्न हुए रोग को अविशेष फुफ्फुस-प्रदाह (ननस्पेसिफिक् न्यूमोनिया) कहते हैं। इसका कारण यह है कि इनमें से प्रत्येक रोगाणु अपने स्वभाव की व्याधि उत्पन्न कर सकता है।

जिन विशेष रोगोत्पादक जीवाणुओं से रोग विशेष उत्पन्न होते हैं; वे फुफ्फुस को आक्रान्त करके विशेष फुफ्फुस-प्रदाह (स्पेसिफिक न्यूमोनिया) उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु; इस भाँति के न्यूमोनिया का लक्षण, स्वभाव, निर्माण और परिवर्तन आदि में पूर्वोक्त सामान्य न्यूमोनिया से स्थल विशेष में स्वल्प व अधिक भिन्नता देखी जाती है।

विशिष्ट कारण

श्वसनक ज्वर का मुख्य कारण युगल शलाकाकार जीवाणु (Diplo Bacillus) हैं। विज्ञान वेत्ता इसके चार प्रकार के कीटाणु मानते हैं। जिसमे प्रथम के तीन न्यूमोनियाणु अधिकतर रोग की उत्पत्ति करते हैं। इनमे भी तीसरा बहुत भयंकर है। इससे रोग की अवस्था असाध्य समझी जाती है। पूर्वोक्त कई प्रकार के जीवाणुओं से भी न्यूमोनिया पैदा होता है। जैसे—आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड) के शलाकाणु से, राजयक्ष्मा के क्षयाणु (Tubercle Bacillus) से और श्लेष्मक ज्वर (इन्फ्लुएञ्जा) के जीवाणु से। ये जीवाणु भी फेफडे मे जाकर शोथ उत्पन्न कर रोग पैदा कर देते हैं। किन्तु, किन जीवाणुओं से न्यूमोनिया

उत्पन्न हुवा है, इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। ये रोगाणु स्वस्थावस्था मे मुख और कण्ठ में विना किसी प्रकार की हानि पहुचाये ही पड़े रहते हैं। किन्तु; अनुकूल अवस्था होने पर फुफ्फुस प्रदाह उत्पन्न कर देते हैं।

अनुकूल-अवस्था—अच्छादक वस्त्रों का अभाव, शोकातुर, दुर्बल, गरीब मनुष्यों को शीत-काल मे वस्त्राभाव के कारण सहसा ठण्ड लग जाना, शीतकाल मे वर्षा होने पर नग्न शरीर मे आर्द्र एवं शीतल वायु का स्पर्श होना, आर्द्र स्थान से शुष्क-शीत स्थान मे आने पर अचानक ठंढक का आक्रमण हो जाना, दूषित-धूलियुक्त वायु में रहना, अति परिश्रम करना, साक्षात फुफ्फुस मे उत्तेजना होना, अथवा वक्षस्थल मे आघात लगना, अनियमित आहार-विहार, स्नान तथा व्यामादि करना, सुरा प्रभृति मादक द्रव्यों का अधिक सेवन करना आदि अनुकूलावस्था है। यह रोग सब काल मे हो सकता है। किन्तु; वर्षा, शिशिर और वसन्त ऋतु मे विशेष होता है।

यथोक्तं सिद्धान्ते—

समाच्छादन हीननां दुर्बलानां विशेषतः।
दीनानां दून चित्तानां शीत वर्षादि बाधनात्॥
अभिघातात् क्वचित् पूति-गन्धयोगेन कुत्रचित्।
क्वचिद्वा व्याधिनाऽनेन पीडितस्याति सगमात्॥
सर्वेष्वृतुषु भूम्नातु वर्षासु शिशिरे मधौ।
ज्वर प्रादुर्भवत्येष जीवाणु विष सभव.॥

संक्रमण

यह न्यूमोनियाणु चार प्रकार से फुफ्फुस मे जाकर रोग पैदा करते हैं। (१) गृहीत श्वास मे वायु के द्वारा श्वासनली के मध्य से, (२) प्रवाहित रक्त से, (३) लसीका के द्वारा और (४) फुफ्फुस के समीप के अवयवों की रोग वृद्धि से।

न्यूमोनियाणु रोगी की थूक के द्वारा बाहर निकलते हैं। वे धूलि-

कण मे मिलकर अथवा थूक के सूखने पर वायु मे मिल जाते हैं। फिर वायु में उड़ते हुए स्वस्थव्यक्ति के शरीर मे श्वास द्वारा फेफड़ों मे जाकर रोग उत्पन्न करते है। किसी-किसी स्थल पर आतुर के कफ से तथा दूषित वस्त्र प्रभृति से भी इस रोग का संक्रमण होता है। अथवा नासिका और मुख मे उपस्थित होकर न्यूमोनियाणु रोग उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु, इसका संक्रमण अधिकतर वायु द्वारा ही होता है।

सम्प्राप्ति

न्यूमोनियाणु गले और मुख द्वारा फेफड़ों में पहुँच कर फुफ्फुस प्रदाह उत्पन्न करता है। सबसे प्रथम यह फेफड़ों की कलों (सेल्स्) में सूजन पैदा करता है और वह स्थान ठोस हो जाता है। इस सम्पूर्ण क्रिया मे पाँच घण्टे से लेकर सपूर्ण दिन-रात्रि लग जाती है। इस काल मे फेफड़ों की कलों में सूजन होने से कुछ स्राव होने लगता है। इसलिये वायु के भीतर प्रवेश होने पर जब कलों का प्रसार होता है, उस समय इनमें मृदुकर करापन उत्पन्न हो जाता है। यह ठोस दशा तीन, पाँच, सात अथवा दस दिवस तक स्थित रहती है। इस दशा में फेफड़ा जिगर के तुल्य ठोस पड़ जाता है। सूजन होने से कलें स्थूल हो जाती हैं और बाकी जगह शोणितयुक्त स्राव से पूर्ण हो जाती है। इससे वह खण्ड इतना ठोस और भारी हो जाता है कि जल में डालने पर डूब जाता है। इसमें वायु का बिल्कुल अभाव हो जाता है और श्वास-प्रश्वास मे भी वायु का आवागमन नहीं होता है। श्वास का शब्द वायु की नलियों से सीधा इस ठोस जगह में संचरण करता हुआ कर्ण तक जाता है। इसलिये कोष्ठीय शब्द नहीं सुनाई देता है। किन्तु; संचालित वायु नली की आवाज सुनाई पडती है। इस दशा मे व्याधि अपनी अन्तिम मर्यादा तक पहुँच जाती है। ज्वर का वेग बढ़ जाता है और विष-प्रभाव (टाक्सीमिया) बहुत हो जाता है। विषका प्रभाव प्राय. हृदय, मस्तिष्क और नाडी-संस्थान पर देखा जाता है। विष का प्रभाव तीव्रावस्था मे होने पर रोग असाध्य हो जाता

है। साध्यावस्था मे तीन, पॉच वा सात दिन के बाद फेफड़ा मुलायम होकर द्रवीभूत होने लगता है। किन्तु; द्रवीभूत होने मे कुछ घन्टों से लेकर कुछ दिनों तक लग जाते हैं। फिर सूजन कम होने लगती है और कलों की सूजन से भरा हुआ भाग भी पतला होकर स्राव मे मिल जाता है। इस स्राव का कुछ हिस्सा धीरे-धीरे खून मे लीन होता रहता है और कुछ हिस्सा कफ के रूप मे थूक द्वारा बाहर निकल जाता है। इससे इस अवस्था मे मव्य, कठिन और मिश्रित करकरापन (क्रेपीटेशन) सुन पडता है, जो धीरे-धीरे फिर कम हो जाता है। श्वास शब्द भी धीरे-धीरे प्रणालिक से कोष्ठिक हो जाता है और फेफडा स्वस्थ हो जाता है।

लक्षण

रोग के आरम्भ मे बहुधा शीत लगकर तीव्र ज्वर आता है। ज्वर की ऊष्मा साधारणतया १०३ से १०४ डिग्री तक रहती है। रोग का वेग अधिक तीव्र होने पर १०५ से १०६ डिग्री तक पहुँच जाता है और अरुचि, प्यास, पसुलियों मे पीडा तथा खाँसी उत्पन्न हो जाती है। श्वास क्रमश बढता रहता है और इसका वेग एक मिनट मे ३० से ७० तक हो सकता है। साथ ही नाड़ी की गति भी बढ़ जाती है। परन्तु, नाडी की गति श्वास-प्रश्वास के तुल्य अथवा उससे अधिक नहीं होती। अर्थात स्वस्थ अवस्था मे जो सामञ्जस्य नाड़ी और श्वास-प्रश्वास का होता है, इस रोग मे उसका विलक्षण परिवर्तन हो जाता है। फुफ्फुस-प्रदाह के अतिरिक्त दूसरी पीड़ाओं मे जिस भाँति श्वास प्रश्वास की संख्या बढती है उसी भाँति हृदयस्पन्दन की भी संख्या बढ जाती है। इससे जो श्लेष्मा निकलता है, वह गाढ़ा तथा लसदार होता है। कभी-कभी उसमे रक्तिमा भी प्रतीत होती है। कफ का मुद्रा के स्वरूप मे निकलना इसका सूचक है। मुख का वर्ण बिल्कुल लाल हो जाता है, नेत्रों की पुतलियाँ फैल जाती हैं और मुख पर सूखा-पन आ जाता है। रोग के प्रकाशित हो जाने पर त्वचा मे शुष्कता और उष्णता आ जाती है। कभी-कभी प्लीहा भी बढ जाती है। मूत्र

की मात्रा कम हो जाती है, और प्रतिक्रिया अम्लीय होती है। शिर में पीडा तथा जिह्वा खुरदरी, सूखी और भूरी हो जाती है। दौर्बल्य, मोह, प्रलाप आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। जैसा सिद्धान्त निदान मे कहा है—

सम्प्राप्ति

संहृत्यास्रङ्मूलवः फुफ्फुसस्याऽसव्ये पार्श्वे सव्यतो वा द्वयोर्वा ।
जिघांसन्ति श्वास यत्रविपोत्था दोपास्तस्माच्छ्वास कृच्ट ज्वरश्च ॥

पूर्वरूप

पार्श्वार्ति श्वासकासौ च क्वचित् कम्पोऽवसन्नता ।
प्राग्रूपमाहुर्निपुणा. प्राय. श्वसनके ज्वरे ॥

रूप

प्राक् प्राय शीतमत्यर्थं ज्वरस्तीव्रोष्णचिस्तृपा ।
पार्श्वशूलमथोकास. श्वासवृद्धि क्रमेण च ॥
कासतः शोणित श्याम मुहु सान्द्र प्रवर्त्तते ।
श्वासवो नासिका पार्श्वौ स्फूर्जतश्च निरन्तरम् ॥
स्वेदो ललाटे गात्राणि भृश स्विद्यन्ति चानिशम् ।
गौरसर्पपवत् स्वेद-पिडकानाञ्च दर्शनम् ।
दौर्वल्य सदन मोह प्रलाप. कण्ठकूजनम् ॥
परुषा कर्कशा जिह्वा मलिना च भवेद् भृशम् ।
धमनी युग्मतामेति कोमला स्थूल चचला ॥
यावन्न ज्वर मुक्ति. स्याज्ज्वर मुक्तेरनन्तरम् ।
विशेषान्मन्दतामेति रोगेऽस्मिन्निति निश्चय ॥
सप्तमे दिवसे प्रायश्चाष्टमे नवमेऽथवा ।
अकस्माज्ज्वर निर्मुक्ति स्वेदप्राचुर्यमेव च ॥
प्राणा वा तत्र मुच्यन्ते रोगी वा तत्र मुच्यते ।
मुच्यमानस्तु नैरुज्य शीघ्रमेव समश्नुते ॥

साध्यासाध्य लक्षण

एकत. फुफ्फुसे दुष्टे ज्वरेऽतीव्रे स्थिते बले।
सम्यक् पादत्रये लब्धे मन्तव्या सुख साध्यता॥
स्वेदो भृश ज्वरस्तीव्रो वृद्धः क्षीणेऽथवातुर।
पादत्रयस्त्वसम्पत्त्या स तु जीवेत् कदाचन॥

अरिष्ट लक्षण

द्वावेव फुफ्फुसौ दुष्टौ समग्रो यस्य वैकृत।
नासा श्वासो भृश स्वेदो दुर्लभ तस्य जीवितम्॥
मन्द किञ्चित् प्रलपति स्वेदस्नातः प्रमुह्यति।
वेपते करपादञ्च प्राणास्तस्यापि दुर्लभाः॥
अतिसारेण वाऽक्रान्तो दुर्वारेण भवेद् यदि।
क्षीण श्वसनकेनार्तो दक्षिणाभि मुखो हि सः॥

प्रभेद

पीड़ा की नैदानिक अवस्था के भेद से श्वसनक ज्वर दो प्रकार का होता है।

(१) खण्डीय श्वसनक ज्वर। (लोअर न्यूमोनिया)

(२) श्वासनलीय श्वसनक ज्वर। (ब्राङ्को न्यूमोनिया)

खण्डीय श्वसनक ज्वर

(लोअर न्यूमोनिया)

पर्याय—कर्कोटक सन्निपात, फुफ्फुस प्रदाह, खण्डीय (Lober) श्वसनक ज्वर व तान्तवीय (Fibrinous) न्यूमोनिया। कूजित कासीय श्वसनक ज्वर (Croupous Pneumonia)।

निर्वचन

यह तीव्र संक्रामक व्याधि है। इसमे कम्प, ज्वर और रक्तमुख हो जाता है। श्वासकृच्छ्र, खाँसी और लोहे के मुर्चा के समान काला-लाल रंग वाला श्लेष्मा निकलता है। दुर्बलता अधिक हो जाती है। इसमे दोनों फुफ्फुसों के खण्डों मे अथवा एक फुफ्फुस के खण्ड मे सूजन

हो जाती है। पार्श्वशूल, कास आदि उपद्रव हो जाते हैं। इसको खण्डीय श्वसनक ज्वर कहते है।

कारण

पूर्व काल में खण्डीय श्वसनक ज्वर की तरुण अवस्था को लाक्षणिक ज्वर की सहवर्ती स्थानिक पीडा मे गणना करते थे। किन्तु; वर्तमान काल मे सब का विश्वास है कि प्रथम तरुण खण्डीय श्वसनक ज्वर एक विशेष सांक्रामिक पीड़ा है। इसका मुख्य कारण न्यूमोनियाणु है; जिसके अनेक नाम हैं। यथा—माइक्रोकोकस लैनसीओलेटस् (Micrococcus lanceolatous) डिप्लो कोकस न्यूमोनिया (Diplococcus Pneumonia) न्यूमोकोकस (Pnemococcus) आदि नाम हैं। जिस भॉति आन्त्रिक ज्वर में आँत के मध्य मे घाव हो जाता है, वैसे ही इसमे फुफ्फुस के खण्डों मे शोथ हो जाता है। पूर्व काल मे चिकित्सकों का विश्वास था कि शरीर मे शीत लग जाने से श्वसनक ज्वर उत्पन्न होता है। किन्तु, अनेक वार परीक्षा करके निश्चित किया गया है कि इस कारण से वहुत अल्प संख्या में रोगी तरुण खण्डीय श्वसनक ज्वर से आक्रान्त होते हैं। न्यूमोनियाणु ही इसका उद्दीपक कारण है। केवल शीतलता और आर्द्रता से यह उत्पन्न नहीं होता। स्वाभाविक अवस्था और जलवायु के अधिक विपर्यय हो जाने पर स्वास्थ्य का अवसाद हो जाता है। इस अवस्था मे शरीर के संक्रामक वीज से आक्रान्त हो जाने पर उसमे रोग के विष की क्रिया का प्रतिरोधक सामर्थ्य कम हो जाता है। वायु प्रवाह आदि कारणों से जीवाणु श्वास मार्ग के द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं और इसके वाद शारीरिक परिश्रम, मानसिक चिन्ता, शरीर मे शीत लगना आदि कारणों से शरीर अवसाद-ग्रस्त हो जाय, तो रोग उत्पन्न हो जाता है। वाल्यावस्था, वृद्धावस्था, दौर्वल्यावस्था और इनके साथ-साथ अनुकूल नैसर्गिक अवस्था इस रोग का पूर्ववर्ती कारण है। इनसे भिन्न व्यक्ति विशेष मे इस रोग की विशेष वशवर्तिता देखी जाती है। कोई

कोई एक से अधिक वार इस रोग से आक्रान्त हो जाते है। लोअर न्यूमोनिया रोग मे सम्पूर्ण रोग के भोग के समय वायु कोपाणु (एलवि-ओल) के मध्य मे जो रस आदि उत्सृष्ट होता है, उसमे उल्लिखित रोगोत्पादक जीवाणु पाये जाते हैं। जिस समय तात्कालिक प्रदाह होता है, उसी समय ये सव जीवाणु सवकी अपेक्षा अधिक संख्या मे वर्तमान रहते हैं। न्यूमोनियाग्रस्त रोगी जव तक पूर्ण स्वस्थ न हो जाय, तव तक उसके कफ की परीक्षा करने पर उसमे जीवाणु देखे जाते हैं। प्रधानतया ये सव जीवाणु रोगाक्रान्त फुस्फुस, फुस्फुस परिवेष्टनी कला (प्लूरा के मध्य से निकले हुए रस और कफ मे वर्तमान रहते हैं। किसी-किसी स्थल मे लसीका (लिम्फ) व रक्त के मध्य मे यह प्रविष्ट होकर सन्निहित विधानों मे यथा पुरीतती पेरिकार्डियम (Pericardium) फुस्फुसद्वयान्तरालवर्ती मेडियेष्टिनेल (Mediastinal) ग्रन्थियों में अथवा अत्यन्त दूरके शारीरिक यंत्रों मे जाकर तन्तु विशिष्ट प्रदाह व पूय की उत्पत्ति उपस्थित कर देते हैं। इस अवस्था मे औदर्य कला प्रदाह (Peritonitis), शिरोवरीय कला प्रदाह (Meningitis), आभ्यन्तर हृद् प्रदाह (Endocarditis), सन्धि प्रदाह (Arthritis), कर्ण कुहर प्रदाह (अटाइस्टिक मीडिया) प्रभृति पीड़ाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये सव पीड़ाएँ न्यूमोनिया रोग के भोग काल के मध्य मे उपसर्ग रूप से अथवा न्यूमोनिया रोग के शान्त होने के वाद परवर्ती फल रूप मे प्रकाशित होती हैं। इस स्थल मे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि न्यूमोमिया रोग के न होने पर भी डिप्लोकोकस (युगल शलाकाकार) जीवाणु से स्वतन्त्र भी यह पीडा उत्पन्न हो सकती है।

प्रकृतपक्ष मे ये सव रोगोत्पादक जीवाणु देह के जिस विधान में प्रविष्ट होकर ठहरते हैं उस विधान मे प्रादाहिक परिवर्तन और पूयोत्पत्ति जनित परिवर्धन उत्पन्न हो जाता है। साधारणतः ये सव जीवाणु नासिका के अन्दर और गले के मध्य मे ठहरते हैं। फिर वहाँ से फुस्फुस मे प्रविष्ट होकर अनुकूल अवस्था पाने पर उसमे न्यूमानिया रोग उत्पन्न कर देते हैं। यह रोग विष रक्त प्रवाह द्वारा भी फुस्फुस में पहुँच कर

प्रबल न्यूमोनिया रोग उत्पन्न कर देता है। इन स्थलों मे रक्त की नियमित रूप से परीक्षा करने पर ये सब जीवाणु पाये जाते हैं। अन्यान्य आभ्यन्तरिक यन्त्रो मे ये सब जीवाणु प्रधानत' रक्तस्रोत-द्वारा जाकर विशेप विकार उत्पन्न कर देते है।

इन सब जीवाणुओं से स्थानिक क्रिया उत्पन्न हो जाती है। इनके परिवर्द्धन और वंश वृद्धि से एक प्रकार का विप (Toxin) उत्पन्न होता है। यह विप पदार्थ रक्त मे शोषित होकर देह के यन्त्रों के ऊपर कार्य करता है। इस प्रकार यह विप पदार्थ हृदय पर कार्य कर उसमे क्षीणता और अवसादता उत्पन्न कर देता है। तथा यह हृदय के मध्य में रक्त ग्रन्थिकावरोध (थ्रूम्बाइ) का निर्माण भी कर देता है। जब वह प्लीहा के ऊपर काम करता है, तब प्लीहा रक्त के वेग से पीडित हो जाती है। देह का उत्ताप संरक्षक नाडी मूल के ऊपर कार्य करके ज्वर उत्पन्न कर देता है' और यकृत के ऊपर कार्य करके दानेदार (ग्रैन्यूलर) अपकर्प (डिजिनेरेशन) उत्पन्न करता है। मूत्र-पिण्ड के ऊपर कार्य करके रक्त का वेग और ग्रैन्यूलर अपकर्प अथवा यहाँ तक कि वृक्क प्रदाह (निफ्राइटिस) उत्पन्न करके शुक्लारण्ड प्रमेह (एलब्यूमिन्युरिया—Albuminuria) उत्पन्न कर देता है। मूत्र मे क्लोराइड (लावणिक पदार्थ) का स्राव कम कर देता है। यह नाड़ी विधान के ऊपर अत्यन्त शिथिलता पैदा कर देता है। इस शोथ जन्य परिवर्तन का आक्रमण अधिकतर फुस्फुस के नीचे वाले दाहिने खण्ड पर हो तो है। कभी-कभी ऊपर के खण्ड मे आक्रमण करता है। कभी-कभी दोनों फुस्फुसों के अनुरूप खण्ड एक साथ आक्रान्त हो जाते हैं। किन्तु, यह अवस्था बहुत कम देखी जाती है। एक तरफ का संपूर्ण फुस्फुस व दोनों फेफड़े रोग-ग्रस्त देखे जाते हैं।

शारीरिक परिवर्तन

इस रोग की प्रधान तीन अवस्थाएँ हैं। प्रथमावस्था, द्वितीयावस्था और तृतीयावस्था।

प्रथमावस्था—रक्त संग्रह व रक्त द्वारा रक्त-प्रणालियों की पूर्णावस्था अथवा रक्तावरोधावस्था (Engaigement)

द्वितीयावस्था—स्पन्दन अथवा स्रावणावस्था (Exudation) अथवा यकृदवस्था (Red hepotization)

तृतीयावस्था—रोगोपशमावस्था (Greyhepotization) अथवा पूयजनकावस्था (Yellow hepotization)

प्रथमावस्था

प्रथमावस्था अथवा रक्त संग्रहावस्था मे वायुकोष्ठ (Alveoli) समूह की रक्त प्रणालियाँ रक्त से पूर्ण होकर फैल जाती हैं। फुफ्फुस के अंग रक्त मिश्रित गुलाबी रंग के और अत्यंत भारी हो जाते हैं। नाड़ी गत (वेसिक्यूलर) प्रदेश में कुछ रस निकलता है और समीप की छोटी-छोटी श्वास-नलियाँ भी इस प्रकार के परिवर्तन से लक्षित होती हैं।

इस अवस्था या रोग के आरंभ मे रोगी सहसा बेचैन हो जाता है। कम्प व शीत लगकर खाँसी आने लगती है। अधिकतर शीत प्रवल व चिरस्थायी मालूम होता है। बालकों को प्रायः द्रुताक्षेप हो जाता है। युवा पुरुषों को वमन होने लगता है और शीघ्र ही देह का उत्ताप १०३-१०४ डिग्री तक हो जाता है। स्पर्श करने पर शरीर अत्यन्त गरम मालूम होता है। क्षुधामांन्द्य, पिपासा, मल से युक्त जिह्वा, शिर मे पीडा, हाथ-पैरों मे एंठन और सब अङ्गों में असुख मालूम होता है। ज्वर के सब लक्षण प्रतीत होते हैं। नाड़ी तेज हो जाती है। यहाँ तक कि नाडी की गति १२०–१३० तक हो जाती है। अधिकांश स्थल मे नाड़ी पूर्ण, कठिन और उछलती हुई मालूम होती है। श्वास-प्रश्वास प्रति मिनट ५०।६० वार अथवा इससे भी तेज हो जाता है। जिससे यह कष्टकारक और गंभीर हो जाता है तथा बोलने में विच्छिन्नता प्रतीत होती है। नाड़ी की गतिसंख्या और श्वास-प्रश्वास की संख्या का आपस मे जो सम्बन्ध है; उसमे विलक्षणता उत्पन्न हो

जाती है। रोगी के वक्षस्थल पर दबावमालूम होता है तथा मन्द-मन्द वेदना मालूम होती है। खाँसने से वेदना बढती है। परन्तु ; वेदना फुफ्फुसावरण प्रदाह की वेदना के तुल्य तीव्र नहीं होती। बार-बार यंत्रणा-कारक, कर्कश और विच्छिन्न कास उपस्थित हो जाता है। पहले खाँसी मे कफ नहीं निकलता है। किन्तु , अधिकतर दो-एक घंटा बाद गाढा फेन से युक्त, चिपचिपा और अर्धस्वच्छ कफ निकलता है। अधिकतर दूसरे दिन कफ ईंट के समान या लोहे के मुरचे के समान लाल निकलता है। मुख मण्डल और विशेष कर-गण्ड प्रदेश लाल हो जाता है। ओठ नीले पड जाते हैं। नासिका, श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ कुञ्चित हो जाती है तथा फैल भी जाती है। निद्रानाश तथा शिर मे पीडा उत्पन्न हो जाती है। रोगी कभी-कभी बकने लगता है और परिपाक मे विकार उत्पन्न हो जाता है। मूत्र गदला, लालवर्ण का तथा अल्प परिमाण मे होता है। मूत्र मे क्लोराइड का परिमाण कम हो जाता है तथा कभी-कभी लोप भी हो जाता है। रोगी पहले से अत्यन्त क्षीण हो जाता है। होंठ के ऊपर छाले (हार्पिज़ लेवियेलिस्) प्रकाशित हो जाते हैं। वक्षस्थल के रोग से आक्रान्त पार्श्व मे वेदना होती है ; परन्तु, यह वेदना अधिकतर अल्प होती है। शिरोवरीय कला प्रदाह (प्लूरिसी) का परिफुफ्फुसीय कला प्रदाह के सहयोगी होने पर अधिक वेदना होती है। रोग ग्रस्त पार्श्व के वक्ष प्राचीर का सञ्चालन कम हो जाता है। कभी-कभी स्पर्श से यकृदावस्था प्राप्त फुफ्फुस मे स्वर कम्पन की वृद्धि मालूम होती है। रोगी रक्त मिश्रित कफ थूकता है। वह चित्त होकर वा कुछ टेढ़ा होकर लेटता है। यदि फुफ्फुस का दूसरा खण्ड भी आक्रान्त हो जाता है, तो देह का ताप एक बारगी बढ जाता है। ये सब लक्षण पाँच, सात, नौ वा ग्यारह दिन स्थायी रहकर अचानक उतर जाते हैं। चौबीस घण्टे के मध्य रोग के अन्त में दुर्बलता आरम्भ हो जाती है।

प्रथम अवस्था मे प्रतिघात से रोग का कोई चिह्न प्रकाशित नहीं होता है। परन्तु , कुछ काल बाद अङ्गुली द्वारा प्रतिघात से गम्भीर

शव्द मालूम होता है। इस अवस्था मे वक्षःस्थल मे यंत्र की सहायता से सूक्ष्म केश मर्दन के तुल्य व आगन्तुक (रङ्कास्) शव्द विशेप सुनाई पड़ता है। प्रतिश्वास के शेप मे विम्व स्फोटन के तुल्य शव्द सुनाई पड़ता है। श्वासनलीय (वेङ्कियल) मे श्वास-प्रश्वास उपस्थित हो जाता है। इस अवस्था मे अधोलिखित नैदानिक परिवर्तन होता है। अत्यन्त रक्ताधिक्य होकर जलीय रस निकलता है परन्तु, शीघ्र ही वह गाढा हो जाता है। फुफ्फुस का अवयव और वजन बढ़ जाता है, फुफ्फुस के दबाने पर गड्ढा पड जाता है। फलतः यह वायु से न पूर्ण होकर द्रव पदार्थ से परिपूर्ण हो जाता है। फुफ्फुस के काटने पर मध्य भाग अपेक्षाकृत रक्तवर्ण दिखलाई देता है। धीरे से दवाने पर फेन युक्त रस निकलता है और फुफ्फुस के तन्तु कोमल और चूर्ण करने योग्य हो जाते हैं।

द्वितीयावस्था

रोग के शान्त न होने पर स्रावणावस्था व रक्तवर्णयुक्त यकृदावस्था आरम्भ हो जाती है। फुफ्फुस कठिन हो जाता है। काटने पर जिगर व तिल्ली के तुल्य दिखाई देता है। फुफ्फुस का आभ्यंतरिक भाग स्पञ्ज के तुल्य होकर उसका विधान नष्ट हो जाता है। उत्सृष्ट पदार्थ के दृढ होने पर उसके द्वारा वायुकोष्ठ अवरुद्ध हो जाते हैं। दवाने पर वह निकलता है। तृतीयावस्था मे यह दृढीभूत निकला हुआ पदार्थ रक्त-रस का स्थान ग्रहण करता है। अर्थात् रक्त-रस के स्थान मे दृढीभूत निकला हुआ पदार्थ वर्तमान रहता है। रक्त प्रणाली मे रक्त संचालन स्थगित हो जाता है। अथवा, प्रणाली को भेदकर रक्त निकलता है। प्रथमावस्था का सूक्ष्म केश मर्दन के तुल्य शव्द (Crepitation) लुप्त हो जाता है। श्वासप्रणालीय (Bronchial), श्वास-प्रश्वास, ब्रोङ्कफोनी और फिस्-फिस् (Whispering) शव्द सुन पडता है। समुदायग्रस्त भाग मे प्रतिघात करने से गम्भीर शव्द सुनाई देता है।

तृतीयावस्था

शेषावस्था (Grey hepatization) को धूसर वर्ण युक्त याकृती दशा अथवा पूय संचयावस्था कहते हैं। इस अवस्था मे यकृत्-तुल्य ठोस फेफड़ा कोमल होने लगता है।

बालकों की अपेक्षा वृद्ध मनुष्यों के फेफड़े; रञ्जक द्रव्य (pigment) अधिक प्रयुक्त होने से काले पड जाते हैं। फेफड़ा बढ़ कर चूर्णनीय हो जाता है तथा सम्पूर्ण वक्षःस्थल भर जाता है। मेदा भी बिगड़ जाता है। इस अवस्था में फेफड़े का स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का शब्द बदल कर ब्रोङ्कफोनी और श्वासनलीय (Bronchial) शब्द सुन पड़ता है। क्रमशः फेफड़े का जितना हिस्सा रोग-ग्रस्त होता है शरीर की गर्मी उतनी ही बढ़ जाती है। याने शरीर की गर्मी १०२-१०४ डिग्री तक हो जाती है। गर्मी के शांत होने पर भौतिक चिह्नों से अनुमान होता है कि फेफड़ा ठोस हो गया है।

न्यूमोनिया मे कफ के साथ प्रदाह युक्त सम्पूर्ण कोष बाहर निकलते हैं। इसके अतिरिक्त श्वेत-रक्त कोष और इनके साथ लाल रक्तकण भी निकलते हैं। कफ चिकना, गाढ़ा और लाल निकलता है। फुफ्फुस के वायुकोषों मे पूय संचित होकर कभी-कभी विस्तृत क्षत भी हो जाता है।

श्वसनक ज्वर में फुफ्फुस की अस्वाभाविक अवस्था, भौतिक चिह्न और लक्षण—इनकी तालिका नीचे दी जाती है।

(१) रक्त संग्रहावस्था और रसोत्सृजनावस्था।

(२) फुफ्फुस के तन्तुओं की घनीभूत दशा (Red hepatization)।

(३) कोमली भूत अवस्था (Grey hepitazation) का होना।

करकरापन शब्द (Crepitant), विचित्र स्वर (राल्स) ठेपन से सामान्य गम्भीर शब्द होता है। प्रतिघात से पूर्ण गर्म, श्वासप्रणालीय श्वास-

प्रश्वास शब्द, ब्रोङ्कफोनी शब्द तथा बड़ा फोड़ा न होने पर भौतिक चिह्न द्वितीय अवस्था के अनुरूप हो जाते हैं।

कास, श्वास में कष्ट का आरम्भ, ज्वर-ताप की वृद्धि, लाल श्लेष्मा का होना, ज्वर अधिक बढ जाना, सायंकाल मे ज्वर की वृद्धि और प्रात:काल मे कमी, श्वास कृच्छ्र और कास में लोहे के जंग के सदृश कफ निकलता है। शीत बोध, अत्यन्त क्षीणता, पूययुक्त अथवा गुलाबी रंग का कफ निकलना तथा अत्यन्त ज्वर का होना होता है।

कूजित कासजन्य श्वसनक ज्वर (Crups Pneumonia) में अधिकतर नीचे वाला दाहिना फुफ्फुस का खण्ड (Lobe) आक्रान्त होता है और नीचे वाला बायाँ फुफ्फुस खण्ड अपेक्षाकृत अल्प आक्रान्त होता है। कभी-कभी बाल और वृद्ध व्यक्तियों के ऊपर दाहिना फुफ्फुस खण्ड न्यूमोनिया से ग्रस्त हो जाता है।

तृतीयावस्था में अधिकांश स्थलों पर संयत लाल अंडों से युक्त तरल पदार्थ निकलता है और शोपित हो जाता है। कोपीय पदार्थ मेद के अपकर्ष से युक्त होता है। इसका अधिकांश भाग शोपित और अवशिष्टांश कफ से निकलता है। एल्वियोलाई (वायुकोपाणु) क्रमशः स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो जाता है और इसका आयतन, क्रिया और स्थिति-स्थापकता फिर संस्थापित हो जाती है।

यदि किसी कारण से रोगोपशम अवस्था प्रतिरुद्ध हो जाय और संयत उत्सृष्ट पदार्थ अशंतपः पूय मे परिवर्तित होकर पीला वा हल्दी के समान वर्ण धारण कर ले, तो शीघ्र ही सम्पूर्ण पूयकोप निर्मित हो जाता है। साथ ही रोगग्रस्त अंश दानेदार (ग्रैन्यूलर) और मेदोयुक्त पिण्डाकार हो जाता है। फेफड़े का जो भाग इस पूयमय परिवर्तन को प्राप्त नहीं होता; वह लाल वर्ण का हो जाता है और उसके बीच-बीच मे जगह-जगह पर पीले-पीले छोटे-छोटे भाग दिखलाई पडते हैं। स्वाभाविक फुस्फुस के अवयवों मे परिवर्तन नहीं होता है। पूयमय पदार्थ कुछ-कुछ निकलता है और शेप भाग मेद से क्षीण होकर अन्त मे सूख जाता है।

फुफ्फुस प्रदाह पाँच प्रकार से परिणत होता है

(१) क्रमशः रोग की शान्ति होकर आरोग्यावस्था।

(२) सड़ा हुआ घाव (गैंग्रिन)।

(३) बड़ा फोड़ा (स्फोटक) विद्रधि।

(४) पुरातन फुफ्फुस प्रदाह।

(५) क्षय कास अथवा राजयक्ष्मा।

(६) अधिकतर फेफड़े के नीचे के खण्ड में श्वसनक ज्वर होता है। किन्तु; कभी-कभी ऊपर के खण्ड में भी न्यूमोनिया हो जाता है।

(७) उत्क्रामक श्वसनक ज्वर अल्प ही दिवसों में एक जगह से दूसरी जगह और दूसरी जगह से तीसरी जगह में फैल जाता है। किंतु, आगे जैसे-जैसे बढ़ता है, पिछली जगह ठीक होती जाती है।

(८) केन्द्रिक—जहाँ से शोथ आरम्भ होकर फेफडे के मध्य से बाहर की ओर जाता है।

(९) परिफुफ्फुसीय कला शोथ युक्त श्वसनक ज्वर।

श्वसनक ज्वर में परिफुफ्फुसीय कला (प्लूरा) में शोथ हो जाता है। किन्तु; यह शोथ प्रकृति की तरफ से न्यूमोनिया में रक्षा करता है।

उपसंहार

अधिकतर पूय शोषित होकर रोगी धीरे-धीरे अच्छा हो जाता है। फोडा उत्पन्न होकर फट जाता है अथवा आवरण के मध्य में रह जाता है और अन्त में पनीर के तुल्य (केजस्) अपकर्ष भाव में बदल जाता है। न्यूमोनिया से ग्रसित फेफड़े में सडा हुआ घाव (गैंग्रिन) बहुत कम देखा जाता है।

न्यूमोनिया की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का स्थायित्व

रक्त के वेग की अवस्था १-३ दिन तक, रस निकलने की अवस्था ३-७ दिन तक और रोग की शान्ति दशा १-७ दिन तक रहती है। रोग के अत्यन्त प्रबल होने, रोगी के युवक होने, वृद्ध होने वा दुर्बल होने पर फुफ्फुस की यकृदावस्था (रेड हेपैटीजेशन अर्थात् ठोसता) ४८ घंटे में पूर्ण परिवर्तन को प्राप्त हो जाती है।

भेद

लक्षण प्रभृति के भिन्न-भिन्न होने पर न्यूमोनिया रोग भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है।

आन्त्रिकीय श्वसनक ज्वर

(टाइफाइड न्यूमोनिया)

इसमे अत्यन्त दुर्बलता आ जाती है। प्रलाप, कम्प, शरीर में अधिक संताप और चिर काल तक स्राव निकलता रहता है। परन्तु ; यह अचानक अच्छा हो जाता है ; जिससे रोगी स्वस्थ हो जाता है।

पैत्तिक श्वसनक ज्वर

(विलियस् न्यूमोनिया)

इससे फेफडे मे रक्त संचालनावरोध अथवा श्लेष्मज पाण्डु रोग (कैटरल जॉन्डिस्) हो जाता है। इससे शिराओं के रक्त संचालन मे स्थिरता आ जाती है और यकृत् मे रक्त संग्रह (कंजेश्चन) वर्तमान रहता है।

विषमज्वरीय श्वसनक ज्वर

(इन्टर्मिटेन्ट न्यूमोनिया)

जिस स्थान मे मलेरिया का प्रवल प्रकोप होता है ; वहाँ मलेरिया और न्यूमोनिया साथ-साथ होता है। अधिकतर रक्त की कमी से पाण्डुरोग भी प्रकट हो जाता है। यदि यकृदावस्थाके वाद एक साथ रोग के प्रशमन के वदले पूयोत्सृजन उपस्थित हो जाय, तो रोगी के कफ से अधिक पूय निकलता है और स्वेद अधिक आता है तथा जिह्वा सूखी व गुलाबी रंग की हो जाती है। दाँत मलिन प्रतीत होता है। इन लक्षणों से रोग चिरस्थायी मालूम होता है ।

मदातङ्किक श्वसनत ज्वर

जो पुरुष अधिक मद्य पीते हैं, उनको न्यूमोनिया हो जाने पर अधिकतर मदातङ्क (Delirium Trimense) उपस्थित हो जाता है।

परिणाम

रोगी बलिष्ठ होने पर दो सप्ताह में अच्छा हो जाता है। पूयोत्सृजन (प्यूस्यूलेन्ट फिल्ट्रेशन) होने पर कई सप्ताह तक रोग रहता है और क्षीणताजनक ज्वर वर्तमान रहता है तथा प्रदाह विहीन फुफ्फुस के सहचारी शोथ (कोलैटरल ईडिमा) अथवा हृदय की क्रिया का लोप हो जाता है और नाड़ी-शक्ति के विकार से पीड़ा की प्रथम वा द्वितीय अवस्था में रोगी की मृत्यु हो जाती है। फेफडा मे फोडा हो जाने पर दौर्बल्यजनक स्वेद तथा बार-बार खाँसी आती है। अधिक मात्रा में पीला व धुमैला कफ निकलता है। कभी-कभी रक्त मिश्रित श्लेष्मा भी निकलता है। फुफ्फुस मे सड़ा हुआ घाव (गैंग्रिन) उपस्थित हो जाने पर पतनावस्था (कोलैप्स) के लक्षण पैदा हो जाते हैं। बदबूदार काला कफ निकलता है। भौतिक परीक्षा से फेफड़े के मध्य में गह्वर का निर्णय किया जाता है।

भावीफल

इस रोग का भावीफल फुफ्फुस के शोथ पर निर्भर है। कूजित कास युक्त श्वसनक ज्वर (क्रूप्स न्यूमोनिया) मे प्रायः हृदय की क्रिया की लुप्तता से भावीफल विषम होता है। दोनों फेफडों मे न्यूमोनिया होने पर अधिकतर तरल कफ अथवा लाल कफ निकलने पर अनेक स्थल पर रोग विषम आकार धारण करता है। अति तीव्र ताप, हृदय का कार्यावरोध, निद्रानाश, प्रलाप, कम्प, संज्ञानाश, वृक्क रोग प्रभृति होने पर विषम फल होता है। कभी-कभी ये परिफुफ्फुसीयकला-शोथ, फुफ्फुस विद्रधि, पुरानी खाँसी आदि रोग के शान्त हो जाने पर भी चिरकाल तक रहते हैं।

चिकित्सा

खण्डीय श्वसनक ज्वर (लोबर निमोनिया) के लक्षणों और कारणों के प्रति दृष्टि करके तीन उद्देश्यों से इसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

यथोक्तं सुश्रुते—

"सक्षेपत क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्"

(१) रक्त, शारीरिक तन्तु और विशेषकर फुस्फुस में न्यूमोनियाणु (न्यूमोकोकस) से उत्पन्न होने वाली अनिष्टकारक क्रिया को नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिये। विष के प्रभाव को भी जहाँ तक हो सके, नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिये।

(२) विषम व कष्टजनक लक्षणों को दबाएँ और उसका उपशमन करें। व्याधि का यथासम्भव इतना दमन करें कि वह आगे बढ़ने न पावे।

(३) रोगी के बल की रक्षा करना, दौर्बल्य कारक अवस्थाओं का शमन अथवा तिरोहित करने की चेष्टा करनी चाहिये। विशेषकर हृदयावसाद और हृदय कार्यावरोध का शीघ्र प्रतिकार करना आवश्यक है।

प्रथम उद्देश्य

आतुर को शुद्ध हवादार गृह में जिसमें प्रकाश और शीतोष्ण सम परिमाण मे रहे रखना चाहिये। इसका कारण यह है कि यह फुफ्फुसों का रोग है। इसमें फुफ्फुस विकृत हो जाता है। अतएव; स्वच्छ प्राणप्रद वायु की अत्यन्त आवश्यकता है।

आजकल आक्सीजन के भरे हुए नल (आक्सीजन सिलेन्डर) बाजार में मिलते हैं। उनको लेकर प्राण प्रदवायु को फेफड़े मे पहुँचाना चाहिये। किन्तु; अधिक महँगे होने के कारण गरीब आदमी इससे लाभ नहीं उठा सकते हैं। रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिये। रोगी से अधिक वात नहीं करें। विषको दूर करने के लिये पाखाना पेशाव ठीक-ठीक आना आवश्यक है। दोषों का वेग शान्त होने पर आवश्यकता पडने पर मृदु विरेचक औषधियाँ देने से विशेष लाभ होता है। मुख को स्वच्छ रखना चाहिये। पीने के लिये शृतशीत जल दें। यदि आध्मान हो तो सौंफ और सोंठ का अर्क पिलाना चाहिये। खाने के लिये सुपाच्य, लघु, पेया आदि अथवा फल-रस यथेष्ट मात्रा में दे सकते हैं। इसकी चिकित्सा में प्राच्यचिकित्सकों का बहुत मतभेद

है। इस तरह का मतभेद किसी दूसरे रोग में नहीं देखा जाता है। इसमें निद्रा का न आना विष-प्रभाव का एक चिह्न है। निद्रा से विष दूर होता है और कलें (सेल्स) नवीन उत्साह से काम करती हैं। परन्तु; नींद के न आने से विष का प्रभाव प्रबल हो उठता है और कलें क्षीण हो जाती हैं। अतः निद्रा लाने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसकी चिकित्सा आगे लिखी जायगी। यदि टॉक्सीमिया (विष प्रभाव) अधिक तीव्रावस्था मे हो, तो रक्तमोक्षण करके सेलाइन लोशन भर देना चाहिये। इससे बहुत विष निकल जाता है।

प्राच्यचिकित्सा का रहस्य

प्रायः श्वसनक ज्वर त्रिदोषज होता है अतः जो दोष बढ़ा हुआ हो, उसको घटाना चाहिये और जो घटा हुआ हो उसे बढ़ाना चाहिये।

यथोक्तं चरके—

वर्धनेनैक दोषस्य क्षपणे नोच्छ्रितस्य च ।
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वर जयेत ॥

जो उपद्रव अधिक बलवान् हो, उसी की प्रथम चिकित्सा करें। बलवान् उपद्रव शान्त हो जाने पर अन्य उपद्रव स्वयं शान्त हो जाते हैं। श्वसनक ज्वर में जब तक रोगी के दोषों की सामता नष्ट न हो और कफ की अधिकता शान्त न हो तब तक लंघन न कराकर लघु-पुष्टकारक पथ्य दें। पथ्य में मांस-रस भी दे सकते हैं।

स्वेद

आम दोष के पाचन करने के लिये दोनों हाथ, पैर, जंघा, ऊरु आदि स्थानों में बालुका स्वेद देना चाहिये। आम और कफ से आच्छादित आमाशय के ऊपर रूक्ष स्वेद करें। यदि कोष्ठ वायु से पूर्ण हो तो गरम जल में तारपीन का/तेल मिलाकर सेंकना चाहिये। यदि आध्मान, कोष्ठशूल और मलमूत्रावरोध हो, तो आमाशय, पक्वाशय और बस्ति प्रदेश मे ऐसा ही स्वेद दें। श्वसनक ज्वर में कफ प्राबल्य होने से शरीर के अन्दर जल तत्त्व अधिक हो जाता है। इसलिये; स्वेद रूप अग्नि क्रिया के बिना इसका शोषण नहीं हो सकता है।

यथोक्तम् भैषज्य रत्नावल्याम्:—

सन्निपाते जलमयो नराणां विग्रहो भवेत्।
विना वह्न्युपचारेण क स्तं शोषयितु क्षमः॥

स्वेद प्रतिषेध—रक्तनेत्र, वमन, प्रलापादि उपद्रव हों, तो स्वेद देकर शीतल उपचार करें। गर्भिणी को स्वेद न दें।

नस्य प्रयोग

किसी-किसी स्थल पर सहसा रोगी बेहोश हो जाता है। इस बेहोशी की उपेक्षा न करें। क्योंकि; उपेक्षा से संज्ञावाही नाड़ियाँ (Sensory Nerves) धीरे-धीरे निष्क्रिय हो सकती हैं और नाड़ी जाल के निष्क्रिय हो जाने पर फिर चैतन्य होना कठिन हो जाता है। अतः मनोमोह को दूर करने के लिये नस्य बहुत अच्छा है। न्यूमोनिया में कफ की अधिकता होने से तमोगुण अधिक होता है। इसलिये तन्द्रा, निद्रा और शिर मे भारीपन होने पर तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करें। किन्तु; जब मस्तिष्क और हृदय दुर्बल तथा रूक्ष हो, तो तीक्ष्ण नस्य नहीं दें।

लशुनादि नस्य—लहशुन का स्वरस ४ बूँद, सरसों का तेल ३२ बूँद, कालीमिर्च का चूर्ण १ रत्ती उनको मिलाकर नस्य दें। इससे कफ नष्ट हो जाता है और रोगी होश मे आ जाता है।

सैन्धवादि नस्य—सैंधव नमक २ रत्ती सफेद मिर्च २ रत्ती, सरसों २ रत्ती, कूठ २ रत्ती को बकरे के मूत्र से पीस कर नस्य देने से तन्द्रा, निद्रा और शिर शूल दूर हो जाता है तथा सचित श्लेष्मा पिघल कर निकल आता है। श्वासकुठार रस का नस्य न्यूमोनिया मे हुई अचेतनता को दूर करता है। शंखभस्म को अर्क दुग्ध मे भिगो-सुखाकर नस्य देने से उपकार होता है।

निष्ठीवन

सधानमक, कालीमिर्च, पीपल, सोठ, इनको एकत्र पीसकर ६ माशे चूर्ण का २ तोला गर्म अदरख-स्वरस के साथ मिलाकर ३-४ वार मुख मे

रखकर थूके। इससे फेफड़े, गला आदि की संचित शुष्क श्लेष्मा पिघल कर निकलने लगता है। अष्टाङ्गावलेहिका (भै० र०) का प्रयोग भी कर सकते हैं। मयूरचन्द्रिका भस्म ३ माशे को पिप्पली चूर्ण ३ माशे के साथ मिलाकर मधु के साथ चाटने से कफ निकलता है।

अंजन

शिरीष बीज ३ माशा, पीपल ३ माशा, सैंधवलवण ३ माशा, लहशुन का स्वरस ६ माशा, शुद्ध मनःशिला १ माशा और वच ३ माशा।

विधि—इनको कूट कर छान लें और लहशुन का स्वरस मिला फिर गोमूत्र की भावना दें। इसके बाद इसको सलाई से आँख में लगावें। इससे अचेतनता दूर होती है।

द्वितीय उद्देश्य

व्याधि को रोकने के लिए औषध का प्रयोग करें। इस रोग में कुनैन महौषध है। इससे केवल ज्वर का उत्ताप ही नहीं कम होता है, बल्कि सक्रामक और रोगोत्पादक न्यूमोनियाणु तथा उनके क्रिया पर विशेष कार्य करता है। रोगी की अवस्था तथा रोग की तीक्ष्णता के अनुसार १-३ ग्रेन की मात्रा में दो-चार घण्टे का अन्तर देकर प्रयोग करने से लाभ होता है।

कुनैन का प्रयोग

कुनैन सल्फर १-३ ग्रेन, एसिड साइट्रिक १०-१५ ग्रेन, सैकेराई १० ग्रेन इनको एक में मिलाकर पुड़िया बाँध लें। इस पुड़िया को पानी में घोलकर नीचे लिखे हुए मिश्रण के साथ मिलाकर दें।

पट. बाइकार्ब १०-१५ ग्रेन, एमन.-कार्ब ३-५ ग्रेन, सिरप अरेनश १ ड्राम, जल १ औंस इनको एक मे मिला ले। फिर रोग की प्रबलता और अवस्था के अनुसार तीन-चार घण्टे का अन्तर देकर प्रयोग करें। प्रथम उद्देश्य की सिद्धि के लिये कुनैन से अधिक लाभकारक ओषधियों का प्रयोग होता है। खाने के लिये पोटैशियम आयोडाइड, सिट्रिक एसिड या साइट्रेट्स अतीव उपयोगी है।

पोटशियम आयोडाइड के साथ क्रियोजोट भी मिला सकते हैं। युकलिप्टस और टरपेण्टाइना का श्वास द्वारा प्रयोग करना विशेष लाभदायक है। कोई-कोई इस रोग मे कैलोमेल प्रयोग के भी पक्षपाती हैं।

ज्वरोपचार

ज्वर की अधिकता होने पर उसकी चिकित्सा के लिये विविध उपायों का अवलम्बन होता है। कोई शीतल स्नान की व्यवस्था करते हैं। किन्तु; शीतल स्नान से चिकित्सा करना विल्कुल अयुक्ति युक्त है। इससे अनेक स्थान पर सहसा जीवनी-शक्ति का अवसाद, पतनावस्था (कोलैप्स) और कम्प उपस्थित हो जाता है। कोई-कोई चिकित्सक रोगग्रस्त फुफ्फुस के ऊपर वरफ की थैली का प्रयोग करते हैं। किन्तु, देह का ताप १०० डिग्री से कम होने पर वरफ की थैली का प्रयोग वन्द कर देना चाहिये। यदि देह का ताप १०२ डिग्री हो जाय, तो फिर वरफ की थैली का प्रयोग करें। किन्तु, वरफ की थैली का प्रयोग हृदय के ऊपर नहीं करना चाहिये। इसका कारण यह है कि इससे हृदयावसाद उपस्थित हो जाता है। इससे भिन्न ज्वर को दवाने के लिये एकोनाइट् (वत्सनाभ), विराट्रिया, हृत्पत्रिका (डिजीटेलिस्) और ज्वरनाशक सव ओषधियों का प्रयोग कर सकते हैं। हृत्पत्रिका का प्रयोग नाड़ी और श्वास की द्रुतगति मे नहीं करें। उस समय श्वास चिन्तामणि का प्रयोग ६ घण्टे के अन्तर से करना चाहिये। हृत्पत्रिका का योग वृद्ध मनुष्यों को भी न दें।

भालू-पित्त का प्रयोग—२ रत्ती की मात्रा मे भालू का पित्त न्यूमोनिया में देने से यह असाध्य अवस्था को भी दूर करता है। हृदय की दुर्वलता में कस्तूरी के साथ दें।

शुल्वौषधियों की चिकित्सा

(Sulpha Drugs)

इनके प्रयोग से श्वसनक ज्वर की अवधि अत्यल्प हो जाती है, उपद्रवों का शमन हो जाता तथा असाध्यावस्था भी कम हो जाती है। इसके लिये

सल्फा पायरीडीन, सल्फाथायोजोल, सल्फडायाजीन और सल्फा-मेजाथीन—इनमें से किसी एक का उपयोग किया जाता है।

आयु के अनुसार मात्रा का प्रमाण

वय	आद्य मात्रा	४ घण्टे की मात्रा	सकल मात्रा
१ वर्ष तक	५ धान्य (ग्राम)	¼ धान्य	१२ धान्य
१—३ तक	५ ,,	½ ,,	१५ ,,
३—१० ,,	१ ,,	¾ ,,	२० ,,
१० से अधिक	२-४ धान्य	१ ,,	३० ,,

विधि—गोलियों का चूर्ण बनाकर आधा या एक पाव पानी के साथ या दूध के साथ लें। सल्फामेजाथीन प्रत्येक चार घण्टे के बदले प्रत्येक ६-७ घण्टे पर दिया जाय। ज्वर उतर जाने के २-३ दिन के पश्चात् इनको बन्द कर देना चाहिये। इनके सेवन के समय यदि हृल्लास, छर्दि प्रभृति हो, तो सेवन पश्चात् कुछ भुने हुए मुनक्का सेवन करें। मध्य में क्षारीय जल सेवन करना चाहिये।

शिरान्तरीय प्रयोग—रोगारम्भ के २-४ दिन बाद जब चिकित्सा शुरू की जाती है, तो रोग को शीघ्र दबाने के लिये सिरा द्वारा इसका उपयोग किया जाता है। इसके लिये उपर्युक्त ओषधियाँ क्षारातु (सोडियम) के लवण काम में लाये जाते हैं। मात्रा १ धान्य १० घ० सि० मा० निर्जीवाणुक जल में विद्रुत करके धीरे-धीरे सिरा में प्रविष्ट की जाती है। आवश्यकतानुसार २ धान्य की मात्रा का भी प्रयोग कर सकते हैं।

पेनीसिलीन

न्यूमोकोकस नामक कीटाणुओं का ध्वंस करने के लिये यह औषध उपर्युक्त ओषधियों की अपेक्षा अधिक सफल होती है। यह विषैली भी नहीं होती है। परन्तु; इसके प्रयोग में अनेक कठिनाइयाँ होने के कारण इसका प्रयोग निम्न अवस्थाओं मे विशेषतया किया जाता है।

(१) शुल्वौषधियों के पूर्व प्रयोग से उनके सहन न होने का इतिहास जिनमे मिलता है; उनमें प्रारम्भ से।

(२) अनुवद्ध व तीव्र वमन तथा विषैले लक्षण जिनमें दिखाई देते है उनमे।

(३) श्वसनक ज्वर होने से पहले अतिसारादि द्रवापहरण करने वाले रोगों से पीड़ितों के हृदय, वृक्करोग से पीडितों तथा तीव्र यकृच्छोथ से पीड़ितों में प्रारम्भ से।

(४) शुल्वौषधि प्रतिरोधक रोगियों मे।

मात्रा—आद्य मात्रा ५० हजार यूनिट उसके पश्चात प्रति ३ या ४ घण्टे पर २०००० यूनिट सिरान्तरीय या पेश्यन्तरीय मार्ग से ताप उतर जाने के पश्चात् दो दिन तक दें। साधारणतया ५ दिन लगातार औषध प्रयोग करने से काम हो जाता है। तीव्र रोगों में प्रारम्भिक मात्रा अधिक देनी चाहिये। सन्ततक्षरण पद्धति दिन भर में २ लक्ष एकक १०० घ० शि० जल मे दिये जाते हैं। दिन भर में यदि २ वार देना हो तो प्रारंभ मे २ लक्ष एकक और प्रत्येक १२ घटे पर १ लक्ष एकक दिये जाते हैं। कुल मात्रा ८ लक्ष एकक की होती है।

मुख द्वारा पेनीसिलीन का प्रयोग

पेनीसिलीन के प्रयोग मे सबसे बड़ी कठिनाई उसके प्रदान की होती है। इस कठिनाई के कारण उसकी व्यवहारोपयोगिता वहुत मर्यादित हो गई है। आजकल मुख द्वारा देने योग्य योग बनाये जा रहे हैं और उनमें पर्याप्त सफलता भी मिली है। इसके लिये पेनीसिलीन की मौखिक गोलियाँ (Boots pure Dıug houre) मिलती हैं। सूचिकाभरण मार्ग से मौखिक मार्ग मे मात्रा चार-पाँच गुना अधिक देने की आवश्यकता होती है। जैसे प्रारम्भिक मात्रा २ लाख एकक देकर उसके पश्चात् ५०००० एकक की मात्रा प्रत्येक ३ घण्टे पर दी जाती है। रोगी की स्थिति में सुधार होने पर यह मात्रा आधी कर सकते हैं। ओषधि पाँच दिन देनी पड़ती है। ओषधि का कार्य अधिक से अधिक होने की दृष्टि से दो बातों पर ध्यान देना चाहिये। रोगी को २॥ सेर से अधिक जल न दिया जाय। तथा ओपधि की गोलियाँ प्रत्येक समय

छटाँक भर दूध के साथ दी जाएँ। इस प्रकार मुख द्वारा पेनीसिलीन का उपयोग करने से सूचिकाभरण पद्धति के समान चिकित्सा में सफलता मिलती है।

प्रतिलसिका

(Antiserum)

उपर्युक्त ओपधियों के आविष्कार के पहले न्यूमोनिया की चिकित्सा की यह प्रधान-विशिष्ट ओपधि थी। परन्तु; अब इसका महत्त्व कुछ भी नहीं रहा। इसके निम्न कारण हैं (१) यह लसीका प्रथम प्रकार के फुस्फुस गोलाणु के उपसर्ग मे सर्वोत्तम, दूसरे के उपसर्ग में मध्यम और तीसरे के उपयोग में व्यर्थ होती है। इसका अर्थ यह है कि सब श्वसनक ज्वरों में इसका उपयोग नहीं कर सकते हैं।

(२) विकारी जीवाणुओं का प्रकार प्रायोगिक पद्धतियों से निश्चित् किये विना इसका प्रयोग नहीं कर सकते।

(३) यह लसीका बहुत महँगी होती है।

(४) वीस वर्ष की अवस्था तक इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। वृद्ध और दुर्वल रोगियों मे इससे कोई लाभ नहीं होता।

(५) इसके प्रयोग से कभी-कभी अनवधानिक संक्षोभ (Anaphylactic shock) होने का डर रहता है। संक्षेप मे अत्यन्त तृणाणुमय और विषमय रोगियों में इससे कभी-कभी लाभ हो जाता है।

मात्रा—साधारण रोग के प्रारम्भ मे १० घ० शि० मा० शिरा द्वारा दी जाती है। फिर ६—८ घण्टे पर उतनी ही मात्रा रोगी में सुधार प्रतीत होने के समय तक वरावर दी जाती है। साधारणतया प्रथम प्रकार जनित रोग मे ५०—१०० घ० शि० मा० (५०००—१०००० एकक) मात्रा पर्याप्त होती है। तीव्र रोग मे प्रथम १० घ० शि० मा० सिरा द्वारा देने पर प्रत्येक २-४ घण्टे पर १०-२० घ० सि० मा० की मात्रा मे दी जाती है। यदि रोगी मे सुधार मालूम हो तो २४ घण्टे में १०० घ० शि० मा० तक की मात्रा दी जा सकती है। द्वितीय प्रकार जनित रोग मे साधारणतया १ लाख से अधिक एकक मात्रा की आवश्यकता

होती है। प्रतिलसिका के प्रथम प्रकार में यह अधिक लाभदायक होती है। दूसरे प्रकार में यह कम लाभदायक होती है तथा अधिक मात्रा में देने की आवश्यकता होती है। प्रथम तीन दिनों के भीतर प्रयोग करने से अधिक सफल होती है। चौथे दिन के पश्चात प्राय: व्यर्थ हो जाती है। यदि प्रयोग करने पर ४० घण्टे में रोगी में लाभ न प्रतीत हो, तो आगे उसका प्रयोग करना व्यर्थ है।

संयुक्तोपक्रम

इसमें शुल्बौपधियों के साथ पेनीसिलीन या लसीका का प्रयोग किया जा सकता है। शुल्बौपधियों के साथ पेनीसिलीन के प्रयोग के संबन्ध में लोगों का यह अनुभव है कि इससे मात्रा के अनुसार दोनों के कार्य का केवल संकलन (Addition) होता है। कार्य में गुण वृद्धि नहीं होती। लसीका के साथ शुल्बौपधियों के प्रयोग के सम्बन्ध में लोगों का यह अनुभव है कि वयोवृद्ध, दुर्बल तथा तृणाणु (बैक्टेरिया) मय रोगियों में दोनों का सयुक्त प्रयोग हितकर होता है। वास्तविक में न्यूमोनिया में परिपाटी के अनुसार शुल्बौपधियों का ही प्रयोग किया जावे। यदि उनके प्रयोग में आपत्ति हो तो सुई से या मुख द्वारा पेनीसिलीन का प्रयोग किया जाना चाहिए। दोनों का सयुक्त प्रयोग करने में कोई लाभ नहीं। कुछ तीव्र रोगों में शुल्बौपधियों के साथ लसीका प्रयुक्त कर सकते हैं।

वेदना का प्रतिकार

पार्श्वशूल (प्लूराइटिस) के सहवर्ती होने पर रोग में आक्रान्त प्रदेश में अत्यन्त वेदना होती है। वेदना-शमन का उपाय करना चिकित्सक का कर्त्तव्य है। कारण, वेदना से दुर्बलता, अनिद्रा, बेचैनी, श्वास कष्ट प्रभृति विषम लक्षण उपस्थित होते हैं। वेदना निवारण करने के लिये वक्षस्थल के ऊपर ३-६ जलौका (जोंक) लगाना चाहिये। इसके बाद गेहूं के चोकर की पुल्टिश बनाकर उसके ऊपर लेडनम् छोड़ कर प्रयोग करें। अथवा अहिफेनासव के २० बूँद पुल्टिश में मिलाकर प्रयोग करें। रात्रि में नीचे लिखी हुई व्यवस्था करें।

डोवर्स पाउडर १० ग्रेन, लाइकर एमनः एसिड ३ ड्राम, कर्पूर जल १ औंस के साथ प्रयोग करें। अहिफेन सत्त्व (मार्फाइन) के अन्त क्षेपण (इन्जेक्शन) की अपेक्षा यह प्रयोग अधिक निरापद है। क्योंकि, किसी-किसी स्थल पर मार्फाइन के इन्जेक्शन से हृदौर्बल्य उपस्थित हो जाता है। अतः वृद्ध मनुष्यों और दुर्बल व्यक्तियों मे इसका प्रयोग नहीं करें।

इन्द्रायण-फलस्वेद—इन्द्रायण के फल को जल से पीसकर गरम करके वेदना स्थान पर लेप करके ऊपर से रूई लगाकर पट्टी बाँध दें। इससे वेदना शांत हो जाती है। इसके फल के रस की ५ बूँद की मात्रा का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर कफ पतला हो जाता है और कोष्ठ भी शुद्ध हो जाता है।

पार्श्वशूल (प्लूरिसी) की वेदना शान्त करने के लिये क्लोरोफार्म का श्वास लेना चाहिये। मादकता पूर्ण रूप से उपस्थित न हो इसके लिये समभाग में क्लोरोफार्म और वायु का श्वास में बार-बार प्रयोग करें।

पार्श्वशूल मे तारपीन तैल १ तोला, तिल तैल १ तोला, कपूर ३ माशा तथा अफीम १॥ माशा मिलाकर गरम करके मालिश करें। फिर रूई की पोटली से सेंक करें अथवा थरमोजैनिक वूल का प्रयोग करें। मृग-शृङ्ग को जल में घिस लें, यदि गो-मूत्र मिले तो उसमे ही घिसकर अग्नि पर गरम करके लेप करें। इससे पार्श्व शूल और वक्षस्थल-शूल बन्द हो जाता है। राई-प्रलेप भी लाभकारी है। आवश्यकतानुसार शृङ्गी का भी प्रयोग करें।

विषगर्भ तेल, नारायण तेल दोनों मिलाकर गरम करके मालिश करें। ऊपर से धतूरे के पत्तों पर तेल लगा कर उसे गरम कर बाँध दें। इससे पार्श्वशूल तुरन्त बन्द हो जाता है।

बालू को ईख के सिरका मे अथवा काजी में सिक्त करके अग्नि मे गरम कर कपड़े पर रख कर पोटली बाँध कर स्वेद करें। इससे सब प्रकार के शूल बन्द हो जाते हैं।

सैंधवादि तेल (भै० र०) की मालिश करके फिर आक के पत्ते

से सेक करके गरम वस्त्र पहना दें। इससे संचित कफ पिघल कर निकल आता है। अलसी को दूध में पकाकर पुल्टिश बनाकर पसली और वक्षस्थल पर बाँधें, इससे भी लाभ होता है।

आर्द्रक स्वरस २ तोला, पिप्पल्यादि घृत ३ तोला, कपूर १ माशा—इनको एक में मिला कर गरम करके पार्श्व में मालिश करें। फिर अर्क (आक) के पत्तों को गरम करके बाँध दें।

एन्टी फ्लोमिन, एन्टी फ्लोजस्टीन व देशी एन्टी कंजैस्टिन का डब्बा खौलते पानी में रखें। पतला होते ही ऊनी वस्त्र या फलालैन पर फैला कर छाती पर तथा रोगानुसार दोनों पार्श्वों पर चिपका दें। इसे २४ घंटे बाद बदलें। उरोऽस्थि पर लपेट न आनी चाहिये।

श्वासकृच्छ्रोपचार

यदि श्वास लेने में अधिक कष्ट हो और इसके साथ श्वास-प्रश्वास अगम्भीर और अत्यन्त द्रुतगामी हो, मुख मण्डल नीला पड जाय, नाड़ी द्रुत गामिनी और दुर्बल प्रतीत हो, तो श्वास कृच्छ्र की प्रथम अवस्था में हृदय की दाहिनी तरफ की प्रसारित दशा को दूर करने के लिये रक्त निकालना चाहिये। रोगी की अवस्थानुसार बाहु की किसी शिरा से ४-७ औंस तक रक्त निकाला जा सकता है। इससे विषम लक्षणों में क्षणिक शान्ति मिलती है और अन्य ओषधियों द्वारा चिकित्सा करने का समय मिलता है। हृदय की क्षीणता दूर करने के लिये उत्तेजक ओषधियों का प्रयोग करें। अतः ईथर और हृत्पत्रिका (डजीटेलिस्) पार्थाद्यरिष्ट का प्रयोग करें। जिस स्थल पर हृदय की इन सब क्रियाओं के वैषम्य के साथ श्वास कृच्छ्रता उपस्थित हो, तो कुचिला का सत्त्व (स्ट्रिकनाइन) त्वचोऽधःक्षेपण रीति से $\frac{1}{60}$-$\frac{1}{32}$ ग्रेन की मात्रा में १-१ घंटा का अन्तर देकर तीन बार प्रयोग करें। विषमुष्ट्यासव (अरिष्टासव संग्रहोक्त), वसन्त कुसुमाकर तथा मकरध्वज आदि का प्रयोग करें। प्राणप्रदवायु (ऑक्सीजन) का श्वास ग्रहण करें। कोई-कोई चिकित्सक शुष्कगिलास (ड्राइकपिङ्ग) का अनुमोदन करते हैं।

अर्कमूलादि योग

आक की जड़, जीरा, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, ब्रह्मदण्डी, छोटी कटेली, पोहकर मूल—इनको सम मात्रा में लेकर गो-मूत्र में क्वाथ विधि के समान पकाकर उचित मात्रा में सुबह-शाम दें। इससे श्वास, कास और कफ की अधिकता दूर होती है।

नाड़ी सम्बन्धी श्वास में—हाइड्रोक्लोरेट आफ मार्फाइन ⅙ ग्रेन, स्प्रिट आफ ईथर ½ ड्राम, पिपरमेंट का जल १ औंस मे मिलाकर प्रयोग करें। त्वचोऽधः क्षेपण (इन्जेक्शन) रीति से अफीम सत्त्व (मार्फाइन) ⅙ ग्रेन की मात्रा में प्रयोग करें।

कोई-कोई चिकित्सक तरुण श्वसनक ज्वर की प्रथम-अवस्था मे नाड़ी सम्बन्धी आघात (शॉक) की कमी के लिये अफीम का प्रयोग करते हैं। किन्तु; इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिये। अथवा—

श्वासचिन्तामणि २ रत्ती और द्राक्षारिष्ट १ तोला मे कनकासव १६ बूँद मिला कर प्रयोग करें। अथवा—दशमूलारिष्ट और मृगमदासव दे। बृहत् कस्तूरी भैरव १ रत्ती पान के रस के साथ तथा कस्तूरी २ रत्ती मे ½ रत्ती मकरध्वज मिलाकर दे। इससे श्वास की गति ठीक हो जाती है।

प्रलाप चिकित्सा

श्वसनक ज्वर में जब ताप बढता है, तो नाडी विधान के ऊपर विष-क्रिया की अधिकता होने पर रोग की प्रथम-अवस्था मे प्रलाप होता है। इस स्थल में ज्वर के दमन करने के लिये जो चिकित्सा की जाती है, वही प्रलाप की भी चिकित्सा है। यदि नाडी विधान की उत्तेजना अथवा सार्वाङ्गिक दौर्बल्य से प्रलाप हो, तो कस्तूरी १½ रत्ती और मकरध्वज ½ रत्ती मधु के साथ ४-४ घंटे के अन्तर से दें। उन्मत्त रस का भी प्रयोग करना अच्छा है।

मृतसंजीवनी सुरा आधा तोला ३-३ घंटे के अन्तर से दें। इससे

निद्रा आ जाती है और प्रलाप शान्त हो जाता है। महातिक्त घृत और शतधौत घृत की मालिश शिर पर करें। इससे प्रलाप शान्त हो जाता है।

वरतिक्तादि योग

तगर, पित्तपापड़ा, अमलतास का गूदा, नागरमोथा, कुटकी, खस, असगंध, ब्राह्मी, मुनक्का, लालचन्दन, दशमूल और शंखपुष्पी।

(भा० प्र०)

विधि—इनको समान भाग मे लेकर क्वाथ विधि से क्वाथ बनाकर सायं-प्रातः पिलाने से बहुत शीघ्र ही प्रलाप शान्त हो जाता है। वात-कुलान्तक रस और कृष्णचतुर्मुख रस मधु के साथ देने से भी लाभ होता है।

ईख के रस का पुराना सिरका, गुलरोगन, अर्क गुलाब—इन तीनों को एक मे मिला कर उसमे वस्त्र को भिगो कर सिर पर रक्खें। बार-बार वस्त्र को तर करते रहे, जिससे सूखने न पावे। इससे प्रलाप शान्त हो जाता है।

छर्दि—यदि श्वास के साथ छर्दि होवे तो ताम्र सिन्दूर १ रत्ती, मोर पंख की भस्म १ रत्ती और पिप्पली चूर्ण ३ रत्ती मधु के साथ चटावें। अथवा—पिप्पल्यादि लौह मधु के साथ दे।

आध्मान में—वज्रक्षार १ माशा गरम जल से दें। पेट पर बोतल मे गरम पानी भरकर उसको फेरते रहे। अथवा तारपीन तैल तथा गरम पानी के वाष्प से स्वेदन करें।

अतिसार में—सिद्ध प्राणेश्वर (भै० र०) २ रत्ती की मात्रा में पान के रस के साथ दें।

कास—श्वसनक ज्वर का यह लक्षण अति कष्टदायक है। इसकी चिकित्सा करना आवश्यक है। यदि खाँसी में अधिक मात्रा में झागदार कफ निकलता हो, तो क्रान्तिक्षार ३ रत्ती की मात्रा मे मधु के साथ दें। अथवा शृंग्यादि चूर्ण, कट्फलादि चूर्ण, अथवा अष्टाङ्गावलेह दें। इससे

विशेष लाभ होता है। यदि वायु की प्रबलता से सूखी खाँसी आती हो और बहुत काल खाँसते रहने के बाद गोंद की भाँति गाढ़ा लसदार कफ निकलता हो तथा खाँसी के कारण नींद नहीं आती हो, तो बहेड़े को पुटपाक विधि से पका कर मधु के साथ दें। एलादि वटी और मरिचादि वटी चूसने के लिये तथा वृहद्वासावलेह ४ माशे की मात्रा से ३-३ घंटे का अन्तर देकर चटावें। अथवा—तालीसादि चूर्ण तथा एलादि चूर्ण (चरकोक्त) मधु के साथ चटावें। इससे कफ पतला होकर निकलता है।

कवलग्रह

सधानमक, सोंठ, मिर्च, पीपल—इनका चूर्ण बनाकर अदरक के रस में मिलाकर मुख मे भरें। कुछ देर मुख में रखकर थूक दें। इससे तालु, कंठ, पार्श्व, शिर और गले आदि मे लीन हुआ कफ भी निकल जाता है।

नारङ्ग स्वरस—पुटपाक विधि से नारङ्गी को अग्नि में पकाकर उसका रस निकाल कर गरम-गरम ही १५-१५ मिनट के बाद दें। इससे कफ निकलता है। साथ ही यह रक्तवर्द्धक तथा तर्पणकारी भी है। यह मूर्च्छा में विशेष लाभ करता है। यदि गले के क्षत से खाँसी आती हो, तो बबूल के क्वाथ का गण्डूप करें। एलादिवटी मुख में बार-बार रख कर चूसें।

बलसंरक्षण

तरुण श्वसनक ज्वर में रोगी के बल की रक्षा करना ही सबसे मुख्य कर्त्तव्य है। अधिकतर हृदय की दुर्बलता से मृत्यु हो जाती है। अत. हृदयावसाद में—वसन्तकुसुमाकर १ रत्ती, पार्थाद्यरिष्ट १ तोला के साथ ३-३ घटा के अन्तर से दें। इससे लाभ होता है। पथ्य के लिये दूध और मास-रस की व्यवस्था करें।

संजीवनी-सुरा का प्रयोग

जब नाडी की गति तीव्र, अव्यवस्थित, विरामयुक्त और द्विघातिक हो,

श्वास-प्रश्वास अतिद्रुत हो, ओठ तथा अँगुली के आगे का पर्व, त्वचा आदि नीलवर्ण का हो जाय, फुफ्फुस में शोथ, कम्प और मृदु प्रलाप हो तथा ज्वर की अधिकता में स्वेद अधिक निकले, तो उन अवस्थाओं में सुरा का प्रयोग विशेष उपकारक होता है। जब इसमें सहसा ज्वर का ह्रास हो जाय, तो ऐसी अवस्था में भी सुरा ही देनी चाहिये। ज्वर के विसर्ग में अचानक कफ अधिक निकलता है। वहां पर भार्ग्यादि क्वाथ चन्द्रामृत रस और विषमुष्ट्यासव विशेष लाभकारी है।

एलोपैथी में—हृदयावसाद में नाइट्रोग्लिसरीन व सोडियम नाइट्राइट का प्रयोग करते हैं। हृदय में उत्तेजना के लिये और बल पैदा करने के लिये ईथर और कैफीन का प्रयोग करते हैं।

श्वसनक की द्वितीयावस्था में—शरीर का वर्ण विशेष करके मुख मण्डल और नख के नीले हो जाने, त्वचा की विवर्णता, हृदय की क्षीणता, मन्यास्पन्दन, हृदय के दक्षिण तरफ का प्रसारण और रक्त का वेग अधिक होने पर टिंचर डिजिटेलिस ५ (मिनिम) और स्ट्रिकनाइन आधा ग्रेन की मात्रा में चार घंटे का अन्तर देकर व्यवहार करें। परन्तु, हृत्पत्रिका (डिजिटेलिस) का प्रयोग सावधानी से करें। यदि इसके प्रयोग का समय न हो, तो कार्बोनेट ऑफ एमोनिया सुरासार और कस्तूरीका प्रयोग करें। ओषजन का श्वास ग्रहण भी लाभकारी है।

महालक्ष्मी विलास १ गोली, शृंग भस्म १ रत्ती अदरक के रस से दें। अथवा मकरध्वज दें। यदि कफ न निकले तो मुलेठी का सत्त्व और पिप्पली चूर्ण मधु के साथ चटावें। यदि श्वास तीव्र हो तो वृहत्कस्तूरी भैरव १ रत्ती, पुटपाक से पकाया हुआ बहेड़े का चूर्ण ४ रत्ती, पिप्पली ४ रत्ती को अदरक स्वरस ४ माशे और मधु ४ माशे से ३-३ घंटे के बाद दें। यदि आध्मान हो तो बड़ी इलायची का चूर्ण १ माशा और कपूर आधा रत्ती सौंफ के अर्क के साथ दें।

शीताङ्ग सन्निपात के लक्षण होने पर मल्लसिन्दूर ४ चावल, ताल सिन्दूर ४ चावल और कस्तूरी १ रत्ती के साथ मिलाकर बगला पान के रस से ३-३ घण्टे के अन्तर से दें। यदि श्वास की गति तीव्र हो तो

मयूरपिच्छ भस्म ४ रत्ती मिलाकर दें और पीने के लिए परिस्रुत द्राक्षासव १ तोला दे तथा बालुका स्वेद करें।

उद्धूलन—भुनी भाँग १ तोला, जायफल १ तोला, भुनी कुलथी १ छटाँक।

विधि—इनको कूट-पीस-छान कर शरीर में स्वेद की अतिप्रवृत्ति में उद्धूलन करें। मूर्च्छा, बुद्धिभ्रंश, कम्प, प्रलाप, आक्षेप और निद्रानाशादि में वातकुलान्तक रस का प्रयोग करें। अथवा—बृहद्वात चिन्तामणि रस का प्रयोग करें।

वातकुलान्तक रस

कस्तूरी, शुद्ध मनःशिला, नागकेशर, बहेडे का छिलका, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक की कज्जली, जायफल, छोटी इलायची, लौंग—प्रत्येक २ तोला लेकर आधी रत्ती की गोली बनावें। तीन घंटे के पीछे एक गोली अनार के शर्बत के साथ दें। उन्मत्तावस्था, ग्रीवाशूल और शिरः कम्पादि में अधोलिखित स्वर्णादि योग दें।

स्वर्णादि योग

स्वर्ण भस्म १ माशा, रस सिन्दूर २ माशा, शुद्ध मनःशिला १ माशा, कस्तूरी १ माशा, हरिताल भस्म १ माशा—इनको घृतकुमारी के रस से घोट कर एरण्ड के पत्तों में लपेट कर ३ दिनतक धान्यराशि में पड़ा रहने दें। मात्रा ½ रत्ती शाल के पत्तों के स्वरस के साथ या त्रिफला क्वाथ और मधु के साथ दें। शिर पर सोरा और नवसादर के पानी में वस्त्र भिगो कर रक्खें। अथवा अधोलिखित दशांग लेप लगावें।

दशाङ्गलेप

सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लाल चन्दन, छोटी इलायची, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ, गन्धवाला—इन दश द्रव्यों को समभाग में ले कूट छान कर शतधौत घृत में मिला शिर पर लेप करने से शिर शूल, कम्प और उन्मत्तावस्था दूर होती है। श्वसनक ज्वर की तृतीयावस्था में फुफ्फुस के कोषों को उत्तेजित करने के लिये क्लोराइड ऑफ एमोनियम

सबसे श्रेष्ठ है। इसके साथ कार्बोनेट ऑफ एमोनिया का प्रयोग करने पर विशेष उपकार होता है। ज्वर की मुक्ति होने पर लोह घटित औषध का प्रयोग करें। रोगी की दुर्बलता में ब्राण्डी, मकरध्वज, कस्तूरी आदि का प्रयोग करें। कोई-कोई चिकित्सक अतिदौर्बल्यावस्था में उत्तेजना के लिये तारपीन का तेल व्यवहार में लाते हैं और किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि आयोडाइड ऑफ पोटाशियम श्वसनक ज्वर में विशेष लाभकारी है। युवा व्यक्तियों की अपेक्षा बालकों के लिये यह अति लाभकारक है। परन्तु, रोग के आरम्भ में इससे विशेष लाभ होता है। ज्वर व श्वासकृच्छ्रता बन्द हो जाती है तथा यह रक्ताधिक्य मे भी लाभ पहुँचाता है। परन्तु, फुस्फुसों के वायु-कोषों की विकृति मे इसका प्रयोग हानिकारक है।

निद्रानाश की चिकित्सा

सर्पगन्धा मूल (श्वेत बरुआ) का चूर्ण १० रत्ती, जल के साथ अथवा गुलाब-अर्क से रात्रि में दें। इससे रोगी को नींद आती है और प्रलाप, श्वास, कास आदि उपद्रव शान्त हो जाते हैं। कोई-कोई चिकित्सक पोटासियम आयोडाइड के साथ क्रियाजोट भी मिलाकर देते हैं। अथवा सिट्रिक एसिड या साइट्रेटस् का खाने के लिये प्रयोग करते हैं। श्वसनक ज्वर में इससे बहुत लाभ होता है। पीड़ा और शोथ में लिनिमेन्ट टरपेन्टाइन, लिनिमेन्ट कैम्फर, नारायण तेल, कर्पूर आदि का मर्दन करना चाहिये। रूई से सेकें अथवा थरमोजैनिक वूल का प्रयोग करें। यदि श्वसनक ज्वर में लालनेत्र, तन्द्रा, मोह, कास, अरुचि, प्रलाप और कासयुक्त ज्वर हो, तो अधोलिखित क्वाथ दें।

किरातादि क्वाथ

चिरायता, दशमूल, देवदारु, सोंठ, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजव, धनियां, गजपीपल—इनको मिला कर दो तोले की मात्रा में लेकर ३२ तोला जल में पकावें, जब ८ तोला जल शेष रहे तब छानकर प्रातःकाल पिलावें। इससे उपरोक्त उपद्रव शांत होते हैं।

कर्णमूलशोथ की चिकित्सा

यदि कर्णमूल में शोथ हो जाय तो प्रथम जोंक, शृङ्ग व अलाबू से रक्त निकालना चाहिये। फिर पञ्चतिक्त घृत का पान, कफ-वातघ्न लेप और वमन व कवलग्रह कराना चाहिये।

यथोक्तम्—

रक्तावसेचनैः पूर्वं सर्पिःपानैश्च तं जयेत्।
प्रदेहैः कफ-वातघ्नैर्वमनैः कवलग्रहैः॥

गैरिकादि लेप

गेरू, सोरा, शुण्ठी, वच, कायफल—इनको सम भाग लेकर काञ्जी में पीस कर गरम करके लेप करें। इससे कर्णमूल शोथ दूर हो जाता है। अथवा दशमूल पीसकर गरम करके लेप करें। अगर शोथ न बैठे तो सेमल की छाल दूध मे पीस कर लेप करें। इससे कर्णमूल पक कर फूट जायगा।

शैशवीय कूजित कासिक श्वसनक ज्वर की चिकित्सा

इसमें वक्षःस्थल के ऊपर वस्त्र लपेट कर ऊपर से अलसी की पुल्टिश का प्रयोग करें। यदि अत्यन्त वेदना हो तो अलसी के छठवें भाग के बराबर सरसों का कल्क मिला कर पुल्टिस बना पीड़ास्थल पर लगावें। बालुका स्वेद भी इसके लिये अत्युपयोगी है।

कोष्ठबद्धता होने पर मृदु रेचक औषधियाँ दें। खाँसी के लिये मधुयष्ट्यादि क्वाथ, वृहद्वासावलेह, द्राक्षारिष्ट आदि दें। शरीर की गर्मी की अपेक्षा नाड़ी की तीव्रता अधिक अनियमित और क्षीण होने पर उत्तेजक औषध दें। शिशुओं को प्रतिमास की अवस्था के अनुसार २ बूँद की मात्रा से ब्राण्डी दें। रोग के आरम्भ में यदि नींद न आए और अति प्रलाप उपस्थित हो तो कुछ गरम जल से स्नान कराना चाहिये। इसके सिवाय रात्रि में अल्प मात्रा से पल्वः एपिकाकः का प्रयोग करें। रोग की अन्तिमावस्था मे क्षीणता होने से यदि प्रलाप उपस्थित हो जाय तो उत्तेजक औषध दें। यदि बार-बार द्रुताक्षेप

उपस्थित हो और साथ-साथ ज्वर भी वढता जाय तो शीतल जल में वस्त्र भिगो कर निचोड़ डालें। फिर उस वस्त्र को वालक के शरीर पर ओढ़ा कर ऊपर से कम्वल डाल दें। इस पैकिङ्ग काल में विशेष कर उत्तेजक औषध का प्रयोग करें। यदि हृदय के दाहिने भाग के विकार से श्वासकृच्छ्रता उपस्थित हो तो आर्द्र पैकिङ्ग (वेष्टन) और वत्सनाभ (एकोनाइट) का प्रयोग लाभदायक होता है।

ज्वर के साथ-साथ यदि नाड़ी कठिन पड़ जाय तो जव तक उसका दवाव कम न हो जाय तव तक ५ वर्ष के वालक के लिये टिञ्चर एको-नाइट '५ मिनिम प्रति घंटा मे प्रयोग करें। रोग की प्रथम-अवस्था में नाइट्रेट ऑफ पोटास, नाइट्रस ईथर और लाइकर एमन् एसिटेड से विशेष उपकार होता है। विशेष चिकित्सा लक्षण और उपद्रव के अनुसार करें। नवीन कूजित कास जन्य श्वसनक ज्वर (Acute croupous Pneumonia) में आजकल न्यूमोकॉकस (Pneumococcus) वक्सीन और एन्टीन्यूमोकॉक सीरम (Anti Pneumococcus Serum) से विशेष चिकित्सा की जाती है और फल भी अच्छा मिलता है। रोग का निर्णय कर उपर्युक्त वैक्सीन या सीरम पद्धति से चिकित्सा करनी चाहियें। उसका उपयोग पूर्व में लिखा जा चुका है।

आरोग्योपक्रम व्यवस्था

इस अवस्था मे भोजन के वाद परिस्रुत द्राक्षासव १ तोला की मात्रा मे पीवें। अथवा दशमूलारिष्ट व व्राण्डी आधा तोला की मात्रा मे दो वार लें। इससे वल-वृद्धि और पाचनशक्ति में सहायता मिलती है।

पथ्यविवेचन

रोगी को शृत-शीत जल ही पीने के लिये द। अथवा पीपल वृक्ष की छाल जलाकर उसको पानी में वुझा दे फिर उस पानी को छान कर पिलावें। यदि रोगी को क्षुधा मालूम हो तो क्षीरपाक विधि से दूध पकावें। दूध में गुलवनप्सा, पीपल और सोंठ डाल देना चाहिये। फिर इस दूध को गरम-गरम ही पिलावें। दूध पीने के वाद शख-भस्म

२ रत्ती मधु के साथ चटा दें। इसी भाँति प्रतिदिन व्यवस्था करें। दूध से यदि खाँसी कुछ मालूम हो तो उसको बन्द करके परवल का यूष सिर्फ दें। ज्वर जब शान्त हो जाय तब जौ की दलिया, मूँग की दाल का यूष—इसमे जीरा, हींग, धनियाँ आदि भूनकर प्रक्षेप दें तथा भुने हुए मुनक्काओं का व्यवहार करें। यदि रोगी मास-सेवी ही तो उसे तीतर-बटेर का मांस-रस दें। इसमे चावलों का व्यवहार बहुत दिन तक न करें। परन्तु फलों का रस यथेच्छ मात्रा मे दें।

श्वासनलीय श्वसनक ज्वर

(Brancho-pneumionia)

पर्याय—ब्राङ्कोन्यूमोनिया, कैटरलन्यूमोनिया, लोव्यूलरन्यूमोनिया।

निर्वाचन

इस रोग मे अनेक प्रकार के कीटाणुओं द्वारा फेफडे की वायु प्रणालियों में, वा सूक्ष्मप्रणालियों मे सूजन हो जाती है। ज्वर, कास, श्वासकृच्छ्रता कफ का अधिक मात्रा मे निकलना आदि लक्षण होते हैं। यह तीव्र संक्रामक होता है। इस प्रकार का न्यूमोनिया अधिकतर बालकों को होता है। रोमान्तिका (मीजल्स), कुकुरखाँसी (हूपिंग कफ) आदि रोगों मे अधिकतर श्वासनलीय-श्वसनकज्वर (ब्राङ्कोन्यूमोनिया) उपसर्ग रूप से उत्पन्न होता है। इसलिये इसको गौण श्वसनकज्वर कहते हैं। इसका कारण यह है कि रोमान्तिका प्रभृति के कीटाणु, श्वासनलीय प्रणालियों और सूक्ष्मनालियों में सूजन पैदा करते हैं। बालकों के अतिरिक्त क्षीण, वृद्ध आदि व्यक्तियों मे भी यह गौण श्वासनलीय श्वसनक ज्वर होता है। और डिप्लोकोकसलैनसियोलेटस (Diplococeuslanceolataus) नामक जीवाणु फुप्फुस के एक वा अनेक अंश, अथवा साधारण रीति से फेफडे का सम्पूर्ण खण्ड आक्रान्त करके शोथ पैदा कर देता है। अत इसे आशिक श्वसनक-ज्वर (लोव्यूल न्यूमोनिया) कहते हैं। इस रोग के अधिकाश स्थलों मे

न्यूमोनिया से ग्रस्त खण्ड में जो श्वासनलियों की शाखाएँ गई हैं उनमें शोथ हो जाता है। तब इसको मुख्य श्वासनलीय श्वसनकज्वर कहते हैं।

इस रोग की प्रादाहिक क्रिया फेफड़े के पीछे की तरफ में छोटी-छोटी श्वासनलियों में होती है। अथवा—श्वासनली से नीचे में वाहर की ओर फेफड़े मे व्याप्त हो जाती है। जिस प्रकार रोग-व्याप्त श्वासनली की अन्तिम सूक्ष्मशाखाओं के आक्रान्त होने पर शोथयुक्त हो जाती हैं। उसी प्रकार फुफ्फुस के अवयव शोथग्रस्त हो जाते हैं। अत: इसको "कैशिक श्वासनलीय-प्रदाह" कहते हैं। न्यूमोनियाणु सूक्ष्मप्रणालियों के आवरक-कोष के ऊपर, और फुफ्फुस के वायुकोष्ठों के ऊपर कार्य करके रोग उत्पन्न करता है। ये कोष संख्या में वढ जाते हैं और स्खलित हो जाते हैं। इनसे वायु प्रणाली और वायुकोष्ठ भर जाते हैं। इसलिये इनको श्लैष्मिक श्वसनकज्वर (कैटरल न्यूमोनिया) कहते हैं। खण्डीय न्यूमोनिया के वर्णन में कहा गया है कि सब रक्तप्रणालियों से तन्तु संयुक्त पदार्थ निकलते हैं। किन्तु लोव्यूलर न्यूमोनिया मे वायुकोष्ठ और वायु प्रणालियों के आवरककोषों से प्रतिश्यायजनित पदार्थ निकलते हैं। साथ-साथ रसप्रणालियों से भी अधिक मात्रा में रक्ताणु मिश्रित रस निकलता है। पूर्व में वर्णित कारणों से निकले हुए पदार्थ से श्वासनली अवरुद्ध हो जाती है और अवरोधक भाग के आगे की ओर के वायुकोष सिकुड जाते हैं। अन्त में इन सब वायुकोषों मे रक्त की वृद्धि हो जाती है और अधिक परिमाण मे कोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा इन कोषों की अधिक संख्या वढ़ने से वायुकोष्ठ (एल्वियोल्स) सम्पूर्ण भर जाते हैं और जितनी सूजन वढ़ती है, उतनी ही दूषित मेदोधातु उपस्थित होता है। इसके वाद दूषित मेद शोषित हो जाता है किन्तु अधिकतर रुग्ण अंश पनीर (चीड़) के तुल्य अपकृष्टता में परिणत होकर राजयक्ष्मा का कारण हो जाता है।

शवच्छेदिक प्रदर्शन

मृत्यु के बाद शवच्छेदन करने पर देखा गया है कि फेफडे के छोटे-छोटे खण्ड यकृद्वस्था (ठोसभाव) मे परिणत हो जाते हैं और वायुकोष, स्राव मे परिणत हो जाते हैं। किन्तु रोगग्रस्त भाग काला नहीं होता है। क्रमश उसका वर्ण हल्का और पतला हो जाता है। रोगग्रस्त अंश पहले मटर की आकृति के तुल्य रहता है। फिर वढ़कर कबूतर के अण्डे के तुल्य हो जाता है और रोग पुरातन होनेपर दृडीभूत फुप्फुस की ग्रन्थियों मे अपकृष्टता लक्षित होती है तथा पनीर के तुल्य खण्ड भग्न हो जाता है।

कारण

जल में भीगना, शीत लगना, भूखा रहना, धातुक्षय होना, आदि कारणों से और श्वासनली मे शोथ के फैलने से यह रोग उद्दीप्त होता है। जिन सम्पूर्ण कारणों से श्वासनली मे शोथ उत्पन्न होता है। उन्हीं कारणों से श्वासनलीय श्वसनकज्वर उत्पन्न होना है। मुख्य कारण पूर्व में लिखा गया है, अर्थात् न्यूमोनियाणु ही है।

सम्प्राप्ति

सम्प्राप्ति का वर्णन निर्वचन में लिखा गया है। अत. यहाँ पर सक्षिप्त वर्णन किया जाता है। सूक्ष्म वायुनलियों में सूजन हो जाने से मार्ग संकुचित हो जाता है। इसलिये वायु जव उनमें से गमन करता है, तव कूजनशब्द करता है। वायु की सूक्ष्मप्रणालियों के इधर-उधर वायुकोष्ठ (Aiveali) सूजन से युक्त प्रतीत होते हैं। जव सूजन वाले अनेक वायुकोष्ठ उपस्थित हो जाते हैं, तो उनके आपस के संयोग से खाण्डिक श्वसनकज्वर प्रतीत होता है।

लक्षण

रोग के आरम्भ में श्लैष्मिक श्वासनलीयप्रदाह (कैटरल ब्रोंकाइटिस) के लक्षण प्रकाशित होते हैं। यह तीन प्रकार के क्रमों का अनुसरण करता है। (१) तरुण, (२) अप्रबल, और (३) पुरातन।

तरुणक्रम—इसमे शरीर का ताप क्रमश बढ जाता है। यहाँ तक कि

१०२-१०३ डिग्री तक ज्वर चढ़ जाता है। ज्वर चार-पांच अथवा सात दिन तक तीक्ष्ण वेग से रहकर क्रमशः उतर जाता है। कभी-कभी सहसा भी उतर जाता है। अधिकतर ज्वर शीत लगकर ही चढ़ता है। पुन: कष्टदायक और अगम्भीर श्वास-प्रश्वास और श्वास प्रश्वास मे नासिका भी फूल जाती है। श्वास-प्रश्वास समुदाय अतिरिक्त तथा पेशियों मे बलपूर्वक कार्य करता है और वक्षस्थल के प्राचीर का अधोभाग और पञ्जर के मध्य का स्थान अन्दर की ओर हट जाता है। ग्रहण किया हुआ श्वास थोडी देर रुकता है और असम्पूर्ण नि:श्वास शब्द से युक्त और दीर्घ होता है। नाड़ी की गति १००-११० तक प्रति मिनट हो जाती है। अथवा इससे भी अधिक हो जाती है। और बहुत अंश मे दब भी जाती है। इसमे पहले शुष्क, स्वल्पस्थायी, और वेदनायुक्त खाँसी आती है। फिर जल्दी ही अधिक मात्रा में श्लेष्मा और पूय मिश्रित कफ निकलता है। क्षुधा का ह्रास हो जाता है। कोष्ठ शिथिल हो जाता है तथा मूत्र अल्प और गहरा वर्णवाला होता है। शरीर मे से स्वेद अधिक निकलता है।

अप्रबल, अथवा, गौणक्रम—प्रथम दशामे आतुर रोमान्तिका, कुक्कुर खाँसी आदि रोगों से पीडित होता है। फिर क्रमशः अज्ञानावस्था मे धीरे-धीरे श्वासनलीय श्वसनकज्वर आरम्भ हो जाता है। क्रमशः ज्वर १०२-१०३ तापांश तक पहुँच जाता है। कास-श्वास की वृद्धि, नासिका फूलती हुई और पसलियाँ अन्दर की ओर धँसती हुई श्वास के समय मालूम होती है। और श्वास के साथ दोनों तरफ कूजन और मृदु-मध्य केशमर्दनवत् शब्द (क्रिपिटेशन) होता है। ज्वरावस्था साध्य-होने पर एक सप्ताह से दो सप्ताह मे क्रमशः उतर जाता है। असाध्या-वस्था मे कास-श्वासादि उपद्रव बढ जाते हैं। कभी-कभी रोगी संज्ञाहीन होकर चल बसता है। इसमें विष का प्रभाव खण्डीयश्वसनकज्वर के तुल्य होता है। यह रोग साध्य होने से मृत्यु सख्या कम देखी जाती है।

पुरातन क्रम इसके लक्षण तरुण क्रम के अनुसार ही होते हैं। परन्तु

चिरकाल तक ये लक्षण रहते हैं और क्रमशः दुर्वलता बढ़ती जाती है। कभी-कभी कफोल्वण श्वसनक ज्वर (कैटरल न्यूमोनिया) का क्रम इतनी जल्दी बढ़ जाता है, कि थोड़े दिन के मध्य में रोग सांघातिक हो जाता है। इस अवस्था में रोगी का मुखमण्डल मलीन और नीलवर्ण का हो जाता है। नील रंग के ओठ, अविल चक्षु और विह्वलता की वृद्धि हो जाती है। बाद में निस्तेजभाव बढ जाता है तथा क्रमशः अधिक मात्रा मे तन्द्रा और निन्द्रा उपस्थित हो जाती है।

क्रमश. (लाइसिस्) इस रोग की शान्ति हो सकती है। किन्तु, रोगी को अच्छे होने मे कई सप्ताह लग जाते हैं।

उरोगुहा की परीक्षा

प्रतिघात से दोनों फुफ्फुसों के ऊपर स्थान-स्थान पर घन गर्भ से युक्त शब्द सुनाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि दोनों फुफ्फुसों मे किसी-किसी स्थान पर छोटे-छोटे अंश ठोस हो जाते हैं प्राय' वे मालूम नहीं होते हैं। किन्तु प्रतिघात (टकोर करने) से फुफ्फुसों में अति गुञ्जन शब्द प्रतीत होता है और अधिकतर व्यवधान से युक्त स्वस्थ फुफ्फुस के अंश के ऊपर गह्वरिक और आध्मानिक शब्द सुनाई देता है। आकर्णक यंत्र से सुनने पर सूक्ष्मश्वास नली का श्वास-प्रश्वास सुनाई पडता है। वादको आर्द्र, श्वासनलीय (ब्रोंकीयल) श्वास-प्रश्वास सुनाई पडता है। क्षुद्रविम्वस्फोटन शब्द (सब क्रिपिटेन्ट) और अस्वाभाविक शब्द (राल्स) इसके सहवर्ती हैं। रोग के आरोग्योन्मुख होने पर राल्स शब्द बहुत तीव्र और भारी होता है। यदि श्वसनक ज्वरीय राजयक्ष्मा होता है तो उसके निर्देशक चिह्न दिखलाई पडते हैं।

रोगनिर्णय

इस रोग से सामान्य श्वासनलीय प्रतिश्याय (ब्रोंकियल कैटार) का प्रभेद दृष्टिगत होता है। श्वासनलीय प्रतिश्याय मे श्वासकृच्छ्र, ज्वर, और वक्षस्थल पर प्रतिघात करने से पूर्णगर्भ शब्द सुनाई नहीं पड़ता है तथा इसमे वृहत् विम्वस्फोटन शब्द (सबक्रिपिटेन्ट), राल्स

शब्द सुनाई नहीं पड़ते हैं। खाण्डिकश्वसनकज्वर (लोवर न्यूमोनिया) के लक्षणों का प्रभेद यह है कि, इसमे शरीर का नाप अधिक बढ़ जाता है और दोनों फुफ्फुस आक्रान्त हो जाते हैं तथा कम्प और लोहे के मुर्चा के तुल्य कफ निकलता है।

फुफ्फुस के शोथ (ईडिमा ऑफ् दी लंग्स) से इसका प्रभेद यह है कि, फुफ्फुस शोथ में कैटरेलन्यूमोनिया (कफोल्वणश्वसनक ज्वर) के तुल्य अत्यन्त तीव्र ज्वर और रोग के आरम्भ के पहले सर्दी के लक्षण वर्तमान नहीं रहते हैं।

क्रूप्स न्यूमोनिया (कूजित कासीय श्वसनक ज्वर) और श्वास-नलीय श्वसनक ज्वर का भेद नीचे लिखा जाता है।

क्रूप्सन्यूमोनिया

(१) रोग सहसा कम्प लगकर शुरू होता है।

(२) निर्दोष क्रम का अवलम्बन करके प्रायः ५—८ दिन के मध्य में सहसा ज्वर छूट जाता है।

(३) शारीरिक अवस्थाएं तीन प्रकार की दिखलाई पड़ती हैं।

(क) रक्तप्रणाली में रक्त का वेग और प्रसारण।

(ख) सब वायुकोष घने हो जाते हैं और उत्सृष्टपदार्थ भर जाते हैं।

(ग) सब वायु कोषों के मध्य मे स्थित उत्सृष्टपदार्थों में अपकर्ष से पदा हुआ परिवर्तन हो जाता है।

(४) खाँसी बनी रहती है। किन्तु विशेष कष्टदायक नहीं होती है। कभी-कभी बच्चों में खाँसी वा कफ का निकलना आदि इसमें नहीं दिखलाई देता है।

(५) कफ छिछडेदार अल्प कष्ट से निकलता है। कफ रक्त मिला हुआ ईंट के रंग के समान लाल वा अपेक्षा से भी हल्का लाल वर्ण, उज्वल-लोहित वर्ण का होता है। बालकों के इस रोग मे सब स्थल पर कफ वर्तमान नहीं रहता है।

(६) नियमित ज्वर होता है। किन्तु अचानक (क्राइसिस) एकसाथ ज्वर उतर जाता है।

(७) वक्षःस्थल के ऊपर अंगुली का प्रहार करने पर टन-टन शब्द (रेजोनेन्स) का ह्रास दिखलाई पडता है। जितनी रोग की वृद्धि होती है क्रमशः अंगुली प्रहार शब्द भी उतना ही गम्भीर होता जाता है। उर प्रेक्षण में श्वासग्रहण के समय करकरापन (क्रिपिटेशन) मालूम होता है। वाद को इसका भी लोप हो जाता है। नालीगत (ट्यूव्यूलर) श्वासनलीय (ब्रोंकियल) श्वास-प्रश्वास और ब्रोङ्कफोनी और प्रायः स्वरनली के प्रतिघात से उत्पन्न हुआ झन-झन शब्द (वोंकलफ्रेमिटस) वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

ब्रोङ्कोन्यूमोनिया

(१) प्रायः श्वासनलीयशोथ के सामान्यचिह्नों के प्रकट होने के वाद रोग धीरे-धीरे आक्रमण करता है।

(२) रोग की गति अनिर्दिष्ट और अनियमित होती है। कभी-कभी थोडे दिनों में ही रोग सांघातिक हो जाता है और कभी १५ दिन तक ठहरने के वाद धीरे-धीरे रोग के अन्त में दुर्वलता आ जाती है।

(३) सूक्ष्मश्वासनलियों मे विक्षिप्त खण्डानुखण्डों मे सूजन फैल जाता है। सव अनुखण्ड (लोव्यूल) वाद को एक मे मिलकर फुप्फुस के यथेष्ट अंश को आक्रान्त कर लेते हैं और समीप के दूसरे अश सिकुड जाते हैं। सव वायुकोषों मे जो पदाथ उत्कृष्ट होता है। वह उपत्वक सम्वन्धी (एपिथिलियल) कोष और श्वासग्रहण के वेग मे प्राप्त श्लैष्मिक श्वासनलीय प्रदाह (कैटरल ब्रोंकाइटिस्) से उत्पन्न हुआ त्यक्त पदार्थ अल्पसंख्या में रक्ताणु और अंश तन्तु (फाइव्रिन) मिश्रित और सूक्ष्मश्वासनलियाँ प्रसारण से ग्रस्त हो जाती हैं।

(४) अतिकष्टदायक खाँसी आती है और समय-समय पर खाँसी का वेग प्रबल हो जाता है।

(३) श्लेष्मा पूय से मिश्रित निकलता है।

(६) अनियमित ज्वर रहता है। किन्तु धीरे-धीरे ज्वर का ह्रास हो जाता है।

(७) श्वासनलीय प्रदाह के सहवर्ती होने पर निम्नग्राम (सोनोरस) और उच्चग्राम (सिबिलेन्ट) और शुष्क-आर्द्र अस्वाभिक शब्द (राल्स) सुनाई पड़ता है। श्वासमार्ग में सर्दी (कैटार) जनित अवरोध होने पर और संकोचन (कोलैप्स) (एम्फीसेमा) होने पर वक्ष:स्थल के संचालन में व्याघात और नीचे का पञ्जर भीतर की ओर सरकता हुआ प्रतीत होता है। व्याप्त और अगम्भीर स्थान के आक्रान्त होने पर अंगुलि प्रहार से गम्भीर शब्द सुनाई पड़ता है। आकर्णन से क्षुद्र विम्यस्फोटन (सब क्रिपिटेन्ट) और राल्स शब्द सुन पड़ते हैं।

भावीफल

शोथ का विस्तार, ज्वर की अवस्था और दैहिक अवस्था का विचार करके भावीफल का निश्चय करना चाहिये। रोगी गण्डमाला (स्क्रॉफ्यूला) और अस्थिकोमलता (रिकेटस्) से ग्रस्त होने पर अथवा अन्य पीडा से क्षीण होने पर यदि रोग जल्दी शान्त नहीं होता है तो फिर सांघातिक हो जाता है अथवा यक्ष्मा उत्पन्न हो जाता है।

चिकित्सा

रोगी को शय्या पर लेटने के लिये रोग के पूर्वरूप में ही आदेश करना चाहिये और आवश्यकता होने पर लघु, सुपाच्य, पौष्टि आहार के वास्ते फलों का रस, पिप्पलीशृत दूध आदि देवें। पीने के लिये लवंग और दालचीनी का पकाया हुआ पानी देव तथा वार-वार करवट बदलकर लेटने के लिये कहें प्रयोजन होने पर खिचाहुआ द्राक्षासव १ तोला की मात्रा में पिलावें। मल-मूत्र रोगी को भलीभाँति होना चाहिए, इसलिये वेग शान्त होने पर लघु विरेचन देना चाहिये।

इस रोग की चिकित्सा तीन उद्देश्यों को लेकर करें।

(१) श्वास मार्ग के अवरोधकारी पदार्थ निकलने में सहायता करना, इस उद्देश्य की सिद्धि होने पर फुफ्फुस प्रसारित हो जाता है। किन्तु फुफ्फुस के संकोचन का विस्तार प्रतिरुद्ध हो जाता है।

(२) कास, श्वासकृच्छ्र, ज्वर, अतिसार और मस्तिष्क की उग्रता

आदि कष्टदायक और दौर्बल्यकारक लक्षणों का दमन करना, वा उपशमन करना चाहिये।

(३) रोगी के बल की रक्षा करनी चाहिये। इसमे कास, श्वास का तीव्र वेग होता है अत: पहले उसीकी चिकित्सा करें।

कण्टकारी क्वाथ—में पीपल का चूर्ण मिला कर प्रातःकाल देवें और द्राक्षादि लेह दो घण्टे के पीछे चाटने के लिये देव। इससे कफ पतला होकर निकल जाता है।

वायु की अधिकता मे दशमूल काथ देवें और पित्त की प्रवलता मे मधुकादि काथ पिलावें। स्वर्णवङ्ग १ रत्ती, वासास्वरस १ तोला मे मधु ३ माशा मिलाकर तीन-तीन घण्टे के पीछे देना चाहिये। चन्द्रामृत रस (भै० र०) का भी प्रयोग करें। इससे सब प्रकार के कास-श्वास अच्छे हो जाते हैं। फल-रस आदि लेने के बाद द्राक्षारिष्ट देवें।

एलोपैथिक पद्धति में—ग्लिसरीन् ऑफ् कार्बोलिक एसिड, उष्ण स्प्रे, द्वारा श्वास का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार की चिकित्सा से यदि कष्टदायक-कास शांत न होवे और अस्थिरता तथा नाडी विकार वर्तमान रहे तो दिन-रात्रि के मध्य मे १-२ वार तक कुछ शर्करापाक और जल के साथ कार्बोनेट ऑफ एमोनियम तथा डोवर्स पाउडर की व्यवस्था करें। अथवा एक्सपैक्टोरेन्ट मिश्रण, अमोनियाकार्व के साथ अथवा अलग देना चाहिए। नवसादर, सोडावाई कार्व, तथा डाइफोरैटिक मिश्रण में वाइनम् एपीकाक. और सिरप टोलो मिलाकर देने से भी फायदा होता है।

स्वेदप्रयोग

वक्ष:स्थलके चारों तरफ उत्तेजक मर्दन, सेक, उपनाह (पुल्टिस), लेप, लिनिमेन्टरपेन्टाइन, लिनिमेन्ट कैम्फर, नारायण तेल, कपूर आदि का मलिश करें। इसके बाद वक्ष:स्थल को रूई से ढक दें। रोग की प्रथम दशा में यदि ज्वर अधिक हो, तो ज्वरारि अभ्रक १ रत्ती, तुलसी स्वरस १ तोला और मधु १ माशा के साथ तीन-तीन घण्टे के वाद देवें। इससे ज्वर का वेग, भ्रम, कास, श्वास शान्त होता है।

ज्वरारि-अभ्रक

अभ्रक भस्म ६ माशा, ताम्र भस्म ६ माशा, शुद्ध पारद और गन्धक की कज्जली १ तोला, शुद्ध मीठा तेलिया ६ माशा, धत्तूर बीज १ तोला, त्रिकटु मिश्रित २½ तोला।

विधि—इनको जल से मर्दन कर १-१ रत्ती की गोलियाँ बना—दोषानुसार अनुपान के साथ प्रयोग करें।

एलोपैथीमें—लाइकर: एमन: एसीड और साइट्रेट आफ् पोटासियम् के साथ एकमिनिम (बूँद) की मात्रा में टिञ्चर एकोनाइट एक, दो, तीन वा चार घण्टे के अन्तर से दे कर प्रयोग करें।

ज्वर दमन करने के लिये एन्टीपाइरिन ५—१५ ग्रेन, एस्प्रीन ५—१५ ग्रेन, फिनेस्टीन ५—१५ ग्रेन, अथवा एन्टीफाइब्रीन २—५ ग्रेन, इनमें से किसी एक औषध का प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु इन ओषधियों में यह दोष है कि हृदय को दुर्बल करती हैं, लाभ भी क्षणिक ही होता है। अत एस्प्रीन २ ग्रेन और मकरध्वज ½ रत्ती मिला कर प्रयोग करें। इससे ज्वर का वेग भी शान्त हो जाता है और भय भी नहीं रहता है। यदि ज्वर का पुनराक्रमण होता हो और रोगी क्षीण होता जा रहा हो, तो इस उद्देश्य के लिए सलफेड आफ कीनीन ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन वार प्रयोग करना चाहिये।

उष्ण स्नान—यदि बालकों को अधिक ज्वर हो तो, उष्ण स्नान की व्यवस्था करनी चाहिये। यहां तक कि प्रयोजन होने पर तीन-चार वार स्नान कराना चाहिये। किन्तु अत्यन्त दुर्बलता होने पर प्रयोग नहीं करें। कोई-कोई चिकित्सक स्नान का शीतल जल का संचाप (पैक) की व्यवस्था करते हैं। यदि ज्वर अधिक हो, तो उस समय लिसोड़ा (श्लेष्मातक) के पत्ते लेकर हाथ-पैर के तलवों में रगड़ना चाहिये। जब पत्ता मलीन हो जाये, तब दूसरा पत्ता से मर्दन करें। इस भाँति जब तक गर्मी कम न हो, तब तक करें। इससे गर्मी शान्त होकर ज्वर कम हो जाता है। कफोल्वण श्वसनक ज्वर (कैटरल न्यूमोनिया)

में रोगी के शरीर का उत्ताप समभाव से रक्खे और गृह आर्द्र रखने के लिए जलीयवाष्प का प्रयोग करें।

नीचे लिखी हुई व्यवस्था से विशेष उपकार होता है। रोगी की अवस्था के अनुसार व्यवस्था का निर्णय करना चाहिये।

ग्राह्यप्रयोग

लवङ्गादि वटी १ गोली, अभ्रक भस्म १ रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती, गुड़ूचि सत्व १ रत्ती और सितोपलादि चूर्ण १ माशा।

विधि—इनको एक में मिला कर शहद के साथ चाटना चाहिए इससे कफ निकलता है और एलादिवटी मुख में रखकर चूसे। इससे कफ पतला होकर निकल जाता है।

रोग के प्रवल होने पर टिञ्चर फेरीम्यूरियेट दश बूँद की मात्रा मे दिन में तीन वार दें। रोग की अन्तिम अवस्था में दुर्बलता होने पर पुष्टि कारक पथ्य दें। आयोडाइड ऑफ आवरन्, कुनीन और मछली का तेल (कार्डलीवर आयल) की व्यवस्था करें।

स्थानिक चिकित्सा के लिये वक्षः प्रदेश में, उपनाह (पुल्टिस), ग्लास सेक, प्रत्युग्रता साधक मर्दन प्रभृति की व्यवस्था करें।

विशेष कर इस रोग की चिकित्सा खण्डीय श्वसनक ज्वर (लोवर न्यूमोनिया) के तुल्य करनी चाहिये।

रोगी के बल की रक्षा के लिये रस सिन्दूर, कस्तूरी, परिस्रुत द्राक्षासव का प्रयोग करें और इसके उपद्रवों का दमन विशेष रूप से करना चाहिये।

यथोक्तं प्रति संस्कृत निदाने—

सक्षिप्ताऽत्र चिकित्सा तु विट्सर्गेल्प विरेचनम्
ज्वरकासप्रलापानां श्वासस्य च कृते बुधैः
निर्गुण्डीपत्रजः क्काथ. मरिचैश्चसितायुत
देयो घण्टात्रयादूर्ध्वं सदुग्धोऽत्र विशेषत
श्वासचिन्तामणेर्योग कर्तव्यश्च द्विरक्तित.
श्वासाधिक्ये तत्र क्वाथे दीयतां कनकासव
पचविंशद्बिन्दुभिस्तु कचिच्छ्वास कुठारक

ब्राह्मीतैलस्य शीर्षे हि प्रलापो मर्दनाद् व्रजेत्
प्राणवायोः समाघ्राण वाष्पस्वेदोमुखेन च।

सूक्ष्मकोषाणुमाध्यमिक श्वसनक ज्वर

पर्याय—इन्टर्स्टिशियल न्यूमोनिया, फुफ्फुसीय संकोच, (सिरोसिस-आफ् दी लंग्स)।

निर्वाचन

फुफ्फुस के तन्तुओं में दृढता और फुफ्फुस के मध्य का स्तर (स्ट्रोमर) वृद्धि से युक्त, पुरातन फुफ्फुस प्रदाह, अथवा राजयक्ष्मा के तुल्य लक्षणों से विशिष्ट, फुफ्फुस की विशिष्ट आमयिक अवस्था को सूक्ष्म कोषाणु माध्यमिक श्वसनक ज्वर (इन्टर्स्टिशियल न्यूमोनिया) कहते हैं।

कारण, संम्प्राप्ति

इसका भी मुख्य कारण न्यूमोनियाणु ही है। क्योंकि इस की उत्पति भी पुरातन फुफ्फुस प्रदाह से ही होती है। फुफ्फुस के खण्डो मे केन्द्र युक्त तन्तु (फाइब्रोन्यू क्लीयेटेड) पदार्थ बनकर फेफड़े मे आंशिक दृढता पैदा कर देता है। शवच्छेद करने पर आक्रान्त फुफ्फुस का अंग स्पर्श करने से मालूम होता है। इस पदार्थ के वर्तमान रहने से यह अग कठिन और दृढ प्रतीत होता है। यह पहले वायुकोष्ट (एलविओलाई) के प्राचीर मे बनता है। वाद को फेफड़े के अणुखण्डों के सयोजक तन्तुओं में फैल जाता है। फुफ्फुस के स्वाभाविक रञ्जक करण (पिगमेन्ट) वढ़ जाते हैं। इसीलिये ठोस भाग, लालिमा लिये हुए धमेले मालूम होते हैं। आणुवीक्षणयंत्र से परीक्षा करने पर मालूम होता है, कि केन्द्र युक्त तन्तु (फाइब्रोन्यूक्लीयेटेड) पदार्थ सब फेफडे के खण्डों मे फैले हुए हैं। किन्तु वायु कोष्ठों में कोष और वहुकेन्द्र (न्यूक्लियाई) देखे जाते हैं। श्वासनली फैल जाती है। उसमें सूजन होने पर वह फुफ्फुस के दृढ़ अंश मे फैल जाती है।

इस कारण से फुफ्फुस के तन्तु नष्ट हो जाते हैं। फुफ्फुस मे गर्त हो जाते हैं और कोई-कोई इसको संकोचन शील न्यूमोनिया वा पुरातन न्यूमोनिया, वा, सौत्रिक न्यूमोनिया अथवा क्षयकास भी कहते हैं। क्षयकास कहने

का हेतु यह है कि किसी स्थल पर भी एक फुफ्फुस मे स्थिर नहीं रहता है। शूल युक्त (कोलिक) स्वभाव वाले रोगी में प्राय. उत्पन्न होता है। मद्यपायी धूली, धुआँ आदि मे काम करने वालों मे यह रोग अधिक देखा जाता है।

लक्षण

यह रोग चिरस्थायी होता है। रोगी क्रमशः क्षीण होता जाता है। वक्षः स्थल मे खिंचाहट, वेदना-दुःख प्रतीन होता है। श्वास की कमी सामान्य परिश्रम से मालूम होती है। दुर्गंध युक्त कफ खाँसी मे निकलता है। पुरातन न्यूमोनिया के भौतिक चिह्न प्रकाशित होतें है फुफ्फुस की यह दशा होने पर श्वासनली फैल जाती है और इस रूप के होने पर यक्ष्मा से उत्पन्न हुए गर्त के अनेक भौतिक चिह्न प्रकाशित हो जाते हैं।

उरः परीक्षण

कभी-कभी रोग की प्रथम-अवस्था मे वक्ष प्राचीर विकृत हो जाता है। साधारण रीति से रोगग्रस्त की तरफ का वक्ष प्राचीर विशेष करके अक्षकास्थि के नीचे का भाग सिकुड जाता है। दीर्घस्थायी प्रश्वास, उच्चग्राम विशिष्ट (ट्यूब्यूलर) अथवा कान्दरिक शब्द (कवर्नस) और अंगुलिप्रहार से घन गर्भ से युक्त शब्द सुनाई पडता है। आकर्णन से विम्वस्फोटन शब्द (क्रिपिटेन्ट) अथवा, उच्च ग्राम युक्त शब्द (सिबिलेन्ट रॉल्स) और धड़-धड शब्द सुनाई पडता है। क्रमसे रोगी के चक्षु निकले हुए प्रतीत होते हैं। सब शिराएँ पूर्ण और मुख मण्डल विवर्ण युक्त हो जाता है। नाखून करतल की ओर टेढ़े पड जाते हैं और फुफ्फुस हृदय की ओर फैला हुआ मालूम होता है।

भावीफल

रोगी के स्वास्थ्य के ऊपर और रोग की वृद्धि के ऊपर इसका भावी फल निर्भर है। प्राय हृदय के संकोचन की क्षीणता से और कभी-कभी

इसके संग श्वासावरोध होने से अथवा फुफ्फुस मे उपद्रव होने पर इस रोग से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

इस रोग मे प्रायः कोई चिकित्सा लाभदायक नहीं होती है। विशेषकर इसकी चिकित्सा खण्डीयफुफ्फुस-प्रदाह के तुल्य ही है। कफ नि सारक, बलकारक, उष्ण-स्निग्ध गुण विशिष्ट औषध हितकारी होती है। अत दशमूलासव खिंचा हुआ, चन्द्रामृत, शृङ्गराभ्र, रससिन्दूर, कंटकार्यवलेह, संजीवनी सुरा प्रभृति दवाएँ लाभदायक होती हैं। पथ्य— वायु परिवर्तन, लघु, सुपाच्य और पुष्टिकारक द्रव्य।

आमवातिक ज्वर

(Rheumatic Fever)

पर्याय—सन्धिक ज्वर, रीमैटिक् फीवर प्रभृति।

निरुक्ति—यह रोग अधिकतर आर्द्रजल-वायु वाले प्रदेश मे होता है। युवा मनुष्यों को यह रोग अधिक होता है। कभी-कभी बालकों को भी हो जाता है। यहाँतक कि दूध पीने वाले बच्चों को भी नहीं छोडता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक होता है। तीस वर्ष की आयु से अधिक आयु वाले व्यक्तियों में कम होता है। और यह-रोग वंशज होता है। एक आक्रमण हो जाने पर दूसरी वार फिर उत्पन्न हो सकता है। इसमे सन्धियों मे शोथ, वेदना, व्रण आदि होकर तीव्र ज्वर होता है। और हृदय की रक्तधराकला मे अधिकतर शोथ हो जाता है। अत इसको आमवातिक ज्वर कहते हैं।

यथोक्तं सिद्धान्त निदाने—

व्रणशोथरुजातोदै सन्धीनापीडयन् भृशम्
ज्वरोघोर सहृद्रोग सन्धिको नाम कथ्यते।

निदान

आजतक इसके कीटाणु का विशेष निर्णय नहीं हो सका है। जहाँ तक सम्भव है कि छोटी-छोटी पंक्तियों में रहने वाले माईक्रोकाकस ही

इसके कारण हैं अतः अनेक चिकित्सक इनको पक्तिबद्ध विन्दुकाकार कीटाणु (स्ट्रैप्टो काकस्) का ही भेद स्वीकार करते हैं। यह रोग हेमन्त, शिशिर, वर्षा और वसन्त काल मे अधिक होता है।

सहायक कारण—शीत लगना, पानी मे भींगना, परिश्रम करना और सहसा उष्णता का परिवर्तन आदि इस रोग की उत्पत्ति मे सहायक कारण होते है।

सम्प्राप्ति

गले की ग्रन्थियों द्वारा कीटाणु शोणित मे प्रविष्ट हो जाते हैं और सन्धियों मे पहुँच कर वहाँ सूजन पैदा कर देते हैं। सन्धियों की श्लैष्मिकझिल्ली मे सूजन हो जाती और वह तरल पदार्थ से परिपूर्ण हो जाती है। अस्थियों के शिरों पर तरुणास्थि (कार्टीलेज) अथवा अस्थिबन्धनों मे भी सूजन उत्पन्न हो जाती है। शोणित में लैक्टिक् एसिड (क्षीराम्ल) की और तन्तु (फाइब्रिन) की वृद्धि हो जाती है। इसीलिये रक्तस्राव होने पर शोणित चिरकाल मे जमता है। इस रोग मे कीटाणु सभूत विष की शक्ति से रक्ताणुओं का अधिक विध्वंस होता है जिससे रक्तालपता (पाण्डुरोग) हो जाता है और श्वेत कणों की वृद्धि हो जाती है। अधिकतर पचाश प्रतिशत रोगियों में इसके कीटाणु हृदय की शोणितधरा कला मे सूजन पैदा कर देते हैं और यह सूजन अधिकतर हृदय के कपाटों मे ही होती है। कभी-कभी वामभाग में हृद्‌यंत्र की समीपता से परिफुफ्फुसीयकला (प्लूरा) मे भी सूजन हो जाती है। कभी-कभी फुफ्फुसों पर भी इसका आक्रमण हो जाता है।

यथोक्तं सिद्धान्त निदाने—

निदान, सम्प्राप्तिः

हेमन्ते शिशिरे वर्त्तौ बाल्ये वा यौवनेऽपि वा।
निःशङ्कशीतवर्षादि सेवयाऽपचिते बले॥

विषं जीवाणुसम्भूतं धातुषु प्रसृतं बलात् ।
वातपित्तोल्बणे देहे सन्निपातमुदीरयेत् ॥
ततश्च परितः सन्धीन् व्रणशोथोऽतिदारुणः ।
अन्तः सन्धिबलासश्च वर्द्धमानो विदह्यते ॥
अभितो हृदयं किञ्च सचयोऽपांकलापुटे ।
हृन्मध्ये हृत्कपाटे वा विकाराः व्रणशोथजाः ॥
फुफ्फुसच्छदशोथोऽपि क्वचित् सत्ये प्रजायते ।
फुफ्फुसाक्रमणं वाऽपि श्वासकासादि लक्षणम् ॥

लक्षण

रोग एक साथ आरम्भ होता है। किन्तु उसके पहले गले की ग्रन्थियों में शोथ, अंगमर्द, कण्ठदाह, ग्रीवास्तम्भ आदि लक्षण प्रकट होते हैं और अचानक जाडा लगकर ज्वर चढ जाता है। इसके साथ-साथ सन्धियों मे भी वेदना होने लगती है। फिर उन मे से किसी सन्धि मे शोथ हो जाता है और वह रक्तमय हो जाती है। इसमे असह्य वेदना होती है। सन्धि को स्पर्श करने से रोगी चिल्लाने लगता है। ज्वर शुरू से ही १०२-१०४ तक रहता है। नाडी की गति तीव्र, परिपूर्ण और मृदु होती है। जिह्वा नीली रहती है किन्तु शीघ्र ही जिह्वा के ऊपर श्वेतमल जम जाता है, क्षुधा नष्ट हो जाती है और प्यास अधिक लगती है। मलबद्धता रहती है, मूत्र थोडा-थोडा निकलता है। किन्तु मूत्र अम्लीय, गहरे रङ्ग वाला होता है। शरीर से एक प्रकार की विशेष गन्ध आने लगती है। अधिक स्वेद निकलने से शरीर पर छोटे-छोटे दाने पड जाते हैं। कुछ दिन यह अवस्था रहती है। फिर धीरे-धीरे शोथ कम हो जाता है और लालिमा भी कम हो जाती है तथा ज्वर भी कम हो जाता है। किन्तु फिर दूसरा-तीसरी सन्धि मे आक्रमण हो जाता है। जैसे-जैसे नई सन्धि पर प्रभाव होता जाता है; वैसे-वैसे ज्वर बढता जाता है। यहा तक १०६-१०७ तापांश तक बढ जाता है और सब लक्षण फिर प्रकट हो जाते हैं, किन्तु सन्धियों के रोग-

ग्रस्त होने का क्रम यह है कि प्रथम घुटना (जानु सन्धि), द्वितीय-टखना (गुल्फ-सन्धि), तृतीय-स्कन्ध-सन्धि, चतुर्थ-मणिबन्ध (पहुँचा), पञ्चम-कूर्परसन्धि, फिर विटपसन्धि और हाथ-पैरों की छोटी-छोटी सन्धियाँ आक्रान्त होती हैं। किन्तु ये सन्धियाँ एक साथ रोगग्रस्त न होकर क्रमश ही होती है। ऐसा बहुत काल देखा गया है कि रोग केवल एक ही सन्धि मे होता है। तीव्र दशा मे कभी-कभी शरीर की सब सन्धियाँ एकसाथ रोगग्रस्त हो जाती है जिससे रोगी को बहुत कष्ट होता है।

हृद्विकृति—इस रोग का हृदय के ऊपर बुरा प्रभाव पडता है। कीटाणु हृदय के कपाटों मे सूजन उत्पन्न कर देते हैं। जिससे हृदय मे मर्मर शब्द सुनाई पड़ता है। हृदयान्तरावरण मे भी शोथ हो जाता है। उस समय हृदय की विशेष रक्षा करनी चाहिये। बच्चों मे भी सन्धियों के स्पष्ट लक्षण न होते हुये भी हृदय मे विकार हो जाता है। मूत्र का घनत्व बढ जाता है। शीत हो जाने पर यूरेट नीचे बैठ जाता है।

यथोक्तं सिद्धान्ते—

लक्षणम्

ज्वर साधारण. पूर्वं सन्धि शोथस्तत क्रमात्।
भृश स्वेदो रुजास्तीव्रा मूत्राल्पत्व हृदिव्यथा॥
सान्निपातिकलिङ्गानां केषाञ्चन च दर्शनम्।
ज्वरोऽतिघोर कुत्रापि प्राणहृत् सोऽनुपक्रमात्॥
यूनां सन्धिषु बालानां हृदये च विशेषत।
विकार. प्रायशो दृश्या सन्धिकाख्ये ज्वरे ध्रुवम्॥
अथोपक्रम नैपुण्याल्लाघवाद् वा विपस्य चेत्।
जीवति द्वित्रसप्ताहात् हृद्रोगी प्रायशस्तु स॥
पुनरावर्त्तते चापि केषाञ्चित् सन्धिको ज्वर।
सन्धिशोथादियुक् तस्मात् मन्दमारोग्यमश्नुते॥
हृद्रोगायतो दुःख प्राय सर्वस्य जायते।
स श्रमश्वास शोथाद्यै· सीदन् काले जहात्यसून्॥

उपद्रव

अधिकतर हृदय के जो रोग देखे जाते हैं उनमे हृदयान्तरावरणशोथ (एन्डो कार्डाइटिस्) बढकर कपाटों के ऊपर तक पहुँच जाता है और हृदय के मध्यस्थपेशीयशोथ (माइयोकार्डाइटिस्) और हृदयबाह्या-वरणशोथ (पेरी कार्डाइटिस्) आदि उपद्रव हो जाते हैं। इसके सिवाय परिफुफ्फुसीयाकलाशोथ (प्लूरिसी), कण्ठ-सूजन, भयंकर ज्वर; शीर्षावरणशोथ आदि भी हो जाते हैं।

भावीफल

इस रोग मे हृदय का विकार हो जाने पर अशुभ फल होता है। आतुर किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा करने मे समर्थ नहीं रहता है। हृदय विस्तृत हो जाता है और धडकन शुरू हो जाती है। इस समय किसी समय पर हृदय की गति बन्द भी हो जा सकती है। इस रोग के अनेक आक्रमण होते है। यदि प्रथम आक्रमण मे हृदय मे विकार न हो, तो दूसरे आक्रमण मे तो जरूर ही हृदय मे विकार हो जाता है। जिसका फल अशुभ होता है। अति तीव्र ज्वर से भी रोगी की मृत्यु हो जाती है। किन्तु केवल इस व्याधि से मृत्यु नही होती है। कभी-कभी सन्धियों मे सूजन स्थिर हो जाती है, तब जीवन-पर्यन्त दुःख सहन करना पडता है। साधारणतया रोग का भोगकाल १-१½ मास तक है।

रोग निर्णय

पूयमेहिकसन्धिशोथ, पूयज्वर (पायमिया), तीव्रास्थिसन्धिशोथ, वातरक्त प्रभृति से इसका प्रभेद करना कठिन होता है।

पूयमेहिकसन्धिशोथ में—छोटी-छोटी सन्धियों में शोथ हो जाता है तथा पूयमेह (सुजाक) के कारण आदि इस रोग में मिलते हैं।

पूयज्वर (पायमिया) में—बहुत सन्धियों मे शोथ होकर उनमे पूय पड़ जाता है और अविराम वा सविराम ज्वर होता है तथा ठंढ लगकर ज्वर चढ़ता है।

तीव्रास्थिसन्धिशोथ में—ज्वर आमवात के समान अनियमित न होकर नियमित होता है और एक सन्धि मे ही इसका प्रभाव होता है। अत आमवातिक चिकित्सा लाभकारक नहीं होती है।

चिकित्सा

सबसे पहले चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य यह है कि रोगी को हृदय के विकार से बचाना चाहिये। इसके बाद यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि रोगी को बिल्कुल विश्राम करना चाहिये। मृदु बिछौने पर रोगी को लिटाना चाहिये और ओढने के लिये रूई की रजाई अथवा कम्बल दें। ऊनी वस्त्र पहनावें, ऊनी मोजा भी होना चाहिये जिससे रोगी का शरीर गरम रहे। सन्धियो को सेंकना चाहिये। उनको सदा उष्ण रखने का प्रयत्न करें, इसके लिये ऊन, कपास या फलालेन की पट्टी बाध दें। जब सन्धि मे कुछ शान्ति प्रतीत हो, तब विषगर्भ तेल की मालिश करें। इस रोग में विबन्ध (कब्जी) अधिक रहता है। इसलिये मृदु विरेचन दें। इसके वास्ते एरण्ड का तेल आधी छटाक दूध मे मिलाकर रात्रि मे पिलाना चाहिये और लघु, सुपाच्य तथा पौष्टिक भोजन दें। यथा दूध फलों का रस, जौ की दलिया, पपीता, जमीकन्द, मेथी, पालक आदि का शाक दें और आक्रमणावस्था में सोडा सैलिसिस ५-७ रत्ती की मात्रा में तीन घण्टे के पीछे दें जब तक पीडा कम न हो जाय। उसके बाद चौथे-पाचवे घण्टे मे देना चाहिये जब तक ज्वर न उतर जाय। क्योंकि यह हृदय को बहुत सहायता देता है। यह जितनी अधिक मात्रा में दिया जायेगा उतना ही लाभदायक है। किन्तु इसके प्रयोग से यदि विष के उपद्रव उत्पन्न हो जावे, तो इसे बन्द करके एस्प्रीन का प्रयोग करें। सोडासैलिसिलस के विषजनक प्रभाव से कर्णनाद, शिरोभ्रम और श्वास लम्बे-लम्बे आने लगते हैं। वायुजन्य के कारण क्षुधा प्रतीत होती है और प्रलाप आदि उपद्रव हो जाते हैं।

प्रतिषेध—इसमे एन्टीपायरीन और फिनैस्टीन का प्रयोग त्याज्य है।

निद्रानाशका उपाय—यदि नींद न आती हो और शरीर में अधिक

पीडा हो तो, अहिफेन का प्रयोग किया जा सकता है। इसरोग की उत्पत्ति में जीवतिक्ति (विटामिन) 'ग' का कुछ सम्बन्ध है। अतः उपर्युक्त चिकित्सा के साथ जीवतिक्ति (k) २-५ महस्रिधान्य की मात्रा में प्रति दिन देने से अधिक सफलता मिलती है। जो रोगी स्यालिस्यालेट नहीं सह सकते, उन्हें उपर्युक्त उपद्रव हो जाते हैं। उनके लिए एस्प्रिन या स्यालीसीन उनमें उतनी ही मात्रा से प्रयुक्त कर सकते हैं। इन सब औषधियों में सोडियम स्यालिस्यालेट सब से उत्तम है। उसको प्रथम काम में लाव, केवल शुद्ध सश्लिष्ट वस्तु का प्रयोग करें। यदि उसके सम्बन्ध में संदेह हो तो वनस्पतिजन्य (Natural) वस्तु का प्रयोग करें। कभी-कभी कुनीन स्यालिस्यालेट २-६ ग्रेन से भी फायदा हो जाता है।

पेनीसिलीन

पेनिसिलीन और शुल्वौषधियाँ आमवात में लाभ नहीं करतीं परन्तु पुनराक्रमण को रोकने के लिये उपयुक्त होती हैं।

वेदना नाशक उपाय

यदि पीड़ा अधिक हो तो अफिम डोवर का चूर्ण या मार्फिया का प्रयोग करें। एन्टिपायरिन या फेनासिटिन का प्रयोग न करें। ज्वर बढने पर शीत का प्रयोग करें।

बाह्योपक्रम

वेदना युक्त अंगों को सुखासन में रखने की कोशिश करें। उनको रुई में लपेट कर कुशा (स्प्लिन्ट) लगाने से अथवा पट्टी बाँधने से आराम मिलता है। यदि वेदना असह्य हो, तो लिनिएन्ट बेलाडोना या टिंचर अफिम या विण्टरग्रीन का तेल (Oil of winter Green) लगा कर रुई से लपेट कर बाँध दें।

आमवातिकमुक्तावस्था में कर्त्तव्य.

व्याधि के तीव्र चिह्न नष्ट हो जाने पर कुछ समय तक रोगी को आराम से रखने की आवश्यकता होती है। कुछ दिनों तक शारीरिक

ताप और नाडी स्वाभाविक मर्यादा पर स्थिर रहने के पश्चात् तथा यदि हृदय मे विकृति हुई हो तो हृच्छब्दों मे स्थैर्य उत्पन्न होने के कुछ दिनों के पश्चात् धीरे-धीरे उठने-बैठने, चलने-फिरने की आनुज्ञा देनी चाहिये। इस दृष्टि से साधारण ज्वर मुक्त होने के बाद १-२ मास आराम कर, खाने के लिये पौष्टिक और लघु पथ्य दें। औषधियों मे कुनीन, कुचिला, हैपोफास्फाइटस् तथा लोह भस्म इन सब का सेवन करें। परन्तु लोह का शीघ्र प्रयोग न करें। सन्धियों मे शोथ और वेदना कम होने पर मर्दन और गति शुरू करना चाहिये। इस समय नील-लोहित रश्मियों के प्रयोग से सधियों की पीडा, शोथ, कडाई इत्यादि अत्यल्प हो जाते हैं। उष्ण और रूक्ष वायु में स्थानान्तर, उष्ण वस्त्रों का उपयोग, शीत से रक्षा, विबन्ध को दूर करना, मुख परिशोधन प्रभृति का ध्यान रक्खें।

उपद्रवोन्मुक्तावस्था के लक्षण

पहले वर्णन किए हुए आहार-विहार और पथ्य का पालन उपसर्ग का पूर्ण निर्मूल होने तक करना आवश्यक है। देह का भार बढना, गर्मी का स्वाभाविक होना, पाण्डुता का विनाश होना, निद्रावस्था मे नाडी की गति कम होना और अवसादन गति का प्रकृत होना ये उपसर्ग निर्मूल होने के मुख्य चिह्न हैं। इनमे निद्रायमान रोगी की नाडीगति (Sleeping pulse Rate) और आवसादन गति ये विशेष महत्त्व के होते हैं। यह देखा गया है कि जब तक देह मे उपद्रव सक्रिय रहते हैं, तब तक जाग्रत और निद्रित अवस्था की नाडी-गति मे कोई अन्तर न होकर दोनों गतियाँ स्वाभाविक से अधिक रहती हैं। वैसे ही जब उपसर्ग सक्रिय रहता है, तब अवसादन गति प्रकृत से अधिक रहती है। अतः निद्रावस्था में नाड़ी की गति और अवसादन गति का सूक्ष्म अवलोकन करके शंका की निवृत्ति करें।

अनागतव्याधि प्रतिकार

आमवात पुनरावर्तक रोग है। अल्प मात्रा मे भी कारण मिलने पर यह रोग फिर आक्रमण कर देता है, अतः हितकारी आहार-विहार से

इसका पुनराक्रमण का प्रतिबन्ध करना चाहिये। उसके लिये दाँत, गलशुण्डिका (टांसिल), उण्डुकपुच्छ प्रभृति में कोई दोष हो तो उसको दूर करें। यदि दाँत, तुण्डिका, उण्डुक पुच्छ आदि शस्त्र कर्म से निकालने की आवश्यकता हो तो निकाल देवें। अनागतव्याधि की चिकित्सा में शुल्वौषधियाँ उपयोगी होती हैं। अतः सल्फानिलामाइड या सल्फामायाडाइन १-२ धान्य (ग्राम) की मात्रा में कुछ दिन तक प्रयोग करें इससे लाभ होता है। परन्तु दो मास के बाद रक्त परीक्षा कर लिया करें।

मस्तिष्ककम्प के निदान और लक्षण

मूर्धन्यभिहते तैस्तैः प्रतिघातैः शरीरिणाम्।
मूर्च्छा हृल्लास वमन उद्वेगश्च चलचित्तता॥
दौर्बल्य वेपथु कर्णनादश्च मलिनास्यता।
विस्फारस्तारिकायाश्च नाडी स्पन्दनमल्पशः।
शीतत्व स्याच्छरीरस्य वाग्विकारश्च जायते।
पक्षहानिस्तथा यस्मिस्तमाहुः शीर्षवेपनम्॥

चिकित्सा

मस्तिष्क वेपने कर्म मन स्थैर्यकरहितम्।
शिरस्युष्णोऽति शीतेनतोयेन सेचनं हितम्॥

विरेचनम्

मस्तिष्कवेपनध्वंसि दन्ती स्नेहेन विरेचनम्॥
मात्रा स्यादर्धविन्दुः समारभ्याविन्दु पर्यन्तम्।
अति मलविबद्धे, क्रूरकोष्ठिन्येवास्य प्रयोग श्रेयस्कर।

बलकारक योगः

सजला बललाभाय मृतसंजीवनी सुरा।
प्रयोक्तव्या यथा मात्रां बल्यमन्यच्च भेषजम्।
तथा नाड़ीगति क्षीणा स्वस्थावस्थां प्रपद्यते॥

ऊष्मस्वेदः

वह्न्युष्मणा हरेच्छैत्यमङ्गानां कुशलोभिषक् ।
हिमशिशिरशरीर जायते चेच्छरीरी ।
गुरुभिरहिमवस्त्रैश्छादयित्वा समन्तात् ॥
अथ शयननिविष्ट युक्तितोयुक्ति विज्ञ' ।
पवनसखि समुत्थैरुष्णयेदुष्णतापै. ॥

त्रिवृतादि क्वाथ

त्रिवृतां स्वर्णपत्रीं च मुस्तक मधु केवलाम् ।
हरिद्रे द्वे नागरञ्च त्रिफलांकटुरोहिणीम् ।
क्वाथयित्वा प्रयोक्तव्य शीर्षवेपनशान्तये ॥

रससिन्दूर प्रयोगः

बला क्वाथेन सिन्दूरं शीर्षवेपथु नाशनम्
वातव्याधि हर सर्वं भेषज तस्य शान्तिकृत् ।

क्रकच सन्निपात

ग्रीवावभञ्जनकज्वर

(Ceribiospinal Fever)

पर्याय—मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, गर्दनतोड बुखार, सेरिब्रोस्पाइनल फीवर, सेरिब्रोस्पाइनल मेनिञ्जायटिस् (Ceribiospinal Meningitis)

निर्वचन—मस्तिष्क और सुषुम्ना के आवरण मे शोथ और शरीर की पेशियों का जकड जाना, तथा उसमे पीडा ये लक्षण होते हैं और ज्वर, त्वचा पर विस्फोट प्रभृति भी उत्पन्न होते हैं ।

कारण

इस ज्वर का मुख्य कारण मेनिङ्गकोकस (Meningcoccus) नामक सेम के वीज की आकृतिवाला अथवा वृक्काकृतिवाला जीवाणु है ।

सहायक कारण

भारतवर्ष मे यह रोग वसन्त तथा ग्रीष्मऋतु मे प्रायः होता है। यूरोपीय देशों मे शीतकाल मे और युवावस्था मे अधिक होता है। सहायकरोग—नासिका के रोग, शीत-प्रतिश्याय तथा गले के रोग, इसकी उत्पत्ति मे सहायता देते है। बड़े-बड़े शहरों मे घनीवस्ती होने के कारण, स्त्रियों की अपेक्षा मनुष्यों मे अधिक होता है। प्राय. गरीव जनता मे अधिक होता है। अत्यधिक परिश्रम, भय, क्रोध मानसिक रोग, धातुक्षीणता आदि रोग इसके सहायक है।

प्रसरण

इसका प्रसरण रोगी के खाँसने, छीकने और थूकने पर स्वस्थ मनुष्यों पर जीवाणु द्वारा होता है। ये जीवाणु वायु के द्वारा स्वस्थ मनुष्य मे प्रविष्ट होते है। अथवा दूषित वस्तुओं के द्वारा संक्रमण होता है। परन्तु ऐसा कम होता है। इस रोग के कीटाणुवाहक कारण अन्य रोग की अपेक्षा अधिक होते है। जैसा कहा है—

आक्षिप्यन्ते यतोऽगानि सकोच यान्ति चांजसा ।
घोरोज्वरश्च सन्नाहत् सोऽयमाक्षेपक. स्मृतः ॥

निदान

वसतां सकुलेदेशे रजोधूमाकुले चिरम् ।
दरिद्राणां भवेद् भूम्ना सोऽय जीवाणु सभव ॥

सम्प्राप्ति

शरीर के किस मार्ग द्वारा जीवाणु अन्दर प्रविष्ट हुआ है यह स्पष्ट नहीं जाना जाता है। गले के अन्दर की ओर गलग्रन्थि (टान्सिल) अथवा अन्नवहाप्रणाली के छिल जाने पर अथवा यहां पर क्षत हो जाने पर अथवा नासिका की झिल्ली में वायु के द्वारा वहाँ पर अपनी स्थिति विषम लक्षण पैदा करता हुआ वाततन्तुओं द्वारा मस्तिष्क मूल मे पहुंच कर मस्तिष्क परिवेष्टनी कला मे शोथ पैदा कर देता है, तव इसको मेनिञ्जायटिस् कहते हैं। इसमे मस्तिष्क तथा सुषुम्ना नाडी

और इनके आवरण मे भी शोथ हो जाता है। अत इसको सेरिब्रोस्पाइनल फिवर कहते हैं। मस्तिष्क के भीतर पूय (Pus) उत्पन्न हो जाता है। शिर पूयशीर्ष (Pyocephalus पायोकेंफेलस) तथा जलशीर्ष (Hydro cephalus हाइड्रोकेंफेलस्) की भाति हो जाता है। मस्तिष्क की दरारों मे लसीका एकत्र हो जाती है, मस्तिष्क के कोष्ठ (Ventricles) विस्फारित हो जाते हैं। उनमे लसीका पूय एकत्र हो जाती है। मस्तिष्क मे स्थान स्थान पर रक्तस्राव होता है, फुप्फुस, यकृत् और वृक्क में रक्त की अधिकता होती है। मस्तिष्क-गति स्राव की परीक्षा करने पर उसमें भी श्वेतकण मिलते हैं। उनमे बहु केन्द्रीय श्वेतकण अधिक रहते हैं और रक्तकण तथा रोग के जीवाणु (मेनिङ्गोकस) मिलते हैं।

सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त हेतोरुदित विष हि मस्तिष्कमूले मनुजस्य यस्य।
प्रायेण नून परितः सुषुम्ना-काण्डजतच्छादि कलान्तराले॥
क्रमाद्लसीकामतिपूयतुल्या-सकृत्य दोषानखिलान् प्रकोप्य।
चेन्द्रावबद्धानामनन्तानिकाना-मुत्तेजनादाक्षि पक्ष्मकानि।
सकोच्य शाखास्त्र निहन्तिसञ्ज्ञामाक्षेपके दुर्लभ जीवितस्य॥
आक्षेपकागदस्यैषा-सम्प्राप्तिर्नैव निश्चिता।
प्रायेण च नृणां लोके जीवित दुर्लभ भवेत्॥
(न० नि०)

पूर्वरूप

तीव्राशिरोरुग् वमथु शीतकम्पौ च जतुचित्।
ग्रीवास्तम्भ क्रमाच्छीर्ष पश्चादाकृष्यते बलात्॥
ज्वरश्च वर्द्धते नित्य शाखा स्तब्धी भवन्ति च।
सकोच यान्ति चाङ्गानि दृष्टिपातश्च वक्रताम्॥
तन्द्रा प्रलापो मोहश्च आक्षेपश्चान्तरान्तरा।
लक्षणश्यावरक्तानां गात्रेषु च समुद्भव॥

सर्वेन्द्रिय प्रणाशश्च क्रमादाक्षेपकेज्वरे ।
एकाहान्म्रियते कश्चिद् त्र्यहाद्वा दारुणे गदे ॥
क्रियश्चिचतुरान् वाऽथ सप्ताहान् विजहात्यसून् ।
क्वचिच्चतुष्पात् सम्पत्तौ दिष्ट्या कश्चन जीवति ॥
(सि० नि०)

लक्षण

रोग का आक्रमण होते ही रोगी का चित्त घबड़ाने लगता है। क्षुधा नष्ट हो जाती है, पाखाना साफ नहीं होता है, कब्जी हो जाती है इस भाँति रोग का सहसा आक्रमण हो जाता है। किसी-किसी स्थल पर रोग के आरम्भ मे दोनों हाथ-पैरों मे विशेष कर जाँघों की पेशियों मे कम्पन अधिक होता है। शरीर की सब मांस-पेशियाँ कठिन हो जाती हैं और रोग के आरम्भ होने के पूर्व काल मे शिर मे भयंकर पीड़ा और दुर्बलता उपस्थित हो जाती है। अधिकतर पहले अत्यन्त ठंडक मालूम होती है, यहाँ तक कि इस शीत से रोगी की निद्रा भङ्ग हो जाती है। किसी-किसी स्थल में रोग के आरम्भ मे द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है। बाद को बार-बार वमन होता है और शिर मे अत्यन्त पीडा होती है तथा कभी-कभी इसके साथ-साथ पृष्ठ देश मे वेदना भी होती है। मस्तक पीछे की तरफ को खींच जाता है और रोगी अधिक बकने लगता है। क्षीणता भी अत्यन्त उपस्थित हो जाती है।

गात्र का उत्ताप अल्पमात्रा मे बढ जाता है, नाडी कभी तेज और कभी मन्द चलने लगती है। इस रोग मे शरीर का उत्ताप विशेष वैलक्षण्य से युक्त और अनियमित होता है। किसी-किसी स्थल मे देह के उत्ताप का क्रम और वृद्धि आन्त्रिक ज्वर के समान होती है। किन्तु ज्वर की अवस्था अधिकतर ट्यूबर्क्युलोसिस् (क्षयजन्य) ज्वर के तुल्य होती है। ज्वर अधिकतर अल्पस्थायी होता है। बाद को चिर काल तक शरीर का ताप स्वाभाविक उत्ताप की अपेक्षा भी कम हो जाता है। रोग के आक्रमण के

बाद अधिक वेग से ज्वर बढ जाता है। अनेक स्थल मे ज्वर का स्वल्पविराम और ज्वर की वृद्धि भी देखी जाती है। दैहिक ताप की इस अनियमितता से भिन्न इस रोग मे और भी एक विशेष लक्षण दिखलाई पडता है। वह यह है कि दैहिक उत्ताप के साथ नाडी की अवस्था का सामञ्जस्य नहीं रहता है। किसी-किसी स्थल मे नाडी द्रुतगामी हो जाती है और शरीर का ताप स्वाभाविक ही बना रहता है अथवा उससे भी कम हो जाता है[1]। जिस समय पीडा बढ जाती है उस समय नाड़ी धीरे-धीरे चलने लगती है, किन्तु ज्वर अत्यन्त बढ़ जाता है।

इसका साराश यह हुआ कि इस रोग म शरीर का ताप सविराम वा अविराम हो सकता है। अथवा यह कभी सविराम या कभी अविराम हो जाता है और किसी अवस्था मे स्वाभाविक ताप की अपेक्षा से भी ताप कम हो जाता है। मुख मलीन, नीलवर्ण का यातना व्यजक हो जाता है। रोगी विछौना पर इधर-उधर छटपटाता है और शिर की पीडा से अधीर हो जाता है। ग्रीवा देश की पेशियों मे सामान्य दृढता आ जाती है और शिर में पीडा सम्मुख मस्तक के पश्चात् भाग मे वर्तमान रहती है। पीठ में वेदना धीरे-धीरे अत्यन्त बढ जाती है। तीव्र वेदना चारो तरफ होती है विशेष करके हाथ-पैरों मे होती है। सन्धियों मे भी विक्षिप्त वेदना होती है। दोनों हाथ-पैर और सन्धियाँ फूल जाती है। इनका स्पर्श करने से भी वेदना होती है। इसका फल यह होता है कि त्वचा में चेतनता की अधिकता हो जाती है और प्रतिफलित क्रिया सम्पूर्ण (रिल्फेक्स) बढ़ जाती है। पृष्ठवंश की पेशियाँ कडी पड जाती हैं और अधिकतर मस्तक पीछे की तरफ खिंच जाता है और कभी-कभी पृष्ठदेश टेढा हो जाता है यहा तक कि धनुष्टंकार के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। साधारणत रात्रि मे प्रलाप उपस्थित हो

१—साधारणरूप से शरीर की गर्मी १०२ तापाश तक रहती है। बढजाने पर १०६ तक गर्मी पहुच जाती है।

जाता है। रोग के आरम्भ से ही प्रलाप मालूम होता है, अथवा वाद मे प्रकाशित होता है और किसी-किसी स्थल मे प्रलाप ऊंचा तथा प्रबल या मृदु हो जाता है, रोगी का स्वभाव चिडचिड़ा हो जाता है, कभी-कभी प्रलाप और टानिक वा क्लोनिक द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है अथवा प्रलाप और अचैतन्य अवस्था क्रम से वढ़ जाती है तथा क्षुधामान्द्य और कोष्ठकठिनता उपस्थित हो जाती है। तीसरे दिन मे रोग का अल्पविराम हो जाता है और लक्षणों की क्षणस्थायी उन्नति मालूम होती है। इसमे श्वेताणु २५०००—४०००० तक वढ जाते हैं। जिस भाति रोग वढता है उसी भॉति ष्टैविसमस् (दृष्टिवक्रता) और दोनो कनीनिकाओं की असमता नेत्रचाञ्चल्य (मिष्टगमस्), पक्ष्मशैथिल्य (टोसिस्) और दृष्टिनाडी प्रदाह (अपटिक्न्यूराईटिस्) उपस्थित हो जाता है। शिर का घूमना, कानों मे शब्द और घ्राण शक्ति का ह्रास वा लोप और आलोकातङ्क अनेक स्थल पर उपस्थित हो जाता है। गात्र का चैतन्याधिक्य और प्रलाप शान्त नहीं होता है। मुखमण्डल अथवा अन्य किसी अङ्ग मे पक्षाघाता वा पार्श्वअर्द्धाङ्ग वा अधोऽर्धाङ्ग मे पक्षाघात मालूम होता है, नाड़ी अत्यन्त तेज हो जाती है और ज्वर का विशेष उपशमन नहीं होता है। जिस स्थल मे भविष्य अच्छा होने वाला होता है, उस स्थलमे इसी क्षण से लक्षणादिकों का उपशमन होना आरम्भ हो जाता है। शिर की पीड़ा और वेदना का ह्रास हो जाता है और प्रलाप, आक्षेप क्रमश: कम हो जाते हैं और अन्त मे सावातिक अचैतन्यावस्था उपस्थित हो जाती है। अथवा रोगी आन्त्रिक ज्वर (टाईफाइड्-फीवर) की अवस्था को प्राप्त हो जाता है और उपसर्ग रूपसे निफ्राइटिस् (Niphritis वृक्कप्रदाह) उपस्थित हो जाता है। कभी-कभी रोग की प्रारम्भिक अवस्था से ही अचैतन्यता उपस्थित हो जाती है जो मृत्युकालतक स्थायी रहती है।

इस रोग मे शरीर पर जो पिडिकाऍ निकलती हैं वे सब स्थलों पर प्रकाशित नहीं होती है। साधारणत: विस्फोट (हार्पिज Harpes) और पिडिकाएं निकलती हैं। इनका वैजनीवर्ण होता है और रोमान्तिक

(Measles) की पिडिकाओं के तुल्य पिडिकाएं निकलती हैं। रोग जब विषम आकार धारण करता है, तब रोगी की मृत्यु कुछ घंटों मे अथवा दो-तीन दिन के मध्य में ही हो जाती है। अधिकतर जनपद व्यापक रूप से रोग के प्रकाशित होने पर प्रारम्भ से ही इस प्रकार का रोग वैपम्य दिखलाई देता है। रोग के आरम्भ मे अत्यन्त कम्प और शीत मालूम होता है तथा शीघ्र ही प्रलाप उपस्थित हो जाता है। शिर की पीडा मे अधिकता नहीं होती और शीघ्र ही स्टूपर (निद्रावाहुल्य) अथवा अचैतन्य (कोमा) उपस्थित हो जाता है, नाडी तेज चलने लगती है अथवा क्षीण हो जाती है। देह का स्वाभाविक ताप नहीं वढता है। त्वचा ठंढी पड जाती है। पसीना से देह तर हो जाती है और नीली पड जाती है। सार्वाङ्गिक वा स्थानिक द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है। गात्र मे जो पिडिकायें निकलती हैं, वे लालचकत्ते के तुल्य होती हैं। यहाँ तक कि एकाइमोसिस् प्रकाशित हो जाता है और पेशाव कम होता है। उसमे भी अलव्यूमेन (Albumen) और कास्टस् (casts) वर्तमान रहते हैं। जनपद व्यापक के शेप भाग मे अधिकतर रोग मृदुभाव से प्रकाशित होता है। मस्तक, पीठ और दोनों हाथ-पैरों में वेदना होती है, वमन की इच्छा, वमन, शिरोघूर्णन (घुमाना) और अत्यन्त दौर्वल्य उपस्थित हो जाता है। अनेकांश मे सब लक्षण वातिक इन्फ्लुएञ्जा (श्लेष्मकज्वर) के तुल्य होते हैं। पीडा व्यापक रूप से प्रकाशित हुई है कि नहीं, इस विपय के प्रति लक्ष्य रखने से सहज में ही रोग का निर्णय किया जा सकता है।

इस रोग का स्थायित्व कई घण्टा से लेकर दो-तीन मास तक रहता है। साधारणत' जिन स्थलों पर रोग का भावीफल अच्छा होता है, उन स्थलों मे प्रथम सप्ताह के शेप भाग में रोगी की विशेष उन्नति देखी जाती है। यह रोग पुरातन आकार धारण करके कई सप्ताह तक स्थायी रहता है। किसी-किसी जनपद व्यापकता (एपिडेमिक) में इस रोग का पुनराक्रमण हो जाता है।

उपसर्ग

इस रोग में साधारण रीति से फुफ्फुस और हृदय सम्बन्धी उपद्रव उपस्थित हो जाते हैं। विशेषकर श्वसनक ज्वर (Pneumonia) एन्डोकार्डाइटिस् (आभ्यन्तर हृदय प्रदाह) वा पेरिकार्डाइटिस् (हृदयावरणीय कला प्रदाह) उपस्थित हो जाना है। अनेक स्थलों में श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) इतनी जल्दी प्रकाशित हो जाता है कि मूल रोग कौन-सा है यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। जैसे—नाडी सम्बन्धी प्रबल लक्षणों से युक्त न्यूमोनिया अथवा न्यूमोनिया-उपसर्ग संयुक्त सेरिब्रोस्पाइनलफीवर (शिरोवर सुषुम्नाकाण्डीय ज्वर) इत्यादि। कभी-कभी उपसर्ग रूप से निफ्राइटिस् (वृक्क प्रदाह) उपस्थित हो जाता है तथा वधिरता, अन्धता, शिर में पीड़ा और स्थानिक पक्षाघात अधिकतर परवर्तीफलस्वरूप उपस्थित हो जाता है।

रोगनिर्णय

रोग व्यापक रूप से प्रकाशित होने पर सहज में निर्णय किया जा सकता है। किन्तु प्रकृत रोग निर्णय करने के लिये कटिप्रदेश में छिद्र करके (लैम्बर पङ्कचर) रस को वाहर निकाल कर परीक्षा करें। यदि रोगी की मस्तिष्क परिवेष्टनी कला मे शोथ रहता है तो निकला हुआ रस घुला हुआ मालूम होता है। इसके अतिरिक्त नियमानुकूल इस रस की परीक्षा करने पर इसमें डिप्लोकोकस इन्द्रासेल्यूलाइटिस नामक जीवाणु पाये जाते हैं।

श्वसनक ज्वरीय जीवाणुजन्य मस्तिष्कावरणीय कला शोथ (न्यूमोकोकस मेनिञ्जाइटिस) में यक्ष्मिका जन्य मस्तिष्कावरणीय कला शोथ (ट्यूवरक्यूलरमेनिञ्जाइटिस) और स्ट्रेप्टोकोकसजन्य मस्तिष्कावरणीय कला शोथ (स्ट्रेप्टोकोकसमेनिञ्जाइटिस) से इस प्रकार की मस्तिष्कावरणीय कला शोथ (मेनिञ्जाइटिस) का प्रभेद कर लेना चाहिये। श्वसनक ज्वरीय जीवाणु (न्यूमोकोकस) जन्य मस्तिष्क परिवेष्टनी कला शोथ (मेनिञ्जाइटिस) मे सव लक्षण अपेक्षा से भी मृदु प्रकाशित होते हैं।

और अधिकतर लक्षणों के प्रकाशित होने के पहले श्वसनक ज्वर उपस्थित हो जाता है। स्ट्रेप्टोकोक्स (Streptococcus) जन्य प्रकार में साधारण मेनिञ्जाइटिस के लक्षणादि प्रकट होते हैं। क्षयाणु जन्य मस्तिष्कावरण शोथ (ट्यूवर्क्यूलर मेनिञ्जाइटिस) का निर्णय करना हो तो, अन्यान्य स्थानों के ट्यूवर्कलजीवाणुजन्य यक्ष्मा (ट्यूवर्क्यूलोसिस) के निर्णय करने के लिये जिस प्रणाली का अवलम्वन किया जाता है, उसी प्रणाली का अवलम्वन करना चाहिये।

कार्निग के रोगनिर्णायक चिह्न—ये चिह्न सव प्रकार के शिरोवर सौषुम्नी परिवेष्टनी कला प्रदाह (मेनिञ्जाइटिस) मे वर्तमान रहते हैं और रोग के निर्णय करने मे प्रधान सहायक होते हैं। ये चिह्न निम्नलिखित रूप से होते हैं। रोगी को सीधा लिटा कर पैर और जानु को अलग-अलग करके समान भाव से छोड़ दें, इस अवस्था मे रोगी को उठाने वैठाने पर दोनों जानुएँ मिल जाती हैं और उसके पीछे की तरफ की पेशियाँ सिकुड़ जाती हैं जिससे पैर फैलाया नहीं जाता है यह अवस्था वाल्यावस्था के रोगी की है। यदि रोगी युवा हो और उसको पूर्वोक्त अवस्था से उठाकर वैठाया जावे और उससे दोनों पैर फैलाने की चेष्टा करावें तो संकोचक पेशियों का आकुञ्चन माल्रम होता है। इससे भिन्न यदि उदर प्रदेश के ऊपर ऊरू समकोण मे हो तो भी पूर्वोक्त चिह्न प्रतिपादित होते हैं। यदि मेनिञ्जाइटिस वर्तमान होता है, तो पाँव सम्पूर्ण रीति से फैलाया नहीं जाता है। डाक्टर पेकार्ड कहते हैं कि यह निर्णयाक चिह्न दो वर्ष से न्यून वालक में सदा वर्तमान नहीं रहत हैं।

आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड) से इसका प्रभेद यही है कि आन्त्रिक ज्वर धीरे-धीरे आरम्भ होता है और उसमे शरीर के ताप का विशेष क्रम वर्तमान रहता है। आन्त्रिक ज्वर में जो शिर मे पीडा होती है वह मेनिञ्जाइटिस की शिर की पीड़ा के तुल्य प्रवल नहीं होती है और पेशियों में दृढ़ता, वमन तथा शीघ्रता से प्रलाप, अचैतन्य आदि वर्तमान नहीं रहते हैं। मस्तिष्क ज्वर (टाइफस) का दैहिक उत्ताप

इसकी अपेक्षा अधिक और स्थायी होता है तथा उसमें पशिक दृढता, संकोच, स्पर्शज्ञान की अधिकता और इन्द्रियों का विकार लक्षित नहीं होता है। ट्यूवर्कल नामक यक्ष्मकीटाणुजन्य मस्तिष्क परिवेष्टनी कलाप्रदाह (ट्यूवर्क्यूलर मेनिञ्जाइटिस) से इसका प्रभेद यही है कि ट्यूवर्क्यूलर मेनिञ्जाइटिस (Tubercular Meningitis) जनपद मे व्यापक रूप से प्रकाशिन नहीं होता है और त्वचा मे विशेप गुटिकाएं नहीं निकलती हैं तथा पूर्ववर्ती लक्षण और रोग का क्रम चिरकाल तक स्थायी रहता है।

भावीफल

इसका भावी फल अच्छा नहीं होता। प्रतिशत ८० रोगी की मृत्यु हो जाती है। भिन्न-भिन्न जनपद व्यापकता से भावीफल विभिन्न प्रकार के लक्षित होते हैं। किसी-किसी समय में इससे मृत्यु संख्या प्रतिशत ३०-४० तक ही देखी जाती है।

शव-परीक्षा

मृत देह की परीक्षा करने पर मस्तिष्क मध्यावरण (Arachnaid) में शोथ के चिह्न दिखलाई पडते हैं। यह शोथ मस्तिष्क के तल प्रदेश में और अणुमस्तिष्क (Cerebellum) के ऊपरी प्रदेश में सब की अपेक्षा साफ-साफ मालूम होती है। रस के परिमाण की अधिकता के साथ-साथ स्थानिक शोथ-लालिमा (हाइपोरेमिया) से विस्तीर्ण पूय संयुक्त शोथ तक अलग-अलग श्रेणी के शोथ दिखलाई पड़ते हैं। सुषुम्ना नाड़ी में भी यह दशा मालूम होती है और रोगी की जीवित दशा मे जो लक्षण पाये जाते हैं वे मृत देह मे नहीं होते है। किसी-किसी स्थल पर रोगी के लक्षण प्रवल होने पर भी शवच्छेद करने पर सामान्य शोथ के चिह्न दिखलाई पडते हैं और शोथ जनित तरल पदार्थ की परीक्षा करने पर उसमें विन्दुकाकार मेनिञ्जोकाकस नामक कीटाणु पाये जाते हैं।

चिकित्सा

रोगी को एकान्त और हवादार रोशनी वाले कमरे मे रखना चाहिये; किन्तु अधिक रोशनी नहीं आनी चाहिये और वहां भीड़ भी नहीं होनी चाहिये। शान्ति और स्वच्छता आवश्यक है । कमरे मे वच, राई, सरसों, वायविडंग, नीम के पत्ते, गुग्गुल, कपूर, लोवान और गन्धक की धूप देवें। रोगी की थूक और कफ को जिस पात्र मे रखें उसमें कृमिघ्न-विलयन डालना चाहिये। जिन वस्त्रों मे श्लेष्मा-नासामल लग जावे उनको जला दें अथवा कृमिघ्न विलयनों मे पका दें और हाइड्रोजन पर ओक्साइड (रसकर्पूर) तथा क्लोरेमीनिटी आदि के द्रव गले मे छिडकना चाहिये। रोगी को कब्ज न हो इसके लिये दस्तावर ज्वरनाशक योग देवें। श्वेतवरुआ (सर्पगन्धा) का चूर्ण ४ रत्ती की मात्रा मे मधु के साथ चटावें, इससे आक्षेपक के लक्षण भी शान्त हो जाते हैं और दस्त भी आता है तथा ज्वर भी शान्त हो जाता है। यदि प्यास अधिक लगे, तो एलादिवटी अथवा जहरमोहरा खताई असली और पर्पीता, दरियाई नारियल इनको जल मे घिस कर पानी पिलावें।

कटि, ग्रीवा और शिर दर्द की शान्ति के लिये महायोगराज गुग्गुल खाने को देवें और कर्पूर मिलाकर विषगर्भ तेल की मालिश करें अथवा संभालू के पत्तों का लेप करना चाहिये। यदि पित्त के लक्षण मालूम हो, तो शिर के वाल कटाकर मस्तिष्क सुषुम्ना पर अधोलिखित लेप लगावें। जौ के सत्तू, मुलेठी, मंजीठ, गम्भारी के फल, मुनक्का, कमल के फूल, गेंदा के फूल इनको जल से पीस कर लेप करें।

अथवा तिल, अलसी, काले उडद, मूँग, गेहूं, जौ, सरसों इनको पीस कर लेप करें और खाने के लिये वसन्तमालती ½ रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती, वेदमुष्क ½ रत्ती, तालिसादि चूर्ण (शार्ङ्गधरोक्त) २ माशे मे मिलाकर तीन-तीन घंटे के पीछे देते रहे।

यदि ज्वर अधिक वेग वाला हो, तो कस्तूरी भैरव १ रत्ती, वेल के पत्तों का स्वरस २ तोला में देवें इससे शान्ति होती है। यदि कब्जी मालूम होवे तो ज्वर के वेग शान्त होने पर कालादाना का चूर्ण ३ माशा,

दूध के साथ देवे। इससे दो दस्त हो जायेंगे। अथवा एरण्ड तेल, साबुन, गरम पानी, इनकी पिचकारी दें, तो फिर भयंकर ज्वर नहीं चढ़ता है।

यदि रोगी को वेहोशी हो, तो चन्द्रोदय, कस्तूरी, प्रवाल भस्म उचित मात्रा में पान के रस से दें। इससे रोगी को चेतनता आती है और ४ घटे के वाद खिचा हुआ द्राक्षासव १ तोला पिलावें और पीने के लिये सौंफ तथा लवंग का पानी दें।

जलौका-प्रयोग—शिर पर और ग्रीवा मे जोंकें लगवाएं और वरफ रखनी चाहिये।

शीर्षाम्बु निष्कासन विधि

आतुर को एक करवट लिटाकर जंघाओं को उदर की तरफ मोड कर शिर को आगे की तरफ झुकाना चाहिये। इस भांति लेटाने से आतुर धनुष के समान टेढा हो जाता है। फिर नितम्बास्थि के जघन चूड़ा की ऊपरी शिखरों पर एक रेखा खींचे, यह लकीर चौथी कटी कशेरुकान्तर से गमन करती है। पृष्ठ वंश के वीच मे इसी लकीर पर व्रीहिमुख यंत्र को कुछ ऊपर की तरफ रखकर सुषुम्ना की तरफ प्रवेश करें। जब शस्त्र आवरणों को पार करके तरल में पहुँचेगा तव चिकित्सक का हाथ ढीला पड जावेगा। अर्थात् जिस वेग से पहले शस्त्र को दवाना पड़ता था, वैसा अव नहीं है। अव यंत्र से शलाका निकाल लेने पर इससे तरल पदार्थ वाहर निकलने लगता है। अन्य अस्त्र चिकित्सा के तुल्य इसमे स्वच्छता की सावधानी रखें। इससे प्राय, लाभ होता है।

सूचीवेध चिकित्सा

आजकल इस रोग में एन्टीमेनिङ्गोकाकस सीरम (Antimenig-coccus serum) की पिचकारी का प्रयोग पृष्ठवंश के आभ्यन्तर में (इन्ट्रास्पाइनल) करने से विशेष लाभ होता है।

कोई चिकित्सक इसमें अफीम का प्रयोग उत्तम वताते हैं। त्वचोऽध-क्षेपण (हाइपोडर्मिक) विधि से अफीम सत्त्व (मर्फाइन) $\frac{1}{8}$-$\frac{1}{4}$ ग्रेन की मात्रा में प्रयोग करते हैं। किन्तु इसका प्रयोग उत्सृजनावस्था (एक्यू-

जन) जबतक उपस्थित न हो, तभी तक करना चाहिये। इसके बाद किनाइन, आइयोडाइड आफ पोटाशियम् का प्रयोग करें।

अन्य चिकित्सक ब्रोमाइड आफ पोटासियम् और अफीम का प्रयोग करते हैं। पृष्ठवंश और ग्रीवा के ऊपर ब्लिस्टर का प्रयोग करें अथवा उष्ण परिषेक करें व वेलाडोना का लेप लगावें, इसके परवर्ती फलस्वरूप व्याधियों में हैक्सेमीन ५-१० ग्रेन, पोटैशियम ब्रोमाइड १०-२० ग्रेन और हायासीन हाइड्रोब्रोमाइड $\frac{१}{१००}$ ग्रेन का सूचीवेध (इञ्जेक्शन) करने से लाभ होता है।

पथ्य—दूध-साबूदाना, मांसरस, परवल, मूँग आदि है।

सुल्फौषधियों का प्रयोग

इस रोग मे जब से इनका उपयोग होने लगा है, तब से सब औषधियाँ पिछड गई हैं। क्योंकि ये औषधियाँ रामवाण के समान काम करती हैं। इनके पहले लसीका का उपयोग होता था और लसीका के पहले वार-वार कटिवेध। (Lumber Puncture) करके चिकित्सा की जाती थी। लसीका का उपयोग होने के पहले मृत्यु का प्रतिशत प्रमाण रोग की तीव्रता के अनुसार ३०—९०% तक था। और लसीका का उपयोग होने पर २०—४०% तक न्यून हो गया। किन्तु यदि आशङ्का उत्पन्न होते ही इसके प्रारम्भिक प्रधान लक्षण देख कर इन औषधियों का उपयोग किया जाय तो मृत्यु का प्रमाण ७—१०% तक घट जाता है

औषधियों का क्रम—इन औषधियों में सल्फा मेटाझाइन और सल्फा डायाझाइन, सबसे उत्तम प्रमाणित हुई है। इसके वाद सल्फा पायरीडीन और अन्त मे सल्फा निलामाइड आती है।

मात्रा—प्रारम्भ में ३-६ गोली देकर उसके बाद प्रति ४ घंटे पर दो-दो गोली देवें। यदि रोगी मूर्छित हो, या रोग तीव्र हो, तो पहली मात्रा सिराद्वारा (सुषुम्ना मे नहीं) देनी चाहिये। दो दिन के बाद इसको दो [illegible] दिन तक देनी चाहिये। उसके बाद

दो-चार दिन तक केवल ¾ मात्रा देनी चाहिये। ऐसे एक सप्ताह तक इसका उपयोग करें।

शुल्वौषधियों का उपयोग जब से आरम्भ हुआ तब से लसीका का प्रयोग प्रायः बन्द हो गया है। कुछ वैद्यों के मत से सुषुम्ना प्रणाली में लसीका और मुख द्वारा शुल्वौषधि का प्रयोग किसी एक के प्रयोग से अधिक सफल होता है। परन्तु सब इससे सहमत नहीं हैं।

पेनोसिलीन

शुल्वौषधियों के समान यह औषध इस रोग में सफल नहीं होती है। परन्तु जब कभी उनसे लाभ नहीं होता है तब इसका उपयोग सुषुम्ना प्रणाली में जल निकाल कर पश्चात् कर सकते हैं। मात्रा १० सहस्र एकक १० घ० शि० मा० लवण जल में विद्रुत करके। यदि रोग तीव्र हो तो दिन में दो बार दे सकते हैं।

रोगी के लिये जल की व्यवस्था—पीने के लिये शुद्ध जल, बोतल का खारा पानी, यव का पानी, ग्लूकोजयुक्त क्षारजल (ग्लूकोज ५ तोला सोडाबाई कार्ब १ तोला, जल ढाई पाव) देना चाहिये। और दूध नींबू का शर्बत, मांस रस, पेप्टोन, या सैट्रेट युक्त जल, शुक्ति जल (Albumin water). लस्सी प्रभृति तरल पदार्थ देना चाहिये। यदि निगलने की कठिनाई हो, अथवा रोगी बेहोश हो, तो नासा द्वारा उसको खाद्य-पेय देने चाहिये। रोगी के मूत्रत्याग पर विशेष ध्यान देवें। क्योंकि कभी-कभी मूत्र विबंध हो जाता है। ऐसी आवस्था में सलाई से समय-समय पर उसको निकाल लेना चाहिये। प्रासव (Spirit) और धूलन क्षोद (Dusting Power) लगाना चाहिये: और खाने से पहले तथा पीछे मुख शुद्धि पर विशेष ध्यान देवें। रोगी के आसन परिवर्तन पर भी ध्यान देवें ताकि फुफ्फुस में रक्ताधिक्य होकर कोई उपद्रव न उत्पन्न होने पावे।

सुषुम्नान्तः प्रदाह

निरुक्ति—इसमें सुषुम्नाकाण्ड के कल (सेल) युक्त अन्दर का जो

धूसर भाग होता है, उसमें सूजन हो जाती है, और कुछ ज्वर होने के बाद पक्षाघात, हस्ताघात और पादाघात हो जाता है। यह संक्रामक-स्पर्शाक्रामक दारुण रोग है।

कारण

इसका कीटाणु अति सूक्ष्म होता है। यह कीटाणु आतुर की सुपुम्ना, मस्तिष्क, अन्त्र, नासिका और कण्ठ मे वर्तमान रहता है और इनके स्रावों मे भी रहता है। यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में नासामल और कण्ठ के कफ के द्वारा फैलता है। अथवा रोगी के श्वास प्रभृति के द्वारा या संक्रामक वाहकों के द्वारा रोग का प्रसार होता है। यह रोग चार वर्ष से कम उम्र वाले बालकों को अधिक होता है। जब इसका अधिक प्रकोप होता है, तब तरुण व्यक्तियों को भी हो जाता है।

सम्प्राप्ति

नासिका के श्लेष्मा द्वारा कीटाणु नाडीतन्तुओं मे पहुँच कर सुपुम्नाकाण्ड के आगे के शिखरों तक जाता है और पहले वहाँ की शोणित केशिकाओं में सूजन उत्पन्न करते हैं, इसके बाद उनके चारों तरफ की धुमैली कलें (सेलें) भी सूज जाती हैं। रोग के अधिक बढने पर कलें मर जाती हैं और सूजन आगे के शिखरों से पीछे के शिखरों तक पहुँच जाता है। सूजन कभी ऊपर से शुरू होकर नीचे की ओर जाती है और कभी नीचे से शुरू होकर ऊपर को गमन करती हैं।

किसी-किसी स्थल पर सुषुम्नाकाण्ड के शीर्ष मे और कभी मस्तिष्क में शोथ हो जाता है। इसका विपाक काल दो से तीन दिन है और अन्तिम सीमा एक से ४ दिन तक हो सकती है।

रूप

अधिकतर सहसा रोग शुरू हो जाता है। हाथ-पैरों मे दो-तीन दिन तक पीडा होती है और ज्वर, छर्दी आदि लक्षण होते हुए भी हस्त-पादादि में पक्षाघात हो जाता है। किसी-किसी स्थल पर ज्वर

प्रभृति के साधारण होने पर भी पक्षाघात हो जाता है। सायकाल स्वस्थावस्था होती है और बारह घण्टे के बाद अर्थात सुबह पक्षाघात से रोगी पीड़ित हो जाता है। ग्रीवा और पृष्ठवंश स्तम्भित हो जाता है। रोगी को पाखाना-पेशाब चारपाई पर ही होने लगता है। ज्वर होने पर एक सप्ताह तक ज्वर रहता है किन्तु, पक्षाघात के लक्षण चिरकालस्थायी होते हैं। जिस भाँति धीरे-धीरे शिखरों की कलें (सेलें) स्वस्थ होने लगती हैं, उसी तरह पक्षाघात भी दूर होता जाता है। जो कलें मर जाती हैं उनके आधीन रहने वाली मांसपेशियों का आघात सदा के लिये हो जाता है। यदि पार्श्व शिखर की कलें (सेलें) मर जाएं, तो उनके वश में रहनेवाले अवयव जीवन-पर्यन्त लघु ही रह जाते हैं। इसका कारण यह है, कि उनको बढानेवाली कलें नष्ट हो जाती हैं। सुषुम्ना काण्ड का जो भाग ग्रस्त हो जाता है उसके अधीन मांशपेशियों का भी आघात देख पडता है। जैसे—यदि ग्रीवा के अन्त की कशेरुका और पृष्ठ के प्रथम कशेरुका की सुषुम्ना नाडी ग्रस्त हो जाती है, तो हाथों में आघात होता है। यदि अणु मस्तिष्क में सुषुम्ना शीर्ष रोग से आक्रान्त होता है, तो मस्तिष्क का आघात हो जाता है। यदि पृष्ठ की अन्तिम कशेरुका और कटि की पहली कशेरुका की सुषुम्ना नाडी आक्रान्त होती है तो पैरों मे आघात होता है।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा शिरोवर सौषुम्नज्वर के तुल्य ही की जाती है। सबसे प्रथम रोगी को लंघन करावे। ज्वर का वेग शान्त होने पर विरेचन दें। बाद को मृत्युञ्जय १ गोली, तुलसी स्वरस ३ माशे के साथ दें। बालक को उसकी वय के अनुसार मात्रा दें। किन्तु ज्वर की साधारण चिकित्सा करें। यदि पीडा अधिक हो, तो विषमुष्टी वटी का प्रयोग करें। अथवा एस्प्रीन, सोडा सैलीसलस प्रभृति दवाइयाँ देवें और शीर्षाम्बुनिष्कासन विधि का प्रयोग करें। पूर्व मे लिखित हैक्समीन का भी प्रयोग कर सकते हैं और पक्षाघात होने पर

महायोगराज गुग्गुल, मल्लचन्द्रोदय, मकरध्वज प्रभृति रसों का व्यवहार रास्नासप्तक-क्वाथ के साथ करें। अथवा हरताल भस्म १ रत्ती, अनुपान—संभालू क्वाथ दो तोला के साथ सुबह-शाम देवें। इससे अवश्य ही लाभ होता है।

पथ्य—लघु, सुपाच्य, दूध, साबूदाना, मांसरस, परवल, टमाटर, मूंग की दाल, गेहूं आदि दें और विश्राम पूरा करावें।

प्रसूत ज्वर

Puerperal Fever

परिचय—यह ज्वर स्त्रियों के बच्चा पैदा होने के बाद होता है। इसका विष गर्भाशय और आभ्यन्तरिक व बाह्य भग आदि से होकर रुधिर में मिल जाता है, जिससे प्रसूत-ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

प्रधान कारण

इस ज्वर के संक्रामक होने से इसके विष में एक प्रकार के कीटाणु पाये जाते हैं। इनका आकार बिन्दु के तुल्य होता है और ये परस्पर ऐसे मिले रहते हैं मानों बालों का गुच्छा हो। इसकी वृद्धि बहुत शीघ्र होती है। ये कीटाणु रक्त में बढ कर अपनी रक्षा करने के लिये रोगी के शरीर में एक प्रकार का विष पैदा कर शरीर की पोषक शक्तियों का नाश कर देते हैं और रक्तवाहिनी नलियों में जाकर के रक्त की गति में बाधा पहुँचाते हैं।

सहायक कारण

सन्तान पैदा होने के बाद गर्भाशय में झिल्ली (आँवल) का टुकडा वा रक्त का लोथडा रहकर सड जाता है। अथवा प्रसव के बाद भग से निकलनेवाला प्रसव जल रह कर सड़ जाता है। इससे दुर्गन्धि भी आने लगती है और गर्भाशय से बच्चा के बाहर निकलने के बाद अपने आप ही गर्भाशय बडी तेजी से सिकुडने लगता है। इससे नाड़ियों का मुख बन्द हो जाता है और ४-५ दिन मे

गर्भाशय अपनी पहली हालत मे आ जाता है। जिस समय गर्भाशय सिकुड़ने लगता है, उस समय बहुत से दूषित पदार्थ प्रसूता के रुधिर में घुस जाते हैं और रक्त को दूषित करके प्रसूतज्वर का कारण होते हैं। अथवा गर्भाशय की दीवार मे बच्चा पैदा होते समय दवाव पड़ना, और शस्त्र आदि से आघात लगना—इस चोट से विष रुधिर मे प्रवेश करता है। अथवा गर्भाशय मे बच्चा पैदा होने के पहले यदि घाव आदि होता है। अथवा सन्तान उत्पन्न होते समय दाई आदि की मूर्खता से भग बच्चे के शिर के दवाव से तनकर फट जाती है, तब विष प्रविष्ट हो जाता है।

इस रोग का विष, फटे हुए या छिले हुए मार्ग से रुधिर मे बहुत जल्दी घुस जाता है। ये जीवाणु प्राय डाक्टरों के शस्त्र आदि से भी गर्भाशय मे पहुँचते हैं और प्रसव के बाद शीतलवायु लगने या परिश्रम आदि करने से भी प्रसूत ज्वर होते देखा जाता है। चिन्ता, शोक, क्रोध आदि से भी यह ज्वर हो जाता है। उपरोक्त कारणों के सिवाय संक्रामक ज्वरों का विष लगना, जैसे—लालबुखार (स्कार्लेटफीवर), मसूरिका, मन्थरज्वर (टाइफाइडफीवर), विसर्प-ज्वर (एरीसिपेलस), रोहिणी (डिफथीरिया), औदर्यकला प्रदाह (पेरी-टोनाइटिस) आदि संक्रामक रोगों का विष यदि लग जावे, तो बहुत जल्दी यह ज्वर पैदा हो जाता है। इस रोग का विष दूसरी प्रसूता को को भी लग जाता है। पूयमेह के पीव से भी यह रोग पैदा हो जाता है। संक्रामक रोग से मरे हुए शव की जाँच करने के बाद यदि डाक्टर प्रसूता को देखने जाए तो, उसे भी यह ज्वर हो जाता है। और मिथ्या आहार-विहार करने से भी यह ज्वर हो जाता है। सूतिकागार के चारों तरफ वदबू आना और छोटे घर में बहुत-सी स्त्रियों की भीड़ जमा हो जाने से वायु दूषित होकर के ज्वर का कारण हो जाता है। सूतिकागार के पास पाखाना, पेशाव का स्थान, नाली, चहवच्चा, पनाला भी वायु को दूषित कर रोग के हेतु बन जाते हैं। मिट्टी का तेल जलाने से जो धुवाँ निकलता है वह भी इस रोग का हेतु होता है।

काल

बालक उत्पन्न होने के बाद पॉच दिन के अन्दर ही प्रसूत-ज्वर हो जाता है। रोगिणी मे प्रसूत-विष प्रविष्ट हो जाने पर तीसरे दिन ही ज्वर आ जाता है। झिल्ली को हाथ से निकालने या, यन्त्रों के व्यवहार से वा प्रसव मे देरी होने से जो ज्वर होता है वह दूसरे दिन ही होता है। किसी-किसी को तो प्रसव के पहले ही ज्वर आ जाता है, किसी-किसी को एक सप्ताह के बाद ज्वर हो जाता है। जब जरायु वा रक्त के लोथड़े प्रसव के कुछ दिन के बाद निकलते हैं तब ज्वर देर मे आता है।

लक्षण

इसका विष रुधिर मे पहुॅच कर अपना प्रभाव दिखलाता है। एक साथ जाड़ा लगकर ज्वर चढ जाता है किन्तु, कभी-कभी ज्वर चढने के बाद जाड़ा लगता है तो कभी जाडा पहले लगकर फिर ज्वर चढता है। शारीरिक ताप १०२-१०८ तापांश तक देखा जाता है और नाड़ी की गति १००-१२० अथवा १४० या १५०-१६० तक प्रति मिनट हो जाती है। श्वास जल्दी-जल्दी चलती है और मधुर गन्ध आती है। आरम्भ मे जीभ मैली और तर रहती है किन्तु, अन्त मे काली पड़ जाती है। उदर मे आध्मान हो जाता है, दवाने से सिर दर्द करता है, प्लीहा भी वढ जाती है, यहां तक कि छूने से भी पीडा होती है। मुख मलीन और ऑख अन्दर को बैठ जाती है। कभी-कभी रोगिणी बकने लगती है। किसी-किसी को अन्तिम अवस्था तक ज्ञान रहता है। कोई-कोई वेहोश हो जाती है। वमन, विरेचन काले रङ्ग के होते हैं। गर्भाशय के ऊपर दवाने से बहुत दर्द होता है। इस रोग के पहचानने का यह मुख्य लक्षण है। ज्वर के आरम्भ और विसर्गकाल में स्वेद अधिक निकलता है और बच्चा जनने के बाद एक प्रकार का रक्तमिश्रित जल पांच-सात दिन तक निकलता रहता है। इस रोग में वह रक्त मिश्रित जल कम परिमाण में निकलता है। अथवा बिल्कुल बन्द हो जाता है या

वदबूदार निकलता है। स्तनों में दूध कम हो जाता है, स्वेद अधिक निकलने से फुंसियाँ भी हो जाती हैं। अन्तिम दशा में नाड़ी की गति सूक्ष्म धागे की भाँति धीरे-धीरे चलने लगती है। उदर में आनाह और श्वास की गति विपरीत हो जाती है।

ऐसी दशा में प्रसूता एक ही सप्ताह में मृत्युलोक को प्रस्थान कर देती है। किसी-किसी में सब लक्षण साथ-साथ नहीं देखे जाते हैं। किसी-किसी में सप्तकज्वर (सेप्टीसीमिया) प्रभृति भी देखे जाते हैं।

प्रसूत-ज्वर के उपसर्गों का वर्णन

सप्तकज्वर (सेप्टीसोमिया) के लक्षण

सप्तकज्वर और प्रसूतज्वर मे वहुत थोड़ा फर्क होता है, दोनों के हेतु तुल्य ही होते हैं। सप्तकज्वर मे भी प्रसूतज्वर वाला विप देखा जाता है परन्तु, इसका विप भयानक होता है और उदर्याकलाप्रदाह (पेरीटोनाइटिस्) के पहले पैदा होकर प्रसूता की अन्तिम क्रिया कर देता है। गर्भाशय में वहुत वेदना होती है, गर्भाशय के मुख पर और आन्तरिक भाग की नली मे घाव हो जाता है। इसमे पहले ही शीत लगकर ज्वर चढ़ जाता है। फिर ज्वर की गर्मी वहुत वढ़ जाती है। अतिसार, आध्मान, प्लीहा-वृद्धि आदि होकर तीन-चार दिन में प्रसूता इस संसार से चल वसती है।

वास्क्युलरसेप्टीसीमिया

यह वच्चा पैदा होने के दो-तीन दिन वाद होता है। कभी-कभी कई दिनों के वाद होता है। इसमे रुके और सड़े हुए रुधिर के धक्के का विप रक्त में मिल जाता है। इसमे शीत लगकर ज्वर चढ़ जाता है। ज्वर की गर्मी वहुत वढ़ जाती है। नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। विपम ज्वर के लक्षण हो जाते हैं। गर्भाशय के अन्दर सूजन हो जाती है। इस व्याधि में शोथ से ज्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है।

परन्तु विष से शोथ का सम्बन्ध है। ज्वर के तीव्र होने पर जाडा मालूम होता है। इससे प्रसूता अच्छी हो जाती है अथवा पूयज्वर (पाईमियां) में इसकी हालत वदल जाती है। अगर रोग का भावी फल अच्छा होनेवाला होता है, तो शोथ अच्छा हो जाता है।

पूयज्वर (पाईमियां)

ज्वर के चिरकालतक रहने पर विष सम्पूर्ण शरीर में फैलकर शोथ पदा कर देता है और यह शोथ सन्धिस्थान की झिल्लियों मे तथा फेफडा आदि आन्तरिक अङ्गों मे भी हो जाता है। परिफुम्फुसीयाकला (प्लूरा) में भी कभी-कभी शोथ हो जाता है और हृदयाच्छादनी कला में भी सूजन हो जाती है। इसके वाद किसी-किसी स्थान में पूय भी पड जाता है।

औदर्यकलाप्रदाह (पेरीटोनाइटिस्)

इस ज्वर में उदरच्छदकला में भी सूजन हो जाती है। इसमें शीत लगकर ज्वर चढ़ जाता है और पेट में पीडा होती है, किन्तु गर्भाशय मे अत्यन्त पीडा पहले पैदा होकर सम्पूर्ण उदर मे फैल जाती है। उदर की बड़ी वड़ी नाडियों के कार्य वन्द हो जाने पर अतडियों में वायु भर जाती है इसलिये पेट भी फूल जाता है। नाडियाँ भी उभरी हुईं मालूम होती हैं। अन्तिमकाल मे उदर वहुत फूल जाता है और अधिकतर प्रसूता दोनों घुटनों को ऊपर उठाये हुए सीधी चारपाई पर पड़ी रहती है। नाड़ी की गति धीमी और वारीक हो जाती है। किन्तु कुछ देर में वहुत कमजोर हो जाती है।

इस ज्वर में नाडी की गति पर ध्यान रखें। व्याधि की सामान्य दशा में प्रसूता को कब्जी रहती है। किन्तु असाध्य दशा में पहले से ही वदबूदार और पतले दस्त आने लगते हैं। श्वास में वदबू आती है, त्वचा का रंग पीला और भूरा-सा हो जाता है। वेदना सदा नहीं रहती है सूजन के बाद मवाद पड़ जाने पर वेदना विल्कुल नहीं होती है। यहां तक कि उदर को अंगुली से दवाव तो भी वेदना मालूम नहीं होती है।

किन्तु, दस्त के रुकने पर पेट फूल जाता है और सब लक्षण प्रसूत ज्वर के तुल्य हो जाते हैं। मामूली हालत मे वेदना एक जगह पर होती है और वह दबाने से जान पडती है, पेट कम फूलता है। असाध्य दशा होने पर हाथ-पांव सीधे नहीं रहते और नाड़ी की गति भी मालूम नहीं होती तथा प्रसूता वेहोश हो जाती है। इसका फल अच्छा नहीं होता है।

सेप्टिक इन्टॉक्सिकेशन

कारण—गर्भ गिरने के बाद जब जेर (अपरा) गर्भाशय मे रह कर सडने लगती है तब यह ज्वर होता है, इसमे जीवाणु नहीं होते हैं।

लक्षण—शीत लगकर बुखार आता है। ज्वर की गर्मी १०२-१०४ या १०६ डिग्री तक हो जाती है। शिर और पेट मे पीड़ा, वमन और कभी प्रसूता बकने भी लगती है। कभी-कभी सप्तक ज्वर (सेप्टीसीमिया) के भी लक्षण दिखाई देते हैं।

विसर्पज्वर (एरिसिपेलस्)

विसर्प-ज्वर से प्रसूत-ज्वर हो जाता है और प्रसूत-ज्वर मे विसर्प-ज्वर का विष रहता है। इससे मालूम होता है कि दोनों रोगों का प्रायः एक ही कारण है। यह ज्वर बच्चा पैदा होने के बाद दूसरे या चौथे दिन प्रकट होता है। जब यह रोग भीतरी अंशों की दीवालों में शुरू होता है, तब इसके साथ-साथ पेड्डू के अन्दर की झिल्ली रोगाक्रान्त हो जाती है, इस दशा मे पेट की सूजन के लक्षण खराब होते है और विसर्प-ज्वर के साधारण लक्षण न मालूम होने पर और भयानक दशा हो जाती है और प्रासूतिक सप्तक-ज्वर (प्योर परसेप्टीसीमिया) का सन्देह हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब यह ज्वर विसर्प-ज्वर (एरिसिपेलस) के विष से पैदा होता है और उसके लक्षण बहुत कम मिलते हैं ऐसी दशा मे २० प्रतिशत प्रसूताएं अच्छी हो जाती हैं। यह ऊर्ध्वगत विसर्प ज्वर की अपेक्षा बड़ा भयानक है। इस ज्वर में बृहन्मसूरिका (स्मॉलपाक्स), लघु मसूरिका, रक्त-ज्वर, आन्त्रिक-ज्वर प्रभृति भयानक संक्रामक व्याधियाँ पदा हो जाती हैं।

पेल्विक सेल्यूलाइटिस (विटपीय कलाभ्यन्तर प्रदाह)

इसमे पेड़ू और पेड़ू की झिल्ली मे सूजन हो जाती है। इसके और पेल्विकपेरीटोनाइटिस के कारण और लक्षण प्राय: एक ही होते हैं। इस रोग का कारण संक्रामक विष ही है। यह रोग प्रसूता के सिवाय सामान्य स्त्रियों को भी होता है, परन्तु उस समय यह संक्रामक विष कारण नहीं होता है।

विटपीयोदरच्छदकलाशोथ (पेल्विकपेरीटोनाइटिस)

यह रोग प्रसव की अपेक्षा अन्यकाल मे बहुत होता है और गर्भावस्था मे कलान्तरीयप्रदाह (सेल्यूलाइटिस्) होता है तथा प्रसूता को ये दोनों रोग साथ-साथ सताते हैं। सन्तान उत्पन्न होने के बाद सात दिन मे नाड़ियों मे विष घुस कर एक बड़ा उभार उत्पन्न कर देता है इसका आकार चपटा होता है। यह सूजन गर्भाशय को एक तरफ हटा करके उसको निकम्मा कर देती है। इस रोग वाली स्त्रियों का गर्भाशय बहुत कम काम करता है। सूजन ऊपर से जाँघ तक और पेड़ू की नाडी से कई इञ्च ऊपर तक आ जाती है जो पेट पर हाथ फेरने से पता लग जाता है जब सूजन बहुत बढ़ जाती है, तब आँख से भी देखा जाता है। इसमे शुरू मे जाड़ा और ज्वर साथ-साथ आता है। ज्वर की गर्मी १०२ से १०४ डिग्री तक हो जाती है। पेट के निचले हिस्से मे किसी एक ओर दर्द होता है, इससे झिल्ली मे सूजन होना सिद्ध होता है। कुछ समय मे दर्द बन्द हो जाती है किन्तु दबाने से दर्द जान पडता है। उदरच्छदा झिल्ली मे सूजन होने पर उलटी होने लगती है। उदर मे आध्मान और मुखमलीन रहता है। मूत्राशय और अंतड़ियों तक सूजन के पहुँच जाने पर मूत्र और पुरीष त्यागते समय दर्द होता है। प्रसूता को पाँव फैलाने मे कष्ट मालूम होता है, इसलिये वह पैरों को सदा सिकोडे रहती है, ऐसी दशा मे गर्भाशय के बड़े बन्धनों मे सूजन हो जाती है। कमर तथा जाँघ मे पीड़ा होने पर रक्तवाहिनी नालियों मे तनाव समझना चाहिये। प्रात-साय ज्वर कम हो जाता है अथवा उतर जाता है, ज्वर के चढ़ने-उतरने पर

स्वेद अधिक आता है। मृदु ज्वर २-३ दिन में अच्छा हो जाता है कठिन ज्वर सात दिन से भी कभी-कभी ज्यादा रहता है और सूजन मे मवाद पड जाने पर जाडा लगकर ज्वर चढ़ता है, मवाद के न पड़ने पर दर्द कम होता है। सूजन के अच्छे होने के लिये कम से कम ४२-४८ दिन तक लगते है, फिर शोथ अच्छे हो जाने पर धीरे-धीरे गर्भाशय अपना कार्य करने लगता है। इस रोग मे पेड़ू का आवरण अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस दशा मे गर्भाशय वहाँ पर बहुत कठिनाई से रहता है।

स्तनशोथ

अज्ञानता से बच्चा पैदा होने के बाद स्तनों मे सूजन हो जाए और ज्वर की गर्मी १०० डिग्री से अधिक हो जाए, तो समझना चाहिये कि प्रसूता के शरीर मे विष का प्रवेश हो चुका है। स्तनों मे दूध कम हो जाने पर भी समझना चाहिये कि विष का प्रवेश होने से ही शोथ हुआ है। इसके सिवाय फेफड़ों और हृदय में भी सूजन कभी-कभी हो जाती है और यकृत्-शोथ, वृक्क (गुर्दे) का शोथ आदि भी देखा जाता है।

अनागत बाधा प्रतिषेध

प्रसूता के समीप किसी रोगिणी स्त्री को न आने दें। दाई खानदान की स्त्रियाँ जो कि रोहिणी (डिफ्थीरिया), रक्तज्वर, पेट की झिल्ली की सूजन (पेरीटोनाइटिस), विसर्प ज्वर आदि संक्रामक रोगों से पीड़ित हों, उनको जच्चा के पास न आने दें। धनकुन और नाइन सदा कपड़े बदल-बदल कर जच्चा के पास आवे। यदि घर मे कोई स्त्री प्रसूत ज्वर से पीडित हो, तो प्रसूता को दूसरे स्थान मे रखें। दाई आदि को अपने हाथ छूतनाशक अर्क (कांडजिलोशन) से खूब धोकर के जच्चा को छूना चाहिये।

यदि वैद्य भी छूतवाली व्याधियों की चिकित्सा करते हों, तो उन्हे भी शुद्ध होकर वस्त्र बदल कर प्रसूता को देखना चाहिये। यदि प्रसूत ज्वर की चिकित्सा करते हों, तो उस समय वैद्य को

संक्रामक रोगों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। यदि चिकित्सा करनी आवश्यक ही हो, तो छूतनाशक द्रव से हाथ-पैर धोकर वस्त्र वदल कर जावें, ऐसा प्रवन्ध करें। प्रसव की कठिनाईयों से जच्चा की शक्ति अधिक क्षीण न हो और प्रसव की वेदना से स्त्री विह्वल न होने पावे। प्रसव की यन्त्रणाओं को साफ-सुथरे यंत्रों की सहायता से दूर करें। यदि असावधानी से अनुचित समय पर यंत्रों का व्यवहार किया जायेगा, तो भग में दराज होकर कीटाणुओं के लिये रास्ता तैयार हो जावेगा, ऐसी दशा में जच्चा के देह मे विष उत्पन्न हो जाता है।

ऐसी हालत हो जाए तो कुशल शस्त्र-चिकित्सक द्वारा दराज़ को सिलवा देवें। जिससे विष और कीटाणुओं का पथ वन्द हो जावे और वच्चा पैदा हो जाने के वाद गर्भाशय भली भाँति सिकुड़ जाये ऐसा प्रवन्ध करें। इसलिये वच्चा पैदा होते हुए ही अपना एक हाथ गर्भाशय के ऊपर रख कर उसको धीरे-धीरे नीचे की ओर उतारे, ऐसा करने से गर्भाशय को सिकुड़ने मे मदद मिलती है। यदि उचित रीति से गर्भाशय सिकुडता न हो तो चन्द्रोदयरस और कस्तूरी देव, इससे गर्भाशय की शिथिलता या रुकावट दूर हो जाती है। जच्चा वरावर करवट बदलती रहे। ४८ घंटा हो जाने पर जच्चा को उठाकर पेशाव करावें। इससे गर्भाशय मे रुका हुआ रक्त का लोथड़ा और झिल्ली का टुकड़ा गिर पड़ता है।

प्रसूतागार (चरकोक्त) मे उपयुक्त उपकरण होने पर प्रसूत ज्वर पैदा होने की संभावना नहीं रहती है। प्रसूता स्त्री की सेवा जहाँ तक हो सके, उसका पति स्वयं करे अथवा सुशिक्षित दाईयों के मिलने पर उनसे सेवा करावे, तो यह ज्वर नहीं होता है।

चिकित्सा

इस ज्वर की चिकित्सा करने के पहले इस वात का ध्यान रखें, कि प्रसूत ज्वर के कीड़े प्रसूता के शरीर मे न घुसने पावें। इसलिये प्रसूत ज्वर वाली स्त्री की योनिको दिन मे तीन बार धोवें। अगर योनि से वदवूदार मवाद निकलता हो तो पारद द्रव (मर्करी लोशन—पारा १ भाग, १००० भाग जल) लेकर इसमे भर कर पहले गर्भाशय और योनि

को धोवें। इसके बाद एकगज वस्त्र को पारद-द्रव मे भिगो कर सुखावें फिर उसके टुकड़े पर आइयोडो फार्म छिडक कर योनि मे रखें।

योनि को धोने के लिये चतुर दाई होनी चाहिये। क्योंकि थोडी-सी भी भूल हो जाने पर कीड़े गर्भाशय मे पहुच जाते हैं। यदि यह कार्य मुलायमतसे नहीं किया जाता है, तो गर्भाशय की सूजी हुई झिल्ली हिलकर उसमे क्षत होने की संभावना रहती है। यदि गर्भाशय के अन्दर जेर का टुकड़ा रह गया हो, सड़ा गर्भ निकाला गया हो और गर्भाशय मे हाथ डालकर प्रसव कार्य कराया गया हो, वा दुर्गन्धित पूय निकलता हो अथवा प्रसव के बाद दो-तीन दिन वह कर रुधिर स्राव रुक गया हो, तो योनि को दिन में तीन वार वरावर धोना चाहिये। क्योंकि पारद-द्रव से धोने पर प्रविष्ट हुए कीड़े भी मर जाते हैं। यह कार्य ज्वर पैदा होते ही करना चाहिये क्योंकि एक सप्ताह के बाद धोने से कुछ लाभ नहीं होता है। यदि गर्भाशय के अन्दर जेर का टुकडा रहने के कारण वार-वार अधिक मात्रा मे रक्त निकलता हो तो जॉच करने के लिये दाईको वार-वार अंगुलि नहीं डालने दे, पेट को दवाना भी निषेध है। सूजे हुए स्थान को आराम देवे।

योनि के प्रक्षालनार्थ—न्यग्रोधादि क्वाथ (सुश्रुतोक्त) मे फिटकिरी का चूर्ण डालकर योनि को धोने से विषके संक्रमण का भय नहीं रहता है। अथवा कार्वोलिक एसिड् के क्षीणद्रव से (प्रतिशत दो भाग) अथवा क्लोराइड आफ मर्करी वा टिञ्चर आयोडीन के क्षीणद्रव से जरायु और योनिपथ को विशेषरूप मे दिन मे दो वार धावे।

दुर्वलता नाशक उपाय

रोगी अत्यन्त दुर्वल हो, नाड़ी क्षीण हो अथवा तीव्र गति से युक्त नाड़ी सूत्र के समान प्रतीत हो और स्वेद की अधिक प्रवृत्ति हो तो उत्तेजक औषध की आवश्यकता होती है। इसके लिये परिस्रुत द्राक्षासव २-२ घण्टे के अन्तर से १-१ तोला की मात्रा मे देवें। अथवा ब्राण्डी

देवें। किसी-किसी स्थान पर अहोरात्रि में ८-१० औंस तक ब्राण्डी की आवश्यकता होती है।

इस रोग में शारीरिक दुर्बलता उत्पन्न न कर रक्तसंचालन के वेग को हलका करने के लिये और शरीर की गर्मी को कम करने के लिये औषध-प्रयोग करना आवश्यक है। अत विषमुष्ट्यासव (आसवारिष्ट संग्रहोक्त) ५ बूँद, वनप्सा के अर्क में ३-३ घण्टे के अन्तर से देवें। अवसादक औषधियों के प्रयोगकाल में विशेष सावधान रहना चाहिये। रोगी की अवस्था देख कर विवेचन करें। यदि बहुत जल्दी ही अत्यन्त दुर्बलता, मृत्रके तुल्य, अनियमित और क्षीणता युक्त नाडी हो जाए और हस्त-पाद शीतल तथा अति स्वेद की प्रवृत्ति हो, तो अवसादकर औषधों का प्रयोग न करें।

शरीर की ताप को कम करने के लिये विविध औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं। १०-१५ मिनिम की मात्रा में हाइड्रोब्रोमिक एसिड के सहयोग से १०-३० ग्रेन की मात्रा में किनाइन प्रात:-सायं काल देवें। उपर्युक्त मात्रा की व्यवस्था में रोगी की दुर्बलता में कमी करना चाहिए। इसके सिवाय सैलिसिलिक एसिड वा सैलिसिलेट ऑफ् सोडा १०-२० ग्रेन की मात्रा में प्रयोग करने पर ज्वरघ्न होकर उपकार करता है। इसके अतिरिक्त ऐन्टीपाइरिन आदि का भी व्यवहार होता है। परन्तु इनका फल स्थायी नहीं होता है और इसमें दोष यह है कि रोगिणी की दुर्बलता बढ़ जाती है। अत. आयुर्वेदीय प्रयोग ही श्रेष्ठ हैं—ज्वरारि अभ्रक १ रत्ती की मात्रा में शर्बत वनप्सा के साथ देवें और प्रात:-सायं दशमूलारिष्ट खिंचा हुआ १ तोला देवें। मालिश के लिये लाक्षादि तेल अच्छा है।

ज्वर की गर्मी को शान्त करने के लिये लिसोडा के पत्ते हाथ-पैरों पर रगडना चाहिये। पत्ते रगडते-रगडते जब काले पडने लगे तब फेंक दें. इससे गर्मी शान्त हो जाती है।

रोग के आरम्भ में एक-दो पाखाना लाने वाला मृदुविरेचनकारी योग देवें।

आध्मान—अत्यन्त पेट फूलजाने पर हिंग्वादिवटी २ गोली, पिप्पल्यासव २ तोला के साथ देवें।

दूषित रक्त होनेपर—गन्धक के योग, शारिवाद्यासव के साथ देवें।

पाश्चात्य वैद्यक में—टिञ्चर आफ् पर क्लोराइड् आफ् आयरन १५-२० बूँद की मात्रा मे ४-४ घण्टे के अन्तर से प्रयोग करते हैं, इससे लाभ भी होता है।

अस्थिरता, उग्रता और अनिद्रा वर्तमान होने पर अहिफेन घटित प्रयोगों का व्यवहार करें।

संक्रामक सूतिका ज्वर में सूचिकाभरण विधि के द्वारा एन्टीष्ट्रेप्टोकॉकस सीरम् (Antistreptococcus Serum) का त्वचोऽधः क्षेपण (इञ्जेक्शन) दें। किसी-किसी स्थल पर इससे आशानुरूप फल मिलता है। किसी-किसी आचार्य का मत है कि इस सीरम की अपेक्षा पोल्वीलेन्ट एन्टीस्ट्रेप्टोकॉकस सीरम् (Polyvalent Antistreptococcus Serum) अधिक फलप्रद है।

उदर्याकला शोथ (पेरीटोनाइटिस) की चिकित्सा—इसमें महानारायण तेल की मालिश करें। पुनर्नवा मण्डूर १ गोली प्रातः-सायं उष्ण जल के साथ देवें। गुदा में तारपीन का तेल लगाकर स्वेदन करें अथवा नीचे लिखे हुये योग देवें।

स्प्रिट आँफ् टरपेन्टाइन	१ औंस
दो मुर्गी के अण्डों की जर्दी	यथा योग्य
वबूल के गोंद का लुआव	२ औंस
नीबू का शर्बत	१ औंस
टिंचर वेलाडोना	२ ड्राम
सेल्यूशन आफ् मार्फाइन	१ ड्राम
एसेंस आफ पिपरमेन्ट	४ ड्राम
क्लोरोफार्म वाटर	५ औंस

विधि—इनको एक में मिलाकर शीशी मे रख लें। इसमें से ४ ड्राम की मात्रा मे तीन-तीन घण्टा का अन्तर देकर पिलावें। यदि कब्जी

अधिक हो, तो रसपुष्प (कैलोमेल) तीन ग्रेन, कैलोसिन्थ (इन्द्रायण-सत्त्व) के साथ रात्रि को सोते समय देवें।

वमन—यदि वमन होता हो, तो अफीम सत्त्व-द्रव (मार्फिया-सोल्यूशन) सूचिकाभरण विधि से त्वचा में प्रविष्ट करें।

पेट की झिल्ली की सूजन में—अफीम $\frac{१}{६}$ ग्रेन, बेलाडोना सत्त्व $\frac{१}{४}$ ग्रेन दोनों को मिलाकर गोली बनावें। ३-३ घण्टा का अन्तर देकर देवें। अङ्ग में स्वच्छ वस्त्र या लिन्ट का टुकड़ा रखें किन्तु जब वह भींग जाये तो तुरन्त बदल देवें। यदि कमजोरी अधिक हो तो संजीवनी सुरा १-१ तोला की मात्रा में तीन-तीन घण्टा के बाद देवें, इससे छूत का प्रभाव भी नष्ट होता है।

विटपीयकलाभ्यन्तरीय शोथ (पेल्विक सेल्यूलाइटिस)

इसमें कुनीनमिक्श्चर की पूरी मात्रा देवें और पीड़ा बन्द करने के लिये अफीम का प्रयोग करें। किन्तु इससे भूख घट जाती है और कमजोरी बढ़ने का डर रहता है। जितनी सूजन झिल्ली में होगी उतनी अधिक पीड़ा होगी, जबतक ज्वर और पीड़ा रहे, तबतक पेट में पहले ग्लिसरीन, बेलाडोना या ओपियम् लगाकर गरम-गरम अलसी की पुल्टिस बाँधे, इससे पीड़ा शान्त हो जाती है। रोगिणी को चलने-फिरने से मना कर दें और पूर्ण विश्राम करावें। जब तक पेट दबाने से पीड़ा हो और शोथ सूख न जावे, तब तक प्रसूता को चारपाई से उठने न देवें। रोगिणी को ४० दिन तक आराम करना चाहिये। शीत से बचे और शोथ में टिंचर आयोडीन लगावें। इस व्याधि में केवल गरम पानी से पिचकारी दिन में दो बार लगावें और पाचक तथा बलवर्धक दवाइयों का प्रयोग करें।

सप्तकज्वर (सेप्टीसीमिया)

इस व्याधि में योनि-प्रक्षालन आदि पूर्वरीति से ही करें। इसीसे यह रोग अच्छा हो जाता है।

पूयज्वर (पाइमिया)—इसमें भी पूर्वोक्त चिकित्साक्रम का ही अवलम्बन करें।

विसर्प ज्वर (एरिसिपेलस)—इसका उपचार प्रसूत ज्वर के साथ ही हो जाता है।

पथ्य निरूपण

रोगिणी को जीवनीशक्ति की रक्षा करने के लिये प्रचुर परिमाण में सहज से पाचन होनेवाले पुष्टिकारक लघु पदार्थ पथ्य के लिये देवें। दूध, मूँग की दाल का यूष, जौ की दलिया, धान के खीलों का मांड, परवल, बथुआ, पालक आदि का शाक, मासरस, अण्डे का रस, पुट-पाक रीति से पकाया हुआ फलों का रस आदि देव

अपथ्य—गुरु, दुष्पाच्य, उष्ण, तीक्ष्ण आदि पदार्थ न देवें।

पूयजज्वर (Pyoemia)

निर्वाचन—आभ्यन्तरिक यन्त्रों मे तथा शरीर के दूसरे भागों में भी पूययुक्त पिडिकाओं को उत्पन्न करने वाले ज्वर को 'पूयजज्वर' कहते हैं।

निदान, सम्प्राप्ति

कोई विशेप विष युक्त पदार्थ शरीर के अन्दर पहुँच कर रक्त के साथ मिलकर इस ज्वर को उत्पन्न करता है। किन्तु इसका स्वाभाविक विवरण कुछ नहीं जाना जाता है। प्रादाहिक क्रिया से उत्पन्न हुई विकृति के साथ इसका विशेप सम्बन्ध देखा जाता है। प्रायः वाहर के क्षत से पूयज ज्वर उत्पन्न होता है। शिरा और लसीका के आधार से यह विशेप विष प्रविष्ट होकर सब अङ्गों मे व्याप्त हो जाता है। इसके वाद शरीर मे फोड़े, फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। नीचे लिखे हुए कीटाणु शरीर के अन्दर पहुँच कर अनेक स्थानों पर पिडिकाओं को उत्पन्न करते हैं। जैसे, प्रसूतज्वर के जीवाणु (Streptococcus), पूयमेहाणु (गोनोकॉकस), आन्त्रिकज्वर के जीवाणु, वातश्लेप्मकज्वर के जीवाणु (वैसिलस् एन्फ्लुएञ्जा) आदि।

किसी स्थान पर अग्नि से जल जाए अथवा अभिघात लगने पर मस्तिष्क वा वस्ति स्थान की अस्थि भग्न हो जाए और उसमें वायु लग

जाए तो यह रोग उत्पन्न हो जाता है। हाथ-पर, गुदा, मूत्राशय, मूत्रनाली आदि अनेक स्थानों में शस्त्रचिकित्सा करने पर कभी-कभी यह रोग देखा जाता है। प्रसव के वाद जव यह रोग उत्पन्न होता है, तव इसको सूतिका ज्वर कहते है।

अस्थि, अस्थि को आच्छदन करने वाली झिल्ली मे नवीन पूय को उत्पन्न करने वाले शोथ से यह ज्वर होता है।

विसर्प ज्वर मे सांघातिक व्रण (कार्वङ्कल), शवच्छेद जन्य क्षत आदि में उपसर्ग रूप से पूय ज्वर उत्पन्न होता है।

लक्षण

किसी स्थान में क्षत होने के ८—१५ दिन के वाद ठंढक मालूम होती है और शरीर कांपने लगता है, बाद को शीतल स्वेद निकलना आरम्भ होता है और रोगी अपेक्षाकृत स्वस्थ हो जाता है। कुछ काल के वाद किसी समय अथवा दूसरे दिन फिर कम्प उपस्थित हो जाता है और स्वेद निकलना आरम्भ हो जाता है। इस तरह ज्वर वढ जाता है फलतः अविराम ज्वर के तुल्य लक्षण प्रकाशित होते हैं। दो-एक दिन के मध्य मे चक्षु और गात्र, मृदुवत् और म्लान वर्ण से युक्त हो जाता है। रोगी कान्तिविहीन और अस्थिर तथा तन्द्रा से युक्त हो जाता है। नाडी की गति तीव्र और कभी रुक-रुक कर चलती है, जिह्वा चिकनी और दरारयुक्त हो जाती है और जिह्वा पर सफेद मल भी जम जाता है, कुछ काल के वाद जिह्वा शुष्क और पाटल वर्णयुक्त हो जाती है। होठ सूख जाते हैं, दन्त मलावृत रहते हैं। अत्यन्त पिपासा, क्षुधा का अभाव, वमन करने की इच्छा, वमन और अधिकतर दस्त आने लगते हैं। अगम्भीर और द्रुतगामी श्वास हो जाता है, श्वास लेने के समय नासिका फूल जाती है और होठ अलग-अलग हो जाते हैं। खाँसी और वक्ष मे वेदना आरम्भ हो जाती है। परिफुफ्फुसीयाकला प्रदाह (प्लूरिसी) श्वासनली प्रदाह (ब्रोङ्काइटिस्)प्रभृति के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। स्वेद और कम्प के मध्यवर्ती समय में त्वचा शुष्क और रूक्ष हो जाती है, कभी-कभी शरीर से स्वेद भी निकलने लगता है।

प्रथम कम्प के समय और उसके बाद गात्र का ताप १००-१०५ वा १०७ डिग्री तक बढ़ जाता है, बाद को जिस समय ताप का ह्रास होता है उस समय स्वाभाविक शरीर के ताप की अपेक्षा से अल्प बढ़ा हुआ ताप दिखलाई पडता है। सम्पूर्ण सन्धि, पेशी बन्धनी (टेन्डल) प्रभृति फूल जाते है और उनमे वेदना होने लगती है, इन स्थानों मे शीघ्र ही पूय की उत्पत्ति हो जाती है, अधिकतर देह का मालिन्य बढ़ जाता है और मृत्यु के पूर्व स्पष्ट पाण्डु रोग लक्षित होता है। क्रमशः रोग जितना बढता है रोगी उतना ही दुर्बल होता जाता है। मुखमण्डल संकुचित हो जाता है, मानसिक वृत्ति बिगड जाती है। मृदु प्रलाप, कभी-कभी अचैतन्य और प्रत्याक्षेप उपस्थित हो जाता है और पांच से दश दिन मे रोगी की मृत्यु हो जाती है। किसी-किसी स्थल में रोग जब पुरातन क्रम को धारण करता है, तब सम्पूर्ण लक्षण मृदुभाव से प्रकाशित होते हैं। ज्वर मेदोगत ज्वर (हेक्टिक्) प्रकृति को धारण करता है। और अस्थि तथा सन्धि मे और अन्यान्य बाह्यप्रदेश में स्फोट उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी कई सप्ताह के बाद अथवा कई मास के बाद अत्यन्त दुर्बल होकर मृत्युग्रास मे पतित हो जाता है। कहीं-कहीं पर रोगी कई दिनों तक रोग का भोग करके अच्छा भी हो जाता है। इन सब स्थानों में प्रायः पूय को उत्पन्न करने वाली हृदयावरण कलाप्रदाह (पेरिकार्डाइटिस) उपस्थित हो जाता है और वातव्याधि के तुल्य सब सन्धियों मे सूजन आ जाती है किन्तु उनमे पूय की उत्पत्ति नहीं होती है। शवच्छेद करने पर अधिकतर यकृत में अन्त्रावरण के नीचे फोड़ा उत्पन्न हुआ देखा जाता है। कभी-कभी प्लीहा, वृक्क और फुफ्फुसों मे भी फोडा देखा जाता है। भौतिक चिह्नों से अनेक स्थानों पर इसके अस्तित्व का निर्णय किया जा सकता है। जब क्षत से यह ज्वर पैदा होता है तब वह मलीन हो जाता है, उस समय उसमें विकृत दाने निकल आते हैं। मवाद जल के तुल्य कुछ लाल हो जाता है। कभी-कभी क्षत के चारों तरफ विसर्पज्वर से पीडित स्थान के तुल्य लालिमा हो जाती है।

रोगनिर्णय

पूयज्वर अनेकांश में मूत्राशयिक क्षय (Tuberculosis) और केल्क्यूलस् पाइयेलाइटिस् (Caleulous Pyelitis) के अनुरूप होता है। दोनों मे अधिकतर बार-बार कम्प, और स्वेद अधिक निकलता है। स्थूल रीति से इसके लक्षण आदि मलेरिया ज्वर के तुल्य होते हैं। यदि पूयज्वर अधिक काल तक स्थायी रहता है, तब आन्त्रिक ज्वर के तुल्य लक्षण प्रकाशित होते है। और प्रथम पीडा मे ल्यूकोसाइटोसिस् (रक्तश्वेतोपल) वर्तमान रहता है।

बार-बार जाडा लगता है और कम्प के साथ ज्वर वर्तमान रहता है, उस समय पूयज्वर का अनुमान किया जा सकता है। और गम्भीरता युक्त रक्तालपता (एनीमिया), हजकिन की पीडा, यकृत सम्बन्धी (हेपटिक) सविराम ज्वर और त्वगीयार्बुद (कार्सीनोमेटोसिस्) रोग के सविराम ज्वर में ये लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। रक्त ज्वर (स्कार्लेट-फीवर) और प्रमेह के बाद ज्वर के अन्त मे सन्धि प्रदाह (आर्थ्राइ-टिस्) रोग संभवतः पूयज्वर से उत्पन्न होता है।

चिकित्सा

शुद्ध जल-वायु का सेवन इसमे अन्यन्त लाभ दायक है। लघु, पाचक बलवर्धक, पुष्टिकारक आहार की व्यवस्था करें। इसमे पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लोह और शारिवाद्यासव से अच्छा लाभ होता है। अथवा किनाइन, लौहभस्म, आयोडाइड आफ पोटासियम् आदि बल कारक औषधियों की व्यवस्था करें। फोड़ों पर पुल्टिस (उपनाह) का प्रयोग करें। उनमें पूय भर जाने पर शस्त्रचिकित्सा से पूय निकाल कर व्रण के तुल्य उपचार करें।

टाइफस (मस्तिष्कज्वर) के अनुरूप चिकित्सा करें। अफीम के प्रयोग से निद्रा लाने की चेष्टा करें और वेदना निवारण की चेष्टा करें आवश्यकतानुसार मस्तक पर शीतल जल की धारा छोडें और जोंक का प्रयोग करें।

त्वचोऽधःक्षेपण (इञ्जेक्शन) विधि से पल्वीलेन्ट स्ट्रेप्टो कॉकस वैक्सीन, का प्रयोग करने पर विशेष उपकार होता है

सप्तकज्वर

(Septicoemia)

इस रोग मे रक्त संचालन करने वाले आभ्यन्तरिक अङ्ग जीवाणु से आक्रान्त रहते हैं। इसके द्वारा उत्पादित विप (टॉक्सिन) की क्रिया रोगी में प्रकाशित होती है, जिन क्षतों मे इसके जीवाणु प्रविष्ट होते हैं; वहां से रक्त मे पहुँच कर सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाते हैं और ये जीवाणु रक्त के अन्दर ही बढ़ते हैं। इस भाँति सम्पूर्ण देह मे विप उत्पन्न कर देते हैं। अतएव शरीर मे कितना विप उत्पन्न हुआ है इसका निर्णय करना असंभव है। अत इसके विप की प्रतिक्रिया का साधन भी असंभव है। यद्यपि इसके जीवाणु रक्त प्रवाह के मध्य मे वर्तमान रहते हैं। किन्तु अनेक स्थलों पर हृदय से दूर रहने वाले अङ्गों मे अर्थात् हाथ-पैरों के रक्त मे इसके जीवाणु नहीं मिलते हैं। रक्त परीक्षा से यह निर्णय किया जाता है।

आचार्यों का मत—इस रोग के कारण के विषय मे भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु शरीर के आभ्यन्तरिक यन्त्रों के रक्त की परीक्षा करने पर अधिकांश स्थल पर इसके रोगोत्पादक जीवाणु पाये जाते हैं।

लक्षण

इस रोग मे सब स्थलों पर निर्दिष्ट लक्षण प्रकट नहीं होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक रोगी—शरीर के मध्य मे जीवाणुओं से जो विप उत्पन्न होता है, उसी के परिमाणानुसार सब लक्षण प्रकट होते हैं।

जिस स्थानिक क्षत आदि के द्वारा ये जीवाणु देह के अन्दर जाते हैं, यदि उस क्षतस्थान को काटकर अलग कर दिया जाए अथवा संक्रमण नाशक औषधादि से स्थानिक चिकित्सा की जाए तो भी कोई फल नहीं होता है। इस रोग के जीवाणु देह के विभिन्न अवयवों मे

प्रविष्ट न होने पर उनका विष पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है और निश्चित रूप से रोग के सम्पूर्ण लक्षण भी प्रकाशित होने मे विलम्ब लगता है। इसके विशेष लक्षण आदि प्रसूत ज्वर मे लिखे है अत: यहा पर संक्षिप्त ही वर्णन किया है।

भावीफल

रोग के सम्पूर्ण लक्षणों की अधिकता वा न्यूनता के अनुसार इसका भावी फल होता है। राग के अत्यन्त प्रबल होने पर भावीफल अशुभ होता है।

चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा पूयज्वर के तुल्य करें। सम्पूर्ण लक्षणों की चिकित्सा उनके अनुसार करें। प्रसूतज्वरोक्त चिकित्सा विशेष रूप से फलदायक होती है।

बृहन्मसूरिका

(Small Pox)

निरुक्ति—यह सक्रामक और स्पर्शाक्रामक ज्वर है। इसमे मसूर के आकार वाली पिडिकाएं निकलती हैं। ज्वर अविराम स्वरूप मे रहता है। प्राय: ज्वर होने के तीसरे दिन शरीर पर पिडिकाएं निकलती हैं। प्रथम अवस्था मे पिडिकाएँ लाल दिखलाई पडती है फिर इसका स्वरूप क्रमशः परिवर्त्तित होता रहता है।

कारण

निस्पन्दन शील जीवाणु शरीर मे प्रविष्ट होकर इस रोग को उत्पन्न करता है। किसी-किसी आचार्य का मत है कि अभी तक इस पिडिकायुक्त ज्वर के कीटाणु का ज्ञान नहीं हुआ है किन्तु, यह अत्यन्त संक्रामक है। इसकी संक्रामकता चिरकाल तक नष्ट नहीं होती है। आरम्भ से लेकर अन्त तक सब समय में यह संक्रामक होता है किन्तु पूय उत्पन्न होने के समय इसकी संक्रामकता अत्यधिक हो जाती है। इसके कीटाणु पूय की पपड़ी मे उपस्थित रहते हैं। इस रोग का विस्तार रोगी

की पिडिकाओं के पूयादि से दूषित वस्त्रों के द्वारा, स्पर्श से परिचारकों द्वारा और छोटे-छोटे खुरण्ट भी वायु के द्वारा उड़कर रोग फैलाते हैं। स्त्री, पुरुष भेद से रोगाक्रमण मे कोई विशेपता नहीं पाई जाती है। किन्तु अधिक तर जीवन काल मे एकवार ही आक्रमण होता है और वालक,वृद्ध सब को यह रोग होता है। किन्तु अन्यों की अपेक्षा वालकों को अधिक होता है। गौरवर्ण वाले मनुष्यों की अपेक्षा कृष्ण वर्ण वाले मनुष्य इस रोग से अधिक आक्रान्त होते हैं। किसी-किसी वंशके मनुष्यों मे इस रोग का आक्रमण अधिक देखा जाता है।

सम्प्राप्ति

मसूरिका का जीवाणु शोणित मे गमन करता हुआ उपचर्म में आकर ठहर जाता है। जिस स्थान पर जीवाणु ठहरता है उस स्थान पर उपचर्म के कोप (सेल्स) शोणित युक्त अथवा शोथमय हो जाते हैं। त्वचा पर इस का स्पर्श करने से त्वचा के अधोभाग मे मसूर के आकार की छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ प्रतीत होती हैं। फिर इनमें स्राव परिपूर्ण हो जाता है। इसलिये ये ग्रन्थियाँ छोटी-छोटी पिडिकाओं के तुल्य मालूम होती हैं। कुछ समय के वाद यह द्रव पूय युक्त हो जाता है और पिडिका वडी हो जाती है। कभी-कभी पिडिकाएं फूट जाती हैं। अधिकतर पूय जमकर पपडी के रूप मे पिडिका के ऊपर कई दिनों तक स्थित रहती है। पपड़ी निकल जाने पर क्षत के चिह्न प्रतीत होते हैं। स्राव, पूय और पपड़ी में जीवाणु अधिक होते हैं तथा इनसे रोग अधिक फैलते हैं।

लक्षण

इसमे जो ज्वर उत्पन्न होता है, उसकी चार अवस्थाएं होती है। (१) पूर्वावस्था, (२) ज्वराक्रमणावस्था, (३) ज्वर वर्धमानावस्था, (क) पिडिका निर्गमनावस्था, (ख) पिडिका पकावस्था, और (४) पिडिका शुष्कावस्था।

(१) पूर्वावस्था—१२-१४ दिन तक स्थायी होती है। इस अवस्थामें कोई स्फुट लक्षण प्रकाशित नहीं होते हैं।

(२) ज्वराक्रमणवस्था—दो से तीन दिन तक स्थायी रहती है। इस अवस्था मे शीत लग कर ज्वर चढता है और कम्प, वमन की इच्छा पृष्ठ, कटि, शिर में अत्यन्त वेदना, वमन होना, दुनाक्षेप और प्रबल ज्वर वर्तमान रहता है।

(३) ज्वर की वर्धमानावस्था—यह अवस्था दो विभागों मे विभक्त है।

(क) पिडिका निर्गमनावस्था—यह चार से पाँच दिन तक स्थायी रहती है। प्रायः दूसरे दिन ही रोगी के सम्पूर्ण देह मे लाल रंग की छोटी-छोटी पिडिकाएं निकल आती है। जो एक वा दो दिन ठहर कर नष्ट हो जाती हैं। इसके पश्चात तीसरे या चौथे दिन असली पिडिकाएं निकल आती हैं। पिडिकाएँ सबसे प्रथम ललाट और गल प्रदेश मे निकलती हैं। फिर मणिबन्ध (पहुँचा) के भीतर की ओर २४ घंटे मे निकल आती हैं। ये पिडिकाएं मुख और शाखाओं तथा उदर पर निकलती हैं। उदर के नीचे जंघा के भीतर की ओर और छाती के दाहिनी, बाई ओर ज्वर होने के चौथे दिन पिड़िकाएँ निकल आती है। फिर सब शरीर पर पिडिकाएँ निकल आती है किन्तु प्रारम्भ मे जो तीसरे दिवस पिडिकाएँ निकलती हैं वे पहले त्वचा पर छोटे-छोटे रक्त वर्णके चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं और वे जल्दी ही बढकर बडी-बड़ी पिडिकाओं का आकार धारण कर लेती हैं।

हाथ से स्पर्श करने पर त्वचा के अधोभाग मे छोटी-छोटी कठिन ग्रन्थि-सी प्रतीत होती है। इनमे दो दिन मे तरल पदार्थ भर जाते है और उठे हुऐ छालों के तुल्य दिखाई देते हैं। इनके चारों तरफ का स्थान लाल और दृढ मालूम होता है। अच्छी तरह तरल पदार्थ भर जाने पर इनका ऊपरी भाग बैठ जाता है अतएव मध्य मे दबे हुऐ प्रतीत होते हैं।

पिडिकाओं की संख्या और सामीप्य भेद से इनको तीन श्रेणी मे विभक्त करते हैं। यथा—पृथक्-पृथक् (डिसक्रीट), संयुक्त (कोहेरेन्ट) और एकत्रीभूत (कनफ्लूइन्ट)। इस अवस्था मे मुख, गले की नली, नासा, चक्षु, गुदा आदि की श्लैष्मिक कला मे शोथ होकर पिडिकाएं

निकल आती हैं। जब पिडिकाएं निकलने लगती हैं, तब ज्वर न्यून हो जाता है। और जब पिडिकाएँ पूर्णरूप से निकल आती हैं तब तो ज्वर बहुत ही कम हो जाता है।

(ख) पिडिका की पक्वावस्था—यह अवस्था चार वा पांच दिन तक स्थायी रहती है। प्रायः पिडिका बनने के दो दिन बाद उनमें पूय उत्पन्न हो जाता है, पिडिकाएँ पूय से भरी होने के कारण अधिकतर चमकती हुई प्रतीत होती हैं। इनका आधार कठिन होता है, इनके चारों तरफ की जगह लाल-सूजन से युक्त देखी जाती है। जब पिडिकाएं बहुत-सी इकट्ठी हो जाती है तब शरीर शोथ-युक्त मालूम होता है और पूय के उत्पन्न होने से ज्वर फिर बढ़ जाता है। इस समय रोगी को विशेष दुःख होता है और शीघ्र ही देह का ताप १०३ डिग्री तक हो जाता है। पिडिकाओं के कारण रोगी करवट भी नहीं बदल सकता है, नाड़ी की गति तीव्र, बलवती—भरी हुई हो जाती है। श्वास-प्रश्वास शीघ्र-शीघ्र चलने लगते हैं, कोष्ठ-बद्धता, स्वेद की अधिक प्रवृत्ति, लाल मुख, लाल नेत्र और शिर को इधर-उधर फेकने लगता है। शिर मे अति पीड़ा, अनिद्रा, कभी-कभी प्रलाप, हाथ-पैरों मे एंठन होती है। बालकों को इस दशा मे आक्षेप भी होने लगते हैं; कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। मूत्र की मात्रा अल्प हो जाती है, इसमें यूरिया, यूरिकाम्ल भी निकलता है। कभी-कभी अल्ब्यूमिन् (शुक्लाण्ड) भी निकलता है। प्रबल पीड़ा में रक्त भी निकलने लगता है मूत्र त्यागने में कष्ट मालूम होता है। स्त्रियों के रज निकलता है। गात्र का ताप प्रातः काल की अपेक्षा सायंकाल में अधिक हो जाता है। १८ दिन तक ताप की ह्रास-वृद्धि देखी जाती है। यदि पिडिकाएं मुख, नासिका, नेत्र आदि श्लैष्मिक झिल्ली में निकल आती हैं, तो उसके बोलने, खाने, पीने, चक्षुको खोलने और बन्द करने मे बड़ा कष्ट होता है। पिडिकाओं के पक कर फूटने के समय रोगी के शरीर से खराब—दुर्गन्ध आती है।

(४) पिडिका की शुष्कावस्था—अधिकतर ग्यारहवें दिन पिडिकाएं

फूटने लगती हैं, उनसे पूय निकलता है और फिर धीरे-धीरे शुष्क होकर पपड़ी पड़ने लगती है। ज्वर कम होने लगता है और अन्य उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं। ३-४ दिन मे रोगी अच्छा हो जाता है, किन्तु पपड़ी कई दिन बाद धीरे-धीरे उतरती हैं। पपडी उतरने के बाद क्षत के चिह्न रह जाते हैं। यह अवस्था ६ से १० दिन तक स्थायी रहती है। इन क्षतों के चिह्न विशेष कर मुख पर चिरकाल तक रहते हैं। पिडिकाओं का निकलना अथवा न्यूनता से निकलना भयानक लक्षण है।

मसूरिका के प्रकार

(१) असंयुक्त पिडिका—इसमे पिडिकायें अलग-अलग और भिन्न-भिन्न होती हैं। ज्वर मृदु होता है परन्तु उपसर्ग न होने पर मृदु नहीं होता।

(२) सयुक्त पिडिका (Confluent)—इसमे द्वितीय दिनमें पिडिकायें निकल आती हैं। पिडिकायें बहुत अधिक निकलती हैं यहाँ तक कि वे एक दूसरे से बिल्कुल संयुक्त रहती हैं। कटि प्रदेश में अत्यन्त वेदना होती है, रोग अत्यन्त भयंकर होता है। उपजिह्वा और कर्णाग्रवर्ती लाला ग्रन्थियाँ दोनों फूल जाती हैं। उनमें दाह होता है। दोनों पलकें फूल जाती हैं और नेत्र बन्द हो जाते हैं। ओष्ठ भी फूल जाते हैं और मुख के दोनों किनारों से लगातार लाला गिरती रहती है। नाडी क्षीण, और तेज चलती है। क्रमश: दौर्बल्य के सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। रोग की यंत्रणा से ९० प्रतिशत मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है। मस्तिष्क सम्बन्धी सब लक्षणों की प्रबलता हो जाती है। प्रलाप भी उपस्थित हो जाता है। साधारण रीति से ८ दिन से १३ दिन के मध्य मे विशेष कर ग्यारहवें दिन रोग सांघातिक हो जाता है।

(३) अर्ध सयुक्त (Semi-confluent) पिडिकायें—इसमें स्थान-स्थान पर संयुक्त रूप से पिडिकायें निकलती हैं। इसमे रोगी की मृत्यु कम होती है।

(४) दलबद्ध वा गुच्छाकार (Corymbose कोरिम्बस् पिडिकायें—

इसमें पिडिकायें एक-एक दल मे अधिक स्थान मे व्याप्त होकर रहती हैं।

(५) परिवर्तित (Modified) पिडिकायें—इसमें रोग के आक्रमण करने की अवस्था स्पष्ट होती है और लक्षण घटते हुए दिखलाई पड़ते हैं। रोग की द्वितीय अवस्था मे अथवा वर्द्धन दशा में विधि पूर्वक पिडिकायें निकलती हैं। पिडिकायें पक कर गिर जाती हैं और बाद में रोगी अच्छा हो जाता है।

(६) सांघातिक (Malignant) पिडिकायें—इसमे सब लक्षण अत्यन्त प्रबल रूप मे प्रकाशित होते हैं। पिडिकाये निकलते ही हृदाक्षेप वा अचेतन्य के वश होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। पिडिकाओं के मध्य से कभी-कभी रक्तस्राव होने लगता है। अतः इसको रक्तस्रावी मसूरिका भी कहते हैं।

(७) शुभकारिणी (Benign बिनाइन) शीतला—इसमें सब लक्षण मृदु होते हैं तथा सम्पूर्ण अङ्गों मे पिडिकायें निकल आती हैं और पूय उत्पन्न होने के पूर्व ही ये सूख जाती हैं।

(८) प्लुतावस्था (Varicose)—इसमें पिडकाओं में मासा के तुल्य छाला पड़ जाता है। सब छालों में वायु भरी रहती है और बाद को सब पिडिकायें एक में मिल जाती हैं।

(९) अनियमित (Anomalous)—इसमें लालबुखार आदि रोगों के लक्षण और उपद्रव होते हैं।

उपद्रव

इस रोग मे ज्वर और पिडिका निकलने के अतिरिक्त उपद्रव भी उपस्थित हो जाते हैं।

(१) श्वासयन्त्र के उपद्रव यथा—प्रणालीय फुफ्फुस शोथ, परिफुफ्फुसीयाकलाशोथ (प्लूरिसी)—इसके साथ-साथ कास में रक्त निकलता है।

(२) रक्त संचालक यन्त्र के उपद्रव-हृदय का पेशी-विधान इतना कोमल हो जाता है कि अंगुलियों से भी भेदन किया जा सकता है।

(३) पूयज्वर (पायमिया)—मसूरिका जब संयुक्त रूप धारण कर लेती है तब यह उपद्रव उपस्थित होता है।

(४) जननेन्द्रिय और मूत्रनली के उपद्रव—पुरुष जाति मे मूत्र में रक्त निकलता है। वृकस्फोट, अण्डकोष-प्रदाह आदि उपद्रव होते हैं। स्त्री जाति मे डिम्बाशय-प्रदाह, रजोऽधिकता, रक्तस्राव आदि उपद्रव होते हैं।

(५) परिपाक यन्त्र के उपद्रव—यथा—पक्वाशय और अन्त्र के मध्य में पूयगर्भ पिडिकायें निकल आती हैं। इस विषय मे अनेक चिकित्सक संदेह करते हैं। मुख मे पूययुक्त पिडिकायें और गले के मध्य में पूय-पिडिकाय निकल आती हैं।

(६) कर्ण के अन्दर पूय के पैदा हो जाने से बधिरता, फोडा, घाव प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं।

(७) नेत्र के उपद्रव—पिडिका निकलने के ११-१२ दिन के मध्य में अथवा इसके बाद जब शरीर के दूसरे स्थानों मे पिडिकायें सूख जाती हैं, तब ज्वर आरम्भ होने के बाद नेत्र लाल और वेदना-युक्त हो जाते हैं और शीघ्र ही अक्षितारका के पार्श्व मे क्षत दिखलाई पडता है। बाद में क्रमशः क्षत फैल जाता है अथवा उपतारा (आइरिस) बाहर हो जाती है। चक्षु के सामने के कोटर मे (एन्टिरियस चेम्बर) अथवा जिस तरफ तारका होती है वहाँ पूय पैदा होकर बाहर निकल आता है। उसके साथ-साथ अक्षिमुकुर (लेन्स) और उज्ज्वल काँच के तुल्य द्रव्य (विट्रसयूमर) बाहर निकल आता है।

रोगनिर्णय और भावीफल

पिडिका निकलने के पूर्व में रोग का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु लक्षण प्रकट हो जाने पर कोई कठिनता नहीं रहती है। कभी-कभी लघुमसूरिका से भेदन करना कठिन हो जाता है। उसमे पिडिकाये पृथक्-पृथक् निकलतीं और पकती हैं, किन्तु मसूरिका मे सब पिडिकाय साथ-साथ निकलती हैं।

लघुमसूरिकामे इससे भिन्न प्रणाली है। इसमें कोई पिडिका निकलती है, कोई पकती है तो किसी मे तरल द्रव्य भर जाता है। रोमान्तिका मे रोगाक्रमण काल अधिकतर स्थायी होता है और प्रतिश्याय के लक्षण से युक्त होता है। रक्तज्वर (स्कार्लेट फीवर) मे दूसरे दिन पिडिकायें निकलती हैं, किन्तु पहले से ही गले की नाली मे पीडा मालूम होती है।

बृहन्मसूरिका से मृत्यु अधिक होती है, उनमे भी बच्चों की मृत्यु अधिक होती है। अधिकतर द्वितीय-ज्वर की अवस्था मे अधिक मृत्यु होती है। टीका लगवाये हुए रोगियों की मृत्यु संख्या कम होती है।

चिकित्सा

बृहन्मसूरिका की चिकित्सा दो श्रेणियों में विभक्त की जाती है। (१) रोगनिवारक चिकित्सा और (२) रोगोपशमकारी चिकित्सा।

(१) रोगनिवारक चिकित्सा—इसको तीन उपश्रेणियों में विभक्त करते हैं। (क) रोगी को पृथक् करना, (ख) सक्रामकता नष्ट करना और (ग) टीका लगाना।

(क) रोगी को पृथक् करना—बृहन्मसूरिका रोग पैदा होने के पहले ही चिकित्सक का यह प्रधान कर्तव्य है कि रोग किसी प्रकार से सचारित होकर गाव, शहर तथा समाज में व्याप्त न होने पावे। यह अत्यन्त संक्रामक और स्पर्शाक्रामक रोग है। यह रोग फैलने न पावे, इस उद्देश्य से दूसरे व्यक्ति के साथ रोगी का सम्बन्ध एकदम बन्द कर देवें। जहां तक हो सके रोगी को निर्जन स्थान में रखना चाहिये और स्थान परिवर्तन कर दें। यदि किसी परिवार में किसी को बृहन्मसूरिका ज्वर हो जावे तो, उस परिवार के मध्य मे जिसे एक बार मसूरिका रोग हुआ हो, अथवा जिसे टीका लगा हो उस व्यक्ति को अथवा उपयुक्त धात्री को रोगी की परिचर्य्या के लिये नियुक्त करना चाहिये। परिवार के मध्य में यदि किसी को टीका न लगा हो तो, उसको उसी समय टीका लगवा देना चाहिये और जिनको एक ही बार

टीका लगा हो, उनको दूसरी बार भी टीका लगाने की व्यवस्था करनी चाहिये। यदि रोगी को स्थान बदल कर निर्जन स्थान मे रखकर चिकित्सा कराना असम्भव हो तो, मकान के एकान्त कमरे में रोगी को रक्खें। रोगी के समीप मनुष्यों का आना-जाना बन्द कर दें तथा रोगी की सुश्रूषा करनेवालों को विशेष सावधान कर देना चाहिये। संक्रमापह औषध व्यवहार करने के लिये उपदेश देव और सुश्रूषा करने वाले को दूसरे व्यक्ति के समीप मे न जाने देवें तथा स्थान परिवर्तन करने के लिये रोगी को स्वतन्त्र आवृत यान मे चढ़ा कर दूसरे स्थान में ले जावे। साधारण जनों के चढने की भाड़ावाली, सवारी, बैलगाडी, एक्का, बग्गी, रेलगाडी आदि पर न चढ़ावे। संक्रामकता प्राप्त वस्त्र और बिछौना को जला देवें। अथवा उपयुक्त संक्रमापह औषध के संयोग से अच्छी तरह वस्त्रादिकों को साफ कर लेव।

(ख) स्वसंक्रामकता नष्ट करना—मसूरिका रोग के तुल्य और कोई रोग इतना प्रबल संक्रामक नहीं है। रोगी के गात्र मे स्पर्श करने वाली वायु में, और जलवटी, पूयवटी और गुटिका की पपडी मे रोग का विष रहता है। यह विष रोगी के घर की वायु मे व्याप्त रहता है और इस दूषित वायु के द्वारा घर की चीजों मे विष लगा रहता है। मसूरिका विष की जीवनीशक्ति अत्यन्त आश्चर्यजनक है। अत रोगी के वस्त्रों को बॉध करके रख देवें। क्योंकि रोग की संक्रामता के कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी, विष की जीवनी शक्ति नष्ट नही होती। विष का सञ्चार निवारण करने के लिये उपयुक्त औषध का व्यवहार करना चाहिये। उग्र संक्रमापह औषध से युक्त पात्र मे मुख का क्लेद, नासिकामल और मल-मूत्र डालना चाहिये। वस्त्र, बिछौना वा भोजनपात्र प्रभृति रोगी जो कुछ व्यवहार करे, उसको उत्ताप और संक्रमण नाशक औषध से शोधित करे। रोगी के गृह के प्रत्येक दरवाजे में अथवा खिडकी आदि में कार्बोलिक् एसिड् के द्रव मे लाल रग का कपडा भिगोकर टाग देव। जिससे रोगी के शरीर से उत्पन्न हुआ विष बाहर न जा सके। रोगी के गृह के मध्य में, क्लोरिन गैस (हरिणवायु)

यूकलिप्टस् के तेल की वाष्प व्याप्त रखना चाहिये। कपूर का चूर्ण वा स्पिरिटस् ऑफ टर्पन्टाइन्, गृह के मध्य में इधर-उधर छिड़क देवें।

रोगी के अच्छे हो जाने पर भी जबतक गात्र के खुण्ट न निकल जावें, तब तक रोगी की समीपता से मसूरिका रोग होने की सम्भावना रहती है। कंघी के द्वारा मस्तक में चपटी खुंबसी छुड़ा कर अलग कर देवें। बाद को संक्रमापह औषध के द्रव से गात्र को धोकर पोंछ देवें और दूसरे गृह में ले जाकर संक्रामकता-विहीन साफ कपड़ों को पहनावें। रोगी के गृह त्यागने पर गृह तथा गृह की वस्तुओं को संक्रमापह औषध-द्रव से अच्छी तरह धो देवें। घर के दरवाजे, खिड़की आदि बन्द करके एक सेर गन्धक एक लोहे के बर्तन में रख कर एक बड़े जल से भरे हुए बरतन के ऊपर इनको रक्खें और गन्धक में जलता हुआ अङ्गार डाल देवें तथा घर से निकल कर शीघ्र ही दरवाजे बन्द कर देवें। फिर चौबीस घंटे के बाद दरवाजे खोले। इसके बाद कार्बोलिक एसिड अथवा क्लोराइड आफ् जिङ्क-द्रव में वस्त्रादिकों को पकावें और घर वा घर की चीजों को इससे धो देवें। कुछ दिन तक इस घर में किसी को नहीं रहना चाहिये। यदि रोगी की मृत्यु हो जावे, तो उसी समय मृत शरीर को उग्र कार्बोलिक एसिड वा क्लोराइड आफ् जिङ्क-द्रव में धोकर और इसी द्रव में भींगे हुए कपड़े को ओढ़ा देना चाहिये। फिर अन्त्येष्टिक्रिया के लिये ले जावें।

(ग) टीका लगाना—दो प्रकार का टीका लगाया जाता है। (१) इनओक्यूलेशन—यह विधि प्राचीन काल में भी की जाती थी। इसमें रोग का विष साक्षात् सम्बन्ध से स्वस्थ मनुष्य के शरीर में पहुँचाया जाता था। इससे उत्पन्न होनेवाली फोडा सांघातिक नहीं होती थी। इस टीका के लक्षण अत्यन्त प्रबल होते थे, यह टीका एक मनुष्य के लगाने पर उससे दूसरी व्यक्ति में मसूरिका-विष चला जाता था जिससे बडी हानि होती थी। इसलिये इस टीका की प्रथा इस समय कम हो गई है। इस विषय में ऐसी किम्बदन्ती सुनी जाती है कि प्राचीन काल में शीतला नाम की स्त्री इस विधि को प्रचलित किया था।

इसीसे भारतवासी पुरुष, विशेष कर स्त्रियाँ इसकी बहुत पूजा करते हैं।

वेक्सीनेशन—साधारणतः इसको अंग्रेजी टीका कहते हैं। इस विषय का वर्णन आगे किया जावेगा।

पूर्वोक्त उपायों का अवलम्बन करने से मसूरिका रोग का निवारण किया जा सकता है अर्थात् यह फैल नहीं सकता है। इस समय देखा जाता है, कि मसूरिका रोग की उपशमनकारी कौन-सी चिकित्सा है, रोगी की चिकित्सा किस तरह करनी चाहिये।

(२) मसूरिका रोग की स्वाभाविक आरोग्यकारी चिकित्सा कोई नहीं है। रोगी की यत्रणा दूर करने के लिये और लक्षण आदि प्रबल होने पर उसकी शान्ति के लिये चिकित्सा करनी चाहिये। इस रोग का क्रम बन्द किया जावे, ऐसी कोई औषध नहीं है। केवल परीक्षा से निश्चित हुआ है कि मसूरिका रोगी के समीप आने के बाद तीन दिन के मध्य में टीका लगवा लेने पर रोग प्रकाशित नहीं होता है। अथवा रोग परिवर्तित रूप से प्रकाशित होता है।

रोग प्रकाशित होने पर रोगी को हवादार मकान में रखना चाहिये। आरम्भ में लावणिक विरेचन से कोष्ठ का परिष्कार करना चाहिये और क्लोरेट् वा साइट्रेट् आफ् पोटाश स्वेद आने के लिये देवे। निम्नलिखित लावणिक घर्मकारक व्यवस्था प्रथम ज्वर की अवस्था में उपयोगी है। ग्राह्य प्रयोग—एमन् कार्बः ५ ग्रेन, पोटाश बाइकार्बः १६ ग्रेन, लाइकर एमन एसेट् २ ड्राम; सिरप अरेन्शीः ½ ड्राम, जल, सर्वसमेत १½ औंस दूध को एक में मिला लेवें। बाद को १६ ग्रेन साइट्रिक् एसिड्, संयोग करके उछलती हुई अवस्था में सेवन करें। बालक को वमन की इच्छा अधिक और वमन होता है। इस स्थल में एक चाय के चम्मच में चूने का जल लेवें, उसमें बरफ मिला कर बार-बार देवें। यदि ज्वर अत्यधिक हो और देह शुष्क तथा उष्ण हो तो कुछ गरम जल से शरीर को धो दें। शिर में पीडा हो तो मस्तक के ऊपर बरफ की थैली रखें।

ज्वर की प्रथमावस्था में पृष्ठ देश में अत्यन्त वेदना होती है और

अस्थिरता, अनिद्रा, तथा स्नायवीय लक्षण वर्तमान रहते हैं। बालकों को प्रलाप और द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है। इस स्थल मे रोगी को गरम जल से स्नान करा, डोवर्स पाउडर अथवा क्लोरैल और ब्रोमाइड का मिश्रण लाभदायक होता है। वमन हो जाने पर ओषधि उदर में रुकना असंभव हो, तो मर्फाइन सापोजिटरी (गुह्यवर्त्ति) अथवा क्लोरेल और ब्रोमाइड, पिचकारी द्वारा मलाशय मे पहुचाव। पृष्ठदेश की वेदना निवारण करने के लिये विविध औषधें व्यवहृत होती हैं तथा अनेक उपायों का अवलम्बन किया जाता है। क्लोरोफार्म लिनिमेन्ट और सोप लिनिमेन्ट एक मे मिलाकर पृष्ठ देश में मर्दन करना चाहिये। अथवा शुष्क गिलास (ड्राईकापिङ्ग) लगावें। हिन्दुस्तानी रबड की थैली मे उष्ण जल भर कर स्थानिक प्रयोग करें। अथवा अलसी की गरम पुलिटस बांधें या बेलाडोना और ग्लिसरीन मिलाकर पीठ में मर्दन करें। पाच ग्रेन की मात्रा मे एन्टीपाइरिन का प्रयोग करे। एन्टीफेब्रीन, फेनासेटिन, एस्पेरिन, सेलिसिलेट्ट ऑफ सोडा इत्यादि उपयोगी औषधियाँ हैं। पिपासा निवारण के लिये अम्ल युक्त जल पिलाव या बरफ से मिला हुआ जल, नीबू का रस, लेमनेड और बार्ली-जल देव।

पिडिका निकलने की अवस्था—यह अवस्था अधिकतर सात वा आठ दिन तक रहती है। इस अवस्था मे पिडिका निकलने की तीक्ष्णता और पिडिका के दागों का निवारण करने के लिये विविध संक्रमापह (एन्टीसेप्टिक) औषधों का वाह्य और आभ्यन्तरिक प्रयोग किया जाता है। किन्तु कुछ भी फल मालूम नहीं होता। पिडिका निकलने की प्रथम अवस्था मे चर्म फूलकर उग्रता युक्त हो जाता है। इस अवस्था में स्थानिक शीतल जल तथा बरफ के जल का प्रयोग करें। अथवा ग्लिसरीन १ ड्राम बरफ-जल १ औंस के साथ मिलाकर तूलाक्त पट्टी (लिन्ट), रुई वा कपड़ा उसमे भिगो कर प्रयोग करने से उपकार होता है। किसी-किसी स्थल मे इस प्रकार स्थानिक शैत्य का प्रयोग करने पर सह्य नहीं होता है। इन सब स्थलों मे स्टार्च और जिङ्क ओक्साइड् बोरिकएसिड प्रभृति पिडिकाओं के ऊपर छोड़ने से

उपकार की आशा की जाती है। गन्धक का आभ्यन्तरीय प्रयोग करने से बहुत उपकार होता है। यह चर्म से निकल कर स्थानिक प्रयोग दिखलाता है।

पिडिका निकलने के आरम्भ मे रोगाक्रान्त स्थान के ऊपर टिञ्चर ऑफ आयोडीन दिन में दो वार रुई से मालिश कर देव। इससे आठ-नौ दिन के वाद पपडी पड कर निकल जाती है। परन्तु इस समय आयोडीन का प्रयोग वन्द करके वोरेसिक एसिड्, कार्वोलिक एसिड प्रभृति संक्रमापह औषधि द्रव्य का मलहम प्रयोग करना चाहिये। कोई-कोई रोगी उग्र टिञ्चर आफ आयोडीन का प्रयोग सहन ही नहीं कर पाते हैं। इन सब स्थलों में आयोडीन का क्षीणतर द्रव व्यवहार किया जाता है। किसी-किसी रोगी को आयोडीन का लेप सहन नहीं होता है, इसलिये अन्य प्रकार की चिकित्सा का अवलम्बन किया जाता है। अल्प मात्रा मे कुनैन नीवू के रस और जल मे द्रव करके नियमित रूप से प्रयोग करने पर आशानुकूल लाभ होता है।

'डाक्टर रिपोस्की' संक्रमण नाशक औषध से युक्त सावुन के प्रयोग का व्यवहार और वोरेसिक एसिड् के द्रव में चार घंटा के वाद स्नान करने के लिये कहते हैं। इसके वदले सावलिमेट द्रव (१००० ए १) व्यवहार किया जाता है। स्नान के वाद आइयोडोफार्म और वैसलीन का मलहम (प्रतिशत १ से ५ भाग) प्रयोग किया जाता है।

आवश्यकता होने पर पूय युक्त पिडिकाओं को संक्रमापह औषधियों से संयुक्त सूची से उकास देनी चाहिये और रोगी को एन्टीसेप्टिक वस्त्र से आवृत रखना चाहिये। थोड़ी-थोड़ी देर के वाद वस्त्र वदलते रहना चाहिये। निम्नलिखित स्प्रे व्यवहृत होता है। हाइड्रज' परक्लोर., १५ ग्रेन एसिड, टार्टारिक, १५ ग्रेन, स्पिरिट वाइनाईरेक्ट १½ ड्राम, ईथर सर्व समेत ३ औंस—इनको मिश्रित करके स्प्रे द्वारा दिन में दो-तीन वार प्रयोग करना चाहिये। यह अत्यन्त विपाक्त द्रव है, इसलिये इसका सावधानी से प्रयोग करना चाहिये। किसी-

किसी आचार्य का सिद्धान्त है कि पहले से ही युकिप्टस तैल से शरीर को आवृत रखें। यदि पिडिका निकलने मे विलम्ब हो, तो उष्ण-उत्तेजक जल का व्यवहार करना चाहिये। मुख के अन्दर और गले की नाली की अवस्था विशेष कष्टजनक होती है। इस स्थल में परमेङ्गनेट ऑफ पोटाश द्रव, जल मिश्रित गन्धक द्रावक, सोहागा और बोरेसिक एसिड द्रव, क्लोरेट् ऑफ पोटाश के द्रव मे कुछ टिञ्चर ऑफ माई संयुक्त करके कुछ गरम कर लेवें। इससे कुल्ला करना चाहिये। छोटे-छोटे बालक कुल्ला नहीं कर सकते। इसलिये पूर्वोक्त द्रव मे लिन्ट भिगो कर उससे मुख को साफ करें। त्वचा में ज्वाला और खाज मालूम होने पर बरफ-जल का प्रयोग करना चाहिये। कोई-कोई इस स्थल में सम भाग में ऑलिवआइल, चूने का जल और कुछ लवेन्डर जल में मिलाकर प्रयोग करते हैं। इसका रुई से व्यवहार करना चाहिये। थाइमल, वा युकिप्टस् कार्वोलिक एसिड का वेसलीन के साथ मलहम बना कर उपयोगिता के साथ व्यवहार करना चाहिये।

कण्डू निवारण के लिये हाइड्रोसियैनिक एसिड का स्थानिक प्रयोग करें। करतल और पादतल में पिडिका निकलने के समय अनेक स्थल पर विलक्षण वेदना होती है। इसे दमन करने के लिये उष्ण सेक का प्रयोग करना चाहिये।

दाने निकलने के अन्त समय में नाडियों में विलक्षण उत्तेजना के लक्षण प्रकाशित होते हैं। यथा—अत्यन्त अस्थिरता, अनिद्रा, प्रबल प्रलाप आदि। रोगी के बलिष्ठ होने पर विरेचक औषध और मस्तक पर बरफ की थैली का प्रयोग करने से सब लक्षण नष्ट हो जाते हैं। किसी-किसी स्थल में टार्टार एमेटिक और मर्फाइन (प्रत्येक $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{6}$ ग्रेन) एकत्र मिलाकर प्रयोग करने से प्रलाप शान्त हो जाता है और निद्रा भी आती है।

दानों के परिपक्व हो जाने पर जल पिडिका और सब घनपिडिका पूय पिडिका में परिणत हो जाती है। ये दाने निकलने के बाद आठ से बारह दिन तक स्थायी रहती हैं। साथ में ज्वर प्रकाशित

होता है। यह ज्वर पूयोत्पत्तिजनित ज्वर कहलाता है। यह विलक्षण कष्टजनक और विशेष भय की अवस्था है। अधिकतर मुख के अन्दर की गलनली और कण्ठनली विषम रूप से आक्रान्त हो जाती है। गल से निगलना भी असम्भव हो जाता है और श्वासक्रिया का व्यवधान हो जाता है। इस अवस्था मे जहाँतक हो सके रोगी के बल की रक्षा करनी चाहिये। साथ ही ज्वर का दमन करना, गले के लक्षणों को शान्त करना और चर्म की संक्रामकता को नाश करने की चेष्टा करनी चाहिये।

संयुक्त प्रकार की वृहन्मसूरिका मे देह का ताप १०२ से १०५ डिग्री तक हो जाता है। इस स्थल मे कुनाइन उपयोगी है, इससे ज्वर दब जाता है और देह का बल रक्षित होता है। दो-तीन ग्रेन की मात्रा में कुनाइन का द्रव नाइट्रेट आफ् पोटासियम् के साथ ऊष्मान आयी हुई अवस्था मे रोग की प्रखरता के अनुसार दो-तीन अथवा चार घंटा के बाद प्रयोग करें। ज्वर को दबाने के लिये कोई-कोई एन्टीपाइरिन प्रभृति ज्वर नाशक औषध के प्रयोग की अनुमति देते हैं किन्तु, ये विलक्षण अवसादक हैं इसलिये नहीं देना चाहिये।

अत्यन्त खाज होने से रोगी के खुजलाने पर सब पूय पिडिकाएं छिल जावें अथवा और किसी प्रकार से पिडिकाएँ छिल जाव तो गात्र दुर्गन्ध युक्त सडे हुए स्राव से आवृत हो जाता है। इसको पूर्वोक्त एन्टीसेप्टिक से धोवें अथवा स्प्रे का व्यवहार करें। कोई तैलाक्त सक्रमापह औषध का व्यवहार करते हैं। अथवा सोडियम् सैलिसिलेट ४ अंश, कोल्डक्रीम १०० अश एक मे मिलाकर मुख मे और पिडिका युक्त अन्यान्य स्थानों में लगावें। बाद को उसके ऊपर ६ अश सोडियम सेलिसिलेट् और १०० अंश "टक्" एकत्र करके छोडना चाहिये। अधोलिखित मलहम फलप्रद है। कर्पूर २ भाग, मेन्थल २ भाग और वेसलिन २० भाग इनको एकत्र मिलाकर प्रयोग करे।

संयुक्त प्रकार के मसूरिका रोग की इस अवस्था मे मुख के अन्दर और गले की नली की श्लैष्मिक झिल्ली डिपथीरिक् झिल्ली के तुल्य पदार्थ से आवृत देखी जाती है। यह झिल्ली के तुल्य पदार्थ पश्चात् नासारन्ध्र

और कण्ठ नली मे विस्तृत होकर श्वास मे व्याघात पहुचाता है। इसमे अधोलिखित द्रव्यों का कुल्ला लाभदायक है।

एक १२ औंस की बोतल में २० ग्रेन क्लोरेट ऑफ पोटासियम डाल, फिर उसमें ४० बूँद (मिनिम) उग्र हाइड्रोक्लोरिक एसिड मिला कर बोतल का कार्क बन्द करके बोतल को हिलाव। बोतल के मध्य मे वियुक्त क्लोरिन गैस (हरिणवायु) सम्रहीत होने पर क्रमश धीरे-धीरे जल मे मिलाव और बोतल को हिलावे। इस तरह क्लोरीन द्रव से पूर्ण करें। इसके बाद इस द्रव मे कई ड्राम ग्लिसरीन मिला कर व्यवहार करें। इसके अतिरिक्त मुख के मध्य मे और नासागह्वर मे निम्नलिखित द्रव्य का स्प्रे व्यवहार करें।

ग्लिसरीन ऑफ बोरेक्स १ औंस, ग्लिसरीन आफ कार्वोलिक एसिड १ औंस, गुलाबजल १२ औंस इनको एकत्र मिला लेवें। इस समय अधिकतर अक्षिपुट अत्यन्त फूल जाता है और निमीलित अक्षिपुट से पूय निकलता है। इस अवस्था मे उष्ण बोरेसिक एसिड के द्रव से बार-बार चक्षु धोवें और साफ करें एवं इस द्रव का सेक (कम्प्रेस) भी देवें।

इस अवस्था मे विशेष कर रोगी के बल की रक्षा के लिये यथेष्ट परिमाणों मे उत्तेजक औषध और पुष्टिकारक पथ्य का विधान करें। ब्रिटिश फार्माकोपिया का एग्-एन्ड ब्रान्डी का मिश्रण देवें। विशेष कर मोती की भस्म अथवा मोती पीस कर गुलाबजल में खिलावें। सोने का वर्क मिलाकर सितोपलादि चूर्ण शहद में चटावें। इससे हृदय मे बल उत्पन्न होता है।

अथवा हृदय की अत्यन्त क्षीणता दिखलाई देने पर डिजिटेलिस् या केफीन अथवा हाइपोडर्मिक रूप से ईथर अथवा स्ट्रिकनाइन का प्रयोग करें। हृद्पिण्ड अवसादग्रस्त होने पर ड्यूजेर्डिन बोमेज साहेब के मत से सुरावीर्य, कुनाइन, केफीन और काफी के साथ दो बूँद (मिनिम) की मात्रा मे स्ट्रिकनाइन (कुचिलासत्त्व) प्रति घंटा मे अथवा दो घटा के बाद प्रयोग करें। अन्त्र परिष्कार करने के लिये बस्ति लगावें। अधिकतर ग्यारह से तेरह दिन मे चर्म की स्थिति और ललाई में कमी हो जाती

है और पिडिका सूख कर अदृश्य हो जाती है। इस समय भी रोगी को पुष्टिकारक पथ्य, उत्तेजक और बलकारक औषध कुनाइन, परक्लोराइड् आफ् आयरन और स्ट्रिकनाइन देना चाहिये। इस समय त्वचा की चिकित्सा भी पूर्ववत् करनी चाहिये। स्थानिक वा पिडिका की चिकित्सा के लिये विभिन्न चिकित्सक विभिन्न प्रणाली का अवलम्बन करते हैं। इसका विवरण नीचे लिखा जाता है।

(१) पूय पिडिका से पूय निकलने पर नाइट्रेट् आफ सिलवर का प्रयोग करते हैं। (२) रोगी को उजेला नहीं लगे अत. रोगी को अंधेरे मकान मे रखते हैं। (३) सूक्ष्म सूची से पिडिकाओं को छेदते हैं। (४) चर्म पर पारद का मलहम लगाते हैं। (५) रूई से शरीर पर कोलोडियम Collodium का प्रयोग करते हैं। इसके सिवाय मसूरिका के दाग न रहें, इसके लिये अनेक मलहम प्रयोग किये जाते हैं परन्तु, कुछ विशेष लाभ नहीं होता है।

शुल्वौषधियाँ

यद्यपि मसूरिका के विषाणुओं पर इनका कुछ भी परिणाम नहीं होता, तो भी पूयजनक कीटाणुओं से उत्पन्न होनेवाली आपत्तियों से ये औषधियाँ रोगी को बचाती हैं। अत इनका उपयोग प्रारम्भ से करने पर रोगी को बहुत सुख मिलता है। इनमे शुल्वगन्धाजवा (सल्फाथायोझोल) सबसे अच्छी है। मात्रा ½ ग्राम, दिन मे दो या तीन बार ७-१० दिन तक दें। यदि पूयावस्था के समय प्रारम्भ किया जावे तो १ ग्राम की मात्रा मे दिन में तीन बार देना चाहिये। इसके साथ सोडाबाईकार्व, निम्बोटिक अम्ल और पर्याप्त पानी देना चाहिये। रोगी का बल कम हो जाने पर बलकारक औषधियाँ (लायकर फेरीयरक्लोर १० बूँद, लायकर अर्सेनिक्यालिस २ बूँद, एसिड् हैड्रोक्लोरिक डिल्यूट १० बूंद, लायकर ट्रिकनीन १० बूंद, पानी १ औंस दिन मे तीन बार) देनी चाहिये।

पेनीसिलीन

इसका उपयोग विस्फोट निकलने के दिन से किया जा सकता है।

मात्रा २०-२५ सहस्र एकक प्रति तीन-तीन घण्टे पर पेशी मे देना चाहिये। पूयभवन की अवस्था मे इसका उपयोग सन्ततक्षरण (Continuous Drip) पद्धति से कर सकते हैं। कुछ चिकित्सकों का मत है कि पूय जनक जीवाणुओं के उपसर्ग मे होने वाले उपद्रवों के लिये शुल्वौपधियों की अपेक्षा पेनीसिलीन अधिक उपयोगी है।

गोमसूर्याहित बृहन्मसूरिका

(Varioloid)

गोमसूर्याधान से रूपान्तरित बृहन्मसूरिका को गोमसूर्याहित बृहन्मसूरिका कहते हैं। जिन्हे अंग्रेजी टीका लगाया जाता है उन्हे ही इस प्रकार की मृदुमसूरिका प्रकाशित होती है। रोग सहसा प्रबल रूप मे आरंभ होता है और देह का ताप १०३ डिग्री हो जाता है। अधिकतर प्राथमिक लक्षण मृदुभाव से प्रकाशित होते हैं किन्तु, शिर मे पीडा और पृष्ठ देश मे अत्यन्त कष्टदायक वेदना होती है। तीसरे दिन सायंकाल में वा चौथे दिन हाथ और मुख में घनपिडिकाएं निकल आती हैं। एक समय ज्वर लीन हो जाता है और स्वस्थ मालूम होता है। पिडिकाएँ शीघ्र ही जलपिडिका तथा पूयपिडिका मे परिणत हो जाती हैं किन्तु, उनसे ज्वर नहीं होता है। पिडिकाओं के सूख जाने पर क्षत के चिह्न नहीं रहते हैं। साधारणतया पाँच-छ वर्ष के मध्य मे जिन्हे अंग्रेजी टीका लगा है उन्हें मसूरिका ऐसे ही परिवर्तित आकार मे प्रकाशित होती है। किन्तु, रोग कभी-कभी अत्यन्त प्रबल हो जाता है, यहाँ तक कि साघातिक हो जाता है। इससे मसूरिका का क्या भेद है, यह नीचे लिखा जाता है।

(१) गोमसूर्याहित मसूरिका मे ज्वर तीन दिन तक स्थायी रहता है और पिडिका-निर्गमन सामान्य होता है। मसूरिका जब जनपद मे फैल जाती है तब इस रोग का आक्रमण होता है।

(२) गोमसूर्याहित मसूरिका ज्वर मे अत्यन्त प्रबल ज्वर होता है और पिडिका अल्प निकलती है, कभी-कभी केवल एक ही पिडिका देखी जाती है।

(३) प्रकृत गुटिका निकलने के पूर्व मे कभी-कभी शरीर पर स्कर्लेटिना के तुल्य गुटिका निकलती हैं।

(४) कभी-कभी गुटिका संयुक्त होकर निकलती है और व्रण के तुल्य होकर चौथे वा पाँचवे दिन सूख कर कठिन हो जाती है। फिर बाद को कठिन व्रण अदृश्य हो जाता है।

(५) किसी-किसी के शरीर में पूयपूर्ण, रसपूर्ण और व्रणरूप, इस भाँति कई प्रकार की गुटिकाएं एक समय मे निकलती हैं।

(६) कभी-कभी इस रोग में मसूरिका की गुटिका निकलने की प्रथा के अनुसार शरीर मे गुटिकाएँ निकलती हैं। किन्तु छठे वा सातवें दिन मे रोग के सब लक्षण शान्त हो जाते हैं। साधारणत: गोमसूर्याधान के जितने दिन के बाद मे यह रोग पैदा होता है, उतनी ही रोग की प्रखरता अधिक होती है।

(७) इसमे मसूरिका की गुटिका के तुल्य गुटिकाओं में दुर्गन्धि नहीं आती है। कभी-कभी ये ज्वर की द्वितीय अवस्था मे प्रकाशित होती हैं।

(८) रोमान्तिका, स्कार्लेटिना (आरक्तज्वर) पर्प्यूरा (Purpura) प्रभृति दानेवाले रोग इस रोग के सहवर्ती होने पर मसूरिका रोग के लक्षण रूपान्तरित होते हैं।

चिकित्सा—मृदु मसूरिका के तुल्य करनी चाहिए।

गोमसूरिका (Cow Pox, व **वैक्सीनिया** Vaccinea)

निरुक्ति—यह गौ की पिडिका निर्गमकारी पीडा है। इस पीडा के विप मनुष्य के शरीर मे टीका द्वारा प्रविष्ट करने पर टीका के स्थान पर पिडिका निकल आती है। तथा सब अङ्गों में मृदु लक्षण पैदा हो जाते हैं। इससे वृहन्मसूरिका के द्वारा आक्रान्त होने की कम सभावना रहती है।

उत्पत्ति

गोमसूरिका के प्रकृत स्वभाव के सम्बन्ध मे इस समय भी मतभेद देखा जाता है। अनेक विद्वानों का मत है कि अश्व की मसूरिका और

भेड़ की मसूरिका के तुल्य ही यह गोमसूरिका है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि मनुष्य की मसूरिका का जीवाणु गौ के शरीर में प्रविष्ट होने से मृदु प्रकृति को धारण करता है। फिर गोमसूरिका पैदा कर देता है, अतः इसका जीवाणु भी मानव मसूरिका की श्रेणी का है। वृहन्मसूरिका की पूय पिडिका से जीवाणु लेकर गौ, भैंस, गदहा आदि पशुओं को टीका लगा कर गो-मसूरिका उत्पन्न की जाती है। जब उनमे तरल युक्त पिडिकायें निर्मित हो जाती हैं तब उनको खुरच करके तरल पदार्थ (जीवाणुओं से युक्त लसीका) शुद्ध पात्र मे एकत्र कर लेते हैं। फिर इसको पूय-जनक अन्य कीटाणुओं से सुरक्षित करके कार्बोलिक ग्लिसरीन मे मिश्रित करते हैं और छोटी-छोटी शीशियों मे भर देते हैं।

टीका की प्रणाली

जिस व्यक्ति को टीका लगाना हो उस व्यक्ति की बाहु के ऊर्ध्व भाग में स्कन्धीय पेशी के ऊपर की त्वचा खींच कर तान रखें। फिर तीक्ष्ण छुरी वा प्रचलित विविध शस्त्रों से छील करके इसको प्रविष्ट करायें। उसके चारों तरफ २४ घण्टे अथवा ३६ घण्टे के बाद लालवर्ण की गोलाकार घनपिडिका उत्पन्न हो जाती है और यह पिडिका धीरे-धीरे बढ़ जाती है। पाँचवे या छठे दिन मे तरलमय पिडिका हो जाती है, इस समय पिडिका गोल हो जाती है। अस्वच्छ, तरल भरी हुई, उठे हुए कठिन किनारे हो जाते हैं और बीच का भाग खाली साफ-साफ मालूम होता है। दस दिन मे तरलमय पिडिका और भी बड़ा आकार धारण कर लेती है तथा विस्तीर्ण लाल वर्णवाले मण्डल वा चक्र (एरिओला) से घिर जाती है। पिडिका के चारो तरफ की त्वचा फूली, कठिन और वेदना युक्त हो जाती है। ग्यारहवे या बारहवे दिन में स्थानिक रक्त का वेग कम हो जाता है तथा पिडिका के अन्दर अधिकतर तरल घुलकर उसका सूखना शुरू हो जाता है। जब पिडिका का आकार बड़ा होकर स्फोट के आकार का मालूम होता है, तब दो-तीन दिन के

मध्य मे ज्वर आ जाता है। द्वितीय सप्ताह के अन्त में तरलमय पिडिका कृष्ण वर्ण के खुरण्ट में परिणत हो जाती है। खुरण्ट क्रमशः सूखकर कठिन हो जाता है। प्रायः एक सप्ताह के वाद अर्थात् टीका लगाने के दिन से लेकर के प्रायः २१ वा २५ दिन मे खुरण्ट गिर जाता है तथा मण्डलाकार गम्भीर क्षत के चिह्न रह जाते हैं। यदि आपस मे मिले हुए समीप-समीप के दो स्थानों में टीका लगाया गया है तो, दोनों तरलमय पिडिकायें एक में मिलकर एक वडा स्फोट बन जाता है।

टीका लगाने के वाद न्यूनाधिक परिमाण में, सब अङ्गों मे सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। प्रायः तीसरे वा चौथे दिन ज्वर हो जाता है। ८-९ दिन तक ज्वर वर्तमान रहता है और बढता है। वालकों के टीका लगाने पर गोमसूरिका के तुल्य पिडिकायें निकल आती हैं। पिडिकाओं की वृद्धि के समय ज्वर के साथ-साथ बेचैनी, विशेषकर रात्रि मे विह्वलता वढ़ जाती है और सब अङ्गों मे वेदना होती है। किन्तु ये सब लक्षण सामान्य होते हैं। यदि वाह के ऊपरी हिस्से में टीका लगाया गया है, तो वगल (कक्ष) की लसीका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं और उनमे पीड़ा होती है। पाद मे टीका लगाने पर वंक्षण की ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। वालकों के सम्पूर्ण अङ्ग मे पिडिकाये नहीं निकलती हैं और यदि पिडिकायें निकलती भी हैं तो वे स्पर्शाक्रामक नहीं होती। इससे वृहन्मसूरिका की आक्रमण शक्ति नष्ट हो जानी है। इसका कारण यह है कि मसूरिका और गोमसूरिका का विष एक ही है, इसलिये गोमसूरिका को उत्पन्न करके, उसका वीज लेकर टीका लगाने पर मसूरिका को रोकने के लिये शरीर मे प्रति विष उत्पन्न हो जाता है। किन्तु टीका की मसूरिका की रोग नाशिनी शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की देखी जाती है। किसी-किसी मे यह शक्ति चिरकाल तक रहती है, प्राय चेचक के टीके का प्रभाव १०—१२ वर्ष तक रहता है। इसके वाद प्रभाव नष्ट हो जाता है। उस समय मसूरिका रोग प्रवल हो सकता है।

एक वार टीका लगाने पर यदि वह न उठे, तो १०—१५ दिन के मध्य में फिर टीका देवें। दूसरी बार टीका लगाने पर (टीका उठने के

सम्बन्ध मे) विभिन्न व्यक्तियों मे और भिन्न-भिन्न काल मे आश्चर्यजनक विलक्षणता देखी जाती है। मसूरिका रोग के उत्पन्न होने पर यदि एक वार टीका देना व्यर्थ हो जाता है, तो दूसरी वार टीका लगाने पर तरल पिडिका निकलती है और प्रायः यह प्रथम टीका की अपेक्षा वहुत छोटी होती है। उसकी दृढता, रक्त की गति और परवर्ती क्षत के चिह्न कम होते हैं। फिर भी टीका की तरलमय पिडिका के प्रति ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि कभी-कभी मसूरिका की पिडिका निकल आती है और शीघ्र ही पिडिका तरल से भर जाती है। ८—९ दिन के मध्य मे उस पर खुरण्ट वंध जाता है। कभी-कभी दूसरी वार टीका लगाने पर प्रवल, विपम, लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु पहले टीका का क्रम और लक्षण नियमित होते है। फिर भी समय-समय पर ऐसी पिडिका देखी जाती है, जो स्फोट का आकार धारण कर लेती है, उसमे कण्डू उत्पन्न हो जाती है और अन्दर का तरल अस्वच्छ होकर सूख जाता है। ७—८ दिन के मध्य मे खुरण्ट वंध जाती है। कभी-कभी टीका के स्थान के पास में वहुत सी तरलमय पिडिका निकल आती है। कभी-कभी मणिवन्ध (पहुंचा) के समीप मे वा पृष्ठ देश से आरम्भ होकर देह के भिन्न-भिन्न स्थानों मे पिडिका निकल आती है। टीका देने के वाद प्राय' ५-६ सप्ताह तक गौड़ (सेकेन्डरी) पिडिकायें निकलती हैं। कभी-कभी यह रोग वालकों मे सांघातिक हो जाता है। जिस अङ्ग मे टीका लगाया जाता है प्राय. उसी अङ्ग मे पिडिकाये निकलती हैं। ८-१० दिन के मध्य मे खुरण्ट वंध जाता है।

उपसर्ग

टीका लगाने के वाद अस्वस्थ व्यक्ति में, सफाई आदि के अभाव से अथवा स्थानिक चोट लग जाने से तरल पिडिकायें शोथ युक्त हो जाती हैं फिर गहरा घाव हो जाता है। कभी-कभी घाव भी सड जाता है। अथवा गम्भीर कोमल धातु प्रदाह (सेल्यूलाइटिस्) पैदा हो जाता है। दुर्वल व्यक्तियों के इन अवस्थाओं के साथ-साथ शरीर

में परप्यूरा (Purpura) के तुल्य पिडिकायें निकल आती हैं। किन्तु ये पिडिकायें बहुत कम देखी जाती हैं। प्राय. शरीर मे भिन्न-भिन्न प्रकार की पिडिकायें निकलती हैं। इनमे बहुत-सी टीका के विष से निकलती हैं और बहुत-सी गोमसूरिका के विष के साथ अन्य सक्रामक पीडा के विष से मिलकर उत्पन्न होती हैं। अधिकाश स्थल मे एरिथिमा (Erythema) और रोजिओला (Roseola) के तुल्य पिडिकायें निकलती हैं। कभी-कभी टीका के विष के साथ स्पर्शाक्रामक इम्पोटाइगो (Empotigo) पीडा का विष शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। और सब अङ्गों में रोग प्रकट हो जाता है। कभी-कभी साघातिक धनुस्तम्भ (Tetanus) उत्पन्न हुआ देखा जाता है। टीका से विविध पीड़ायें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में पहुच सकती हैं। यथा—टीका के बीज के साथ उपदंश का विष दूसरे व्यक्ति मे प्रवेश हो जाता है। ऐसा होने पर टीका लगाने के बाद प्राय तरल पिडिकायें जैसे उत्पन्न होती हैं उसी भाति उत्पन्न हो जाती हैं। बाद को इन पिडिकाओं के सूखने के समय अथवा सूखने के बाद उस स्थान पर औपदंशिक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। नियमानुसार बनाया हुआ टीकापूय (लिम्फ) से टीका लगाने पर भी अनेक विषम रोग पैदा हो जाते हैं। आजकल, इसीलिए लिम्फ (पूय) से टीका नहीं लगाया जाता है।

औपदंशिक मसूरिका

(वैक्सिनो-सिफलिस)

जिन स्थानों पर इन पिडिकाओं का लिम्प लगाया जाता है प्राय उनके मध्य मे एक या दो स्थानों में औपदंशिक आद्यक्षत (शैङ्कर) प्रकाशित हो जाता है। सामान्य प्रदाह होता है तथा स्थानिक वाह्य विधान नष्ट हो जाता है।

अल्प पूय होता है अथवा होता ही नहीं। क्षत के ऊपर पपडी पड़ जाती है। शैंकर के कोने मसृण, कुछ उन्नत और क्षत प्रदेश के साथ मिले रहते हैं।

जो दृढीभूत (इण्ड्यूरेशन) होता है वह पार्चसेन्ट के तुल्य और विशिष्ट औपदंशिक स्वभाव वाला होता है। केवल जो प्रादाहिक स्वभाव के तुल्य होता है, वह तत् सदृश नहीं होता। क्षत का परिवेष्टक मण्डल साधारण प्रदाहयुक्त होता है। वद (व्रध्न) की उत्पत्ति, न्यून उपद्रव, टीका के बाद १५ दिन तक शैंकर नहीं पैदा होता है। प्रायः २१ से ३५ दिन के बाद अथवा २० दिन के बाद प्रकाशित होता है।

औपदंशिक गोमसूरिका (वैक्सिनोसिफिलिस) जन्य गौण औपदंशिक पिडिका टीका लगाने के अन्त मे ९ से १० सप्ताह के पश्चात् शैङ्कर प्रकट होता है। प्रत्येक स्थलपर टीका के स्थान में पहले से शैंकर विद्यमान रहता है। प्रकृत औपदंशिक पिडिकाएँ शरीर में निकलती है। ज्वर सामान्य तथा दीर्घकालस्थायी रहता है।

प्रायः अनेक स्थानों मे श्लैष्मिक कला मे विशेष औपदंशिक चिन्ह और लक्षण साथ-साथ रहते है।

पहले टीका के स्थान मे स्थानिक लक्षण प्रकाशित होते है। शैंकर और दुष्ट व्रध्न (व्यूबो) प्रकाशित होता है।

रोग चार निर्दिष्ट अवस्थाओं मे परिवर्धित होता है। यथा—(१) प्राथमिक गुप्तावस्था, (२) शैंकर, (३) गौणगुप्तावस्था और (४) सार्वाङ्गिक-पीडावस्था इत्यादि।

टीका देने के बाद नौ या दश सप्ताह से पहले कोई लक्षण प्रकाशित नहीं होते हैं।

टीकाजन्यक्षत

(वैक्सीनेशन अलसर)

टीका लगे हुए स्थान की सब पिडिकाएँ क्षतग्रस्त होती है। प्रदाह और क्षत प्रबल तथा गम्भीर होता है।

विलक्षण पूयोत्पत्ति होती है। कोमल आद्यक्षत (साफ्ट शैंकर) के

समान क्षत के किनारे अनियमित होते हैं। क्षत का तलदेश रूक्ष और पूयमय होता है।

मण्डल प्रदाहयुक्त और विसर्पज्वर (एरिसिपेलस) के स्वभाव वाला होता है, लसीका ग्रन्थि शोथयुक्त हो जाती है, यह स्थिति प्रदाहजनित होती है।

गलितक्षत और विसर्प प्रभृति उपद्रव होते हैं। टीका देने के बाद १२ से १५ दिन में क्षत प्रकट हो २० दिन मे प्राय. पूर्ण परिवर्धित हो जाता है।

वेक्सीनेशनजनित विविध पिडिकायें।

गुलाबी पिडिका (रोजिओलावैक्सीनेलिम), सर्षपाकार पिडिका (मिलिरेरिया वैक्सीनेलस) वैक्सीनिया क्यूलोसा, वैक्सीनिया हेमरेनिका (अधोरक्त स्रावीपिडिका) तथा और भी इन से भिन्न पिडिकाएँ देखी जाती हैं। यथा, रुब्यूला, स्कार्लेटिना (आरक्तमण्डल) लाइकेन (अँधौरी के तुल्य पिडिकाएँ), आर्टीकेरिया (उदर्द के तुल्य चकत्ते) इत्यादि। शरीर में विशुद्ध गोमसूरिका के लिम्फ के टीका से उत्पन्न हुई पिडिकाएँ टीका लगाने के बाद ९ से १५ दिन के मध्य में प्रकाशित होती हैं। टीका के स्थान मे शैंकर नहीं होता है। निकली हुई पिडिकाओं में औपदंशिक स्वभाव नहीं होता है किन्तु ज्वर सदा वर्तमान रहता है।

यह शीघ्र ही अदृश्य हो जाती हैं, टीका देने के समय जो पूर्व पुरुष से आगत उपदंश, प्रकाशप्राय और शैङ्कर नहीं प्रकाशित होता है, टीका लगाने के साथ निर्दिष्ट उपदंश की वृद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। टीका देने के साथ सम्पूर्ण लक्षण प्रकाश होने का कोई सम्बन्ध नहीं है॥

उपदंश की विशेष दैहिक अवस्था वर्त्तमान रहती है।

पुरुष के अनुक्रम से आये हुए उपदंश के अन्यान्य लक्षण वर्त्तमान रहते हैं। पूर्व इतिहास से उपदंश-निर्देश किया जा सकता है।

टीका लगाने के निमित्त बीज (लिम्फ) का निर्वाचन—यदि मनुष्य के

टीका से बीज लेना हो तो टीका देने के बाद आठ दिन में पूरी बढ़ी हुई, अच्छिन्न, स्वस्थ रसवटी से (पिडिका) बीज लेवें। रसवटी के गात्र में सूई चुभोने वा उकसा देने से रस निकलने लगता है।

सूई सावधानी से चुभावें, जिससे रक्त न निकले। इस रस को केशिक काचनली में इकट्ठा कर लेवें। यदि बालक के टीका से यह बीज लेना हो तो, उसके पूर्व पुरुष का देह स्वस्थ और बालक का देह स्वस्थ, बलवान् तथा औपदंशिक वा ट्यूबर्क्यूलर (बुणाकार यक्ष्म पिडिका) दोष आदि से विहीन होना आवश्यकीय है। इन सब कारणों से गोवत्स का बीज लेकर मनुष्य में एक या दो बार टीका लगावें, फिर उस मनुष्य के बीज (लीम्फ) का टीका देने पर अच्छा कार्यकारी होता है और फल भी अच्छा होता है।

जिस गौ के बछड़े में टीका लगाना हो, वह स्वस्थ और बलिष्ट होना चाहिए। गो-बीज से उल्लिखित कुफल होने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। कारण यह है कि गौ के वत्समें उपदंश वा ट्यूबर्क्यूलोसिस् (Tuberculosis) (यक्ष्मा) दोष विरल ही होता है।

विविध प्रकार से गोमसूरिका मनुष्य के शरीर में प्रवेश कराई जा सकती है। साधारण रीति से बाहु के ऊर्ध्व भाग में स्कन्धीय (डेल्टयिड्) पेशी के ऊपर का चर्म खींचकर तान रक्खें फिर तीक्ष्ण छुरी से अथवा प्रचलित विविध प्रकार के यन्त्र से सूक्ष्म-सूक्ष्म कर्तन करके उसमें बीज (लिम्फ) लगाने से बीज शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है।

अधिकतर बालक को दूसरे वा तीसरे महीने में टीका लगवाना चाहिये। यदि टीका न उठे तो बीच बीच में फिर प्रयोग करें। मसूरिका रोग के प्रादुर्भाव के समय दूसरी बार टीका लगाना चाहिये। इससे अधिकांश स्थल में मसूरिका का भय नहीं रहता है।

प्रतिषेध—बालक यदि अस्वस्थ हो तो, टीका नहीं लगाना चाहिये, अन्यथा, अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा

साधारणतया मृदु विरेचक औषध विरेचन के लिये देना चाहिये। इसके सिवाय और किसी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। विविध उपसर्गों की चिकित्सा यथा रीति से करनी चाहिये।

लघु मसूरिका

(Chicken Pox)

निरुक्ति—स्वल्प ज्वर के साथ तरल युक्त पिडिका निकलनेवाली विशेष सक्रामक रोग को "लघु मसूरिका" कहते हैं। यह अधिकतर छोटे-छोटे बालकों को होता है। लघु मसूरिका देश मे व्यापक रूप से प्रकाशित होती है किन्तु, विक्षिप्त रूप से रहती है। मसूरिका से यह बिल्कुल भिन्न होती है, दोनों के मध्य मे कोई संबन्ध नहीं देखा जाता। लघु मसूरिका से आक्रान्त होने पर वृहन्मसूरिका का आक्रमण नहीं होता, ऐसा नही है। वास्तव मे इन दोनों पीडाओं के मध्य मे एक पीड़ा का आक्रमण दूसरी पीडा का निवारण नहीं करता है। इसका परिपाक समय तेरह से सोलह दिन तक है और मर्यादा ग्यारह से चौवीस दिन तक है। लघु मसूरिका के उत्पादक जीवाणुओं का अभी तक पता नहीं चला है।

लक्षण

रोग का अदृश्य जीवाणु शरीर मे प्रविष्ट होने के बाद १०-१५ दिन गुप्तावस्था मे रह कर मृदु ज्वर प्रकाशित करता है। कभी-कभी सामान्य शीत लगकर ज्वर आरम्भ हो जाता है और हाथ-पैरों तथा पृष्ठ वंश मे वेदना होती और वमन होता है। द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है। अधिकतर चौवीस घंटे के मध्य मे बिना किसी लक्षण के शरीर पर पिडिकाएँ निकल आतीं हैं। पिडिकाएं पहले हाथ-पैर, वक्षःस्थल, उदर, पीठ तथा मुख मे निकलती हैं। कभी-कभी पहले ललाट और मुख मे निकलती है और किसी-किसी स्थल पर पूर्व अवस्था मे शिरोवेदना, अङ्गमर्द आदि लक्षण उत्पन्न होकर पिडिकाएँ

निकलती हैं। अथवा पिडिका निकलने के बाद ये लक्षण प्रकट होते हैं। सबसे पहले पिडिकाएं त्वचा से उभरी हुई लाल घन पिडिकाओं के सदृश मालूम होती हैं कई घण्टा के मध्य में ये स्वच्छ अथवा धुमैली, अर्ध गोलाकार वटी मे परिणत हुई मालूम होती हैं। प्राय' पिडिकाओं का मध्य भाग अवनत नहीं होता है किन्तु, कभी-कभी बीच का भाग खाली भी होता है। कोई-कोई पिडिकाएँ चपटी और कोई अण्डाकार होती हैं किन्तु, वृहन्मसूरिका के तुल्य गंभीर नहीं होती हैं। पिडिकाओं के चारों तरफ की त्वचा रक्त के वेग से ग्रस्त अथवा उत्सृष्ट पदार्थ से परिपूर्ण (इन्फिल्ट्रेटेड) नहीं होती हैं। कुछ ही घंटे मे पिडि ाएँ तरलमय हो जाती हैं, फिर ३६ घण्टे से ४८ घण्टे के बाद पिडिकाओं का तरल पूय मे परिणत हो जाता है। इसके बाद पिडिकाओं का संकोच होना आरम्भ हो जाता है। तीसरे वा चौथे दिन काले-पीले वर्ण की पपडी हो जाती है, बाद मे फिर पपडी गिर पडती है। पपडी के गिर जाने पर दाग अथवा क्षत का चिह्न नहीं रहता है। पीडा के पहले २-३ दिन तक नवीन पिडिकाएँ निकलती हैं। ये प्राय' अलग-अलग पिडिकाएं होती हैं। कभी-कभी ये संयुक्त होकर के भी निकलती हैं। लघु मसूरिका इतने मृदु भाव से प्रकाशित होती है कि इसके निकलने पर भी बच्चे खेलते रहते हैं, इसमें ज्वर ९०-१०० तापांश तक होता है।

रोगी को सामान्य दुःख होता है। पिडिकाओं को देखने से मालूम होता है कि रोगी के शरीर पर किसी ने गरम जल डाल दिया हो और उससे प्रति बूँद मे एक-एक छोटा-छोटा फफोला पड़ गया हो। इन तरलमय पिडिकाओं को यदि छेडा न जाय, तो ये पूयमय नहीं होती हैं।

कभी-कभी ये तरलमय पिडिकाएँ इतनी गोलाकार हो जाती हैं, कि ये देखने में एक्थाइमा (Ecthyma) और पेम्फाइगस (Pemphigus) के तुल्य प्रतीत होती हैं। लघु मसूरिकाओं के दाने में अत्यन्त उग्रता वर्तमान रहती है। रोगी के खुजलाने पर छिल जाती है जिनसे क्षत हो

जाता है। घाव के सूखने पर खराव दाग पड़ जाता है। लघु मसूरिका मे ज्वर मृदु होने पर भी पिडिकाओं के निकलने पर नही छूटता है। लघु मसूरिका एक वार हो करके फिर दूसरी वार भी हो सकती है। कभी-कभी इस रोग से दुर्वल, विशेषकर घुणाकार यक्ष्मपिडिका (ट्यूवर्क्यूलर) ग्रस्त वालकों की पिडिकाओं के स्थान मे सडा हुआ घाव उत्पन्न हो जाता है। इसके सिवाय श्लैष्मिक कला से रक्तस्राव, वृक्कशोथ, पक्षाघात प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं।

रोगनिर्णय

रोग की प्रथम दशा मे रोग का निर्णय करना अत्यन्त सरल है। किन्तु, जव सव पिडिकाएँ भलीभाँति वाहर निकल आती हैं, तव रोगी को देखा जाए तो रोग का निर्णय करना अनेक समय मे कठिन हो जाता है। लघुमसूरिका की पिडिका हाथ-पैरों में अधिक निकलती हैं। पिडिकाएँ गम्भीर न होकर फफोले के तुल्य होती है। इनके चारों तरफ उत्सृजन से उत्पन्न हुए गम्भीर मण्डल नहीं दिखाई पडता है। वढी हुई पिडिकाएँ इनसे भिन्न अवस्थाओं को धारण करती हैं। वे सव एकत्र होकर शरीर मे वर्तमान रहती हैं। वृहन्मसूरिका की पिडिकाएँ पहली अवस्था में छूने से मटर के वरावर छोटी-छोटी कठिन मालूम होती हैं, लघु मसूरिका की पिडिकाएँ वैसी नहीं मालूम होती हैं। मसूरिका रोग मे सव अंगों में होने वाले सम्पूर्ण लक्षण, आक्रमणावस्था की तीक्ष्णता और काल की अधिकता आदि विषयों पर दृष्टि रखने से लघु मसूरिका का प्रभेद किया जा सकता है।

चिकित्सा

किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। जिन वालकों को यह रोग हो जाय उनसे अन्य वालकों को पृथक् रहना चाहिये। किसी-किसी स्थल पर रोगी को शीघ्र ही शय्या पर आराम करने की आवश्यकता होती है। लघुपथ्य, लावणिकविरेचन और मूत्रकारक औषधों का अनेक स्थल में आवश्यकता होती है। मुख मे यदि अधिक

पिडिका निकली हो, तो रोगी पिडिकाओं को नोचने और खुजलाने न पावे यह ध्यान रखें। स्निग्धकारक द्रव या लिन्ट को भिगोकर पिडिकाओं के ऊपर रखने से विशेष फल होता है।

रोमान्तिका

(Measles)

निर्वचन—इसमें नासिका और कण्ठ की श्लैष्मिक कला में सूजन हो जाती है और चौथे दिन इसमें पिडिकाएं निकल आती हैं। यह तरुण संक्रामक और अत्यन्त स्पर्शाक्रामक अनियमित ज्वर युक्त पीडा है, इसको रोमान्तिका कहते हैं।

कारण

जीवाणु ही इस रोग का प्रधान कारण है। इसका कारण यह है कि रोमान्तिका वाले रोगी के रक्त में, त्वचा की केशिकाओं में, कोष में स्फोटों में, श्लेष्मा और थूक में अणुवीक्षण यन्त्र से परीक्षा करने पर गोल जीवाणु (Micrococcus) देखे गये हैं। शरीर के मध्य में विशेष आणुवीक्षणिक जीवाणु के प्रविष्ट होने से यह रोग उत्पन्न हो जाता है। किन्तु, इस रोग के जीवाणुप्राप्ति में अभी मतभेद है। प्रारम्भ में रोग के छूटने के बारह दिन बाद भी जबतक पिडिकाओं की पपड़ी नहीं उतरती तबतक पिडिकाओं और खुरण्ट में इसके जीवाणु रहते हैं।

स्पर्शाक्रामक

मनुष्य जीवन धारण करने पर जैसे कोई नर-नारी ज्वर से नहीं बचता है, वैसे ही शिशुमात्र भी जीवन में एक न एक बार रोमान्तिका रोग से अवश्य ही आक्रान्त होता है। प्रायः दो वर्ष से पांच वर्ष के बच्चों को यह अधिक होता है। रोमान्तिका सबसे अधिक संक्रामक और कष्टदाय रोग है। रोगी के प्रश्वास से और त्वचा से उत्पन्न हुई वाष्प से इसका विष दूसरे व्यक्ति में चला जाता है। वृद्ध और युवा की अपेक्षा बालकों को यह रोग अधिक होता है। यदि मकान में एक लड़के को यह रोग होता है

तो उस मकान के अन्य लडके भी इससे नहीं बचते हैं। जननी की एक सन्तान को रोमान्तिका होने पर दूसरी सन्तान मे भी यह रोग फैल जाता है। इसका कारण यह है कि अज्ञानता से रोगग्रस्त शिशु को माता अति प्यार करती है। स्वस्थ बालक और बालिका को भी उसके पास लिटा देती है जिससे उन्हे भी यह रोग हो जाता है। स्कूलों मे जो लड़के पढते है प्राय' वे जूठी पेन्सिल लेकर व्यवहार करते हैं, इनमे से जो बालक रोमान्तिका-ग्रस्त होता है, उसकी जूठी पेन्सल लेकर स्वस्थ लडके अपने मुख में लगा लेते हैं, जिससे थूक के द्वारा पेन्सिल मे लगे हुए जीवाणु उसमे प्रवेश कर जाते हैं। स्पर्श से दूषित वस्त्रों के द्वारा और कभी-कभी परिचारक द्वारा भी यह रोग फैलता है। यह रोग सब आयु मे होता है। दात निकलने तक बालक की रक्षा करने पर रोग का विष उतना प्रबल नहीं होता है। ६ मास से न्यून बालकों मे यह रोग कम देखा गया है। किन्तु किसी-किसी के भ्रूण अवस्था मे भी पाया जाता है। रोमान्तिका का एक बार आक्रमण हो जाने पर फिर आक्रमण नहीं देखा जाता है, क्योंकि रोग-क्षमता बढ जाती है। यह रोग-क्षमता कई साल तक रहती है किन्तु, किसी-किसी को दो-तीन बार यहाँ तक कि चार बार भी इस रोग से आक्रान्त होते देखा जाता है।

इतिहास

१८८४ ई० मे फीरो द्वीप मे यह एक बार हुआ था। पहले वहां के वासी इस पीडा का नाम भी नहीं जानते थे। किन्तु आबाल नर-नारियाँ इस कष्टप्रद संक्रामक, स्पर्शाक्रामक रोग का भोग किया था। फीजी द्वीप के आदि काल मे फीजीवासी उसका नाम भी नहीं जानते थे। किन्तु, इंगलैण्ड निवासियों ने जब वहा पर जाकर वास किया तब उन्हीं के संसर्ग से इस दारुण व्याधि की वहा पर उत्पत्ति हुई। किन्तु, भारतवर्ष मे इसका अस्तित्व पूज्य महर्षियों ने कई सहस्र वर्ष पहले ही जान लिया था। इसीलिये वे चरक-सुश्रुत मे इस रोग का वर्णन कर गये हैं।

काल—हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु में इस रोग की उत्पत्ति होती है।

लक्षण

अन्यान्य पिडिका निकलने वाले ज्वरों के समान इस ज्वर को पांच अवस्थाओं में विभक्त करते हैं। (१) गुप्तावस्था, (२) आक्रमणावस्था, (३) पिडिका निर्गमनकारिणी अवस्था, (४) रोगावनति अवस्था और (५) रोग के पश्चात् दौर्बल्यावस्था।

गुप्तावस्था

यह दस से चौदह दिन तक स्थायी रहती है। किसी-किसी स्थल में संक्रमण से शरीर के मध्य में रोग का विष प्रवेश होने के बाद सातवें दिन और कभी-कभी तीन सप्ताह के बाद रोग के लक्षण प्रकाशित होते हैं। रोग की इस गुप्तावस्था में कोई लक्षण प्रकट नहीं होते हैं।

रोगाक्रमणावस्था

यह अवस्था चार-पांच दिन तक स्थायी रहती है। एकाएक क्षुधा नष्ट हो जाती है। शिर में पीडा, बेचैनी, शीत लगना, कभी-कभी कम्प और कभी द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है। कभी रोग के आरम्भ में प्रतिश्याय के लक्षण अथवा नासिका से रक्तस्राव, वमन, उदर रोग, अङ्गमर्द आदि उपस्थित हो जाते हैं। कई एक घण्टा में देह का ताप १०२ डिग्री अथवा इससे भी अधिक हो जाता है। समस्त रोग के आक्रमण की दशा में देह का ताप एक ही रूप में रहता है। कभी-कभी सामान्य ही न्यूनाधिक्य देखी जाती है। किसी-किसी स्थल में दूसरे या तीसरे दिन ज्वर छूट जाता है और क्षुधा फिर बढ जाती है। रोगी को रोग बढने का अनुमान भी नहीं रहता है। कभी-कभी रोग के आरम्भ से प्रतिश्याय के लक्षण उत्पन्न हो जाने से नासिका से पानी निकलने लगता है और छींके आने लगती हैं। कभी-कभी श्वास भी आने लगता है, प्रकाश सहन नहीं होता है, आंखें लाल हो जाती हैं और उनसे आँसू बहने लगते हैं। मुखमण्डल और नेत्र की पलकें फूल जाती हैं

तथा अक्षिकला लाल हो जाती है। कभी-कभी प्रथम से ही स्वरभेद और खाँसी आने लगती है और वक्षस्थल का शब्द आकर्षण यंत्र से सुनने पर उच्चग्रामयुक्त स्वर (सिबिलेन्ट) अथवा निम्नग्रामयुक्त स्वर (सेनोरस-ब्रोङ्काई) सुन पड़ता है।

गलनली और तालु की श्लैष्मिककला में रक्त की अधिकता हो जाने पर वहाँ से रक्तस्राव होने लगता है। जिह्वा श्वेतमल से ढकी हुई रहती है और इस मल के नीचे लाल-लाल पिडिकायें निकल आती हैं। नाडी की गति तीक्ष्ण और पूर्ण होती है। नाडी की गति और श्वास की गति ताप की अपेक्षया अधिक होती है। श्वासनलीय शोथ या फुफ्फुस शोथ (निमोनिया) का उपक्रम न करने पर नाडी अधिक तीव्र नहींहोती है। कभी-कभी इस आक्रमणावस्था के अन्त में स्वल्पविराम युक्त ज्वर पैदा हो जाता है किन्तु, अधिक ज्वरका ह्रास नहीं देखा जाता है। कभी-कभी स्वरयंत्र की नाडियों में उग्रता पैदा हो जाने से स्वर यन्त्रीय आक्षेपिक रोग उपस्थित हो जाता है किन्तु, यह रोग बहुत कम देखा जाता है। श्वासमार्ग की श्लैष्मिक कला में उग्रता होने से श्वास-कृच्छ्र उपस्थित हो जाता है। ज्वर प्रबल होने पर प्रलाप आदि वात सम्बन्धी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी रोग की प्रबलता से रोगी की इस अवस्था में मृत्यु भी हो जाती है।

रोग की प्रवर्द्धनावस्था

यह अवस्था चार दिन तक स्थायी रहती है। इस समय शरीर का ताप बढकर १०४ से १०५ तापांश तकहो जाता है। चौथे दिन पिडिकायें निकल आती हैं। दूसरे वा तीसरे दिन पिडिकाओं के निकलने के प्रथम मुख के अन्दर श्लैष्मिककला पर और कभी-कभी मसूड़ों के ऊपर भी रक्तवर्ण के चिह्न प्रतीत होते हैं। इनका मध्य भाग नीला-सा प्रतीत होता है। ये चिह्न ३-४ दिन तक स्थित होकर नष्ट हो जाते हैं। ये चिह्न रोग-निर्णय करने में बहुत सहायता देते हैं क्योंकि, ये इसी व्याधि में देखे जाते हैं।

चौथे दिन सबसे पहले पिडिकाएँ ललाट में, कपाल के पार्श्व में, कानों के पीछे और बालों के मूल में और बाद को ग्रीवा के पिछले भाग में निकलती हैं। प्रथम वह स्थान रक्तवर्ण का हो जाता है, बाद को पिडिकायें उभर आती हैं। इसके बाद देह में, हाथ-पैरों में, वक्ष और उदर में एक-दो दिन के अन्दर में पिडिकायें निकल आती हैं। कभी-कभी कई एक घण्टों के मध्य में गात्र के ऊपर सब पिडिकायें सम्पूर्ण रूप से बढ जाती हैं। किन्तु, इनकी वृद्धि में तीन दिन का विलम्ब होता है, किसी-किसी का मत है कि किसी स्थान की पिडिकायें चौबीस घण्टा स्थायी रहने के पूर्व ही एक में मिलना आरम्भ कर देती हैं। इसलिये देह के अन्य स्थानों में पिडिका निकलने के पहले मुखमण्डल और ग्रीवा की पिडिकायें मिल जाती हैं। किसी-किसी का मत है कि मुखमण्डल की पिडिकायें तीन दिन स्थायी रहने के बाद मिलती हैं, इसका कारण पिडिकाओं का घनत्त्व है। ये पिडिकायें कुछ उभरी हुई, घनी और रक्तवर्ण की दिखाई देती हैं। यहाँ तक कि गोल, अर्धचन्द्र के तुल्य घेरेदार मालूम होती हैं। जब पिडिकायें अच्छी तरह नहीं निकलती हैं अथवा निकल कर शीघ्र ही अदृश्य हो जाती हैं तब ज्वर विषम स्वरूप धारण कर लेता है और उपद्रवादि प्रबल रूप से प्रकाशित हो जाते है। परन्तु, किसी-किसी चचिकित्सक का इससे भिन्न मत है—उनका मत है कि किसी कारणवश ज्वर बढ जाने पर पिडिकायें फिर निकल आती है। पिडिकायें स्थान-स्थान पर अल्प स्थान को घेर कर, गोलाकार व मण्डल के अंश रूप में होकर निकलती हैं।

त्वचा में कुछ शोथ हो जाता है। जिससे बालक शोथयुक्त मालूम होता है। पिडिकायें निकलने से ज्वर कम हो जाता है। दो-चार दिन में पिडिकायें मुर्झाने लगती हैं और ६-७ दिन में खुरण्ट निकलने शुरू हो जाते हैं। सात दिन से लेकर १० दिन के मध्य में अतिसूक्ष्म खुरण्ट निकल जाते हैं। परन्तु कण्ठ कई दिनों तक विकारयुक्त रहता है और खाँसी भी रहती है। यदि इस समय ज्वर शान्त न हो तो कोई भी उपद्रव पैदा होने की सम्भावना रहती है।

इस समय श्वास-यन्त्र की श्लैष्मिककला मे सूजन मालूम होती है। वक्ष-स्थल पर प्रतिघात करने से शून्य गर्भवाला शब्द सुनाई देता है और उच्चग्रामयुक्त शब्द (सिबिलेन्ट राल्स), केशमर्दनवत् शब्द (Crepitation) प्रकाशित होता है। कभी-कभी फुफ्फुस रोग के लक्षण प्रकाशित होते हैं। यथा—प्रणालीय श्वसनक ज्वर (Broncho-Pneumonia), कैशिक श्वासनलीय शोथ (Bronchitis-Capillary) अथवा फुफ्फुसीय पतनावस्था (Collapse) उपस्थित हो जाता है तथा और भी अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी पिडिकाओं से रक्तस्राव होने लगता है तो कभी-कभी पिडिकाओं मे जलन और खुजली होने लगती है। जिससे रोगी वहुत वेचैन हो जाता है। जल-वायु के संसर्ग से ये लक्षण वढ जाते हैं।

रोगावनति दशा

प्रायः शीघ्र ही शरीर का सन्ताप कम होकर एक साथ ज्वर उतर जाता है।

रोगान्त दौर्वल्यावस्था

इस अवस्था मे पिडिका से छोटे-छोटे मत्स्यत्वक् के तुल्य खुरण्ट निकलते हैं। रोग के प्रवल न होने पर प्रतिश्याय के लक्षण स्वयं शान्त हो जाते हैं। किन्तु, कभी-कभी श्लैष्मिक कला मे अधिक सख्या मे पिडिकाओं के निकलने से प्रतिश्याय इतना प्रवल हो जाता है कि शरीर के खुरण्ट गिर जाने पर भी प्रतिश्याय (जुकाम) वना रहता है।

उपद्रव

रोमान्तिका रोग में अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। रोग की प्रथम-अवस्था मे वा वर्धितावस्था में द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है। इसके सिवाय कूजित कास (croup), स्वरयन्त्रीय आक्षेप, कैशिक-श्वासनलीय शोथ (ब्रोंकाइटिस् कैपिलरी), फुफ्फुस प्रणालीय प्रदाह, नासिका से रक्तस्राव, उदरामय, मुख और योनि के मध्य मे सडा हुआ घाव, कर्णशोथ, वधिरता, चक्षुशोथ प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

उपद्रव की प्रबलता के अनुसार रोग विषम हो जाता है। पूर्वोक्त सब उपद्रव यक्ष्मा, गण्डद्वेषीव्रण (कैंक्रसओरिस्), हनु की मृतास्थि (निक्रोसिस्) आदि रोमान्तिका ज्वर के परवर्ती फलस्वरूप प्रकाशित होते है।

शवच्छेदीय शारीरतत्त्व निरूपण

रोमान्तिका ज्वर से मरे हुये व्यक्ति का शवच्छेद करके देखने पर अधोलिखित चिह्न मिले हैं। नीला अथवा पीले-लालवर्ण का रक्त कभी-कभी रक्त गाढा, काला और कभी तरल-उज्ज्वल- लाल वर्ण का देखा जाता है। त्वचा में कभी-कभी रक्त का उत्सृजन देखा जाता है। रोमान्तिका ज्वर म अनेक उपद्रवों के होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है। मृत देह की परीक्षा करने पर उन सब उपद्रवादिकों के चिह्न पाये जाते हैं और रोमान्तिका ज्वर के कोई विशेष चिह्न नहीं पाये जाते। त्वचा में अत्यन्त रक्त के वेग से उत्पन्न हुआ परिवर्तन देखा जाता है और सम्पूर्ण श्लैष्मिककला विशेष कर, श्वासनली की श्लैष्मिक कला, कफस्राव (कैटरल) की अवस्था को प्राप्त हो जाती है। प्रायः सब स्थानों मे श्वासनलीय श्वसनक ज्वर (Broncho Pneumonia) और स्थान-स्थान पर फुप्फुसीय पतनावस्था (कोलैप्स) का सहवर्ती, कैशिकश्वासनलीय प्रदाह (कैपिलरी ब्रोङ्काइटिस्) अथवा कभो-कभी खाण्डिक श्वसनक ज्वर (Pneumonia Lobai) के चिह्न देखे जाते हैं। सब स्थल मे श्वासनली की ग्रन्थियाँ फूली हुई दिखलाई पडती हैं। कभी-कभी फुफ्फुस परिवेष्टनीकलाशोथ (प्लुरिसी) के चिन्ह पाये जाते हैं। रोमान्तिका रोग के अन्त मे दुर्बलता अधिक हो जाने पर राजयक्ष्मा हो जाता है। कभी-कभी क्षयजन्य न्यूमोनिया होकर मृत्यु हो जाती है। इस रोग मे पकाशय और आन्त्र की श्लैष्मिक कला रक्त के वेग से ग्रस्त हो जाती है।

रोग निर्णय और भावीफल

पिडिका निकलने के प्रथम लक्षण इसको स्पष्ट कर देते हैं। यथा प्रतिश्याय, नेत्रों का लालवर्ण, छींक आना, अश्रुपात, नेत्रों के कोये में

द्वितीय चन्द्र तुल्य पिण्ड पिडिकाओं से पहले शोथ युक्त रहता है। पिडिकाओं से पूर्व मुख मे पेषणक दाँतों के सामने श्लैष्मिक-कला पर लाल लाल चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। मूत्र की ड्याजो परीक्षा (Diazo Reaction)से भी रोमान्तिका का ज्ञान होता है।

आरक्त-ज्वर से इसका प्रभेद यह है कि रोमान्तिका के प्रारम्भ मे अत्यन्त प्रतिश्याय (जुकाम) के लक्षण प्रकट होते हैं। आरक्त-ज्वर की पिडिकायें अत्यन्त रक्त वर्ण की होती हैं और रोमान्तिका की पिडिकाये लाल रंग की मिली हुई होती हैं। आरक्त ज्वर मे जैसे गले की नाली में दाह होती है, रोमान्तिका मे वैसा प्रदाह नहीं होता है। उदर्द (आर्टीकेरिया) से प्रतिश्याय के लक्षण द्वारा रोमान्तिका-रोग का निर्णय किया जाता है। उपद्रव उपस्थित न होने पर सामान्य रोमान्तिका ज्वर से मृत्यु की आशंका नहीं रहती है।

प्रभेद निर्णायक तालिका

संक्रामक गुलाबी पिडिका (रोजिओला)

(१) सब पूर्व लक्षण प्राय: प्रकट नहीं होते हैं। शिर में पीडा, वमन, प्रतिश्याय, खाँसी आदि कुछ भी प्रकट नहीं होती है। प्राय: गले में वेदना बनी रहती है, यदि रोग बलवान होता है तो अधिक मात्रा मे, सार्वाङ्गिक दु ख प्रतीत होता है और मन्दाग्नि तथा तन्द्रा वर्तमान रहती है।

(२) वसन्त और ग्रीष्मकाल में रोग वर्तमान रहता है।

(३) रोग की गुप्तावस्था प्राय आठ दिन तक है और ९—२१ दिन के मध्य में रोग आक्रमण करता है।

(४) पिडिका जिस स्थल में रोमान्तिका का आकार धारण करती है, उस स्थल मे छोटी-छोटी गुलाबी रक्त वर्ण के विन्दु के तुल्य पिडिकायें अलग-अलग प्रकाशित हो जाती हैं। मिली हुई घेरेदार प्रकाशित नहीं होती हैं। प्रथम कान के पीछे, मस्तक और मुखमण्डल में विशेष कर ओष्ठ के चारों तरफ पिडिकायें प्रकट होती हैं। बाद को

ये ग्रीवा, छाती और धीरे-धारे सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाती हैं। छोटी-छोटी पिडिकाएं बढ़कर एक में मिल जाती हैं।

(५) अतिरिक्त सकल लक्षण—

(क) गलदेश, सूखा, काला और पीला।

(ख) अक्षिकला कुछ लाल और नेत्र अश्रुपूर्ण होते हैं।

(ग) सकलग्रन्थि सब अङ्गों की लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं। उनमें पीडा होती है और वे कठिन हो जाती है। विशेषकर ग्रीवा, बगल और वंक्षण की ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं।

(घ) पपडी गिर पडती है, रोमान्तिका के तुल्य पीडा मे कभी-कभी सूक्ष्म भूसी के समान सामान्य पपडी गिर पडती है। किन्तु, प्रायः ऐसा नहीं होता है।

(ङ) वृक्क—कभी-कभी आक्रान्त हो जाते हैं। मूत्र में क्षणस्थायी अल्ब्यूमिन सामान्य रीति से दिखलाई पडता है।

(च) उदर रोग-कभी प्रकाशित नहीं होता है।

(६) पिडिकाएँ रोमान्तिका के तुल्य अधिक प्रकाशित होती हैं। रोग के प्रबल होने पर भी प्राय रोगी विशेष विह्वल नहीं होता है।

(७) जिह्वा—स्वच्छ वा मामूली सफेद मल से आवृत रहती है और चौथे दिन में परिष्कृत हो जाती है।

(८) नाड़ी—स्वाभाविकगति से कुछ बढ़ जाती है। किन्तु शारीरिक ताप के साथ इसके सम्बन्ध में कोई वैलक्षण्य नहीं होता है।

(९) दैहिक उत्ताप—स्वाभाविक से १०३ वा १०४ डिग्री तक हो जाता है।

(१०) रोग का क्रम—सब लक्षण जितने प्रबल होते हैं उतने ही शीघ्र शान्त भी हो जाते हैं।

(११) सक्रामकता का स्थायित्व—उपयुक्त सक्रामकता के नाश की चेष्टा होने पर यह दस से चौदह दिन तक स्थायी रहता है।

(१२) रक्षा-प्राप्ति—इस रोग के होने पर रोमान्तिका ज्वर के आक्रमण से रक्षा नहीं मिलती है अर्थात इस रोग के होने पर भी वह हो सकता है।

(१३) परवर्ती पीड़ा—प्रकृत पक्ष मे कुछ नहीं होती है।

(१४) शेष—अधिकतर दो सप्ताह के मध्य मे रोगी अच्छा हो जाता है।

रोमान्तिका (मीज्लस)

(१) पूर्व लक्षण सम्पूर्ण और प्राय सब अङ्गों मे विलक्षण पीड़ा होती है। मन्दाग्नि, वमन, चक्षु अश्रुपूर्ण, प्रतिश्याय और विशेष खाँसी तीन दिन तक वर्तमान रहती है।

(२) वसन्त और ग्रीष्मऋतु मे रोग प्रकट होता है।

(३) संक्रमण प्राप्ति के बाद गुप्तावस्था ८ दिन तक और १४ व दिन प्राय शरीर पर पिडिकायें निकल आती हैं।

(४) पिडिकाएं—दु ख का अनुभव और प्रतिश्याय आरम्भ होने के बाद चौथे दिन निकलती हैं। पिडिकायें पहले कर्ण के पीछे, बाद को मस्तक और कपाल में, फिर क्रमश मुखमण्डल मे निकलती हैं। वे देह और दोनों हाथ पैरों में अर्द्धचन्द्राकार घेरे के रूप में निकलती हैं। सब पिडिकाएं छोटे-छोटे व्रण और ईंट के तुल्य लाल रंग की होती हैं। फिर धीरे-धीरे नील वर्ण से युक्त लाल वर्ण की हो जाती हैं। किन्तु; गुलाबी रंग की कभी नहीं होती हैं।

(५) अतिरिक्त सब लक्षण—

(क) गल प्रदेश—लाल और शोथयुक्त होता है किन्तु, गुलाबी पिडिकाओं के केन्द्र से भिन्न होता है।

(ख) चक्षु—अक्षि की झिल्ली लाल, अश्रुपूर्ण और आलोक असह्य होता है।

(ग) सब ग्रन्थियाँ—प्रायः आक्रान्त नहीं होती हैं। श्वासनलीय ग्रन्थियाँ बढ जाती हैं। ग्रीवा की ग्रन्थियाँ साधारण रीति से आक्रान्त होती हैं।

(घ) निकली हुई पिडिकाओं से न्यूनाधिकता के अनुसार ऊपर की त्वचा से बारीक-बारीक पपडी निकलती है।

(ङ) वृक्क—आक्रान्त नहीं होता है।

(च) उदर रोग प्रायः होता है।

(६) पीडानुभूति—रोगी को अति दुःख होता है। प्रलाप, क्षुधा का अभाव और अति दुर्वलता हो जाती है।

(७) जिह्वा—सामान्य-सफेद मल से आवृत होती है। किन्तु, विशेष मलावृत नहीं होती।

(८) नाडीकी—अधिकतर गति बढ जाती है। कभी-कभी अत्यन्त क्षीण, द्वि घातिक हो जाती है। नाड़ी और दैहिक ताप का आपस में समान सम्बन्ध होता है।

(९) दैहिक ताप—अधिकतर बढ़ कर १०१ से १०४ डिग्री तक हो जाता है।

(१०) रोग का क्रम—रोग के अन्त मे दुर्वलता चिरकाल तक रहती है और अति क्षीणता उपस्थित होती है।

(११) सक्रामकता का स्थायित्व—यथोचित संक्रामकता के उपाय आदि का अवलम्बन करने पर भी रोग की प्रवलता के अनुसार चौदह दिन से इक्कीस दिन तक स्थायी रहती है।

(१२) रक्षा-प्राप्ति—रोमान्तिका के एक वार होने पर वाद में आरक्त ज्वर, वा रोमान्तिका के तुल्य रोजिओला से भी आक्रान्त हो सकता है।

(१३) परवर्ती पीड़ा—न्यूमोनिया, ब्रोङ्काइटिस (श्वासनली-प्रदाह) फुम्फुस, परिवेष्टनीकला प्रदाह (प्ल्यूरिसी) अफथैलमिया अटाइटिस आदि होती है।

(१४) शेष—अधिकतर एक पक्ष के मध्य मे रोगी आरोग्य लाभ करता है। कभी-कभी चिरकाल तक रोगी अस्वस्थ ही रहता है।

(१५) दोनों रोगों की चिकित्सा समान ही होती है। रोगी को पाच दिन तक चारपाई पर से उठने नहीं देना चाहिये। वाद को तीन दिन तक मकान के वाहर न जावे। इसके वाद ६ दिन तक खुला वायु का सेवन करें। सक्रामकता सम्पूर्ण नाश हो जाने के वाद ही दूसरे व्यक्ति के पास उठने-बैठने देना चाहिये।

चिकित्सा

रोमान्तिका रोग अत्यन्त सक्रामक है। इसलिये जिन्हें यह रोग न हुआ हो वे लोग भूलकर भी रोमान्तिका रोग से पीडित रोगी के पास न जावें और न किसी प्रकार का सम्वन्ध करें। रोगी के घर मे भी न जावें। रोगी के वस्त्रों को सक्रामकतानाशक औषध से धो देवें और गरम जल में पका देवें, इससे जीवाणु मर जाते है। कोई-कोई विवेचना करते हैं, कि रोमान्तिका की सक्रामकता एक मास तक स्थायी रहती है। अन्य आचार्यों का मत है कि रोगाक्रमण के बाद ग्यारह दिन तक इसका विष रोगी से दूसरे व्यक्ति में सञ्चारित हो सकता है। ग्यारह दीन व्यतीत हो जाने पर रोगी को गरम जल से स्नान करा दे और देह के उपत्वक् का त्यक्त अश (पपडी) छुड़ा दें। बाद को दूसरे के साथ रोगी को उठने-बैठने दें।

आरोग्यकारक चिकित्सा

रोमान्विका रोग की कोई विशेष चिकित्सा नहीं है। रोगी की अवस्था, रोग की प्रवलता, विविध लक्षण और उपसर्ग प्रभृति का स्वभाव जैसा हो, उसीके अनुसार चिकित्सा करें। उपसर्ग विहीन मृदु रोमान्तिका रोग के लिये चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। रोगी को यथेष्ट वायु, सञ्चालित घर में रखें। परन्तु रोगी के शरीर में ठण्ढक और वायुप्रवाह न लगे इस विषय में विशेष दृष्टि रखें। रोग की पहली अवस्था मे वालक मकान मे खेला करते है। वे किसी तरह चारपाई पर नहीं लेटते। वाद को पिडिका निकलने के समीप में रोगी को वेचैनी मालूम होती है। उस समय रोगी स्वयं ही चारपाई पर पड़ जाता है। इस समय कुछ गरम जल से स्नान करा देने से स्नायवीय उग्रता दव जाती है। तीसरे वा चौथे दिन में गरम जल से स्नान करावें। इससे गुटिका निकलने में सहायता मिलती है। शरीर के जिस स्थान में सर्षप पलस्तर आदि उग्रतासाधक औषधों का प्रयोग किया जाता है, उस स्थान में रक्त का वेग उपस्थित हो जाता है।

साथ ही उसमे और उसके चारों तरफ यथेष्ट संख्या में पिडिकायें निकल आती हैं। उष्ण स्थान से सब अङ्गों के चर्म मे रक्त का वेग उपस्थित हो जाता है और उसमे शीघ्र ही दाने निकल आते है। रोगी को १०० तापांश फार्नहीट जल मे तीन से पाच मिनट तक निमग्न करके रखें। बाद को जल के मध्य से उठाकर शरीर को विना पोंछे हुए शीघ्र ही कम्बल से ढक देवें तो शीघ्र ही गात्र का जल सूख जाता है। इसके बाद पसीना निकलने पर अच्छी तरह से तौलिया से शरीर को पोंछकर उपयुक्त वस्त्र पहना देवे। रोगी के लिये उष्ण पानी की व्यवस्था करने से वह स्वेदकारक होकर पिडिका निकलने मे सहायता देती है। अनेक समय प्रथम अवस्था मे ज्वर इतना अधिक हो जाता है कि शीतल स्नान करके और ज्वरघ्न औषध की आवश्यकता होती है। मृदु रोमान्तिका रोग होने पर बार्ली-जल और दूध देने की व्यवस्था करें। मृदु लावणिक विरेचन आवश्यकता होने पर देवें। साधारण रीति से स्वेदकारक औषध के अतिरिक्त और किसी औषध की आवश्यकता नहीं होती है। जिससे अच्छी तरह रोमान्तिका के दाने बाहर निकल आवें उसके लिये लाइकर एमोनिआई एसिटेटिस, (Liq., Ammonii Acetatis) का प्रयोग करें। अथवा दश बूंद (मिनिम) की मात्रा में टिञ्चर क्रोसाई, दो घण्टा का अन्तर देकर प्रयोग करें। ग्राह्य प्रयोग स्पिरिट् ईथर नाइट्रो २ ड्राम, लाइकर एमन् एसेट् २ औंस, सिरप (शर्बत) क्रोसाई १ औंस, एक्वो डिस्ट् ad ४ औंस इनको एक मे मिलाकर दो से चार वर्ष के बालक के लिये एक चाय-चमच की मात्रा मे दो तीन घण्टा का अन्तर देकर प्रयोग करे। तीन वर्ष के बालक के लिये ज्वर नाशकारक अधोलिखित योग का व्यवहार करे।

ग्राह्य प्रयोग—लाइकर एमन् एसेट् ½ ड्राम, स्पिरिट ईथर नाइट्रो १० बूँद, टोल्यू १५ बूंद एक मे मिला करके जल के साथ चार घण्टा का अन्तर देकर प्रयोग करें।

भारतीय स्त्रिया रोमान्तिका रोग में कोई उपद्रव उपस्थित न होने पर

किसी प्रकार की डाक्टरी दवा नहीं खिलाने देती है। इस समय रोगी के चर्म-क्रिया की वृद्धि करनी चाहिये और आभ्यन्तरिक प्रयोग के लिये मेथी, अजवाइन, ववई, इन्द्रजव इनका फान्ट वनाकर प्रयोग करे। इससे श्लैष्मिक झिल्ली की उग्रता का ह्रास हो जाती है और खासी, अतिसार, शान्त हो जाते हैं। अथवा कम पड जाते है। बाद को पिडिकायें निकल आने पर किसी प्रकार की औषध की आवश्यकता नहीं होती है। रोगी की सेवा-सुश्रूपा और पथ्य के प्रति विशेष ध्यान रखे। किसी स्थल में लक्षण और उपसर्ग इतने प्रवल हो जाते हैं कि इनकी नियमित चिकित्सा करने की आवश्यकता पड जाती है। श्वासनली में प्रदाह अत्यन्त हो जाता है और साक्षेप कूजितकास (क्रूप) के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। इस स्थल मे दारुण कास और आक्षेप का निवारण करने के लिये अहिफेन, ब्रोमाइड, वा स्पिरिट क्लोरोफार्म के साथ कफ निकलने वाली औषध का प्रयोग करना चाहिये।

कार्वनेट् आफ् एमोनियम् इपेकैकू आना (Ipecacuanba) सेनगा (Senega) स्कील (Squill) प्रभृति उपयोगी औषधे है। कभी-कभी दारुण वमन उपस्थित होता है। इसके निवारण करने के लिये एक बूद की मात्रा में हाइड्रोसिऐनिक एसिड् (अम्ल) वरफ खण्ड अल्पमात्रा मे ब्रान्डी शैंपेन का प्रयोग करे अथवा वडी इलायची, लवग गजपीपल, नागकेशर, वेर की गुठली की मज्जा, धान के खील, फूल प्रियंगू, रक्तचन्दन, पीपल, इनको समान मात्रा में लेकर चूर्ण वना लेवें तथा मधु के साथ चटावें। इससे दारुण छर्दि अच्छी हो जाती है। अथवा कुछ काल तक आहार वन्द कर देवे तो वमनेच्छा और वमन दव जाता है। इस रोग मे उदर रोग प्रकाशित होता है। अत प्रयोजन होने पर सावधानी से विरेचक औषध देवे। कोष्ठकाठिन्य होने पर सावुन के जल की पिचकारी देवें। एरण्ड तेल वा मैग्निसिया आदि की व्यवस्था करें। उपसर्ग प्रवल होने से गुटिका प्रकाशित होकर के शीघ्र ही मिल जाती है और गुटिकाओं के फिर निकलने की चेष्टा व्यर्थ हो जाती है। इस स्थल में सरसों (मस्टर्ड) मिश्रित उष्ण स्नान करावें और

सहवर्त्ती उपसर्ग की यथोक्त चिकित्सा करें। नासारन्ध्र से रक्तस्राव होवे तो फेसियल (मौखिक धमनी) और नासिका (नेजेल) धमनी के ऊपर सञ्चाप प्रयोग करें। आर्गट्, टार्पेन्टाइन, सल्फ्यूरिक एसिड् प्रभृति से यथानियम चिकित्सा करें। रोग प्रबल और रोगी दुर्बल होने पर ब्राण्डी, एमोनिया प्रभृति उत्तेजक औषधं देवें। श्वास सम्बन्धी भिन्न-भिन्न उपद्रवों की विधि से चिकित्सा करें। इन सब उपसर्गों में वक्ष के ऊपर उत्ताप का प्रयोग करें और प्रत्युग्रता साधक उपायों का अवलम्बन करें। स्थानिक चिकित्सा के लिये शुंठी चूर्ण, अलसी की खली अथवा एक भाग सरसों और सोलह भाग अलसी की खली एक में मिलाकर पतला लघु पुल्टिश बनावें और उसे वक्षस्थल पर लेप करके फलालैन की पट्टी ऊपर से बाध देवें। स्मरण रखना चाहिये कि पुल्टिश प्रयोग करने पर ठंढ न लगे नहीं तो उपकार के बदले अपकार होगा। परिचार की व्यवस्था ठीक न होने पर पुल्टिश का प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस अवस्था में उत्तेजक मर्दन प्रयोग करके रूई और फलालैन के वस्त्र से वक्षस्थल को अच्छी तरह आच्छादित रखें। ब्रेङ्कोन्यूमोनिया उपसर्ग होने पर तीन वर्ष के बालक के लिये निम्नलिखित ग्राह्य प्रयोग। एमन कार्वग्रेन १-२ सिरप टोल्यू, १५ बूंद; इनफ्लाइनाईड २ ड्राम— इनको एक मे मिलाकर तीन घण्टा के अन्तर से देवें।

रोमान्तिका रोग मे अतिसार एक विषम उपसर्ग है। अधिकतर पथ्य के ऊपर लक्ष्य रखने से एक-दो दिन में इसकी शान्ति हो जाती है। इसकी चिकित्सा के लिये अफीम के साथ सब्नाइट्रेट् आफ् विसमथ वा डोवर्स पाउडर (चूर्ण) अथवा कईएक बूँद टिंचर कैम्फर विशेष-फलप्रद होता है। तीन वर्ष के बालक के लिये अधोलिखित प्रयोग देवें। R पाल्वः क्रिटीएरोमैटः ५ ग्रेन, पल्व्रियाई ५ ग्रेन, म्यूसिलेज्ट्रै गाकान्ह के साथ प्रति रात्रि मे देवें। पांच वर्ष से लेकर आठ वर्ष के बालक के लिये टिञ्चर क्रोमेरिया १५ बूँद, लाइकर ओपियाई सेडिटिव्ः ६ बूँद, सिरप्. जिञ्जर १५ बूँद, दालचीनी का जल २ ड्राम इनको एक मे मिलाकर प्रति दस्त के बाद प्रयोग करें। अक्षिझिल्ली की

कैटार (सर्दी) मे आलोकजन्य रोग का निवारण करने के लिये गृह मे अन्धकार रखें। चक्षु धोने के लिये उष्ण जल, उष्ण दूध, उष्ण गुलाब जल या बोरिक एसिड् के द्रव की व्यवस्था करें। यदि आख की पलकें बन्द हो जावें, तो उष्ण जल से धोकर कोल्डक्रीम, वेसलीन का काजल सेहुड़ के पत्ते पर रख कर बांधे। रोग के अन्त मे दुर्बलता की अवस्था मे उपयुक्त बलकारक औषध—माल्ती वसन्त और कान्तिसार मिलाकर प्रयोग करें। मछली का तेल (कार्डलीवर आइल) उपयोगी है।

लघु रोमान्तिका

(German measles, Roetheln)

परिचय—इसमे रोमान्तिका और आरक्त ज्वर इन दोनों के लक्षण मिले रहते हैं। परन्तु यह इन दोनों से पृथक् होता है। पहले इन दोनों का मिश्रित रूप माना जाता था किन्तु ये अब इनसे भिन्न ही रोग सिद्ध हुये हैं। प्रतिश्याय, लालिमा युक्त, अश्रु से भरी हुई आँखें, गले के नाली में वेदना, लाली आदि लक्षण होते हैं। दोनों हाथ-पैरों, पीठ और मस्तक मे वेदना होती है। तीसरे-चौथे दिन लाल रंग की मिली हुई पिडिकाये निकल आती हैं। परिपाक काल सत्रह दिन से २० दिन तक होता है। इसको जर्मन मीज़ल्स रोथेलन् कहते हैं।

लक्षण

इस रोग का पूर्व रूप बहुत थोडा होता है। कभी-कभी यह आदि मे प्रकट नहीं होता है। पहले आलस्य, शिर मे पीडा, कभी-कभी वमन की इच्छा और वमन होता है। प्रतिश्याय, काली खाँसी, स्वरभंग प्रभृति इसके प्रधान लक्षण है। गले की नली के मध्य में क्षत और उपजिह्वा, तालु, योनि आदि मे शोथ हो जाता है। ज्वर के आरम्भ की अवस्था कुछ घंटा से लेकर चार-पांच दिन तक स्थायी रहती है। बाद को शरीर मे इसकी पिडिकायें निकल आती है। प्रायः दूसरे दिन पिडिकायें

निकल आती हैं। किन्तु, कभी-कभी चौथे-पाचवें दिन तक भी नहीं निकलती हैं। सब अङ्गों में एकबारगी छोटी-छोटी लाल पिडिकायें पक्तिवद्ध होकर निकलती हैं। पिडिकाये जितनी अधिक निकलती है उतने ही लक्षण बढ जाते हैं। गले की वेदना बढ जाती है, स्वरभंग और स्वरावरोध पैदा हो जाता है और गले की नली फूल जाती है। कभी-कभी गले की नली इतनी अवरुद्ध हो जाती है कि गले से कोई द्रव्य निगला नहीं जाता है। नाडी की गति द्रुत, शुष्कचर्म और उष्ण होता है। शरीर का ताप १०१ डिग्री तक हो जाता है। इस अवस्था मे गले की नली से अधिक श्लेष्मा निकलने से श्वासरोध होकर मृत्यु तक हो जाती है। पिडिका निकलने का काल निर्दिष्ट नहीं है। पिडिका निकलने का काल आठ घंटा से आठ दस दिन तक स्थायी होता है। पिडका अदृश्य हो जाने पर ऊपरी त्वचा उठना आरम्भ हो जाती है। ऊपरी त्वचा उठने का नियम यही है प्रत्येक दलवद्ध पिडिकाओं के मध्य स्थल से आरम्भ होकर चारों तरफ की त्वचा उठ जाती है। आरक्त ज्वर मे जिस भाँति वडे-वडे टुकडे खुरंट के निकलते हैं, इसमे ऐसा रूप देखा नहीं जाता है। छोटी-छोटी भूसी के तुल्य पपडी निकलती है। पाच से पन्द्रह दिन के मध्य मे सब पपडी निकल जाती है।

रोग निर्णय—रोमान्तिका और आरक्त ज्वर इन दो रोगों के साथ इसका भ्रम हो जाता है। इनसे इस रोग का प्रभेद यही है कि इसमे शरीर का ताप अपेक्षाकृत न्यून हो जाता है। सब पिडिकायें एकवार मे ही निकल आती हैं। पिडिकाओं का आकार, अवयव, पपडी आदि निकलने के आदि नियम से इस रोग का निर्णय किया जा सकता है। लघु-मसूरिका में जिह्वा पहले से ही मैली होती है, अन्त मे मसृण हो जाती है।

रोमांतिका, लघुमसूरिका और आरक्तज्वर का पार्थक्य निर्देश

लघुमसूरिका

आक्रमण—दिखलाई नहीं पडता है।

सर्दी—सामान्य मात्र वा वर्तमान ही नहीं होती है।

गुटिका—मुखमण्डल और वक्षःस्थल मे उजली, लाल, मैक्यूलरी निकलती है। पहले यह ऊपरी त्वचा के नीचे प्रकाशित होती है बाद मे उन्नत हो कर फैल जाती है। अनियमित आकार धारण करती है वा व्याप्त हो जाती है।

गलनली—कुछ फूल जाती है और लाल हो जाती है।

जिह्वा—सफेद मल से आवृत रहती है।

वाह्य लसीका ग्रन्थि—कक्षा, वंक्षण और ग्रीवा देश मे उर'कर्ण-मूलिकापेशी (ष्टार्नोमैष्टपिडपेशी) के पीछे की ओर की ग्रन्थि वढ जाती है।

पपड़ी उठना—गुटिका की पपडी उठती नहीं है वा बिल्कुल सामान्य उठती है।

रोमान्तिका

तीन से पाच दिन तक स्थायी रहती है। ज्वर, अक्षि-झिल्ली और श्वासनली में सर्दी उपस्थित रहती है।

सर्दी—अक्षि-झिल्ली मे विलक्षण प्रदाह, सर्दी, खाँसी आदि।

गुटिका—मुखमण्डल मे कुछ काले-लालवर्ण के ऊपर को उठे हुये व्रण प्रकाशित हो जाते हैं। क्रमश देह मे और दोनों हाथ-पैरों में व्रण निकलते हैं। पिडिकायें सब एक मे मिल जाती हैं किन्तु, नियमित रूप से सब अङ्गों मे प्रकाशित होती है।

गले की नली रक्त के वेग से ग्रस्त रहती है।

सफेद मल से आवृत नीचे हनु के कोन और ष्टार्नोमैष्ट पिड के पीछे की ग्रन्थि बढ़ जाती है।

भूसी के तुल्य पपड़ी गिरती है।

आरक्त ज्वर

१२ घण्टा से २४ घण्टा तक स्थायी आक्रमण होता है। ज्वर, शिर पीडा और वमन वर्तमान रहता है।

सर्दी—लक्षित नहीं होती है। वक्ष प्रदेश मे व्याप्त रक्तिम वर्ण व्रण रूप से प्रकाशित होता है।

गलनली के विधान तरुण प्रदाह से आक्रान्त, स्फीत और रक्त वा क्षत से युक्त होता है।

जिह्वा सफेद मल से अधिक आवृत रहती है। यह आवरण चौवीस वा अडतालिस घण्टा के मध्य में निकलना आरम्भ होता है और निकल जाने पर लाल और विवर्धित घनवटी दिखलाई पड़ती है।

निम्न हनु के कोने की ष्टार्नोमैष्टपिड् के पीछे की ग्रन्थि बढ जाती है।

एपीथिलियम् (उपत्वक्) के वडे खण्ड के आकार के तुल्य खुरण्ट निकलते हैं।

चिकित्सा

अधिकतर किसी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती है। विश्राम, मृदु विरेचक और लावणिक मिश्रण उपयोगी है। गले की नली की पीडा के लिये उष्ण जल का भाप, जल और दूध का कुल्ला करावें।

ज्वर रोग निर्णायक प्रधान लक्षणों की तालिका

रोग	गुप्तावस्था	पिडका निकला	पिडका अदृश्य
टाइफस	प्राय. १ से १४ दिन।	ज्वर के पांचवें दिन पीठ में, और पार्श्व की ओर।	ज्वर के चौदहव दिन मे पिडिकायें अदृश्य हो जाती हैं।
टाईफाइड्	प्राय १४ से २१ दिन।	ज्वरके ७ वा ८वें दिन उदर मे।	ज्वर के २१ से ३० दिन मे।
आरक्त ज्वर	प्राय ४ से६ दिन।	ज्वर के दो दिन में देह की शाखाओं मे।	ज्वर के पाचवें दिन में।
बडी मसूरिका	प्राय. ३ से १४ दिन।	ज्वर के ३ दिन मे, मुख मण्डल और कपाल मे।	ज्वर के नव वा दशवें दिन मे पपडी पड जाती है। अधिकतर १४ दिन मे पडती है।
रोमान्तिका	प्राय १० से १४ दिन।	ज्वर के चौथे दिन कपाल में।	ज्वर के नवम दिन मे अदृश्य हो जाती है।
लघु मसूरिका	प्राय ७ से १४ दिन।	ज्वर के २ से ४ दिन मे मुखमण्डल मे।	ज्वर के चौथे दिन से छठे दिन मे।
जल मसूरिका	अधिकनर दश दिन से १४ दिन तक गुप्तावस्था रहती है।	ज्वर के पहले दिन स्कन्ध देश में।	ज्वर केचौथे दिन मे सब जल वटियों पर पपड़ी पड़ जाती है।

प्राच्य सिद्धान्त

मसूरिका रोग का नामकरण संस्कार

आबाल वृद्धवनितादि प्राणियों में बाह्यागन्तुक कारणों से शरीर में मसूर के आकार वाली प्रायः जो पिडिकायें निकलती हैं उनको मसूरिका कहते हैं।

कारण, सम्प्राप्ति

जब प्राणी दूषित जलवायु का सेवन करता है, कटु, अम्ल-लवण रसभूयिष्ठ अथवा क्षार गुणभूयिष्ठ पदार्थों का भक्षण करता है, मछली, दूध आदि विरुद्ध वीर्य वाले पदार्थों का सेवन करता है, अथवा दूषित लोबिया, घुइया, आलू आदि शाकों को खाता है एवं पूर्व भोजन के परिपाक न हो जाने पर और जो भोजन करता है साथ ही पूर्व जन्मार्जित पापों के कारण शनिश्चर आदि क्रूरग्रह जिस पर क्रूर दृष्टि करते हैं तो इन कारणों से शारीरिक दोष वायु, पित्त, और कफ कुपित हो जाते हैं और रक्त भी दुष्ट हो जाता है। उस समय रक्त से युक्त पित्तादि दोष त्वचा को दूषित कर के सब अङ्गों में मसूर, मूंग के समान आकार वाली पिडिकायें पैदा कर देते हैं।

पूर्वरूप

मसूरिका उत्पन्न होने के पहले ज्वर होता है। शरीर में खाज, गात्र में टूटने के समान दर्द, भोजन में अरुचि, चक्कर आना, त्वचा में सूजन, त्वचा के पूर्ववर्ण में परिवर्तन, नेत्र लाल—यह अवस्था मसूरिका रोग के पूर्व की है।

वात जन्य मसूरिका के लक्षण

वायु के कुपित होने से जो स्फोट होते हैं वे, कुछ लाल, काले, रूक्ष और दारुण वेदना से युक्त होते हैं। ये कठिन और चिरकाल में पकनेवाले होते हैं। इनसे सन्धि, अस्थि और पर्वों में भेदन करने के तुल्य पीड़ा होती है। खांसी, कम्प, बेचैनी, बिना परिश्रम के शरीर में थकावट, तालु, होंठ, जिह्वा का सूखना, प्यास, अरुचि आदि लक्षण होते हैं।

पित्तजन्य मसूरिका के लक्षण

पित्त से जो मसूरिकाय उत्पन्न होती हैं। उनका लक्षण निम्नोक्त है। लाल, पीले एवं श्वेत स्फोट निकलते हैं। वे दाह से युक्त, दारुण वेदनाकारक और चिरकाल मे पकने वाले होते हैं। इनमे पाखाना पतला, अङ्गों मे मर्दन के तुल्य पीडा, जलन, प्यास, भोजन मे अरुचि, मुखपाक, नेत्रपाक और वडा भयंकर तीव्र वेग से युक्त ज्वर होता है।

रक्तजन्य मसूरिका के लक्षण

दूषित रक्त से जो मसूरिका उत्पन्न होती है उसके लक्षण पित्त के समान ही होते हैं।

कफजन्य मसूरिका के लक्षण

कफ के कुपित होने से जो मसूरिका उत्पन्न होती है उसमे मुख से कफ का स्राव होता है। अङ्गों मे आर्द्रता, शिर मे पीडा, भारीपन, जी मिचलाना, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य आदि लक्षण होते हैं। इसमे स्फोट, श्वेत, स्निग्ध, अत्यन्त स्थूल, खुजली से युक्त और चिरकाल मे पकने वाले होते हैं। इनमे वेदना कम होती है।

त्रिदोषजन्य मसूरिका के लक्षण

वायु, पित्त और कफ के मिलने पर जो मसूरिका उत्पन्न होती है उसमें नीले, चपटे हुवे चौड़े एवं मध्य में नीचे स्फोट होते हैं। ये चिरकाल में पकते हैं और इनसे अधिक मात्रा मे दुर्गन्ध से युक्त स्राव निकलता है। इनमे बहुत पीड़ा होती है।

चर्मपिडिका के लक्षण

चर्म संज्ञा वाली पिडिकायें जब उत्पन्न होती है तो गला अवरुद्ध हो जाता है। कारण यह है कि ये गले मे अधिक मात्रा मे निकलती है, गला सूज जाता है। इनसे भोजन मे अनिच्छा, तन्द्रा, असम्बन्ध भाषण और विह्वलता उत्पन्न हो जाती है। ये कठिनाई से अच्छी होती हैं।

रोमान्तिका (मीजल्स Measles)

रोमान्तिका मे पहले ज्वर होता है और यह कफ पित्त से उत्पन्न होती है। इसमे सूक्ष्म-सूक्ष्म लाल पिडिकायें रोम कूप की उन्नति के तुल्य होती है। इनके होने से खाँसी, अरुचि आदि पैदा हो जाती है और इनके होने के दो-तीन दिन पहले ज्वर होकर सर्वाङ्ग मे वेदना उत्पन्न हो जाती है।

रसरक्तादि धातुभेद से मसूरिकाओं का वर्णन

रसगत मसूरिका

रसधातु का आश्रय लेकर जब मसूरिका उत्पन्न होती है। तब उसका आकार पानी के बुलबुले के सदृश होता है और दोष अल्पमात्रा मे होते हैं। इनके फूट जाने से पानी निकलता है।

रक्तगत मसूरिका का लक्षण

रक्त मे स्थित होकर जो मसूरिकायें उत्पन्न होती है वे लाल, शीघ्र ही पकने वाली और पतली त्वचा वाली होती है। जब दोषों से अत्यन्त दूषित नहीं होती हैं तब साध्य होती हैं बाद को साध्य नहीं होती। इनके फूट जाने पर इनसे रक्त का स्राव होता है।

मांसगत मसूरिका का लक्षण

मांस का आश्रय लेकर जो मसूरिकायें होती है वे कठिन, चिरकाल में पकनेवाली, पतली त्वचा वाली और चिकनी होती है। इनसे शरीर मे शूल, बेचैनी, खुजली, मूर्च्छा, दाह और प्यास उत्पन्न हो जाती है।

मेदोगत मसूरिका के लक्षण

मेदोधातु से उत्पन्न होने वाली मसूरिकाओं के ये लक्षण होते हैं। इनका आकार गोल, मृदु, कुछ ऊँचा, मोटा और वर्ण काला होता है। इसके होने से बड़ा भयंकर ज्वर होता है मन मे-मोह, बेचनी और संताप होता है। इनमे वेदना भी भयंकर होती है। ये मसूरिकायें जिसको होती है वह प्रायः काल-ग्रास में पतित हो जाता है।

अस्थिमज्जागत मसूरिका के लक्षण

अस्थि और मज्जा का आश्रय लेकर जो मसूरिकायें उत्पन्न होती हैं वे, बहुत छोटी, शरीर के त्वचा के समान वर्णवाली, चपटी और कुछ ऊँची होती है। इनसे अत्यन्त बेहोशी, वेदना और बेचैनी पैदा होती है। अस्थियों में भौंरे के काटने के समान पीडा होती है। ये हृदय आदि मर्म स्थानों को काटकर शीघ्र ही प्राणियों के प्राणों का नाश कर देती है।

शुक्रगत मसूरिका का लक्षण

शुक्रधातु-गत मसूरिका के लक्षण लिखे जाते हैं। शुक्रगत मसूरिकाओं का आकार पकी हुई पिडिका के समान, स्निग्ध, बारीक और अत्यन्त वेदना से युक्त होती है। इनके होने से शरीर में गीलापन, बेचैनी, अज्ञानता, दाह, उन्माद ये लक्षण होते है। ये लक्षण शुक्र से उत्पन्न होनेवाली मसूरिका में होते हैं। इससे आक्रान्त होने पर कोई जीते हुए नहीं देखा गया है।

धातुगत मसूरिकाओं में दोषों का सम्बन्ध

ये सात धातुगत जो मसूरिकायें उत्पन्न होती है, इनमें दोष मिले हुए रहते हैं अतः, दोषों के लक्षणों से इनको भी देखना चाहिये।

साध्य का निर्णय

रसधातुजन्य रक्तगत मसूरिका, कफजन्य और पित्तजन्य मसूरिका और कफ-पित्त से उत्पन्न होने वाली मसूरिका सुख साध्य होती है। रोगियों के चिकित्सा के विना भी ये अच्छी हो जाती है।

कष्ट साध्य

वातजन्य, वात-पित्तजन्य और वात-कफजन्य ये कष्ट साध्य होती हैं। इनकी सावधानी से चिकित्सा करें।

असाध्य मसूरिका के लक्षण

त्रिदोष जो पैदा होता है वह असाध्य होता है। उनके लक्षण ये हैं कि उनमें से कोई मूंगा के समान लाल, कोई जामुन के समान काली, कोई

लोहे के जाल के समान तो कोई अलसी के फल के समान होता है। दोषों के भेद से इनका वर्ण अनेक प्रकार का होता है।

मसूरिका अवस्था विशेष के लक्षण

खाँसी, हिचकी, बेहोशी, तीव्रवेग से युक्त भयङ्कर ज्वर, प्रलाप, बेचैनी, मूर्च्छा, प्यास, जलन, शिर को इधर-उधर फेंकना, मुख, नासिका और नेत्र से रक्त का स्राव होता है। कण्ठ में घुर-घुर शब्द होता है। श्वास अत्यन्त भयङ्कर होता है और रोगी मसूरिका से पीडित होकर नाक से श्वास लेता है। रोगी वायु और तृष्णा से पीडित होकर शीघ्र ही प्राणों को छोड देता है।

मसूरिका के उपद्रव

मसूरिका की अन्तिम अवस्था मे कोहनी, पहुँचा और कंधों मे सूजन होती है । ऐसे रोगी की चिकित्सा बडी कठिन है।

सुश्रुत निदान स्थाने मसूरिका लक्षणम्

दाहज्वररुजावन्तस्ताम्रा· स्फोटा· सपीतका·
गात्रेषुवदनेचान्तार्विज्ञेयास्ता· मसूरिका· ॥ इति

चिकित्सा

सम्पूर्ण मसूरिका रोग में रोगी की अवस्था देखकर वमनोपयुक्त रोगी के लिये परवल की पत्ती, निम्ब की पत्ती, अडूसा की पत्ती, वच, इन्द्रयव, मुलेठी और मैनफल इन सब औषधियों को समान भाग मे लेकर एकत्र करें। सम्मिलित औषध का तौल ॥ जल ८ सेर से लेकर पकावें। जब दो सेर जल बाकी रह जावे तब उसे छानकर रख लेवें। फिर रोगी को थोड़ा-थोडा पिलावे। इससे वमन होकर कफ, पित्तादि दोष निकल जाते हैं और मसूरिका विष भी निकल जाता है जिससे मसूरिका का वेग शान्त हो जाता है।

विरेचन प्रयोगादि

मसूरिका के रोगी को वमन देकर फिर विरेचन देवें। यदि रोगी दुर्बल होवे तो उसे विरेचन नहीं देना चाहिये। दोषों को संशमन

करने वाला योग देवें। यथा—करेला की पत्ती का स्वरस ४ तोला, हल्दी का चूर्ण ६ माशा मिलाकर पिलाव। इससे रोमान्तिका ज्वर, विस्फोट, मसूरिका (स्मॉलपाक्स) नष्ट होते हैं।

कोष्ठ संशोधन करने के लिये, अमलतास का गूदा १ तो०, बडी हरीतकी १½ तोला, धनिया १ तो० और लाल चन्दन १ तो० लेकर ३२ तो० जल मे पकावे, चतुर्थांश बाकी रह जाने पर उतार लेव। फिर छान कर कुछ गरम ही २४ तोला की मात्रा मे पीवे। इससे विरेचन होकर कोष्ठ शुद्ध हो जाता है और वमन, विरेचन से मसूरिका रोग का दोष निकल जाता है। इससे सब प्रकार का मसूरिका रोग निर्विकार हो जाता है।

रूक्षशीत क्रिया का निषेध

मसूरिका-रोग वा रोमान्तिका रोग मे अधिक रूक्ष क्रिया और अधिक शीतल क्रिया नहीं करनी चाहिये। अधिक रूक्ष क्रिया करने पर अच्छी तरह पिडिकाये नहीं निकलती है और अधिक शीतल क्रिया से भी, सर्दी, खाँसी प्रभृति वढकर अत्यन्त दुःख देते हैं। पिडिकाये अच्छी तरह न निकलने पर कच्ची हल्दी का रस, सतावरी का रस, मक्खन मे मिलाकर मर्दन करे। इस अवस्था मे तुलसी की पत्तियों का रस से अजवाइन पीस कर मर्दन करे। इससे उपकार होता है।

धूप प्रयोग

वच, वंश नीली (वास और नील वा बास की त्वचा) यव, अडूसे की जड़, कपास के बीज (बिनौला) ब्राह्मी,…तुलसी, अपामार्ग, घृत, लाक्षा, इनको समान भाग मे लेकर अग्नि मे डालें और इसका धूम रोगी के शरीर मे लगने दें। इससे रोमान्तिका प्रभृति नष्ट होते है। प्रथम अवस्था मे मुष्टि प्रयोग का उपयोग लाभदायक होता है।

अंतः मुष्टि प्रयोगों का वर्णन

(१) रुद्राक्ष का चूर्ण १ तोला, काला मिर्च का चूर्ण १ तोला लेकर के एक मे मिला कर शीशी मे रख लेवें। मात्रा १ माशा, वासी जल के साथ दें। इससे मसूरिका का आक्रमण नहीं होता हैं।

(२) सुपारी की जड़ ३ माशा, वासी जल के साथ पीसकर पीव। इससे मसूरिका रोग नष्ट होता है।

(३) ऊंट कटेरा की जड, अथवा अनन्त मूल की जड़ के चूर्ण को चावल के पानी के साथ देने से मसूरिका रोग का आक्रमण नहीं होता है। मात्रा २ माशा से चार माशा तक है।

(४) इमली की छाल ३ माशा, हल्दी ३ माशा, दोनों को शीत जल से पीस कर प्रातः काल एक सप्ताह पीने से मसूरिका का आक्रमण नहीं होता है।

(५) शीतला के दिनों मे प्रति दिन ११ निम्वपत्र ११ काली मिर्च के साथ प्रातः घोट कर पीवें।

(६) केले के वीज २-२ रत्ती प्रति दिन पीस कर पीवें।

(७) सेमर के वीज ११-११ प्रति दिन मिश्री मिलाकर सेवन करें।

(८) गूलर के पके फल खाने से चेचक का भय नहीं रहता है।

(९) तुम्वरु वृक्ष की लकडी घिसकर पीने से भी चेचक नहीं निकलती हैं।

(१०) विनौला (कार्पासवीज) दूर्वा, मसूर की दाल और हरिद्रा, गौ की दुग्ध मे पीसकर उद्वर्तन करने से मसूरिका का प्रभाव नहीं होता है।

(११) गोरखमुण्डी १-१ तोला प्रति दिन ठंढाई के तुल्य ११ दिन पीने से शीतला का भय नहीं होता है।

(१२) अरणी के वीज ११ लेकर वासी जल से पीस कर पीवें।

(१३) सिकटीमूल १ तोला लेकर पीस कर वासी जल से उसमें गोघृत मिलाकर पीवें तो मसूरिका का भय नहीं रहता है।

(१४) मदन फल के पुष्प २ माशा काली मिर्च ११ संख्या मे मिलाकर वासी जल से पीस कर पीवें। इससे मसूरिका अच्छी हो जाती है।

(१५) करञ्ज की मूल १ तोला काली मिर्च ११ मिलाकर वासी जल से घोटकर प्रात काल पीवें।

(१६) पिलखत, जलवेन, माधवी लता और बिम्बी के हिम बनाकर प्रातःकाल सेवन करने से मसूरिका नहीं निकलती हैं।

(१७) बायोकैमिक की कालीम्यूर ३x (३ शक्ति) का प्रयोग करें।

(१८) होमियोपैथिक और वेरिऑलिनम औषध का प्रयोग लाभदायक है।

(१९) मसूरिका के उत्पत्ति के पहले यदि बालक को गधी का दूध पिलाया जावें तो मसूरिका नहीं निकलती हैं और यदि मसूरिका निकलने पर गधी का दूध पीलावें तो मसूरिका बिना उपद्रव के शान्त हो जाती है।

(२०) शाल, कचनार और निम्ब इन तीनों वृक्षों मे मसूरिका रोधक गुण है।

विधि—शाल पुष्प के केशर को शुष्क करके उसका क्षार बनावे। अम्लशाल के बीजों का भी क्षार बनावें। मात्रा—१-१ रत्ती की मात्रा में एक सप्ताह तक लेने से मसूरिका रोधक शक्ति पैदा हो जाती है।

निम्ब के फूल ऽ—छटाक, काली मिर्च ऽ—छटाक दोनों को पीस कर ५ रत्ती की गोली बनाकर प्रातः साय दूध से लेवें। इमली के कोमल पत्ते और बीज, ताजी हल्दी समान लेकर के चावल के पानी में पीस कर पीवें। इससे वसन्त रोग निवृत हो जाता है।

आश्चर्यजनक प्रयोग

मसूरिका की जितनी पिडिकाये होवें उतनी गिन लेवें और आतुर का नाम लेता हुआ लिसोडा के पत्ते उतने ही तोड डाले तो मसूरिका रोग नहीं बढता है। अच्छा हो जाता है।

दोषानुकूल चिकित्सा

दशमूल, (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेली, बडी कटेली, बड़ी गोखरु, बिल्व, अरनी, सोनापाठा, खम्भारी, पाढल) रास्ना, दारुहल्दी, खश, यवासा, गुड़ीची, धनिया, नागरमोथा—इन द्रव्यों को समान भाग मे लेवें। फिर क्वाथ बनाकर पीवें। इससे वातजन्य मसूरिका अच्छी होती है।

वातजन्य मसूरिका के परिपाक काल का क्वाथ

गुडूची, मुलेठी, रायसन, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, दोनों कटेली, वड़ी गोखरु, चन्दन, खम्भारी का फल, खरेंटी की जड़, विकंकत (स्रुवा वृक्ष) इनको समान भाग मे लेकर क्वाथ वनाकर पिलावें। इस क्वाथ को मसूरिका के पाक काल मे पिलावें। इससे वेदना आदि नहीं होते हैं।

पित्तजन्य मसूरिका की चिकित्सा

मुनक्का, खम्भारी का फल, पिण्ड खजूर, परवल की पत्ती, निम्व की छाल, अडूसा, धान के खील, आंवला, यवासा, इन सब द्रव्यों को समान भाग मे लेकर क्वाथ वनाव। उसमे चीनी मिला कर पिलावे। इससे पित्तजन्य मसूरिका अच्छी होती है। ऐसी ही रक्तजन्य मसूरिका की चिकित्सा करें। विशेष करके इसमें रक्त मोक्षण करें।

दाह नाशक प्रलेप

शिरस की छाल, गूलर की छाल, पीपल की छाल, लिसोडा की छाल, वट की छाल, इन सव द्रव्यों को समान भाग में लेकर पीसें। उसमे घी मिलाकर प्रलेप करें। यह लेप व्रण और विस्फोट की दाह को दूर करता है।

कफजन्य मसूरिका की चिकित्सा

अडूसा, गिलोय, चिरायता, त्रिफला, इन्द्रयव, यवासा, परवल के पत्ते, नीम की छाल, इनको समान भाग मे लेकर क्वाथ वनावें। इससे कफजन्य मसूरिका अच्छी हो जाती है।

प्रलेप

शिरीस की छाल, गूलर की छाल, खदिर, नीम के पत्र, इनको समान भाग मे लेकर पीस कर लेप करें।

त्रिदोषजन्य मसूरिका की चिकित्सा

नीम की छाल, पित्त पापड़ा, जलजमनी (पाठा), पटोलपत्र, कुटकी, वासा, यवासा, आवला, खश, सफेद चन्दन, लाल चन्दन इन सव

औषधियों को समान भाग मे लेव। सब मिला कर २ तोला प्रमाण मे औषध लेकर, ३२ तोले जल मे पकावे। ८ तोला शेप रह जाने पर उसे छान लेवे। फिर इसमे चीनी डालकर पी जाव। इससे त्रिदोपजन्य मसूरिका, ज्वर और विसर्प अच्छा हो जाता है। उठी हुई पिडिका बैठ जाती है।

पटोलादि काथ

पटोलपत्र, गुडूची, अडूसे की छाल, यवासा, चिरायता, नीम की छाल, कुटकी, पित्तपापड़ा इन औषधियों को समान भाग मे लेकर काथ बनावें। इस काथ के सेवन करने से अपक्व मसूरिका की पिडिकाय पक जाती हैं और पकी हुई पिडकाप शीघ्र ही शुष्क हो जाती है। विस्फोट और ज्वर को नाश करने वाली ऐसी औषध दूसरी नहीं है।

खदिरादि काथ

खदिर (खैर की छाल), त्रिफला, निम्ब की छाल, पटोलपत्र, गुडूची, अडूसा इन सब द्रव्यों को समान भाग मिलाकर २ तोला लेकर काथ बनावें। इसके पीने से रोमान्तिका, वृहन्मसूरिका, विस्फोट और खुजली आदि अच्छे हो जाते हैं।

मसूरिका का दाहनाशक लेप

बिजौरा नीबू की केशर काञ्जी से पीस कर मसूरिका पर लेप करें। इससे पपडी जल्दी गिरती है और दाह शान्त हो जाता है।

सेक प्रयोग

तण्डुलोदक से बार-बार सेक प्रयोग करने से पैर में उत्पन्न हुई पिडिकाओं की दाह शान्त होती है।

परिपाक काल-व्यवस्था

मसूरिका के पाक काल मे रोगी को वृंहण (धातु पुष्टिकारक) आहार देवें। कारण यह है कि मसूरिका के पकने के समय वायु कुपित हो जाता है। वह पकने वाली मसूरिकाओं को सुखा देता है, वा अन्त.

प्रविष्ट कर देता है जिससे अत्यन्त वेदना पैदा हो जाती है। इसलिये इस अवस्था मे शोपक आहार देवें। किन्तु; वह वृंहण आहार होवे।

पूय निवारणोपाय

मसूरिका से अधिक पूय निकलता हो तो वट, गूलर, पीपल, पाकर और मौलसिरी की छाल का चूर्ण क्षत के ऊपर छोड देवें अथवा अरण्य कण्डों की भस्म व अरण्य कण्डों को बारीक कूट छान करके क्षत के ऊपर छोड़ें। इससे पूय सूख जाता है। अथवा सफेदा को व्रणों पर डाल देवें।

क्रिम्युत्पत्ति विनाशक उपाय

चीड़ (सरल काठ) अगर और गूगल इनका धूम वसन्त रोगी के शरीर मे देवे। इससे व्रण मे कीड़े नहीं पडते हैं।

मसूरिका रोगी के लिये शौचार्थ जल प्रयोग

खदिर और लिसोडा की छाल लेकर इसके साथ जल पकावें। यह जल शौच कार्य के लिये उपयोग मे लावे।

चक्षुजात मसूरिका रोग की चिकित्सा

मुलेठी, त्रिफला, चूरनहार (मूर्वा) दारुहल्दी, नील कमल, खश, लोध्र और मजीठ इन औषधियों का लेप करने से चक्षु मे उत्पन्न हुई मसूरिका नष्ट हो जाती है। अथवा इन औषधियों को मिलाकर ऽ।। सेर लेकर, चार सेर जल मे पकावें और वह जल आंखों पर सेवन करे।

उपद्रव-चिकित्सा

यदि मसूरिका रोगी को अरुचि होवे तो अनार के रस से युक्त यूप पिलावें। इससे अरुचि दूर होती है।

यदि मसूरिका के रोगी को प्यास होवे तो खदिरकाष्ठ और अर्जुन की छाल समभाग मिलित २ तोला लेकर ४ सेर जल मे पकावे। दो सेर जल जब रह जाय तब छानकर शीतल ही पीवें।

मुख और कण्ठ रोगों में गण्डूषार्थ जल

चमेली पत्ते, मजीठ, दारु हल्दी, सुपारी फल, शमी (धोकर) वृक्ष की छाल, आवला, मुलेठी इन सब द्रव्यों के समान परिमाण से मिलित २ तोला औषध को ३२ तोला जल में पकावें। जब ८ तोला शेष रह जाय तब उसे उतार कर छानकर शीतल होने पर मधु मिलाकर कुल्ला करने के लिये देवें। इससे मुखरोग और कण्ठ रोग नष्ट हो जाते हैं।

चूर्ण

पीपल का चूर्ण और हरीतकी का चूर्ण समान भाग में लेकर शहद के साथ सेवन करें। इससे मसूरिका रोगी का कण्ठ साफ हो जाता है।

अन्तःशोथनाशक विधि

मसूरिका रोग के अन्त में कूर्पर (कोहनी), पहुचा (मणिबन्ध), मुख और कंधा के ऊपर अगर दारुण शोथ हो तो व्रणशोथ नाशक और वातनाशक विधि-प्रयोग करें, जोंक लगावें और तेल में भूनकर बिच्छू का लेप करें।

अभ्रक वटी

अभ्रक भस्म ६ माशा, रससिन्दूर ६ माशा, चादीका भस्म ६ माशा, सोने की भस्म ६ माशा, वंशलोचन १ तोला, शुद्ध किया हुआ गुग्गुलु ३ तोला लेकर जल के साथ घोटकर गोली बनावें। गोली का प्रमाण दुअन्नी के बराबर होवे। इससे मसूरिका रोग नाश होता है।

शैलेय वटी

शुद्ध शिलाजीत ४ माशा, कान्तीसार की भस्म ४ माशा, स्वर्ण भस्म ४ माशा इन द्रव्यों को वनतुलसी के रस में घोंटकर १ रत्ती की गोली बाँधे। इसके सेवन करने से मसूरिका, विस्फोट, व्रण सब अच्छे हो जाते हैं।

मुक्ता वटी

मोती भस्म ४ माशा, रससिन्दूर ४ माशा, वंशलोचन ४ माशा, काली मिर्च ४ माशा, सोने के वर्क १½ माशा इनको गुलाब जल से घोंटकर मटर बराबर गोली बनावें। इस वटी का सेवन करने से बल बढ़ता है।

मसूरिका-चिह्ननाशक उपाय

मसूरिका निवारण होने के बाद नारियल का जल शरीर पर मालिश करें। इससे वसन्त रोग के दाग विलीन हो जाते हैं। शतवार जल से धोया हुआ गौ का मक्खन, नारियल का तेल अथवा पञ्चतिक्त घृत और पान का भोजन में उपयोग करने से दाग अच्छे हो जाते हैं।

पथ्यापथ्य

रोग की प्रथमावस्था में दूध, लाज, मण्ड, वार्ली, साबूदाना प्रभृति लघु पथ्य देवें। बाद को क्षुधावृद्धि के साथ और ज्वरादि की अवस्था विवेचित करके पौष्टिक आहार देवें। परवल का शाक, करेला, बैंगन, अलाबू का शाक, तोरई आदि का शाक देवें। किशमिश, अनार का रस बिहीदाना, सन्तरा आदि फल देवें। शरीर को मोटे कपड़े से ढके रखना चाहिये। वासगृह हवादार और स्वच्छ होना चाहिये।

निषिद्ध कर्म

मत्स्य, मांस, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण और गुरु पाक वाले द्रव्यों का त्याग, तैल मर्दन तथा वायु सेवन इस रोग में विशेष निषिद्ध है। मसूरिका रोग अत्यन्त संक्रामक रोग है इसलिये, वसन्त रोगी को अपने से सदा दूर रखना चाहिये।

मसूरिका रोग में आत्मरक्षा के उपाय

मसूरिका रोग अलक्ष्य रूप से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर आक्रमण करता है। अतः इससे सुरक्षित होने के लिये निम्नलिखित उपाय व्यवहार में लावें। इसका सबसे उत्तम उपाय यह है कि रोग उत्पन्न हो जाने पर उसके नाश करने की चेष्टा की अपेक्षा जिससे रोग उत्पन्न न हो ऐसी व्यवस्था करें (Prevention is better than cure) इसलिये महर्षि चरक का उपदेश सबसे उत्तम है कि प्रतिदिन ऐसा आहार-विहार सेवन करें जिससे स्वास्थ्य ठीक रहे और शरीर में अनुत्पन्न रोगों की उत्पत्ति न होवे।

यथोक्तं चरके—

तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्य येनानुवर्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्ति करश्च यत् ॥

इसलिये मसूरिका रोग के उत्पन्न होने के पहले यथोचित रूप से शरीर का संशोधन कर आहार-विहार का सेवन करें जिससे मसूरिका रोग उत्पन्न न होवे।

(१) भारतवर्ष में मसूरिका-रोग का आधिपत्य सब स्थानों में देखा जाता है। इसकी चिकित्सा अशिक्षित पाखण्डी लोग आजकल भी अधिक संख्या में करते हैं जिससे रोग आराम होने की अपेक्षा और अधिक साघातिक हो जाता है। अतः इस रोग में सुशिक्षित चिकित्सक का आश्रय लेना चाहिये।

(२) जल मसूरिका साघातिक नहीं है। किन्तु, जिसको बृहन्मसूरिका होवे उसको पहले से सुचिकित्सक के अधीन कर देवें। इस साघातिक रोग को अज्ञ चिकित्सक के हाथ में रखना उचित नहीं है।

(३) यदि रोगी को सरकारी चिकित्सालय में पहुचाने का प्रबन्ध हो जाय तो बहुत अच्छा है। ऐसा करने से मकान के अन्य आदमी इस रोग से आक्रान्त नहीं होते हैं।

(४) यदि रोगी को सरकारी चिकित्सालय में न पहुँचा सकें तो रोगी को ऐसे घर में रखें जहा पर कोई न जा सके।

(५) रोगी के घर में अप्रयोजनीय सामग्री न रखे। जिससे अच्छी तरह वायु का आवागमन हो सके, सूर्य की रोशनी अच्छी तरह आ सके ऐसी व्यवस्था करें।

(६) रोगी के परिचारकों को शुद्ध रहना चाहिये। उन्हें सदा वस्त्र परिवर्तन और विशोधक जल से हस्त आदि की प्रक्षालन क्रिया में विशेष सावधान रहना चाहिये।

(७) जो रोगी की सुश्रूषा करें उन्हें टीका लगा लेना आवश्यक है। यदि टीका पहले लगा हो, तो दूसरी बार टीका लगाने का प्रयोजन नहीं है।

(८) पाश्चात्य देशों में जब मसूरिका वाले रोगी की अवस्था को देखने के लिये बान्धव आते हैं तो वे मोटे कपड़े से अपने शरीर को ढक कर आते हैं। जब लौटते हैं तो उस समय उस वस्त्र को छोड़ देते हैं। यह प्रथा सब के लिये लाभदायक है।

(९) मक्षिका आदि क्षुद्र जन्तुओं से रोग का बीज दूसरे स्थानों मे भी फैल सकता है। इसलिये रोगी को स्वच्छ मशहरी मे रखना चाहिए।

(१०) घर के साधारण लोग जिस वस्तु का व्यवहार करें उस वस्तु को रोगी के पास नहीं लाना चाहिये।

(११) रोगी को ऊपर के मकान मे रखना चाहिये। यदि ऊपर न होवे तो, एकान्त स्थान मे रक्खें।

(१२) जिस मकान मे मसूरिका रोग होता हो, उस मकान के लोग जो बाहर काम करने जाते हैं, लडके जो विद्यालय मे जाते हैं, उनका जाना जबतक रोग अच्छा न हो, बन्द कर देना चाहिये। इस विषय मे सरकारी कार्यालयों मे यथेष्ट विधान है कि किसी के मकान में यदि मसूरिका रोग हो जावे तो आफिस से उसको छुट्टी मिल जाती है।

(१३) यदि घर मे मसूरिका रोग होवे तो सब कपड़े विशोधक जल में भिगो करके अग्नि मे पका देवें। फिर बाद मे धोबी को देना चाहिये। यदि गांव मे यह रोग फैला हो तो धोबी को धोने के लिये वस्त्र न देवें।

(१४) रोगी के मलमूत्रादि मे विष रहता है, इसलिये सौ भाग जल मे एक भाग करोसिव् सब्लिमेट् लोशन, मिलाकर उस स्थान मे डाल देना चाहिये। रोगी के पूय, पपड़ी आदि को वस्त्र खण्ड से पोंछ लेवे। फिर, उसको विशोधक द्रव्य से सिक्त करके दग्ध कर देना चाहिये और रोगी के शरीर को कार्बोलिक युक्त पोस्ता के तेल से (Carbolised Poppy oil) मार्जित करना चाहिए।

(१५) रोगी के पात्रादि को लोशन से धोकर उसके बाद विशुद्ध जल से धोना चाहिये, नहीं तो विपत्ति की संभावना है।

(१६) गृह मे गन्धक, गुग्गुल, कर्पूर आदि की धूप देना चाहिये।

भारतीय रमणिया इस रोग मे वहुत पवित्रता का व्यवहार करती है। उससे भी अधिक परिमाण मे संक्रामकता नष्ट हो जाती है।

(१७) घर के चारों तरफ की जल की नालियां और पाखाना प्रभृति को अच्छी तरह साफ कर रक्खें। पूर्वोक्त करोसिव्सव्लीमेट् लोशन अथवा वाजार के कार्वोलिक सोल्यूशन से भी कार्य की सिद्धि हो जाती है।

(१८) यदि रोगी की मृत्यु हो जावे तो उसकी चारपाई, वस्त्रादि आदि को जला देनी चाहिये। यदि ऐसा न किया जा सके तो उनको संक्रामकनाशक द्रव मे भिगो करके अग्नि मे पकाना चाहिये। जो पकाये न जा सके तो उनको पहले द्रव से खूव धोकर फिर गरम जल से धोना चाहिये।

(१९) जव रोगी के घर को धोवें उस समय दरवाजा और खिडकी के ऊपर कार्वोलिक द्रव वा फिनेल खूव डालना चाहिये। जैसे वगीचा मे जल डालने के लिये वडी पिचकारी का माली लोग व्यवहार करते हैं। उसी तरह पिचकारी मे विशोधक द्रव भर के घर की दीवाल, झरोखा, छत नीचे की और मेज, कुर्सी, स्टूल आदि को धोना चाहिये। क्लोरीन से घर का धोना वहुत अच्छा होता है। यह जानना आवश्यक है कि एक हजार घन फुट परिमित गृह के लिये एक पौंड (आधा सेर) गधक पर्याप्त है। गन्धक को मिथिलेटेड् स्पिरिट से सिञ्चित करके जला देना चाहियं। यह स्पिरिट वाजार मे मिलती है।

(२०) इस भाति घर को शुद्ध करने के वाद चूना से पोतना चाहिये। ऐसा करने से गृह विल्कुल निर्दोष हो जाता है।

(२१) मकान मे जिन लडकों को टीका न लगा हो, उन लड़कों को टीका लगवा देना चाहिये।

(२२) जिस समय गाँव मे सक्रामक रोग फैले, उस समय आहार-विहार, पीने का जल और खाद्य वस्तुओं के प्रति जिससे परिमित आचार अवलम्वन किया जा सके ऐसा करना चाहिये।

(२३) जिस शहर मे अथवा गांव में मसूरिका के रोग पैदा हो

जार्य उस शहर व गॉव के लोग अपना-अपना गृह साफ करने की पहले से ही चेष्टा करें। नापदान और पानी की नालियों के सम्बन्ध में पूरी सावधानता रखने की आवश्यकता है।

(२४) बाजार का दूध. मिठाई और तरकारी प्रभृति व्यवहार में नहीं लाना चाहिये। यदि किसी प्रकार से काम न चले तो सावधानता पूर्वक पवित्र दूकान से लेना चाहिये।

(२५) रात्रि मे जागना, दिन मे सोना, शरीर मे ठंढा लगना, अनियमित आहार, मद्यपान प्रभृति मादक द्रव्यों को छोड देवें।

(२६) गांव मे मसूरिका की उत्पत्ति हो जाने पर जिनको मसूरिका का टीका न लगा हो, उनको लगवा लेना चाहिये। इस समय बालकों की रक्षा करना सबसे मुख्य कर्तव्य है।

(२७) ४२ दिन के पहले मसूरिका का रोगी निर्दोष नहीं होता है। इसलिये उक्त समय से पहले रोगी को घर से बाहर नहीं निकलने देना चाहिये।

विसूचिका

(Cholera)

नामकरण संस्कार—कालरा शब्द का अर्थ टोटी या नलिका (Spout) है। यह नाम इस रोग का इसलिये रखा गया है कि, जैसे किसी पात्र की टोटी से पानी की धारा निकलती है, उसी भांति इस रोग में रोगी की गुदनलिका से चावल के पानी (Rice water) के समान पतले दस्तों की धारा बहा करती है।

प्राचीन सिद्धान्त

कालरा शब्द प्राचीन ग्रीक भाषा के कोले (Chole) शब्द से निकला है और कोले शब्द का ठीक-ठीक अर्थ अंग्रेजी भाषा मे बाइल् (Bile) हो सकता है और बाइल शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा मे पित्त होता है। इसलिये, कालरा शब्द का अर्थ पित्त से पैदा होने वाला रोग हो सकता है।

संज्ञाविषयक तुलनात्मक सिद्धान्त

प्राचीन पाश्चात्य चिकित्सक हिपोक्रेटिस के ग्रन्थ मे कालरा सदृश रोग का वर्णन पाया जाता है जिससे प्राचीन अर्थयुक्त कालरा शब्द का अर्थ जीवाणुजन्य कालरा मे चरितार्थ नहीं होता है। परन्तु, आयुर्वेदीय विसूचिका नाम के अन्दर आधुनिक जीवाणुवाद और आयुर्वेदिक त्रिदोषवाद, इन दोनों पद्धतियों का समावेश सहर्ष हो सकता है। कारण विसूचिका शब्द का अर्थ यह है कि जिस रोग में सूचीवेधन के तुल्य पीडा होवे उसको विसूचिका (कालरा) कहते हैं।

यह पीड़ा जीवाणुजन्य कालरा में उस समय होती है जब खाद्य-पेय पदार्थों के द्वारा कालरा के जीवाणु (Comma Bacillus) मनुष्य के शरीर के अन्दर पहुच कर छोटी-छोटी अतड़ियों में रहते हुए रक्त-रस के जलीय अंशे को चूसते है। अथवा, जीवाणुजन्य विष के स्थानिक प्रभाव से आन्त्र मे प्रसेक (कटार) उत्पन्न होकर अत्यधिक लसीका स्राव होने के समय भी सूचीवेधन के तुल्य पीडा होती है। अत. जीवाणुजन्य कालरा शब्द के लिये विसूचिका शब्द सर्वांश मे चरितार्थ हो सकता है और त्रिदोषवाद के लिये तो प्रमाणित है ही। इसका विस्तार आगे किया जायेगा। विसूचिका शब्द का अर्थ जो उपर्युक्त है उसके लिये शास्त्र का प्रमाण उद्धृत किया जाता है।

यथोक्तं सुश्रुते—

सूचिभिरिवगात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिल ।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैरुच्यतेति विसूचिका ॥

इतिहास

अनादि अपौरुषेय अथर्ववेद के अन्दर भी इस रोग का वर्णन आया है और ऋषि प्रणीत संहिताओं मे तो इसका विशद वर्णन मिलता ही है। भेलसंहिता मे इसके विष का भी वर्णन मिलता है।

यथोक्तं भेल संहितायाम्—

विरुद्धा हि रसाः भुक्ताः दूपिताः पवनादिभिः।
विषी भवन्ति देहेषु पूर्ववृद्धे मलाशये॥

उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रमाणित हुआ, कि भारतीय वैद्य इस रोग से प्राचीनकाल से ही परिचित हैं। आजकल यूरोप के चिकित्सक भी विसूचिका की जन्मभूमि भारतवर्ष ही मानते हैं।

(नोट—इसका विशेष विवरण लेखक की लिखी हुई "विसूचिका विज्ञान" नामक पुस्तक में देखें।)

परिचय

यह एक प्रधान रोग है, इसके आक्रमण से अधिक मात्रा में वर्ण रहित रक्त रसीय (सीरम) पदार्थ का वमन और विरेचन होता है, और सब पेशियों में आक्षेप होता है। अथवा खाली ऐंठन होती है। मूत्राघात, सब अंगों में शीतलपन और पतनावस्था (कोलेप्स) दिखलाई पड़ता है। यह अत्यन्त सांक्रामिक और सांघातिक व्याधि है। अजीर्णजन्य विसूचिका चिरकाल-स्थायी होता है और इससे अल्प मृत्युयें होती हैं, किन्तु, कालरा शीघ्रकारी होता है, और इससे कोई ही बचता है। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार भोजन-लोलुप, लालची, लोभी और मिथ्या आहार-विहारी ही अजीर्णजन्य विसूचिका से आक्रान्त होते हैं। परन्तु, कालरा का जब प्रकोप होता है तो अहिताहारी एवं हिताहारी सभी इसके पंजे में फँस जाते हैं। कालरा रोगी के दस्त चावल के पानी-सदृश वर्णवाला और वैसा ही पतला होता है। परन्तु, अजीर्णजन्य विसूचिका में यह लक्षण नहीं होते। अनेक लक्षण कालरा में होते हैं, जिनका वर्णन आगे किया जाता है।

रोग-कारण जीवाणु

जर्मन के प्रसिद्ध चिकित्सक काक् महोदय ने कालरा के जीवाणुओं का आविष्कार किया था, इन्हीं जीवाणुओं के द्वारा इस रोग की उत्पत्ति होती है। ये जीवाणु ही प्रधान हैं।

कालरा का वैजिक तत्त्व

इसकी संक्रामकता सब संक्रामक रोगों से भीषण होती है। प्रत्येक मनुष्य को जानना चाहिये कि पीने वाले पानी से ही कालरा के बीज की पुष्टि और संक्रामकता बढ़ती है। अन्य नल के पानी से शहरों में कालरा की बहुत कमी हो सकती है। अन्यान्य देशों के तुल्य भारतवर्ष में भी जीवाणु (माईक्रोब) से कालरा उत्पन्न होता है। अन्यान्य संक्रामक व्याधियों के जीवाणुओं के साथ तुलना करने पर कालरा के जीवाणु बिल्कुल भिन्न ही पाये जाते हैं। परन्तु इस विषय में कई मत हैं। किसी का मत है कि भारतवर्ष में जीवाणु (माईक्रोब) साधारण रीति से कालरा के उत्पाद नहीं है। परन्तु इस सिद्धान्त को बहुत चिकित्सक नहीं मानते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि वही बैसिलस (Bacillus) वा जीवाणु (माइक्रोब) भारतीय कालरा के प्रधान उत्पादक कारण हैं। इन जीवाणुओं की जल में ही वृद्धि होती है। किन्तु, अनेक जगह की नदियों, तालावों और कुँओं की स्वाभाविक अवस्था के अनुसार जीवाणुओं की शक्ति मे परिवर्तन पाया जाता है। कालरा पीडित रोगी के कपडों को जल मे धोने पर उस पानी मे रोग का बीज मिल जाता है और फिर उस जल में कालरा के बीज की वृद्धि हो जाती है।

गङ्गाजल का प्रभाव

पतितपावनी जाह्नवी के जल मे कालरा के जीवाणुओं की वृद्धि होती है।

यमुना जल का प्रभाव

वैज्ञानिकों ने परीक्षा द्वारा निश्चय किया है कि यमुना के जल में कालरा के जीवाणुओं की वृद्धि नहीं होती है।

जीवाणुओं का भोजन

जिस समय जल में जीवाणु रहते हैं, उस समय जीवित देह से निकला हुआ एक प्रकार का मल ही उनका प्रधान खाद्य होता

है। ये जीवाणु मल के अति सूक्ष्म अंश को भी खा जाते हैं। किस जगह का पानी जीवाणुओं की वृद्धि और पोषण के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं, यह सहज में नहीं कहा जा सकता है। किसी जगह में कालरा का भय कम हो गया है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये। इसका कारण यह है कि गाव और शहर में कालरा के निवारण हो जाने पर भी, वहाँ के कुँओं और तालावों में एक महीने से लेकर तीन महीने तक इसके जीवाणु रह सकते हैं। इस समय ये जीवाणु निस्तेज और शक्तिहीन हो जाते हैं तथा उनसे कोई हानि नहीं होती है। किन्तु अनुकूल कारण होने पर ये वाहर की हवा और प्रकृतिगत परिवर्तन से बढ़ करके शक्ति का सचय कर सकते हैं।

इसलिये किसी स्थान मे कालरा के बन्द हो जाने पर भी वहाँ के कुँआ, तालाव आदि का पानी गरम करके पीवे। ये जीवाणु रोगोत्पादक होने पर भी एक वारगी मनुष्य के शरीर मे रोग का सचार नहीं कर सकते है। इसका हेतु यह है, कि शरीर के आभ्यन्तरिक कारणों की सहायता न होने पर यह किसी प्रकार से कभी-कभी अपना प्रभाव नहीं दिखला पाते हैं। इस रोग के जीवाणु (कोमा वैसीलस) वहुत छोटे होते हैं। साठ वा पैंसठ जीवाणु एकत्र किये जावें तो एक वाल के समान होते है।

सहायक

मिथ्या आहार-विहार और वाह्यवायु का ताप आदि इस भयंकर रोग की उत्पत्ति मे सहायता देते हैं। किसी-किसी आचार्य का मत है कि दूध-पानी के द्वारा कालरा के जीवाणु मनुष्य के शरीर मे पहुंचते हैं। परन्तु, सव का यही मत है, कि जीवाणु-भिन्न मनुष्य के शरीर मे किसी प्रकार से यह रोग पैदा नहीं हो सकता। कालरा का विप-वीज खाद्य पदार्थ, पानी, जल, दूध अथवा निःश्वास-प्रश्वास के साथ शरीर के मध्य मे प्रविष्ट होकर रक्त के साथ मिल जाता है और शरीर के अन्दर तुल्य हेतु पाने पर भीपण रूप प्रगट करता है। अनेक भांति परीक्षा करके अन्त मे यही निश्चय हुआ है कि कालरा-विप-

एक विशेष जीवाणु जन्य है। वे पीने के जल के साथ पक्वाशय मे पहुंच करके रोग पैदा करते हैं और अनेक जगह पर प्रमाण द्वारा सिद्ध हुआ है कि "कोमावेसिलस" इस रोग के उद्दीपक कारण हैं। तो भी अनेक चिकित्सक इसके विपरीत है। उनका मत यह है कि दूध, पानी आदि से विसूचिका के जीवाणु उदर में जाने के पश्चात अन्नवहा नाली के मध्य मे जीवाणुओं की वृद्धि करके रोग की उत्पत्ति करते हैं। ये रोगी के मल मे निकलते है और यह भी प्रमाण से सिद्ध हुआ है कि "कोमा-वेसिलस" मनुष्य की अग्निवहा नली के मध्य मे जीवाणुओं की वृद्धि करके रोग की उत्पत्ति करते हैं। ये रोगी के मल मे निकलते हैं और यह भी प्रमाण से सिद्ध हुआ है कि "कोमावेसिलस्" के मनुष्य की अंत्र-वहा नली के मध्य मे प्रविष्ट होने पर हैजा उत्पन्न होता है। परन्तु, ऐसा भी नहीं हैं। क्योंकि, अनेक स्थल पर ऐसा देखा जाता है कि वहुत से आदमियों ने एक ही समय हलवाई की दूकान से मिठाई लेकर के खाया परन्तु, उसमे वहुत से आदमी हैजा से पीडित हो गये और वहुत से वच भी गये। इससे यह जान पडता है कि विसूचिका-विष पक्वाशय मे जाकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव दिखलाता है। किसी-किसी का मत है कि "कोमावेसिलस्" की रोगोत्पादिका शक्ति, इसकी वंश-वृद्धि और व्याप्ति की क्षमता से सवन्ध मे विचित्र भिन्नता देखी जाती है।

कालरा के जीवाणुओं की आकृति—जर्मन के प्रसिद्ध पाश्चात्य चिकित्सक कॉक महोदय ने हैजा के जीवाणुओं का १८१४ ई० मे आविष्कार किया था और इसका नाम "कोमावेसिलस्" रक्खा था। ऐसा नाम रखने का यह हेतु था कि यह जीवाणु देखने मे जर्मनी भाषा के "कोमा" के तुल्य मालूम होता था। इसलिये ऐसा नाम रखा गया। रोगी के मल, क्षुद्रान्त्र और वृहदन्त्र में वक्र कालरा-जीवाणु पाये जाते है। किसी-किसी स्थान पर वमन में भी ये थोडी मात्रा मे पाये जाते हैं। कभी-कभी यकृत् और मूत्राशय मे भी पाये जाते हैं। दो जीवाणुओं के मिलने पर अंग्रेजी के S अक्षर के आकार वन जाते हैं।

कई चिकित्सकों का मत है कि "कोमा" संयुक्त होने पर कुञ्चितरेखा (स्पाईरिलम्) का आकार धारण करता है। इस जीवाणु के चार पूछें होती है और चलने के समय पूछों को हिलाता है। संख्या की वृद्धि होने पर इसका आकार छोटा हो जाता है और मनुष्य के शोणित के अन्दर की गर्मी (३७ डिग्रीसेन्टीग्रेट) में इनकी वृद्धि होती है, इस गर्मी की घटती-बढ़ती के साथ इनकी वस्ती मे वाधा होती है। अधिक शीत में, यहा तक कि वर्फ मे भी कालरा के जीवाणुओं की मृत्यु नहीं होती है। वायुहीनस्थान मे इनकी वृद्धि होती है, किन्तु विप की वृद्धि नहीं होती है। वायु के संस्पर्श से इनकी विपाक्तता और रोगजन्य शक्ति कम हो जाती है। इनका जीवनकाल किसी के मत से ४ से ६ दिन तक और किसी के मत से ८१ दिन तक होता है। डा० कॉक के मत से ४-५ मास तक इनका जीवनकाल होता है। इन्हीं का मत प्रायः ठीक माना गया है।

पूर्ववर्तीकारण—हैजा के पूर्ववर्तीकारणों का निश्चय करना कठिन है। अनशन, अनुचित-अपरिमित-अशुद्ध आहार, उत्ताप, अधिक समय तक परिश्रम, अधिक वर्षा-वायु की आर्द्रता अथवा स्थिरता, गरम हवा और हवा मे ऑक्सीजन (oxijnce) न हो और दूपित जल-वायु, मानसिकपरिश्रम, शोक, क्रोध, मेला आदि मे अधिक मनुष्यों की भीड़ वाले स्थान पर ठहरना, क्षीणता, दुर्वलता आदि पूर्ववर्ती कारण हो सकते हैं। रोगोत्पादक जीवाणु अन्नवहानाली मे पहुँच कर इस रोग का पैदा करते हैं।

उद्दीपककारण—विशेपकर अस्वास्थ्यजनक सव कारण इसके कारण हैं और खराव स्थान मे रहना, गरीवी, पक्काशय मे ठीक-ठीक पकरस का न वनना भी उद्दीपक कारण हैं तथा सव प्रकार के अजीर्ण भी उद्दीपक कारण हो सकते हैं।

विशूचिका के भेदों का वर्णन—(१) कालरामर्वस वा विक्षिप्त विशूचिका या सामान्य विशूचिका। (२) कालरा वा प्रकृत विशूचिका या देशव्यापी विशूचिका। परन्तु पाश्चात्य चिकित्सक कालरा के दो भेद

मानते हैं। (१) एशियाटिक और (२) ब्रुटिश कालरा। परन्तु एलोपैथिक सिद्धान्त को मानने वाले चिकित्सक इसके तीन विभाग मानते हैं। (१) विलियम (पैत्तिक), (२) प्लाटूलेन्ट (वातिक) और (३) स्पेजमोडक।

कालरामर्वस—यह गर्मी के मौसम मे होता है। अधिक गर्मी इसका पूर्ववर्ती कारण है, शीत लगना, स्वेद का वन्द होना, अधिक मात्रा मे बरफ पी जाना और अनियमित भोजन करना, इसका उद्दीपक कारण है। कालरा के दौरा मे उदर मे आक्षेपयुक्त वेदना, अंगों का टूटना, अत्यन्त दुर्बलता आ जाती है और बार-बार पित्त मिला हुआ कै-दस्त होता है। पहिले हल्दी के समान वर्ण वाला पीला-पतलादस्त आता है, वाद को जल के तुल्य पतलादस्त और उसमें भात के मण्ड के तुल्य पदार्थ जान पड़ते हैं। अंग्रेजी में इसको राइस वाटर स्टूल Rice water stool कहते हैं। मल की ऐसी दशा देखकर विशूचिका जानना चाहिये। उपत्वक् (एपिथिलिपम) के कारण बाहर नहीं निकलते हैं।

कभी-कभी रोग आरम्भ होने के पूर्व ही उदर मे शूल होने लगता है, वेदना और वमन की भी इच्छा होती है और अंतड़ियों मे गुड़-गुड शब्द होता है। सामान्य रीति से पूर्व मे कोई लक्षण न प्रकाशित होकर सहसा रोग का आक्रमण हो जाता है। रोग के अत्यन्त प्रवल होने पर हाथ-पांवों मे विशेष करके ऐंठन होने लगती है और प्यास अधिक लगती है। सब शरीर ठण्डा पड जाता है। अधिकतर ये सब लक्षण कुछ घण्टों मे शान्त हो जाते है अथवा ठीक-ठीक दवा होने से दब जाते हैं। रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है किन्तु शीघ्र ही अच्छा भी हो जाता है। परन्तु किसी-किसी स्थल पर रोग शान्त नहीं होता है और कईदिनतक रोगी कष्ट पा करके पतनावस्था (कोलेप्स) के वाद रोगी की मृत्यु हो जाती है।

देशव्यापी वा प्रकृतिविशूचिका के साथ इसका भ्रम हो सकता है और विष द्रव्य की क्रिया के साथ और तरुण पक्वाशय के प्रदाह के साथ

इस रोग का बहुत सादृश्य मिलता है, किन्तु इसके मध्य में बहुत प्रभेद है। सखिया आदि उग्र विष के खा लेने पर दस्त और वमन एक साथ उपस्थित नहीं होते हैं। दस्त आरम्भ होने के पूर्व में वमन होता है, पक्काशय प्रदेश मे वेदना आरम्भ हो जाती है और मुख के मध्य तथा तालु मे खाये हुए उग्रविष की क्रिया से पैदा हुए चिह्न देखे जाते हैं। पक्काशय प्रदाह से जो वमन होता है, उसके साथ गाल उष्ण और नाडी क्षुद्र-कठिन हो जाती है। परन्तु हैजा मे शरीर साधारणतः ठण्डा और नाडी मृदु और क्षीण हो जाती है।

देशव्यापी विशूचिका—पूर्व में कहे हुए हैजा के समान वमन, विरेचन, अंगों का जकडना और एक वारगी जीवनीशक्ति की शिथिलता आ जाती है। इसका निदान और उत्पादक कारण प्रायः पृथक्-पृथक् है। विक्षिप्त विशूचिका के समान इसके लक्षण नहीं होते हैं। यह देश-ध्वंसकारी विषम सार्वाङ्गिक पीड़ा है और पानी तथा दूध के साथ मनुष्य के शरीर मे कालरा का विष पहुचकर अंतडी की श्लैष्मिकझिल्ली के ऊपर अपना काम करता है। उसकी उपत्वक् (एपिथिलियम) गिर जाती है। यकृत पित्ताधार दूषित पित्त से भरा रहता है और यकृत् अधिकतर वृद्धि को नहीं प्राप्त होता है। प्लीहा और मूत्राशय स्वाभाविक की अपेक्षा कुछ सिकुड़ जाते हैं, पक्काशय और क्षुद्रान्त्र का श्लैष्मिक-कला रक्तवर्ण की हो जाती है और कुछ फूल जाती है। अल्प वा अधिक मात्रा मे जल के तुल्य कुछ श्वेत मल क्षुद्रान्त्र मे देखा जाता है परन्तु सब स्थलों पर वर्णरहित जल के समान-मल देखा जाता है, जिसमें सामान्य गन्ध और कभी-कभी सड़ी हुई गन्ध आती है। इस मल को रख देने से नीचे भात के मण्ड-तुल्य बैठ जाता है और ऊपर दधि के जल के तुल्य मालूम होता है। इसका आपेक्षिक गुरुत्व (स्पेसिफिक ग्रेविटी) १००५ से १०१० तक होता है। यह स्वाद मे क्षार के समान होता है, अनेक समय उदर मे थोड़ी-थोडी पीड़ा और कभी-कभी जलन भी होती है, फिर बाद मे वमन शुरू होता है। वमन दस्तों की अपेक्षा कम होता, परन्तु, कभी-कभी अधिक भी होता है,

पहले पेट में जो कुछ होता है वह निकल कर उसके साथ-साथ कफ भी निकलता है। सब अंगों की शिराओं मे रक्तसंग्रह होकर शीघ्र ही बाहर निकलने की क्रिया द्वारा जलीय भाग बाहर निकल जाता है, जिससे शीघ्र ही क्षीणता और नाडियों मे शिथिलता आ जाती है। ये सब हैजा के दारुण लक्षण हैं।

शोणित सचालन यन्त्र—हृदय के वाय कोष्ठ मे धमनी चर्म की केशिका नालियों मे रक्त नहीं रहता है परन्तु; दाहिने कोष्ठ में फुफ्फुस गामिनी धमनी और सार्वाङ्गिक शिराओं मे काला रक्त जमा हो जाता है, और फेफडा मे जानेवाली शिरा और केशिकाओं में रक्त नहीं रहता है।

श्वास यन्त्र—दोनों फेफडों का स्वाभाविक गुरुत्व ४२ से ४५ औंस तक है। इस रोग मे फेफड़े सिकुड जाते हैं और रक्त से शून्य हो जाते हैं, और उनका गुरुत्व ३० से २८ औंस तक हो जाता है।

मस्तिष्क—इसकी झिल्ली मे विशेष कोई परिवर्तन नहीं होता है।

सांघातिक (एशियाटिक) कालरा के भेद—एशियाटिक कालरा की पाच अवस्थाएँ होती है। (१) प्रच्छन्नावस्था (२) आक्रमणावस्था (३) पतनावस्था (४) प्रतिक्रिया अवस्था और (५) रोगान्त दौर्बल्यावस्था।

प्रच्छन्नावस्था—कालरा का जीवाणु शरीर के अन्दर प्रविष्ट होने के समय से लेकर आक्रमणावस्था (रोग प्रकाश होने का समय) तक के समय को प्रच्छन्नावस्था कहते हैं। यह अवस्था दो-तीन दिन तक स्थायी रहती है और किसी-किसी जगह में अत्यन्त अल्पकाल तक ही रहता है, यहाँ तक देखा गया है कि रोग १२ घण्टे मे प्रकाशित हो जाता है, इस अवस्था मे कोई लक्षण प्रगट नहीं होते हैं। अथवा क्षुधा मे कमी, शरीर मे भारीपन और आलस्य मालूम होता है।

रोगाक्रमणावस्था—व्यक्ति विशेष में शरीर के स्वभाव, शरीर के अन्दर रोग पैदा करनेवाले विष की प्रबलता तथा उसका परिमाण और क्रिया के अनुसार रोग प्रगट होता है, इस अवस्था में दो-तीन दिन तक उदरशूल, सब अगों में दर्द, मस्तक मे शब्द का अनुभव होता है और चिन्तायुक्त मलीन मुख मालूम होता है। जहा-जहा पर रोग एकबारगी दौरा करता है,

वहां-वहां पर एक साथ ही अत्यन्त दुर्बलता और वमन होने लगता है। प्राय' आलस्य, कान्ति और मानसिक निस्तेजता, शिर में चक्कर, अतिसार आदि पूर्व लक्षण प्रगट होकर रोग आरम्भ होता है। पहिले पक्वाशय और अंतडियों मे स्थित पदार्थ निकलते हैं। बाद को अधिक मात्रा मे चावल के धोने के जल के समान झागदार पतला दस्त आना शुरू होता है। मल के श्वेतपदार्थ अन्नवहा नाली की श्लैष्मिक झिल्ली से गिरे हुए एपिथिलियम (उपत्वक सम्बन्धी) कोष वमन-विरेचन के साथ निकलते हैं। अथवा थोडी देर मे आक्षेप सयुक्त वेदना होने लगती है। पेट और दोनों हाथों-पैरों की पेशियों मे ऐठन होने लगती है और साथ ही पक्वाशय मे जलन मालूम होती है, प्यास अत्यन्त लगती है, पेशाब बन्द हो जाती है, सम्पूर्ण शरीर मे गड्ढे पड़ जाते हैं। शरीर की गर्मी स्वाभाविक अवस्था से ५-१० डिग्री तक कम हो जाती है, पहले दस्त पीले आते हैं, फिर चावल के धोने के जल के समान पतले आते हैं। रक्त गाढ़ा हो जाता है, इसका कारण यह है कि कीटाणु रक्त मे से जलीय अश को चूस लेते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इसके कीटाणु अतड़ियों मे होते हैं परन्तु, शिरा धमनियों के रक्त से जलीय भाग कैसे खींचते है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी कटोरा मे नमकीन पानी एक तरफ भर दिया जाय, बीच मे कुछ रुकावट कर दूसरी तरफ सादा पानी भर दिया जावे तो थोड़ी देर मे सादा पानी नमकीन हो जायगा। इस क्रिया को "ओसमोस" कहते हैं। इसी क्रिया द्वारा कीटाणु रक्त मे से जलीयअंश खींच लेते हैं। इसीलिये पेशाब नहीं आता है, थूक सूख जाता है, शरीर मे शीतलता, नाडी और श्वास-प्रश्वास की गति सामान्य हो जाती है, कष्ट होता है तथा बहुत शीघ्र ही क्षीणता आ जाती है।

पतनावस्था (कोलैप्स)—हैजा पैदा होने के कई घण्टे बाद, अथवा बहुत जल्दी पतनावस्था शुरू हो जाती है। नाडी की गति इतनी क्षीण हो जाती है कि अधिक ध्यान देने पर ही मालूम होती है। नाड़ी कभी-कभी तेज भी चलने लगती है। पेशियों मे इतना दर्द हो जाता है,

कि रोगी चिल्लाने लगता है। ये लक्षण इस अवस्था मे कम हो जाते हैं और शरीर अत्यन्त ठंढा पड जाता है। पसीना वहुत निकलता है, रोगी देखने मे नीला-मलीन वर्ण का हो जाता है और नख तथा होठ भी पीले पड जाते हैं। शरीर की गर्मी वहुत कम हो जाती है, किन्तु मल द्वार के पास १०३-१०४ डिग्री तक गर्मी रहती है। सामान्यतया रक्त का भार शरीर में १२० मिलीमीटर होता है। परन्तु इस रोग मे १२० से घटकर ७० तक हो जाता है, सव अंग सिकुडने लगते हैं। देखने मे शरीर मुर्दा के समान मालूम पडता है, आंखे अन्दर को घुस जाती हैं और सफेद मालूम होती हैं, प्राय. ज्ञान ठीक रहता है, नाक सिकुडी हुई और आगे की तरफ पतली मालूम होती है, निकली हुई जिह्वा ठण्डी पड जाती है। अत्यन्त भयंकर प्यास, अधिक वेचैनी पेशियों मे अत्यन्त दुर्बलता, मानसिक अवसाद आदि लक्षण देखे जाते हैं। यद्यपि रोगी का ज्ञान ठीक रहता है परन्तु कोई वात पूछने पर ऐसा उत्तर देता है जो सुनाई नहीं पडता है। पेट पीठ मे मिल जाता है। विषम हिक्का और पक्वाशय मे पीडा मालूम होती है ऊपरोक्त सव लक्षण सव स्थलों पर क्रमश प्रकाशित होते हैं और कहीं-कहीं पर नहीं भी प्रकाशित होते हैं। किसी-किसी जगह पर पहिले से ही वमन, विरेचन या अंगग्रह आदि लक्षण प्रगट नहीं होते, किन्तु सव स्थलों पर रोगी अत्यन्त शिथिल हो जाता है। किसी-किसी स्थल पर कई घन्टों के वाद दुर्वलता उपस्थित होती है अथवा हैजा शुरु होते ही अविलम्ब पतनावस्था आ जाती हैं। इसमें मूत्र एक काल मे वन्द हो जाता है इस अवस्था मे १२ घन्टे वाद अथवा द्वितीय दिन के मध्य में रोगी की मृत्यु हो जाती हैं।

प्रतिक्रियावस्था—यदि रोगी अच्छा होने वाला होता है, तो आमाशय की उत्तेजना हट जाने से वमन शान्त हो जाता है और धीरे-धीरे दस्त भी वन्द हो जाते हैं तथा शरीर मे फिर गर्मी आ जाती है। नाडी की गति ठीक हो जाती है, मूत्र लाल निकलने लगता है और नींद आ जाती है, रोगी की क्षीणता अधिक होने पर भी प्रतिक्रिया की प्रवलता

अधिक होती है, शरीर का संताप वढ जाता है, नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है और मस्तिष्क सम्वन्धी लक्षण विपम हो जाते हैं। मूत्र मे कमी आ जाती है, विपम ज्वर प्रकाशित हो जाता है, फल स्वरूप प्रतिक्रिया की अवस्था मे भयंकर नवीन विपत्ति पैदा हो जाती है।

यह आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड) के लक्षणों से युक्त ज्वर एक सप्ताह से अधिक रहकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। अथवा असाध्य लक्षण धीरे-धीरे शान्त होकर रोगी अच्छा हो जाता है। इस ज्वर के पूर्व मे मूत्र की अल्पता और मूत्र-विष संचार (यूरीमियां) दिखलाई पडता है, वा ज्वर न होने पर भी यूरीमियां (मूत्र-विप संचार) के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। यूरीमिया के होने पर नाडी मन्द पड जाती है और रोगी विह्वल, अस्थिर, विराग तथा तन्द्रा युक्त हो जाता है, मूत्र में यूरिया का प्रमाण वहुत कम हो जाता है और रक्ताण्ड होते हैं। यदि यह २४ घटा तक रहे, तो रोगी अच्छा नहीं होता है।

रोगान्त में दौर्वल्यावस्था—रोग के अन्त मे दुर्वलता कई सप्ताह अथवा कई मास तक वनी रहती है। अंतड़ियों और पक्वाशय मे उग्रता रहती है अथवा रोग के अन्त मे अन्नवहानाली मे किसी प्रकार उग्रता नहीं रहती है।

शुष्कविसूचिका

(Cholerasieca)

कभी-कभी कालरा का विप इतना प्रवल रूप धारण कर लेता है, कि वमन-विरेचन आदि कालरा को सूचित करने वाले कोई भी लक्षण प्रकाशित नहीं होते हैं। अचानक स्वस्थ मनुष्य पञ्चत्व को पहुँच जाता है। नाडी क्षीण हो जाती है और शरीर ठंडा पड जाता है। इसके कीटाणु अपना कार्य करते हैं, विरेचन न होने से पानी आँतों मे भर जाता है। इसे "सिक्काकालरा" या (विलम्विका) कहते हैं।

विसूचिकाजन्य अतिसार

किसी-किसी जगह पर पतनावस्था-आरम्भ होते दिखलाई नहीं पडती है, किन्तु हैजा उत्पन्न होते ही भयङ्कर अतिसार पैदा हो जाता है।

इसमे कोई वेदना नहीं होती है, केवल कई दिन तक रोग का भोग करना पडता है। इसको "कालरिक डायरिया" कहते हैं। किसी-किसी समय यह रोग कठिनरूप धारण कर लेता है। पाश्चात्य चिकित्सकों का मत है, कि कालरा के विप से दूपित पदार्थ शरीर के अन्दर प्रवेश कर कालरा को प्रकाशित करते है, किन्तु वही विप जव अल्प मात्रा मे और मृदु परिमाण मे प्रवेश करता है, तो उस समय अतिसार उत्पन्न हो जाता है। इससे मृत्यु भी हो सकती है अथवा इससे अति कठिन प्रकार वाला कालरा प्रकाशित हो जाता है। इसको इंगलिस में 'कालरा' कहते हैं अथवा विलियस कालरा, स्पोरेडिक कालरा, वा समर डायरिया प्रभृति कालरा के समान ही इसके लक्षण देखे जाते हैं। प्रायः ऐसा रोग अति सहज प्रकार को धारण कर लेता है। इसके मल और वमन मे पित्त के लक्षण मालूम होते हैं। पेट मे दर्द होता है, किन्तु मूत्र एकबारगी वन्द नहीं होता है। ऐसे रोग को कई दिनों तक भोगना पड़ता है परन्तु इससे मृत्यु बहुत कम होती है। अधिकतर आहार के अनियम से यह रोग होता है।

उपसर्ग—सब समयों पर इसके लक्षण अच्छे नहीं देखे जाते हैं। अधिकतर सब प्रकार के उपसर्ग होते हैं। हिक्का, मूत्र-विप संचार (यूरिमिया), कभी-कभी बार-बार वमन, विरेचन, उदरामय और आमाशय तथा कर्णमूल मे क्षत आदि हो जाते हैं। इनके मध्य मे भीषण उपद्रव यूरिमिया है। इसके होने पर वमन फिर बढ जाती है, रोगी का मल हरे रग का उतरता है। आँख लाल, प्रलाप, कटिप्रदेश मे वेदना, अचेतनता और आक्षेप आदि उपसर्ग उपस्थित हो जाते हैं। अन्त्रजन्य प्रदाह (शोथ), निद्रा न आना, वेचैनी, फुस्फुस शोथ और परिफुस्फुसीया कला शोथ (प्लूरिसी) आदि रोग अनेक समय पर पदा हो जाते हैं। रक्त के दूपित होने पर यह अवस्था होती है, ऐसी हालत होने पर रोगी बहुत काल तक कष्ट भोगता है। ऐसी अवस्था मे ज्वर भी आ जाता है, जिह्वा लाल और सूखी हुई रहती है। रोगी को स्वस्थता कुछ भी नहीं मालूम होती है।

शवच्छेद परीक्षा—शवच्छेद करने पर यकृत्, मस्तिष्क, फुप्फुस, वृक्क आदि स्वस्थ देखे जाते हैं। किन्तु कभी-कभी आभ्यन्तरिक यन्त्र कृष्ण-वर्ण शिरा के रक्त से परिपूर्ण रहते हैं। आन्त्र का ऊपरी भाग (डियोडिनम), शून्यान्त्र (जेज्यूनम्) और बहुवक्रान्त (इलियम्) मे शोथ देखा जाता है। विशेप कर श्लैष्मिक-झिल्ली मे रक्त का संग्रह देखा जाता है और गाढ़ा रक्त तथा काला रक्त रस-रक्ताण्ड से परिपूर्ण रहता है रक्त मे लवण का अंश कम हो जाता है। इसलिये लावणिक पिचकारी दी जाती है और रक्त का जलीय भाग निकल जाता है अत• रक्त मे रक्तकणों की संख्या अधिक हो जाती है। प्रायः देखा जाता है कि मृत्यु के कुछ पहिले शरीर की ताप बढ़ जाती है और मृत्यु के बाद कुछ क्षण तक देह उत्ताप बढी हुई अवस्था मे वैसी ही रहती है। कालरा वाले रोगी के मल और ऑतों मे कीटाणु पाये जाते हैं।

निर्णय तत्त्व—अधिकतर अन्य पीड़ा के साथ हैजा का भ्रम नहीं होता है, कभी-कभी संखिया (आर्सनिकपाइजनिङ्ग) के विप के साथ इस रोग का भ्रम हो मकता है। किन्तु जिसने संखिया खाया है, उसके मल मे पित्त रहता है और सामान्य परिमाण मे पेशाव भी निकलता है। कभी-कभी निकले हुए पदार्थ मे संखिया का चूर्ण भी मिलता है।

भावी फल

इसका भावी फल अच्छा नहीं होता है। वृद्धावस्था, दुर्बलता, मद्य का पीना, अस्वास्थ्यजनक स्थान मे वास करना, मूत्रयन्त्र की पीड़ा आदि करणों से रोग का भावी फल भयानक होता है। रोग के संपूर्ण लक्षण उपस्थित होने पर और जल्दी से पतनावस्था के आरम्भ होने पर भी भावी फल दारुण होता है। वडी-वड़ी धमनियों से नाड़ी की गति शीघ्र ही लुप्त हो जावे, श्वास-क्रिया की अधिक दुरवस्था होवे। शीघ्र-शीघ्र संताप का ह्रास हो जावे, शरीर का वर्ण नीला हो जावे, अचेतनता और गम्भीर नींद आ जावे, तो अधिक भय का कारण समझें। यदि एकवारगी दस्त वन्द हो जावे तो अनेक समय मन्द लक्षण उपस्थित होते

हैं। ऐसा कारण उपस्थित होने पर अन्त्र मे पक्षाघात उपस्थित होने की सम्भावना रहती है और प्रतिक्रिया की अवस्था मे भी अनेक विपत्तियों की शंका रहती है। जितनी जल्दी शोपण और श्रवण क्रिया सम्पादित होती है, उतनी ही अधिक आरोग्य की आशा उपस्थित हो जाती है और धीरे-धीरे स्वास्थ्य मे उन्नति दिखलाई पडती है। परवर्ती उपसर्ग और पीडा आदि के अत्यन्त भयानक लक्षण और मन्द लक्षण भी कभी-कभी देखे जाते हैं। इसका भोग काल कई घण्टों से लेकर सात दिनों तक हो सकता है। प्राय. दो-तीन दिन मे मृत्यु देखी जाती है।

मृत्यु सख्या—इस रोग मे प्रतिशत २०-३०-४० अथवा ६० मनुष्य तक मर जाते हैं।

चिकित्सा-रहस्य

विसूचिका की चिकित्सा के दो विभाग हैं। (१) निवारक चिकित्सा और (२) रोगनाशक चिकित्सा।

निवारक चिकित्सा

स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों के प्रति विशेप ध्यान रखना चाहिये और जहां पर मेला होता है अथवा तीर्थ स्थानों मे हैजा का कोप अधिक देखा जाता है। वहां का प्रबन्ध स्वास्थ्यविभाग के कर्मचारियों पर निर्भर रहता है। इसके सिवाय विशेप स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का ज्ञान और सावधानता का प्रयोजन, व्यक्ति विशेष के ऊपर निर्भर है। और इस बात का ध्यान रख कि अपने घर में हैजा उत्पन्न हो, तो दूसरे चिकित्सक से दवा करानी चाहिये, स्वयं दवा नहीं करनी चाहिये। इसका कारण यह है कि प्रियव्यक्ति की पीडा देखने पर अथवा उसका रोग साघातिक हो जाने पर अनेक स्थलों पर बुद्धि ठीक नहीं रहती है।

कालरा के टीका की व्यवस्था

टीका लगवाने से रोग का आक्रमण नहीं होता है। देशी टीका का प्रचार कई कारणों से नहीं है। इसलिये अंग्रेजी ही टीका लगवाना

चाहिये। टीका का सिद्धान्त यह है कि जिन जीवाणुओं से हैजा उत्पन्न होता है, उन्हीं जीवाणुओं के रसका टीका लगाने पर रोग नहीं होता। इस टीका का आविष्कार १८८५ ई० मे हुआ था और भारतवर्ष में १८९३ ई० मे इसका विशेष प्रचार हुआ।

टीका देने की प्रणाली

कालरा के बीज इकट्ठा करके छोटी-छोटी कॉच की नलियों में सुरक्षित रखते हैं। ये कलकत्ता, म्यूनीसिपैलिटी के परीक्षागार (लेबोरेटरी) और आगरा में भी मिलते हैं और अन्तःक्षेपण की प्रथा की पिचकारी (हाइपोडर्मिक सिरिञ्ज) से इस बीज को मनुष्य के शरीर की वामकुक्षि (Flank) मे चर्म के नीचे प्रवेश करते है। प्रथम अन्तःक्षेपण (इञ्जेक्शन) के पाच दिन के बाद दूसरा इञ्जेक्शन करना चाहिये और दूसरी बार मे बीज दक्षिणकुक्षि मे अन्तःक्षिप्त किया जाता है। पहले टीका के बाद यदि १०४ डिग्री से ऊपर ज्वर हो, तो दूसरी बार में द्वि-तृतीयाश देना उचित है। यदि ज्वर मृदु वेग का हो अर्थात् १०१-१०२ डिग्री के मध्य का ज्वर हो, तो पूर्ण मात्रा मे बीज का प्रयोग करना चाहिये। टीका का बीज शरीर मे प्रविष्ट होने पर तीन से बारह घंटा के मध्य मे अन्त्रस्थान मे वेदना मालूम होती है।

शरीर मे ज्वर और ग्लानि पैदा हो जाती है और हाथ-पैर, कमर मे दर्द होता है तथा पूर्व लक्षण भी प्रकाशित होते हैं। इन लक्षणों का ह्रास १२ घंटा से ३६ घटे के मध्य मे होता है और अन्त्रस्थान में स्फीति, कठिनता और वेदना दो-चार दिन तक बनी रहती है। किसी-किसी स्थल मे इनसे भिन्न प्रकार के लक्षण प्रकाशित होते हैं और किसी-किसी को साधारण उदर रोग या शीत मालूम होता है।

आहार-विहार की व्यवस्था

रोग के आरम्भ मे ही रोगी को अलग मकान मे रखें और सेवा करने के लिये बलवान्, स्थिरचित्त तथा क्रिया कुशल परिचारक होना चाहिये। रोगी का मकान सूखा हुआ ऊंचा होना चाहिये। आर्द्र घर मे

रोगी को कभी न रखे। मकान मे शुद्ध वायु और धूप आनी चाहिए। अंधेरे मकान मे रोगी को कभी न रखें। रोगी के घर मे पाखाना, पेशाव का स्थान न हो तथा घर मे रोगी के लिये जरूरी चीजों के सिवाय कोई चीज न रखे। मकान के चारों तरफ की नाली, नावदान प्रतिदिन साफ होना चाहिये। यदि गांव मे हैजा फैल गया हो तो उस गॉव के तालाव, कुऑ और नदी का भी जल दूपित समझे। ऐसी दशा मे पीने का जल गरम कर के फिर उसे शीतल कर के पीवे। गरम जल के शीत होने पर उसका स्वाद विगड जाता है और पीने मे अच्छा नहीं मालूम होता है। इसलिये, खुली जगह मे एक वर्तन से दूसरे वर्तन मे दो-चार वार जल को उलट पलट लेवें। इससे वायु का स्पर्श होने पर जल का स्वाद ठीक हो जाता है। कोई-कोई फिल्टर पेपर (छन्ना कागज) से पानी छान कर पीते हैं। परन्तु इससे लाभ नहीं होता है। इस समय पानीय जल मे मृदु विशोधक द्रव्य का व्यवहार करे। आजकल अनेक प्रकार के द्रावकों (एसिडस्) में जीवाणुओं के नाश करने की शक्ति है। अतः ये सब द्रावक युक्त संशोधक द्रव्य और पानीय—कालरा के प्रतिषेधक हैं। गन्धकाम्ल (सल्फ्यूरिक एसिड) मे विशोधन शक्ति अत्यन्त प्रवल है। एक पाव जल में ३० वूँद (डाइल्यूटेड् एसिड) देने पर पानीय प्रस्तुत होता है और इस अम्ल से युक्त पानी कालरा के जीवाणुओं का नाश करता है। कार्वोलिक एसिड् के व्यवहार करने पर कालरा के जीवाणु शक्तिहीन हो जाते हैं।

गरम दूध में अद्भुत शक्ति

कच्चे दूध के साथ हैजा के जीवाणु शरीर मे प्रविष्ट हो जाते है, इसलिये दूध को गरम करके पीवे, तो किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। गरम दूध मे रासायनिक परिवर्तन होने से एसिड् (अम्ल) का समावेश हो जाता है, उस एसिड् से जीवाणु मर जाते हैं। भोजन सदा ताजा गरम-गरम करना चाहिये।

विसूचिका के रोगी के मल की व्यवस्था

हैजा वाले रोगी के मल में और वमन द्वारा निकले हुए पदार्थ मे इसके जीवाणु पाये जाते हैं। अतः परिचारक को चाहिये कि रोगी के घर मे मल-मूत्र आदि न गिरे ऐसा प्रवन्ध करे, घर की दीवाल, चारपाई, मिट्टी, विछौने पर मल न गिरने पावे। पाखाना-पेशाव कराने के लिये तीन-चार गमला या दश-वारह मिट्टी के सकोरों को काम मे लावें। इनमे वालू या राख डालकर उसमे मल-मूत्र रखें इससे मल-मूत्र को वाहर ले जाने पर उछलकर गिरने की सम्भावना नहीं रहती। कार्वोलिक एसिड, परक्लोराइड् आफ् मर्करी नामक विशोधक पदार्थों मे मल-मूत्र के पात्र को शोधित कर लेवें तो अच्छा है। एक पात्र मे दो वार मल संगृहीत होने पर उतना दोपदायक नहीं है। लेकिन एक बर्तन में दो वार पेशाव करना वहुत अनुचित है।

हैजा के जीवाणुओं के नाश करने के लिये सशोधक पदार्थ काम मे लावें। इसलिये रसकपूर एक भाग को हजार भाग जल मे मिलावें, तो विशोधक द्रव्य तैयार हो जाता है और एक भाग कार्वोलिक एसिड मे दश भाग जल मिलाने से परिशोधक कार्वोलिक मिश्रण तैयार हो जाता है। परन्तु ये द्रव, चतुर चिकित्सक से ही वनवावें। क्योंकि, ये विषैली दवाएँ हैं। किसी-किसी का सिद्धान्त है कि क्लोराइड् आफ लाइम्, सवसे श्रेष्ठ विशोधक है। आधी छटाक क्लोराइड् आफ लाइम्, तीन-चार सेर जल मे मिला देने से वह जल सवसे श्रेष्ठ संक्रामक नाशक हो जाता है। किन्तु इसकी गन्ध अच्छी नहीं होती है। ये संशोधक, द्रव मल-मूत्र पर डालने के काम मे लावें। रोगी का मल-मूत्र किसी पर न गिरे न लगे ऐसा ध्यान रखें। यदि कहीं पर गिर पड़े तो उसी समय उसको साफ कर विशोधक द्रव से धो देवें। मल को गड्ढे में डाल कर मिट्टी से दवा देवें। परन्तु तालाव-कुआँ आदि के समीप इस दूपित मल को गड्ढे मे न डालें।

परिचारक का नियम

परिचारक को सदा होशियार रहना चाहिये। अपने दोनों हाथों

को संशोधक जल से वा परमेगनेट ऑफ पोटासियम मिश्रित जल से धोकर आहार्य द्रव्यों को छुवें। जहाँ पर रोगी रहे वहाँ पर भोजन न करें। रोगी के मल-मूत्र के छूने के बाद प्रति बार संशोधक जल से हाथों को धोना चाहिये और रोगी के हाथों को भी संशोधक जल से ही धोवे। परिचारक को हाथ के नाखून कटा करके रोगी की सेवा करनी चाहिये, जिससे उसके नाखूनों में मल न लगे। नेलब्रेन नामक ब्रुश से हाथ-पैर को साफ करें।

गृह वस्त्रादिकों में धूप

जिस घर में रोगी रहे उसमें कपूर, गन्धक. लोबान आदि शोधक द्रव्यों का धूम देवें। अंगीठी में कोयला जला कर उसके ऊपर कपूर डाल देव, उसके धूम से घर शुद्ध हो जाता है। अथवा गन्धक डाल देवें। इसके धूम से भी घर शुद्ध हो जाता है। परन्तु धूम देने के समय दरवाजा, खिडकी आदि बन्द कर देवे। इससे घर के सब अंशों में धूम फैल जाता है। यदि गन्धक के धूम से रोगी को खाँसी आ जावे वा कोई कष्ट मालूम हो, तो दरवाजा खोल देवें। घर को परमेगनेट पोटास के पानी से प्रति दिन धो देना चाहिये।

विसूचिका की उत्पत्ति निवारक चिकित्सा

विशुद्ध आहार-विहार, शुद्ध वायु-जल, शुद्ध भूमि, शुद्ध पहनने के वस्त्र, देह और मन के लिये उपयुक्त स्वास्थ्यकारक कारणों के उपस्थित होने पर विसूचिका की उत्पत्ति का निवारण किया जा सकता है। विसूचिकाणु पक्वाशय के अम्ल से नष्ट होते है। अतः पक्वाशय के अम्ल को बढाने के लिये जल में हाईड्रोक्लोरिक वा नाइट्रो हाईड्रोक्लोरिक एसिड मिलाकर प्रयोग करें। रोगी को शय्या पर से उठने नहीं देवे, आराम से बिस्तर पर लेटे ही रहने दें। खाने-पीने अथवा मल-मूत्र त्यागने के लिये भी नहीं उठना चाहिये। यदि शय्यामल-पात्र के प्रयोग से रोगी को कष्ट हो, तो जलाभेद्य चादर (Water proof sheet) बिस्तरे पर रख कर उस पर मल त्याग करावें। रोगी को उष्ण वस्त्रों से ढक कर

रखें तथा उसके पास गरम पानी की बोतलें रखें। रोगी का सिरहाना कुछ नीचा होना चाहिये। खाने के लिए कोई ठोस पदार्थ न देवें। थोड़ा-थोड़ा जल, सोडा वाटर, काफी, चाय, जौ का यूष, नारिकेल-जल, निम्बू का शर्बत, ग्लूकोज का पानी बरफ डालकर रोगी को प्यास लगने पर दें। ये सब पेय रोगी को चम्मच से चूस-चूस कर सेवन करावें अन्यथा वमन होने का भय रहता है। मद्य न देना अच्छा है। रोगी के लक्षणों की तरफ विशेष ध्यान रखें। रोगी की चिकित्सा घर में करना कठिन है। अतः हैजा-अस्पताल में रोगी को भेज कर वहां औषध करावें तो विशेष लाभ होता है।

प्रथमावस्था की चिकित्सा

रोग की प्रथम अवस्था में यदि विरेचन हो तो अफीम, अथवा उसके योगों का प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। परन्तु इस प्रयोग को अधिक काल तक काम में न लावें। अफीम के योगों में निम्न योग प्रयुक्त होते है। कर्पूर रस (रसेन्द्रसारोक्त) १-१ गोली प्याज के रस से ३-३ घंटे के बाद देवें। अथवा क्लोरोडीन १५ बूंद २ चम्मच ठण्ढे पानी के साथ मिलाकर देवें। यदि वमन हो जावे तो आध घंटे के बाद फिर से एक मात्रा देवें। इससे अधिक न देवें।

द्वितीय अहिफेन मिश्रण—सोडाबाई कार्ब १५ ग्रेन; क्रीटाप्रिपरेटा १५ ग्रेन, स्पिरिट ईथर १५ बूँद, स्पिरिट अमोनिया एरोम्पॅाटिक १५ बूँद, टिंचर ओपाय ३० बूँद, एक्वा क्लोरोफार्म १ औंस वमन और विरेचन बन्द होने तक प्रति २० मिनट पर ७ औंस की मात्रा में दें।

क्षार प्रयोग—सोडाबाइकार्ब ३० ग्रेन, सोडासेट्रैट ३० ग्रेन, टिञ्चर कार्डको ½ ड्राम, सिरप १ ड्राम, पानी २ औंस।

सेवन विधि—प्रति १५ मिनट के अन्तर से २ चम्मच दें।

एसेन्सियल तेल मिश्रण

(Essential oil mix)

ज्यूनिपर तैल ५ बूँद, काजुपुट तैल ५ बूँद, दालचीनी तैल ५ बूँद, कर्पूर १ ग्रेन, लायकर अट्रोपिन १ बूँद, एसिड सल्फ एरोम्याटिक १५ बूँद,

स्पिरिट इथरिस ३० बूँद और पानी आधा औंस। ऐसी मात्रा प्रत्येक आध घंटे से एक घंटे पर ६-८ बार देव। आठ बार से अधिक कभी भी इसका प्रयोग न करें क्योंकि; ये तैल वृक्कों को दूषित करके मूत्राघात पैदा कर देते हैं।

अर्क कपूर

कपूर १ तोला, रेक्टीफाइड स्प्रिट २० तोला।

विधि—इन दोनों को शीशी में मिला देवें।

मात्रा—रोगी की अवस्थानुसार ५ बूँद की मात्रा में तीन घंटे के अन्तर से देव। इससे प्रथम अवस्था में बहुत लाभ होता है।

विक्षिप्त विसूचिकोपक्रम

इसमें यदि पिपासा लगे, तो बरफ का टुकडा चूसने के लिये देव अथवा बरफ का जल पीने को देवें। ८-१० घन्टा तक कोई आहार न देवें, उदर के ऊपर अलसी अथवा सरसों का पलस्तर लगावें। इससे लाभ न हो और अधिक वमन हो तो रसपुष्प (केलोमेल) ½ रत्ती दें। यदि विरेचन अधिक हो, तो एक चम्मच एरण्ड तेल देवें। इससे लाभ न होने पर चपल (विस्मथ) आदि संकोचक औषधों का प्रयोग करें।

बालक-विसूचिकोपक्रम

यदि ६ मास के बालक इससे पीड़ित हो जावे और वमन अधिक हो, तो १० ग्रेन सबनाइट्रेट ऑफ विस्मथ, २० मिनम म्यूसिलेज आफ् ट्रागाकान्थ, १ ड्राम दालचीनी का जल एक में मिलाकर ६ घन्टा के अन्तर से प्रयोग करें।

क्षारीय जल का प्रयोग—विह्वलता, मूत्राघात, मूत्र विषमता और अवसाद प्रभृति उत्पन्न होने तथा रक्त की गुरुता १०५८ से अधिक होने या नीलिमा और अवसाद उत्पन्न होने पर क्षारीय जल के प्रयोग की आवश्यकता होती है। प्रति बार ४-५ औंस से अधिक जल प्रविष्ट

न करें। फिर बालक की आयु के अनुकूल जल-राशि का निर्णय करें। विक्षिप्तविसूचिका (कालरा मर्व्स) की चिकित्सा में वमन के योग्य रोगी को यदि अधिक गुरु पदार्थ खाने से यह रोग हो और भुक्त पदार्थ तथा उसका कुछ अंश पक्वाशय में मालूम हो किन्तु वमन द्वारा न निकले तो उष्ण जल पिलाकर वमन करावें। यदि वमन से अथवा आन्त्र के मध्य में भुक्तपदार्थ के प्रविष्ट होने से आमाशय शून्य हो गया हो, तो आधा औंस टर्पेन्टाइन और यथेष्ट मात्रा में जल लेकर उसको कुछ गरम करके उसमें तारपीन का तेल मिलाकर वस्ति से अन्त्र का अधोभाग धोना चाहिए। यदि इससे लाभ न हो, तो सम्पूर्ण उदर पर राई का पलस्तर (प्रलेप) लगावें। वेदना और ऐंठन की शान्ति के लिये त्वचोऽवक्षेपण विधि से एट्रोपाइन के साथ मर्फाइन का प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त शुण्ठी अरिष्ट के साथ मर्फाइन का प्रयोग किया जा सकता है। यदि अन्त्र के मध्य में उग्रता हो, तो एरण्ड तेल आधा औंस, ७ बूँद डियोडाइज्ड् टि० ओपियम् के साथ प्रयोग उपयोगी होता है। प्रबल वमन होने पर बरफखण्ड अथवा कार्बोलिकाम्ल संयुक्त जल की व्यवस्था करें। पतनावस्था प्रकाशित होने पर ब्राण्डी और ईथर का आभ्यन्तरिक प्रयोग करें अथवा इस दशा में देह में उष्णता लाने के लिये त्वचा के ऊपर जायफल और शुण्ठी चूर्ण का अवधूलन करें। या उष्ण-बालुका अथवा लवण से सेंक करें। तरुण और प्रबल लक्षणों के शान्त हो जाने पर भी यदि आमाशय और अन्त्र में उग्रता हो, तो जल मिश्रित दूध देवें। दस्त न बन्द हो, तो सैलिसिलेट आफ् विस्मथ १५ ग्रेन की मात्रा में अफीम के साथ ३-४ घण्टे का अन्तर देकर प्रयुक्त करें। रोगान्त में दुर्बलता होने पर बलकारक औषध देवें।

सल्फोग्वानीडीन का प्रयोग

यह औषध आन्त्र में अधिक काल तक रहने के कारण विसूचिका में प्रयुक्त की जा रही है। प्रारम्भिक मात्रा ५-७ धान्य (Gram) और उसके पश्चात् चार-चार घण्टे पर ३ धान्य दस्त बन्द होने तक दी जाती

हैं। इसमें वमन उत्पन्न करने का अवगुण होने के कारण वमन वन्द होने के पश्चात् ही इसको काम मे लाना चाहिये। इसकी कार्यक्षमता के सम्बन्ध मे मतभेद है। क्योंकि किसी रोगी को इससे लाभ हो जाता है और किसी को नहीं भी होता है।

केओलिन का प्रयोग

इससे विष-शोषण और आन्त्रकला का रक्षण होता है। एक ग्लास जल में १ औंस मिलाकर प्रत्येक आध घटे के अन्तर से इसको वमन-विरेचन वन्द होने तक देना चाहिये।

पोटासपरमेगनेट वटिका

इसकी दो ग्रेन की वटिकाएं मिलती हैं जो आमाशय मे न घुलकर आन्त्र में पहुचने पर घुलती हैं। इसीलिये इसको आन्त्रिक वटी कहते हैं। ऐसी गोलियां प्रत्येक १५ मिनट पर २-४ घंटे तक देनी चाहिये। पीछे आध घंटे के बाद देनी चाहिये। जब तक मल का रंग कुछ हरा न हो जाय, तथा दस्तों की सख्या और राशि कम न हो तव तक ये गोलियाँ सेवन कराएं। इनके विषय मे यह ध्यान रखना चाहिये, कि विना चवाये ही इनको निगलें। प्रायः मलगत परिवर्तन का कार्य १२-२४ घंटे मे होता है। यदि न हो तो दूसरे दिन भी इनको जारी रखना चाहिये। यदि रोग सौम्य हो, तो प्रत्येक चार घंटे पर इनको दे सकते हैं। इस औषध मे यह दोष है, कि उग्रगन्ध के कारण रोगी का जी मिचलाने लगता है तथा पचन और मूत्रवह सस्थान मे कुछ प्रक्षोभ पैदा होता है। इसीलिये जहाँ पर हैजा अस्पताल मे इसकी उपयुक्त चिकित्सा की जाती है, वहा इनका प्रयोग वहुत कम करते हैं। परन्तु ग्रामों या अन्य स्थानों में जहा रॉजर की मुख्य चिकित्सा नहीं हो सकती है वहां इनका प्रयोग करना चाहिये।

पोटास परमेगनेट का पेय जल

परमेगनेट का दो प्रकार से व्यवहार किया जाता है। प्रथम २० औंस जल मे ½ ग्रेन से लेकर १ ग्रेन तक डालें और वाद को

४ से ५ ग्रेन तक। जब जल में वह घुल जाय, तब उसका उपयोग पीने आदि के व्यवहार में करें। किन्तु उपर्युक्त दोष का ध्यान रक्खें। कैलसिअम का प्रयोग पूर्ववत् होता है।

फल—यह औषध विसूचिकास्जीवाणु के लिये घातक होती है और उसके विष को निर्विष करती है। अतः विसूचिका आक्रमण के समय जल को शुद्ध करने के लिये प्रयुक्त होती है। रोगी की चिकित्सा में भी जीवाणुनाशन और विषनाशन के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

ईथर का प्रयोग

शीतावस्था मे त्वचा के नीचे पिचकारी से ईथर का प्रयोग करें। अथवा सोंठ के चूर्ण का अवधूलन (धूरा) लगावें और गरम वस्त्र ओढ़ावें।

पतनावस्था (Stage of collapse) की चिकित्सा

इस दशा मे मुख से औषधों का व्यवहार निष्फल होता है। क्योंकि उनका शोषण न होकर वह अंत्र मे संचित हो जाती है। अतः ऐसी चिकित्सा इसमे लाभदायक होती है जिससे शरीर का नष्ट हुआ जलीय भाग और क्षारलवण की पूर्ति होकर रक्तसंचार मे सहायता मिले। इसके लिये रॉजर के अतिवल (Hypertonic) और क्षारीय लवण जल का शरीर मे प्रवेश करना अच्छा है।

अतिवल लवणजल—सोडियम क्लोराइड् १२० ग्रेन, क्यालसियम क्लोराइड् ४ ग्रेन, तिर्यक्-पातित जल २ पाइंट।

क्षारीय लवण जल—सोडियम् क्लोराइड ९० ग्रेन, सोडाबायकार्ब १६० ग्रेन और तिर्यक् पातित जल (Sterilised distilled water) प्रयोग में लाना चाहिये। अगर तिर्यक पातित जल न मिल सके तो सामान्य निर्मल जल को उबाल लेवे।

क्षारीय लवण जल बनाने के लिये सोडाबायकार्ब को कागज मे रखकर कंदुकयंत्र (Autoclave) मे विशोधित कर फिर लवण जल मे

डालकर उबालें। ठण्डा होने पर उसमे विशोधित सोडा मिलावें। जल में सोडा डालकर उसको नहीं उबालना चाहिये। लवण के घोल जब तक बनाये जायं तब तक रक्त की गुरुता और गुदा मे रोगी की उष्णता देखनी चाहिये। गुरुता से नमक के घोल की राशि और गुदा की उष्णता से घोल की उष्णता निश्चित की जाती है।

रक्त गुरुत्वमाप की प्रणाली—गलितस्नेह (ग्लिसरीन) और जल के मिश्रण से दोनों के प्रमाण मे अन्तर करके १०५४ से १०६४ तक दो-दो अंश के फर्क की गुरुता के ६ घोल बनाकर छोटी-छोटी शीशियों मे रखे जाते हैं। फिर रोगी की अंगुली मे सूची से वेधकर आप से आप जो रक्त निकल आता है, उसको एक केशनलिका (कैपिलरीट्यूब) मे लेकर प्रत्येक शीशी मे अनुक्रम से एक-एक बूँद-बूँद छोडा जाता है। जिस घोल मे रक्त का बूँद एक दो सेकेण्ड के लिये पृष्ठ भाग पर रहकर पश्चात् डूब जाता है, उस घोल की जो गुरुता होती है, वही रक्त की गुरुता मानी जाती है।

लावणिक जलराशि-प्रक्षेपण विधि

सामान्यत' शोणित की गुरुता के अनुसार लवण के जल राशि की निश्चिति की जाती है। गुरुत्व १०५८ होने पर १½ पांइट, १०६० होने पर दो पाइन्ट, १०६२ होने पर २½ पाइन्ट, १०६३ होने पर तीन पाइन्ट, १०६४ होने पर ४ पाइन्ट, १०६५ होने पर ५ पाइन्ट के लगभग जल प्रविष्ट किया जाता है। अधिक से अधिक ६ पाइन्ट तक पानी एक समय मे प्रविष्ट किया जाता है। रोगी की स्थिति बहुत ही खराब हो, तो प्रमाण से अधिक भी पानी प्रविष्ट कर सकते हैं। बालकों, स्त्रियों और दुर्बल रोगियों मे प्रमाण से कुछ कम पानी प्रविष्ट करना चाहिये। पानी तब तक प्रविष्ट किया जाता है, जब तक रक्त का भार ११० मि० मि० (शाखाओं की नाडियों की पूर्ण स्पष्टता) और गुरुत्व १०५० न हो। पानी-प्रवेश करते समय रोगी के ऊपर ध्यान देना चाहिये। यदि रोगी तीव्र शिरोवेदना, सर्दी, श्वासकृच्छ्र, हृत्पूर्व प्रदेश मे पीडा,

हृदय में बेचैनी आदि की शिकायत करें, तो जल-प्रवेश बन्द कर देना चाहिये। अथवा उसका प्रवाह मन्द कर देवें। इन लक्षणों से शरीर में जल की अधिकता और उसके संचरण मे हृदय की व्याकुलता प्रदर्शित होती है।

प्रत्येक समय प्रथम एक पाइंट क्षारीय लवण का जल और बाद को राशि का अतिबल लवण जल प्रविष्ट करना चाहिये।

जल की उष्णता—यह उष्णता रोगी के गुदा के ताप क्रम पर निर्भर होती है। यदि तापक्रम १७० से कम हो तो पानी की उष्णता १०२-१०४° फा० तक, यदि ताप १०० फा० तक हो तो पानी की उष्णता ९८° फा० तक और यदि ताप १०२° फा० से अधिक हो तो पानी की उष्णता ८०°-९० फा० तक होनी चाहिये।

लवणजल-प्रयोग के निर्देश

(Indications)

जब नेत्र अन्त प्रविष्ट हो गये हों, शीत, सलवटदार त्वचा हो, खोखली आवाज, हाथ-पैरों में अति ऐंठन, अंगुष्ठ की मूल नाड़ी विलुप्त हो या स्पष्ट शोणित का गाढ़ापन और भारन्यूनता, नीलिमा, अत्यन्त बेचैनी मूत्र बन्द हो जाना प्रभृति लक्षण हों तो लवण जल का प्रयोग करना चाहिये। लवण जल-प्रयोग के लिये केवल एक लक्षण पर्याप्त नहीं होता है। जब इनमे से अधिक लक्षण उपस्थित होते हैं तब लवण जल का प्रयोग करना अच्छा होता है। चाहे ये लक्षण विसूचिका जनित हो अथवा अन्य रोग जनित।

जल प्रवेश के मार्ग—शिरा द्वारा सर्वोत्तम प्रवेश होता है। इससे शरीर मे नष्ट हुए जल और क्षारादि का शीघ्रातिशीघ्र पूर्त्ति होकर रक्तसंचार मे भी शीघ्र सुधार होता है।

इसके लिये प्राय. कूर्पर सन्धि के सामने मध्य बाहु का योजिनी (Matabanbasalic) शिरा या क्वचित् अन्तर्गुल्फ के समीपवर्ती दीर्घोत्ताना (Longsaphanous) शिरा पसन्द की जाती है।

तदनन्तर शिरा के ऊपर की त्वचा को टिंचर आयोडीन के फाया से शुद्ध करके शिरा की दिशा मे त्वचा मे १½ इञ्च का चीरा लगाया जाता है। फिर त्वचा तथा उपत्वचा को दूर करके शिरा पृथक् की जाती है। यदि शिरा स्पष्ट और साफ प्रगट न हो, जैसे कि प्रायः अवसाद की अवस्था मे हुआ करता है, तो कूर्पर के ऊपर एक बंध इस तरह कसना चाहिये कि शिरागत रक्त प्रवाह स्थगित हो जाए, परन्तु धमनीगत रक्त प्रवाह जारी रहे इससे शिरा प्रकट हो जाती है। उपर्युक्त प्रणाली से शिरा पृथक् करने पर उसको दो स्थानों में दो वन्ध लगाकर नीचे का वन्ध कसना चाहिये और ऊपर का वन्ध कुछ ढीला रखना चाहिये। फिर शिरा को प्रस्फुट करने के लिये लगाये हुए बंध को छोडकर सिरा मे ऊपर को लगाए हुए बंधके कुछ नीचे चिमटी से शिरार्ध को पकड कर उसमे कैंची से तिरछा (V के आकार का) छेद किया जाता है और उसमे नलिका (Canula) प्रविष्ट कर उसको ऊपर के वन्ध से कस दिया जाता है। इस पद्धति को खुली पद्धति (Open method) कहते हैं और इसी को प्रायः, प्रयोग में लाते भी हैं। दूसरी वन्द (Closed) पद्धति होती है जिस मे त्वचा को विशोधित करने पर मोटी सुई शिरा में प्रविष्ट की जाती है। इसमें कुछ अभ्यास और कुशलता की जरूरत होती है।

प्रवाह की गति—शिरा में लवण डाल प्रति मिनट २-४ औंस के हिसाब से वहना चाहिये। अर्थात १ पाइण्ट जल ५-१० मिनट में प्रविष्ट करना चाहिये। शिरा में नलिका प्रवेश करने के पूर्व उसकी टोटी खोल कर थोडा-सा जल वहाना जरूरी है। इससे नलिकान्त वायु बाहर चली जाती है तथा यत्र ठीक काम कर रहा है कि नहीं, इसका भी ज्ञान हो जाता है। एक वार नमकीन पानी प्रविष्ट करने पर यदि फिरसे रक्त में गुरुता की वृद्धि, नाडी की क्षीणता, रक्त-भार न्यूनता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाएं, तो पुन लवण जल का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह कई वार जल प्रवेश किया जाता है।

लवण जल के प्रकार—लवण जल अति वल, समवल (Isotonic)

और न्यूनबल (Hypotonic) इस तरह तीन प्रकार का होता है। इस रोग मे सम तथा न्यूनवल मे सोडावायकार्ब भी मिलाया जाता है।

समवल क्षारीय लवण-जल—सोडियम क्लोराइड ५० ग्रेन, सोडा वायकार्ब ६० ग्रेन, पानी एक पाइण्ट।

न्यूनवल लवण जल—सोडियम क्लोराइड् ६० ग्रेन, सोडावायकार्ब १६० ग्रेन, पानी १ पाइंट। यदि रोग की अवधि २४ घन्टे के भीतर होने पर भी नमक का पानी देने की जरूरत हो तो अतिवल लवण जल दिया जाता है। यदि २४-४८ घटे के भीतर फिर नमक का पानी देने की जरूरत हो तो समवल क्षारीय जल दिया जाता है और यदि ४८ घटे के बाद नमक के पानी देने की जरूरत हो तो न्यूनवल क्षारीय जल दिया जाता है। सक्षेप मे प्रारम्भिक लवण जल, अतिवल और उत्तरोत्तर क्षारीय समवल और न्यूनवल देना चाहिये।

त्वचा द्वारा—इस मार्ग का उपयोग रोग के प्रारम्भ मे जब रक्त की गुरुता स्वाभाविक से वहुत अधिक नही होती उस समय तथा शिरा द्वारा नमक का पानी देने के समय उसके सहयोग में, किया जाता है। प्रायः शिरा द्वारा पानी देने पर भी प्रति दिन १ पाइण्ट त्वचा द्वारा दिया जाता है। इसके लिये उदर प्रदेश, कक्षा, कटि विभाग, उरु प्रदेश तथा स्त्रियों मे स्तनाधः प्रदेश उपयुक्त होता है। इस मार्ग मे निम्न दोष होते हैं—

मन्दगति से पानी के प्रवेश-स्थान पर पीड़ा, विद्रधि और कोथ उत्पन्न होने का डर रहता है। इसलिये कुछ लोग इस मार्ग का उपयोग नहीं करते हैं।

उदर कला द्वारा (Intra Peritoneal)—यह मार्ग वहुत सरल, सुलभ, न्यूनपीड़ाकर और शीघ्र कार्यकारक है। अतएव त्वचा की अपेक्षा अच्छा है। स्थूल मनुष्यों व वालकों मे जब शिरा को निकालना मुश्किल होता है (रोग-की अन्तिम अवस्था मे जब सिरा निकालने मे समय व्यतीत करना खतरनाक होता है तथा शिरा द्वारा लवण जल देने के लिये जो अनुभव और शिक्षण होना चाहिये वह नही होता) उस समय इस मार्ग का अवलम्बन करना श्रेयष्कर होता है। उदर कला मे पानी

प्रविष्ट करने के लिये नाभी के नीचे त्वचा को विशोधित करने पर नस्तर से एक चीरा लगाकर उसमे ग्रीहिमुख और द्विद्वारनलिका (Trocar and canula) या रॉजर की नोकदार नलिका उदर गुहा मे प्रविष्ट की जाती है और इस नलिका द्वारा न्यूनवल लवण-जल भीतर जाता है ।

गुदद्वारा—इसका उपयोग वहुत कम होता है । क्योंकि इस मार्ग से जल का शोषण वहुत मदगति से होता है । परन्तु, कभी-कभी प्रारम्भिक तथा प्रतिक्रिया की अवस्था मे जव विरेचन वहुत नहीं होता है तथा बालकों मे शिरा निकलना कठिन होता है तव इस मार्ग का अवलम्बन किया जाता है । गुदा मे बिन्दुश जल प्रवेश कराना चाहिये । इसको ड्रापमेथड (Drop method) कहते हैं ।

इस अवस्था में अमूत्र मेह होने का भय रहता है । इसलिये इसमे पिट्रेसिन (½ सी० सी० त्रिवार) उपवृकी, क्याफीनसैट्रेट (५ सी० सी० त्रिवार) टिंचर स्ट्रोफान्थस (५ वूँद त्रिवार) प्रभृति मे से एक या अनेक हृद्य औषधियों का प्रयोग करें । इसके अतिरिक्त कटि प्रदेश पर सेक और अलावू का प्रयोग भी करना चाहिये ।

प्रतिक्रिया (Stage of Reaction) की चिकित्सा

इस अवस्था में अतितीव्र संताप और मूत्रविषमता ये दो उपद्रव हुआ करते हैं । अत रोगी का ताप और २४ घण्टे मे मूत्र की कुल राशि देखें । तीव्र सताप के लिये शीतल जल का प्रयोग करें और गुदा मे शीतल-लवण जल की वस्ति देवें । यदि २४ घण्टे में मूत्र की राशि २ पाइंट से कम हो जाय तो शिरा द्वारा समवलक्षारीयलवणजल ५% ग्लूकोज के साथ देना चाहिये । यदि विरेचन जारी रहे तो विस्मथ स्यालीसायलेट देना चाहिये ।

पथ्य—यवोदक (वार्लीवाटर) आरारोट, काफी, नीवू, सतरा, मौसमी का रस, ग्लूकोज का पानी, साधारण शुद्ध जल पर्याप्त मात्रा मे देवें । इसके अतिरिक्त गुदा द्वारा लवण जल, पिच्युट्रिन आधी शीशी दिन मे एक-दो वार देवें और कटि विभाग में वृक्कों के ऊपर उष्मार्द सेक

तथा अलाबू प्रयोग (Dry Cupping) इनका उपयोग करना चाहिये। यथोक्तमष्टाङ्ग संग्रहे—

नाम्यमानानि चाङ्गानि भृश स्विन्नानिवेष्टयेत् ॥

उपसर्ग प्रतिकार

हिक्का और वमनोपक्रम—क्लोरेटोन १० ग्रेन द्वि वार, टिञ्चर आयोडीन १ बूंद ½ औंस पानी मे मिलाकर प्रत्येक आध घंटे के बाद दें और अट्रोपिन १/१०० ग्रेन का अन्त क्षेपण (इञ्जेक्शन) करें, आमाशय के पूर्व प्रदेश पर सर्षपप्रलेप करें और चूसने के लिये वरफ देवें। मुखद्वार से अन्न ग्रहण का प्रतिषेध है।

खल्वीनिवारणोपाय

उष्ण वस्त्रों को लपेटना चाहिये। उष्ण जल में वस्त्र को भिगोकर उसको निचोड देवें, फिर उन वस्त्रों से अथवा उष्ण जल से भरी हुई बोतलों से सेंक करें अथवा उष्ण जल मे पैरों को रखें। सरसों के गरम तेल या कायफल के चूर्ण से मर्दन करें।

मूत्र विषमता (Uremia) प्रतिकार

क्षारीयमिश्रण—अमोनियमकार्ब ३ ग्रेन, सोडाबाई कार्ब १५ ग्रेन, सोडासैट्रेट १५ ग्रेन, क्याफीन सैट्रेट ५ ग्रेन, टिंचर स्किला १० बूंद, सीरप् आरंशिया १ ड्राम और पानी १ औंस।

सेवन विधि—प्रत्येक चार घण्टे के बाद एक ऐसी मात्रा मे देवे। ग्लूकोज और सोडाबाई कार्ब युक्त जल पीने के लिये देवें। ग्लूकोज और समबल लवण जल गुदा द्वारा देवें। वृक्क प्रदेश पर सेंक करें, अथवा तुम्बी लगावे। डायपुरेटिन १० ग्रेन दिन मे २-३ वार देवें। सिरा द्वारा क्षारीय समबल लवण जल का जितनी वार आवश्यक हो उतनी वार प्रयोग करें। पिच्युट्रिन ½ सी० सी० का इञ्जेक्शन करें।

वैक्टेरियोफज (Backteriophage)—इसकी मात्रा २ शीशी है जो दिन मे ४-५ वार दी जाती है। इससे विसूचिका मे बहुत लाभ

होता है। इसके देने से पहले क्षारीय जल पीने के लिये देना अच्छा है। चिकित्सा में इसका प्रयोग करते समय रोगी को जीवाणु नाशक अथवा अम्ल द्रव्य नहीं देवें। इससे वमन, विरेचन, हिक्का, विह्वलता, शिरोवेदना प्रभृति लक्षण बहुत कम हो जाते हैं और शिराद्वारा लवण जल का प्रयोग कम करना पडता है।

विसूचिका मुक्तावस्था

विसूचिका से निर्मुक्त होने पर शय्या पर से उठने-बैठने की क्रिया बहुत सावधानी से करनी चाहिये। अथवा अन्य किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम न करें। कभी-कभी ऐसी दशा में हृद्भेद से मृत्यु हो जाती है। आहार के विषय में विशेष ध्यान देवे। कुछ कालतक दूध, तक्र, एरोरूट, कांजी तथा अन्य कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) पदार्थों का ही सेवन करें। जबतक वृक्कों का कार्य ठीक-ठीक न प्रारम्भ होवे तबतक प्रोटीन पदार्थ तथा मास जातीय पदार्थों का सेवन त्याज्य है। इस अवस्था में यदि विबन्ध होवे तो वस्ति प्रयोग से उसको दूर करें और यदि प्रवाहिका हो जावे तो बिस्मथ और केओलिन मिश्रण सेवन करें। अहिफेन का उपयोग न करें। सर्दी से शरीर की रक्षा करें। रोग अत्यन्त तीव्र होने पर उससे निवृत होने पर रोगी बहुत शीघ्र ही अपने पूर्व स्वास्थ्य को प्राप्त हो जाता है।

अनागत व्याधि प्रतिकार

हाफकीन का टीका—इसके लिये ५०-४०० करोड विसूचिकाणुओं की पहली सूई और १००-८०० विसूचिकाणुओं की दूसरी सूई १ सप्ताह के बाद लगाई जाती है। इसकी क्षमता ३-१२ मास तक होती है।

बेसरेडका बिलीवैक्सीन (Bilivaccine)

इसकी गोली प्रति दिन ३-५ दिन तक लगातार मुख से सेवन की जाती है। इससे भी हाफकिन की टीका के तुल्य क्षमता उत्पन्न होती है।

व्यक्तिगत सावधानता

पचन संस्थान के विकारों को ठीक करें। पतले दस्त हो तो ग्राही

औषधों से शीघ्र ही उसको वन्द करें, विवन्ध होने पर विरेचन लेंव। अपक्व वा अति पक्व फल न खावें। पर्युषित अन्न न सेवन करें। हैजा जहाँ पर फैला हो, उस स्थान को त्याग देवें। टीका लगवा लें।

होमियोपैथिक चिकित्सा

एलोपैथिक चिकित्सा से कभी २ हानि भी हो जाती है। यथा, अफीम आदि धारक औषधियों के सेवन करने से दस्त वन्द होकर पेट फूल जाता है। पतनावस्था मे, ब्राण्डी, एमोनिया आदि उत्तेजक औषधियों के सेवन करने से मस्तिष्क की विकृति होकर मृत्यु हो जाती है। परन्तु होमियोपैथिक चिकित्सा से कभी हानि नहीं होती है। इसलिये हैजा रोग मे इसकी संक्षेप से चिकित्सा विधि लिखी जाती है।

हैजा की प्रथम अवस्थाओं के लिये औषधियां

चायना, कैम्फरिक एसिड्, एकोनाइट (वत्सनाभ), आर्सेनिक (संखिया) कैम्फर (कपूर) नक्सवोमिका आदि।

द्वितीय अवस्था के लिये औषधियां

एकोनाइट, एन्टिमोनियम्, टार्ट कल त्रिकम्, आर्सेनिक, कैम्फर, क्रोटन, क्यूप्रम, इलाटेरियम्, एपिकाक आदि।

तृतीय अवस्था के लिये उपयुक्त औषधियाँ

हाइड्रोसायेनिक, एकोनाइट्, आर्सेनिक, कैम्फर, कार्ववेजिटेविलस, साइक्यूटा, क्रोत्रा, क्यूप्रम, सिकेलि आदि।

प्रतिक्रिया अवस्था के लिये उपयुक्त औषधियां

फम्फरीक् एसिड्, एकोनाइट, आर्सेनिक, वेलाडोना, ब्राइ ओनिया कैम्फर, कैन्थारिस्, कैप्सिकम, कार्ववेज आदि।

कर्पूर वर्णन

हैजा के लिये यह प्रधान औषध है। रोग की प्रथम अवस्था से लेकर के आखिरी तक कपूर का उपयोग करना चाहिये। पहले विरेचन होते ही इसका प्रयोग करने से बहुत लाभ होता है और रोग कठिन

आकार को नहीं धारण करता है। रोगी कमजोर, भीत और चिन्तित हो जाय, हाथ-पैर शीतल, आंख बैठी हुई प्रतीत होवे, स्वर भङ्ग, और शुष्क कालरा उपस्थित हो जाय तो दो चार मात्रा कैम्फर का प्रयोग करने से अवश्यमेव लाभ होता है। लाभ होने पर औषध की मात्रा कम कर देनी चाहिये नही तो अधिक मात्रा मे देने से मस्तिष्क रक्ताधिक्य आदि अनेक मन्द लक्षण पैदा हो जाते हैं। परन्तु, यह ध्यान रहे हैजा की पूर्ववर्ती और आरम्भ की अवस्था मे कपूर उत्तम औषध है। उस समय कपूर न देने से रोग साघातिक हो जाता है। प्रारम्भ मे दो, एक घंटा तक कपूर देने से कोई लाभ न मालूम होवे तो कपूर देना वृथा है। अन्तिम अवस्था और प्रतिक्रिया की अवस्था मे कपूर कभी न देव।

विचित्र प्रभावोत्पादक ताम्र प्रयोग

हैजा के काल मे ताम्र का एक पैसा लेकर उसमे छेद करके कमर मे बाधने से बहुत लाभ होता है। ताम्र की खान मे काम करने वाले विसूचिका से बहुत कम मरते हैं।

विसूचिका की पतनावस्था में कर्तव्य

हैजा की पतनावस्था मे सखिया प्रधान औषध है। इसका सब समय मे व्यवहार कर सकते हैं। किन्तु, सब स्थलों पर लक्षण मिलाकर के औषध देना चाहिये नहीं तो अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है। दुर्बलता और नाडी की क्षीणता मे इसको देवें।

एकोनाइट (वत्सनाभ)

शीत लगने पर, मानसिक चिन्ता, मृत्युभय, ज्वर आदि मे इसको देवे। इसे पतनावस्था मे देने से अधिक लाभ होता है।

गोखुरा सांप का विष (कोब्रा)

जिस समय श्वास-प्रश्वास जल्दी-जल्दी चलने लगे, हाथ, पैर, ठढे पड कर सम्पूर्ण शरीर शीतल और स्वेद से तर हो जावे, नाडी न मिले, थोडी-थोडी नींद मालूम हो, फिर दूसरे क्षण मे ही विह्वलता होकर वमन, विरेचन बन्द हो जावे तो इस औषध का ६ अथवा

इससे ऊँचा जपल्यूसन प्रयोग करें। परन्तु, साप का विष ताजा होना चाहिये। विदेशी नहीं होना चाहिये। श्वासकृच्छ्र की अवस्था मे यह अधिक व्यवहृत होता है। मरणासन्न मे भी इससे लाभ देखा जाता है।

प्रतिक्रिया अवस्था का प्रतिकार

नाड़ी की गति ठीक हो जाने पर प्रतिक्रियावस्था प्रारम्भ हो जाती है। इस अवस्था मे वमन, विरेचन थोडी मात्रा मे होता है। किन्तु स्वाभाविक प्रतिक्रिया से अधिक बार नहीं होता। कई स्थानों पर ऐसा मालूम होता है कि प्रतिक्रिया अवस्था मे रोगी बिल्कुल अच्छा हो गया है। इसका कारण यह है कि रोगी के हृदय के दाहिने कोष्ट में रक्त का संचाप (क्लट्) जम जाने पर यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है। यह चिकित्सा करने का समय नहीं है। इसमें एकबारगी मृत्यु उपस्थित हो जाती है। इस समय मे कैल्केरिया आर्सेनिक ६-१२ तक दिया जा सकता है। इससे कभी-कभी लाभ हो जाता है। जब रोगी अच्छा होने वाला होता है तो मल पीला, हल्दी के समान हो करके गाढा निकलता है। पेशाब होने लगता है, शरीर उष्ण और नाडी की गति ठीक चलने लगती है। उस समय औपधि की कोई आवश्यकता नहीं होती। केवल पथ्य ही देना चाहिए। औषध की आवश्यकता होने पर बलकारक औपध देवें। दुर्वलता को दूर करने के लिये चायना ३ क्रम, दिन में दो-तीन बार देवें। किन्तु दुःख का विषय है कि इस हालत मे कई उपद्रव उपस्थित हो जाते हैं।

उपद्रव का प्रकरण

हैजा मे आक्षेप होने पर क्यूप्रममेट् ६-३० क्रम देवे। हाथ-पैरों मे आक्षेप (खिंचाहट) होने पर, बोलने में कष्ट होने पर क्यूप्रम एसिड ३ x क्रम से व्यवहार करें।

मूत्रावरोध की चिकित्सा

हैजा की तरुणावस्था मे जो दवाइयाँ दी जाती है उनमे कई ओपधियां मूत्रकारक होती हैं। किन्तु, प्रतिक्रिया उपस्थित होने पर

कोई मूत्रकारक औषध न देवें। कुछ काल तक अपेक्षा कर अथवा पूर्वोक्त औषधियों की मात्रा जान कर दो-चार मात्रा देवें। आर्सेनिक क्यूप्रम आदि जो औषधिया दी जाती हैं उनसे लाभ होने की पूर्ण सभावना रहती है, क्योंकि ये साक्षात् रूप से वा रक्त की अवस्था उन्नत करके और हृदय के अन्दर वल देकर मूत्र को निकालती है। इनके असफल होने पर कैन्थारिस् देना चाहिये। इससे भी असफल होने पर टेरिबिन्थिना देना चाहिये।

ज्वर की चिकित्सा

हैजा की प्रतिक्रियावस्था मे अनेक समय ज्वर आ जाता है और ज्वर के क्रमश बढते रहने पर एकोनाइट्, वेलाडोना आदि औषधिया देते हैं।

हिक्का की चिकित्सा

हैजा की हिचकी दूर करने के लिये वेलेडोना ३, ६ क्रम सिक्यूट ३, ६ आदि देवे।

वमन

हैजा के वमन को दूर करने के लिये औषध विवेचना करके देवें। वमन के उद्रेक मे एपिकाक देवें और पित्त वा अम्ल वमन होने पर नक्सवोमिका देवें।

उदरामय को चिकित्सा

रोग के शान्त हो जाने पर अनेक समय उदरामय हो जाता है। यदि मूत्र निकलने के पूर्व में दस्त हो, तो पूर्व वर्णित औषधिया देवें। पेशाव के वाद दस्त हो. तो लक्षणों की तुलना करने पर चायना ३-३० क्रम एसिड्फस् ३, ६ क्रम आदि देवे।

उदर स्थिति की चिकित्सा

पेट में वायु के भरने पर, ओपियम् ३-३० क्रम। नक्सवोमिका ६-३० क्रम आदि देवें।

रक्ताल्पता की चिकित्सा

हैजा की इस अवस्था में चायना देवें। इससे लाभ न होने पर एसिडफस_३० आदि औषधिया देवें।

विसूचिका विषयक प्राच्य सिद्धान्त

विसूचिका का निदान और निरुक्ति

प्राच्य शास्त्र मे विसूचिका का प्रधान कारण अजीर्ण माना गया है। प्रथम एक व्यक्ति के अजीर्णजन्य विसूचिका पैदा होती है, फिर इसकी संक्रामकता इतनी बढ जाती है कि सम्पूर्ण देश पर आक्रमण करता है। इसके साथ इसकी भयंकरता और प्राणनाशिनी शक्ति भी बढ़ जाती है। श्री भगवान् धन्वन्तरिजी ने प्रिय शिष्य सुश्रुत को इस रोग के विषय मे स्वतन्त्र रूप से उपदेश दिया है, कि यह हैजा अति संताप, निदाघ, संतप्त वायु, वायु की आर्द्रता, अतिवृष्टि, अशुद्ध जल-वायु, अधिक श्रम, मिथ्याहार-विहार, भय, शोक, दुःख, मानसिक यन्त्रणा, अधिक जन-समूह का प्रवास स्थान, रात्रि जागरण, शारीरिक दौर्बल्य आदि मुख्य कारणों से उत्पन्न होता है।

विसूचिका की निरुक्ति—उपरोक्त कारणों से वायु प्रकुपित हो कर शरीर के बाह्याभ्यन्तर सूचीवेधन के तुल्य पीडा पैदा करता है। इसलिये इसको विसूचिका कहते हैं।

सुश्रुत संहितोत्तर तन्त्रे—

अनात्मवन्तः पशुवद् भुंजते येऽप्रमाणतः
रोगानिकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि
अजीर्णमाम विष्टब्ध विदग्धञ्च यदीरितम्
विसूच्यलसकौ तस्माद् भवेच्चापि विलम्बिका
सूचिभिरिव गात्राणि तुदन्सनिष्ठतेऽनिलः
यत्राजीर्णेन सावैद्यैरुच्यते तु विसूचिका ॥

साधारण लक्षण

साथ-साथ दस्त और विरेचन होता है, पहले दो-तीन वार अतिसार के तुल्य मल का दस्त और भुक्त द्रव्य का वमन होता है। वाद को चावल के धोवन के समान वा भात के माड के समान अथवा जौ के क्वाथ के तुल्य अथवा पकाये हुए कूष्माण्ड के जल के समान दस्त होता है और वमन होता है। सडे हुये मास के समान दुर्गन्धि युक्त मल निकलता है। पेशाव वन्द हो जाता है, दोनों आँखें अन्दर को प्रविष्ट हो जाती है दोनो होंठ नीले पड जाते है, नाक ऊपर को उठ जाती है। हाथ-पैर ठंडे पड़ जाते और सिकुड जाते हैं और खाली जाने लग जाती है। अगुलियों के नाखून काले पड जाते हैं, देह मे रक्त नहीं रहता है और पसीना अधिक निकलता है। नाड़ी क्षीण, शीतल और कभी-कभी वेग से युक्त हो करके धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है। हिचकी अधिक आने लगती है और प्यास भी अधिक लगती है और मोह, चक्कर आना, बकना, ज्वर, अन्तर्दाह, स्वरभङ्ग, वेचैनी, शिर को इधर-उधर घुमाना, शिर मे चक्कर, वेदना, कान मे अनेक तरह का शब्द सुनाई देने लगता है। नेत्र से विपरीत वस्तु दिखलाई देने लगता है। जिह्वा शीतल, जृम्भा और हृदय में अनेक प्रकार की पीडा आदि होती है।

यथोक्त श्रीमाधवेन—

मूर्च्छातिसारातमथु पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्ट न जृम्भ दाहा।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्चभेद ॥

दोष प्रकोप के लक्षण

हैजा में वायु के अधिक होने पर दस्त और कफ कम हो जाते हैं। परन्तु उदर मे वेदना, अंगमर्द, मुखशोष, मूर्च्छा, भ्रम, शिरा-संकोच आदि लक्षण अधिक प्रकाशित होते हैं और पित्त के अधिक होने पर दस्त अधिक आते है तथा ज्वर, अन्तर्दाह प्यास, मूर्च्छा, प्रलाप आदि लक्षण होते हैं। इस रोग मे कफ के अधिक होने पर जाडा लगकर ज्वर आ जाता है और अरुचि आदि लक्षण विशेष रूप से प्रकाशित होते हैं।

शरीर का सन्ताप

हैजा मे देह की गर्मी बहुत कम हो जाती है, थर्मामीटर से देखने पर ९५ डिग्री तक ताप देखा जाता है। किसी-किसी रोगी की मृत्यु के पहले कपाल, गाल, छाती की गर्मी दो-एक घंटे पहले ही बढ़ जाती है।

असाध्य लक्षण

मूर्च्छा, शरीर में दाह, निद्रानाश, शारीरिक विवर्णता, उदर, मस्तक और हृदय मे अत्यन्त वेदना, भ्रान्ति, प्रलाप, स्वरभंग, कम्प और बेचैनी आदि प्रकाशित होने पर जीने की कम आशा रहती है।

उपद्रव

नींद का न आना, बेचैनी, कांपना, मूत्राघात (पेशाब का बन्द हो जाना) और बेहोशी, हैजा में ये भयंकर पांच उपद्रव होते हैं।

यथोक्तं माधवाचार्येण—

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसञ्ज्ञता।
अमी उपद्रवाः घोरा· विसूच्यां पञ्चदारुणा ॥

साध्य लक्षण

जिस हैजा मे धीरे-धीरे दस्त और उलटी कम होने लगे, पित्त मिला हुआ दस्त होवे, शरीर की गर्मी बढ़ जावे। उदर मे वेदना शान्त हो जावे नियमित श्वास-प्रश्वास आने लगे, प्यास कम हो जावे, नींद आ जावे, मल का वर्ण स्वाभाविक हो जावे, पेशाब आने लगे—इन लक्षणों के देखने से आरोग्य होने की आशा पाई जाती है।

आक्रमण काल

हैजा का आक्रमण प्रातःकाल अधिकतर देखा जाता है। कभी-कभी दूसरे समय मे भी देखा जाता है। इसके आक्रमण का कोई निश्चित काल नहीं है। किसी की मृत्यु २-३ घण्टे मे ही हो जाती है और कोई-कोई तीन-चार दिन तक कष्ट भोग करके मरता है।

चिकित्सा प्रकरण

चिकित्सक का कर्तव्य है कि हैज़ा के उत्पन्न होते ही उपचार करे। परन्तु प्रथम-अवस्था में दस्त बन्द करने वाली औषध नहीं देनी चाहिये। इसका हेतु यह है कि उससे उसी समय दस्त बन्द हो जावेंगे और वमन अधिक होने लगेगा, पेट फूल जायगा और पित्त फैल जाता है, फिर विष बाहर नहीं निकल पाता अथवा कुछ समय के लिये दस्त बन्द हो जाता है और फिर अधिक मात्रा मे दस्त आने लगते हैं। कोई चिकित्सक विष निकालने के लिये और विरेचन दे देते हैं। उससे अति विरेचन हो कर रोगी और दुर्बल हो जाता है। अतः अजीर्ण से उत्पन्न हुए विसूचिका रोग मे पाचक औषध देवें और लंघन करावें तथा प्यास को दूर करने के लिये सौंफ का अर्क और गाजवां का अर्क मिला करके देवें। पाचक औषध गन्धक वटी या संजीवनी वटी भी दे।

शार्ङ्गधरोक्त संजीवनी वटी

वायविडंग २ तोला, सोंठ २ तोला, पीपल २ तोला, हरीतकी २ तोला, आँवला २ तोला, बहेडा २ तोला, मीठी वच २ तोला, गिलोय २ तोला, शुद्ध भिलावा २ तोला, शुद्ध मीठा तेलिया विष २ तोला।

विधि—इन औषधियों को अलग-अलग कूट लें फिर गौमूत्र से खूब मर्दन करके घुंघची के बराबर गोली बनावें।

अनुपान व मात्रा—२ गोली। तीन लवंग के साथ पिस करके खिला देवें। ऊपर से दो तोला ताजा प्याज के रस पिलावें। इसी भांति एक-एक घंटा का अन्तर दे करके पिलावें। इससे दस्त, वमन सब बन्द हो जाते हैं। हैजा की प्रथम अवस्था मे ये देने से रोगी अवश्य ही अच्छा हो जाता है।

अमृतबिन्दु

यवान्या ससत्त्व पिपरमेण्टशुष्क हिमचैव भागेन तुल्य यदास्यात्
तदा क्षिप्यकुप्यामथोकाचजायां भवेतामृतबिन्दु. पीयूष सिन्धु.

भावार्थ—अजवाइन सत्त्व, पिपरमेन्ट, कर्पूर। विधि—इनको सामान

मात्रा में लेकर शीशी में डालकर रख देंवे। २-३ मिनट के बाद द्रव हो जावेगा। मात्रा ५ बूंद जल में देवें।

० हिंग्वादि वटी

तालाबी हींग ५ तोला

कपूर ४ माशा

शुद्ध अफीम २ माशा

पहाड़ी लाल मिरची ४ तोला

चन्द्रोदय ६ माशा

विधि—पहले मिरिचियों का बारीक चूर्ण कर कपड़े में छान लेवें। फिर अन्य औषधियां मिला कर प्याज के रस में दो दिन खरल में घोंट कर मूंग के बराबर गोली बनाकर छाया में सूखा लेवें। मात्रा—१ गोली, अनुपान—प्याज का रस अथवा पुदीना के अर्क के साथ। पांच-पांच मिनट के बाद गोली देवें और प्यास लगने पर अर्क पुदीना २ तोला पिलाते रहें। इससे रोगी जल्द अच्छा हो जाता है। १९३० ई० में कालरा का प्रकोप मेरे गांव में हुआ था। उस समय मैं इन्हीं गोलियों को देता था, जिससे रोगी अच्छा ही हो जाता था। यह गोली कालरा मिक्श्चर के बराबर काम देती है।

अर्कादि वटी

अर्क (आक) की जड की छाल १ तोला, शुद्ध अफीम १ तोला, काली मिर्च १ तोला, कपूर १ तोला—इनको पीस कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावें। मात्रा—१ गोली। अनुपान—आर्द्रक-स्वरस १ तोला। इससे भी लाभ होता है।

अहिफेनासव

महुवा के फूलों का मद्य १२½ सेर, अफीम १६ तोला, नागरमोथा ४ तोला, जायफल ४ तोला, बडी इलायची ४ तोला लें। विधि—इन ओषधियों को एक पात्र में भरकर मुख बन्द कर दें, बरतन कुछ खाली रहने दें। एक मास तक रखने के बाद छानकर बोतलों में भर लेवें।

मात्रा—५ से १० बूँद। अनुपान—शीतल जल। इससे बहुत लाभ होता है।

सजीवनी सुरा (भैषज्यरत्नावली का)

प्लेग के प्रकरण में लिखी हुई सजीवनी सुरा का प्रयोग करें। कर्पूर रस, जातीफलादि वटी (रसायनसार) का भी प्रयोग करें। अथवा खिंचा हुआ द्राक्षासव पिलावें, इससे अवश्य ही लाभ होता है।

विसूची विजय

पारद शुद्ध १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, चौकिया सोहागे का फूला १ तोला लें।

विधि—पहले पारा-गन्धक की कज्जली बना कर फिर सोहागे का फूला मिलाकर जायफल के क्वाथ की सात भावना देकर सुखा लेवें। मात्रा—४ रत्ती, अनुपान—मिश्री १ तोला, इससे प्रथम-अवस्था में विशेष लाभ होता है।

हिमांशुद्रव

पिपरमेन्ट १ बूँद, कपूर १ बूँद, स्प्रिटकेम्फर २ बूंद, स्प्रिटक्लोरोफार्म २ बूंद, अजवाइन का सत्त्व ३ बूंद, रेक्टीफाइड स्प्रिट १६ बूँद।

विधि—इन सबको एक में मिलाकर शीशी में रख लेवें। मात्रा—२-५ बूँद। अनुपान—चीनी में रखकर २ घंटा का अन्तर देकर पिलावें। इससे बहुत लाभ होता है। अथवा केवल अर्क कर्पूर देवें।

अर्क कर्पूर

कपूर १ भाग

रेक्टीफाइडस्प्रिट २० भाग

विधि—दोनों को मिलाकर के शीशी में बन्द कर देवें।

मात्रा—५ बूँद से २० बूँद तक दे सकते हैं। अनुपान—पोदीना अर्क १ तोला।

वमन-चिकित्सा

दरियाई नारियल और पपीता इनको बराबर-बराबर घिसकर २ माशा शर्बत अनार में चटाएँ।

चूर्ण—इलायची, लवंग, नागकेशर, बेरकी गुठली, धान की खील फूलप्रियङ्गु, नागरमोथा, लाल चन्दन और पीपल लें।

विधि—सब समान भाग लेकर कूट करके चूर्ण बनावें। मात्रा—३ माशा, अनुपान—मधु वा चीनी, इससे वमन अच्छा हो जाता है।

प्रलेप—बनरसी राई को पीसकर आमाशय के ऊपर लेप करने से वमन बन्द हो जाता है।

बन्धन—वक्षःस्थल पर और प्रगण्डास्थि पर दो-तीन पट्टी बांध देवे। इससे भी लाभ होता है।

मूत्रनिःसारण के उपाय

पलाश के फूलों को पानी मे पका करके गरम-गरम पेड़ू पर बाधें। वा सोडा, फिटकरी, अजूवा, इनको समान भाग मे पीसकर के वस्ति पर लगावें। अथवा गेंदा और नील की पत्ती पीस करके लेप लगावे और कपूर लिङ्ग के छेद मे रखें अथवा तालाब मे जो काई होती है उसको पेड़ू पर बाधें और लिङ्ग के छिद्र मे रखें और कमर पर राई का पलस्तर लगावें। इससे भी पेशाब न निकलने पर श्वेत पर्पटी देवें। अन्त मे शलाका डालकर पेशाब निकालें।

लाल फिटकरी ४ तोला और शोरा ८ तोला ले।

विधि—दोनों को पीस कर तवे पर रख करके गरम करें, जब दोनों पिघल जाव, तो उनको चीनी के बरतन मे ढाल दे और सूख जाने पर पात्र से निकाल ले।

मात्रा—३ माशा। अनुपान—केले का पानी २ तोला। इससे एक घण्टे के बाद अवश्य ही पेशाब खुल कर निकल आता है।

खल्ली निवारण योग

सोंठ का चूर्ण, कायफल और जायफल इनको समान भाग लेकर पीस करके हाथ-पैर की पेशियों मे खूब मालिश करे अथवा ब्राण्डी मे तारपीन का तेल मिलाकर मालिश करें। या सरसों के तेल में कपूर मिला कर मालिश करें।

शिग्रवादि तैल

सहजन की छाल १ तोला, तेजपात १ तोला, रास्ना १ तोला, अगर १ तोला, कूठ १ तोला, वच १ तोला, सोया के बीज १ तोला, चोक २ तोला, कड़ुआ तेल आधा सेर, जल दो सेर।

विधि—तेल पाक की विधि से पका कर पेशियों पर खूब मालिश करें। अथवा काञ्जी मे इन द्रव्यों को पीसकर खूब मर्दन करें। इस सेय खल्ली दूर हो जाती है। अथवा केवल सोंठ का चूर्ण ही मालिश करे।

हिक्का निवारणोपाय

शंख भस्म हिंग्वाष्टक चूर्ण मे मिलाकर घी-मधु के साथ चटावें। इससे अवश्य ही लाभ होता है।

वडी इलायची का चूर्ण, चीनी मे मिलाकर खिलावें।

धूम्रपान—एक चिलम पर उडद का चूर्ण और मोर का पख रख करके पिलावें। इससे भी लाभ होता है और हिक्का की चिकित्सा में लिखे हुए प्रयोगों का व्यवहार करे।

उदर वेदना नाशक उपाय

जौ का आटा और जवाखार इन दोनों को तक्र मे पीस कर गरम करके लेप करें और रवड की थैली में गरम पानी भरकर पेट पर रखे। रवड़ की थैली न मिलने पर वोतल मे गरम पानी भरके पेट पर फेरना चाहिये। इससे उदरवेदना शान्त हो जाती है। अथवा गरम जल में रेशमी कपडा भिगोकर निचोड डालें, फिर गरम-गरम ही पेट पर लपेट देवें। जब शीतल हो जावे तब दूसरा कपडा रखें। इससे पेट की पीड़ा वन्द हो जाती है।

पिपासा निवारणोपाय

वरफ के जल में अर्क कर्पूर मिला करके देवें। और गाजवाँ तथा पुदीने का अर्क द, इसमे २ बूँद अर्क कपूर अथवा अमृतधारा २ बूँद मिला कर पिलाव। अथवा वरफ के टुकड़े चूसने के लिये देव। अथवा नागरमोथा १ तोला, लवंग १ माशा, जायफल ६ माशा, खस २ तोला,

सोंठ १ तोला और चन्दन का बुरादा २ तोला, इनको दो सेर पानी में पकावें, जब ऽ१ सेर पानी रह जाय तब छान कर कच्चे मिट्टी के घड़े मे पानी को रख देवें। फिर थोड़ा-थोड़ा कर इस पानी को पिलावें, इससे प्यास शान्त हो जाती है।

स्वेद निवारणोपाय

कूठ, जायफल, भुनी हुई कुलथी का चूर्ण, अरहर का आटा और सोंठ का चूर्ण, इनको बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर छान लेवं।

फिर शरीर पर इस चूर्ण को लगावें। इससे पसीना निकलना बन्द हो जाता है। रससिन्दूर और प्रवालभस्म, मधु के साथ उचित मात्रा मे देवें।

शिरः शूलनाशक उपाय

कपूर १ माशा, अजवाइन का सत्त्व ४ रत्ती, दालचीनी का तेल ६ माशा, लवङ्ग का तेल ३ माशा, पिपरमेन्ट ४ रत्ती इनको एक शीशी मे रख करके वन्द कर देव। फिर आंवले के तेल मे इसकी ५ बूँद मिला कर शिर पर मालिश करे। इससे शिर दर्द अच्छा हो जाता है। अथवा शिर पर कपूर मिला हुआ मक्खन की मालिश करे।

संज्ञानाश हरणोपाय

एक शीशी मे चूना और कपूर भर कर डाट बन्द कर देवें। जब उसमें एमोनिया पैदा हो जावे तब सुँघावे। इससे शीघ्र चेतना आती है। हैज़ा वाले को जब बेहोशी हो, तब उसके हाथ-पैरों मे ताप का प्रयोग करे और कट्फलादि नस्य सुँघावें।

अन्तिम काल में कर्त्तव्य

जब रोग के असाध्य लक्षण मालूम हो, तब चन्द्रोदय, मकरध्वज, ताल सिन्दूर, मल्ल सिन्दूर और कस्तूरी मिला करके दें। इन रसों से कभी कभी आश्चर्यजनक लाभ हो जाता है। जब कोई चिकित्सा सफल न हो, तब अग्नि मे लोहे की सलाई गरम कर पार्ष्णिप्रदेश (एड़ी) पर दाह क्रिया करं, इससे बहुत लाभ होता है। परन्तु यह चिकित्सा बहुत

भयंकर है, इसलिये इसका प्रचार आजकल कम है। अग्नि-चिकित्सा का प्रचार केवल पर्वतीय प्रान्तों मे देखा गया है।

यथोक्तम् वाग्भट्टे—

विसूच्यामति प्रवृद्धायां पाष्ण्योंर्दाहः प्रशस्यते।

कर्पूरबन्धनम्—

कर्पूरं भुजदण्डेऽस्य बध्नीयात् घ्राण हेतवे।

कर्पूरासव प्रयोग—

कर्पूरस्यासवं दद्यात् विसूच्युत्पाटने परम्
दत्तमात्रे यदा क्षणे यदेनं छर्दयेत्तदा
तत्क्षणेन पुनर्देयो वमी रुन्ध्यान्न यावता
निरुद्धे वमने जाते तथा रुद्धे च विरेचने
प्रहरे-प्रहरे दद्यात् त्रिकालम्वा भिषग्वर ॥

पद्यात्मक कर्पूरार्क—

चतुर्विंशतिकर्ष स्यात् स्पिरिटोरेक्टिफाइड
चन्द्र: पञ्च द्विकर्षन्तु तैल पीपरमेन्टजम्
पूर्वं हिम विनिःक्षिप्य स्पिरिटं चालयेन्मुहु
मिश्रेणाथ तैलस्य कर्पूरार्को भवेद् ध्रुवम्
दश विन्दु प्रदानेन सितयासह नाशयेत्

नोट—इसका वर्णन पूर्व मे हो चुका है। यहाँ पर स्मरण करने के लिये पद्यात्मक रूप से वर्णन किया है।

औपसर्गिक सन्निपात (प्लेग Plague)

निर्वचन—यह एक संक्रामक, जनसंहारक और आशुघाती रोग है। स्वाभाविक अवस्था मे जो वंक्षण, कक्षा, ग्रीवा आदि स्थानों मे लसीका ग्रन्थियाॅ होती हैं, प्लेग मे ये लसीका ग्रन्थियाॅ बढ जाती हैं और इनमें तीव्र वेदना होती है। इसलिये कोई-कोई चिकित्सक इसको 'ग्रन्थिक ज्वर" भी कहते हैं।

यथोक्तं सिद्धान्त निदाने—

प्रायोवक्षणकक्षादौ ग्रन्थिशोफरुजाकरः।
ग्रन्थिकाख्यो जनपदोद्ध्वंसी घोरतरो ज्वरः॥
तुल्येऽपि हेतौ स क्वापि भृशं फुफ्फुसदूषणात्।
सद्यः शोणित निष्ठीव श्वासकासैर्हरेदसून्॥
अथवा सर्वथा सर्वधातून् द्रागभिदूषयन्।
अभिन्यास समैर्लिङ्गैः सोऽग्रन्थिर्मपि मारयेत्॥

प्लेग का नाम—ग्रन्थिक ज्वर, ब्यूबोनिक प्लेग के लिये बिल्कुल ठीक है। किन्तु बहुत-से प्लेग ऐसे हैं, जिनमे लसीका ग्रन्थियाँ नहीं फूलती है। जैसे—सेप्टीसिमिया प्लेग प्रभृति। अतः इस दोष को दूर करने के लिये लेखक ने प्लेग का नाम "औपसर्गिक सन्निपात" रखा है।

प्लेग का साम्यभाव

सुश्रुताचार्य ने अग्निरोहिणी नामक रोग का जो वर्णन किया है। उसके साथ प्लेग का सादृश्य मिल जाता है। अग्नि रोहिणी ही कालान्तर मे प्लेग के स्वरूप मे परिणत हो जाती है। अग्निरोहिणी मे मांस को दारण करने वाले कक्षा भाग मे स्फोट निकलते हैं। ये जलती हुई अग्नि के तुल्य शरीर के अन्दर प्रदाह उत्पन्न करते हैं। इसके साथ-साथ भयंकर ज्वर और प्रलाप भी हो जाता है। यह ७-१० वा १५ दिन मे मनुष्य को मार देती है। इसमे वातादि तीनों दोषों का प्रकोप होता है। इसलिये यह असाध्य है। प्लेग मे वक्षण, कक्षा, ग्रीवा आदि सम्पूर्ण स्थानों में गिल्टियाँ निकल आती हैं। और अग्निरोहिणी में केवल कक्षा भाग मे ही लिखा है। किन्तु यहाँ पर 'कक्षाभागेषु' ऐसा जो बहुवचन का प्रयोग है, वह कक्षा से अन्य भागों मे निकलने वाली ग्रन्थियों के लिये है और सब लक्षण प्लेग के तुल्य ही हैं।

यथोक्तं सुश्रुते—

कक्षा भागेषु ये स्फोटाः जायन्ते मांस दारणाः,
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावक सन्निभाः।

सप्ताहाद् द्वादशाद्वा पक्षाद्वाघ्नन्ति मानवम्,
तामग्निरोहणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥

निदान—

निदानमत्र सामान्य सकुलावसथादिकम् ।
विशिष्ट तु विष रक्तचरजीवाणु सभवम् ॥
ते स्पर्श श्वसनादिभ्य सक्रामन्ति नरान्नरम् ।
भूम्ना तद्रोग जुष्टेभ्यो मूषिकेभ्यश्च सक्रम ॥

निदानतत्त्व

प्लेग का प्रधान कारण शलाकार कीटाणु होता है। इसको वसीलसपैस्टिस् कहते हैं। ये कीटाणु छोटे और मोटे होते हैं। इनके आगे और पीछे का भाग भी गोल होता है। इनमे चलने की शक्ति नहीं होती है, ये कीटाणु प्रथम अवस्था मे चूहों मे होते हैं, फिर जब चूहों की मक्खी (रेटफ्लीया) कीटाणु युक्त चूहे को काटती है, तब प्लेगाणु को भी रक्त के साथ चूस लेती है। जिस समय इस पिस्सू के अन्दर प्लेगाणु पहुँचते हैं, उस समय इनका असर पिस्सू पर कुछ नहीं होता। कुछ दिन तक ये बढते रहते हैं, जब इनकी पूर्ण वृद्धि हो जाती है, तब पिस्सू का पेट फूल जाता है और उसे प्यास लगती है। उस समय पिस्सू जिसको काटता है, उसीको यह रोग हो जाता है। पिस्सू अधिकतर चूहों पर ही रहते हैं। अत पहले चूहों मे यह रोग फैलता है, जिससे सैकडों चूहे मर जाते हैं। कुछ भाग भी जाते हैं, जब इन पिस्सू को काटने के लिए चूहा नहीं मिलता है तब ये मनुष्यों को काटते हैं। फिर मनुष्यों मे यह महामारी के रूप से फैलता है। जब यह मनुष्य के रक्त को चूसता है और रक्त को चूसने के बाद जब इसको वमन-विरेचन होता है तो, उसमे कीटाणु भी निकलते हैं। यदि ये कीटाणु मनुष्य के घाव पर किसी भाँति पहुँच जाते हैं उस समय इनके काटने के विना ही मनुष्य को प्लेग हो जाता है और भी कई प्रकार के कीडों से प्लेग फैलता है।

सहायक कारण

जिस नगर अथवा ग्राम में बहुत से मनुष्य थोडी जगह मे रहते है। सफाई का प्रबन्ध ठीक से नहीं होता, पाखाना तथा नालियों का पानी सडता रहता है, बदबू निकलती रहती है, मकानों में सील रहती है, सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता है। जहा के वासी सदा 'असूर्यंपश्य' होते है, वहां पर प्लेग का विस्तार अधिक होता है और नियमित आहार, उपयुक्त स्थान, शुद्ध जल न मिलने से गरीब लोगों को ही अधिक प्लेग होता है। धातुक्षीणता तथा अन्य रोग से शरीर के दुर्बल होने पर भी इसका प्रभाव देखा जाता है। जाति भेद से भी इसका जो आक्रमण होता है उसकी तालिका नीचे दी जाती है।

जाति	जन	जाति	जन
बनिया	५३	लोहार	२
ब्राह्मण	२२	कुम्हार	२
चमार	२९	बारी	२
कुर्मी	१०	भील	२
राजपूत	८	माली	२
धोबी	५	कलवार	१
दर्जी	५	नाई	१
छूत	५	मुसलमान	१

बनिया जाति के ऊपर प्लेग का अधिक प्रकोप होता है। उपरोक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि रोगी, रोगीगृह और उसके ओढने, बिछाने और पहनने के कपडे और उच्छिष्ट भोजन, रोग के फैलने मे सहायक होते हैं। प्लेग वर्षाकाल से शुरू हो कर शीत काल के अन्त तक अधिक फैलता है। कभी-कभी गर्मी के समय में भी देखा जाता है।

रोगी से रोगोत्पादक कीटाणुओं का विस्तार

प्लेग रोगी के शरीर के आभ्यन्तरिक यन्त्रों मे कीटाणु बढकर किस भाँति फैलते है और किस भाँति कीटाणु प्लेगी के शरीर से बाहर

निकलते हैं, यह जानना आवश्यक है। किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के प्लेगों मे शरीर के अन्दर से कीटाणुओं के निकलने की रीति विभिन्न प्रकार की है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि सामान्य न्यूमोनिक प्लेग से पीडित रोगी द्वारा संक्रमण की आशका बहुत कम होती है। ऐसे रोगी के मल-मूत्र से प्लेग के कीटाणु कम निकलते है और जबतक गिल्टी चीरी नहीं जाती है, तबतक कोई भय नही रहता है। यदि गिल्टी पक कर फूट जाती है तब भी संक्रमण की शका कम रहती है। क्योंकि गिल्टी मे पूय पड़ने से जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, इससे गिल्टी पक जाने पर रोगी प्राय अच्छे हो जाते हैं। किन्तु पूय पडने के पहले और कीटाणुओं के नाश होने के पहले ही यदि गिल्टी चीर दी गई है तो सक्रमण हो सकता है। इसलिये इसकी अस्त्र-चिकित्सा में विशेष सावधानी रखें और संक्रमण नाशक उपायों का अवलम्बन करें।

सेप्टीसीमिक प्लेग मे रोगी के मल-मूत्र में कीटाणु वर्तमान रहते हैं। इससे यह प्लेग बहुत जल्दी फैलता है। साधारणत न्यूमोनिक प्लेग का सक्रमण सबसे अधिक होता है और इसके प्लेगाणु सबसे अधिक फैलते भी हैं। इस प्रकार के रोग का निर्णय करना भी कठिन हो जाता है, बल्कि इसके संक्रमण का प्रतिरोध करना भी कठिन ही है। इसमें रोगजनक प्लेगाणु अधिक मात्रा मे रोगी के कफ से निकलते हैं। इसी कफ मे इनकी वशवृद्धि भी होती है। इसलिये इसकी सक्रामकता बहुत प्रबल होती है। नवीन वैद्यों के लिये इसके स्वभाव का निर्णय करना कठिन हो जाता है। क्योंकि बाहर की गिल्टियाँ तो फूलती नहीं है अतः प्लेग को भ्रम से साधारण न्यूमोनिया समझ लेते हैं। इसमें श्लेष्मा के प्रत्येक अंश से अधिक संख्या में प्लेगाणु निकलते हैं। इसकी तरुण अवस्था सबसे अधिक सक्रामक है। एकबार देह का सताप स्वाभाविक अवस्था मे आ जाने पर उससे और सक्रामकता की शका नही रहती है प्लेग होने के बाद रोग के अच्छा हो जाने पर भी रोगी की दुर्बलता वर्तमान रहती है। किन्तु उसके पास रहने वाले को इसकी सक्रामकता नहीं सताती है। रोग के बाद दौर्बल्यावस्था मे शरीर की गर्मी

स्वाभाविक अवस्था मे हो जाने पर बार-बार परीक्षा करके देखा गया है कि रोगी के रक्त और लसीका ग्रन्थियों मे जीवाणु नहीं पाये गये हैं।

न्यूमोनिक प्लेग की संक्रमणता का अभाव पहले लिखा गया है। किन्तु, इसमे बहुत मतभेद है। क्योंकि; यह अवस्था विशेष मे अधिक संक्रामक हो जाता है। इसके उदाहरण यहां तक मिलते हैं कि इसमे अस्त्र-चिकित्सा करनेवाले चिकित्सक भी आक्रान्त हो जाते हैं जिससे उनकी मृत्यु भी हो जाती है।

प्लेगाणु का प्रवेशपथ

प्लेगाणु, वायु के स्पर्श से भी मनुष्य के शरीर मे पहुँच जाता है। अन्त्रवहानाली यह श्वास-प्रश्वास मार्ग और अधिक स्थानों पर त्वचा द्वारा भी एक देह से दूसरे देह मे पहुँच जाता है। श्लैष्मिक-झिल्ली अथवा ऊपरी त्वचा के छिल जाने या घाव हो जाने से, उसके द्वारा प्लेगाणु मनुष्य के शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। तथा खाने की चीजों या जल अथवा त्वचा के नीचे पिचकारी लगाने से ये कीटाणु मनुष्य के शरीर मे पहुँच सकते हैं। प्लेग के पैदा होने के समय चाकू से नख काटने के लिये सावधान रहे। घर्षण से त्वचा छिलने न पाए, यहाँ तक कि अस्तुरा से शिर के बाल भी नहीं कटवाना चाहिये। हाथ, पैरों के जिन स्थानों और गिल्टियों मे शोथ पैदा होता है, उन स्थानों की त्वचा कटी वा छिली हुई होने से प्लेगाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। जिन स्थानों पर ग्रीवा की गिल्टियाँ फूल जाती हैं उन स्थानों पर तालु ग्रन्थि के द्वारा प्लेगाणु शरीर के अन्दर चले जाते हैं। किसी-किसी स्थल पर अन्त्रमार्ग के मध्य में इस संक्रामक-विष की विशेष क्रिया देखी जाती है। श्वास से प्लेगाणु शरीर में पहुँचने पर न्यूमोनिक प्लेग उत्पन्न कर देते हैं।

स्त्री-पुरुष भेद से रोग का आक्रमण

प्लेग आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुष किसी को भी नहीं छोडता है। १०-२० वर्ष तक के आयु वालों को प्लेग अधिक होता है। किन्तु पचास वर्ष

के बाद बहुत कम देखा गया है। स्त्री-पुरुष दोनों जातियाँ इससे आक्रान्त होती हैं। दस वर्ष से कम आयु वाले बच्चे भी इससे नहीं बचते।

व्यवसाय भेद से प्लेग का प्रकोप

अधिकतर व्यापार के साथ प्लेग का आक्रमण नहीं देखा जाता है। किन्तु जल ढोने वाले धीवर, कहार और तेली, कसाई आदि जातियाँ इस रोग से कम पीड़ित होते हैं। इसलिये सरसों का तेल मालिश करना अनेक स्थलों पर लाभदायक है।

मिल में और अनेक प्रकार के कारखानों मे काम करने वालों के ऊपर प्लेग का प्रकोप अधिक होता है। चमार जाति के ऊपर इसका प्रभाव कम होता है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि चमडा के व्यापारियों पर इसका प्रभाव अधिक होता है।

द्वितीय आक्रमण की व्यवस्था

रोग का आक्रमण एक बार रोगी पर हो गया है और वह सौभाग्य से अच्छा हो गया है तो दूसरा आक्रमण नहीं होता है। यदि होता भी है तो बहुत मृदु होता है।

सम्प्राप्ति

चूहों की मक्खी (फुदक या पिस्सू) को पख नहीं होते हैं, इसलिये यह उड नहीं सकती है। किन्तु, पृथ्वी से १ फुट तक और अधिक से अधिक १½ फुट तक उछल सकती है। अतएव यह मनुष्यों के पैरों मे अधिकतर काटती है। सोते हुए पुरुष के मुख और ग्रीवा में काट लेती है। किसी वस्तु के उठाने के समय हाथों मे भी काट लेती है। देह के जिस भाग में चूहों की मक्खी काटती है वहीं से प्लेगाणु प्रविष्ट होकर लसीका वाहिनी नालियों के द्वारा ऊपर जाकर शोणित में प्रविष्ट हो जाते हैं। लसीका वाहिनियों के रास्ते में लसीका ग्रन्थियाँ विद्यमान होती हैं, जिनका कार्य यह है कि प्लेगाणु और उसके विष को रक्त मे न जाने देकर वहीं पर उनको नष्ट कर देना, इसलिये

लसीका ग्रन्थियों मे विपयुक्त प्लेगाणु उपस्थित होते ही वहीं पर उसको वन्द करके नष्ट करने के लिये वा शक्तिहीन करने के लिये वहुत प्रयत्न करती है। अतएव ग्रन्थियाँ वृद्धि को प्राप्त हो जाती हैं। ग्रन्थियों की अधिक वृद्धि अथवा उनका पककर फूट जाना, साध्य लक्षण प्रकट करता है। इससे प्लेगाणु शोणित मे नहीं पहुंच कर वहीं पर नष्ट हो जाते हैं। कुछ पूय के साथ बाहर भी निकल जाते हैं। विप (टॉक्सीमिया) के प्रभाव के कारण ज्वर हो जाता है। शरीर की अन्य ग्रन्थियाँ इस विप को उदासीन करती हैं। इसलिये वे ग्रन्थियाँ फूल भी जाती हैं। जब प्लेगाणु रक्त मे पहुच जाते हैं, तब सेप्टीसीमिक प्लेग हो जाता है।

आक्रमण-काल

प्लेगाणु शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाने पर रोग की सम्प्राप्ति में किसी-किसी स्थल पर विलम्ब होता है और किसी-किसी स्थल पर अल्पकाल मे ही रोग प्रकट हो जाता है। विप के अधिक प्रवल होने पर रोग २-४ घण्टे मे ही पैदा हो जाता है। किसी-किसी स्थल मे रोग का विप २-७ दिन तक अथवा १० दिन तक गुप्तावस्था मे रहता है और किसी-किसी स्थल मे १५ दिन तक आपत्ति झेलने के बाद प्लेग होता है।

पूर्वरूप

प्लेग प्रकाशित होने के प्रथम ही क्षुधा मन्द हो जाती है और आलस्य उत्पन्न हो कर शरीर सुस्त हो जाता है। किसी काम को करने की इच्छा नहीं होती है और हाथ-पैरों मे वेदना, तथा ऐठन होती है। शिर में पीडा, शरीर को इधर-उधर चलाता है। शिर को एक स्थान पर नहीं रखता है, शरीर जकड़ जाता है और मध्य-मध्य मे हृदय कांपने लगता है। वक्षण, कक्षा और उरः स्थल मे लघु वेदना-सी प्रतीत होने लगती है तथा और भी अनेक स्थानों मे पीडा होने लगती है। यह अवस्था प्लेग के पूर्वरूप की है।

रोग के आक्रमण की अवस्था

प्लेग के प्रकट हो जाने पर शरीर के सब अवयवों में अनेक उपद्रव पैदा होने लगते हैं। शारीरिक और मानसिक दुर्बलता अधिक बढ़ जाती है। इसके साथ-साथ मतिभ्रम, मस्तिष्क मे भारीपन, शिरोवेदना, शिरोघूर्णन, तन्द्रा, अस्थिरता, अस्वस्थता, अनिद्रा, काकनिद्रा, मुख-मलीनता आदि लक्षण हो जाते हैं। मुखभाव उदासीनता व्यञ्जक और विकृत चक्षु अनुज्ज्वल और कोटरगत अनिमिषदृष्टि, वाक्योच्चारण में कष्ट, मद्य पीनेवाले की भाँति पाद विश्रृङ्खलता प्रभृति लक्षण प्रकाशित होते हैं। एकाएक क्षुधा का लोप हो जाता है, वमनोद्वेग, मध्य-मध्य मे वमन, कभी-कभी उदरामय, हाथ-पैरों मे वेदना और वक्षःस्थल के ऊपर भार मालूम होता है। इस अवस्था में भी देह का ताप विशेष नहीं बढ़ता है। नाड़ी की गति मे विशेष वृद्धि नहीं होती है। नाडी कोमल और अधिकांश स्थल मे क्षीण और अव्यवस्थित मालूम होती है। रोगाक्रमण की अवस्था स्पष्ट प्रकाशित हो जाने पर यह एक दिन से कई दिनों तक स्थायी रहती है। किसी-किसी स्थल मे यह अवस्था कुछ घंटा मात्र ही स्थायी रहती है। अथवा आदि मे प्रकाशित नहीं होती और प्रथम से ही प्रबल-ज्वर आरम्भ हो जाता है।

प्रबल अवस्था के साधारण लक्षण

प्रबल ज्वरावस्था मे अधिकतर एकबार वा एक से अधिक बार शरीर अत्यन्त काँपने लगता है। यह कम्प कई घण्टों तक स्थायी रहता है। देह का ताप बढ़कर १०२ डिग्री से १०६ डिग्री तक हो जाता है। ज्वर की ह्रास-वृद्धि अनियमित मालूम होती है। नाडी की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है यहा तक कि इसकी संख्या प्रति मिनट १३० वा इससे भी अधिक हो जाती है। साथ-साथ श्वास-प्रश्वास की गति भी बढ जाती है और उसकी संख्या प्रतिमिनट ४० से ५० तक हो जाती है। त्वचा शुष्क और उष्ण हो जाती है जिससे शरीर जलता हुआ-सा प्रतीत होता है। मुख फूला हुआ मालूम पड़ता है, जलपूर्ण उज्ज्वल चक्षु अनिमेष दृष्टि और अधिकांश स्थल मे कनीनिका फैल जाती है।

स्मरणशक्ति क्षीण हो जाती है, जिह्वा फूल जाती है और खड़िया मिट्टी के तुल्य सफेद उज्ज्वल मल से जिह्वा आवृत रहती है। जिह्वा फटी हुई मालूम होती है, पिपासा अधिक लगती है। रोगी इतना दुर्बल हो जाता है, कि सम्पूर्ण ज्ञान रहते हुए भी प्रश्न का उत्तर देने मे समर्थ नहीं होता है। धीरे-धीरे रोगी वेहोश हो जाता है। प्रलाप की अवस्था मे रोगी अत्यन्त वकने लगता है और रोग की प्रवल-अवस्था उपस्थित हो जाती है। द्वितीय और तृतीय दिवस मे टाईफाइड (आन्त्रिक ज्वर) ज्वर के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। किसी किसी स्थल मे रोगी रोग वृद्धि के साथ-साथ क्रमश वेहोश हो जाता है और कभी-कभी मरने के समय तक रोगी को सम्पूर्ण ज्ञान रहता है।

यह पीडा कई घण्टों से लेकर चार सप्ताह तक अथवा इससे भी अधिक काल तक स्थायी रहती है। ६ दिन से १० दिन में रोग के अन्त में दौर्वल्यावस्था का आरम्भ होता है। परवर्ती आन्त्रिक-ज्वर (टाईफाइड) वा पूय ज्वर (पायमिक) की अवस्था पैदा होकर के रोग अधिक काल तक स्थायी रहता है।

जनरल गेटेकर, इस रोग के साधारण लक्षण निम्नलिखित रूप से वर्णन करते हैं—प्लेग रोग के श्रेणी विभाग के प्रति लक्ष्य रखने से देखा गया है कि प्रत्येक प्रकार के प्लेग रोग में निर्दिष्ट श्रेणी के विशेष लक्षण और चिह्न वर्तमान रहते हैं। किन्तु; रोग का विष शरीर के अन्तर्गत होकर जिन साधारण लक्षणों को प्रकाशित करता है, वे लक्षण सव प्रकार के प्लेग-रोग मे वर्तमान रहते हैं। अर्थात् प्लेग रोग मे रोग जैसा भी हो, रोगोत्पादक जीवाणु शरीर के अन्दर प्रविष्ट होने के वाद वहुत से सार्वाङ्गिक लक्षण उत्पन्न करते हैं। रोग के प्रकार भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न चिह्न और लक्षण उपस्थित रहते हैं। प्लेग रोग मे इन सार्वाङ्गिक लक्षणों के साथ-साथ भिन्न-भिन्न श्रेणी के रोग के विशेष लक्षण वर्तमान रहते हैं। सार्वाङ्गिक लक्षणों से प्लेग रोग का निर्णय किया जा सकता है और स्थानिक वा आभ्यन्तरिक यन्त्रों की अवस्था से रोग का श्रेणी विभाग किया जा सकता है। अधिकतर

रोग सहसा आक्रमण करता है और न्यूनाधिक प्रवलता से संयुक्त कम्प होकर रोग प्रारम्भ होता है। वाद को शीघ्र ही देह का ताप वढ जाता है, अथवा कम्प न होकर के भी शरीर का ताप सहसा वढ जाता है। मुख देखने में भयानक, वमन की इच्छा और वमन वर्तमान रहता है। कभी-कभी वमन की इच्छा और वमन अत्यन्त प्रवल हो जाना है जो फिर कुछ काल के लिये वन्द भी हो जाता है। शिर मे अत्यन्त पीड़ा, आँख की झिल्ली मे लालिमा और अनिद्रा उपस्थित हो जाती है। रोगी अत्यन्त क्षीण हो जाता है। यह क्षीणता वमन के वाद और नींद के न आने से वढ जाती है। जिह्वा की अवस्था विशेष स्वभाव वाली होती है। रोगी से जिह्वा दिखाने के लिये कहने पर वह विरक्ति भाव प्रकट करता है और जिह्वा दिखाने के समय वह जल्दी-जल्दी जिह्वा को इधर-उधर चलाता है। जिह्वा के मध्य मे आर्द्रभाव देखा जाता और जिह्वा मोटी मालूम पडती है, जिह्वा के किनारे और आगे का भाग साफ और कुछ कुछ लाल होता है। अथवा अधिक लाल होता है और अवशिष्ट अश अधिकतर सफेद, चिकना अथवा कुछ लाल-पीला, ऊर्ण के तुल्य पदार्थ (फर) से आवृत रहता है। बोलने से शुद्ध शब्द नहीं निकलता है और शब्द वडी कठिनाई से निकलता है। नाडी की संख्या प्रति मिनट १०० से १४० तक हो जाती है। नाड़ी के आयतन (Volume) मे विभिन्नता दिखलाई पडती है। नाडी का लक्षण इस समय वहुत सन्देह जनक हो जाता है। अधिकतर नाडी पूर्ण कोमल और द्विघाती (Dicrotic डाइक्रोटिक) अवस्था को प्राप्त हो जाती है। कभी-कभी ऐसी अवस्था रोग के प्रारम्भ मे ही दिखलाई पड़ती है। हृदय की क्रिया के क्षीण होने पर नाड़ी सूत्र के तुल्य स्वभाव को धारण करती है। साधारणत कोष्ठ-वद्धता हो जाती है। कई समय में यह कोष्ठ काठिन्य दारुण हो जाता है। किसी-किसी स्थल मे कोष्ठ शिथिल हो जाता है, पतले दस्त आते हैं और इन दस्तो से एक विशेष दुर्गन्धि आती है।

किसी-किसी स्थल मे अल्प काल-स्थायी सूखी खाँसी (Dry cough)

आती है। किसी-किसी रस-ग्रन्थि प्रदेश मे वेधन के तुल्य वा काटने के तुल्य वेदना होती है। अत्यन्त अम्ल गुण विशिष्ट मूत्र होता है। जो कुछ काल तक रखने से शीघ्र ही वियुक्त हो जाता है और ट्रिप्लफास्फेट (त्रिकोण स्फुरित) नीचे वैठ जाता है। इसका आपेक्षिक गुरुत्व (स्पेसिफिक् ग्रेविटी) १०१० से १०३५ तक होता है। मूत्र मे यूरिया और यूरिक एसिड् (Urıa and urıc acıd) का परिमाण कम हो जाता है और अनेक स्थल मे रोगी के मूत्र मे अलव्यूमिन (Albumın) पदार्थ वर्तमान रहता है।

इसके वाद रोग क्रमशः वढ जाता है और रोग वृद्धि-के साथ-साथ शरीर का सन्ताप (Temperature) १०३ से १०४ डिग्री तक वढ़ जाता है। अधिकतर तीसरे वा चौथे दिन मे इसप्रकार सन्ताप वढ़ता है। किन्तु, रोग प्रवल होने पर इतना भी विलम्व नहीं सहन कर सकता है। नाड़ी अत्यन्त क्षीण हो जाती है और रोग सांघातिक अवस्था को धारण कर लेता है। अपेक्षा से भी अधिक मन्द अवस्था को प्राप्त हो जाने पर शारीरिक ताप अत्यन्त वढ़ जाता है। और अवसाद से शीघ्र ही रोगी मृत्यु के मुख मे गिर जाता है। कभी-कभी २४ से ४८ घंटा के मध्य मे, अथवा इससे कम समय मे ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। यदि रोगी रोग की प्रवल तरुण अवस्था को अतिक्रमण कर जाता है, तो देह के ताप की अधिकता के साथ-साथ ज्वर के अन्यान्य लक्षण भी वढ़जाते हैं। नाडी सूत्र के तुल्य क्षीण हो जाती है। जिह्वा अत्यन्त सूख जाती है और इसके किनारे और आगे का भाग लाल हो जाता है। दौर्वल्यता और अनिद्रा वढ़ जाती है। रोगी के मुखमण्डल में क्लान्ति, चिन्ता और अवसाद के लक्षण लक्षित होते हैं।

जिस स्थल मे मस्तिष्क के (Cerebral) सव लक्षण वाद को प्रकाशित होते हैं, उस स्थल में प्राय तीसरे दिन ये प्रकाशित होते हैं। ये सव लक्षण नाडी केन्द्र (नर्वसेन्टर) के रक्ताधिक्य (Congestıon) के कारण उत्पन्न होते हैं। अथवा सेप्टीसीमिया (Septıcoemıa) की

प्रक्रिया नाडी-केन्द्र के ऊपर कार्य करके इन सब लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार की अवस्था में मुखमण्डल की चिन्ता और उत्तेजनायुक्त भाव छिप जाते हैं। अनेक समय रोगी का यह परिवर्तन, वैद्य और भाई-बन्धुओं को भ्रम मे डाल देता है। वे समझते हैं कि रोगी कुछ अच्छा हो रहा है। किन्तु वास्तव मे रोगी के मुखमण्डल की पेशियों का बल लुप्त हो जाता है। अतः ऐसा स्थिर भाव उपस्थित हो जाता है। वस्तुत यह उन्नति की अवस्था नहीं होती है। उसके आसपास में क्या होता है, रोगी उसको जान तो सकता है, किन्तु उसकी यह आंशिक संज्ञान की अवस्था किसी रूप मे कार्यकारी नहीं होती है। इस समय एक प्रकार का उदास और तन्द्रा का भाव पैदा हो जाता है। कोई बात कहने पर रोगी सहज मे सुन नहीं सकता है। एक विशेष चेष्टा करने पर वह समझता है। मुख के अन्दर की पेशियों की कार्यकारिणी शक्ति के अभाव हो जाने से रोगी साफ-साफ बोल नहीं सकता है। अनेक स्थल की पेशियों मे ऐसा अवसन्न भाव अङ्ग सञ्चालन करते समय दिखलाई पडता है। दो कारणों के ऊपर ये सब लक्षण निर्भर करते हैं। रोग-विष की क्रिया से बृहत् मास्तिष्कैय (Cerebral) और कशेरुका माज्जेय नाडी केन्द्र विकार-ग्रस्त हो जाते हैं। नाडी केन्द्र से दूरवर्ती सब अङ्गों की नाडियों मे प्रदाह (पेरिफेरेल न्यूराइटिस्) उत्पन्न हो जाता है। किसी-किसी रोगी की पेशियों मे आक्षेप उपस्थित हो जाता है और किसी-किसी के मस्तिष्क केन्द्र की अत्यन्त उग्रता से प्रलाप उपस्थित हो जाता है। प्लेग रोग के प्रकार भेद के अनुसार पीडा का क्रम वा रोग के भोग की अवस्था आदि दिखलाई पडती है। प्लेग रोग के प्रकार विशेष मे जो-जो लक्षण प्रकाशित होते हैं फिर उनकी समता होने पर और ज्वर के ह्रास होने पर भी मस्तिष्क के लक्षण कुछ काल तक वर्तमान रहते हैं। बाद को क्रमश उनका उपशम हो जाता है। यदि रोग का प्राथमिक लक्षण अत्यन्त प्रबल होता है अथवा विभिन्न प्रकार मे वह रोग सम्मिलित होता है, तो प्रबल प्रलाप वा उन्मीलित नयन की अचेतनता

(कोरिजिल्) नामक नाड़ी सम्बन्धी अत्यन्त विषम अवस्था प्रकाशित हो जाती है।

प्लेग के भेद

प्लग एक साधारण संज्ञा है। चिकित्सातत्त्ववित् प्लेग को ६ विभाग मे विभक्त करते है। (१) लसीका ग्रन्थि सम्बन्धी प्लेग (ब्यूबोनिक प्लेग), (२) Septicoemic Plague सेप्टीसीमिक प्लेग, (३) फुस्फुस प्रादाहिक ग्रन्थिक-ज्वर (न्यूमोनिक प्लेग Pneumonic Plague), (४) तालुग्रन्थिक प्लेग (टन्सिलर प्लेग), (५) औदरिक ग्रन्थिक-ज्वर, (६) Hydrophobic Plague जलातङ्क लक्षणयुक्त ग्रन्थिक ज्वर। इनका विवरण नीचे लिखा जाता है।

गिल्टी वाला प्लेग

इस प्रकार का प्लेग साधारणतः प्रकाशित होता है। सब प्रकार के प्लेग रोग के मध्य मे इस प्रकार की पीड़ा प्रतिशत ८० से ९० स्थल मे प्रकाशित होती है। पूर्व मे वर्णन किये हुए सार्वाङ्गिक लक्षणों के साथ अथवा उनके मध्य से कुछ लक्षणो के साथ-साथ अथवा अधिकतर ज्वर प्रकाश होने के बाद, दूसरे अथवा तीसरे दिन मे रोगी के वंक्षण (जघासा) और बगल प्रदेशों मे वेदना मालूम होती है। क्रमशः इन स्थानों की ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं और इनमे वेदना होती है। कभी-कभी हनु के नीचे की ग्रन्थियाँ और ग्रीवादेश की ग्रन्थियाँ आक्रान्त हो जाती हैं और प्रदाहयुक्त ग्रन्थियों के चारों तरफ शोथ हो जाता है। मामूली ग्रन्थिप्रदाह पूयोत्पत्ति मे परिणत नहीं होता है। कभी-कभी सब ग्रन्थियों मे पूय की उत्पत्ति हो जाती है और ये पचनशील अवस्था से ग्रस्त हो जाती हैं। विवर्द्धित सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ निम्न-लिखित चार अवस्थाओं मे से कोई एक अवस्था को अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। (१) शोषित होना (रिजोल्यूशन), (२) चिरकाल तक विवर्द्धित अवस्था मे रहना, (३) पूयोत्पत्ति (४) सड़ा हुवा क्षत, इन सब स्थलों मे रोगी अच्छे हो जाते हैं और क्रमशः सब लक्षण भी शान्त हो जाते हैं जिससे रोगी शीघ्र ही अच्छे हो जाते हैं।

जैसा दाग पड जाता है, उसी के तुल्य होती हैं। उदर- प्रदेश अत्यन्त शीघ्र फैल जाता है और टाईफाइड ज्वर मे जो उदर-सम्बन्धी चिह्नादि प्रकाशित होते हैं, इस स्थल मे भी वे सब साफ-साफ मालूम होते हैं। इसके अतिरिक्त कटि-प्रदेश मे अत्यन्त वेदना, उबकाई और वमन उपस्थित हो जाता है। रोगी विशेष प्रकार की अवस्था मे न होने पर स्थिर नही रह सकता है। यदि अतिसार होता है तो मल आन्त्रिक ज्वर के मल के तुल्य नही होता है। कोष्ठबद्धता उपस्थित हो जाती है। किन्तु, इससे रोगनिर्णय करने मे विशेष सहायता नहीं मिलती है। कारण यह है कि ग्रीष्म-प्रधान देश के आन्त्रिक ज्वर की प्रथम-अवस्था मे अनेक स्थल पर कोष्ठबद्धता वर्तमान रहती है। सार्वाङ्गिक लक्षणादि, रोग की प्रथम अवस्था मे उदर-प्रदेश मे प्रसार, मल का स्वभाव और रक्त मे विशेष जीवाणुओं के अस्तित्व के ऊपर रोग का निर्णय निर्भर रहता है। इस श्रेणी के प्लेग रोग मे एक विशेष प्रकार के लक्षण देखे जाते हैं जो विसूचिका के तुल्य होते हैं। इसमे नाडी अनुभव करने के योग्य नहीं होती है। अथवा सामान्यतया अनुभव के योग्य होती है। हाथ-पैर शीतल हो जाते हैं। अति मात्रा मे वमन और विरेचन होने लगते हैं। इस स्थल में तापमान यत्र से परीक्षा करने पर यदि देह का ताप अत्यन्त अधिक मालूम हो तो उदरीय श्रेणी का प्लेग रोग समझ कर चिकित्सा की जा सकती है।

जलातङ्क लक्षणयुक्त प्लेग

जिस प्रकार प्लेग रोग में सम्पूर्ण लसीका ग्रन्थियाँ आक्रान्त हो जाती हैं, उसी तरह जलातङ्क (हाइड्रोफोबिया) के सब लक्षण प्रकाशित हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार के रोग में मुखमण्डल का भाव भयाकुल देखा जाता है। तरल द्रव्य भी निगलने मे अत्यन्त कष्टदायक होता है और रोगी अत्यन्त बेचैन हो जाता है। इन सब लक्षणों के साथ-साथ ज्वर और बद (ब्यूबो) वर्तमान रहने पर रोग के निर्णय करने में कोई भ्रम नहीं होता है।

अन्यान्य प्रकार

डाक्टर आनर्ट इस पीडा को निम्न चार श्रेणी मे विभक्त करके वर्णन करते है।

(१) मृदु प्लेग—इसमे सब लक्षण मृदुता के साथ प्रकाशित होते हैं और साथ-साथ बद (गाँठें) भी वर्तमान रहती है।

(२) प्रबल प्लेग—इसमे सब लक्षण प्रबलता के साथ प्रकाशित होते हैं और वंक्षण की गिल्टियाँ भी साथ-साथ बढ़ जाती हैं।

(३) फुफ्फुस प्रदाहयुक्त (न्यूमोनिक) प्लेग—इसमें बद (गाँठें) वर्तमान रहती है अथवा नहीं भी रहती है। यह अधिकतर तीन दिन के मध्य मे सांघातिक हो जाता है। कम्प, ज्वर, शिर मे पीड़ा प्रभृति के साथ-साथ रोग आरम्भ हो जाता है। बाद को श्वासनली प्रदाह (ब्रोङ्काइटिस Bronchitis) और श्वसनक ज्वर (Pnumonea) के लक्षण प्रभृति वर्तमान हो जाते हैं। किन्तु जिस परिमाण मे फुफ्फुस सम्बन्धी विकार दिखलाई पड़ते है, उसकी अपेक्षा ज्वर और अन्यान्य दैहिक विकार बहुत अधिक होते है।

(४) उदरीय (एबडोमिनेल) प्लेग—इसमे विरेचन प्रभृति टाईफाइड ज्वर के सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित होते हैं। मृदु प्लेग से ग्रस्त अनेक रोगियों को चिकित्सा के अधीन नहीं होना चाहिये। इनके सामान्य मात्र से ज्वर होता है, सब ग्रन्थियां अल्पमात्रा मे बढ़ जाती हैं। रोगी उठने-बैठने मे समर्थ रहता है, इससे रोग के विस्तार की अधिक सम्भावना रहती है। इसको अंग्रेजी मे एम्ब्यूलेन्ट कहते हैं।

जेनरल गाटेकर निम्नलिखित रूप से प्लेग का श्रेणी विभाग करते हैं।

(१) बढी हुई लसीका ग्रन्थियों के सहवर्ती सब लक्षण और रोगाक्रमण की प्रखरता के अनुसार रोग की प्रबलता होती है।

(२) लसीका ग्रन्थि, विवर्धन विहीन और रोग प्रायः सदा साघातिक होता है।

फिमरेल, इङ्गुपिनेल, एक्सिलरी, सर्वाइकेल, टन्सिलर, सेप्टीसीमिक न्यूमोनिक, मेसेन्टेरिक, एन्टिरिक, वा गोष्ट्रो-इन्टेष्टिनैल, नेफ्राइटिक, सेरिब्रेल।

प्लेग रोगोत्पादक विष का शरीर के मध्य मे प्रविष्ट होने की प्रथा भेद से रोग की श्रेणी और प्रकार मे भेद होता है। पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार के प्लेग के मध्य में दो अथवा इससे अधिक प्रकार के रोग एकत्र मिलकर प्रकाशित हो सकते हैं। इस स्थल मे विविध प्रकार के प्लेग के सब लक्षण एक आधार मे विभिन्न रूप से प्रबलता के साथ उपस्थित होते हैं और प्रत्येक प्रकार के प्लेग के सब लक्षण मृदु, प्रखर वा रक्तस्राव से संयुक्त हो सकते हैं। अधिकतर जिन रोगों मे लसीका-ग्रन्थियाँ नहीं बढ़ती हैं, उन सब स्थलों में रक्तस्राव प्रधान लक्षण के रूप से प्रकाशित हो सकता है। यह अवस्था अत्यन्त भयदायक है। इस अवस्था मे रक्त के सब उपादान विलक्षण ध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं। रक्तस्राव होने पर पिडिकाकार मच्छड के काटने से पड़े हुए दाग के तुल्य आकार मे प्रकाशित होती है अथवा रक्त प्रणाली से रक्त निकल कर सन्निहित विधान के मध्य मे उत्सृष्ट होता है। अथवा श्लैष्मिक झिल्ली सेपरिवृत स्थान में रसोत्सृजन होता है।

प्लेग रोग के प्रकार निर्णय करने मे विशेष चेष्टा और सतर्कता की आवश्यकता है। सब प्रकार के प्लेग रोग मे विविध शारीरिक विधान के उपसर्ग उपस्थित हो जाते हैं। ब्रध्न (ब्यूवो) संयुक्त प्लेग अनेक स्थल मे फुस्फुसीय वा मस्तिष्क के उपसर्ग रूप मे उत्पन्न हो जाते हैं। इन सब उपसर्गों से युक्त विशेष प्रकार के प्लेग से इन्हीं लक्षण विशिष्ट निर्दिष्ट प्रकार के प्लेग रोग का प्रभेद कर लेवे।

सन्देह का स्थल

प्रकृत मे यह ब्यूवोनिक प्लेग है कि नहीं, इसके निर्णय करने मे अनेक समय चिकित्सक महाभ्रम मे पड जाते है। जो वैद्य प्लेग की चिकित्सा मे बहुत अभ्यस्त हैं, वे ही ठीक-ठीक निर्णय कर सकते हैं। जिनका अभ्यास इस रोग की चिकित्सा मे कम है, उनका

भ्रम मे पडना कोई असम्भव नहीं है। प्लेग जबतक महामारी का स्वरूप धारण नहीं करता, तबतक इसमे टाइफस् अथवा प्रबल मलेरिया आदि के लक्षण मिलते है और किसी-किसी स्थल मे तो उपदंश तथा प्रमेहजन्य दोप से भी रोगी के वंक्षण मे शोथ होकर गिल्टियॉ निकल आती हैं। इस समय रोगनिर्णय करने मे बहुत सन्देह हो जाता है। कर्णमूल-प्रदाहयुक्त ज्वर इस देश मे नवीन रोग नहीं है, ऋतु परिवर्तन के समय मुख मे प्रायः ऐसी पीडा देखी जाती है। इस भॉति कर्णस्फीति ज्वर मे महामारी के समय प्लेग का भ्रम हो जाता है। दण्डक ज्वर (डगूफीवर), श्लैष्मिक ज्वर (इनफ्लुएञ्जा) प्रभृति ज्वरों मे ग्रन्थि और पेशियों मे वेदना तथा किसी-किसी स्थल में स्फीति हो जाती है। इसमें भी प्लेग की भ्रान्ति हो सकती है, इसलिये व्यूवोनिकप्लेग-ग्रस्त रोगी की, सावधानी से रोग के लक्षणादि की परीक्षा कर चतुर चिकित्सक चिकित्सा करे।

व्यूवोनिक प्लेग के विशेष लक्षण

व्यूवोनिक प्लेग एकाएक आक्रमण करता है, इसमें ज्वर पैदा होने के पहले ही शरीर कॉपने लगता है और ज्वर १०३-१०४ डिग्री से भी अधिक हो जाता है। चक्षुओं का श्वेत भाग लाल हो जाता है, यह अवस्था रक्ताधिक्य के निवन्धन से होती है। नाडी की गति तेज, जिह्वा श्वत या पीतवर्ण की हो जाती और सोरा के तुल्य पदार्थ से आवृत रहती है। इसके किनारे और आगे का भाग लोहित वर्ण और उज्वल होता है, मुखमण्डल का भाव उदासीनता व्यञ्जक और मलिन होता है। रोगी साफ-साफ बोल नहीं सकता, और उसके हाथ-पैरों की शक्ति क्षीण हो जाती है। श्वास की गति तीव्र हो जाती है। हल्के प्लेग मे पांचवे दिन ज्वर उतरने लगता है। गिल्टी पक जाने पर जबतक गिल्टी फूट नहीं जाती, तबतक थोड़ा-थोड़ा ज्वर रहता ही है।

पिस्सू के काटने के तीसरे-चौथे दिन (कभी-कभी ८-१० वे दिन) प्लेग के लक्षण दिखाई देते हैं और स्वाभाविक रूप से हाथ की

सञ्चालन क्रिया आदि नष्ट हो जाती है। शरीर की सब लसीका ग्रन्थियाँ वंक्षण (जंघासा), वगल और गले की गिल्टियाँ फूल जाती है। इन फूले हुए स्थानों को दवाने से अत्यन्त वेदना होती है, कभी-कभी उत्कट वमन भी होता है और कोष्ठवद्धता हो जाती है। यदि शरीर के किसी स्थान की गिल्टियाँ नहीं फूलती हैं तो कफ मिली हुई खाँसी आती है और सार्वाङ्गिक लक्षणों के समान लक्षण प्रकाशित होते हैं। यूवो से संयुक्त प्लेग के अनेकस्थल मे फुस्फुस वा मस्तिष्क के अनेक उपसर्ग उत्पन्न हो जाते हैं और यह रोग प्राय जनपदव्यापक रूपसे प्रकाशित होता है। अत लक्षणादिकों के विचार करने के लिये अवसर नहीं मिलता है।

प्लेग रोग मे जो-जो स्थान विकृत होते है, उनके नाम और लक्षण निम्न हैं—

मस्तिष्क

रोग की गुप्तावस्था में अनेक रोगियों के अल्पाधिक परिमाण मे शिर में पीडा और शिरोघूर्णन (शिर को इधर-उधर घुमाना) देखा जाता है। सम्मुख कपाल मे और पार्श्वकपाल मे साधारणत वेदना मालूम होती है, स्वप्नमय तन्द्रा वा अनिद्रा देखी जाती है।

पीडा की प्रवल-अवस्था वा आक्रमणावस्था मे कभी-कभी रोगी प्रलाप करने लगता है। टाइफस ज्वर मे भी ऐसा ही मृदु प्रलाप देखा जाता है, कभी-कभी रोगी वेहोश हो जाता है अथवा कभी-कभी रोगी मृत्युकाल तक चेतना युक्त ही रहता है। रोग की प्रवल-अवस्था मे शिर की पीडा अत्यन्त वढ जाती है, मस्तिष्क की नाडियों मे अत्यधिक रक्ताधिक्य होने से रोगी का चैतन्य लोप और प्रलापादि उपसर्ग उपस्थित हो जाते हैं। यह उपद्रव अधिक पाया जाता है। मस्तिष्क के उपद्रव तीसरे दिन वढ़ जाते हैं, फिर धीरे-धीरे मस्तक के नाडी केन्द्र में प्रवल विकार पैदा हो जाता है। कभी-कभी मस्तिष्क की उग्रता के कारण वहुत रोगी ऊँचे स्वर से चिल्लाने लगता है, यहातक कि रोगी चिल्लाकर वडे वेग से चारपाई को छोडकर उठ बैठता है। ऐसी भी अवस्था देखी जाती है

कि शरीर के ताप के कम हो जाने पर भी कुछ कालतक इसका वेग शान्त नहीं होता है। प्लेग रूप कारण के विना भी किसी प्रकार का यान्त्रिक विकार होने पर और मस्तिष्क के लक्षणों के दीर्घस्थायी होने पर भी यह अवस्था देखी जाती है। मृत्यु के वाद कभी-कभी मस्तक की नाडिओं के मध्य मे प्रदाह के चिह्न देखे जाते है। प्रवल स्वभाववाली पीडा मे कभी-कभी रोगी को प्रारम्भ से ही स्मृति विभ्रम हो जाता है।

चक्षु

रोग की प्रारम्भिक-अवस्था मे चक्षु क्रमशः लाल और जल पूर्ण रहते हैं और अर्धनिमीलित वा अस्थिर दृष्टि इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते है। प्रवल अवस्था मे ऑख की ललाई वढ जाती है और कनीनिका प्रायः फैल जाती हैं अथवा संकुचित हो जाती है। प्रवलावस्था मे चक्षु की उज्वलता का ह्रास नहीं होता है।

कर्ण

श्रवण क्रिया मे व्यतिक्रम पैदा हो जाता है और यह प्रवलावस्था से आरम्भ होता है। कभी-कभी शिर मे अत्यन्त पीडा होने के कारण रोगी के कान के मध्य में एक प्रकार की यन्त्रणा मालूम होती है।

नासिका

न्यूमोनिक (फुफ्फुसीय) प्लेग और तालु-ग्रन्थि के आक्रान्त हो जाने पर नासिका के विवर से जल के तुल्य श्लेष्मा निकलता है और नासिका के अन्दर का भाग पाटलवर्ण का हो जाता है।

जिह्वा

रोग की प्रारम्भिक-अवस्था में जिह्वा का मध्यभाग श्वेत वा कुछ पीला कॉटे के तुल्य और क्लेद से आवृत और आर्द्र रहता है और क्रमश कांटों से युक्त तथा कालिमा लिए हुए पाटल वर्ण मे परिवर्तित हो जाता है। दुर्वलता के कारण रोगी साफ-साफ वोल नहीं सकता है। रोगी अपनी जिह्वा देखने के लिये मुख से वाहर कर जिह्वा कोसंचालित करता है और जिह्वा मोटी हो जाती है। जिह्वा के

किनारे काँटों से युक्त और रक्तवर्ण के होते है। प्रबल ज्वर के समय जिह्वा सूख जाती है।

हृदय

हृदय का दुर्बल हो जाना इस रोग का प्रधान उपद्रव है। प्रथम अवस्था मे कोई विशेष उपद्रव नहीं होता है। किन्तु प्रबलावस्था के प्रारम्भ से ही अल्पाधिक परिमाण मे हृदय मे कम्प उपस्थित हो जाता है। हृदय के अत्यन्त दुर्बल हो जाने पर रोगी के जीवन मे विपत्ति होने की सम्भावना रहती है।

नाड़ी

प्रारम्भिक अवस्था अथवा गुप्तावस्था मे नाडी मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता है। इसलिये नाडी कोमल और क्षीण हो सकती है। प्रबल-अवस्था मे धमनी अव्यवस्थित हो जाती है और प्रतिमिनट मे १०० से १४० तक वा इससे भी अधिक नाड़ी का स्पन्दन होने लगता है।

श्वासयन्त्र

ज्वर के साथ-साथ धमनी का स्पन्दन और श्वास-क्रिया बढ जाती है। श्वास-प्रश्वास की सख्या ज्वर के स्वभावानुसार प्रतिमिनट में ४० से ६० वार तक हो जाती है। तालु प्रदेश मे आक्रमण करने पर नासिका के अन्दर प्रदाह उपस्थित होकर वक्षस्थल तक व्याप्त हो जाता है। फुफ्फुस-प्रदाह युक्त प्लेग मे श्वासयन्त्र सबसे पहले और सम्पूर्ण रूप से आक्रान्त हो जाता है। श्वासयन्त्र के द्वारा ही प्लेग का विष शरीर के अन्दर जाकर पहले मामूली खाँसी उत्पन्न करता है, फिर क्रमश इसको लोब्यूलर न्यूमोनिया (खाण्डिक-श्वसनक ज्वर) में परिणत कर देता है। आक्रान्त अश समूह संयत और स्वाभाविक फुफ्फुस के सब विधानों के पार्श्व में से रस निकलता है। अनेक स्थल मे रोगी को वक्ष:स्थल पर दवाव और वेदना मालूम होती है और श्वास निकलने मे कष्ट का अनुभव होता है।

कपाल

ज्वर छूटने के समय मे बहुत काल तक कपाल मे पसीना निकलता है और अनेक स्थल पर भौंहे सिकुड़ जाती हैं।

स्कन्ध

स्कन्ध अवनमित अवस्था मे हो जाता है और कभी-कभी स्कन्ध प्रदेश मे वेदना होने लगती है।

गला

तालु-ग्रन्थि की पीडा से युक्त प्लेग रोग मे गले में वेदना होती है। दोनों तालुओं की ग्रन्थि मे और गले के अन्दर प्रदाह युक्त स्फीति और क्षतहोने से वेदना होती है।

मुखमण्डल

प्लेग रोगी के मुख-मण्डल मे चिन्ता और भय के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु यह अवस्था रोग की प्रथम-अवस्था मे ही होती है। प्रबल-अवस्था में मुख की कान्ति विकृत और विवर्ण हो जाती है। मुख निस्तेज—कान्तिहीन हो जाता है। अत्यधिक पीडा मे रोगी के मुख का भाव ऐसा विकृत हो जाता है, कि जिसको देखकर दूसरा मनुष्य डर जाता है। मुख की ऐसी भावशून्य अवस्था अचैतन्य का अथवा सांघातिक-अवस्था का परिचायक है। पहले ज्वराक्रमणावस्था मे रोगी के मुख का भाव कुछ रस से पूर्ण भासमान होता है।

इन्द्रिय समूह

कर्मेन्द्रियों (हाथ, पाद, गुदा, लिङ्ग, जिह्वा) मे विकार उपस्थित हो जाते हैं। कान और चक्षु की शक्ति कम हो जाती है, घ्राण शक्ति भी अल्प हो जाती है। हाथ-पैर और अङ्ग सञ्चालन करने का सामर्थ्य नहीं रहता है। रोग की प्रबलावस्था मे इन्द्रियों मे अवसन्नता दिखलाई पडती है।

अन्त्र और पक्वाशय

औदरिक प्लेग मे पक्वाशय और अन्त्र आक्रान्त हो जाते हैं। प्रथम अवस्था मे पेट मे भारीपन और भूख न लगना ही एकमात्र चिह्नित उपद्रव

हैं। कभी-कभी पक्काशय में उग्रता होने से वमनेच्छा और वमन होने लगता है। रोग के प्रारम्भ में उदर पीड़ा अत्यल्प मात्रा में देखी जाती है। उदर स्फीति, अतिसार अथवा कोष्ठबद्धता और कभी-कभी रक्तस्राव भी होने लगता है। अनेक स्थलों में विसूचिका के तरह दस्त और वमन होने लगते हैं। किन्तु उसमें मल का रङ्ग विसूचिका रोगी के मल की तरह नहीं होता है, रोगी में ज्वर के भी लक्षण देखे जाते है।

मूत्रयन्त्रादि

मूत्र का परिमाण कम हो जाता है। अलब्यूमिन और उसकी प्रतिक्रिया अम्लगुण विशिष्ट होती है। आपेक्षिक गुरुत्व १० से ३५ तक हो जाती है। यूरिया और यूरिक एसिड की कमी दिखलाई पड़ती है। पेट फूल जाने तथा रोगी के बेहोश हो जाने पर अनेक समय में मूत्र बन्द हो जाता है।

मल

प्रथमावस्था का लक्षण कोष्ठबद्धता है, कभी-कभी दस्त भी आने लगते हैं। जब मल पतला होता है, तब इसमें दुर्गन्धि और इसका वर्ण हरा या काला दिखलाई पडता है।

शाखासमूह

हाथ-पैरों में बल नहीं रहता है, इसलिये रोगी शराब पीनेवाले की तरह बहुत कष्ट से पैरों को उठाकर चलता है। हाथ को उठाकर स्वाभाविक रूप में नहीं रख सकता है।

ग्रन्थि विवर्द्धन

लसी का ग्रन्थियों का विवर्द्धन—इस रोग में एक प्रधान लक्षण है। जो ८० से ९० प्रतिशत रोगियों में दिखलाई पडता है, अधिकतर वक्षण की ग्रन्थियाँ और अन्यान्य ग्रथियाँ फूल जाती हैं। बगल, गला और गले के भीतर में तालु-ग्रन्थि प्रदाह युक्त हो जाती है। ग्रन्थि में पूय पड़ जाता है, अथवा ग्रंथि जैसी पैदा हुई थी, वैसी ही बनी रहती है। कभी-कभी भी बैठ जाती अथवा सड़ जाती है। अधिकतर ग्रन्थियों

मे पूयोत्पत्ति होने के पूर्व ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। किन्तु अधिकाश स्थल मे पूय की उत्पत्ति नही होती है। ये ग्रन्थियाँ अनेक स्थल में कुछ दिनतक एकभाव मे रहती है। कभी-कभी: स्वयं ही शोषित हो जाती है। किन्तु, प्रदाह अधिक होने पर ये पक कर स्वय ही फूट जाती हैं और अन्दर मे पचनक्रिया का सञ्चार करती हैं। किन्तु यह अवस्था वहुत अल्प देखी जाती है। ग्रन्थि के सम्पूर्ण विवर्द्धनके पूर्व ही अधिकतर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

साधारण

त्वचा मे कभी-कभी पिड़िका वा गुटिका दिखलाई पड़ती है। सव अङ्गों मे अचेतनता और वेदना, आभ्यन्तरिक यन्त्रों मे रक्ताधिक्य नाडी-मण्डलों मे अत्यधिक विकृति वा दौर्वल्य, शारीरिक और मानसिक दौर्वल्य और अत्यन्त अस्थिरता दिखलाई पडती है। इसलिये वडी सावधानी से प्लेग रोग का निर्णय करना चाहिये।

ज्वर

सव तरह के प्लेगों में ज्वर होता है। प्लेगज्वर मे १०२ डिग्री से ताप नीचे नहीं देखा जाता और १०६-७ डिग्री तक ज्वर की वृद्धि देखी जाती है। ज्वर की ह्रास-वृद्धि अनियमित रूप से होती है।

कम्प

ज्वर के साथ-साथ अथवा उसके पहले कम्प होता है। कभी-कभी कम्पन होकर केवल शीत के साथ ज्वर हो जाता है। अथवा दो-चार वार कापने से ही ज्वर आ जाता है। उसके वाद कम्पन होकर भी ज्वर आ जाता है।

निद्रा

स्वप्नमय तन्द्रा से युक्त काक-निद्रा आती है। कभी-कभी विल्कुल नींद आती ही नहीं है। यह प्लेग का एक विशेष लक्षण है जो प्रथमावस्था से ही होता है।

स्वेद

प्रवल ज्वर के छूटने के समय या अन्यान्य रोगों मे जिस भाति स्वेद निकलता है, उसी तरह इसमें भी सहसा स्वेद निकलता है और वाद को शरीर के शीतल हो जाने पर पतनावस्था (कोलैप्स) उपस्थित हो जाता है। पीड़ा की प्रथमावस्था मे पसीना नहीं निकलता किन्तु त्वचा सूख जाती है। रोग के निदानकाल मे अनेक स्थल पर स्वेद देखा जाता है।

सार्वाङ्गिक दौर्बल्य

इस रोग मे हृदय और नाडीमण्डल अति साघातिक रूप से आक्रान्त हो जाते हैं। रोगी इतना अधिक दुर्वल हो जाता है, कि किसी रोग मे भी ऐसी दुर्वलता नहीं होती है। रोगी मे सम्पूर्ण ज्ञान होने पर भी दुर्वलता के कारण प्रश्न का जवाव भी नहीं दे सकता है। वमन के अन्त में और अनिद्रा के कारण अत्यन्त दुर्वलता उत्पन्न हो जाती है।

विवमिषा और वमन

अनेक स्थल में इस उपसर्ग से रोगी के शरीर में दुर्वलता आ जाती है। यह दुर्वलता ही अन्त में आशङ्का के कारण मे परिणत हो जाती है।

तृष्णा

ज्वर की प्रवलता मे रोगी को अत्यन्त प्यास लगती है। प्रथम अवस्था मे प्राय. तृष्णा नहीं देखी जाती। किन्तु प्रलावस्था मे इसका आधिक्य हो जाता है।

पीड़ा का स्थायित्व

प्राय अधिकांशस्थलों मे रोगी प्रथम सप्ताह के मध्य ही मे मृत्यु के मुख मे गिर जाता है। किन्तु किसी-किसी स्थल मे एक सप्ताह के वाद दशवें या वारहवें दिन मे रोगी की मृत्यु हो जाती है। द्वितीय सप्ताह के व्यतीत हो जाने पर रोगी प्राय अच्छा हो जाता है। कोई-कोई प्लेग का स्थायित्व चार-पाच सप्ताह तक वतलाते है। यदि चार सप्ताह व्यतीत हो जावे और कोई उपद्रव न हो तो रोगी अच्छा हो

जाता है। परन्तु सार्वाङ्गिक दौर्वल्य दूर होने मे अधिक समय लगता है। अतः कोई-कोई चिकित्सक रोगी को छः सप्ताह तक चारपाई छोड़ने का निषेध करते हैं।

भावीफल

सामान्य प्रकार की पीडा मे किसी प्रकार की आशङ्का की संभावना नहीं रहती है किन्तु प्रवल पीडा मे प्रतिशत ८०-९० मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है। वस्तुतः इस पीडा का भावीफल निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। वृद्ध और वाल्यावस्था मे रोग होने पर प्रायः रक्षा नहीं होती है। इस रोग के प्रधान भय का कारण दौर्वल्य ही है। एकाएक विषम उपसर्ग उपस्थित होकर अचानक प्लेग रोगी का जीवन नाश कर देता है। दौर्वल्यावस्था मे रोग निवारणी-शक्ति का ह्रास स्वभावतः हो जाता है और अधिक विपत्ति की सम्भावना रहती है। इस रोग से स्त्री-पुरुष सामान्य भाव से आक्रान्त होते हैं। वलवान् और स्वस्थ शरीर वाले तथा युवावस्था मे रोगाक्रान्त होने पर कोई-कोई ही अच्छे होते हैं। ग्रन्थियों मे प्रवल प्रदाह विशेष कर ग्रीवा की गिल्टियों मे प्रवल प्रदाह, विसर्प, रक्तस्राव, मस्तिष्क और फुफ्फुस तथा उसके आवरण मे प्रदाह, प्रवल अतिसार, अन्त्र और पक्वाशय की उग्रता, पाण्डु रोग वा सर्वाङ्ग नीलवर्ण हो जाता है। ज्वर और अत्यधिक हृदय दौर्वल्य इत्यादि अनेक लक्षण इस पीडा के सांघातिक लक्षण माने जाते हैं। जहां तक जाना जा सका है, इसके अधोलिखित लक्षण कल्याणकारी माने जाते हैं। (१) वंक्षण की गिल्टी जल्दी पक जावे और उसकी संख्या १-२ से अधिक न होवे। (२) दौर्वल्य की अल्पता, (३) प्रातः काल स्वेद निकल कर ज्वर छूट जावे। (४) अतिसार न होवे, इत्यादि लक्षण आशाप्रद माने जाते हैं।

मरणान्त के चिह्न

प्लेग रोग से मृत व्यक्ति की देह मे नीचे लिखे हुए चिह्न मिलते है। देह एक पार्श्व मे झुकी हुई और जानुओं की अवस्था सिकुडी हुई होती है।

अथवा दोनों घुटने एक में मिल जाते हैं और मस्तक वक्षः स्थल की तरफ झुका हुआ रहता है। मृत्यु के बाद शरीर दृढ और संकुचित हो जाता है, परन्तु विलम्ब से होता है। पेशियों के सब सूत्र कोमल हो जाते हैं और इनमे ससक्ति का अभाव हो जाता है। अगूँठा करतल की तरफ मुड जाता है। मुख-मण्डल का भाव स्थिर, चिन्तायुक्त चक्षु कोटरगत, विवर्ण, अक्षितारका विशेषत उज्वल हो जाती है। कनीनिका फैल जाती है और पलकें आधी बन्द रहती हैं। जिह्वा फूल जाती है और चिकनी ऊन के तुल्य पदार्थ (फार) से आवृत रहती है। जिह्वा के आगे का भाग और दोनों किनारे साफ, और जो ऊन के तुल्य पदार्थ (फार) दिखलाई देता था वह सूख जाता है और श्वेत वा पिलाई लिये हुए पाटल वर्ण का हो जाता है। जिह्वा का मध्यस्थल फट जाता और कठिन पड जाता है। शरीर का वर्ण मलीन और काला हो जाता और त्वचा सूख जाती है। यदि शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है, तो पुरः कपाल और हाथ शीतल तथा पसीना से अभिषिक्त रहते हैं। पूर्व वर्णित चिह्नादिकों के साथ-साथ यदि देह के एक स्थान मे, अथवा एक से अधिक स्थान मे लसीका ग्रन्थियाँ बढी हुई दिखलाई पड, तो रोगी की मृत्यु प्लेग रोग से हुई जाननी चाहिये।

यदि रोगी की मृत्यु प्रलाप वा द्रुताक्षेप की अवस्था मे हो जाती है, तो सब अङ्गों मे विकृतावस्था दिखलाई पडती है। यदि रोगी चित्त होकर मरता है, तो मस्तक पार्श्व की तरफ झुक जाता है। और दोनों पैर विलक्षण रूप से पृथग्भूत हो जाते हैं। कभी-कभी त्वचा के ऊपर मच्छर काटने के तुल्य (पेटिकिएल) दाग देखे जाते हैं। फुस्फुस-प्रदाह युक्त प्लेग रोग से मृत व्यक्ति के सम्पूर्ण अङ्ग और मुखमण्डल मलिन-कृष्ण या नीलवर्ण का हो जाता है। ओष्ठाधर के व्यवधान मे थूक वर्तमान रहता है और देह कुञ्चित, जर्जरित तथा पतनावस्था (कोलेप्स) ग्रस्त प्रतीत होता है।

मृतदेह की परीक्षा

शवच्छेद करने पर सम्पूर्ण स्नायु मूल की आवरक झिल्ली और हृदय-परिवेष्टिनी कला मे (पेरिकार्डियम् Paricordinm), ओमेन्टम् (उदर-वपा) और उदर कला मे (पेरिटोनियम् Peritonum) मे रक्तक्षरण (इकाइमोसिस्) जनित कालेदाग दिखलाई पडते है। प्लीहा बढ जाती और कोमल हो जाती है। पक्वाशय और अन्त्र की श्लैष्मिक-झिल्ली मे छोटे-छोटे गिरे हुए रक्त के बूंद मालूम होते हैं। मेसेन्टेरिक (अन्त्र ग्रन्थि) सम्पूर्ण ललाई लिये हुए काले रग की होती है। वृक्क के चारों तरफ के तन्तुओं के मध्य मे रक्त क्षरण, कभी-कभी यह रक्त क्षरण प्रचुर परिमाण मे होता है। कभी-कभी वृक्क फूल जाता है, और इसकी वस्ति (पेलविस्) के मध्य मे और इसके विधान के मध्य मे रक्तस्राव के चिह्न दिखलाई पडते हैं। इस रोग का विशेष परिवर्तन लसीका-ग्रन्थियों मे प्रकाशित होता है और यह परिवर्तन सब स्थलों मे वर्तमान रहता है। लसीका-ग्रन्थियों मे और समय-समय पर इनके परिवेष्टक कोषीय विधान मे, न्यूनाधिक परिमाण में प्रदाह के चिन्ह वर्तमान रहते हैं। किसी-किसी स्थल पर शरीर के जिस स्थान पर जितनी लसीका ग्रन्थियाँ होती है, उतनी ही विकार से विकृत हो जाती है, और किसी-किसी स्थल मे एक वा एक से अधिक स्थान की ग्रन्थिया फूल जाती हैं और रक्त के वेग से ग्रस्त और ग्रन्थिसमूह के विधान के मध्य मे रक्तरस के तुल्य पदार्थ प्रविष्ट हो जाता है। ऐसा दिखलाई पडता है।

चिकित्सा-प्रकरण

मूषिक पतितोत्थ च मृत दृष्ट्वा च यद् गृहे,
तद् गृह तत्क्षण त्यक्त्वा सकुटुम्बो वन व्रजेत्।

ग्रन्थिक ज्वर (ब्यूबोनिक प्लेग) की चिकित्सा—आज तक प्लेग रोग की कोई वास्तविक चिकित्सा आविष्कृत नहीं हुई है। इस विषय में चिकित्सकों मे मतभेद है। कोई कहता है, प्लेग की कोई विशेष चिकित्सा नहीं है। केवल पथ्य के ऊपर निर्भर करने से और स्थान

परिवर्तन करने से ही रोगी अच्छा हो जाता है। कोई कहता है अनेक औषधियों से स्थानिक और उपस्थित उपद्रवों की चिकित्सा करने पर रोगी बच सकता है। अस्तु,

भीषण संक्रामकता को रोकने के लिए सरकार ने प्लेग पीडित स्थानों मे साधारण चिकित्सालय खुलवा दिया है। यदि मकान के अन्दर प्लेग फैला हुआ मालूम हो, तो अवस्थाहीन रोगी को सरकारी अस्पताल मे भेज दें। सरकारी चिकित्सकों की चिकित्सा के अधीन होने पर दरिद्र और साधारण श्रेणी के लिए विशेष सुविधा रहती है। प्लेग रोगी के लिए स्वतन्त्र भाव से रखने की व्यवस्था ही प्रधान चिकित्सा है। स्वतन्त्र भाव से रोगी को रखने के लिए एक अलग गृह का बन्दोबस्त करें, और दूसरे—भाई-बन्धुओं से दूर रखें। ऐसी व्यवस्था साधारण गरीब लोग नहीं कर सकते इसलिये सरकारी अस्ताल मे जाना ही इनके लिए सुविधाजनक है। साधारण जनता के उपकार के लिए ही तो सरकार ने अस्पताल खोले हैं। घर मे चिकित्सा के विना मर जाने की अपेक्षा अस्पताल मे जाकर जीवन रक्षा करना क्या युक्तिसंगत नहीं है? अनेक मूर्ख लोग डर से और वृथा भ्रम, सन्देह से सरकारी अस्पताल मे जाने की इच्छा नहीं करते हैं। किन्तु इससे उनका अनिष्ट होता है। चिकित्सा न करने से रोगी का जीवन तो नष्ट हो ही जाता है, साथ ही परिवार के लोगों मे भी रोग फैल जाता है। सरकार ने प्रजा के धर्म, जाति प्रभृति के ऊपर लक्ष्य रखकर ही चिकित्सालयों का निर्माण किया है। इसके साथ-साथ स्त्रियों के चिकित्साके लिए अलग अस्पताल खुलवा दिये हैं। इसलिए रोगी को प्लेग चिकित्सालय अथवा साधारण अस्पताल मे भेज देने से दो लाभ होते है। एक तो रोगी के परिवार की रक्षा होती है और सरकार के सदुद्देश्य मे सहायता पहुचती है।

यद्यपि ब्यूबोनिक प्लेग की निर्दिष्ट चिकित्सा नहीं है। फिर भी वर्तमान समय में अनेक देशों मे प्लेग का प्रसार हो गया है। इस रोगके अनुसन्धान करने वाले चिकित्सक की चेष्टा से जो प्रतिषेधक-चिकित्सा-

प्रणाली का जो, आविर्भाव हुआ है इस प्रणाली से आशानुरूप फल मिल ही जाता हो, ऐसा नहीं है, तब भी अनेक स्थलों में सुश्रूषा, स्वतन्त्रता- और औषध, पथ्यादि के गुण से इसकी बहुव्यापकता का ह्रास और रोगी आरोग्य हो जाता है। प्लेग नाशक सीरम और शिरा द्वारा आयोडीन और मर्क्युरोक्रोम फायदा करते हैं।

चिकित्सा के भेद

साधारण रीति से इस रोग की चिकित्सा दो प्रकार की होती है (१) आरोग्यकारक और (२) विचारक चिकित्सा।

आरोग्यकारक चिकित्सा

यद्यपि इस रोग की आरोग्यकारक चिकित्सा आजतक नहीं मालूम हुई है। फिर भी कार्बोलिक एसिड, कीनाइन, एन्टीपाइरिन, पारद, सैलल्, फाइटोलाका, हाइड्रोप्रि प्रभृति से चिकित्सा की जाती है। किन्तु इन दवाओं से कुछ भी फल नहीं होता है। साधारण नियम के अनुसार इसकी सार्वाङ्गिक और स्थानिक चिकित्सा करनी चाहिये। सार्वाङ्गिक चिकित्सा के लिए मस्तिष्क सन्निपात (Typhus) ज्वर के तुल्य चिकित्सा करनी चाहिये और लक्षणों के अनुसार स्थानिक चिकित्सा करनी चाहिये और हवादार मकानों में रखना चाहिये। शरीर का उत्ताप और चर्म की अवस्था का विवेचन करके शीतल अथवा कुछ गरम जल से शरीर को पोंछ देना चाहिये। पिपासा निवारण के लिये यथेष्ट परिमाण में शीतल जल और उपयुक्त तरल पथ्य और हृदय तथा नाडी विधान की विवेचना करके उत्तेजक औषधियों की व्यवस्था करें।

वाह्यचिकित्सा

रोगी के घर के मध्य में सदा कार्बालिक एसिड और यूकलिप्टस तेल मिश्रित जल की वाष्प प्रयोग करने से उपकार की आशा की जाती है। ज्वर के अत्यन्त प्रबल हो जाने पर कार्बालिक एसिड और बोरेसिक ऐसिड से संयुक्त शीतल या कुछ गरम जल से बन्द मकान में दिन में दो-तीन वार शरीर को पोंछ देवें, इससे लाभ होता है। अथवा शरीरिक

ताप बढ जाने पर बगल के समीप १५ बूँद क्रियोजोट धीरे-धीरे मर्दन कर देवें। ज्वर की प्रबल-अवस्था मे थाइमल ३० ग्रेन, स्प्रीट लवेण्डर १॥ औंस, स्प्रीट वाइनाई रेक्टीफाइड २॥ औंस और एसिड्ऐसेटिकडिल २॥ औंस लेकर उसके साथ एकोपाएनिसि १५ औंस मिलाकर द्रव में से दो-तीन वार शरीर पोंछ देवें। हृदय और रक्त सञ्चालन यंत्रों की क्रिया लोप होने का प्रतिकार करना हो, तो हाथ-पैरों मे और हृदय प्रदेश पर सरसों का लेप (Musteid Flaster) करना चाहिये। वमन और हिक्का होने पर पक्काशय प्रदेश मे ब्लिष्टर (छाला उठाने वाली औषध) का प्रयोग करना चाहिये। मस्तिष्क के लक्षणों के प्रतिकार के लिये ग्रीवा के ऊपर ब्लिष्टर का प्रयोग करना चाहिये। इस अवस्था में मस्तक के ऊपर वरफ की थैली रखें। और प्रदाहयुक्त विवर्द्धित ग्रन्थि के ऊपर मर्फाइन् सयुक्त ओलियेट, हाइड्रोज, इनको पक्षी के पख से लगा देवें। इससे उपकार होता है। इसके अतिरिक्त उष्ण, पचन निवारक द्रव्य मे, फलालेन, वा स्पञ्जियो पिलाईन भिगोकर निचोड डालें फिर इससे सेंक देव वा वेलाडोना मिश्रित उष्ण जल का सेक देवें, इससे अत्यन्त लाभ होता है। प्रथम अवस्था मे ग्रन्थि के ऊपर वेलाडोना, ग्लिसरीन और आइयोडीन् का लेप करें। अथवा, स्वर्गीय राजवैद्य पं० मुरलीधर शुक्ल का अनुभूत लेप करें, जिससे अधिकतर गिल्टिया वैठ जाती है। यह वैद्य जी का प्रयोग सैकड़ों प्लेग के रोगियों पर अनुभव किया हुआ है।

प्रयोग—मुर्गी के अण्डे के अन्दर का भाग, अफीम, काला सखिया इनको समान भाग लेकर पीसकर गरम करके तीन-चार वार लेप कर देवें। इससे गिल्टी वैठ जाती है। वैद्य जी आभ्यन्तरिक प्रयोग के लिये मल्लचन्द्रोदय का सेवन कराते थे। और कस्तूरी, सोना की भस्म, कुचिला शुद्ध किया हुआ, निर्विषी, मोती की भस्म, अभ्रक भस्म, ये औषधियाँ समान भाग लेवें। परन्तु कस्तूरी ½ भाग लेवें। इनको गुलाव के अर्क से घोट कर बाजरा के दाना के वरावर गोली वाध लेवें। और दो-दो घटे के वाद पान मे रख कर गोली देवें। इससे

रोगी के हृदय में बल आता और दुर्बलता नहीं सताती है। यह प्रयोग वैद्य जी रोगी के दौर्बल्यावस्था में देते थे।

ग्रन्थि की पूयावस्था

यदि ग्रन्थि में पूय पैदा हो जावे तो शल्यचिकित्सक पचन निवारक उपायों का अवलम्बन कर काट दें और निवारक (एन्टीसेप्टिक) पट्टिका बन्धन (ड्रेसिंग) का व्यवहार करें।

इस रोग के कारणतत्त्वों को जान कर जीवाणुनाशक औषध का ही आभ्यन्तरिक प्रयोग युक्तिसंगत है। इस उद्देश्य के लिये सैलल, सल्फोकार्बलेट, क्रियोजोट, यूकेलिप्टस, किनाइन प्रभृति व्यवहार किये जाते हैं। अधो लिखित प्रयोग भी लाभप्रद हैं। किनाइन हाइड्रोक्लोरेट २ ग्रेन, टिञ्चर फाईटोलाक्का ४ बूँद, टिञ्चर यूकेलिप्टाई २० बूँद, एकोया क्लोराई १ औंस, इनको एक में मिला कर तीन-चार घंटे के अन्तर से देवे।

उत्तेजक औषधों का प्रयोग

प्लेग रोग में सार्वाङ्गिक दौर्बल्यावस्था और पतनावस्था (कोलैप्स) बहुत जल्दी उपस्थित हो जाती है और हृदय अत्यन्त क्षीण हो जाता है। इस कारण पहले उत्तेजक औषध का प्रयोग करना चाहिये। पथ्य के साथ यथेष्ट परिणाम में ब्राण्डी और ह्विस्की प्रभृति तीव्र वीर्य वाली सुरा देनी चाहिये और अधोलिखित औषधों का प्रयोग करना चाहिये। स्प्रीट एमन् एरम् २० बूँद, स्प्रीट क्लोरोफाम २० बूँद, टिञ्चर स्ट्रोफैन्हस १बूँद, टिञ्चर मस्क २० बूँद, अवशिष्ट एकोया १ औंस इनको एक में मिलाकर तीन घटे का अन्तर देकर प्रयोग करें।

इस अवस्था में स्ट्रोफैन्हस व्यवहार करने से विशेष लाभ होता है हृदय की क्षीणता में कस्तूरी ४ ग्रेन, कपूर ४ ग्रेन तीन-चार घण्टे के बाद प्रयोग करें। इससे बहुत लाभ होता है।

इसके सिवाय हाइपोडर्मिक रूप से केफिल वा स्ट्रिकनाइन का प्रयोग करें।

इस रोग की चिकित्सा के लिये एक पाश्चात्य विद्वान् १०-१५ बूँद (मिनिम) की मात्रा मे लाइकर हाइड्रोज. परक्लोराइड् चार घण्टे के अन्तर देकर प्रयोग करने के लिये अनुमति देते है। परन्तु मूत्र मे अल्ब्यूमिन निकलने पर यह नहीं देना चाहिये।

डाक्टर डाइमक् १०-१५ बूँद की मात्रा मे, गोयाकोल त्वचोऽध क्षेपण रूप से (इञ्जेक्शन) दो घण्टे का अन्तर देकर प्रयोग करने को कहते हैं। पर्मेङ्गनेट आफ् पोटास चौबीस घण्टे मे ५-१० ग्रेन की मात्रा मे देना भी अच्छा है।

विविध लक्षणों की नियमानुकूल चिकित्सा करनी चाहिये। इयासिन् और हाफ्किन् द्वारा प्रस्तुत आरोग्यकर सीरम से विस्तृत परीक्षा की जाती है। किन्तु किसी से आशानुरूप फल नहीं मिलता है।

डाक्टर जेम्स कैन्टली इस रोग की चिकित्सा के सम्बन्ध मे उत्कट प्रबन्ध का प्रचार करते हैं। उनका कथन है कि अविश्रान्त उपयुक्त रोगी की सुश्रूषा और क्षण-क्षण मे परिवर्तनशील और सब आगन्तुक लक्षणों की प्रति दृष्टि रख कर शीघ्र ही प्रतिकार करने की चेष्टा करें। यह इस रोग की चिकित्सा का प्रधान अग है।

साधारण चिकित्सा

रोगी को खुली हवा मे रखना चाहिये। सुखदायक शीतल गृह, यथेष्ट परिमाण मे शीतल और उष्णजल वा बरफ, यथेष्ट सख्या मे परिचारक और चिकित्सा के लिये उपयोगी यन्त्र-शास्त्रादि का होना अत्यन्त आवश्यक है। प्लेग रोग मे इतनी अधिक और सहसा मृत्यु होती है कि बडे-बडे चिकित्सालयों से मुर्दा ढोने के लिये और यथोचित संक्रमण नाश करने वाली प्रणाली (डिस्इन्फेक्ट) अवलम्बन करने के लिये स्वतन्त्र मनुष्यों का बन्दोबस्त रखना पडता है। रोगी के गृह से कोई द्रव्य विना संक्रामण नाश के बाहर नहीं निकलने देते हैं। इनको तेज़ युक्त और कांच के बने हुए बरतनों मे रखे गरम जल मे डुबा देते हैं और खाट, बिछौना आदि को जला देते हैं अथवा यथोचित उत्ताप का प्रयोग करके उसकी संक्रामक शक्ति नष्ट कर देते हैं। मल पर चूना डलवा देते

हैं, जल की बाष्प बनाने वाला संक्रामण नाशक यंत्र (ष्टिमुडिस्इन्फेक्टर) इस के लिये विशेष उपयोगी है। संक्रामणनाशक औषध के द्रव से घर के पात्र, मेज, कुर्सी, खाट, स्टूल आदि धो देवे। खिडकी, दरवाजा, परदा, चिक आदि कार्बोलिक एसिड् के द्रव से अथवा अन्य किसी उपयुक्त संक्रमणनाशक औषध के द्रव से भिगो देवें। स्मरण रखना चाहिये कि प्लेग के जीवाणुओं का ध्वंस करने के लिये सूर्य की रोशनी का आना अत्यन्त आवश्यक है।

रोगी को बिछौना से कभी उठने नहीं देना चाहिये। मल-मूत्र त्याग करने के लिये बेडपैन, सराव, मूत्र करने के लिये बोतल व्यवहार करावें। अनेक स्थल मे ऐसी घटना हो जाती है कि मल-मूत्र त्याग करने के लिये अथवा अन्य उद्देश्य के लिये रोगी उठता है, तो रोगी गिरकर मर जाता है, इसलिये इस विषय मे बहुत सावधान रहना चाहिये।

विरेचक-औषधों का उपयोग

विरेचक-औषध—रोगी को पहले देख लें, यदि उसकी जिह्वा मल से आवृत हो और निःश्वास मे दुर्गन्धि आवे, अक्षियों की झिल्ली पीली हो जावे और सब अङ्गों मे पैत्तिक अवस्था दिखलाई पडे तो विरेचक औषध का प्रयोग करना अच्छा है। इस उद्देश्य के लिये ५-१० ग्रेन की मात्रा मे कैलोमेल देवें, इस प्रयोग के पांच घंटा बाद लावणिक विरेचक औषध की व्यवस्था करें। इस चिकित्सा के विपक्ष मे कहा जाता है कि कैलोमेल की क्रिया क्षीणकारक होती और दैहिक विधान से प्रचुर परिमाण में रस निकालती है, अत' रोगी के लिए विशेष हानि होने की सम्भावना है, किन्तु यदि रोग की प्रथमावस्था में यह प्रयोग किया जावे अर्थात् जिस समय हृदय का क्षीण होना आरम्भ हो, उस समय यदि इसका प्रयोग किया जावे तो इससे बहुत लाभ होता है। अधिकतर इस रोग में वमन होता है वह इससे अच्छा होजाता है। पाण्डुरोग वर्तमान होने पर कैलोमेल से अच्छा लाभ होता है। पथ्य ग्रहण की शक्ति पैदा हो जाती है, इससे मानसिक विकार और हृदय प्रदेश की यंत्रणाओं मे लघुता आ जाती है। जब पित्तस्थल पित्त से पूर्ण हो जाय, तब

केलोमेल का उपयोग करना अच्छा है। शवच्छेद करने पर पित्तस्थल की पूर्ण अवस्था अनेक स्थल पर देखी जाती है। प्लेग रोग के जीवाणु मल की अपेक्षा अधिक संख्या मे रोगी के देह से निकलते हैं तथा निःश्वास, चर्म और मूत्र मे अल्पमात्रा मे जीवाणु पाये जाते है। इसलिये मल-मूत्र के त्यागने का स्थान और पात्रादि का यथाविधि सक्रामण नाश करना अत्यन्त आवश्यकीय है और जिस समय देखा जाता है कि स्वभावतः देह के मल से प्लेग का विष निकलता है, उस समय अन्त्र की क्रिया मे वृद्धि करके उस स्वाभाविक क्रिया की सहायता करना युक्तिसगत है।

पिपासादि उपद्रवों की चिकित्सा

कभी-कभी पिपासा अत्यन्त प्रवल रूप धारण करलेती है, इसके निवारण के लियें वरफ से संयुक्त वार्ली का जल देवें। नीबू के रस का शर्वत थोड़ा-थोडा करके प्रयोग करें अथवा एक अंश ब्राण्डी वा ह्विस्की तीन-चार अंश जल के साथ मिलाकर पानीय रूप से प्रयोग करने पर विशेष लाभ होता है। वियर वा ष्टाउट् वरफ से मिश्रित करके थोडी-थोड़ी पीने की व्यवस्था करने पर निद्राकारक, पोषक और पिपासा नाशक होकर कार्य करता है। नाडी की दुर्वलता मे अथवा पतनावस्था (कोलैप्स) वा मूर्च्छा उपस्थित होने पर हृदय की उत्तेजना के लिये ब्राण्डी वहुत उपकारक है।

प्रलाप की चिकित्सा

प्लेग रोग मे प्रलाप वर्तमान होने पर शिर के वाल वनवा देना चाहिये और शीतल प्रलेपादि करना चाहिये। अथवा मस्तक पर वरफ के टुकड़े अथवा वरफ की थैली रखें या कपडे को वरफ के टुकडे पड़े हुए जल मे भिगोकर सदा मस्तक पर रखें अथवा शीतल जल मे भिगोकर कपडा रखें तथा साफ-साफ कुछ गरम जल से वीच-वीच मे शरीर को पोछ देने पर ज्वर हलका हो जाता है और प्रलाप भी शान्त हो जाता है।

हाइपोसिन्—किसी-किसी स्थल मे १/१०० ग्रेन की मात्रा मे हाइपोसिन्

हाइपोडर्मिक रूप से प्रयोग करने पर निरापद और उत्कृष्ट निद्राकारक होकर उपकार करता है। अन्यान्य औषधों के निष्फल होने पर इससे स्नायुविधान मे स्थैर्य सम्पादित होता है और नींद आती है।

मर्फाइन्—समय समय पर $\frac{1}{6}$-$\frac{1}{4}$ ग्रेन की मात्रा मे मर्फाइन् का हाइपोडर्मिक के रूप से प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त और किसीसे उपकार नहीं होता है। कोई-कोई मर्फाइन का प्रयोग निद्रा लाने और वेदना दूर करने के लिये अनुमोदन नहीं करते है, किन्तु अनेक बार परीक्षा करने पर सिद्ध हुआ है कि निद्राजनक और वेदना निवारण के लिये इसका प्रयोग विशेप फलप्रद है साथ ही इसका प्रयोग विशेप विपत्तिजनक मी नहीं है। यदि वेदनायुक्त लसीका-ग्रन्थियों के प्रदाह के साथ-साथ मस्तिष्क सम्वन्धी उपसर्ग विद्यमान हो, तो मर्फाइन से विशेप आशा की जाती है और एट्रोपाइन के साथ इसका प्रयोग करने पर किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका नहीं रहती है।

ब्रोमाइड् आफ् पोटासियम्—प्रलाप वर्तमान होने पर मध्य-मध्य में ब्रोमाइड आफ् पोटासियम् का प्रयोग विशेप फलप्रद है, किन्तु इसका प्रयोग अल्पकालतक ही करना चाहिये।

अतिसार की चिकित्सा

यदि मध्य मे एक-दो बार पतले दस्त हो जावें तो उनको सहसा बन्द नहीं करना चाहिये। यदि वार-बार पतले दस्त होवें और स्थायी मालूम हों, तथा रोग की क्षीणता मालूम हो, तो इसका प्रतिकार करना चाहिये। इस स्थल मे १० ग्रेन की मात्रा मे सैलेल अथवा मलाशय के मध्य मे श्वेतसार और अफीम की पिचकारी दे, विशेप कर कुन्थन की अधिकता हो, तो मर्फाइन् $\frac{1}{4}$ ग्रेन और कोकेयिन $\frac{1}{2}$ ग्रेन, गुह्यवर्ती (हापोजिटरी) के रूप मे प्रयोग करे। इसमे विस्मथ, डोवर्स पाउडर आदि विविध सकोचक औषधों की आवश्यकता होती है।

वमन को चिकित्सा

प्लेग रोग मे पहले से ही वमन दिखलाई देने लगता है जो रोग के अन्त तक रहता है। स्थायी वमन खराब लक्षण है। पकाशय में पथ्य

और औपध नहीं रुकती ; रोगी दुर्बल हो जाता है। अत इस विषम लक्षण का प्रतिकार करने के लिये पक्काशय प्रदेश के ऊपर सरसों के प्लास्टर का प्रयोग करें। वरफ का खण्ड चूसने को देवें और कई-कई बूँद डाइल्यूटेड् हाइड्रोसिसेनिक् एसिड् अथवा लाइकर मार्फिया मिला हुआ गरम जल दें।

ज्वर की चिकित्सा

प्रलाप, अस्थिरता, शिर मे पीडा और वाद मे पतनावस्था (कोलेप्स) इनमे से एक प्रधान कारण ज्वर का है। कभी कभी ज्वर का वेग बहुत वढ जाता है। ज्वर को दवाने के लिये एन्टीपाइरिन, फेनास्टीन प्रभृति रासायनिक ज्वरघ्न औपधियाँ व्यवहृत होती हैं। ये अत्यन्त अवसादक हैं, इसलिये इस रोग मे इनका प्रयोग करना निषिद्ध है। संक्रामक नाशक औपधों से युक्त कुछ गरम जल से अथवा शीतल जल से वार-वार शरीर को पोंछ देवें। मस्तक और ग्रीवा पर वरफ का प्रयोग करें। वरफ से सयुक्त पानी, स्वल्प काल स्थायी (वार्टपैक) की व्यवस्था कर। साथ-साथ ब्राण्डी पिलावे अथवा पिचकारी से सरलान्त्र के मध्य मे प्रयोग करने की व्यवस्था करें। ये सव उपाय विवेचना पूर्वक शीघ्र करने पर लाभ होता है।

उत्तेजक औपधों का बाह्य-प्रयोग

हाथ-पैरों तथा उदर प्रदेश मे हृदय के ऊपर पतला सर्षप का प्लास्टर (पलस्तर) लगावें, इससे वहुत लाभ होता है। स्मेलिङ्गसाल्ट और उग्र एमोनिया नासिका छेद के निकट मे रखने पर अनेक समय मुमूर्षु रोगियों की नाड़ी संस्थापित हो जाती है और पतनावस्था तिरोहित हो जाती है। कभी-कभी रोगी आरोग्य भी हो जाता है। इस प्रकार की उत्तेजक औपध से केवल क्षणिक क्रिया ही नहीं होती, कभी-कभी रोगी पुनर्जीवन भी पा जाता है।

ईथर का हाइपोडर्मिक रूप से अन्तःक्षेपण (इञ्जेक्शन) देव। इसका प्रयोग आवश्यकता क अनुसार वार-वार करें तो वहुत लाभ होता

है। प्लेग रोग मे जो पतनावस्था उपस्थित होती है, वह आभ्यन्तरिक यन्त्रों के वैधानिक अवसाद से उत्पन्न नहीं होती। इसीलिये उत्तेजक औषध का प्रयोग लाभदायक है।

चिकित्सकों के व्यवस्थापत्र मे अधिकतर देखा जाता है कि प्लेग मे कार्बोनेट आफ् एमोनियम और टिञ्चर या डिकक्शन आफ् सिन्कोना का प्रयोग लिखा रहता है। इस मिश्रण का प्रयोग कभी किया जाता है और कभी बन्द भी कर दिया जाता है, इसके साथ डिजिटेलिस स्ट्रोफैन्हस् या कपूर प्रयुक्त होता है। इस रोग के लिए एमोनिया का प्रयोग सबसे अच्छा है।

डिजिटेलिस् नाड़ी छिपाती होने पर और हृदय की नाडी सम्बन्धी उत्तेजना विलुप्त हो जाने पर डिजिटेलिस का फाण्ट, अरिष्ट वा पत्रचूर्ण (सबसे श्रेष्ठ पत्रचूर्ण ही है) इस रोग की एकमात्र औषध कही जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी। किन्तु इसका फल देर मे होता है, इसके अतिरिक्त यह भी सिद्धान्त है, कि प्लेग के तुल्य तरुण पीडा मे यह कार्यकारक नहीं होती है। इसलिये इसके ऊपर विश्वास नहीं किया जाता है। डिजिटेलिस् ६.०० ग्रेन (टैवलपिड) हाइपोडर्मिक रूप से प्रयोग करने पर इस स्थल मे उपकार की आशा की जाती है।

स्ट्रोफैन्हस—यह भी उपरोक्त औषध के समान गुणदायक है।

कर्पूर—साक्षात् सम्बन्ध से हृदयोत्तेजक है और आग्नेय गुण युक्त तथा वायुनाशक है। दो ग्रेन की मात्रा मे वटिकाकार बना प्रयोग करने पर विशेष लाभ करता है। स्टेरेलाइज्ड् तेल में कपूर का द्रव करके हाइपोडर्मिक रूप से व्यवहार किया जा सकता है।

कस्तूरी—यह रक्त संचालन मे उत्तेजक होकर काम करती और प्रत्यक्ष फल देनेवाली है। इसकी उपयोगिता छिपी नही है, जितनी ताजी मृगनाभि मिले, उसमे से ५ ग्रेन की मात्रा मे ६ घंटा का अन्तर देकर प्रयोग करे।

कुचिला सत्त्व (स्ट्रिकनाइन्)—इसका प्रयोग हाइपोडर्मिक रूप से करे अथवा खाने के लिये देवें, तो उत्कृष्ट लाभ होता है। यदि ऐसा

सिद्धान्त किया जावे कि स्नायुविधान की विशेष करके हृदय की स्नायु मण्डल की जो क्रिया स्थगित हो जाती है, वह क्रिया का विकारमात्र प्लेग जीवाणुओं की विषक्रिया से उत्पन्न हुआ विकार होता है। ऐसी अवस्था मे इस रोग की चिकित्सा के लिये ष्ट्रिकनाइन महौषध है। परीक्षा से यह बात सिद्ध हुई है और डाकृर ल्यूसन आदि प्लेग चिकित्सकों ने स्वीकार किया है कि इस रोग मे ष्ट्रिकनाइन सर्वोत्कृष्ट उत्तेजक महौषध है। लाइकर ष्ट्रिकनाइन् ५-१० बूँद (मिनिम) की मात्रा में चार घंटा का अन्तर देकर प्रयोग करें। यदि वमन वर्तमान हो, तो इसका द्रव (सल्फेट् आफ ष्ट्रिकनाइन) $\frac{1}{४८}$ ग्रेन परिस्रुत जल १० बूँद मे मिला हाइपोडर्मिक रूप से प्रयोग करें।

डाकृर एटकिन्सन्, वेल, टम्पसन आदि इस रोग मे अधिक मात्रा में कार्बोलिक एसिड् की प्रशंसा करते है। एक प्लेग रोगी को डाकृर महोदय ने दो घंटे का अन्तर देकर १२ ग्रेन की मात्रा मे (प्रति दिन १४४ ग्रेन) सिरप आफ् ओरञ्ज और क्लोरोफार्म के वाटर (जल) के साथ प्रयोग किया। एक रोगी मे उन्होंने सर्व समेत २५०० ग्रेन प्रयोग करने के बाद उसके रक्त की परीक्षा की तो देखा कि प्लेग के जीवाणु निर्मूल हो गये हैं। इतनी अधिक मात्रा मे भी प्रयोग करने पर कार्बोलिक एसिड् के विशेष लक्षण प्रकाशित नहीं हुए।

डा० केमार्नस विशेष परीक्षा के बाद निश्चित किया है कि प्लेग रोग में इयार्सिन का सीरम सबसे श्रेष्ठ है। यह जीवाणु संहारक और विष नाशक (एन्टिटोक्सिन) है। रोग के प्रारम्भ में इस सीरम का प्रयोग करें। यह १५० से ३०० क्यूरिक सेन्टीमेट की मात्रा मे हाइपोडर्मिक रूप से अथवा सिरा के मध्य मे पिचकारी से प्रयुक्त होता है। रोग की और प्रबलता होने पर अधिक मात्रा मे शिरा के मध्य मे प्रयुक्त किया जा सकता है।

और भी अनेक औषधों का व्यवहार होता है, उनके मध्य मे किनाइन, एकोनाइट (वत्सनाभ) और क्लोराइट आफ् एमोनियम ही प्रधान हैं। वढ़ी हुई प्लीहा से मलेरिया का उपद्रव प्रतीत होवें तो किनाइन देंव।

रोग की प्रथम-अवस्था मे यदि ज्वर अधिक हो और नाड़ी पूर्ण हो तो एकोनाइट देवें। क्लोराइट आफ् एमोनियम समय-समय पर परिवर्तक होकर काम करता है। प्लेग रोग की विषमावस्था में ओषजन (आक्सीजन) वायु का श्वास ग्रहण करना चाहिये।

ग्रन्थि की चिकित्सा

विकारग्रस्त लसीका-ग्रन्थियों की चिकित्सा अनेक भाति की जाती है, परन्तु किसी से विशेष लाभ नहीं होता है। यदि स्फोटक (फोड़ा) उत्पन्न होकर बहिर्मुख हो जावे अथवा उसके मध्य मे तरल पदार्थ मालूम हो, तो काटकर अन्दर से पूय निकाल देना चाहिये। किन्तु प्लेग रोग के निदान के सम्बन्ध मे जितना जाना गया है, उससे लसीका-ग्रन्थियों के ऊपर प्रयोग की हुई औषध की क्रिया मे प्रकृत पीडा में परिवर्तन हो जाये, ऐसी कोई आशा नहीं मालूम होती है। जैसे—वंक्षण की गिल्टियों मे परक्लोराइड् आफ् मर्करी या आइयोडाइड् आफ् पोटेसियम और परक्लोराइड् आफ् मर्करी द्रव की पिचकारी का प्रयोग युक्तिसंगत मालूम होता है किन्तु इस चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता है। शेष कही हुई द्रव्यों के व्यवहार से अनेक स्थल पर शरीर का ताप कम होकर रोगी कुछ स्वस्थ-सा हो जाता है। सम्भवतः रोगी की ग्रन्थि के खिंचाव युक्त आवरण (टेन्सकैप्स्यूल) को सूची से वेधन करने पर उसका खिंचाव (टेनशन) कम हो जाता है और यंत्रणा भी कम हो जाती है।

कोई-कोई विवेचना करते हैं कि ग्रन्थि की त्वचा के नीचे कर्तन (सबक्यूटेनियस इनसिशन) क्रिया से उपकार होता है, किन्तु विवर्द्धित ग्रन्थि का कर्तन शीघ्र ही मुक्तहस्त से नहीं करना चाहिये और ग्रन्थि को निकाल कर अलग कर देना बिल्कुल युक्ति विरुद्ध है क्योंकि इस रोग मे अत्यधिक संख्या मे लसीका-ग्रन्थियां एकाएक प्रदाहग्रस्त हो जाती हैं और यह प्रदाह इतना अधिक हो जाता है कि रोगग्रस्त ग्रन्थियों का काटना असम्भव हो जाता है। कोई ग्रन्थि फूल जावे

और लालवर्ण-वेदना से युक्त हो, तो उसके ऊपर वेलाडोना और ग्लिसरीन का लेप करना चाहिये। अथवा वेदना निवारण के लिये पुल्टिस का प्रयोग करना चाहिये, परन्तु यह ध्यान रखें कि जबतक कोई विशेष आवश्यकता न होवें, तबतक गिल्टी कभी चीरना नहीं चाहिये। पकने पर अवश्य चीर देना चाहिये, जोंक कभी नहीं लगाना चाहिये। तेज आइयोडीन Liquor Iodidport अर्थात् Leniment Iodiue लगावें और उसे खूब सेंककर बाध देवें। यदि इससे न वैठे तो तेलनीमक्खी Canthaиdis plaster के प्लास्टर को बाध कर छाला उठावे इसके बाद छाला छीलकर मक्खन लगावें। अथवा लोहे को गरम करके दाग देवें या सोने की वाली गरम करके दाग देव। किन्तु छाला के उठाने वाली चिकित्सा कठिन और अधिक क्लेशदायक है अत इनका व्यवहार कम होता है।

प्लेग का टीका

चीन देश और वम्बई शहर में प्लेग फैलने के समय डाक्टर इयार्शिन और मूसों हाफकिन ने इस रोग के जीवाणुओं के सम्बन्ध मे ठीक-ठीक आलोचना की थी। जिस रोग की कोई निर्धारित चिकित्सा नही है जिस रोग मे अनेक श्रेष्ठ औषधियों के प्रयोग करने पर आशिक फल होता है और जिस रोग मे विज्ञ चिकित्सकों का नैपुण्य निष्फल हो गया और आजतक चिकित्सा-विज्ञान जिसका पूर्ण प्रतिषेधक उपाय प्रकाशित नहीं कर सका, उसका प्रतिकार करने के लिये दूसरे वैज्ञानिकों के उपायों का अवलम्बन करने पर यदि सफलता मिले तो अवश्य लेना चाहिए। इस उद्देश्य के लिये मूसों हाफकिन ने प्लेग के जीवाणुतत्त्व को लेकर अनेक अन्वेषण किए है। इन्होंने प्लेग रोगी के शरीर से वीज लेकर कृत्रिम उपायों से उसकी वृद्धि करके उस वीज से स्वस्थ शरीर वाले व्यक्ति के शरीर में टीका लगाकर अनेक वार परीक्षा की है। टीका के सम्बन्ध मे हाफकिन जैसे प्रमुख चिकित्सकों का यही मत है, कि जो लोग टीका लगवाते हैं उनके शरीर में इस रोग का संक्रमण वहुत कम देखा जाता है।

उनका सिद्धान्त है कि टीका की प्रणाली मसूरिका प्रभृति रोगों के तुल्य प्लेग रोग मे भी प्रतिषेधक है। बम्बई शहर के अन्य विभागों मे और जेलखाने मे इस टीका की अनेक परीक्षाएँ की गईं और फल भी अच्छा ही हुआ और भी सभ्य पुरुषों ने बम्बई शहर मे टीका लेकर आत्मरक्षा की थी। कलकत्ता के स्वास्थ्याध्यक्ष ने टीका से अनेक स्थल पर आशानुरूप फल पाया। टीका लेना मनुष्यों की इच्छा पर है। इस टीका के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक परीक्षा जिस समय मे अभ्रान्त रूप से स्वीकार कर ली गई, उस समय से चिकित्सा जगत में एक नवीन तत्त्व प्रकाशित होकर इसके द्वारा इस भीषण महामारी से बहुत लोग परित्राण पाने लगे हैं। टीका की उपकारिता के सम्बन्ध मे अनेक उपकारक चिकित्सकों मे मतभेद है। वंगीय गवर्नमेन्ट के चिकित्सा विभाग के प्रधान कर्मचारी डाक्टर हार्वी ने भी इस मूसों हाफकिन के टीका की उपकारिता स्वीकार करके मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वस्तुतः टीका के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक परीक्षा का अन्त होने पर भी चिकित्सा-जगत् मे हाफकिन महोदय की अद्भुत कीर्ति बनी रहेगी। बहुतों का कथन है कि इसके लगाने से दूसरे वर्ष प्लेग खूब फैलता है और वे मर जाते हैं। अथवा उनमें बहुत से नामर्द हो जाते हैं और वे धूप सहन नहीं कर सकते हैं, उनका हाथ कमजोर हो जाता है, गठिया हो जाती है, कभी-कभी टीका से मर भी जाते हैं इत्यादि। परन्तु ये सब भ्रममूलक ज्ञान है, क्योंकि प्रत्यक्ष करके देखा गया है कि जितने को टीका लगाया जाता है, उनमे बहुत कम आदमियों को प्लेग होता है, होने पर भी अल्पशक्ति वाला होता है। अतः टीका का प्रयोग लाभदायक ही प्रतीत होता है।

निवारक चिकित्सा

प्लेग रोग के निवारणार्थ दो विषयों पर विशेष ध्यान रखें। (१) जिस अवस्था मे रोग की उत्पत्ति हो, अथवा जो अवस्था रोग की वृद्धि मे सहायता पहुंचाती हो, उसका प्रतिषेध करना

चाहिये। (२) यदि किसी स्थान में पीड़ा हो, तो उसके विस्तार को दबाना चाहिये। मकान अथवा आवासस्थान के चारों तरफ अस्वास्थ्यजनक अवस्था, जैसे—बहुत-से मनुष्यों की भीड़ रहना, उपयुक्त वायु सञ्चालन का अभाव, दारिद्र्य, दौर्बल्य प्रभृति रोग की उत्पत्ति के लिये अनुकूल अवस्था है। इन सम्पूर्ण अवस्था का निवारण करना व्यक्तिगत दृष्टि से असम्भव है। अत इनके प्रतिकार का भार राजकर्मचारियों के ऊपर है। किसी स्थान पर प्लेग प्रकाशित होने और फैलने न पावे इस उद्देश्य से जनसमाज से उसको पृथक् रखना चाहिये।

रोगी को अलग उत्तम हवादार मकान में रखना चाहिये और जो बिछौना वस्त्र आदि रोगी काम में लाता था और रोगी जिस मकान में रहता था, उन सब की संक्रामकता नाश करनी चाहिये। जहाँ पर प्लेग फैला हो, वहाँ से कोई दवा नहीं लेनी चाहिये और न वहाँ पर जाना चाहिये। प्रमाण पूर्वक सिद्ध हुआ है कि इन दो प्रधान कारणों से इस रोग के वशवर्ती मनुष्य हो जाते हैं और इन्हीं से मनुष्यों में इस रोग का सञ्चार होता है। इसलिये इन्हीं के नाश करने का उपाय अवलम्बन करना चाहिये।

इस रोग के निवारण के लिए डॉ० हाफ्किन्स आदि चिकित्सकों द्वारा नियमानुकूल प्रस्तुत किया हुआ 'एन्टी प्लेग वैक्सिन्' नामक वैक्सिन् मनुष्य के देह में हाइपोडर्मिक सिरिञ्ज से प्रयोग करें। साधारणतः गोमास के रस में (हिन्दुओं के लिये छाग-मास के रस में) अथवा गेहूं के आटा में प्रबल प्लेग के जीवाणुओं की वंश वृद्धि करके उनसे नियमानुकूल वैक्सीन् (Vaccin) तैयार करें। इसे प्रस्तुत करने की प्रणाली का वर्णन यहाँ पर अनावश्यक है। ये लोग कहते हैं कि इससे अधिकांश स्थल में रोगाक्रमण की शक्ति कम हो जाती है और रोग मृदुभाव से प्रकाशित होता है। आजकल प्लेग के लिये ऐन्टी प्लेग सीरम् प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका लाभ निश्चित नहीं हुआ है।

शुल्वौषधियां—इनके प्रयोग से प्लेग की असाध्यता बहुत घट गई है।

इनमे शुल्वगन्धाजवा (Sulphathiazole, M B 760, ciba-zole, Thiazamide) अधिक लाभकर है। प्रारम्भिक मात्रा २ धान्य (४ गोलियाँ) और उसके बाद प्रति ४ घंटे पर १ धान्य दूसरे दिन इसी प्रकार दिया जाता है। तीसरे दिन मात्रा कुछ कम कर दी जाती यह औषध ज्वरमुक्त होने पर भी एक-दो दिन तक चलती रहनी चाहिये।

पथ्यापथ्य

रोगी को विशेष कष्ट देने वाले उपद्रव न हों, तो पथ्य देने से कोई विशेष असुविधा नहीं होती है। रोगी को प्रचुर परिमाण मे पथ्य दिया जा सकता है। किन्तु पूर्ण आहार से विषम विपत्ति की सम्भावना रहती है। अनेक स्थलों मे उदर भर कर आहार करने के बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस अवस्था मे हृदय ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है कि बिल्कुल सामान्य कारणों से भी इसकी क्रिया और स्पन्दन का अभाव हो जाता है। इसलिये प्लेग पीडित रोगी को सहज मे पचने वाला पथ्य अल्प परिमाण मे बार-बार देना चाहिये। अन्य रोगों की तरह प्लेग रोग मे एक बारगी क्षुधा नष्ट नहीं होती है। अतः पथ्य देना बहुत ही आवश्यक है। किन्तु पथ्य हल्का और पुष्टिकारक होना चाहिये।

यदि रोगी की क्षुधा तीव्र हो तो भी उसको एक बार मे अधिक परिमाण मे भोजन नहीं देना चाहिये। एक बार मे अधिक आहार देने पर श्वास-कष्ट उपस्थित हो जाता है और प्लेग रोग मे स्नायु दौर्बल्य तथा हृदय दौर्बल्य अधिक परिमाण मे उपस्थित हो जाता है। पाकस्थली के भर जाने पर इससे वक्षःस्थल मे दबाव मालूम होकर रोगी की मृत्यु तक हो सकती है। बार-बार अल्प पथ्यादि के प्रयोग करने से ऐसी विपत्ति की सम्भावना नहीं रहती है। किसी भी भाँति गुरुपाक और कठिन द्रव्य का पथ्यरूप से प्रयोग नहीं करना चाहिये।

अन्न का माड़ दूध के साथ मिलाकर अल्प-अल्प खाने को देवें। इससे तृष्णा की निवृत्ति होती है और लघुपथ्य होने से सहज में परिपाक भी हो जाता है। दूध के साथ सोडा वाटर मिलाकर देने से भी सुविधा होती है। मास का यूष (मशाला आदि से रहित रस), ब्राण्डी या ह्विस्की के साथ देवे। मास के अभाव में शृङ्गी, मंगुर आदि मछलियों का यूष विशेष उपयोगी है। मूँग और मसूर की दाल का यूष, लघु और पुष्टिकारक पथ्य—शाक, वार्ली प्रभृति भी अवस्था के अनुसार दी जा सकती है। फलों में अगूर और वेदाने का रस अल्प मात्रा में दिया जा सकता है। प्लेग-रोगी की ठीक-ठीक सुश्रूषा ही प्रधान पथ्य है इसका पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। इस रोग की जिस समय एक निर्धारित चिकित्सा हो, उस समय सुश्रूषा की तरफ लक्ष्य करने से विशेष लाभ होता है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा

पहले रोग की परीक्षा करनी चाहिये, फिर औषध की अच्छी तरह से परीक्षा करके ज्ञानपूर्वक चिकित्सा को प्रारम्भ करें। क्योंकि यह रोग बड़ा कठिन है। वास्तव में आज तक इसकी कोई औषध प्रकाशित नहीं हुई है। तब भी वैद्यों को चाहिये कि वायु, पित्त, कफ इन दोषों को देख कर चिकित्सा करें। दोष-दूष्य और निदान इनके विपरीत औषध निश्चय करके देना हितकारक होता है। जैसा कि महर्षि आत्रेय ने कहा है—

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा· बहुत्वान्नामरूपत ।
तेषामप्येतदेवस्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ॥
दोष दूष्य निदानानां विपरीत हित ध्रुवम् ।
उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग् युक्त नियच्छति ॥

प्राचीन महर्षियों का ऐसा प्रबल सिद्धान्त है कि भूत वर्तमान और भविष्य काल में जितने रोग थे और जितने वर्तमान हैं अथवा होंगे उन सब के लिये चिकित्सा-सूत्र एक सिद्धान्त स्वरूप में रख दिया गया है।

दूषित जल, वायु, देश, काल अथवा जीवाणुओं जिन कारणों से प्लेग-रोग उत्पन्न हों, उनमें सबसे पहले प्रबल जीवाणु कारण, अथवा अन्य कारणों का नाश करना चाहिये। यही प्रधान-चिकित्सा है। जैसा कि कहा है—"संक्षेपतः क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्।" इसलिये हेतु विपरीतार्थकारी चिकित्सा के सिद्धान्त से प्रबल जीवाणुजन्य विष के लिये विष ही उपयुक्त है। महर्षि का वाक्य भी है। "विषस्य विषमौषधम्" इति।

जैसे की प्लेग की गिल्टियों पर संखिया और अफीम का लेप ही लाभदायक होता है और आभ्यन्तरिक प्रयोग में कृष्णसर्प आदि जंगम विष, वत्सनाभ आदि स्थावर विष विशिष्ट सूचिकाभरण ही लाभदायक होता है। यदि इसी सूचिकाभरण का द्रव बना करके अन्तःक्षेपण क्रिया (इन्जेक्शन Injection) द्वारा प्रयोग किया जाय तो आशातीत फल प्राप्त हो। वैद्यों को इस बातपर ध्यान देना चाहिये। इसी सिद्धान्त को लेकर प्लेग सीरियम् का प्रचार हुआ। प्लेग के जीवाणुओं का विष विशिष्ट उपाय से निकाल कर इसी विष का इन्जेक्शन प्लेग रोगी को देने से अधिकतर रोगी अच्छे हो जाते हैं। स्वस्थ मनुष्य के शरीर में भी इसी विष का टीका लगाते हैं, जिससे प्लेग नहीं होता है, प्रायः ऐसा देखा जाता है। अस्तु।

प्लेग रोग में चतुर चिकित्सक व्याधि के लक्षण और उपसर्ग समूह को अच्छी तरह जान करके उसीके अनुकूल चिकित्सा करें तो बहुत कल्याण होता है। जैसा कि महर्षि चरक ने उपदेश दिया है—

व्याध्यवस्था विशेषान् हि ज्ञात्वा ज्ञात्वा विचक्षणः।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तच्छ्रेयः प्रपद्यते॥

रोगी को हवादार मकान में रखें। परन्तु यह ध्यान रहे कि रोगी को विशेष हवा न लगने पाये। रोगी के हृदय और मस्तिष्क की विशेष रक्षा करें और संक्रामक नाशक औषधियों का व्यवहार करते हुए रोगी के लिये उपयुक्त औषध का व्यवहार करना चाहिये।

जल धनियाँ और प्लेग

प्लेग मे जलधनियां नामक औषधि अत्यन्त लाभदायक है। यह ½-१ गज तक ऊंची क्षुपजातीय वनस्पति है। इसके पत्ते धनिया के पत्तों के तुल्य होते हैं। अत: इसको जलधनियाँ कहते हैं। कोई इसको देवकांडर और कोई जलपीपर भी कहते हैं। इसके पुष्प सरसों के पुष्प के समान होते है। फल अत्यन्त छोटे अण्डाकार पिप्पली के समान होते हैं। अत. इसका नाम जलपीपल भी सार्थक है। इसकी मूल और डठल पोला तथा कुछ धारीदार होते हैं। ग्रामीण लोग प्राय: इसे अच्छी तरह जानते हैं। आर्द्र भूमि, जलाशय, नदियों और नालों के किनारे होनेवाली यह विषनाशक औषधि दाहकारक होती हैं। पर प्लेग हो जाने पर इसको खिलाने से पिपासा, दाहादि विकार शान्त करती है। प्लेग के समय किसी न किसी रूप मे इसका सेवन करने से प्लेग का भय नहीं रहता है। अनेक कल्पनाओं द्वारा इसके स्वरसादि का प्रयोग करना चाहिये। प्रतिदिन १ तोला से ६ तोला तक इसका प्रयोग कर सकते हैं। इसका शाक, अचार और चटनी के रूप में भी प्रयोग कर सकते है। प्लेग आरम्भ होते ही जलधनिया का स्वरस १ तोला से २ तोला तक की मात्रा में प्रत्येक आध घण्टे या एक घण्टे के अन्तर से देव। पाँच-छ: घण्टा मे लाभ प्रतीत होने लगता है, पाखाना-पेशाव खुल कर होता है और ज्वर भी कम होने लगता है।

वाह्य प्रयोग—ग्रन्थियों पर जलधनिया को पीसकर लेप करें। प्रति २-३ घण्टे पर लेप वदलते रहें। पांच-छ घण्टे के वाद ग्रन्थि पर छाला पड जावेगा। जव फफोला फूट जावे तव उसका पानी, रूई या वस्त्र से पोंछ देवें अन्यथा जहाँ पर इसका पानी लगेगा वहीं पर छाला पड़ जावेगा। छाला फूट जाने पर शतधौत घृत, मक्खन आदि लगावें।

असगन्धोपयोगः

असगन्ध—वाजार मे जो श्वेतरङ्ग की जड विकती हैं उससे भिन्न यह वनस्पति है। इसकी जड प्राय: १ फुट लम्बी, पेचदार और

कड़वी होती है। यह एक नशीली और विपतत्त्वयुक्त वनस्पति है। इसका फल लाल रङ्ग का होता है तथा इसका प्रभाव डोना के समान विपैला होता है।

उपयोग विधि—इसकी जड को कूट-पीस गरम कर ग्रन्थि पर प्रलेप कर, इससे ग्रन्थि बैठ जाती अथवा पककर फूट जाती है। ग्रन्थि के आसपास भी जड़ घिसकर लगा देवें। फिर गेहूं के चोकर की पुल्टिश बॉध देवें जिससे सब पूय निकल जावे। अन्त मे साधारण मलहम लगाकर पट्टी बांध देव। खाने के लिये चन्द्रोदय १ रत्ती की मात्रा मे शहद के साथ ४-४ घण्टे के अन्तर से देने से रोगी अच्छा हो जाता है।

पपीता

इसको अंग्रेजी मे इग्नेशियस बील्स (Ignatius Benus) और लैटिन में स्ट्रिकनोसइग्नेसी (Strycunos Ignasite) कहते हैं।

परिचय—यह कुचले की जाति का एक विपैला वृक्ष होता है। इस वृक्ष के बीज फिलीपाइन से भारत मे विकने आते हैं। इन बीजों का आकार लम्बा-गोल होता है और इनकी लम्बाई एक इञ्च से कुछ कम होती है। इस औपध से तैयार की हुई इग्नेशिया नामक औपध होमियोपैथिक में प्लेग के अन्दर प्रसिद्ध है। यह औपध प्लेग के आक्रमण को रोकने के लिये और आक्रमण के पश्चात् उसका विष नष्ट करने के लिये प्रभावपूर्ण क्षमता रखती है। प्लेग के दौरे के समय जो इसके बीजों को कमर या हाथों मे बांधते हैं उन पर भी आक्रमण प्राय. नहीं होता है।

मात्रा—औपध-चूर्ण २ रत्ती की मात्रा मे दो-दो घण्टे के अन्तर से देव। प्रातदिन सायं-प्रात. एक रत्ती की मात्रा में लेने से इसके आक्रमण से सुरक्षित रहता है और आक्रमण होने ही यदि इसका उपयोग किया जावे तो कुछ घण्टों मे ही वेदना कम हो जाती और ज्वर ग्रन्थि मुलायम हो जाती है।

निम्बादि वटी

निम्बपत्र ऽ― छ० कालीमिर्च ऽ― छ० और शिरीस वीज ऽ― छ० प्रत्येक ५-५ तोला लें।

विधि—इसे कूट-पीस करके जलधनियाँ के स्वरस मे घोटकर २-२ मटर के वरावर गोली वनालें।

मात्रा—१-१ गोली, प्रात:-सायं ताजे जल से लेव। एक सप्ताह लगातार लेने से तीन-तीन मास तक प्लेग नहीं होता है। रोग-प्रसार के समय महीनों लगातार इसका सेवन करें। वच्चों और गर्भिणी स्त्री को १-१ मटर की मात्रा मे देव। यह उत्तम प्रतिरोधक (प्रीवेन्टिव) औषध है।

चण्डेश्वर रस

विधि—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध विष, ताम्र भस्म—ये सव समान मात्रा में लेकर पहले पारद-गन्धक की कज्जली वनावें। वाद को अन्य ओषधियाँ मिलाकर तीन दिन तक घोंटे।

मात्रा—१ रत्ती।

अनुपान—तुलसीपत्र के ३ माशे स्वरस में, मधु ३ माशे मिलाकर प्रात:-साय देवें। इससे प्लेग की वेदना, ज्वर-ग्रन्थि आदि उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

अर्क पुष्पादि वटी

अर्क के पुष्प की लौंग, निम्वपत्र, कालीमिर्च, आर्द्रक, पाचों लवण लवग, छोटी पीपल प्रत्येक समान भाग लें।

विधि—जल धनियाँ के स्वरस से घोंट कर जंगली वेर के वरावर गोली वनावें।

मात्रा—१-१ गोली दिन में तीन वार।

अनुपान—अष्टभागावशिष्ट जल। इससे प्लेग का विष दूर होता है और पहले गोली खाने से रोग का आक्रमण भी नहीं होता है। रोग की साधारण अवस्था में निम्नलिखित औषधियाँ देव।

हिंगुलेश्वर रस

शुद्ध हिंगुल १ तोला, पीपल १ तोला, शुद्ध मीठा विप १ त
इन्हे लेकर जल के साथ मर्दन करके ½ रत्ती की गोली वनावे। इ
मधु के साथ देवें।

स्वच्छन्द भैरव रस

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मीठा विष, जायफल और पं
प्रत्येक १-१ तोला लेकर जल के साथ पीस करके ½ रत्ती
गोली वनावे।

मात्रा—१-१ गोली।

अनुपान—पान वा अदरक के रस मे मधु के साथ या दोपानु
अनुपान की कल्पना करे। अथवा लक्ष्मीविलादि रस देवे।

रोग की कठिन अवस्था मे वैद्य दोपों का विचार कर कस
भैरव, वैताल रस, चक्री, सन्निपात भैरव, सूचिकाभरण, कालानल र
मृगमदासव और मृतसञ्जीवनी सुरा प्रभृति देवे।

कस्तूरी भैरव का योग

कस्तूरी ६ माशा, शुद्ध हिंगुल ६ माशा, शुद्ध मीठा विप ६ मा
शुद्ध सोहागा ६ माशा, जावित्री ६ माशा, जायफल ६ माशा, पीप
६ माशा, इनको जल मे पीस कर २-२ रत्ती की गोलियाँ वनावें।

अनुपान—अदरक का रस।

वेताल रस का योग

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, मरीच १ तोला, शु
हरताल १ तोला इनको लेकर जल से मर्दन करके १-१ रत्ती की गोलिय
वनावें।

अनुपान—अदरक का रस। इससे बहुत लाभ होता है।

चक्री योग

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्ध विष १ तोला

स्वर्णमाक्षिक भस्म १ तोला, इनको दन्ती के क्वाथ में मर्दन करके १-१ रत्ती की गोलियाँ बनावें, यथोपयुक्त अनुपान से देवें।

सन्निपात भैरव रस

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मीठा विष, शुद्ध हरताल, बहेड़ा, आँवला, हरीतकी, शुद्ध जमालगोटा, त्रिवृत, स्वर्ण भस्म, ताम्र भस्म, शीशा भस्म, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, अर्क की जड़ लाङ्गली (कलिहारी) स्वर्णमाक्षिक की भस्म, इन द्रव्यों को समान भाग लेकर निम्नलिखित ओषधियों के क्वाथ से क्रमशः तीस भावना देकर मटर के बराबर गोली बनावें।

भावना-द्रव्य—मन्दार, श्वेतकोपल, मुण्डी, हुलहुल, कालाजीरा, काकजंघा, श्योनाक की छाल, कूठ, त्रिकटु, चिरकत, लाल सूर्यमुखी, श्वेत सूर्यमुखी, संभालू, रुद्रजटा, धत्तूर मूल, दन्तीमूल और पिपरामूल ये अठारह ओषधियाँ पूर्वोक्त ओषधियों के समान भाग लेकर चौगुने जल में पकावें। जब एक भाग जल बाकी रह जाय तो छान कर इस क्वाथ की तीस बार भावना देवें। इससे उपद्रवयुक्त ग्रन्थिकज्वर (प्लेग) अच्छा हो जाता है।

सूचिकाभरण रस

काष्ठ विष (मीठा तेलिया) कृष्णसर्प विष और दारुमूज विष (वत्सनाभ) प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग, शुद्ध हिंगुल ३ भाग, इनको एकत्र कर रोहित मत्स्य, शूकर, भैंस, बकरी और मयूर के पित्त से एक-एक बार भावना देकर सरसों के बराबर गोली बनावें।

अनुपान—नारियल का जल। इसके सेवन के बाद तिल तैल का मर्दन करें या अन्यान्य शीतल क्रिया करें। इस औषध के सेवन से प्लेगग्रस्त मृतप्राय रोगी भी स्वस्थ होते देखा गया है।

कालानल रस

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रक भस्म, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध हिंगुल, कृष्णसर्प विष, दारुमूल विष (वत्सनाभ) और ताम्र-भस्म प्रत्येक २-२

तोले लेकर सूक्ष्म चूर्ण करें। इसके बाद लाङ्गली की जड, कडवी तोरई, लाल चीते की जड, भूमि आँवला, ब्रह्मदण्डी, आक की जड और पञ्चपित्त (रोहू मछली, महिष, मयूर, छाग, शूकर इनका पित्त) इन सब द्रव्यों की भावना देकर, अदरक के रस के साथ मर्दन करके सरसों के बराबर वटियाँ बनावे। इससे प्लेग अच्छा हो जाता है।

मृगमदासव

मृतसञ्जीवनी सुरा १० पल, मधु २५ पल, कस्तूरी ४ पल और मरीच लवंग, जायफल, पीपल, दालचीनी प्रत्येक २-२ पल, इन सब द्रव्यों को (काष्ठौषधियों का यवकूट चूर्ण कर) एक पात्र में भर देवें और उसका मुख बन्द कर दें। इस भाँति एक मास तक रखें, बाद मे छान लें। फिर उपयुक्त मात्रा मे पीने के लिये देवें।

मृत सञ्जीवनी सुरा

एक साल से अधिक का पुराना गुड ३२ सेर, कूटी हुई बबूल की छाल २० पल, अनार की छाल, अडूसा की छाल, मोचरस, वराहक्रान्ता, अतीस, अश्वगन्धा, देवदारु, बेल की छाल, सोनापाठा, पाढल की छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखुरू, इन्द्रायण की जड, चित्रक की मूल, केवाच के बीज और पुनर्नवा इन प्रत्येक का यव कूट चूर्ण १०-१० पल, जल २५६ सेर लेकर एक बडे मिट्टी के बरतन में भर कर सकोरा से उसका मुख बन्द करे। फिर १६ दिन के बाद इस घडे में कूटी हुई सुपारी ४ सेर, धत्तूरा की जड, लवग, पद्माख, उशीर (खस) चन्दन, सौंफ, अजवाइन, मरीच, जीरा, कालाजीरा, कचूर, जटामांसी दालचीनी, इलायची, जायफल, नागरमोथा, ग्रन्थिपर्णी, शुण्ठी, मेथी, मेढासिंगी और चन्दन प्रत्येक २-२ पल। इन सब द्रव्यों को यवकूटकर फिर उस घडे में डाल देवे, तथा पात्र का मुख बन्द कर दें। चार दिन के बाद नियमानुकूल बक-यन्त्र से सुरा खींच लेव। रोगी के बल और अग्नि की अवस्था देखकर मात्रा का निश्चय करें, इससे भयङ्कर लक्षणवाला प्लेग भी अच्छा हो जाता है। मल्लचन्द्रोदय प्लेग मे अदरक के रस से देवे।

इससे बहुत लाभ होता है। इसका सैकडों बार प्लेग रोग पर प्रयोग किया गया है।

शीतल जलाभिषेक

मस्तक मे अधिक गर्मी हो, आँखें लाल हों और प्रलाप हो, तो इस अवस्था मे मस्तक के ऊपर शीतल जल का परिषेक करना चाहिये। हाथ-पैर के शीतल पड जाने पर उत्ताप का प्रयोग करे, या बालुका स्वेद दें। शिर मे पीडा हो तो इक्षु के रस का सिरका १ भाग, घीकुमार का लुआब १ भाग, गुलाब का तेल १ भाग मिला दे और इसमें कपडा भिगो कर शिर पर रक्खें, तो इससे बहुत लाभ होता है।

ज्वर की पिपासा-निवारण का उपाय

ज्वर की पिपासा दूर करने के लिये षडङ्गपानीय पिलावें, अथवा एक साफ बोतल लेकर उसमें स्वच्छ जल ८ छटाक भरे। उसमे कागजी नींबू के तीन-चार टुकड़े करके डाल दें और बोतल का मुख बन्द कर दें। १०-१५ मिनट बोतल को खूब हिलावे फिर उस जल को आधी छटाँक की मात्रा मे तीन-चार बार पिलावे। अथवा सूक्ष्मनल से इस पात्र का जल आकर्षण करें फिर इसको पीने को देवें। इससे विशेष लाभ होता है। किन्तु कफाधिक्य होने पर उष्ण जल को शीतल करके देवें, अथवा मिट्टी का ढेला अग्नि मे खूब पकावें फिर पानी मे डाल दें। कुछ देर के बाद ऊपर के पानी छानकर पीने के लिये दें। तृष्णा को कभी नहीं रोकना चाहिये।

वमन-निवारण

ज्वर मे वमन निवारण के लिए एलादि चूर्ण २ रत्ती की मात्रा मे बड़ी इलायची के क्काथ से बार-बार सेवन करने के लिये देवें। अथवा उशीर १ तोला लेकर साफ शिला पर पीस करके छान लें और आधा तोला सफेद चन्दन घिसकर और एक पाव बताशा के शरबत के साथ मिलाकर फिर छानकर १ तोला की मात्रा मे बार-बार सेवन कराना चाहिये, अथवा बरफ का टुकडा चूसने के लिये दें। इससे वमन और

हिक्का शीघ्र ही अच्छी हो जाती है। २ तोला पित्तपापड़ा लेकर आध सेर जल में पकावें आधा पाव जल बाकी रहे तब उतार लें। इसको २-३ बार सेवन करें। इससे निश्चय ही वमन बन्द हो जाता है।

हिक्का-चिकित्सा

हिक्का उपस्थित होने पर रोगी के ऊर्ध्व उदर के ऊपर तेल का मर्दन करके स्वेद दें। राई-सरसों का चूर्ण आधा तोला लेकर आध सेर जल में पकाकर छान लें, जब शीतल हो जाय तो उसका स्वच्छ जल आधी छटाक की मात्रा मे २-३ घण्टे के अन्तर देकर सेवन करें। कोयले की अग्नि में हिंगुल, कालीमरीच और उडद को दग्ध करके उसका धूम नासिका से ग्रहण करें।

शीतकाय (कोलैप्स) की चिकित्सा

देह शीतल हो जाय और नाडी क्षीण हो जाय तो मकरध्वज १ रत्ती मृगनाभि (कस्तूरी) १ रत्ती और कपूर १ रत्ती, इनको मधु और पान के रस के साथ मिलाकर तीन-चार बार सेवन करें।

मूत्रावरोध की चिकित्सा

मूत्रावरोध हो जाय अथवा पेशाब करने के समय जलन हो, तो अधोलिखित प्रयोग का व्यवहार करें। खस, गोखुरू के बीज, दुरालभा खीरा के बीज, ककडी के बीज, कबाबचीनी और वरुण की छाल इन सबको समान भाग लेकर कूट डालें और सायंकाल जल मे भिगोकर प्रात-काल छान कर पीवें। इसको कई बार मे पीवें। जिस समय रोगी की दर्शन, श्रवण और वाक्शक्ति क्रमश लोप हो जाय और रोगी बेहोश हो जाय, नाड़ी बैठ जाय, उस समय सूचिकाभरण रस का प्रयोग करें। किन्तु इसके प्रयोग करने से पूर्व खूब विचार कर लेना चाहिये। यह एक वर्ष के बालक के लिये चौथियाई बटी, उससे ऊपर वाले बालक के लिये आधा बटी और युवा के लिए १ बटी सेवन करने के लिये दें।

शोथ अथवा ग्रन्थि स्फीति की चिकित्सा

प्लेग रोग मे प्रायः ग्रन्थियों के स्थान में और कान के मूल में शोथ

हो जाता है। इसको अत्यन्त कुलक्षण जानना चाहिये। रोग की प्रथम और मध्य अवस्था में यह शोथ हो जाता है। शोथ की प्रथम अवस्था में निम्न शोषक प्रलेप करना चाहिये।

प्रलेप—रसौत, अफीम, फिटकरी और सखिया प्रत्येक १-१ माशा पीस कर गरम करके लेप करें।

नागफणी-प्रयोग

नागफणी के कांटों को छील कर अग्नि में गरम करें। इसके बाद गिल्टी पर तीन-चार बार बांध दें। प्रथम अवस्था में इसके प्रयोग से निःसन्देह गिल्टी बैठ जाती है।

जलौका-प्रयोग

यदि औषध के प्रलेप से गिल्टी न बैठे, तो विशेष अवस्था में जोंक लगा देवें।

गैरिकादि लेप

सोनागेरू, सेंधानमक, सोंठ और सफेद सरसों, इनको कांजी में पीसकर गरम कर लेप करें। इसका तीन-चार बार प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है।

विषमुष्टिक लेप

कुचिला, निर्विषी और मीठातेलिया इनका लेप करें। इससे बहुत लाभ होता है।

मल्लादि लेप

काली संखिया, अफीम, मुसब्बर और निर्विषी इन्हें समान भाग लेकर पीस लेवें और अग्नि पर गरम करके लेप करें। ऊपर से नागदमनी का पत्ता गरम करके बाध देव। इससे आशातीत फल देखा जाता है।

अलसी की पुल्टिस

यदि इन क्रियाओं से गिल्टी न बैठे और बढ़ती जावे तो अलसी की पुल्टिस बनावें, उसमें घी मिलाकर गरम कर और गिल्टी पर बाध देवें।

इस भाँति कई वार बांधने पर गिल्टी पक जाती है। फिर इसको चतुर शल्य चिकित्सक से छेदन करा दें। इससे विशेष लाभ होता है।

शय्याक्षत का उपचार

यदि शय्याक्षत हो जावे तो धतूरा के पत्तों के स्वरस में अफीम और सौ वार धोया घी, मिलाकर लेप कर देवें। इससे विशेष लाभ होता है।

अतिसार

प्लेग रोग में यदि अतिसार हो तो, निम्नलिखित जातीफलादि वटी देवे।

जातीफलादि वटी

जायफल ६ माशा, पिण्डखजूर ६ माशा, शुद्ध अफीम ६ माशा, इनको पान के रस से मर्दन करके २ रत्ती की गोली बांधें और तक्र के अनुपान से देवें। अथवा निम्नलिखित कर्पूर रस दें।

कर्पूर रस

शुद्ध हिंगुल, शुद्ध अफीम, नागरमोथा, इन्द्रजव, जायफल, और कर्पूर ये समान भाग लेकर जल के साथ मर्दन करके २ रत्ती की गोली बांधे। कोई-कोई इसके साथ १ भाग शुद्ध सोहागा भी मिला देते हैं। उपयुक्त अनुपान के साथ देवें।

कास

यदि प्लेग रोगी को कास हो, तो अधोलिखित योग देवे। त्रिकटु त्रिफला, चव्य, धनिया, जीरा, सैन्धव लवण प्रत्येक १-१ तोला, शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, कान्त लौह भस्म २ तोला, सोहागे की खील ८ तोला, मरिच ४ तोला। इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस करके ६ रत्ती की गोली बनावें। अनुपान—पिप्पली चूर्ण, मधु, अथवा अदरक के साथ दें। इससे बहुत लाभ होता है।

रक्त-पित्त

यदि प्लेग रोग में रक्त-पित्त का उपद्रव हो जावे तो निम्नलिखित एलादि गुटिका देवें।

एलादि गुटिका

बड़ी इलायची १ तोला, तेजपत्र १ तोला, दालचीनी १ तोला, पीपल ४ तोला, चीनी ८ तोला, पिण्डखजूर ८ तोला, मुलेठी ८ तोला, किसमिस ८ तोला। इनको पीस करके मधु के साथ गोली बांधें। गोली का प्रमाण छोटे बेर के बराबर। उपयुक्त अनुपान के साथ सेवन करने से रक्त-पित्त अच्छा हो जाता है। अथवा वासावलेह, रसामृत रस, रक्त-पित्तान्तक लौह, खण्डकाद्य लौह, उशीरासव, कपर्दक रस प्रभृति विवेचन करके देवें।

अनागत बाधा प्रतिषेध

जिस स्थान में प्लेग फैलने के चिह्न दिखलाई पडे, उसी समय बिना सन्देह के उस स्थान को छोड दें और जहाँ की शुद्ध जल-वायु हो, वहा पर जाकर रहना चाहिये और उस समय होमादि अवश्य करना चाहिये, इससे वायु शुद्ध होती है और संक्रामकता का विनाश होता है। यह सुश्रुतादि आचार्यों का उपदेश है।

यथोक्तं सुश्रुते—

"तत्र स्थान परित्याग शान्तिकर्म प्रायश्चित्त मङ्गलजपहोमोपहारे ज्याञ्जलि नमस्कार तपोनियम दयादान दीक्षाभ्युपगम देवता ब्राह्मणगुरु परैर्भवितव्यमेवं साधु भवति।

औषधोपचार प्रभृति

प्लेग फैलने के समय रासायनिक औषधियों का विधिपूर्वक उपयोग करना चाहिये। परन्तु वह रसायन जिस समय प्लेग नहीं फैला था, जलवायु, देश, काल, शुद्ध था, उस समय की उखाडी हुई ओषधियों से बना होना चाहिये और भी महर्षि चरक का उपदेश है कि सत्य का प्रयोग करना चाहिये, गरीब प्राणियों की रक्षा करनी चाहिये। गरीबों को खाने के लिये भोजन वस्त्रादि देना चाहिये। बलिदान और देवता का पूजन करें। नित्यहित आहार-विहारादि सद्वृत्त का प्रयोग करना चाहिये। संक्रामक जीवाणु से अपने शरीर की रक्षा करे। प्लेग फैलने के

समय मोजा जानु तक पहने रहें। अचिश बूटको पहनें, प्लेग के रोगी को हाथ से कभी नहीं छुवे और जहा पर प्लेग का रोगी हो, वहां पर न जव। प्लेग से मरे हुए चूहों को हाथ से पकडकर नहीं उठाना चाहिये। संक्रामक नाशक आदि ओपवियों से हाथ-पैर को धोवा करें और भक्ष्यपदार्थों को भी सावधानी से उपयोग कर, इत्यादि उपायों से अपनी रक्षा पहले करनी चाहिये। कल्याणकारी जनपदों का सेवन करें, ब्रह्मचारी रहे, धर्मशास्त्र महर्षी और योगियों की कथा सुननी चाहिये। ब्रह्मचारियों की कथा को ध्यान से सुने। धार्मिक, सतोगुणी ज्ञानी पुरुषों के साथ उठना-बैठना चाहिये। यही परम औपध इस भयंकरकाल मे जव कि अकालमृत्यु दरवाजे पर खडी रहती है आयु की रक्षा करती है।

चूहा और प्लेग

प्लेग नामक महामारी के पैदा होने के लिये चूहा सहायक कारण है। अतः चूहा के विपय मे आमतौर से ज्ञान होना आवश्यक है। महर्पि सुश्रुत ने अठारह प्रकार के चूहे माने हैं। किन्तु आजकल भूरा और काला चूहा अधिक देखा जाता है। भूरा चूहा नालियों और मोरियों से आता जाता है और यह तैरनेवाला भी होता है। अतः अपने भोजन की तलाश मे नदी, तालाव के पार भी चला जाता है। जव प्यास लगती है, तव जल की खोज मे बहुत दूर तक चला जाता है। और काला चूहा ऊपर चढ़ने मे चतुर होने से खम्भों के सहारे छतों पर चढ़कर वहीं अपना घर वना लेता है। यह वहुत चालाक, मक्कार और खतरनाक जानवर है। उदर भरने के लिये कभी-कभी अपने कुटिम्वियों को भी खा जाता है। और मनुष्य जव इसको पकडता है तव मनुष्य पर भी आक्रमण करता है। चहा और चुहिया दो जाति होती है। प्रायः लोग यह समझते हैं, कि चूहे के वच्चे को चुहिया कहते हैं। यह भ्रममात्र है। अंग्रेजी मे चूहा को माउस (Mouse) कहते हैं और चुहिया को (Rat) कहते हैं।

चूहे की वंशवृद्धि

चूहा सालभर बच्चा देता रहता है। इसके गर्भ तीन सप्ताह रहता है बच्चे पैदा होते ही नारी जाति का चूहा गर्भ धारण के लिये तैयार रहता है।

नारी के बारह स्तन होते हैं। एक समय मे पाच से लेकर १४ बच्चे तक दे सकती है। और सालभर में ५-६ बार बच्चे देती है। यह ३½ से ४ मास की आयु मे ही बच्चे देने लगती है। इस हिसाब से एक दम्पती से १३० चूहे हो जाते हैं। अत चूहों की संख्या कम-से-कम मनुष्यों की सख्या के लगभग है। चूहों से चुहिया दूनी होती है। विलायत में एक चूहा प्रतिदिवस चार पैसे का और चुहिया दो पैसे का नुकसान करती है। विलायत मे केवल भोजन का नुकसान १ करोड़ ४० लाख रुपये का करते हैं और अमेरिका मे ५४७५०००० रुपये की हानि प्रतिवर्ष करते हैं। भारत में चूहों की करामात इससे कई सौ गुना अधिक नुकसान देखा जाता है।

चूहों की संख्या अल्प होने के उपाय

चूहे पकडने के यन्त्र और पिंजरे बाजार में मिलते हैं। एक यन्त्र के द्वारा चूहों को फॉसी पर लटकना होता है और पिंजरों में पकड कर नदी में डुबोकर, लाठी, ईंट, पत्थर से भी मार देते हैं। चूहों को मारने की अनेक दवाइया भी बाजार मे मिलती हैं। इन सब मे किसी न किसी प्रकार विष होता ही है। यथा—संखिया, कुचले का सत्त्व, स्फुर (फासफोरस), पेरिस का प्लस्तर, बेरियम् कार्बोनेट्, ये दवाएँ शक्कर, आटा, सौंफ का तेल, जीरा प्रभृति मे मिलाकर के चूहों के मारने के लिये उपयुक्त होती हैं।

चूहा अल्प करने के कुछ प्रयोग नीचे लिखे जाते हैं।

(१)	आटा	३ छटाक
	बेरियमकार्बोनेट	१ छटाक

(२) आटा	२ छटाक
वेरियमकार्बोनेट	१ छटाक
शक्कर	१ छटाक
(३) वेरियमकार्बोनेट	५ तोला
पनीर	१० तोला
ग्लिसरीन	३ तोला

विधि—इन दवाइयों को एकत्र मिलाकर जल से खूब मर्दन कर वेलन द्वारा रोटी की तरह बना लें। फिर एक छटाक वेरियम कार्बोनेट मे १७४ टिकिया काट कर इनको कुछ पका लें। फिर प्रति टिकिया के ऊपर थोडा-सा सौंफ का तेल मिला हुआ आटा छिड़क देवे और रात्रि मे जहां पर चूहे आते हों वहां पर रख देवें। इस बात का ख्याल रहे कि छोटे वच्चे इन टिकियों को न छूने पावें। क्योंकि ये जहरीली होती हैं। प्रातःकाल इनको उठाकर अलग रख दें और रात्रि मे फिर वहां पर रख देवें।

अन्य विधि

वेरियमकार्वोनेट को पीसकर फलों और शाकों के टुकड़ों पर छिडक कर मल दें। फिर इन टुकड़ों को चूहों की विलों के समीप रख देवें। १॥ रत्ती वेरियमकार्वोनेट और दो रत्ती गूंधा हुआ आटा ले करके गोली वनाकर चूहों के विलों के पास रख देवें। अथवा मकान में इधर-उधर डाल देव। किन्तु बच्चे न छूने पाएँ। इनको खाने से चूहे मर जाते हैं। विलायत मे चूहा-चुहियों के मारने के लिये व्यवस्थापक सभा ने सन् १९१९ मे (Rats-mice Destruction Act 1919) कानून बनाया था। भारतवर्ष मे भी ऐसी धारा की आवश्यकता है। इसके सिवाय चूहे की विलों मे पानी भरने से चूहा वाहर निकल आवेगा अथवा उसी में मर जावेगा। विलों मे विषैली गैसों के पहुंचाने से भी चूहे मर जाते हैं। मकान के विलों को वन्द कर देना चाहिये। मकान की फर्श और फर्श के पास की दो फुट तक दीवारें, पत्थर या सीमेन्ट वा कंकरीट की वनवाव, जिससे चूहे उनको खोद न सकें।

बेरियमकार्बोनेट के विष की दवा

यदि कोई अज्ञानता से इसको खा जाए तो उसको ॥ तो० नमक या २॥ तोला राई पीसकर एक गिलास गुनगुने जल मे मिलाकर पिलावें, इससे कै होंगे, अथवा अंगुली डालकर कै करावे। कै होने के पश्चात् उसको मेग्नेशिया का विरेचन देवें। इससे विष नष्ट हो जाता है।

फुदकू (Flea)

जब मनुष्य किसी चूहे अथवा चुहिया को पकड लेता है। अथवा उसको डंडा या लाठी से मार देता है और बाद को उसके बालों को कघी से साफ करता है, तो उसके बालों से बहुत छोटे-छोटे कीडे फुदकते हुए दिखलाई पडते हैं। इनका वर्ण कुछ-कुछ श्याह-मायल-रक्त रङ्ग का होता है। इनकी लम्बाई एक इञ्च के बीसवा भाग होती है। इनके पैर न होने से उड़ना और रगना इनके लिये असंम्भव है। किन्तु ये फुदक-फुदक कर चलते हैं, इसलिये 'फूदकू' ऐसा नामकरण किया गया है। ये साधारणतया चार इञ्च तक फुदक सकते हैं।

जातिभेद

इसकी कई उपजातियाँ हैं। कोई उपजाति मनुष्य से, कोई चूहे से, कोई चुहिया से, और कोई गिलहरी से प्रेम करती है और इसके मुख में रक्त चूसनेवाले अङ्ग होते हैं। और इनकी पहलू चपटी होती है। इनके छ पैर होते हैं। इन पैरों के द्वारा वह चिपट जाता है। नर और नारी दोनों जाति ही खून चूसती हैं। जब यह खून चूसता है, तब त्वचा पर चकत्ते पड़ जाते हैं और उसमे बहुत खुजली चलती है।

फूदकू का जीवन चरित्र

नारी जाति के फूदकू अण्डे देती है, वे अण्डे उसके बालों मे रहते हैं। अण्डोंसे दो-चार दिन में लहर्वा (लार्वा) निकलता है। ये चक्षु और पाद हीन होते हैं किन्तु इनके बाल होते हैं। इनका रङ्ग सफेद होता है।

जब जानवर चलता-फिरता है, तब कीड़े पृथ्वी पर गिर पडते हैं। फर्श के कूडे वा धूल मे अथवा चूहे के स्थान पर लहर्वा रहता है। लहर्वा दो चोली बदलता है: और चौदह दिन मे उससे प्यूया (कूप्पा) निकलता है। इसके बाद इससे एक पक्ष मे फूदकू वन जाता है। आदमियों पर रहनेवाला फुदकू चार इञ्च से ज्यादा अर्थात् पौने आठ इञ्च तक ऊंचा और कभी-कभी तेरह इञ्च लम्बा कूद-कूद कर जाता है।

चूहे से सम्बन्ध

ये विषैला फुदकू चूहे पर रहते है, जव ये चूहे को काटते हैं तव चूहे को प्लेग हो जाता है, प्लेग से जव चूहा मर जाता है, तो उसका शरीर शीतल होने लगता है। फिर उसके वालों से फुदकू निकल आते और दूसरे चूहों के वालों मे घुस कर उन्हे काटते हैं। इस भॉति चूहे एकबारगी मरने लगते हैं, जव इनको चूहे नहीं मिलते, तब दूसरे जानवरों को काटते है। जब मनुष्य को जहरीला फुदकू काटताहै, तव उसको प्लेग रोग हो जाता है। भूरे और काले रग के चूहों को प्लेग होता है। किन्तु मनुष्य के साथ काला चूहा रहता है। इसलिये प्लेग का भी उससे घनिष्ट सम्बन्ध है। चूहे के सिवाय गिलहरी, वन्दर, गिनीपिग, गधा, ऊँट इन जानवरों को भी प्लेग होता है। गाय. वैल, सूअर, और चिडिया इनको प्लेग नहीं होता है। दूसरे देशों में कई जानवर ऐसे होते हैं, जिन्हे प्लेग होता है और उनसे मनुष्यों मे प्लेग फैलता है।

पिस्सू से बचने का उपाय

नीम की पत्ती जलाने से पिस्सू मर जाते हैं। पोटासक्लोरस ८ माशा, पोटास नाइट्रस ६ माशा और गन्धक ८ माशा।

विधि—इन सबको अलग-अलग पीसकर एकत्र मिला, इसमे २० माशा कडुआ तेल या रेडी का तेल मिलावें। फिर इसमे लालमिर्च का पीसा हुआ चूर्ण ४ माशा और सूखी हुई नीम की पत्तियों का चूर्ण भी एक मुट्ठी भर मिलावें। पश्चात् कपड़े की ९ इच लम्बी वत्ती बनाकर

इस बत्ती को शोरे के घोल मे भिगों कर सुखा लें, इस सूखी बत्तीपर उपरोक्त मसाला लगा और उसको सुलगा कर चूहे के बिल मे रख दें और चूहे के बिल को बाहर से बन्द कर दें ।

सूर्य की तेज धूप से भी पिस्सू मर जाते हैं । अतः सब कपड़े ३-४ घण्टे धूप मे डाल देवें ।

चूना में फिटकरी मिलाकर मकान मे कलई कराने से भी पिस्सू मर जाते हैं ।

नीचे लिखी हुई घोल से मकान को धो देवें या मकान छिड़क देवें । कोमल साबुन ३ भाग को १५ भाग उष्ण जल मे घोलें । फिर इस साबुन के घोल मे ७०-१०० भाग मिट्टी का तेल धीरे-धीरे मिलावें और खूब चलावें । चलाते-चलाते दुधिया रग का जब घोल हो जाए तब १ भाग घोल को १०० भाग पानी मे मिलाकर फर्श या जानवरों पर छिड़कें । इससे पिस्सू शीघ्र ही मर जाते है ।

चूहों की बिलों और फर्श की दरारों में नैफ्थेलीन को पेट्रोल मे घोल कर छिड़कें, इससे अण्डे लार्वा (लहर्वा) और युवापिस्सू आदि सब मर जाते हैं । यदि किसी मकान मे बहुत से पिस्सू हों, तो वहा फर्श पर नैफ्थेलीन छिड़क दे तथा २४ घण्टे के बाद वहा साफ कर दे । उठने-बैठने-सोने के कमरे मे कुत्ता, बिल्ली, चूहा आदि न आने पावे । पालतू कुत्ते को कार्बोलिक साबुन से स्नान कराना चाहिये यदि उनके बालों में पिस्सू हों, तो नैफ्थेलीन मले ।

आवश्यकीय विषय का विवरण

यदि प्लेग व्याधि से परिवार मे कोई आक्रान्त हो जावे तो अन्य परिजन वर्गों को भयभीत नहीं होना चाहिये । किन्तु साहस और धैर्य का अवलम्बन करके उसका प्रतीकार करना चाहिये तथा समय न खोकर के रोगी की चिकित्सा का बन्दोबस्त करना चाहिये । इससे रोगी के जीवन की रक्षा की जा सकती है । प्लेग होने से ही मर जाते हैं ऐसा नहीं है और पहले से सावधान हो जाने पर

रोगी ही केवल जीवनलाभ करता है ऐसा भी नहीं है। किन्तु परिवार के अन्य लोग भी रोग की सक्रामकता से बच जाते हैं। प्लेग सब स्थानों मे महामारी रूप से अथवा देशव्यापी रूप से दिखाई नहीं देता है, तो भी बड़े-बडे शहरों मे बहुत से आदमी मर जाते हैं। किन्तु सावधानता और नियमित चिकित्सा और सुश्रूषा के बल से अनेक रोगी अच्छे होते हुए भी देखे जाते हैं। जैसे कि किसी के घर में अग्नि लग जावे तो मित्र-शत्रु सब मनुष्य अग्नि बुझाने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि अग्नि बढ़कर पडासियों के घर को भी अवश्य जलावेगी। इसी तरह गांव मे किसी के घर मे प्लेग हो जावे तो सब लोगों को मिल करके उसकी सक्रामकताका विनाश करना चाहिये।

पहले कह आये हैं कि प्लेग सब स्थानों पर एक साथ नहीं फैलता और न महामारी का रूप धारण करता। जैसे बम्बई-पूना प्रभृति नगरों मे प्लेग से मरे हुए मनुष्यों की सख्या देखी जाती है; वैसी मृत्यु सख्या अन्य शहरों मे नहीं देखी जाती है।

प्लेग रोग स्पर्शाक्रामक है कि नहीं; इस विषय मे प्लेग कमीशन के सामने अनेक प्लेग के चिकित्सकों ने अपना-अपना मत भेजा था। उनमे अधिकांश का मत था कि प्लेग स्पर्शाक्रामक है। इसीलिये सब स्थानों मे इसका प्रकोप समान नहीं देखा जाता है। जैसे कि बम्बई, करांची प्रभृति समुद्र के तटवर्ती स्थानों मे प्लेग का प्रकोप अधिक देखा जाता है। हांगकाग मे भी अधिक जोर का प्लेग रोग फैलता है। कलकत्ता आदि में इतना प्रकोप नहीं देखा जाता, परन्तु सर्ववादि-सम्मत मत यही है कि प्लेग रोग विशेष रूप से संक्रामक है।

दुर्भाग्य से यदि किसी के मकान में प्लेग रोग हो जाये तो उसके परिवार का कोई व्यक्ति सहसा स्थान परिवर्तन न करे। किन्तु निर्दिष्ट काल की प्रतीक्षा करने के बाद यदि परिवार के किसी अन्य व्यक्ति के कोई रोग के लक्षण दिखलाई देवे, तो स्थान परिवर्तन अवश्य करना चाहिये। ऐसी अवस्था मे स्थान परिवर्तन करने पर रोग

का बीज एक स्थान से दूसरे स्थान मे सञ्चालित हो सकता है। इसके प्रतिरोध के लिये सरकार ने स्थान-स्थान पर यात्री परीक्षागार भी स्थापित कर दिया है। जिस समय पूर्ण रूप से संक्रामकता नष्ट नहीं होती है, उस समय दूसरे स्थान मे जाने पर भी रोग से छुटकारा नहीं मिलता और उस नवीन स्थान मे भी भगे हुए मनुष्य से रोग का बीज फैल जाता है। ऐसी अवस्था मे भागने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। सदा रोग की चिन्ता और रोग सम्बन्धी वार्तालाप आदि जहा तक हो सके छोड देना चाहिये। व्यर्थ चिन्ता करने से शरीर का अनिष्ट ही होता है और कोई लाभ नहीं होता। यदि रोग की चिन्ता करने पर रोग मुक्त हो जावे तो कोई क्षति नहीं है। किन्तु वृथा भय उत्पन्न होकर अनेक समय बुद्धि चलायमान हो जाती है, इससे आर्थिक क्षति और कई मानसिक यन्त्रणाएँ भोगनी पडती हैं।

*जिस समय किसी नगर अथवा ग्राम मे कोई रोग सक्रामक रूप से प्रादुर्भाव को प्राप्त होता है, तो क्या उस समय उससे सब की मृत्यु हो जाती है? जैसे कि किसी ग्राम मे विसूचिका, मसूरिका, मलेरिया (विषम ज्वर) प्रभृति सक्रामक रूप से प्रादुर्भाव हुए तो उनसे सब की मृत्यु तो होती नहीं। ऐसी घटना मे बहुत आश्चर्य होता है, अदृष्टवादी इसको अदृष्ट का कार्य मानते हैं।

ऐसे स्थलो मे प्राय देखा जाता है, कि गृह मे एक मनुष्य की सांघातिक सांक्रमक रोग से मृत्यु हो गई है, परन्तु रोगी की सुश्रूषा करनेवाला रोग से आक्रान्त नहीं होता है, इसका कारण क्या है? इस बात का अनुसन्धान करने के लिये स्वयं एक कौतूहल मन मे पदा हो जाता है। इसका कारण यह है कि—मनुष्य मात्र के शरीर में ऐसी एक साधारण शक्ति प्रकृत ने नियुक्त कर दी है कि वह अनेक समय रोगाक्रमण से हमको बचाती है। यह सक्रामण निवारिका शक्ति शारीरिक और मानसिक दृढता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। दैहिक नियम के अपव्यय करने से दैहिक शक्ति का क्षय हो जाता है और व्यर्थ की चिन्ता करने और व्याकुलता से मानसिक तेज कम हो जाता है।

दहिक अनियम के प्रभाव से जिस समय हम लोगों की यह प्राकृतिक शक्ति हीन हो जाती है, उस समय हम लोग सहज में ही रोगाक्रान्त हो जाते हैं।

क्षुधा, क्लान्ति, उपवास, अपरिच्छन्नता, अनियमित आहार-विहार और ऋतु भेद से परिच्छदादि के सम्बन्ध मे नियम के प्रतिकूल आचरण करने से दैहिक शक्ति कम हो जाती है। इसलिये प्लेग के समय अनशन, क्लान्तिजनक परिश्रम, नियम के विरुद्ध भोजन, मलीन और खुले स्थान मे बास करना इत्यादि से बचे रहना चाहिये। संक्रमित रोगी को रोग के जीवाणुओं से और शरीर के निःक्षिप्त हुए क्लेद से दूसरे व्यक्ति के शरीर मे रोग प्रविष्ट हो जाता है। यह परीक्षित सत्य बात है। इसलिये ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि शरीर मे जीवाणु और क्लेदादि प्रविष्ट न होने पावें। मल, मूत्र, वमन, थूक तथा प्रश्वास की वायु क्लेद के मध्य में गिनी जाती हैं। इनमे से किसी एक के द्वारा रोग के जीवाणु शरीर के मध्य में प्रवेश करने का मौका पा जाते हैं।

प्लेग कमीशन का विवरण

यह बात सब को विदित है कि बृटिश गवर्मेन्ट ने प्लेग का कमीशन बैठाया था, इस कमीशन का उद्देश्य यह था कि बुद्धिमान राजकर्मचारी और प्रधान-प्रधान चिकित्सकों के समीप से प्लेग का निदान-लक्षण, व्यापकता और बैजितत्त्व के सम्बन्ध में मतामत का ग्रहण करना। कमीशन ने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास प्रभृति स्थानों मे बैठक करके प्लेग के सम्बन्ध में बयान लिया था, इसमे जिन्होंने साक्षी दी थी उनकी अभिज्ञता केवल पुस्तकी ही नहीं थी, कार्य क्षेत्र मे भी उन्होंने स्वयं अपने हाथ से काम करके प्लेग के सम्बन्ध मे यथेष्ट ज्ञान का सचय किया था। प्लेग के प्रकृत तत्त्व को जानने के लिये प्रायः सब लोग उत्कण्ठित थे। भारतवर्ष मे इस रोग का नया प्रादुर्भाव हुआ था और भीषणता भी इसकी प्रबल थी इसलिये यहां के लोग भी बहुत उत्सुक थे कि प्लेग कैसे उत्पन्न होता है और किन उपायों के

अवलम्बन करने से रोगी की रक्षा हो सकती है। किस तरह से इसकी सक्रामकता का ह्रास हो सकता है। इन सब विषयों की आलोचना न्यूनाधिक भाव से हो गई थी। जिन्होंने साक्षी दी थी वे सब बम्बई, मद्रास, कराची, बडौदा प्रभृति प्लेग पीडित प्रदेशों के उच्च पदस्थ राजकर्मचारी वा चिकित्सक थे। उनके मत का सारांश पाठकों के लिये नीचे लिखा जाता है।

(अ) बम्बई फोर्ट ओयार्ड के डाक्टर खाँ बहादुर बामन जी पाटे ने प्लेग कमीशन के सम्मुख कहा था कि, प्लेग स्पर्शाक्रामक नहीं है। गत दो वर्ष के मध्य में उन्होंने जितने रोगी देखे थे, उनके मध्य में १२० मनुष्य रोगी अन्यान्य लोगों के साथ कथावार्ता करते थे। स्वस्थ मनुष्यों को चुम्बन और स्पर्श किया था। किन्तु उनसे उनको रोग नहीं हुआ इसलिये इनके मत से प्लेग स्पर्शाक्रमक नहीं है।

(आ) आगरा के रासायनिक परीक्षक मि० हाङ्किन् ने परीक्षा करके देखा था कि प्लेग से आक्रान्त रोगी के वस्त्र आदिकों को जल से धोने के बाद उसमें जीवाणु नहीं पाये जाते हैं।

घर की मेज के ऊपर और आस-पास की धूलि और बालू के मध्य में अथवा शरीर से निकले हुए क्लेद में पहले जीवाणु नहीं रहते हैं किन्तु जली हुई घर की राख में प्लेग के जीवाणु पाये जाते हैं। इनके मत से अग्नि में भी प्लेग के जीवाणु नष्ट नहीं होते हैं।

(इ) डाक्टर कली कहते हैं कि कोई स्थान रोग से शून्य हो गया है या नहीं, कहना बड़ा कठिन है। रोगी के पहनने के वस्त्रादिकों द्वारा एक स्थान से रोग अन्य स्थान में जाता है और रोग बीज एक बार जिस स्थान पर अधिकार कर लेता है, वह स्थान जनशून्य हो जाता है। फिर भी ये जीवाणु विनाश नहीं होते हैं, यह प्रत्यक्ष देखा गया है।

(ई) डाक्टर मेयर का कथन है कि जो लोग रेल मार्ग द्वारा काम काज करते हैं, उन्हीं के द्वारा दक्षिण भारत में प्लेग के रोग का बीज गया। जिन लोगों में प्लेग का सन्देह हो, उनको पृथक रखने के लिये इनका मत है।

(उ) बड़ौदा म्यूनिस्प्लेटी के चेयरमैन मि० गिलवर्ट का कथन है कि प्लेग से आक्रान्त रोगी को अस्पताल भेज देने पर कोई विशेष लाभ नहीं होता है। इससे प्लेग निवारण की सकल चेष्टा निष्फल हो जाती है। १८९७ वा ९८ ई० मे वम्बई शहर से प्लेग हटाने के लिये जिन कार्यों का अनुष्ठान किया गया था, वे विशेष फलदायक नहीं हुए। ये कहते हैं कि हाफ्किन के टीका से विशेष लाभ होता है। यदि प्लेगाक्रान्त गांव मे सबको टीका दे दिया जावे तो अस्पताल भेजने की कोई आवश्यकता नहीं। वम्बई के जितने श्रेष्ठ पुरुष थे, उन्होंने अपने-अपने मुहल्ले मे सरकार की सहायता करने के लिये अग्रसर होना स्वीकार किया था। यदि ये लोग टीका लगाने का उद्योग करते, तो प्लेग का प्रकोप आदि मे नही बढ सकता था।

(ऊ) डाक्टर डिमर का कथन है, कि चूहा, कीडा अथवा प्लेग रोगी के शरीर से निकला हुआ रस-रक्त द्वारा अन्य शरीर मे प्लेग फैलता है। उनका यह भी सिद्धान्त है कि प्लेग एक भीषण वीमारी है और इसमे संक्रामक शक्ति भी रहती है। ये यह भी कहते है कि प्लेग रोगी के समीपवर्ती जनों से व्याप्त अथवा रुकी हुई वायु से पूर्ण अथवा अन्धकारमय गृह में और मिट्टी के नीचे, ट्रेन के मध्य मे प्लेग के जीवाणु रहते हैं। यदि प्लेग से उद्धार पाने की कामना हो, तो प्लेगयुक्त स्थान मे प्रचुर परिमाण में वायु का आवागमन रखें और स्थान छोड़कर दूसरे स्थान मे चले जावें। यह सबसे सबसे श्रेष्ठ उपाय है। मि० कब्राजी नामक एक सिविलियन् महोदय कहते हैं कि प्लेग के समय निर्मल वायु का सेवन और हवादार वासगृह और सूर्य की किरणों के अधिक मात्रा मे प्रवेश करने पर प्लेग का प्रतिकार हो जाता है।

(ए) डाक्टर उड् का कथन है कि जनाकीर्ण गृह, प्रश्वसित वायु के निःश्वास द्वारा फिर ग्रहण की हुई वायु और रुकी हुई वायु से प्लेग संक्रमित होता है। अन्य समय की अपेक्षा प्लेग के आविर्भाव के समय चूहों की संख्या बढ जाती है। इस समय चूहे एकाएक मतवाले

हो जाते हैं। प्लेग के वीज वायुमण्डल के ऊपरीस्तर मे उड़ नहीं सकते हैं। मृत्तिका ही प्लेग के बीज का श्रेष्ठ संक्रमण क्षेत्र है। इसलिये प्लेग के समय नगे पैर मिट्टी के ऊपर भ्रमण नहीं करना चाहिये।

प्लेग के सम्बन्ध मे अनेक प्राज्ञ चिकित्सकों के अनेक मत हैं। इनके मत का वर्णन करने से प्लेग का पूर्ण परिचय हो जाता है और भी वहुत से मत अवशिष्ट रह गये हैं जिनका वर्णन अधिकता के कारण नहीं किया जा सका। विभिन्न मत होते हुए भी प्लेग की सक्रामकता के सम्बन्ध मे वड़े-वड़े चिकित्सकों का भी एक ही मत है। इसलिये मत मे विभिन्नता होने पर वे इस वात को स्वीकार करते हैं कि यह रोग सव स्थानों मे संक्रामक और वहुव्यापक नहीं होता है। प्राचीन काल से लेकर आजतक प्लेग से जितने मनुग्यों की मृत्यु हुई है, इस तरह और किसी महामारी से मृत्यु नहीं हुई है। संक्रामक न होने पर रोग की व्यापकता मे वृद्धि नहीं होती और व्यापकता मे वृद्धि न होने पर मृत्यु की सख्या भी अधिक नहीं होती। इस साधारण सत्य के अनुसार हिसाव करके देख। इस महामारी के प्रकोप काल मे सव को सावधान रहना उचित है। अव पाठक वर्ग के हित के लिये वहुत से पालनीय नियम नीचे लिखे जावंगे। इनके अनुसार चलने पर वहुतों की इस भीपण समय मे अकाल मृत्यु और व्याधि के आक्रमण से आत्मरक्षा हो सकती है।

प्लेग में आत्मरक्षा के उपाय

व्यक्तिगत पालनीय नियम निम्नलिखित है—

(१) प्लेग से आक्रान्त गाव मे नंगे पैर घूमना विपत्तिजनक है। मिट्टी के ऊपर खाली पैर पड़ना उचित नहीं है। मिट्टी के मध्य से विप फैलता है, ऐसा मन मे ध्यान रखना उचित है।

(२) अनाहार, थोडा भोजन और अकारण क्षुधा और प्यास के वेग को रोकना वडा अनुचित है। खाली पेट होने पर कभी भी क्षुधा को नहीं सहन करना चाहिये। सहज से पचने वाला और

पुष्टिकारक भोजन, नियमित समय में खाद्य का ग्रहण और उपवास का त्याग करना प्रत्येक अवस्था में उचित है।

(३) साधारण रीति से परिश्रम करना छोड़ देवें। अधिक परिश्रम अथवा रात्रि में जागना जिससे शारीरिक क्लान्ति और मानसिक अवसाद उत्पन्न हो, ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये।

(४) शरीर के किसी स्थान में शोणित जिस रीति से अपचित न हो, ऐसा करना चाहिये। कोई स्थान कट जाय अथवा छिल जाय तो चिकित्सा से उसको जल्दी अच्छा करें। कारण यह है कि त्वचा के ऊपर जो क्षत हो जाता है, उसके द्वारा प्लेग का विष सहज ही शरीर में प्रवेश कर जाता है, ऐसा सदा मन में रखना आवश्यक है।

(५) जो खाद्य स्वास्थ्य के लिये उपयोगी न हो उसका त्याग कर देवें। सड़ा हुआ अथवा वासी मछली का मास और वासी भोजन का परित्याग कर देवे। दिन में गात्र में अधिक धूप लगने दें और अधिक परिश्रम करने के वाद शरीर में जब पसीना निकलने लगे उस समय सहसा परिवर्तन नहीं करना चाहिये। रात्रि में शरीर खुला रख कर सोना नहीं चाहिये। खुले हुये शरीर में ठंड लगना भी अच्छा नहीं है। यहां तक कि शरीर में किसी प्रकार की ठंढ न लगे, ऐसा उद्योग करना चाहिये।

(६) प्लेग रोग का मुख्य प्रतिषेधक प्रतिच्छन्नता ही है और शरीर को सदा प्रतिच्छन्न रखना चाहिये। हल्के परिश्रम से शरीर को आलस्य रहित और कार्य करनेवाला वनाना चाहिये। कारण यह है कि सामान्य परिश्रम से शरीर का क्लेदादि पसीना द्वारा निकल जाता है। वस्त्र, विछौने मैले हो जाने पर धोबी के यहा डाल देवें। मलीन और पसीना से भिगे हुए कपड़े कभी भी नहीं पहनना चाहिये।

(७) सूर्य के किरण से सब प्रकार के क्लेद और दूपित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये पहनने के वस्त्र और विछौना, चादर, तकिया आदि को प्रतिदिन धूप में डालते रहना चाहिये। शय्या, वस्त्र आदि

में अथवा तकिया के खोल आदि में मैल जम जाय तो साबुन से उसको घर में ही धो लेवें।

(८) त्वचा की प्रतिच्छन्नता के लिये विशेष दृष्टि रखनी चाहिये। परीक्षा द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि सर्षप का तेल मर्दन करना प्लेग की संक्रामकता से आंशिक रक्षा करता है। स्नान के पहले सब अङ्गों में सरसों का तेल अच्छी तरह मालिश करनी चाहिये। छोटे-छोटे गावों से शुद्ध सरसों का तेल लाना चाहिये अथवा अपने सामने ही कोल्हू से तेल निकलवाना चाहिये। बाजार में मिला हुआ अशुद्ध तेल मिलता है जो अच्छा नहीं होता है।

(९) यदि अभ्यास होवे तो मध्य-मध्य में साबुन आदि से शरीर का क्लेद दूर करना चाहिये। हाथ-पैर आदि धोने के लिये कार्बोलिक साबुन व्यवहार करना चाहिये। जिस समय पसीना अथवा धूलि से शरीर ढँका हुआ मालूम होवे अथवा शरीर की त्वचा में अस्वच्छता प्रतीत हो उस समय अवसर पाकर अंगौछा से शरीर का क्लेदादि पोंछ डालें।

(१०) बाहर त्वचा के ऊपर लगा हुआ मैल का परिष्कार करना आवश्यक है। कारण यह है कि बाह्य मल साफ किये बिना अन्दर का क्लेद बाहर नहीं निकल सकता है। इसलिये इसके प्रति विशेष दृष्टि रखनी चाहिये, शोणित का क्लेद स्वेद रूप से और देह के आभ्यन्तरीय दूषित पदार्थ मल-मूत्रादि के साथ बाहर निकलते हैं। इसलिये कोष्ठ-शुद्धि भी रखना आवश्यक है।

(११) नियमित रूप से कोष्ठ-शुद्धि न होने पर मध्य-मध्य में निर्दोष मृदु विरेचक की सहायता से उसका परिष्कार करना चाहिये।

(१२) दूध आदि को अग्नि में खूब पकाकर पीना चाहिये। सुना गया है कि इस रोग में पियाज अधिक गुणकारी है। अत जिनको पलाण्डु खाने का अभ्यास है वे पलाण्डु मिश्रित शाक खावें या चटनी मे डालकर खायँ। अम्ल मधु-फलों को खाएँ और घर में घृत से पके हुए द्रव्यादि को खाना चाहिये। कपूर मिश्रित जल पीना चाहिये ऐसा करने से प्लेग रोग का आक्रमण नहीं हो सकता है।

(१३) तृष्णा से पीड़ित होकर स्नान का जल नहीं पीना चाहिये। बालक-बालिकाओं को स्नान कराने के पहले उनके शरीर में सरसों का तेल मालिश करके स्नान कराना चाहिये। परिवार के स्त्री, पुरुष, दास, दासी सबको स्वास्थ्य के सम्बन्ध में और परिच्छन्नता की तरफ दृष्टि रखनी चाहिये।

(१४) बहुत-से मनुष्य जिस मकान में रहते हों ऐसे मकान को छोड़ देवें। प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल शुद्ध वायु का सेवन करना चाहिये। घर में प्रतिदिन गूगल, गन्धक आदि की धुनी देनी चाहिये। घर को साफ रखें और नैफ्थेलीन का प्रयोग करें।

(१५) इस समय बाजार की मिठाई आदि कोई वस्तु न खावें। क्योंकि उनमें रास्ते की धूलि आदि दूषित पदार्थ हवा से उड़कर पड़ जाते हैं। इन सब में रोग के बीज होते हैं। इसलिये जल पीने के लिये घर में मिठाई आदि बनवा कर ही रख लेवें तो सुविधा होगी।

नोट—प्लेग का टीका कम से कम ६ मास के लिये और अधिक-से-अधिक एक वर्ष भर के लिये प्लेग सम्बन्धी रोग-क्षमता देता है। इसलिये जब प्लेग फैले तब टीका अवश्य लगवा लेवें। प्लेग का मौसम ६ मास से अधिक नहीं होता है और टीका का प्रभाव ६ मास के बाद भी कुछ न कुछ रहता ही है। अतः एक टीका काफी है।

(१६) निमन्त्रण प्रभृति स्थलों में रात्रि में जागना, नृत्य गीतादिकों में अधिक रात्रि तक ठहरना, सहसा ठंढक लगना और सुरापान प्रभृति निन्दित कामों को त्याग देना चाहिये।

(१७) प्लेग का विष अधिकतर अन्धेरे और गीले स्थानों में रहता है। इसलिये अन्धकार पूर्ण स्थानों में सूर्य की रोशनी के प्रवेश करने के लिये बन्दोबस्त करना चाहिये। मकान में मैला जल, कूड़ा आदि न इकट्ठा होने पावे ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये।

(१८) यह प्रचलित प्रवाद है कि चूहे एक मकान से दूसरे मकान में प्लेग के बीज ले जाते हैं। यदि मकान में चूहा मर जाय, तो शीघ्र ही घर खाली कर देवें और फिनैल आदि संक्रामक रोग-

नाशक द्रव्यों से अच्छी तरह उस संक्रामकता का नाश करें। घर की काष्ठादि वस्तुओं के ऊपर परिष्कार करने के पहले, कार्बोलिक ऐसिड, फेनैल आदि का द्रव थोड़ा-थोडा छोड देवें। घर के वर्तन, चौकी, खाट, कपडा आदि प्रतिदिन दो घण्टा धूप मे सुखावें। मरा हुआ चूहा हाथ से नहीं छूना चाहिये चिमटा से उठाकर मकान के वाहर मट्टी का तेल डालकर जला देवें।

(१९) पाखाना, नावदान आदि को साफ रखें। थोड़ा-थोड़ा क्लोरेट आफ् लाइम् इनमें छोड देवें। कार्बोलिक ऐसिड, फेनैल आदि अधिक मात्रा में नावदान मे डालने की आवश्यकता नहीं है कारण यह है कि इस पीड़ा के साथ नावदान का कोई सम्वन्ध नहीं है।

(२०) वम्बई आदि शहरों मे देखा गया है जो गरीव लोग रात्रि मे घर के वाहर घूमते हैं, उनमे प्लेग वहुत कम फैलता है किन्तु; जो अधिक आदमियों से भरे हुए मकान मे रात्रि काटते हैं उनमे रोग का शीघ्र ही विस्तार होता है। इसलिऐ निश्चय करके सोने के घर के दरवाज़ा, खिड़की, झरोखा दिन-रात्रि खुला रखना चाहिये। यदि वायु ठीक न आती हो, तो उसका वन्दोवस्त करना चाहिये। तख्त की अपेक्षा खाट पर सोना अधिक अच्छा है। इससे वीमार होने की कम सम्भावना रहती है।

(२१) प्लेग-रोग का वीज अधिकतर कटे हुए स्थान, घाव और छिले हुए स्थानों से शरीर के अन्दर प्रवेश करता है। शरीर का कोई स्थान कट जावे या खुरच जावे तो कार्वोलिक एसिड आदि सक्रमण नाशक औषधों से धोकर क्षत को सुखाने वाला मलहम लगाये रखना उचित है। प्लेग रोगी की सुश्रूषा करने के समय जूता पहने रहना आवश्यकीय है और रोगी के घर से वाहर आने के समय फेनैल, कार्वोलिक एसिड् इत्यादि के द्रव से हाथ-पैर धो डालना चाहिये।

(२२) स्वास्थ्य रक्षा के उपाय कराने पर लोगों को साफ परिच्छन्न रहना आवश्यक है। यह समझदार आदमी तो स्वयं जानते ही हैं। किन्तु दास-दासी भी, अपने शरीर और कपडा आदि को साफ रखें, इस विषय मे दृष्टि रखनी चाहिये।

(२३) मकान के अन्यान्य लोगों की अपेक्षा नीची जाति के नौकर ही इस रोग से अधिक आक्रान्त होते हैं। अत दास-दासियों को मैले घर में न रहने देकर अपने मकान मे ही रखे। घर का मालिक स्वयं प्रतिदिन उनका वासस्थान देख लेवें और उस स्थान को परिष्कृत रखें। नौकरों को खाट पर सोने का बन्दोवस्त कर देवें।

(२४) मकान में रोग फैलते ही उसी समय डाक्टर या वैद्य को बुलाना चाहिये। यदि पीडा सन्देहजनक मालूम हो, तो शीघ्र ही स्वास्थ्य विभाग मे सूचना देवें।

(२५) प्लेग से आक्रान्त हुए रोगी के पास बिना कार्य के न जावें। यहाँतक कि उसके रहने के घर के पास भी न जावें। रोगी को एक बार छूने अथवा उसके घर मे जाने पर ही प्लेग हो जाता है, ऐसा समझना भी भूल है। सैकडों चिकित्सक, सैकडों परिचारक सदा-सर्वदा प्लेग रोगी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु; रोग से आक्रान्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि जो लोग अस्पताल में काम करते हैं, वे खुले हुए हवादार मकान में रहते हैं, साथ ही साफ और परिच्छन्न भी रहते हैं। ऐसे स्थल मे स्वस्थ व्यक्ति के जाने अथवा रोगी के पास आने में कोई शंका नही है। किन्तु; रोगी ऐसे स्थान मे रहता है कि जहां वायु अच्छी तरह प्रवेश न हो, अच्छा प्रकाश न हो और मैला-संकीर्ण स्थान हो तो उस स्थान में रोग संक्रमण की अधिक सम्भावना रहती है।

(२६) यदि किसी प्लेग से आक्रान्त रोगी को स्पर्श करने पर मन में किसी प्रकार का सन्देह हो अथवा सन्देह न हो तो भी सावधानी-पूर्वक उसी समय अपने दोनों हाथों और पहनने के वस्त्रों को शोधित कर लेवें। इसके लिये खूब गरम किये हुए जल से भी काम चल सकता है, अतः गरम जल से हाथों और कपडों को धोलें। इससे सन्देह दूर हो जाता है। अथवा कार्वोलिक एसिड् के जल में हाथ धोने से सर्वोत्कृष्ट रूप से संशोधन हो जाता है। इसके लिये एक औंस कार्वोलिक ऐसिड्, दो बोतल जल में मिला देवें। यह

संशोधन के लिये उपयुक्त होता है। हाथ-पैर धोने के लिये सदा कार्वोलिक साबुन का व्यवहार करना चाहिये।

कुक्कुरकास

(Whooping cough)

पर्याय—कुक्कुरखाँसी, कालीखांसी, हूपिंगकफ, पर्टूसिस्।

निरुक्ति—यह जनपदव्यापक तीव्र संक्रामक रोग है। इसमें कुछ समय लगातार शुष्ककास आता है। उस समय आतुर को श्वास लेने का मौका भी नहीं मिलता है। जब श्वास लेता है तब गम्भीर-ऊंचा. अव्यक्त शब्द होता है। इन सब का कारण यह है कि श्वास-मार्ग की श्लैष्मिक-कला में विशेष शोथ हो जाता है और उसके साथ उसकी अन्तिम नाडी के अथवा सम्भवत. प्राणदानाड़ी (वागस) के मूल की चेतना अधिक होने से प्रतिश्याययुक्त शुष्क कास होता है। इसको कुक्कुरखांसी कहते हैं।

नामकरण संस्कार

रोगी वार-वार जब श्वास लेता है, तो इसको वलपूर्वक एक वार अन्दर को खींचता है। किन्तु वायु की नली के संकुचित होने से और वायु के एकवारगी प्रवेश करने से एक सूखा शब्द हू ३ (हूप् Whoop) होता है। इसी कारण इसको हूपिंग कफ कहते हैं। इसका आक्रमण वाल्यावस्था में दो से वारह वर्ष तक अधिक होता है। युवा व्यक्तियों में भी कभी-कभी देखा जाता है। गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक होता है। एकवार रोग का आक्रमण हो जाने पर जीवनपर्यन्त तक प्राय. फिर नहीं होता है। पाच वर्ष से कम उम्रवाले वालकों के लिये कभी-कभी यह सांघातिक हो जाता है। शवच्छेद करने पर श्वासनली में शोथ के चिह्न मिलते हैं और कोई चिह्न नहीं मिलता है। यह पीडा स्पर्शाक्रामक भी है।

कारण

जहाँ तक अनुमान है, इसका प्रधान कारण, वैसिलस् परटिस्यूज नामक जीवाणु है। इसका कारण यह है, कि अभी तक इसके

असली जीवाणु के सम्बन्ध में सन्देह ही है। यह जीवाणु रोगी के कफ, थूक और रोगी का व्यवहार किया हुआ रूमाल, वस्त्र आदि मे सदा रहता है। पीड़ा का संक्रमण रोगी के साथ उठने-बैठनेवाले से होता है। आतुर के थूक, कफ और श्वास में निकला हुआ जीवाणु उसके साथ रहने वाले व्यक्ति के श्वास द्वारा अन्दर जाकर रोग पैदा कर देता है। कभी-कभी यह दूषित पदार्थों के द्वारा भी फैलता है। इसके सहायक कारण अहित आहार-विहार, गन्दी वायु, गन्दे स्थान और थोड़ी जगह मे बहुजनों का वास आदि है।

सम्प्राप्ति

वायुप्रणाली और वारीक वायुनलियों में सूजन हो जाती है और वे कभी-कभी रक्तमय भी हो जाती है। जीवाणु का विष वायु-प्रणालियों की श्लैष्मिक कला में क्षोभ उत्पन्न कर देता है। इससे लगातार सूखी खाँसी आने पर हू-हू-हू शब्द होता है। इसमें श्वेताणु १५ से ३० हजार तक वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं और क्षुद्रलसीकाओं का निपात भी वृद्धियुक्त हो जाता है।

रोग का स्थायित्व काल

इस रोग की गुप्तावस्था दो से चार दिन तक रहती है। परिपाक-काल बारह से पन्द्रह दिन तक और अन्तिम सीमा चार दिन से इक्कीस दिन तक है। प्रतिश्याय की अवस्था सात दिन से चौदह दिन तक तथा आक्षेपावस्था चार सप्ताह तक है।

इस रोगको तीन अवस्थाओं मे विभक्त कर सकते हैं।

प्रथमावस्था—प्रतिश्यायिक अवस्था (कैटरेलस्टेज़)—इसमें किसी-किसी रोगी को धीरे-धीरे प्रतिश्याय के लक्षण होते हैं, कभी-कभी सहसा ज्वर १०० से १०१ डिग्री तक हो जाता है, कष्ट-जनक खाँसी आती है और खाँसने के बाद जल के समान श्लेष्मा निकल पडता है और प्रतिश्याय अधिक होने के कारण वह बहता रहता है। इस अवस्था को तीव्र प्रतिश्याययुक्त कास से अलग करना

असम्भव है। यह अवस्था एक सप्ताह से दो सप्ताह तक रहती है। खाँसी धीरे-धीरे बढ़कर वातकास का स्वरूप धारण कर लेती है।

विशेष आक्षेपयुक्त हूरे हूरे शब्द युक्त कास-वेग—इसमे वायुजन्य खाँसी के दौरे आने लगते हैं। खाँसी का दौरा बराबर दो या तीन मिनट तक रहता है। कभी-कभी इससे भी देर तक खाँसी आती रहती है। जब खाँसी आने वाली होती है, तो उसके पहले ही आतुर को अधिकतर ज्ञान हो जाता है। यदि रोगी निद्रावस्था मे है तो उठकर बैठ जाता है और किसी वस्तु को पकड़ लेता है। क्योंकि कास के वेग काल मे उसको किसी वस्तु के सहारा की आवश्यकता होती है। पानी पीने के बाद, हँसने, बोलने और लम्बी श्वास लेने पर खाँसी का दौरा शुरू हो जाता है। रोग की वृद्धि के अनुसार वेग लम्बे होने लगते है और वह वेग १०-१५ मिनट तक स्थायी रहता है। इस मध्य मे कास के छोटे-छोटे झटके एक दूसरे के पीछे जल्दी-जल्दी आने लगते है। वे १५ सेकण्ड से लेकर १ मिनट तक रहते हैं। यहाँ तक कि ५०-६० दौरे आते है। इसके बाद आतुर श्वास को अन्दर खींच लेता है। ऐसा पांच-सात बार लगातार होने के बाद गाढा, चिकना कफ थोडी मात्रा मे निकल पडता है। अथवा वमन हो जाता है। जिससे रोगी को कुछ देर के लिये आराम मिल जाता है। इसमे मुख लाल या नीला हो जाता है। आँख बाहर को मानो निकल पडी हों, ऐसा अनुभव होता है। इसके साथ-साथ नेत्रों से आँसू निकल पडते हैं, नाडियाँ फूल जाती है और शरीर शीतल स्वेद से तर हो जाता है। जब बार-बार इसी भाँति दौरे आने लगते हैं तो ग्रीवा की शिराएँ फूल जाती हैं और श्वास रुका हुआ-सा रहता है। किसी-किसी स्थल पर तेज दौरे के कारण नासिका से रक्त निकलने लगता है। कभी जिह्वा मे क्षत हो जाता है और कभी-कभी खाँसी के बाद उदरच्छद (पेक्टोरेल) पेशी मे अत्यन्त वेदना होती है। कभी-कभी खाँसी इतनी प्रबल आती है कि कर्ण पटह फट जाता है, जिससे कर्ण से रक्त निकलने लगता है और बेहोशी मे पाखाना-पेशाब भी

हो जाता है। रोग साघातिक हो जाता है तथा ज्वर वर्तमान रहने लगता है और ज्वर का स्वभाव विभिन्न हो जाता है। अनियमित काल के व्यवधान में सहसा स्वल्प स्थायी ज्वर का वेग होता है। सम्पूर्ण खाँसी के दौरे की अवस्था में स्थायी सन्तत ज्वर तथा स्थायी विषमज्वर पैदा हो जाता है। प्रातः काल में ज्वर की अधिकता और सायंकाल मे ज्वर की कमी देखी जाती है। मस्तिष्क की धमनियों के फट जाने से रोगी बेहोश हो जाता है। उसको कम्प और आक्षेप होने लगते हैं। किसी-किसी स्थल पर श्वास के अवरुद्ध हो जाने से रोगी सदा के लिये ससार से चल बसता है। जब दौरा बहुत देर तक ठहरता है तब फेफड़े के वायु कोष फैल जाते हैं। दौरे मे उरः परीक्षा करने पर सब जगह कूजनशब्द सुन पडता है। वायुकोष कुछ फैले हुए-से प्रतीत होते हैं। यह दशा २१-७० दिन के मध्य मे जब कभी भी हो सकती है और यह गर्मी की अपेक्षा शीत काल मे अधिक देर तक रहती है।

तृतीयावस्था—इसमें कास, कास के वेग की सख्या और कास की आक्षेपक संयुक्त दशा क्रमशः छिपने लगती है। खाँसी के साथ वमन नहीं होता है, धीरे-धीरे आतुर बलवान् होने लगता है। किन्तु रोग शान्त हो जाने पर भी स्वस्थावस्था चिरकाल में आती है।

उपसर्ग

इस रोग मे श्वासयंत्र में अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। यथा—फुफ्फुस शोथ, श्वासनली शोथ, परिफुफ्फुसीया-कला शोथ (प्लूरिसी) राजयक्ष्मा होते हैं। इसके सिवाय मस्तिष्क में रक्त संग्रह, शिरोवर जल रोग (हाइड्रोकेफेलस), आक्षेप प्रभृति हो जाते है। इन उपसर्गों के उपस्थित होने पर रोग साघातिक हो जाता है।

रोगनिर्णय

प्रथमावस्था मे सामान्य प्रतिश्याय से प्रभेद करना कठिन है। किन्तु द्वितीयावस्था मे रोग निर्देशक हूप शब्द के प्रकाशित होने पर रोगनिर्णय करने मे कोई भ्रम नहीं रहता है। काली खाँसी वाले रोगी का

सहवास ज्ञात होने पर भी निश्चित हो जाता है। कोई-कोई चिकित्सक कहते हैं कि मूत्र का वर्ण अत्यन्त लघु होता है और उसका आपेक्षिक गुरुत्व (स्पेसिफिक्ग्रेविटी) अधिक बढ जाता है। रक्त परीक्षा से श्वेताणुओं की वृद्धि और उनमे छोटे-छोटे लसीकाणुओं की निपात से वृद्धि देखी जाती है।

भावीफल

अनेक स्थलों मे रोग का भावीफल अच्छा होता है। किन्तु इसको सदा मामान्य पीडा न समझें। सन् १८७७ में इङ्गलैंड मे इससे १'३१४ मनुष्यों की मृत्यु हुई थी। यदि रोगी दुर्बल, राजयक्ष्मा से पीडित, अस्थि कोमलता (रिकेट्स) के स्वभाव से युक्त और मस्तिष्क जलवृद्धि (हाइड्रोकेफेलस्) से ग्रस्त होता है। कैशिक श्वासनली शोथ (कैपिलरीब्रोंकाइटिस) अथवा वात श्लैष्मिक ज्वर (इन्फ्लुएञ्जा) के बाद यह रोग प्रकट होता है अथवा श्वास नलीशोथ वा कैशिक श्वास-नलीशोथ उपद्रव रूप से उपस्थित होते हैं और आक्षेप भी बढ जाता है तथा गले का छिद्र आक्षेप से सिकुड जाता है तथा मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षण प्रकाशित हो, तो भावीफल मंगलकारी होता है।

चिकित्सा

यदि किसी गॉव या नगर मे यह रोग उत्पन्न हो जावे, तो बालक को दूसरे स्थान मे पहुचा देवें अथवा बीमार बालकों के साथ स्वस्थ बालक को न खेलने देवें, उनसे सदा बचावे। शुद्ध हवादार कमरे मे बालक को रखें, ठंढक न लगने पावे। यदि जाडा अधिक पडता हो तो घर मे अंगीठी आदि जला कर घर को गरम रखना चाहिये। कभी कब्जी न होने पावे, इसके लिये कोष्ठ शुद्धि के प्रति विशेष ध्यान रखें और लघु, सुपाच्य, बलकारक आहार देवें।

यथोक्तं चरके—

वास्तुको वायसी शाक मूलक सुनिषण्णकम्,
ग्राम्यानूपोदके शालि यवगोधूम षष्टिकान्।
रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान्॥

कण्टकार्यादि क्वाथ

छोटी कटेली, गिलोय, ब्रह्मदण्डी की जड़ की छाल, सोंठ, इन्द्रजव, जवासा, चिरायता, लाल चन्दन, मोथा, पटोलपत्र और कुटकी लें।

विधि—सबको मिलाकर २ तोला लेकर ३२ तोला जल में पकावें। ८ तोला जब क्वाथ रह जावे तब छानकर कुछ गरम-गरम ही सायं-प्रात: पिलावें। इससे काली खाँसी का वेग शान्त हो जाता है। साथ में यदि ज्वर होगा तो वह भी अच्छा हो जायगा और कोष्ठ की शुद्धि भी होगी। इसके साथ-साथ रोगी को एक-एक घंटा के बाद क्रान्तिक्षार ४ रत्ती, लवङ्गादि वटी २ इनको मिलाकर मधु के साथ चटावें।

कट्फलादि क्वाथ

कायफल, गन्धतृण (मिरचियागंध वा जराकुश), ब्रह्मदण्डी, मोथा, धनियां, मीठीवच, हरड, सोंठ, पित्तपापड़ा, काकडासिंगी, देवदारु, मिलित २ तोले लेकर ३२ तोले जल में पकावें। जब ८ तोला शेष जल रह जावे, तब उसको छान कर इसमें भूनी हुई हींग और मधु का प्रक्षेप कर पिलावें। इससे काली खाँसी अच्छी हो जाती है। (मै० र०)

पौष्करमूलादि क्वाथ

पुष्करमूल ३ माशा, कट्फल ३ माशा, ब्रह्मदण्डी ३ माशा, पिप्पली ३ माशा, सोंठ ३ माशा इनको कूट कर ३२ तोले पानी में पकावें। शेष क्वाथ ८ तोला रहे तब इसको छान कर मधु मिला कर पीवें। इससे भी काली खाँसी नष्ट होती है। (मै० र०)

कण्टक्यादि-अवलेह

कराटकारी का पञ्चाङ्ग पाँच सेर लेकर २० सेर जल में पकावें। जब चतुर्थांश जल रह जावे, तब उसको उतार कर छान लेवें। फिर गुडुची ५ सेर का २० सेर जल में क्वाथ कर, जब ५ सेर क्वाथ शेष रहे तब उसको भी छान लेवें। फिर दोनों क्वाथों को कड़ाही में डालकर पकावें। जब आधा क्वाथ रह जावे तब उसमें नीचे लिखी हुई दवाइयां

डालें। कूजा मिश्री ३।। सेर, पोहकर मूल ३ तोला, तेजपत्र ३ तोला, लौंग ३ तोला, नागरमोथा ३ तोला, ब्रह्मदण्डी ३ तोला, जावित्री ३ तोला, छोटी कटेली के फूल ३ तोला, जायफल ३ तोला, अर्कपुष्प ३ तोला, सोंठ ३ तोला, धनियां ३ तोला, छोटी इलायची ४ तोला, दालचीनी ५ तोला, काकडासिंगी ५ तोला, संगजरात भस्म १० तोला, पीपल १० तोला, वंशलोचन १० तोला, सफेद मिर्च ६ तोला, शुद्ध शिलाजीत ८ तोला।

विधि—पहले क्वाथ में मिश्री की चासनी बनाकर फिर काष्ठौषधियों के छने हुये चूर्ण को घी में भून कर चासनी में मिला दें। बाद में संगजराहत भस्म, शिलाजीत और वंशलोचन के चूर्ण डालें, जब अवलेहवत् हो जाये तब उतार लें और शीतल हो जाने पर उसमें आधा सेर मधु मिला दें। (यो० र०)

मात्रा—½ तोला से १ तोला तक।

अनुपान—मधु। यह दवा काली खाँसी के लिये बहुत उत्तम है। बराबर एक मास तक इसका सेवन करें।

करवीर भस्म

कनैल के पत्ते १ सेर लेकर उसमें पीपल १ छटांक, कालीमिर्च १ छटाँक, सोंठ १ छटाँक, अजवाइन १ छटाँक सबको एकत्र मिलाकर हाडी में भर, कण्डों में फूँक देंवे, जब भस्म हो जाय तब हाडी से निकालकर १ रत्ती की मात्रा में पान पर रखकर खिलावें, इससे यह खाँसी दूर हो जाती है।

कदली भस्म

केले के सूखे पत्तों को जला कर भस्म कर लेवे। इसकी मात्रा ३ माशा है। मधु के साथ चटावें इससे भी कास नष्ट होता है।

क्षुद्र पुष्प-प्रयोगः

छोटी कटेली के फूलों के अन्दर जो जीरे के तुल्य पीले-पीले जीरे होते हैं, उनको ४-८ रत्ती तक लेकर पीसकर छोटे-छोटे बच्चों को शहद के

साथ चटावे। इससे बहुत जल्दी काली खाँसी दूर हो जाती है। इसीभांति पियावाँसा (सहचर) के पञ्चाङ्ग लेकर भस्म कर लेवे। इसको मधु से चटाव इससे भी कास दूर होता है। यूकेलिप्टस् तल, कार्वोलिक् एसिड् और क्रियाजोट के श्वास से विशेप उपकार होता है। कास के लिये नीचे लिखी हुई व्यवस्था करें।

वाइनम् एपीकॉक	२० बूँद (मिनिम)
वाइनम् एन्टीमन्	१ ड्राम
टिंचरओपियाई कैम्फर	४० बूँद
सिरप	४ ड्राम
परिस्रुत जल	२ औंस

विधि—इनको एक मे मिलाकर एक ड्राम की मात्रा मे चार घण्टे का अन्तर देकर प्रयोग करें, इससे बहुत लाभ होता है। वक्षःस्थल पर प्रत्युग्रता साधक मर्दन और रात्रि मे एमन्ब्रोमाइड् का प्रयोग उपयोगी है।

द्वितीय-अवस्था मे आक्षेप निवारक सम्पूर्ण औपधो का व्यवहार करें। ब्रोमाइड्, बेलाडोना, हाइड्रोसियानिक एसिड, क्लोरेल, क्लोरिक ईथर प्रभृति ओपधियों का व्यवहार होता है।

धूम्रप्रयोग—धतूरे के पत्ते को सूखाकर उसकी बीडी बनाकर पीवे। दिन मे दो बार पीवे अथवा खासी के दौरे के समय पीवे। एक वर्ष के बालक के लिये लाइकर एट्रोपिया सल्फेट ½ मिनम (बूँद) की मात्रा मे दिन मे तीन बार देवें। जब तक शरीर मे इसकी क्रिया की वृद्धि न हो, तबतक दो दिन का अन्तर देकर ¼ मिनम से मात्रा मे वृद्धि करे। इसके साथ ½ ग्रेन और सात दिन के बाद ¼ ग्रेन की मात्रा मे सल्फेट् आफ् जिङ्क का प्रयोग उपकार करता है।

डा० कोप्टा इस रोग मे सल्फेट किनाइन की पूर्ण मात्रा मे ब्रोमाइड और क्लोरेल इनको एक में मिलाकर प्रयोग करने से विशेष लाभ बतलाते हैं और इसके साथ अधोलिखित स्प्रे (Spray) का व्यवहार करने के लिये कहते हैं। सोडियम् ब्रोमाइड २० बूँद, एक्स्ट्राक्ट् बेलाडोनी फ्लूइड २ बूँद, परिस्रुत जल २½ तोला, मिश्रित करके स्प्रे (Spray) के रूप मे

व्यवहार करे । इस रोग मे हाइड्रोसियानिक एसिड् विशेष फलप्रद है। वेलाडोना अथवा कोनियम का अरिष्ट और इपीकाकुआना के संयोग से हाइड्रोसियानिक एसिड का प्रयोग उपयोगी है। कास के प्रवल वेग को शान्त करने के लिये कनकासव (भै० र०) ½ तोला पीवे।

मर्दन—पृष्ठवश मे चञ्चल क्षार (एमोनिया), धतूरा वा वेलाडोना का मर्दन अच्छा है।

आभ्यन्तरिक प्रयोग—ब्रोमाइड आफ् पोटासियम, हाइड्रेट् आफ् क्लोरल, एलम् प्रभृति का है।

श्वास—कार्वोलिकाम्ल का श्वास मे व्यवहृत होता है। कोई चिकित्सक इसमे कुनीन की प्रशंसा करते और कोई नत्रिकाम्ल (नाई-ट्रिक एसिड) की इसमे प्रशसा करते है। कोई एन्टीपायोसिस् सीरम् (रक्त-रस) से रोग की शान्ति करते हैं।

तीन वर्ष के बच्चे के लिये—हाइड्रोब्रोमिक एसिड् ८-१० बूँद की मात्रा से विवेचना पूर्वक प्रयोग करने से लाभ होता है। इस रोग मे एपोमार्फिया से भी उपकार होता है।

वैक्सीन चिकित्सा

इसमे वै० पर्ट्यूसिस के सिवाय वै० इन्फ्लूएञ्जा और न्यूमोकोकस भी रहते हैं। अत वैक्सीन मे इनका भी समावेश होता है, चिकित्सक के लिये जो हूपिंगकफवैक्सीन (P. D Co) प्रयुक्त होता है। इसके एक सी० सी० मे ५०० दशलक्ष वै० पर्ट्यूसिस्, १५० दशलक्ष वै० इन्फ्लूएञ्जा और १० लक्ष न्यूमोकोकस होते हैं। पाँच-छ साल के बच्चों को ⅒ सी० सी० त्वचा के नीचे दी जाती है। फिर दो दिन के बाद ³⁄₁₀ सी० सी०, ½ सी० सी०, ⁸⁄₁₀ सी० सी० और १ सी० सी० मात्रामें दी जाती है। इन पाँचों के वाद अन्त क्षेपण (इञ्जेक्शन) अथवा इञ्जेक्शन की जरूरत हो जाती है, तो १ सी० सी० की मात्रा में देवें। यदि वीच मे सूई से प्रतिक्रिया हो, तो एक सप्ताह तक दूसरी सूई न देकर पश्चात् पहिले से अधिक मात्रा मे उपयोग करें।

शोणितोपक्रम

सन्निवृत्त लसीका चिकित्सा का एक यह (वर्पालु) है। इसमें माता या पिता का जो पहले इस रोग से पीडित हो चुके हैं और जो रोग क्षम होने के कारण बालक के संसर्ग मे आने पर भी पीडित नहीं हुए, रक्त लेकर वह सेट्रेट छोटे बच्चे के लिये २० घ० सि० म० और बड़ों के लिये ८० घ० सि० म० की मात्रा मे आधा कर-करके दोनों ओर से नितम्बीय मे सूचिकावेध से दिया जाता है। दूसरे दिन दूसरी सूई लगाई जाती है, इसके बाद यदि आवश्यकता हो, तो तीसरे दिन तीसरी सूई लगाई जा सकती है। प्रायः दो बार सूई लगाने से बहुत लाभ हो जाता है।

रोहिणी (Diphtheria)

पर्याय—झूठी झिल्ली, डिफथीरिया, खुनाक प्रभृति।

निर्वाचन—इसमे गले की नली, स्वरयंत्र और श्वासनली मे सफेद-धुमैले वर्ण वाली बनावटी झिल्ली बन जाती है और शोथ भी हो जाता है। गले की नली मे विशेष अवस्था उत्पन्न हो जाती है और समीप की रस ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। विलक्षण रूप से सर्व अङ्गों मे अनेक रोग पैदा हो जाते हैं, दुर्बलता बढ जाती है। यह जन पद व्यापी तरुण संक्रामक पीडा है। इसमे शुक्लाण्ड प्रमेह (अल्ब्यूमिन्यूरिया) पक्षाघात, नाडीशूल प्रभृति पीडा उपसर्ग रूप मे प्रकट हो जाती है। इसका डिफ्थीरिया नाम इसलिये रक्खा है, कि इसमे डिफ्थीया (आवरण, कला या पतले चमड़े के टुकडे) के समान गले में झिल्ली हो जाती है।

निदान

यह कीटाणुजनित पीड़ा है। इस कीटाणु का नाम बैसिलस् (Bacillus Diphtheria) डिफ्थीरिया है। इसकी आकृति शलाकाकार है। आविष्कारक के अनुसार इसका दूसरा नाम क्लेब्स ल्यूफलर-बैसिलस् (Klebs Loftler Bacilus) है। इसके साथ अन्य कीटाणु स्टैप्टोकोकस भी अधिकतर बना रहता है। यह कीटाणु आतुर के कण्ठ और नासिका की श्लेष्मा मे स्थित रहता है और इन्ही स्थानों से वायु के

द्वारा अन्य व्यक्तियों के गले मे जाकर शोथ पैदा करता है। ये जीवाणु झिल्ली मे पाये जाते हैं। किन्तु ये रक्त अथवा देह के तन्तुओं मे भी वर्तमान होते हैं। ये रोग विषम सार्वाङ्गिक लक्षण उत्पन्न नहीं करते हैं। परन्तु जो स्थान इन जीवाणुओं से आक्रान्त होते हैं उन स्थानों मे इसकी तथा इसके वंश की वृद्धि होती है और उससे विप उत्पन्न होता है। यह विप शरीर के रक्त में जाकर सार्वाङ्गिक लक्षण पैदा करता है।

कीटाणु का रूप

ये कीटाणु देखने मे शलाकाकार अथवा वक्रदण्डाकार होते हैं। इनके दोनों किनारे गोल होते हैं। किसी-किसी का एक किनारा फैला हुआ भी होता है।

संक्रमण

रोगी के कफ, लाला और नासिका के मल से इसके कीटाणु वायु के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे जाते हैं। रोगी के वस्त्र, शरीर और समीप मे रखी हुई चीजों पर इसका कीटाणु रहता है। दीवारों पर चिपटा हुआ रह कर यह वहुतदिन तक जीवित रहता है। यदि रोगी को देखने के समय वैद्य के कण्ठ में रोगी की श्लेष्मा का कण आ जावे तो वैद्य को भी यह रोग हो जाता है। अत वहुत सावधान होकर इस रोगी को देखना चाहिये।

गोवत्स की डिफ्थीरिया से संक्रमण

गौ के वछडे मे भी यह रोग होता है। इस रोग से आक्रान्त वछडा जव गौ का दूध पीता है तव रोग का विप दूध मे चला जाता है और उस दूपित दूध के पीने से मनुष्यों तथा वच्चों को यह रोग हो जाता है। अधिकतर यह रोग बच्चों को ही होता है। ५ वर्ष से नीची उम्र वाले वच्चों को ८० फी सदी और ५-१० वर्ष की उम्र वाले वच्चों मे १७ फी सदी यह रोग होता है। युवापुरुषों मे ३ फी सदी यह रोग देखा जाता है।

सम्प्राप्ति

इससे आक्रान्त स्थान की श्लैष्मिक कला में जो पर्दा के आकार की विशेष अस्वाभाविक झिल्ली बन जाती है वह स्थानिक चिह्नमात्र है। इसका कारण यह है कि कीटाणु गले की नली की श्लैष्मिक झिल्ली पर आक्रमण करता है, जिससे गले की नली फूल कर लाल पड जाती है और कण्ठ की श्लैष्मिक झिल्ली की कलें (सेल्स) नष्ट हो जाती हैं और स्राव निकलकर जम जाता है। स्राव के जम जाने से और उसमें मृत कलों (सेलों) के श्वेत कण और रक्तकण आ जाने के कारण एक झिल्ली बन जाती है। यह झिल्ली मलाईदार-सफेद-मजबूत और चमकीली दिखलाई देने लगती है। यह फैल कर श्वासनली, स्वरयंत्र, ग्रसनिका (फेरिंक्स) प्रभृति स्थानों तक फैल जाती है। इस झिल्ली के कई स्तर जम जाते हैं। झिल्ली आरम्भ में मलाई के तुल्य कोमल होकर फिर धीरे-धीरे दृढ, कठिन और हल्दी के समान पीले रंग की हो जाती है। रोग के अत्यन्त बढ जाने से झिल्ली काली पड़ जाती है। इस झिल्ली में अनेक कीटाणु देखे जाते हैं। इस झिल्ली के खण्ड बाहर निकल कर रोग को विस्तृत करने में कारण होते हैं। इस झिल्ली से व्याधि के आक्रमण का ज्ञान होता है। झिल्ली जितनी अधिक होगी, रोग उतना ही भयंकर होता है और उसी के अनुसार विष की अधिकता भी होती है। विष रक्त में विलीन होकर सार्वाङ्गिक लक्षण उत्पन्न करता है। हृदय पर विष का प्रभाव पड़ने से हृदय की मांस-पेशियाँ क्षीण हो जाती हैं। हृदय विस्तृत हो जाता है और हृदय की गति के बन्द हो जाने का भय रहता है। नाड़ी संस्थान, फेफड़ा तथा वृक्क पर इसका प्रभाव अधिक पडता है।

कृत्रिमकला की आणुवीक्षणिक परीक्षा

अणुवीक्षण यंत्र से कृत्रिम झिल्ली की परीक्षा करने पर उसमें पूयकोष, उपत्वक् सम्बन्धी अंकुर, दैहिकसूत्र और रक्तकण देखे जाते हैं। कभी-कभी बढ़े हुए उद्भिद् तत्त्व भी देखे जाते हैं। आवरण के उठ जाने पर

भी ३-४ वार तक नकली झिल्ली बन जाती है। इस रोग का स्थायित्व ३-२४ दिन तक रहता है। पूर्वोक्त स्थानों के अतिरिक्त यह झिल्ली चक्षु, योनि, भग, मणि, गुद आदि की त्वचा पर भी देखी जाती है। प्रसव के बाद प्रसव पथ से गया हुआ कीटाणु नकली झिल्ली पैदा करके तीव्र प्रसूता सन्निपात के लक्षण उत्पन्न करके प्रसूता को मार ही देता है।

सम्प्राप्ति काल

इस रोग की गुप्तावस्था २-५ दिन तक है। अथवा कभी-कभी यह बारह दिन तक भी स्थायी रहती है।

लक्षण

यह झिल्ली गले के अन्दर काकलक (गलशुण्डिका) के पीछे और उपजिह्वा (Tonsils) के चारों तरफ उत्पन्न हो जाती है। यह मलाई के तुल्य कई स्तरों से युक्त रहती है। इसका पहला स्तर कोमल, स्वच्छ और मलाई के तुल्य होता है। उसके बाद यह क्रमश कठिन दृढ और कुछ हल्दी के वर्ण के समान हो जाता है। प्रवल रोग मे यह काली हो जाती है। जिनके गले मे वेदना, कण्ठशालूक, दन्तशोथ एव दन्तकृमि रोग होता है उनके ऊपर रोग का आक्रमण शीघ्र ही होता है।

अधिकतर रोगारम्भ के पूर्व गले मे वेदना होती है। दूध, पानी आदि निगलने के समय गले के अन्दर वेदना होती है। गले की परीक्षा करने पर उपजिह्वा के चारों तरफ अत्यन्त लालिमा दिखलाई पडती है। पहले मृदु तालु के ऊपर श्वेत बिन्दु दिखलाई पडते हैं, इसके बाद गले के अन्दर अधिजिह्वा और उपजिह्वा मे झिल्ली पैदा हो जाती और इसमे सूजन तथा वेदना, आलस्य और मलिनता, क्षीणता, शिरोवेदना, पृष्ठवेदना, मंदाग्नि और विह्वलता पैदा हो जाती है। नाडी की गति तीव्र और ज्वर १०३-१०४ तापांश तक वढ जाता है। झिल्ली १-२ दिन के मध्य मे स्तरमयी हो जाती है। इसके बाद ग्रसनिका (Charynx) श्वासपथ, नासा का अधोमार्ग और कर्ण मध्य तक फैलकर श्वासावरोध उत्पन्न कर देती है। बालकों मे आक्षेप उत्पन्न हो जाता है। जानुक्षेप

(Knee jerk) और वसामेह प्रथमावस्था से लेकर अन्तिम अवस्था तक वर्तमान रहता है। मूत्र में अलब्यूमिन (शुक्लाण्ड) और कभी-कभी यूरिकाम्ल (यूरिक एसिड) भी निकलता है। जहाँ-जहाँ पर इसका प्रसार होता है वहाँ-वहाँ सूजन के लक्षण पैदा हो जाते है।

नासिका-रोहिणी

नासिका मे झिल्ली के उत्पन्न हो जाने पर सूजन हो जाती है। कुछ काल के बाद पूय निकलने लगता और रक्तस्राव होता है; रोगी मुख से श्वास ग्रहण करता तथा मिन्मिना कर बोलता तथा क्लेद निकलने लगता है।

रोहिणी (Diphtheria) परिचायक लक्षण

वात पित्तकफा यस्य युगपत्कुपितास्त्रय·
जिह्वामूलेऽवतिष्ठन्ते विदहन्त समुच्छ्रिता· ॥
जनयन्तिभृशशोथ वेदनाश्च पृथग्विधा·
त शीघ्रकारिणं रोग रोहिणीति विनिर्दिशेत्
त्रिरात्र परम तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्
कुशलेन त्वनुक्रान्तः क्षिप्र सपद्यते सुखी ॥

—च० सू अ १८

तथाच

गलेऽनिल पित्तकफौच मूर्च्छितौ पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रदूष्यमांस गलरोधिनोऽङ्कुरान् सृजन्ति यान् साऽसुहरा तु रोहिणी ॥
जिह्वासमन्ताद् भृशवेदना ये मांसाङ्कुरा कण्ठनिरोधिन· स्यु·।
तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति वातात्मकोपद्रव गाढ़युक्ताम् ॥
क्षिप्रोद्गमाक्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तक· स्यात्।
स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका गुर्वीस्थिरा सा कफसम्भवा वै ॥
गम्भीरपाकाऽप्रतिवार्यवीर्या त्रिदोषलिङ्गात्रयसंभवा स्यात्।
स्फोटाचिता पित्तसमानलिङ्गा साध्याप्रदिष्टा रुधिरात्मिकेयम्

—सु. नि अ. १६

श्वासपथ और स्वरयन्त्र में रोहिणी

श्वासपथ और स्वरयन्त्र में झिल्ली के उत्पन्न हो जाने पर फूटे हुए कासे के बरतन के तुल्य भयंकर खाँसी मे घर-घर शब्द निकलता है। रोगी बार-बार श्वास लेता है, श्वास-निःश्वास लेते समय पर्शुका का मध्य भाग अन्दर को प्रविष्ट होता हुआ प्रतीत होता है। मुख, नेत्र और शरीर काला पड़ जाता है। महाश्वास(Bronchophony) श्वास नली की शाखा के अधो भाग मे पहुंच कर प्रदाह (Bronchopneumonia) उत्पन्न कर देता है। श्वास के दोनों मार्गों के अवरोध हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

यथोक्तं भोजेन—

कफादन्तर्बहि शोथः श्वास कण्ठश्च बाध्यते
यस्य सोऽसून् त्यजेत्-रोगी त्र्यहाद्-रोहिणीपिडित

कर्णमध्य की रोहिणी

इसमे कर्ण के मध्य भाग मे झिल्ली उत्पन्न हो जाती है और वहा पर प्रदाह आदि पूर्वोक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

रोहिणी के भेद

रोहिणी को लक्षणों के अनुसार (१) मृदु रोहिणी, (२) मध्य रोहिणी और (३) सांघातिक रोहिणी ऐसे तीन विभागों विभक्त करते हैं।

१. मृदु रोहिणी—इसमें अति सामान्य लक्षण होते हैं। कुछ दिन तक कण्ठ मे वेदना रहने के बाद आतुर स्वयं अच्छा हो जाता है।

२ मध्य रोहिणी—इसके लक्षणों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

३. सांघातिकी रोहिणी—इसमें सब लक्षण तीव्र हो जाते हैं। विशेष करके कम्प, प्रलाप और शरीर का ताप १०५-१०६ तापांश तक बढ जाता है और कभी-कभी ताप स्वाभाविक ताप की अपेक्षा कम हो जाता है। वमन, द्रुताक्षेप आदि भी उपस्थित हो जाता है। सांघातिक रोहिणी में पर्प्यूरा (Purpura) की पिडिका के तुल्य पिडिका शरीर में निकलती है। किसी-किसी रोहिणी मे रोमान्तिका और आरक्त

ज्वर के तुल्य फुंसियाँ निकलती हैं, किसी मे आमवात के तुल्य तो किसी मे एरिथिमा के तुल्य पिडिकाएं निकलती है।

यथोक्त भोजन—

उष्यते चुष्यते पितात् धूप्यते परिदह्यतेऽङ्गारैरिव ।

सांघातिक रोहिणी मे झिल्ली काली हो जाती है और उसमे दुर्गन्ध आती है। यदि सहसा बलपूर्वक झिल्ली उठाकर अलग कर देवें तो उसके अन्दर लाल वर्ण का स्थान दिखलाई देता है और शीघ्र ही तीन-चार स्तरो से युक्त झिल्ली फिर उत्पन्न हो जाती है। झिल्ली के अपने आप ही उठ जाने पर फिर दूसरी झिल्ली उत्पन्न नहीं होती है। आहार की इच्छा एकाएक नष्ट नही होती है। नाड़ी कभी तीव्र और कभी मृदु (दबने योग्य) हो जाती है रोग विषम होने पर नाड़ी भी विषम हो जाती हैं। नासिका के अन्दर दारुण रक्तस्राव होता है साथ ही और भी अनेक दारुण लक्षण प्रकाशित होते है।

प्राथमिक पीडा के रूप मे कण्ठीयडिफ्थीरिया के विस्तार से नासा-गह्वर आक्रान्त हो जाता है। नासागह्वर के रोगग्रस्त होने पर प्रधानतः मुख से श्वस-प्रश्वास की क्रिया साधित होती है। नासिका के मध्य से श्वासक्रिया सम्पूर्ण अथवा अंशतः अवरुद्ध हो जाती है। एक वा दोनों नासिका के छेदों से पतला रस के तुल्य श्लेष्मा और पूयमिश्रित दुर्गन्ध युक्त क्लेद निकलता है। नासारन्ध्र के द्वार से ऊपरी होंठ मे वा जिस स्थान मे यह रस लग जाता है, उस स्थान मे घाव प्रकाशित हो जाता है। बालक-बालिकाओं का नासागह्वर डिफ्थीरिया से अधिक आक्रान्त होता है। ग्रीवा देश की सम्पूर्णग्रन्थियाँ शीघ्र ही फूल जातीं और उनमें वेदना होती है। इस प्रकार की डिफ्थीरिया मे शीघ्र ही दैहिक लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। कभी-कभी नासिका के अन्दर से न्यूनाधिक परिमाण मे रक्तस्राव होता है। स्वरपथीय (लेरिञ्जियेल) डिफ्थीरिया के प्रथम रूप मे प्रकाशित होने पर अथवा कण्ठ प्रभृति विधान के प्रथम अवस्था मे आक्रान्त होकर रोग की क्रिया का विस्तार हो जाता है।

रोग के आरम्भ में रूक्ष, शुष्क, भग्न, अस्पष्टश्राव्य और अवरुद्ध कास उपस्थित हो जाता है। कण्ठस्वर क्षीण, कर्कश, दबा हुआ और कभी-कभी सुन भी नहीं पडता है। श्वास-प्रश्वास विकृत और कष्टदायक होता है। कास के साथ-साथ गलछिद्र (ग्लटिस) आक्षेप से युक्त होकर अवरुद्ध हो जाता है और निश्चित रूप से क्षण भर के लिये श्वास-कृच्छ्रता बढ़ जाती है। इस अवस्था मे कण्ठवीक्षण यंत्र से स्वर पथ की परीक्षा करने पर प्रकृत और अप्रकृत सम्पूर्ण स्वरतन्त्री (वोकेल कार्डस) फूल जाती है और अत्यन्त रक्त के वेग से ग्रस्त और स्थान-स्थान पर कृत्रिम झिल्ली के खण्ड से आवृत देखी जाती है। किसी-किसी स्थान मे सम्पूर्ण स्वर-पथ के आभ्यन्तर प्रदेश मे कठिन, दृढ धूसर वर्णवाली झिल्ली देखी जाती है। जब चक्षु डिफ्थिरया से आक्रान्त होता है, तब ऑख का सफेद भाग इससे आक्रान्त हो जाता है और यथोचित स्थानिक और सार्वाङ्गिक लक्षण प्रकाशित होते हैं। कान का डिफ्थीरिया कान के बाह्य भाग में प्रकाशित होता है।

किसी स्थान की ऊपरी त्वचा छिल जाने पर उसके मध्य से डिफ्थीरिया के जीवाणु प्रविष्ट होकर डिफ्थीरिया को पैदा करते हैं। यह अधिकतर नासिका के छिद्र के समीप वा ऊपर के ओष्ठ मे प्रकट होता है। नासागह्वर की रोहिणी मे नासिका के अन्दर से निकले हुए क्लेद द्वारा ओष्ठ उग्रता से पीड़ित हो जाता है और उसी आकार का छाला पड जाता है। क्षत-स्थान पर झिल्ली उत्पन्न हो जाती है। त्वचा मे रोहिणी होने पर वहां झिल्ली उत्पन्न हो जाती है। त्वचा श्वेत, पाण्डु, धूसर और काली दिखलाई देती है। यह न्यूनाधिक मात्रा में स्थूल भी हो जाती है। आक्रान्त-स्थान के चारों तरफ लालिमा मालूम होती है। अन्तत्त्वचा मे रोहिणी का प्रभाव पहुँचने पर प्रथम जल पिडिकाएँ उत्पन्न होती हैं।

परवर्ती फल

जो रोगी इससे अच्छे हो जाते हैं वे कई सप्ताह तक दुर्बल एव मलीन रहते हैं।

उपद्रव

सबसे भयंकर सांघातिक उपद्रव हृन्मोह है। रोग मे अथवा रोग से मुक्ति होने पर भी इसका भय रहता है। नाडी की गति ४०-५० या कभी-कभी २० तक हो जाती है। न्यूमोनिया, स्रोतोनिरोध, मस्तिष्क प्रदाह आदि उपद्रव हो जाते हैं।

पक्षाघात—बड़ों की अपेक्षा बालकों को अधिक होता है। अधिकतर इससे स्थानिक पेशियों का आघात होता है। अधिकतर यह रोग २१-२८ दिन मे होता है। अक्षिगोलक की संचालक पेशी में आघात होने से चक्षु टेढ़ी हो जाती है और उपतारा मे आघात होता है। कोमल तालु की आघात से श्वास घर-घर शब्द के साथ आता है और भोजन निगलने के समय नासिका के द्वारा बाहर आ जाता है। १५-२० प्रतिशत रोहिणी के रोगी पक्षाघात से आक्रान्त हो जाते हैं। वृक्क मे आघात के लक्षण प्रकट होने पर मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात के लक्षण होते है एवं वृक्क मे शोथ हो जाता है।

रोगनिर्णय

झिल्ली देखकर रोग का निर्णय किया जा सकता है। यदि सन्देह हो तो अणुवीक्षण यत्र से परीक्षा करें।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा के दो भेद होते हैं। (१) रोगनिवारक और (२) आरोग्यकारक।

रोगनिवारक चिकित्सा

रोग का विस्तार अथवा रोगाक्रमणनिवारण करने के लिये रोगी के साथ अन्य सब लोगों का सम्बन्ध त्याग करा देना चाहिये।

इस उद्देश्य के लिये वैद्य और परिचारक के अतिरिक्त किसी को भी रोगी के गृह मे न प्रविष्ट होने देवें। चिकित्सक और परिचारक को भी रोग का संक्रमण हो जाता है। अत उनको भी सावधान रहना चाहिये और नियमित संक्रमण नाशक ओषधियों का प्रयोग करते रहना चाहिये।

परिचारक को कार्बोलिकाम्लद्रव या क्लोरोफार्म वाटर से ३-३ घंटे के बाद कुल्ला करवाना चाहिये। यूक्लिप्टस तेल, एसेस आफ लेमन्, येज्जल, कार्बोलिकाम्ल आदि को सूँघना चाहिये। जहाँ पर एक भी व्यक्ति को रोहिणी रोग हो, वहाँ से बच्चों को दूसरे स्थान मे भेज देवें। रोगी का गृह हवादार, निर्मल और एकान्त स्थान में होना चाहिये। उसमे कोई अनावश्यक वस्तुएँ नहीं रखे। रोगी के व्यवहृत वस्त्र और पात्र को संक्रामक नाशक औषधों के द्रव मे भिगो कर गृह के बाहर निकालें। सब्लीमेट् द्रव से युक्त पात्र मे मल-मूत्र रखे। गृह के खिडकी और दरवाजों की चिकों पर भी सक्रमण नाशक द्रव को छिडक देवें। पालतू कुत्ते, बिल्ली आदि को भी घर मे न जाने दें। इनसे भी रोग का विष फैलता है। घर मे सक्रमण नाशक औषधों की धूप देवें। रोगी के अच्छे हो जाने पर भी इसका विष एक महीने तक मुख मे रहता है। अत' रोग के अन्त मे दुर्बलता होने पर सावधानी से रहना चाहिये और यथा सम्भव अन्य व्यक्तियों से अलग रहना चाहिये।

आरोग्यकारक चिकित्सा

सबसे पहले रोगी के कोष्ट की शुद्धि करे। पथ्य पुष्टिकारक, लघु और पाचनकारी दें। यथा—दुग्ध, फलों का रस, मास और अण्डे का रस आदि। यदि रोगी पथ्य निगलने मे असमर्थ हो, तो स्वरनलिका (Stomach Tube) अथवा वस्ति के द्वारा गुदा मार्ग से पथ्य पहुचावें। बालकों को पहले से ही ब्राण्डी देनी चाहिये। आरोग्यकारक चिकित्सा तीन प्रकार की होती है। (१) स्थानिक, (२) आभ्यन्तरिक और (३) सूचिकाभरण।

स्थानिक चिकित्सा

क्लोरेट् आफ् पोटाश के द्रव से गण्डूष करावे। झिल्ली पर एसिड लैक्टिक् १ भाग, ग्लिसरीन ५०० भाग इनको एक मे मिला कर रखें और उसमे रूई भिगोकर लगावें।

ताम्बूल रस का प्रयोग—ताम्बूल के रस में शुद्ध आँवलासार गन्धक का चूर्ण मिलाकर झिल्ली पर तीन-चार बार लेप करें और कुछ गरम जल में चौथा भाग पान का रस मिला कर कुल्ला करावें।

एरण्ड कर्कटी दुग्ध का प्रयोग—पपीता का दूध जल में मिला कर लेप करने से झिल्ली नष्ट होती है।

प्रतिसारण—शुद्ध सोहागे का चूर्ण, पान के रस में मिलाकर प्रतिसारण करने से झिल्ली नष्ट होती है। फिटकरी के जल से कुल्ला करें। सुश्रुतोक्त श्वेतादि तैल का नस्य और गण्डूप का प्रयोग करें।

प्रक्षालन—क्लोराइड् ऑफ मर्करी $\frac{१}{५००}$ भाग और कार्बोलिकाम्ल $\frac{१}{५०}$ भाग के सोल्यूशन द्वारा प्रतिदिन गले के अन्दर का भाग धोना चाहिये। अथवा लघुपञ्चमूल के क्वाथ में शुद्ध गन्धक चूर्ण डाल कर कुल्ला करना चाहिये।

अपामार्गादि तेल

अपामार्ग (चिरचिटा), त्रिफला, विष्णुक्रान्ता और वायविडंग इनके क्वाथ में तेल को पकावें। फिर उस तेल से गण्डूप और नस्य करें। इससे अति लाभ होता है।

फूत्कार प्रयोग—शुद्ध गन्धक का चूर्ण तालु में मुख से फूँक देवें और ग्लिसरीन व मधु मिला कर झिल्ली पर लगावें। इस भाँति एक बार प्रयोग करके बाद में सल्फ्यूरिक एसिड के क्षीण द्रव का प्रयोग करें तथा स्थानिक और सार्वाङ्गिक रक्तमोक्षण करें। पीडा की अन्तिम अवस्था में ट्रेकियोटोमी (स्वरपथच्छेद) चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी के दुर्बल होने पर यह चिकित्सा करें। आवश्यकता होने पर पूर्व में भी स्वरपथच्छेदिक चिकित्सा के अवलम्बन करने में कोई क्षति नहीं है।

आभ्यन्तरिक चिकित्सा

तिक्तादि क्वाथ—कुटकी, अतीस, देवदारु, पाठा, नागरमोथा और इन्द्रजव—इन ओषधियों को २ तोले की मात्रा में लेकर गोमूत्र एक

पाव में पकाव। चतुर्थांश मूत्र जब शेष रह जाय तब उसको छानकर रोगी को पिलावें। यह अतिलाभदायक योग है।

यथोक्त चरके—

> कटुकाति विषादारु पाठामुस्तकलिङ्गकाः।
> गोमूत्रक्वथिताः पेया कण्ठरोगविनाशना॥

मृद्विकादि चूर्ण

मुनक्का, कुटकी, सोंठ, मिर्च, पीपर, दारुहल्दी, दालचीनी, आंवला हरड, बहेडा, नागरमोथा, पाठा, रसौत, दुर्वा और तेजबल।

विधि—इनको समान भाग में लेकर चूर्ण कर लें।

अनुपान—मधु। मात्रा—३ माशा दिन में ३ बार दें।

महागन्धक रसायन (रसेन्द्रसारोक्त) योग बालकों के लिये रोहिणी रोग में अतिलाभकारक है।

पाश्चात्य वैद्यक में—टिञ्चर फेरि परक्लोराइड्—इस रोग में उत्कृष्ट औषध मानी गई हैं। वस्तुतः इस रोग में लोह और पारद के योग से बनी हुई औषधियाँ लाभकारक होती हैं। इस रोग में कुनैन विशेष उपयोगिता के साथ व्यवहृत होती है। यदि आमाशय की उग्रता से कुनैन का योग न ठहरे तो फलवर्ती (सपोजिटरी) अथवा तेल में मिलाकर मालिश करें। विबन्ध होने पर प्रतिदिन एक मृदु विरेचन दें। इसके साथ ही कोई लवण भी पीने के लिये देवें। लवणों में साइट्रेट् आफ् पुटासियम अथवा क्लोरेट् आफ् पुटाशियम् का सोल्यूशन देना हितकारक है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि जबतक श्वास में दुर्गन्धि उत्पन्न न हो तबतक रसपुष्प (कैलोमेल) अल्प मात्रा में बाइ कार्बनेट आफ् सोडा के साथ प्रयोग करने पर लाभ होता है।

मुख से लाला ग्रन्थियों की लार को अधिक बहाने के लिये तुत्थ-गैरिक को गले में लगाकर गरम पानी से कुल्ला करावें। इससे लार बहुत निकलती है तथा उसके साथ-साथ झिल्ली भी गिर जाती है।

विधि—तूतिया को लेकर अग्नि के कोयलों पर रख देव। जब तूतिया का श्वेत फूला हो जावे तब उसको निकाल कर शीतल कर लेवें।

जितना तूतिया हो उससे आठ गुना गेरु का चूर्ण मिलावें इसको "तुत्थ गैरिक" कहते हैं।

स्वरयन्त्रीय रोहिणी—में जल के वाष्प की श्वास, विशेष लाभकारक हैं। इसमें तार्पीन का तेल, यूक्लिप्टस तेल, कार्बोलिक एसिड्, चूने का पानी आदि संक्रमणनाशक औषध मिलाकर प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है।

वमन कराने के लिये इपेकाकुयाना और सल्फेट् ऑफ जिंक का प्रयोग करें। अथवा सूचिकाभरण से एपोमार्फिया का प्रयोग करें। नासिका रोहिणी की चिकित्सा में क्लोरेट् आफ पोटाश और ग्लिसरीन के क्षीण द्रव से नासिका के अन्दर के भाग को धोवें। अथवा सोहागा, ग्लिसरीन और कार्बोलिक एसिड के द्रव से धोवें। इसके अतिरिक्त संक्रमण नाशक औषध के द्रव को स्प्रे के रूप में व्यवहार करें और पूर्वोक्त तिक्तादि क्वाथ पिलावें।

त्वगीयरोहिणी की चिकित्सा

उसमें नकली झिल्ली को निकाल कर सब्लीमेट् द्रव १:१००० से धो करके आयोडोफार्म लगा देवें।

रोहिणीय पक्षाघात की चिकित्सा

इसमें चिन्तामणि चतुर्मुखरस और मल्लसिन्दूर का आभ्यन्तरीय प्रयोग करें। लोहभस्म और कुचिलासत्त्व भी हितकारक है। अथवा सूचिकाभरणविधि से कुचिला के सत्त्व का प्रयोग करें। माषादि तैल तथा नारायण तैल की मालिश करें। विद्युत् प्रयोग भी उत्तम है।

त्वाच्य प्रयोग

एन्टीडिफ्थेरिकसीरम (Anti Diphtheric Serum) ३—९ घन शतांशमीटर का किसी मांसल स्थान पर सूचिकाभरण विधि से प्रयोग करें। इसके विष की बहुत न्यून मात्रा में सूचिकाभरण (इञ्जेक्शन) विधि से प्रयोग करने पर भी यदि स्थान लाल होकर सूज जावे तो उसमें उस व्याधि की प्रवृत्ति जान करके विशेष सावधानी करें। जब रोग

हो जावे, तो उसी समय २०-३० घनशतांश मीटर जवानों में और ५-१० घन शतांश मीटर बालकों में एन्टी डिफ्थीरिक सीरम का सूचिकाभरण विधि से प्रयोग करें। १२-२४ घंटे के बाद इससे और अधिक मात्रा में प्रयोग करें। यदि वैद्य आवश्यक समझे तो अधिक मात्रा में भी प्रयोग करें। इससे ज्वरादिक उपद्रव तीन घंटा में ही मन्द पड़ जाते हैं एवं पूर्ण लाभ होता है। जबतक इस विधि का आविष्कार नहीं हुआ था तबतक इसके रोगी ८०-९० प्रतिशत मर जाते थे। इस प्रयोग से प्रतिशत २-३ मृत्युसंख्या रह गई है।

पेनिसिलिन—इसका भी उपयोग जब द्वितीयक उपसर्ग तेज रहता है तभी हितकर होता है। तीव्र उपसर्ग में प्रतिदिन १० लक्ष एकक की मात्रा दी जाती है। इसका उपयोग माला गोलाणु प्रतिलसिका के बदले प्रति विष के साथ किया जाता है।

हृदय दौर्बल्य का उपक्रम

रोगी को उठने नहीं देना चाहिये। विबन्ध को बस्ति प्रयोग से दूर करें। हृदय को गरम कपडों से तथा गरम पानी की बोतलों से गरम रखना चाहिये। मद्य का उपयोग करें, स्ट्रिक्नीन, पिचुट्रीन, कर्पूर प्रभृति का उपयोग सुई द्वारा करें। साथ ही अन्य आवश्यक उपायों को भी करें। इसके सिवाय रोगी का सिरहाना नीचे रखना, उदर पर पट्टी बांधना, हृत्पूर्व प्रदेश पर अलसी की गरम पुल्टिस बांधना आदि उपाय प्रयुक्त होते हैं। रोहिणी के रक्त संवहन-क्षीणता पर अट्रोपिन सल्फेट $\frac{1}{100}$ ग्रेन, स्ट्रिक्नीन सल्फेट $\frac{1}{100}$ ग्रेन और एड्रेनलीन ५ बूंद (१ : . १०००) इनका संयोग बहुत लाभदायक होता है। विशोधित जल में १० बूंद का मिश्रण बनाकर प्रत्येक चार-चार घंटे पर सूचीभरण दिया जाता है।

नासागत जीवाणुओं का नाश करने के लिये सल्फा थायोझोल का नस्य (Snuff) दिन में ३-४ बार कई सप्ताहों तक दिया जाता है। अथवा पेनीसिलीन (१ सी० सी० में ५०० एकक) नाक में दिन में चार

वार ५ दिन तक डाला जाता है या दो-ढाई लाख यूनिट पेनीसिलीन प्रतिदिन सूई से १२ दिन लगातार दिया जाता है।

राजयक्ष्मा

(Tuberculosis)

पर्याय—क्षय, शोष, थाइसिस (Phthisis), टेबीज डोर्सेलिस टी० बी०, कंजम्पशन (Consumption) यूना, सिल, तपेदिक प्रभृति।

परिचय—थाइसिस शब्द का अर्थ फुफ्फुसीयक्षय (Consumption of the lungs) होता है। यह शब्द प्राचीन माना जाता है और आजकल ट्यूबर्क्यूलोसिस शब्द का अतिशय प्रचार है। उसका संक्षिप्त नाम टी० बी० प्रचलित है। परन्तु महर्षि प्रणीत राजयक्ष्मा क्षय-शोष नाम अन्वर्थक प्रतीत होता है।

यथोक्तं सुश्रुते—

राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः।
तस्मात्तं राज[1]यक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः॥
संशोषणात् रसादीनां शोष इत्यभिधीयते।
क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः॥

वर्तमान समय में क्षयरोग सब रोगों में प्रधान हो रहा है। यहांतक कि प्रतिवर्ष १० लक्ष ५० सहस्र स्त्री-पुरुषों का और प्रति दिन ३००० व्यक्तियों का यह रोग संहार करता है। अर्थात् प्रति मिनट में २ मनुष्य इससे मरते हैं। इस गणना से इसकी भयंकरता विनाशकता और संक्रामकता जगत् प्रसिद्ध है।

१—"यक्ष्मणो राजा" इस समास से यह रोग ((Captain of death) कहलाता है। आयुर्वेद के ११२० रोग हैं और आधुनिक विज्ञान के अनुसार एक सहस्र के लगभग हैं। इन सबों में प्रधान रूप से यह स्थित रहता है। यथोक्त सुश्रुते—रोगाणां तु सहस्रं यच्छतं विंशतिरेव च।

इसके क्षयाणु जिस अंग में पहुँचते हैं उसी अंग में क्षय उत्पन्न कर देते हैं। यथा—फुफ्फुसीय क्षय, आन्त्रिक क्षय, संधि क्षय, अस्थि क्षय, उदरकलीय क्षय, कंठ क्षय, ग्रन्थीय क्षय (गण्डमाला अपची प्रभृति), त्वक् क्षय, परिफुफ्फुसीयकला क्षय आदि अन्य इन्द्रियों में भी क्षय होता है। प्राचीन काल की अपेक्षा क्षय का क्षेत्र अति विस्तृत हो गया है।

आयुर्वेदीय कारण

अपनी शक्ति से अधिक काम करना, वात-मूत्र-पुरीषादि वेगों का अवरोध करना, वीर्य का क्षय और विषमाशन ये चार कारण यक्ष्मा के प्राचीन महर्षियों ने वर्णन किया है।

यथोक्तं चरके—

अयथाबलमारम्भं वेगसंधारणं क्षयम्।
यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम्॥

प्रधान कारण

क्षय रोग का प्रधान कारण आजकल क्षयाणु (Tubercle Bacillus) माना जाता है। आकार में यह बहुत छोटी और पतली सींक के समान होता है। सामान्यतः इसकी लम्बाई एक इञ्च के पन्द्रहवें भाग के लगभग होती है। उसके शरीर को एक प्रकार का स्निग्ध पदार्थ आच्छादित किये रहता है, जिससे उसकी बड़ी रक्षा होती है। इससे यह चिरजीवी और महा शक्तिवाला होता है। यह क्षयाणु वनस्पति वर्ग का होता है। अन्य वनस्पतियों की भाँति इसको भी रोगी के कफ से बीजारोपण करके उगाया जा सकता है।

क्षयाणु की जातियाँ

क्षयाणु की चार जातियाँ होती है। यथा—(१) जलजान्तविक क्षयाणु (२) शाकुन्तिक क्षयाणु, (३) पाशविक क्षयाणु और (४) मानुषिक क्षयाणु।

उपर वर्णित क्षयाणुओं में से दो प्रकार के क्षयाणु मनुष्यों में रोग पैदा नहीं कर सकते। परन्तु पाशविक क्षयाणुओं से मनुष्य

में क्षय रोग पैदा हो जाता है। किंतु पाशविक क्षयाणुजन्य रोग साध्य होता है। अस्थि, सन्धि, लसीका ग्रन्थि, उदर और त्वचा में क्षय होता है। इन क्षयाणुओं से फुफ्फुसीय क्षय अत्यल्प होता है। पाशविक क्षयाणुओं से बाल्यावस्था में क्षय बहुत होता है। प्राय. १५ वर्ष की आयु के बाद बहुत कम होता है। इसका कारण यह है कि यह संक्रमण अधिकतर दूध के द्वारा होता है। फुफ्फुसीय क्षय प्राय सदा मानुषीय क्षयाणुओं से ही होता है।

क्षयाणु का संक्रमण

क्षयाणुओं की उत्पत्ति का स्थान मुख्यतया क्षय पीड़ित मनुष्य और पशु होता है। क्षय रोगी के कफ से प्रतिदिन ७ अरब २० करोड़ क्षयाणु निकलते हैं। क्षयाणुओं का मनुष्य के शरीर में प्राय: दो मार्गों से प्रवेश होता है। (१) श्वास मार्ग और (२) आहारनलिका।

श्वास मार्ग ही प्रधान रूप से क्षयाणुओं का प्रवेश मार्ग समझा जाता है। जब क्षयी पृथ्वी पर थूकता है तब उसका कफ सूखकर पृथ्वी पर धूलि में मिल जाता है और वहां से फिर उड़कर हवा में मिल जाता है। सूखे कफ के परमाणुओं से युक्त धूलि श्वास के साथ फेफड़ों में पहुँच जाती है। परन्तु सूर्य-प्रकाश और शुद्ध वायु में ये मर जाते हैं। इसीलिये सूर्यप्रकाश और शुद्ध वायु का जहां अभाव होता है वहां क्षय रोग अधिक होता है। क्षय रोगी के बोलने, खांसने अथवा छींकने से जो कफ के सूक्ष्म कण निकलते हैं उनसे क्षयाणु पास में बैठे हुये मनुष्यों के श्वास के साथ उनके शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। परीक्षा द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि रोगी के कफ के कणों में क्षयाणु होते हैं।

आहार नलिका

आहार मार्ग भी क्षयाणुओं के शरीर में प्रवेश करने का प्रधान मार्ग है। दूषित भोजन, जल और दूध आदि के सेवन करने से क्षयाणु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। दूध दो प्रकार से क्षयाणुओं से संक्रान्त हो सकता है। (१) दूधवाली गौ आदि के क्षय रोग होने से उसका

दूपित कच्चा दूध पीने से क्षय हो जाता है। (२) शुद्ध दूध के दुहे जाने पर उसपर मक्खियों के बैठ जाने से और क्षयी रोगी के छू लेने से भी क्षय हो जाता है। मक्खियाँ क्षयी के मल या कफ पर बैठकर बाद को उड जाती हैं और फिर खाने-पीने की पदार्थों पर बैठ जाती हैं। उनके पैरों में और मुखपर जो कफ या मल लगा रहता है, वह खाने-पीने की चीजों में मिल जाता है। फिर उन खाद्य पदार्थों के खानेवालों को क्षय हो जाना स्वाभाविक ही है।

इसके अतिरिक्त क्षयी के छूने से और उसके साथ या उसके पात्रों मे भोजन करने से क्षय हो जाता है। क्षय जन्य व्रणों का पूय, रोगी का दूपित मल-मूत्र और क्षय पीडित पशुओं का मांस भी इस रोग के संक्रमण में सहायता करता है। दूपित दूध के द्वारा प्रविष्ट हुये क्षयाणु आन्त्रिक-क्षय उत्पन्न करते हैं। अथवा अन्य दूषित खाद्य वा पेय पदार्थों के द्वारा गल-ग्रन्थियों से भी शरीर मे क्षयाणु प्रविष्ट हो जाते हैं और यहीं से ग्रीवा के लसीका-ग्रन्थियों मे जाकर गण्डमालीय क्षय उत्पन्न कर देते हैं। इस भाँति क्षय का सक्रमण व्यापक समझना चाहिये। संसार की सभ्यजातियों मे युवावस्था तक ९० प्रतिशत जनसंख्या में क्षय का प्रसार हो जाता है। असभ्यजातियों मे क्षय का सक्रमण प्रायः नहीं के बराबर है। नवजात शिशु मे क्षय का संक्रमण नहीं मिलता है।

बालकों के क्षय-संक्रमण की तालिका

१ वर्ष के शिशुओं मे क्षय-संक्रमण बिल्कुल नहीं होता है।

२	वर्ष के	शिशुओं में	१०	प्रतिशत	८	वर्ष के	बालकों मे	६३	प्रतिशत
३	,,	,,	१४	,,	९	,,	,,	७१	,,
४	,,	,,	२४	,,	१०	,,	,,	८०	,,
५	,,	,,	३३	,,	११	,,	,,	९०	,,
६	,,	,,	४३	,,	१२	,,	,,	९९	,,
७	,,	,,	५३	,,	और १२ वर्ष से ऊपर क्षय का संक्रमण कम पाया जाता है।				

त्वचा के व्रणों द्वारा भी यह क्षयाणु प्रवेश कर सकता है। परन्तु, ऐसे दृष्टान्त क्षय रोगियों की चिकित्सा करनेवालों मे मिलते हैं। माता-पिता से राजयक्ष्मा के क्षयाणु सन्तान मे सीधे नहीं आते हैं। परन्तु यह तो निश्चित है कि क्षयवालों की सन्तान में इस व्याधि की प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है।

यथोक्तं सुश्रुते—

तत्रादि बलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणित दोषान्वयाः कुष्ठार्श· प्रभृतय· तेऽपि द्विविधा मातृजाः पितृजाश्च।

सम्प्राप्ति

क्षयाणु देह मे प्रविष्ट होकर स्थान विशेप पर बैठ जाता है। वह पर उनके प्रतिकार के लिये स्थानिक तन्तुओं से नये कोप (cells) उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत से सेलों के एकत्र होने से उस स्थान पर एक गुठली-सी बन जाती है। इसको क्षयार्बुद (Tubcıele) कहते हैं। वहाँ से इनका विष रक्त मे मिलकर रोग के लक्षण पैदा करता है और क्षयार्बुद के मध्य मे बहुमींगीयुक्त एक वा अनेक कोप जो दिखाई देते हैं इनमे क्षयाणु अत्यधिक पाये जाते हैं। इनके इधर-उधर छोटे लसीकाणु के तुल्य कोषों की कई और तहे हैं। उसी भाँति सबसे बाहर सौत्रिक तन्तुओं की तहे होती हैं। इन गाँठों मे रक्त-प्रणालियाँ नहीं होतीं। अत· क्षयार्बुद बीच से गलने लगता है और धीरे-धीरे गलकर थूक वा मल-मूत्र द्वारा बाहर निकलता है।

साध्य दशा में इन क्षयार्बुदीय सौत्रिक तन्तुओं के नीचे खटिक लवण बैठने लगते हैं और धीरे-धीरे सम्पूर्ण अर्बुद खटिक युक्त हो जाता है। जब खटिकीय रचना पूरी हो जाती है तो मध्य मे रहने वाले क्षयाणुओं को भोजन नहीं मिलता है और वे धीरे-धीरे मर जाते हैं। परन्तु, उनके मरने के लिये २-३ वर्ष का समय चाहिये। जब खटिकीय रचना अपूर्ण रहती है तो जीवन पर्यन्त क्षयाणु जीवित रहते हैं।

अधिकतर यही हेतु है कि क्षयी रोगी के रोग अच्छे हो जाने पर भी जीवन पर्यन्त अन्य आक्रमण का भय रहता है। ये क्षयाणु जो इतने समय तक अर्धजीवित दशा मे किसी प्रकार का दु:ख न देते हुए अब वने खटिक भवन मे बन्द थे अपनी अनुकूल अवस्था मे फिर बढकर रोग पैदा कर देते हैं। क्षयार्वुद इतने सघन होते हैं कि कभी-कभी परस्पर मिल भी जाते हैं। जब वे गलकर फूट जाते हैं तो एक विशाल गर्त बन जाता है। शरीर के आभ्यन्तर मे क्षयाणु एक स्थान से दूसरे स्थान तक रसायनियों तथा शोणित के द्वारा फैलते हैं। प्रारम्भ मे जब क्षयार्वुद एक रहता है तो इसके गलकर फटने से क्षयाणु क्षयार्वुद से अलग होकर इधर-उधर फैलकर अन्य क्षयार्वुद पैदा कर देते हैं।

फुफ्फुसीय क्षय (पल्मोनरी ट्यूबर्क्यूलोसिस्)

परिचय—श्वास के द्वारा क्षयाणु फुफ्फुसों के वायुकोषों और वायु-प्रणालियों मे जाकर वैठ जाते हैं और वहाँ पर छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ वन जाती हैं। रोग की वृद्धि में ग्रन्थियाँ (Nodule) मृदु होकर पूयमय हो जाती है और फिर फट जाती है। पूय और स्राव कफ के द्वारा वाहर निकल जाता है और वहाँ पर कोटर (Vomica) बन जाता है। जब तक ग्रन्थियाँ नहीं फूटतीं, तब तक श्लेष्मा में पूय नही निकलता है और क्षयाणु भी कफ मे नहीं निकलते हैं। फुफ्फुसीय क्षय के भेद नीचे लिखे जाते हैं।

तीव्र खण्डीय श्वसनक ज्वरीय क्षय

इसमे फुफ्फुस के एक खण्ड अथवा अधिक खण्ड आक्रान्त हो जाते हैं। कभी-कभी दोनों फुफ्फुसों के खण्ड आक्रान्त हो जाते हैं। इसके लक्षण श्वसनक ज्वर के तुल्य होते हैं। परन्तु, इसमे ज्वर अविसर्गी स्वरूप में होता है और काल की मर्यादा भी भिन्न होती है। रात्रि में स्वेद का आगमन तथा रक्तष्ठीवन होता है और रोगी शीघ्र ही क्षीण हो जाता है और उसका थूक भी शीघ्र ही पूययुक्त हो जाता है, जिससे

भारी होकर जल में डूबने लगता है। इसका रंग भी कुछ हरा होता है। इसकी परीक्षा करने पर असंख्य क्षयाणु मिलते हैं। मूत्र में भी विकृति हो जाती है। रोगी २१ दिन से ४२ दिन के मध्य में मर जाता है। कभी-कभी इससे अधिक समय तक भी दुःख भोगता रहता है।

तीव्रप्रणालीय फुफ्फुस प्रदाहिक क्षय

यह फुफ्फुस खण्डीय क्षय की अपेक्षा अधिक होता है। इसमें फुफ्फुस खण्डीय क्षय और तीव्र प्रणालीय फुफ्फुस प्रादाहिक-क्षय ये दोनों मिले होते हैं। रोग की वृद्धि अत्यन्त शीघ्र होती है। इसमे ज्वर अनियमित होता है, रात्रि को स्वेद निकलता है, पूययुक्त ष्ठीवन-हरित वर्ण और कीटाणुयुक्त होता है। आतुर २१ दिन से २८ दिन के मध्य मे मर जाता है। परन्तु अधिकतर रोग अच्छा हो जाता है।

जीर्ण प्रणालीय फुफ्फुस प्रादाहिक क्षय

इस प्रकार का क्षय अधिक देखा जाता है। उपरोक्त दोनों भेदों की अपेक्षा इसमें दारुणता अल्प होती है और उनकी अपेक्षा इसकी वृद्धि भी धीरे-धीरे होती है। इसका आक्रमण दाहिने फेफड़े के शिखर अथवा फेफड़े के किसी दूसरे खण्ड के शिखर पर होता है। वहाँ से बढ़ कर यह सम्पूर्ण फेफड़े में फैल जाता है। इसके क्षयाणु फैल कर फुफ्फुसावरणीय-कला तक पहुच जाते हैं।

लक्षण

अधिकतर प्रथम-अवस्था मे क्षणिक अल्पकास उपस्थित होता है। आलस्य, शरीर मे भारीपन, अङ्गमर्द और निर्बलता भी प्रारम्भ हो जाती है। रोग धीरे-धीरे आरम्भ होता है। कभी-कभी प्रारम्भ मे वक्षः-स्थल मे पीड़ा होती है और रक्त सञ्चालन में तीव्रता उत्पन्न हो जाती है। यदि प्रारम्भ मे ही खाँसने पर रक्त आ जावे तो रोग प्रकाशित हो जाता है। अत्यन्त शारीरिक वा मानसिक परिश्रम करने अथवा शीत लगने के वाद रोग के सम्पूर्ण लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकाशित हो जाते हैं।

रात्रि-दिन मे यंत्रणादायक खाँसी, मन्दाग्नि, वसायुक्त भोजन मे अरुचि, परिपाक मे विलक्षणता और बार-बार रक्तोत्कास होने लगता है। रात्रि मे स्वेद आने लगता है।

ज्वर

क्षयी के शरीर की गर्मी घटती-बढ़ती रहती है। किन्तु इसकी गति का कोई निर्दिष्ट नियम नहीं है। प्रातःकाल शरीर का ताप घट जाता है परन्तु मध्याह्न काल के बाद ज्वर फिर बढ जाता है। अधिकतर ताप ९९ तापांश से १०१ तापांश तक रहता है। कभी-कभी शारीरिक तापांश १०२ से १०८ तापांश तक हो जाता है। परन्तु समय-समय पर इस नियम के विपरीत भी देखा जाता है। शरीर का ताप बढ़जाने पर रोगी प्रलाप करने लगता है और आन्त्रिक ज्वर की अवस्था को पहुँच जाता है। निद्रित-अवस्था मे रोगी को अधिक स्वेद निकलता है। देश, काल और अवस्था के अनुसार संताप मे घटती-बढती देखी जाती है।

नाडी

प्रातः काल की अपेक्षा मध्याह्न के बाद नाड़ी की गति बढ जाती है। क्षय पीड़ित रोगी की अवस्था के अनुसार नाडी की गति रहती है। नाड़ी प्राय: कोमल और दुर्बल रहती है। कभी-कभी नाडी ऐसी चञ्चल हो जाती है, कि ज्वर की तीव्रता के साथ इसका कोई सामञ्जस्य ही नहीं रहता है।

कफोद्गमादि

रोगी की खाँसी मे कफ झागदार और जल के तुल्य तरल होता है। अथवा सामान्य गाढा कफ होता है। क्रमश. कफ पीला पडकर रेखायुक्त हल्दी के समान हो जाता है। कफ बहुत भारी होता है। कभी-कभी कुछ हरे रंग का, झागदार, बंधा हुआ और बतासा के तुल्य कफ निकलता है। जल मे डालने से कफ डूब जाता है। इसमे असख्य क्षयाणु और फुफ्फुस-तन्तु मिले रहते हैं। समय-समय पर उसमे सामान्य

रक्त की रेखा भी रहती है। जैसे- जैसे फुफ्फुस का क्षत बढता है वैसे-वैसे कफ का परिमाण भी बढ़ता जाता है। यह गाढ़े पूय के साथ मिल जाता है। इस समय पूय के साथ रक्त के अधिक निकलने पर उसका वर्ण सुर्खी (ईंट के चूर्ण) के तुल्य हो जाता है। कभी-कभी अत्यन्त गाढा और छोटे-छोटे चक्र के आकार वाला कफ निकलता है। इसको 'न्यूम्यूलर' कहते है। कभी-कभी क्षयी रोगी का कफ उपर्युक्त लक्षणों से शून्य होता है। किसी समय पर जीर्ण श्वासनलीय प्रदाह मे ऐसा कफ निकलता है कि रोगी क्षीण हो जाता है और उसका शारीरिक भार अत्यन्त घट जाता है। इसकी अन्तिम अवस्था मे रोगी अति क्षीण हो जाता है। शय्या पर पड़े रहने से शय्याव्रण भी हो जाता है और अन्त मे मृत्यु हो जाती है।

अवस्था भेद

यक्ष्मा रोग को (१) प्राथमिक गुप्तावस्था, (२) संचयिकावस्था और (३) कोमलावस्था ऐसे तीन अवस्थाओं मे विभक्त किया जा सकता है।

प्राथमिक गुप्तावस्था

स्थान-स्थान पर अल्प मात्रा मे क्षयाणुओं से उत्पन्न क्षयार्बुदों के होने पर वक्ष की स्वाभाविक प्रतिध्वनि का परिवर्त्तन नहीं होता है। स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास के शब्द मे भी विशेष विलक्षणता नहीं होती है। परन्तु जब फेफड़ों में विकृति उत्पन्न हो जाती है, उस समय पीडित वक्ष के प्रतिघात करने मे शून्य गर्भिक शब्द का ह्रास हो जाता है और कोषीय (वैसीक्यूलर) शब्द परिवर्त्तित हो कर श्वास क्षीण हो जाता है तथा झटकेदार (Jerking) श्वास आने लगते हैं और नि श्वास दीर्घ हो जाता है। किसी-किसी स्थल पर अल्प पूर्ण शब्द होता है श्वास और प्रश्वास के परिवर्तन के साथ-साथ सवक्लेवियन् (अक्षका--धारगामिनीधमनी) और फुफ्फुसिया धमनी मे सॉ-सॉ शब्द सुनाई पडता है। इन सब भौतिक लक्षणों के प्रकाशित होने पर वक्षस्थल की

परीक्षा करने से फुफ्फुस के सामने, पीछे वा ऊपरी भाग मे आनुसङ्गिक बुद्बुद् शब्द (Rales) सुनाई देता है। अक्षकास्थि के नीचे और ऊपरी भाग में अथवा अंशपृष्ठ के ऊपरी गर्त (सुप्रास्पाइनस्फसा) मे प्रतिघात करने पर अल्प पूर्ण गर्भिक शब्द सुनाई देता है और फुफ्फुस के शिखर में कोषिक मर्मर शब्द वा कोई आगन्तुक शब्द सुनाई पडता है। प्राय: सभी रोगी की छाती विशेष कर एक तरफ की छाती चपटी हो जाती है और रुग्णपार्श्व दुर्बल हो जाता है। उस ओर की अस्थियाँ मास-पेशियों में से निकली हुई-सी दिखाई देती हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जावे तो रुग्णपार्श्व श्वास-निश्वास के समय कुछ कम फैलता हुआ मालूम होता है और मैली जिह्वा, मन्दाग्नि, विबन्ध, अरुचि आदि उपस्थित हो जाते हैं, रक्त मे रक्ताणु तथा श्वेताणु की बहुत कमी हो जाती है उनमे लसीकाणुओं के निपात की वृद्धि हो जाती है।

द्वितीयावस्था

इस अवस्था मे क्षयार्बुद (ट्यूबर्कल) से फेफड़े का शिखर कठिन और ठोस हो जाता है। इसलिये एक तरफ अथवा दोनों तरफ फेफड़े के ऊपर प्रतिघात करने से ठोस शब्द सुनाई पड़ता है। आकर्णन (Auscultation) से श्रोङ्कफनी और श्वासनलीयश्वास सुनाई पडता है। आवाज तेज और फटी हुई मालूम होती है। रोग से पीडित स्थान अवनत और वेदनायुक्त मालूम होता है। कठिन वा मर्मर शब्द वा विस्तार (इन्फिलट्रेशन) से श्वासनलीय के परिवेष्टित होने पर फूत्कार के तुल्य श्वास-निश्वास का शब्द सुनाई देता है। कभी-कभी यक्ष्मा की पहली और दूसरी अवस्था मे श्वासनलीय शोथ के चिह्न सहवर्ती होने पर श्वास-निश्वास के शब्द के स्वभाव का निर्णय करना कठिन हो जाता है। कभी-कभी पार्श्वशूल (प्लूरिसी) हो जाने पर घर्षण वा कट-कट शब्द (क्राक्लिङ्ग) सुनाई देता है।

तृतीयावस्था

यक्ष्मा की तृतीयावस्था मे रुग्णफुफ्फुस कोमल हो जाता है। अथवा फुफ्फुस का कुछ भाग कोमल और कुछ भाग ठोस हो जाता है।

और कुछ भाग में क्षयजाण्ड (ट्यूबर्कल) बन जातेहैं। इस अवस्था के प्रारम्भ मे कट-कट शब्द और आर्द्र राल्स (बुद्-बुद् शब्द) सुनाई पडते हैं। विच्छिन्न और गलेहुए पदार्थ कफ के द्वारा निकलने पर कुछ काल के लिये रोग स्थगित हो जाता है। यह कोमली भवन वा विगलन क्रिया धीरे-धीरे अधिक स्थान मे फैल जाती है और वहाँ पर कोटर (कैविटी) बन जाता है। दुर्बलता, रात्रि मे स्वेद, प्रलेपकज्वर (हेक्टिक्फीवर), द्वितीय अवस्था के अनेक चिह्न और आर्द्र बुद्बुद् शब्द (राल्स) सुने जाते हैं तथ- कोटर के सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। यथा—कान्दरिक (कैवार्नस), वाक् प्रतिध्वनि विशेष करके कान्दरिक फिस-फिस शब्द (ह्रइस्परिङ्ग) और गम्भीर श्वास-प्रश्वास मालूम होती है। किसी-किसी स्थल पर वृहद् विम्बस्फोटनकारी शब्द वा गम्भीर विम्बस्फोटनकारी शब्द होने पर गम्भीर कान्दरिक श्वास-निश्वास का शब्द बन्द हो जाता है। अथवा वह मृदु निश्वास मे सुनाई पडता है। इसके अतिरिक्त क्षुद्र वा गम्भीर स्थित कोटर के ऊपर ये सब शब्द पहले मालूम नहीं होते हैं। किन्तु कोटर के फैल जाने पर उसके ऊपर प्रतिघात शब्द, श्वास-निश्वास का शब्द और वाक् प्रतिध्वनि— ये सब शब्द धातुविक शब्द (एम्फरिक) स्वरूप मे मालूम होते हैं। कोटर के ऊपर कण्ठ स्वर परिष्कृत (Pectorilo quoo) होने से रोगी के कर्ण के निकट कहने पर उसकी सुनाई पडता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि गह्वर के ऊपर प्रतिघात (Percussion) करने से सब स्थलों पर एक ही स्वरूप के चिह्न नहीं पाये जाते हैं। गह्वर के प्राचीर की स्थूलता और अवस्था के ऊपर प्रतिघातीय शब्द का स्वभाव निर्भर करता है। यदि गह्वर का प्राचीर कठिन और स्थूल होता है तो सम्पूर्ण पूर्ण गर्भयुक्त शब्द प्रकट होता है। यदि व्यवधायक प्राचीर पतली होती है, तो अनेक भाँति के आध्मानिक शब्द भग्न कास्यपात्र के तुल्य शब्द वा धातुज शब्द उत्पन्न होते हैं। यदि वक्ष प्राचीर और गह्वर के मध्य में अल्पमात्रा से कठिन विधान होता है, तो ठोस शब्द और आध्मानिक शब्द—इन दोनों

का मिश्रित शब्द सुनाई पडता है। यदि गह्वर स्वस्थ फुफ्फुस यत्र से घिरा होता है, तो शून्य गर्भ शब्द सुनाई पड़ता है। गह्वर के ऊपर प्रतिघात करने के समय यदि रोगी का मुख खुला होता है तो शब्द की ध्वनि मे परिवर्तन आ जाता है। परन्तु, मुख के बन्द होने पर वे शब्द निम्नग्राम विशिष्ट होते है। इन तीनों अवस्थाओं के साथ रोगी के श्वास-प्रश्वास में तेजी और क्षीणता आदि के लक्षण होते हैं।

प्राचीन सूत्रीय तान्तविक क्षय

यह रोग विशेष करके रेत और धूलि मे काम करनेवाले मनुष्यों को होता है। परन्तु अधिकतर प्राचीन प्रणालीय श्वसनक ज्वरीय क्षय के दीर्घकालानुबन्धी हो जाने पर यह स्वरूप बन जाता है। अथवा किसी-किसी स्थल पर जीर्ण परिफुफ्फुसीया-कला शोथ आदि रोगों मे उपद्रव स्वरूप हो जाता है।

स्वरूप

इस रोग की वृद्धि धीरे-धीरे होती है। इसलिये इसके लक्षण स्फुट नहीं प्रतीत होते हैं। अधिकतर ज्वर होता ही नहीं है, कभी-कभी मन्दज्वर हो जाता है। अनियमित स्वेद, क्षीणता, दुर्बलता आदि चिह्न भी अत्यल्प होते हैं, अथवा उत्पन्न ही नहीं होते। उर:परीक्षण से लक्षण स्पष्ट प्रतीत नहीं होते हैं। जीर्ण प्रणालीय क्षय के लक्षण प्राय: होते हैं। ऐसा रोगी १०-२० वर्ष तक जीता है। उसको अपने रोग का ज्ञान भी नहीं होता है, रोग की वृद्धि में लक्षण स्पष्ट मालूम होते हैं। इसलिये चतुर चिकित्सक अथवा एक्सकिरण द्वारा ही इस रोग का ज्ञान होना सम्भव है।

आन्त्रिकक्षय

(Intestinal Tuberculosis)

क्षयाणु दूपित खाद्य-पेय पदार्थों के सेवन करने से वे क्षयाणु अंतड़ियों मे पहुँच जाते हैं। अथवा क्षयी द्वारा थूक के निगलने से भी क्षयाणु आत्र में पहुँच जाते हैं। उनसे क्षुद्रान्त्र का अन्तिम भाग

और बृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग ही अधिकतर आक्रान्त होते हैं। अन्त्र की दीवार मे ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं जो मृदु होकर फट जाती हैं। पूय स्राव प्रभृति मल द्वारा वाहर निकलने लगता है। ये व्रण इधर-उधर या दीवार के अन्दर की तरफ फैलते जाते हैं। यदि कोई धमनिका आदि व्रण मे आ जावे तो उसके कट जाने से रक्त का स्राव होने लगता है। अथवा व्रण की वृद्धि होकर अन्त्र की सम्पूर्ण दीवार को अतिक्रमण करके उदर्याकला (पेरिटोनियम) मे शोथ पैदा कर देता हैं।

लक्षण

क्षय के ज्वर, क्षीणता प्रभृति सामान्य चिह्न विद्यमान हो जाते है। आरम्भ में कब्जी और उदर मे वेदना होती है। जब ग्रन्थियों के फटने से क्षय वन जाते हैं तो अतिसार उत्पन्न हो जाता है। किसी-किसी समय पर प्रवाहण भी होता है। मल की परीक्षा करने पर उसमे क्षयाणु देखे जाते है। उदर निकला हुआ और हाथ लगाने पर वेदना मालूम होती है। उदर की लसीका-ग्रन्थियों मे वृद्धि मालूम होती है। कभी- कभी क्षत के उपद्रव से रक्तस्राव भी होने लगता है।

गण्डमालीय क्षय

क्षयाणु पीड़ित गलग्रन्थियों के द्वारा लसीका-ग्रन्थियों में जाकर क्षयार्वुद (ट्यूवर्कल) उत्पन्न कर देते हैं, जिससे उनकी वृद्धि हो जाती है। इसी भाँति उदर की और वक्षःस्थल की ग्रन्थियाँ भी शोथ-युक्त हो जाती हैं।

गण्डमालीय क्षय बालकों और नवयुवकों को अधिक होता है। प्रारम्भ मे सिर्फ ग्रथियाँ वढ जाती हैं, अन्य कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होता। परन्तु धीरे-धीरे मन्द ज्वर होने लगता है, आतुर क्षीण होने लगता है और स्वेद अनियमित रूप से आने लगता है। वढ़ी हुई ग्रन्थियाँ जो पहले अलग-अलग होती हैं अव परस्पर मे मिल जाती हैं और धीरे-धीरे वढ़कर फट जाती हैं। इस अवस्था को अपचीय क्षय कहा जाता है।

मस्तिष्कावरणीय-कलाक्षय

जब मस्तिष्कावरणीय-कला में क्षयाणु पहुँच जाता है, तो उसमें क्षय के लक्षण उत्पन्न कर देता है। यथा—रोगी के शिर तथा हाथ-पैरों में अत्यन्त वेदना, अनिद्रा, उत्क्लेश और छर्दि होने लगती है। शीघ्र ही गर्दन तोड़ ज्वर के लक्षण उत्पन्न हो जाते है। रोगी कठिनता से ७ दिन तक जीता है।

रक्तपैत्तिक क्षय (हेमोरेजिक थाइसिस्)

इसमें फुस्फुस से रक्तस्राव होता है। यह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। यह रोग सहसा प्रकट हो जाता है। कभी-कभी यह रक्तस्राव सांघातिक हो जाता है। बार-बार रक्तोत्कास होने पर धीरे-धीरे क्षय हो जाता है। पण्डितगण यह अनुभव करते हैं कि क्षय-गण्ड (ट्यूबर्कल) जन्य क्षत से फेफडे की रक्तनली फट जाने से रक्त निकलता है।

स्वर-यान्त्रिक-क्षय

इस रोग मे कण्ठनाली के अन्दर ट्यूबर्कल (क्षयगण्ड) सञ्चित हो जाते हैं। प्राय. कण्ठनाली के कोमल भाग मे क्षत हो जाता है। अथवा कण्ठनाली के अस्थि मे क्षत (केरिज) वा अस्थिक्षय (निक्रोसिस्) हो जाता है। श्लैष्मिक-कला मे भी कुछ उभरे हुये छोटे दानेदार क्षय-गण्ड सञ्चित हो जाते हैं। बाद को ये सब स्थान क्षत से ग्रस्त हो जाते हैं और क्षत गम्भीर-विस्तीर्ण-तान्तविक विधान के अश पर आक्रमण करता है। सन्धि मे पूय पड जाता है और उपास्थि नष्ट हो जाती है।

औपदंशिक क्षय

इसमें फेफड़े के अन्दर ग्रन्थि पैदा होकर सड जाता है और बाद को कोटर बन जाता है। इसको औपदंशिक क्षय कहते हैं।

सर्वाङ्गीय राजयक्ष्मा

प्रारम्भ मे प्राय किसी विशेष अग का क्षय होता है। फिर वहां से क्षयाणु रक्त मे प्रविष्ट होकर सर्वाङ्गीय क्षय उत्पन्न कर देता है। अधिक-

तर यह उपद्रव रूप में प्रकट होता है। इसमें शरीर के प्रत्येक स्थानों में छोटे-छोटे क्षयगण्ड उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी यह क्षय तीव्र ज्वर के साथ आरम्भ होता है। परन्तु, अधिकतर मन्थर-ज्वर के तुल्य धीरे-धीरे उत्पन्न होता है। आतुर दो-चार दिन में अत्यन्त दुर्बल होकर शय्या पर पड जाता है और शिरःशूल, निद्रानाश आदि चिह्न उत्पन्न हो जाते हैं। उसकी नाड़ी की गति अति तीव्र और क्षीण होती है। श्वास तीव्र हो जाती है, ज्वर अनियमित रूप से आता है और फिर उतर जाता है। कभी-कभी ज्वर विसर्गी और कभी-कभी अविसर्गी स्वरूप धारण कर लेता है। रोगी शीघ्र ही क्षीण होकर ४५ दिन से ६० दिन के अन्दर मृत्यु के मुख में पहुंच जाता है।

रोग आरम्भ होने के कुछ दिन बाद यह प्रतीत होता है कि उसके फुफ्फुस या मस्तिष्कावरणीय-कला विकार-युक्त है। फुफ्फुसीय सर्वाङ्ग-क्षय में फेफड़ों के सम्पूर्ण स्थान में कूजन और मृदु-मध्य करकरापन (Cripitation) सुनाई देता है। किसी-किसी स्थल पर सामान्य रीति से सम्पूर्ण अंगों में न होकर पहले से उपस्थित क्षय, काली खाँसी या रोमान्तिका में सहसा हो जाता है जिससे आतुर १०-१५ दिन में प्रस्थान कर देता है। शीर्षावरणीय सर्वाङ्गीय-क्षय के लक्षणों का वर्णन किये जा चुके हैं। यह असाध्य रोग है।

गति

इस रोग में मृत्यु के पूर्व फुफ्फुस आदि में गर्त (कैविटी) हो जाता है। कभी-कभी इस प्रकृति का यक्ष्मा न बढकर स्थगित हो जाता है। अधिकतर यक्ष्मा एक बार बढकर फिर कुछ दिन के लिये रुक जाता है। इस समय में रोगी हृष्ट-पुष्ट हो जाता है और कुछ काल के बाद फिर रोग भयंकर आक्रमण होता है।

स्थिति-काल

ग्रीष्म प्रधान देश में क्षयरोगी साधारणतः ढाईवर्ष तक जीवित रहता है। कभी-कभी इतने काल से अल्प या अधिक कालतक भी

यक्ष्मा का रोगी जीवित देखा जाता है। भारतवर्ष में भलीभाँति चिकित्सा करने पर यक्ष्मा का रोगी तीन वर्ष तक जीवित रहता है। यदि शहरों का वास छोडकर ग्राम अथवा पर्वतीय स्थानों पर वास किया जावे तो अधिक कालतक बचने की सम्भावना रहती है। इस रोग में अचानक मृत्यु नहीं होती। प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि विशुद्ध चिकित्सक द्वारा चिकित्सा होने पर एक हजार दिन तक रोगी जीवित रहता है।

यथा—

पर दिन सहस्रन्तु यदि जीवति मानव
छ्भिषग्भिरुपक्रान्त तरुण शोषपीडित ।

रोग-निर्णय

रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान हो जाना अति कठिन है। इसका सन्देह होने पर रोगी के मल, थूक आदि की परीक्षा करानी चाहिये। यदि थूक मे क्षयाणु न मिले और अल्ब्यूमिन विद्यमान हो, वे तो इसको राजयक्ष्मा समझना चाहिये।

वानपृक्टि-परीक्षा

इसकी परीक्षा के लिये दो ट्यूब मिलती है। एक ट्यूबरक्यूलीन और दूसरी नारमल सेलाइन। इनमें २-२ बूँद बाँहुपर चार-चार इञ्च पर रख देवें। इधर-उधर के विन्दु ट्यूबरक्यूलीन के हों और मध्य में नार्मल सेलाइन का। इन स्थानों पर भोथरे चाकू से इस तरह खुर्चें कि रक्त न निकले। १० मिनट तक उन विन्दुओं को नगा रखें जिससे वे लीन हो-जावें। २-३ दिन के पीछे यदि ट्यूबरक्यूलीन वाले स्थान पर लाल-लाल पिडिकायें निकल आवें तो उसमें क्षयरोग की उपस्थिति समझनी चाहिये। सेलाइन केवल मिलान के लिये रखा जाता है। बाँह पर कोई पिडिका सूजन आदि नहीं होनी चाहिये। यह परीक्षा वर्तमान तथा भूतकाल के क्षय को सिद्ध करती है। आज ७५ प्रतिशत नगरवासियों मे क्षयाणु प्रविष्ट होकर छोटी-सी ग्रन्थि वनाकर स्वयं मर जाते है और

ग्रन्थि खटिकयुक्त हो जाती है। परन्तु रोगियां को इसका ज्ञान तक नहीं होता है। अतः नगर वासियों मे वडी आयु मे इसका होना कोई आश्चर्य नहीं समझें। यह परीक्षा बच्चों और तरुण व्यक्तियों के रोग ज्ञान मे वहुत सहायता देती है।

एक्सकिरण

आजक एक्सकिरण से क्षयरोगी की परीक्षा सुगम रीति से हो जाती है। परन्तु स्वस्थावस्था मे इससे कोई छाया नहीं आती है। यदि क्षय ग्रन्थियाँ होती हैं तो इससे मालूम हो जाता है।

शोणित-परीक्षा

इसमे श्वेताणु कम हो जाते हैं और लसीकाणुओं की नैपातिक संख्या मे वृद्धि हो जाती है।

भावी फल

इस रोग का भावी फल प्राय. भयावह होता है। सार्वाङ्गिक क्षय असाध्य होता है और इससे रोगी शीघ्र ही मर जाता है। स्थानिक क्षय प्रायः साध्य होते हैं जिनमें शल्यकर्म किया जाता है। उदर के अंगों का क्षय अति कठिन होता है। इनमे आन्त्रिक-क्षय कष्ट साध्य है। कायिक क्षय रोगों मे यक्ष्मा के लिये पर्याप्त अवसर रहता है। अनेक व्यक्तियों को गुप्त यक्ष्मा होकर स्वयं अच्छा हो जाता है। एक वार यक्ष्मा हो जाने पर फिर वार-वार आक्रमण की आशंका रहती है। रक्त का वमन होकर कभी-कभी उसी समय म रोगी की मृत्यु हो जाती है। मस्तिष्कावरणी कला क्षय भी असाध्य होता है।

चिकित्सा

जिस कारण से क्षयरोग उत्पन्न हुआ हो, उस कारण का विनाश करना ही इसकी प्रधान चिकित्सा है। अत' यक्ष्मकीटाणु से विशेष विधि द्वारा निर्माण किया हुआ ट्यूवर्क्यूलीन इञ्जेक्शन ही इसका प्रधान औषध है।

यथोक्तम्—

सक्षेपत· क्रियायोगो निदान परिवर्जनम् ।

राजयक्ष्मा के रोगी के मल और वीर्य की रक्षा विशेष रीति से करनी चाहिये। इसका कारण यह है कि पुरुषों का वल शुक्र के अधीन होता है और मल के अधीन जीवन है। अत राजयक्ष्मा मे अतिसार की उत्पत्ति हानिकारक है।

यथोक्तं चरके—

शुक्रायत्तं वल पु सां मलायत्त हि जीवितम् ।
तस्माद् यत्नेन सरक्षेत्, यक्ष्मिणो मलरेतसी ॥
तस्मिन्काले पचत्यग्निर्यदन्न कोष्ठमाश्रितम् ।
मली भवति तत्प्राय· कल्पते किञ्चिदोजसे ॥
तस्मात्पुरीप सरक्ष्य विशेपात् राजयक्ष्मिण. ।
सर्वधातु क्षयार्तस्य वल तस्य हि विड्वलम् ॥

सारांश यह है कि राजयक्ष्मा के रोगी की जठराग्नि कोष्ठाश्रित अन्न का जो पाचन् करती है उसका अधिक भाग मल ही वन जाता है। फिर सिर्फ कुछ भाग ही ओज के लिये शेप रहता है। अत· उसके पुरीप की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि सव धातुओं के क्षय हो जाने पर उसका विड्वल ही वल हो सकता है। ध्यान रहे, विवन्ध नहीं होने देना चाहिये। रोग के विप को वाहर निकालने के लिये सव साधन का उचित रूप से काम करते रहना चाहिये। प्रकृति स्वयं ही इस कार्य के लिये अधिक स्वेद लाती है। केवल मल की ओर ही विशेष ध्यान रखना चाहिये। भोजन विवन्धनाशक होना चाहिये। फल, शाक अधिक खाना चाहिये। फिर भी यदि कव्जी रहे तो मृदु स्निग्ध विरेचन दें। परन्तु इसके लिये रोगी की अवस्था पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि दोष अधिक हो तो रोगी को पहले स्नेह-स्वेद करा के शरीर के अत्यन्त क्षीण न होने पर शरीर को कर्षण न करने वाला मृदुस्निग्ध विरेचन देवें।

यथोक्तम्—

दोपाधिकानां वमन शस्यते स विरेचनम् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेह यन्न कर्षणम् ॥

शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि ।
अवलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्योविरिच्यते ॥

अतः क्षयी के मृदुविरेचन के लिये उष्ण गोदुग्ध मे बादाम का तेल डाल कर देवें। अथवा गुलकन्द, वनफ्सा आदि भी दी जा सकती है।

प्रथम दशा

(Feirst Stage)

इस अवस्था मे कफ की प्रबलता, खॉसी, जुकाम, अरुचि आदि लक्षणों के होने पर राजमृगांक १ रत्ती, पिप्पली और मधु के साथ देवें।

वासावलेह २ घंटे का अन्तर देकर के सेवन करावें। इस भॉति दिन मे ३-४ वार देवें। मुख मे मरिचादि वटी (शार्ङ्गधरोक्त) रखें। भोजन के एक घंटा बाद द्राक्षारिष्ट १ तोला देवें। यदि ज्वर हो तो पुटपक विषम-ज्वरान्तक लौह (रसेन्द्रोक्त) भी राजमृगांक के साथ मिलाकर देवें और लाक्षादि तेल की मालिश करावें। पश्चिमी चिकित्सक पाचक और बलवर्धक होने के कारण मछली के तेल (Cod Liver oil) का प्रयोग आरम्भ से ही अधिक मात्रा मे करते हैं। यदि रोगी अधिक क्षीण न हो, तो मछली का तेल ही देवें। यदि इसका सेवन न कर सके तो इसको इमल्शन के रूप मे अकेला अथवा अन्य ओषधियों के साथ मिश्रित कर देवे। क्योंकि यह खाने से कुछ ग्लानि उत्पन्न करता है।

इमल्शनों के योग

(१) काडलीवर आइल विद माल्ट एक्सट्रैक्ट।
(२) काडलीवर आइल विद माल्ट एक्सट्रैक्ट एण्ड हाइपो-फास्फाइट्।
(३) नं० २ विद आयरन आयोडाइडस्।
(४) नं० ३ विद कैमिकल फूड।
(५) काडलीवर आइल विद मैटेजन।
(६) पैलोल—स्वादरहित काडलीवर आइल का इमल्शन।

यदि पक्काशय मे विकार होने के कारण काडलीवरतेल सहन न हो, तो लाइकर पोटासी प्रभृति के साथ इमलशन रूप में देने से उपकार होता है। पाचनशक्ति के उन्नत होने पर बलकारक औषध का प्रयोग करे। ज्वर न होने पर लोहयुक्त औषध देवे। ज्वर रहने पर किनाइन अच्छी है, परन्तु पित्त का अनुबन्ध नहीं होना चाहिये। ज्वर छूट जाने पर भी स्नायु सम्बन्धी अधिक दुर्बलता होने पर किनाइन विशेष लाभदायक होती है। यदि रोगी परिश्रम करने से अधिक दुर्बल हो गया हो, तो उस समय फेफडे जितनी मात्रा मे पीड़ा से पीडित हों, उसीके अनुसार एक से तीन ग्रेन तक की मात्रा मे दिन मे तीन-चार बार किनाइन देवे, परन्तु किनाइन से पक्काशय मे उग्रता न पैदा होने पावे इसका ध्यान रखे। अत. कुचिलासत्त्व (Strychnia) के साथ लौह और किनाइन देवे। इसमें हाइपो फास्फाइट भी लाभ करती है।

कफनिष्क्रमण-प्रयोजन

क्षयरोग मे कफ का पूर्ण रीति से निकलना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि फेफडों के मध्य मे कफ के रह जाने पर फेफड़े का नवीन भाग भी क्षय से ग्रस्त हो जाता है। अत' यक्ष्मा के रोगी को खाँसी का बना रहना ही लाभदायक है। किन्तु खाँसी के अधिक होने पर नींद नहीं आती है। इसके लिये रात्रि के समय कासशामक योग दो-तीन बार सेवन करे। किन्तु इसको दिन मे न देना अच्छा है। दिन मे खाँसी को दूर करने के लिये मार्समैलो प्रभृति से संयुक्त टिकिया या स्निग्धकारक जल सेवन करे।

कष्टकारक कास मे रेस्पिरेटर इनहेलर (Respiratoi-Inhaler) नामक यन्त्र मे औषध डालकर व्यवहार करने से विशेष लाभ होता है। इस यन्त्र मे रूई रखकर उसमे तीन भाग गोयाकेल और एक भाग क्लोरोफार्म का मिश्रण कर कुछ बूँद रूई पर डालकर नियमानुकूल यन्त्र को मुख के ऊपर बाँधे और रोगी को अतिबल से मुख के द्वारा श्वासग्रहण करने के लिये उपदेश देवें। इससे सहज ही कफ निकलकर कास कम

हो जाता है। रात्रि मे सोने से पहले कोनायम् और क्लोरोफार्म के श्वास की व्यवस्था करें। इससे खाँसी दबकर नींद आती है। यदि खाँसी के बाद वमन हो जावे तो दूध या जल के साथ बीस ग्रेन की मात्रा में सबनाइट्रेट आफ विस्मथ दिन मे तीन बार देवें और पक्वाशय के स्थान पर हल्का ब्लिस्टर (छाला उठानेवाली) औषध लगावें। अथवा राई का प्लास्टर लगावे। अथवा वमन को शान्त करने के लिये मुलेठीसत्त्व एक माशा, यवक्षार एक रत्ती मिलाकर दिन मे तीन बार देवे। इससे कास के बाद वमन होना शान्त हो जाता है।

निशास्वेद की चिकित्सा

रात्रि में पसीना निकलना इस रोगका प्रधान लक्षण है। इससे रोगी को नींद नहीं आती है और रोगी बहुत दुबला-पतला हो जाता है। अनेक स्थलों पर ऐसा भी देखा जाता है कि रोगी को लेटने से पहले पुष्टिकारक आहार के सेवन कराने पर स्वेद बन्द हो जाता है। इसके लिये दूध और मुर्गी के अण्डे अत्यन्त लाभकारी है। इस उपाय के निष्फल होने पर स्वर्ण वसन्तमालती शयन के पहले प्रयोग करने पर निष्फल नहीं होती है।

पश्चिमी चिकित्सा—निशास्वेद मे एट्रोपिन की शतांश ग्रेन (चौथाई ख़सख़स) की मात्रा त्वचोऽधः क्षेपण (हाइपोडर्मिक) रूप से प्रयोग करते हैं। अथवा यशदभस्म तीन ग्रेन, वेलाडोना सत्त्व सूखा $\frac{1}{6}$ ग्रेन, इनकी गोली बनाकर सोने के समय देते हैं। अथवा लायकर अट्रोपीन एक बूंद पानी मिलाकर देते हैं।

यक्ष्मा ज्वर की चिकित्सा

यक्ष्मा मे दो कारणों से ज्वर होता है। (१) फुफ्फुस का नवीन भाग क्षयग्रस्त होने के समय और (२) फुफ्फुस का कठिन भाग नष्ट और विश्लिष्ट हो कर शरीर में शोषित होने पर ज्वर पैदा होता है। प्रथम कारण से उत्पन्न हुआ ज्वर स्थायी और द्वितीय कारण से उत्पन्न हुआ ज्वर स्वल्पविरामवाला होता है। अनेक स्थलों पर दोनों कारण

एक मे मिलकर ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं। परञ्च अधिकतर एक कारण की प्रधानता होती है। यक्ष्मा के ज्वर की चिकित्सा मे सबसे मुख्य बात यह है कि रोगी को विश्राम करावे। ओषधियों के मध्य मे जयमङ्गल रस (रसेन्द्रसारोक्त) की दो-तीन गोलियाँ चौबीस घण्टे मे देवे। यद्यपि ज्वर के लिये कभी-कभी औषध काम नहीं करती, तो भी ज्वर के समय रक्त संचालन और नाड़ी सस्थान के ऊपर औषध कुछ न कुछ काम करती ही है।

पाश्चात्य प्रयोग—क्विनाइन दो से पाँच ग्रेन तक और डिजिटेलिस चूर्ण एक ग्रेन, इसकी एक गोली बनावे, चौबीस घण्टे मे दो-तीन टवी तक दे यह भी ज्वर के समय रक्त संचालन और नाडी विधान के ऊपर अच्छा असर करता है। सैलिसिलिक् एसिड का अथवा त्वचोऽधः क्षेपण (हाइपोडर्मिक) रीति से सेलिसिलेट् आफ्सोडा का प्रयोग भी लाभदायक होता है। दस से बीस ग्रेन की मात्रा मे एन्टिपाइरिन् चार-पाँच घन्टा के अन्तर से प्रयोग करते हैं। क्षयरोग की प्रथम-अवस्था मे तरुण ज्वर वर्तमान होने पर रोगाक्रान्त वक्ष के ऊपर अलसी की पुल्टिश, वा सरसों की पुल्टिश का प्रयोग करे। अथवा स्पञ्ज मे उत्तेजक लिनीमेन्ट (Liniment) सिञ्चन करके सेक करने से विशेष लाभ होता है। प्राय इन क्रियाओं से कफ और प्रादाहिक क्रिया नष्ट हो जाती है। रोग की शेष अवस्था मे विशेष करके फेफडा मे कैविटी (गर्त) हो जाने पर उग्र प्रत्युग्रतासाधक औषध श्रेष्ठ होती है। इसके लिये आइयोडिन, और कन्थारीडीस विशेष लाभदायक है। जिन स्थलों पर पुराना गर्त हो, वहाँ पर इनके द्वारा रसादि का निकलना कम हो जाता है। परिफुप्फुसियाकेला (In pleura) मे वेदना होने पर प्रत्युग्रतासाधक औषध ही लाभ करती है।

रक्तोत्कास की चिकित्सा

यक्ष्मा की प्रथमावस्था मे रक्तोत्कास हो, तो रोगी को पूर्ण विश्राम देवें। खासी के द्वारा अल्प रक्त निकले अथवा न निकले, तो भी रोगी

को कई दिनों तक चारपाई से उठने न दें। रोगी को हवादार घर में रखें। रोगी को मोज़ा पहनाकर रखें। फ़्लालेन आदि में रोगी को आच्छादित रखें। लघु, पुष्टकर और शीतल पथ्य हितकर है। गरम जल और मद्य का निषेध है। बरफ का टुकड़ा चूसने के लिये देवें। इन उपायों से भी रोग न दबने पर नमकीन विरेचन देवें, इससे शीघ्र ही लाभ होता है। यदि रोगी दुर्बल न होवे, तो पहले विरेचक औषध का प्रयोग करें। आक्रान्त वक्ष की ओर सूखा ग्लास (ड्राई कपिङ्ग) लगावें। इससे लाभ होता है। जिन ओषधियों का आभ्यन्तरिक प्रयोग किया जाता है उनमें धातव-अम्ल प्राय: अच्छा होता है। बाद में प्रयोजन होने पर गैलिकएसिड् फिटकरी और डाइल्यूटेड् सल्फ्यूरिक एसिड् का प्रयोग करें।

अनुभूत योग

ओलि टरिविन्थ (Ole Terbinth) चौदह बूँद।

म्यूसिल, एकेसी (Mucil, Acac) ad, एक औंस तक।

विधि—इनको एक में मिलाकर पिलावें और मूत्र की अवस्था पर ध्यान रखें। अथवा—प्रयोजन होने पर इसमें तिहाई मात्रा में तीन-तीन घण्टे का अन्तर देकर बार-बार प्रयोग करें। पुरातन यक्ष्मा में धमनी से रक्तस्राव होने पर अर्गट विशेष लाभप्रद है।

प्रवालपिष्टी का प्रयोग

प्रवालपिष्टी २ रत्ती, गुड़ूची सत्त्व ४ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण २ माशा, इनको एक में मिलाकर शर्बत अनार ५ माशा से चाटें। २-२ घंटे के बाद इसका प्रयोग करें। इससे रक्तोत्कास बन्द होता है। ऊपर से पीने के लिये उशीरासव २ तोला दें, इससे लाभ होता है। मुख में रखने के लिये एलादि वटी का प्रयोग करें। अकीक भस्म, कुष्माण्डावलेह और चन्दनाद्यवलेह भी लाभकारी योग है।

वायु की प्रबलता में—पार्श्वशूल, स्कन्ध पीड़ा, स्वरभेद आदि होने पर कस्तूरी चौथाई रत्ती, राजमृगाङ्क १ रत्ती, पिप्पली चूर्ण आधा माशा, मधु ४ माशा मिलाकर सेवन करें। ऊपर से दशमूल क्वाथ ≤— छटाक

पीवें। लघु भोजन के आध घंटा बाद संजीवनी सुरा १ तोला पीवें। वक्षःस्थल और पसुलियों पर अश्वगन्ध तेल और महामापादि तेल की मालिश कर। यदि ज्वर सर्वदा रहता हो तो अमृतारिष्ट अथवा सुदर्शन चूर्ण पहले देवें।

यकृद् वृद्धि में—सर्वज्वरहर लौह (रसेन्द्रसारोक्त) ३ रत्ती की मात्रा में मधु के साथ सुबह-शाम देवें।

पित्त की प्रबलता में—दाह, मूर्च्छा, वमन, अतिसार आदि लक्षण होने पर द्राक्षादि चूर्ण (योगरत्नाकरोक्त) ३ माशा की मात्रा में, शर्बत-अनार ६ माशा के साथ देवें। अथवा चन्दनादि चूर्ण ३ माशा की मात्रा से उपर्युक्त अनुपान के साथ देवें और वृहच्चन्दनादि तेल (चरकोक्त) की मालिश करें। यदि हाथ-पैरों में दाह हो, तो शतधौत-नवनीत में कपूर मिला कर मालिश करें, इससे दाह शान्त हो जाती है।

राजयक्ष्मा की द्वितीय अवस्था

(Second stage)

कफ की प्रबलता में—प्रतिश्याय, कास, शिर शूल, गौरव आदि लक्षण उपस्थित होने पर महालक्ष्मी विलास रस, महाराजमृगाङ्क रस, काञ्चनाभ्र रस, क्षुद्रावलेह, मरिचादि वटी और खिचा हुवा द्राक्षासव रोगी की अवस्थानुसार देने से बहुत लाभ होता है।

प्रतिश्यायहर मधुकादि क्वाथ

मुलेठी, गाजवाँ, बनासा, अजीर, रेशाखतमी, मुनक्का—इन सब को समान भाग २ तोला ले कर ऽ।। जल में पकावें। शेष क्वाथ एक छटाक रहने पर हाथ से मर्दन कर छान कर कुछ गरम ही प्रात-साय पीवें। इससे जुकाम और ज्वर शान्त हो जाता है। व्योषादि वटी (शार्ङ्गधरोक्त) मुख में रख कर चूसना भी लाभदायक है।

ज्वर होने पर—हेमगर्भ पोटली रस १ रत्ती, तालीसादि चूर्ण ३ माशा मधु मिला कर सुबह-शाम देवें।

ज्वरातिसार में—जातिफलादि वटी १ गोली, आनन्द भैरव १ गोली

विषमुष्टिक वटी (सिद्ध भषज्यमणिमालोक्त) २ वटी, तालीसादि चूर्ण २ माशा मिलाकर शर्वत वनप्सा के साथ देवें। ऊपर से कुटजारिष्ट १ तोला पिलावें। अथवा लाईचूर्ण (भावप्रकाशोक्त) भी उचित मात्रा मे देने से लाभ होता है।

अतिसारावस्था मे जयमङ्गल रस और हेमगर्भ पोटली रसादि स्वर्ण-घटित योग विशेष लाभकारी होते हैं। सिद्ध प्राणेश्वर रस, कर्पूर रस आदि दवाइयाँ भी दी जाती हैं।

अरुचिनाशक चूर्ण

दालचीनी, नागरमोथा, इलायची, धनिया इनको सम मात्रा में ले कर के चूर्ण बनावें। इस चूर्ण को मञ्जन के तुल्य दाँतों में रगड़ कर कुल्ला करें। अथवा इनका क्वाथ बनाकर कुल्ला करें। इससे अरुचि दूर होती है। यवानीषाण्डव चूर्ण (चरकोक्त) सेवन करें। इससे अरुचि नष्ट हो जाती है।

तृतीय दशा
(Third stage)

इस अवस्था मे पहुँचने पर प्राय. अत्यल्प सफलता मिलती है। इसमे भी पहले के ही, योग राजमृगाङ्क, वसन्तमालती, जवाहरमोहरा आदि दिये जाते हैं। इसमें मल्ल चन्द्रोदय भी लाभ करता है। परन्तु सुवर्णघटित पूर्वोक्त योग ही विशेष लाभ करते हैं। आजकल पश्चिमी चिकित्सक भी सुवर्णयुक्त, साइनोक्राइसीन और क्राइसाल्गॉंच आदि औषधियों का इञ्जेक्शन देते हैं।

सोडियम मारुएट और ट्यूवरकुलीन के इञ्जेक्शन भी दिये जाते हैं। शरीर मे खटिक लवणों की आवश्यकता होती है। अतः मुक्ताभस्म, शंखभस्म और कौड़ीभस्म भी लाभ करते हैं।

ज्वर मे—निम्नलिखित ज्वरसंहार सेवन करावें।

ज्वरसंहार

विधि—शुद्ध श्वेत संखिया १ तोला, सफेद फिटकरी ऽ। लेकर सकोरे मे आधी फिटकरी का चूर्ण नीचे बिछा दे और बाद को संखिया की डली रखकर ऊपर से आधा फिटकरी का चूर्ण रख कर दवा देवें। फिर उसके ऊपर दूसरा सकोरा रख कर कपडमिट्टी कर पुट मे फूँक देवें।

सेवन विधि—मात्रा आधी रत्ती, शर्बत वनप्सा के साथ देवें। २४ घंटे में तीन मात्रा देवें। यह दवा इसलिए लाभदायक है, कि क्षयाणु विष से ज्वर होताहै और मल्ल क्षयाणुओं को नष्ट करता है। इससे ज्वर मे यह योग विशेष लाभकारक है। ऊपर से दूध पिलावें। दिन मे ज्वर चढने के पहले ही दवा देवें। ज्वर चढ जाने पर दवा न देवें।

कास मे——वासावलेह और वासा के सूखे पत्तों की धूमवर्ति (Cigarette) बना कर पिलावें। वासा का प्रयोग किसी भाँति करें। सब योग लाभकारी होते हैं।

यथोक्तं भावप्रकाशे—

वासायां विद्यमानायामाशाया जीवितस्य च।
रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति ॥

गण्डमालीय क्षय— काञ्चनार गुग्गुल और सारिवाद्यासव के साथ मृगांक रस का प्रयोग करें।

मस्तिष्कावरणीय क्षय में—कस्तूरी भैरव १ रत्ती आद्रक रस ४ माशा के साथ सुबह-शाम देवें। विषगर्भ तेल की मालिश करें। विशेष चिकित्सा गर्दनतोड बुखार के तुल्य करें।

रक्तपैत्तिक क्षय में—सितोपलादि २ माशा, मुक्तापिष्टी १ रत्ती, प्रवालपिष्टी २ रत्ती, शर्बत अनार १ तोला के साथ ३-३ घंटे मे चटावें। ऊपर से उशीरासव २ तोला की मात्रा में पिलावें। इससे रक्तप्रवृत्ति बन्द होती है। पार्थाद्यरिष्ट, एलादि वटी, कुमुदेश्वर आदि का भी प्रयोग किया जाता है।

विषमज्वरीय क्षयोपचार

इस दशा मे पुटपक्क विषमज्वरान्तक लौह (रसेन्द्रसारोक्त) लोकनाथ रस, अमृतारिष्ट, सर्वज्वरहर लौह आदि उपयुक्त मात्रा से देवें।

पूयमेहज क्षयी-चिकित्सा

इसमे चन्दनाद्यवलेह के साथ प्रवालभस्म २ रत्ती, गुडूची सत्त्व २ माशा मिलाकर चटावें अथवा गुडूच्यादि मोदक देवें। विशेष चिकित्सा पूयमेह प्रकरण में देखकर करें।

औपदंशिक क्षय-चिकित्सा

वसन्तमालती १ रत्ती और गुडूची सत्त्व ४ माशा, मधु ४ माशा के साथ सुबह-शाम चाटें। ऊपर से सारिवाद्यासव २ तोला की मात्रा में पीवें।

मधुमेहिक क्षय-चिकित्सा

यदि वीर्य दोष की अधिकता वा मधुमेह तथा बहुमूत्र के कारण क्षय उत्पन्न होकर रोगी दुर्बल हो गया हो, पेशाव में शर्करा निकलती हो तो वसन्तकुसुमाकर १ रत्ती, ऑवला का रस १ तोला और ताजी हल्दी का रस ६ माशा, मधु ६ माशा मिलाकर सुबह-शाम लेवें। भोजन के बाद मध्वासव २ तोला की मात्रा में लें। दिन के चार बजे ५ माशा गुडमारबूटी और ५ कालीमिर्च, दोनों को जल से पीस-छान कर रोगी को पिलावें। आहार-विहार मधुमेह में समझ-बूझ कर प्रयोग करें।

क्षयोपयुक्त आहार-विहार

इसकी प्रधान चिकित्सा स्वास्थ्यदायक आहार-विहार ही है। अतः उत्तम पुष्टिकारक और सहज में पचने वाले पदार्थ पथ्य में देना चाहिये। अनेक स्थलों पर ऐसा भी देखा जाता है कि क्षीण धातु वालों के लिये पुष्टिकारक पदार्थ देने पर जठराग्नि के कमजोर होने के कारण अच्छी तरह उनका परिपाक नहीं होता है और अजीर्ण भी हो जाता है। किसी वस्तु को खाने की इच्छा नहीं होती है और जब खाने की इच्छा प्रकट करता है, तब ऐसे पदार्थों की इच्छा करता है जिनका पाचन होना कठिन है। अतः वात नाशक, लघु, प्रिय और रुचिकारक अन्न देना चाहिये। जैसे—मूँग की दाल, शालि चावल, साठी क चावल, जव, गेहूँ आदि अन्न देवें। भोजन के पदार्थ रोगी के लिये निश्चय करने के समय इस बात का विशेष ध्यान रखें कि कौन दोष प्रबल है, उसी दोष को नाश करनेवाली औषधियों के क्वाथ में पहले उस अन्न को भिगो कर फिर खाने के पदार्थ उससे बनावें। जैसे—

वायु की अधिकता मे दशमूल के क्वाथ की भावना देकर फिर उसके पापड बनावे। शाकों मे परवल, पालक, पपीता, लौकी, तुरई, बथुआ चौलाई, करेला, केला, गुर्च के नवीन पत्तों का शाक, शतावरी के नवीन अंकुरों का शाक और पोई का शाक हितकारी है। अनारदाना की चटनी मे पुदीना डालकर देवें। फलों मे अगूर, अनार, अनन्नास, आम, नारङ्गी, किशमिस, मुनक्का, फालसा, सन्तरा, सेब आदि लघु पाक वाले फल लाभकारक होते हैं।

इससे बल की वृद्धि होती है और चित्त प्रसन्न रहता है। अतडियों के लिये फल और शाक अत्यन्त लाभदायक है। क्योंकि इनसे अतडियाॅ साफ होती हैं, शौच खुलकर आता है और दिल-दिमाग पुष्ट होता है।

भोजन का रासायनिक संगठन

क्षयरोगी के लिये प्रोटीन (Protein) की आवश्यकता होती है। क्योंकि क्षयरोग में सब तन्तु विशेष करके मासपेशियाॅ क्षीण हो जाती हैं। इस कमी को पूरा करने के लिये प्रोटीन का भाग सबसे अधिक आवश्यक होता है। अत. दूध, मास, अण्डा इनमे से किसी एक का सेवन करावे, क्योंकि इन तीन पदार्थों मे प्रोटीन अधिक होता है।

दुग्ध का विवेचन

दूध मे अलब्यूमिन, केसिन्, चीनी, लवण, मक्खन, जल आदि रासायनिक पदार्थ होते हैं। अत मनुष्य के लिये जितने रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है वे सब दूध के अन्दर विद्यमान होते हैं। क्षयरोगी के लिये बकरी का दूध अत्यन्त लाभदायक होता है। क्योंकि बकरी को क्षयरोग नहीं होता है। गदही का दूध भी राजयक्ष्मा को नष्ट करता है अत इसको भी पिलावे। दुग्ध कल्प से क्षयरोगी बहुत अच्छे हो जाते हैं। जो रोगी केवल दूध का उपयोग न कर सकें उनको खाद्य पदार्थों के साथ दूध का उपयोग अवश्य करना चाहिये। कुछ रोगियों को दूध अनुकूल नहीं पडता है। अत उनके पेट मे वायु का कोप हो जाता है। किसी-किसी को दूध से पतले दस्त आने लगते हैं। अत सोडावाटर या चूने का पानी मिलाकर दूध को हल्का किया जा सकता है।

मांस-व्यवस्था

क्षयरोगी के लिये मांस सेवन का श्री चरकाचार्य ने बहुत विस्तार से वर्णन किया है। यहां तक कि व्याघ्र, गृद्ध, नकुल, मयूर, उल्लू, काक, शृगाल, शश आदि हिंसक जीवों के मांस तक की व्यवस्था है। इसका कारण यह है कि क्षयी का मांस क्षीण हो जाता है। अतः मांस से ही जिनके शरीर का पोषण होता है उन पशुओं का मांस, मांस बढ़ाने के लिये उपयुक्त है। विशेषकर मृग और पक्षियों का मांस तीक्ष्ण, उष्ण और लघुपाकयुक्त होने से और भी अच्छा है। जो रोगी मांस नहीं खाते और उससे उसको घृणा हो, तो उन्हें छलपूर्वक मांस देवें।

यथोक्तं चरके—

शुष्यते क्षीणमांसाय कल्पितानि विधानवित्।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः॥
मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्।
तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्॥
मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत्।
तेषूपधा सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि॥
जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत्।
तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत्॥

छाग-मांस

बकरे का मांस अति लाभदायक है। क्षयी के लिये बकरे का उपयोग यहाँ तक है कि बकरियों में रोगी सदा वास करे, इसका घी, दूध, सेवन करे और इसके मूत्र से स्नान करे तो क्षय दूर हो जाता है। यथोक्तं—

छागमांसं पयश्छागं छागसर्पिः स शर्करम्।
छागसेवाऽपि शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत्॥

डा० रिचे का मत—क्षयरोग में कच्चा मांस खाने से अधिक लाभ होता है। मांस का लाभकारी गुण मांस सूत्रों की अपेक्षा मांस रस में

अधिक होता है। परन्तु कच्चा मास खाना लोग स्वीकार नहीं करते हैं। दूसरे कच्चे मांस में दोष भी है। अतः यह नहीं खाना चाहिये अंतःक्षेपण विधि द्वारा वकरे के रक्त-रस का प्रयोग करने से भी लाभ होता है। विज्ञान के अनुसार वकरी राजयक्ष्मा के लिये सहजक्षम (Naturally Immune) होती है।

अण्डा का उपयोग

क्षयी के लिये अण्डा अति लाभदायक है। दूध को छोडकर अन्य सब भोज्य पदार्थों की अपेक्षा यह शीघ्र ही पचनेवाला और पुष्टिकारक होता है। परन्तु ५-६ अण्डों से अधिक नहीं खाना चाहिये। अण्डे को पकाकर खाना चाहिये। बहुत से लोग कच्चे अण्डे खाते हैं। किन्तु कच्चे अण्डे का श्वेतभाग बडी कठिनता से पचता है। अण्डों के श्वेतांश की अपेक्षा पीतांश अधिक लाभदायक होता है।

वसा—स्वस्थ मनुष्यों की अपेक्षा क्षयी के लिये स्नेह की अति आवश्यकता होती है। अनेक प्रकार की वसाओं में मक्खन अति लाभदायक है। इसके बाद घृत होता है जो विविध भाँति से सेवन किया जा सकता है। दूध मे वसा काफी होती है। खासकर दूध की मलाई में वसा अधिक होती है। मछली के तेल (Cod Liver oil) मे वसा काफी मात्रा मे होती है। जो रोगी मोटे हों, उनको अधिक वसा नहीं देनी चाहिये। क्योंकि उससे अधिक चर्बी बढ जाने से हानि होती है। जो रोगी दुर्बल और पतले हों, उन्हे मक्खन-घी आदि अधिक दें। परन्तु पाचनशक्ति से अधिक न देवे।

कार्बोज—क्षय रोगी को कुछ कार्बोज—दाल, रोटी, चावल, आलू, शर्करा आदि देना चाहिये। मिठाई अधिक न देवे।

लवण—क्षयी के भोजन में लवणों का होना आवश्यक है। किसी आचार्य का मत है कि इस रोग मे खनिज लवणों (Mineral Salts) की कमी हो जाती है। अत. इन लवणों की प्राप्ति के लिये सबसे उत्तम उपाय फल और हरे शाकों का उपयोग है।

मसाला—क्षयी के भोजन में कुछ मसालों का होना आवश्यक है। इससे भोजन स्वादिष्ट, पाचक और क्षुधाकारक हो जाता है। इसमें लहसुन सबसे अच्छा है। औषध के रूपमें इसका सेवन करें। दूध में लहसुन डालकर पकाकर सेवन करें।

सुरा सेवन-विधि

क्षयी मांस भक्षण करके सुरा, वारुणी, आसव और अरिष्ट का सेवन करें इसके लिये परिस्रुत द्राक्षासव और मृत संजीवनी सुरा अच्छा है। यक्ष्मा में मद्य पीने की प्रशंसा क्यों है? इसका कारण यह है कि मद्य, तीक्ष्ण, उष्ण, विशद, सूक्ष्म आदि गुणों के द्वारा संकुचित स्रोतों के मुख को खोल देता है जिससे रस-रक्तादि सप्त धातुएँ पुष्ट हो जाती हैं और उनके पुष्ट होने से शोष शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

यथोक्तं चरके—

प्रसन्नां वारुणी शीधुमरिष्टानासवान्मधु ।
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ॥
मद्य तैक्ष्ण्यौष्ण्य वैशद्य सूक्ष्मत्वात्स्रोतसां मुखम् ।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात् सप्तधातव ।
पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोष प्रशाम्यति ॥

जलवायु का परिवर्तन

क्षयी के लिये भोजन से भी अधिक आवश्यक शुद्ध वायु का सेवन है। अतः सूर्य की किरणों से युक्त शुष्क शीत प्रधान देश यथा—अलमोडा, नैनीताल, दार्जिलिङ्ग आदि स्थानों पर रहना ठीक है। उन जगहों में भी जहा चीड, देवदारु, यूल्किप्टस के वृक्ष लगे हुये हों ऐसे स्थानों की शुद्ध प्राणवायु (Oxygen) श्वास के द्वारा फेफड़ों में पहुच कर क्षयाणु को नष्ट कर देता है। चीड, देवदारु के अन्दर जो तेल होता है उससे मिली हुई वायु के सेवन से फेफड़ों के क्षय में विशेष लाभ होता है। पचन क्रिया बढती है, रक्त सञ्चालन ठीक-ठीक होने लगता है और ज्वर का ह्रास हो जाता है। क्षत

सूख जाता है, कफ की विकृति नष्ट हो जाती है और रात्रि मे स्वेद निकलना बन्द हो जाता है। जो लोग पर्वत पर न जा सके उनका गाँव के बाहर पास के जंगल मे पर्णकुटी बनाकर रहना चाहिये। शहरों का रहना रोगियों के लिये हानिकारक है। रोगी को किसी प्रकार की चिन्ता न करने दे, उसे सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करे। प्रिय इष्ट-मित्रों से वार्तालाप करे, सुन्दर भगवद्-भक्तियुक्त गानों का सुनना, बाजा सुनना आदि चित्त को प्रसन्न करने वाली अनेक दिव्य क्रिया करें। प्रति दिन हवन करें अथवा भगवती भागीरथी के तटपर वास करता हुआ क्षयाणु नाशक भगवान् भास्कर की किरणमालाओं का सेवन करें। क्षयी को गंगाजल सदा पीना चाहिये। प्रातः-सायं काल साफ-सडक पर और बगीचो मे भ्रमण करना चाहिये, गुरुजनों की सेवा, देवताओं की पूजा, दान, तप सत्यभाषण, अहिंसा का भाव और ब्रह्मत्व की रक्षा विशेष रूप से करे।

यथोक्तम् मञ्जूषायाम—

सुप्तिर्दाहनलेऽमलेऽम्बुजदले भुक्तिश्च मुक्ति कले ।
पाने गो हविषां तथाजपयसा गानञ्च चेनोहरम् ॥
आसो मित्रजनैस्तथा शुभकुलैर्वासो बहिर्ग्रामतो ।
गो देव द्विज पूजन क्षयरुजा प्रत्यर्थिनोऽमीमता ॥

पर्वत पर जाने का समय—रोग की प्रथम-अवस्था मे पर्वत यात्रा सम्पन्न रोगियों के लिये फलप्रद होती है। गरीब रोगियों को वहाँ जाने से स्थिति अनुकूल न होने तथा जल-वायु और स्थान के शीत होने से हानि होने की सम्भावना रहती है।

बाह्योपचार

रोगी के शरीर पर लाक्षादि तेल वा चन्दनादि तेल की मालिश करें। बाद में उबटन लगावें इसके बाद सरसों का कल्कयुक्त सुगन्धित द्रव्य जीवनीय गणों की ओषधियों के क्वाथ से रोगी को स्नान करावें। अथवा दशमूल के क्वाथ को टब मे भर कर उसमे प्रतिदिन रोगी को बैठावे।

इससे स्रोतों का मुख खुल जाता है और बल वर्ण की वृद्धि होती है। सुगंधित पुष्पों की माला, नस्य, धूम्रपान, उत्तरभक्तिक घृत, अभ्यङ्गोपयोगी तेल तथा वस्ति कर्म का अवस्था देखकर प्रयोग करें। रोगी को यथा शक्ति प्राणायाम करना चाहिये।

यथोक्तं चरके—

अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरवगाहैर्विमार्जनैः।
वस्तिभिः क्षीर सर्पिभिर्मांसैर्मांसरसौदनैः॥
इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः॥
सत्येनाचारयोगेन मङ्गलैरविहिंसया।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते॥

एलोपैथी-सिद्धान्त

राजयक्ष्मा मे औषधियों से विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि जीवाणु के ऊपर मेदस्मावरण होने के कारण तथा विकृत स्थान मे रक्त कम पहुचने के कारण जीवाणु नाशन का कार्य बहुत कम होता है। राजयक्ष्मा वास्तव मे एक प्रकार की व्रणितावस्था है, जिसमे व्रण और विद्रधि फुफ्फुस के भीतर होते हैं। अतः सुश्रुत के व्रणितोपासनीय-अध्याय (सु० सृ० १९ अ०) मे जो नियम दिये हैं, यक्ष्मी के लिये प्रायः उन नियमों का पालन करना अच्छा है। इसमे निम्नलिखित औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं।

(१) शरीर पोषक—माल्ट, हैपोफास्फाइटस, ह्यालीवर, लिवर तैल, जीव द्रव्य (विटामिन) डी० युक्त द्रव्य, प्यारा थाइराइड्, खटिक (कैलसियम क्लोराइड्ल्याक्टेट, ग्लूकोनेट) प्रभृति। आयुर्वेद मे प्रवाल भस्म (क्षयपित्तासृक्कासघ्न)। मौक्तिक भस्म (कफ पित्तक्षयध्वंसी) शृङ्ग भस्म, कपर्दिक भस्म (क्षय नाशिनी) प्रभृति चूने के योग क्षय मे श्रेष्ठ माने गये हैं। वस्तुतः ये सब औषधियाँ आहार मे आती हैं।

(२) जीवाणु नाशक—क्रीओसोट, ग्वायकालकार्ब, मेथाल, यूक्लेप्टिस तारपीन तैल, आयोडिन, कार्बोलिक एसिड्, लहसुन-रस, स्ट्रेप्टोमायसीन

और प्यारा अमीनो स्यालिस्यालिक एसिड। इसमें से क्रीओसोट (मात्रा २-१० बूँद) ग्वायकालकार्बोनेट (५-१० ग्रेन) लहसुन रस ३०-६० बूँद खाने के लिये प्रयुक्त होते है। अन्य ओषधियाँ भाप के स्वरूप में सूंघने के लिये प्रयुक्त होती हैं और इसी पद्धति से उनका अधिक से अधिक उपयोग हो सकता है। क्योंकि इनकी भाप आसानी से फुफ्फुस में जाकर विकृत स्थान पर कार्य करती है। कार्बोलिक एसिड २ भाग, क्रीओसोट २ भाग, टिञ्चर आयोडिन ७ भाग इसका मिश्रण बनाकर रूमाल पर या चर्तियों के मुखमंडलपर (Puiney yoos-mask) इसके कुछ बूँद डालकर सूँघें।

खाँसी में धूम्रपान की व्यवस्था

क्रिओसोट, तर्पीन-तेल और आयोडिन इनका धूम (Inholaeton) सूँघना चाहिये। आयुर्वेद में क्षयकास के लिए धूमपान की व्यवस्था का अत्यन्त उत्तम वर्णन है।

यथोक्त चरके—

सिरस पीडनं स्रावे नासाया हृदि ताम्यति
कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्य प्रयोजयेत्।
दशांगुलोन्मितां नाडीमथवाऽष्टांगुलोन्मिताम् ॥
शराव संपुटच्छिद्रे कृत्वा जिह्मां विचक्षण.।
वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूममापिबेत् ॥
सद्यस्यतैक्ष्ण्याद् विच्छिद्य श्लेष्माणमुरसिस्थितम्।
विकृष्यशमयेत कासं वातश्लेष्म समुद्भवम् ॥

मनःशिलादिधूम-प्रयोग

मन शिला, हरिताल, मुलेठी, जटामासी, नागरमोथा, और हिंगोट लें।

विधि—इनको रोगी की अवस्था के अनुसार मात्रा में लेकर उपर्युक्त विधि से धूमपान करावें। इसके पश्चात गुड मिलाकर उष्ण दूध ऊपर से पिलावें। इससे सब प्रकार की खाँसी दूर होती है।

प्रपौण्डरीक वर्त्ति

प्रपौण्डरीक (पंडरिया काठ), मुलेठी, काकजंघा (चकसेनी) मनः-शिला, कालीमिर्च, पिप्पली, द्राक्षा, इलायची और तुलसी की मंजरी ले।

विधि—इनको समान भाग मे लेकर पीसकर वत्ती बनावें। उसके ऊपर रेशमी वस्त्र लपेटकर घी मे भिगोकर सिगरेट के तुल्य पीवें। इससे कास शान्त होता है।

राजयक्ष्मा में स्वर्ण विषयक वैज्ञानिक रहस्य

वैज्ञानिकों की सम्मति है कि स्वर्ण यक्ष्मा के जीवाणु का नाश करके शरीर के भीतर एक प्रकार की मसूरी (Vacbine) बनाता है। जो यक्ष्मी (ट्यूबरक्यूलीन) के समान शरीर मे क्षमता उत्पन्न करती है। संक्षेप मे स्वर्ण प्रयोग से आन्त्रयक्ष्मी (Anto jubeicnlin) बन जाती है। अन्य शास्त्रज्ञ इससे सहमत नहीं है। उनका मत है कि स्वर्ण जीवाणु का नाश नहीं कर सकता है। प्रत्युत शरीर के रक्षक दल को सबल बनाकर प्रतिकार शक्ति को बढाता है। कार्य करने का तरीका कोई भी हो किन्तु स्वर्ण यक्ष्मा मे फायदा करता है। इस सम्बन्ध मे मतभेद नही है।

आयुर्वेद मे यक्ष्मा के लिये स्वर्णयौगिक चिरकाल से प्रयुक्त होते हैं। स्वर्ण विषहर तथा राजयक्ष्मा नाशक है।

यथोक्तं चरक संहितायॉ—

हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति।
न सज्जते हेमपांगे विष पद्म दलेऽम्बुवत्॥

रसरत्नसमुच्चयेतु—

स्निग्ध मेध्य विषगरहरवृंहण वृष्यमग्रम्।
यक्ष्मोन्माद प्रशमन पर देहरोग प्रमाथि॥

आधुनिक परिभाषा के अनुसार विषहर को प्रतियोगी पदार्थजनक या क्षमता जनक कह सकते हैं। आयुर्वेद मे स्वर्णभस्म, चतुर्मुख रस, वसन्तमालती, लक्ष्मीविलास, मकरध्वज प्रभृति प्रधानतया व्यवहृत होते हैं।

ये सब योग मुख द्वारा अल्प मात्रा मे (½ रत्ती) दिये जाते हैं। एलोपैथी मे स्वर्णयोग केवल सूचिकाभरण से दिये जाते हैं। मार्ग कोई भी हो शरीर पर उसका परिणाम एक ही होता है। केवल गति मे अन्तर रहता है। पाश्चात्य चिकित्सक उनके और-और साधनों के समान चिकित्सा मे शीघ्र, शीघ्रतर और शीघ्रतम बनाते हैं। इस दृष्टि से उनकी भेषज संहिता मे उत्तरोत्तर सूचीभरण की ओषधियाँ, सत्व (Extract) और क्षाराभ की भरमार हो रही है और ज्ञात ओषधियाँ हटती जा रही हैं। इस दृष्टि मे कोई अन्तर नहीं है। द्रुतगतिवाहन (मोटर-विमान आदि) मे जैसे द्रुतगति के कारण समय की बचत का लाभ होता है। यद्यपि उसमे अपघात (अक्सीडेन्ट) का भी भय रहता है। आयुर्वेद अपने प्राचीन समय की कल्पना के अनुसार किसी काम मे शीघ्रता नही करता है। क्योंकि मन्दगति मे यद्यपि कालापव्यय प्रतीत होता है, तो भी शीघ्र गति के समान कोई भय नहीं है।

यथोक्तं चरके—

क्रमेणापगता दोषा॰ क्रमेणोपचिता गुणा।
सन्तोयान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या॰ भवन्ति च॥

सूचिकाभरण से सुवर्ण के उपयोग का जितना खतरा है, उतना मुखद्वारा करने मे नही होता है। तथापि सूचिकाभरण द्वारा सोने का प्रयोग करते समय रोगी के ज्वर तथा मूत्र का जिस प्रकार ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार मुखद्वारा देते वक्त भी रखना चाहिये। यदि ज्वर अधिक हो या स्वर्णयोग देने पर अधिक हो जावे, तो स्वर्ण का प्रयोग कम करें या बन्द ही कर दें।

स्वर्ण के योग

सैनोक्रिसिन (Sanocrysin) यह योग अधिक काम मे आता है। यह औषध पानी मे विद्रुत करके सिरा द्वारा दी जाती है। प्रारम्भिक मात्रा ०·०१ ग्राम की होती है। धीरे-धीरे निम्न मात्रा के अनुसार

प्रत्येक सप्ताह में ०-०२५, ०-०५, ०-१, ०१५, ०२, ०-२५, ०-३, ०-३५, ०-४ और ०-५ दी जाती हैं। अन्तिम मात्रा आधे ग्राम से अधिक नहीं बढ़ानी चाहिये। कुल औषध ४-५ ग्राम दी जाती है। उसके पश्चात् यदि आवश्यक हो, तो २-३ महीने के बाद फिर दे सकते हैं।

०-३ ग्राम मात्रा तक २ सी० सी० जल में घोलकर और इससे अधिक मात्रा के लिये ५ सी० सी० जल मे घोल बना के सम्पूर्ण कांच की पिचकारी और प्लाटीनम की सूई से प्रातः काल शिरा मे सुई देवें।

प्रतिक्रिया—इसकी सूई से शरीर मे प्रतिक्रिया दिखाई देती है। सौम्य प्रतिक्रिया मे ज्वर अल्पकालीन शुक्लिमेह और त्वचा लाल हो जाती है। मध्यम प्रतिक्रिया मे ज्वर, वमन, अतिसार, चिरकाल तक शुक्लिमेह, त्वचा शोथ और विस्फोट उत्पन्न हो जाते हैं। तीव्र प्रतिक्रिया मे ये ही लक्षण अधिक तीव्र हो जाते हैं। नेत्रशोथ बार-बार हो जाता है। सूई देने पर यदि सौम्य प्रतिक्रिया उत्पन्न हो, तो प्रतिक्रिया नष्ट होने पर दूसरी सूई उचित मात्रा मे दे सकते है। यदि मध्यम प्रतिक्रिया उत्पन्न हो तो प्रतिक्रिया के पूर्ण नष्ट होने के बाद फिर अल्प मात्रा का उपयोग करे। यदि तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हो, तो सोने का प्रयोग फिर से न करे। सूई देने के समय रोगी के मूत्र की परीक्षा करनी चाहिये। यदि मूत्र मे थोड़ी भी शुक्लि निकले तो सूई नहीं दें।

उपयोग—दृढ शरीर के रोगियों मे प्रारम्भिक अवस्था मे थूक और थूकगत जीवाणुओं को कम करने के लिये दोनों पार्श्वों मे विकृति होने पर एक मे कृत्रिम वातोरस उत्पन्न करके दूसरे अल्प विकृति के फुफ्फुस का रोग रोकने के लिये इस औषध का प्रयोग लाभदायक होता है।

निषेध—रोग की अन्तिम अवस्था जिसमे बड़े-बड़े विवर उत्पन्न हो जाते हैं। वृक्कों के राग, अतिसार, त्वचा के विकार, आन्त्र की अन्य विकृतियाँ, तीव्र विषमयता, पुरानातन्तु भूयिष्ठ (Fibroid) प्रकार, इनमें इस औषध का प्रयोग नहीं करे।

स्वर्ण के अन्य योग—Crisalbine-Solganal, Solganal B. ganal B-Oleosum, अन्तिम द्रव्य तैल मे वनाया जाता है। तैलीय पदार्थों से यह लाभ है कि उनका प्रचूषण शनैः-शनै. होता है। उनका उपयोग सूचीभरण पेशी द्वारा किया जाता है। इनकी प्रतिक्रिया या विपैलापन बहुत कम होता है तथा स्वयं स्वर्ण का गुण अधिक दिखाई देता है। अत. स्वर्ण के तैलीय योग उन रोगियों मे प्रयुक्त होते हैं। जो सोने के जल मे वनाये हुये घोल को सहन नहीं कर सकते तथा जिनमें पानी मे पकाये हुए घोल की सूई से लाभ नहीं होता है।

स्ट्रेप्टोमाइसीन

आजकल संसार के सव देशों मे सव प्रकार के क्षय के लिये इसका उपयोग करके अनुभव प्राप्त किया जा रहा है कि क्षय चिकित्सा के लिये यह एक वहुत आशाजनक औषध है। इससे श्यामकीय (Miliary) क्षय मे तथा स्वरयंत्र, कर्णनाडी, श्वासनलिका, आन्त्र और लसीका ग्रन्थियाँ इनके क्षय में लाभ होता है। परन्तु फुफ्फुस-क्षय मे इसकी उपयोगिता वहुत ही मर्यादित है। अनुभवी लोगों का यह कथन है कि आराम, आहार प्रभृति सामान्य चिकित्सा से लाभ होनेवाले या लाभ होने की जिनमे आशा हो ऐसे रोगियों मे इसका प्रयोग न किया जाय। उसी प्रकार कालिक स्थिर स्वरूप के तन्तुभूयिष्ठ और विवरयुक्त रोग मे तथा दोनों ओर की विकृति के रोग की अन्तिम-अवस्था मे इसका उपयोग न किया जावे। यह औषध नये वर्धिष्णु तीव्र स्वरूपवाले रोग मे विशेष उपयोगी होती है। कालिक विवरयुक्त और तन्तुभूयिष्ठ प्रकार मे निपात चिकित्सा के साथ इसका उपयोग कर सकते हैं।

यह दवा कैसे लाभ करती है, इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई इसे जीवाणुनाशक, कोई जीवाणुस्थापक (Static) और कोई जालकान्तरीय संस्थान द्वारा (R E, System) क्षमताजनक द्रव्यवर्धक कहते हैं। कार्य करने का कोई तरीका हो उचित रूप से

देने से रोगियों में इससे तुरन्त लाभ होता है और वह लाभ औषध बन्द कर देने पर भी जारी रहता है।

मात्रा—प्रत्येक समय ½ धान्य दिन में दो बार पेशी में इसका प्रयोग किया जाता है। किन्तु कुछ विद्वानों का अनुभव है कि इससे कम मात्रा में (¼ धान्य) इसका उपयोग करना अच्छा है। इससे इसका विषैलापन प्रकट नहीं होता है। चिकित्साक्रम अधिक से अधिक ६ मास तक जारी रहता है। फुफ्फुसक्षय में ३-६ मास तक चिकित्सा किये विना लाभ नहीं होता है। इसका मूल्य अधिक होने से प्रत्येक रोगी इससे लाभ नहीं उठा सकता है।

औषधप्रतिकारिता (Drug Resistance)—कुछ समय के बाद क्षयदण्डाणु इसके प्रतिकारक बन जाते हैं। इसके बाद इससे कोई लाभ नहीं होता। अल्प मात्रा में और अल्पावधितक इसका प्रयोग करने से औषध प्रतिकारिता उत्पन्न नहीं होती है ऐसा कुछ का अनुभव है।

विषैलापन—स्ट्रेप्टोमायसीन बहुत तेज औषध है। इससे बाधिर्य, भ्रम, ज्वर, रक्तक्षय, शुक्लमेह, चर्मशोथ प्रभृति अनेक विषैले लक्षण पैदा हो जाते है। ये लक्षण औषध की अधिक मात्रा में लेने से होते हैं, अधिक काल तक औषध का प्रयोग करने से नहीं होते। अत. अल्प मात्रा में ही इसका व्यवहार लाभकारक होता है।

नूतन औषध-प्रयोग

प्यारा अमीनोस्यालिस्यालिक एसिड (P. A. S.)—यह राजयक्ष्मा की सबसे नई औषध है। इसका प्रयोग १०-१५ ग्रेन की मात्रा में प्रतिदिन एक सप्ताह तक किया जाता है। उसके बाद एक सप्ताह तक औषध बन्द कर दी जाती है। फिर एक सप्ताह औषध दी जाती है। इसभांति कई मास तक औषध का व्यवहार किया जाता है।

क्षमताजनक औषधियाँ—इनके द्वारा रोगी का शरीर क्षम बनाया जाता है। इन क्षमताजनक औषधों से अनेक संक्रामक रोगों की चिकित्सा में आश्चर्यजनक लाभ हुआ है। राजयक्ष्मा में निम्न औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं। यक्ष्मि (Tuberculin) यक्ष्मा के दण्डाणु से बनी हुई

एक संगृहीत मसूरी (Vaccine) है। संघटन के अनुसार निम्न वर्ग किये जाते हैं।

(१) केवल वहिर्विषयुक्त (जैसे T. O. T. O. A B F. T. A. F.), (२) मुख्यतया अन्तर्विषयुक्त (जैसे—T R) (३) दोनों का मिश्रण (जैसे—B E S. B.E. T B K), (४) विशेष पद्धतियों से संशोधित (जैसे P P. D Diaplyte Vaccine of Dreyer)। इनमें से ओ० टी० पी० पी० डी० और बी० ई० का उपयोग अधिक होता है।

मात्रा—इसकी मात्रा बहुत ही सूक्ष्म होती है और धीरे-धीरे बढ़ायी जाती है। प्रत्येक योग की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। प्रारम्भ में इसकी सूई सप्ताह में दो बार और आगे चलकर धीरे-धीरे सप्ताह में एकबार, दो सप्ताह में एक बार और तीन सप्ताह में एक बार लगायी जाती है। मात्रा रोगी की स्थिति के अनुसार निश्चित की जाती है तथा धीरे-धीरे बढ़ाई जाती है जिससे उसके शरीर में कोई प्रतिक्रिया न उत्पन्न होने पावे। यदि चिकित्साक्रम में किसी मात्रा से शरीर का ताप ½ अंश बढ़ जाय तो मात्रा कम करनी चाहिये। एक अंश से अधिक हो जावे तो इसको बन्द कर दें। इसकी चिकित्सा ६ मास से २ वर्ष तक जारी रक्खी जाती है।

गुण दोष—अस्थि, सन्धि, ग्रन्थि, त्वचा और मूत्रप्रजनन संस्थान के क्षय में इससे लाभ होता है। फुफ्फुसक्षय में इससे किंचिन्मात्र लाभ होता है। जिनमें विकृति स्थानिक हो और ज्वरादि में सार्वदैहिक लक्षणों का अभाव हो उन फुफ्फुसक्षय के रोगियों में यक्ष्मि से लाभ होता है।

रोग की तीव्रावस्था और ज्वरातिसारयुक्त अवस्था में दुर्बल रोगियों में इसका उपयोग कदापि न करना चाहिये। वास्तव में फुफ्फुसक्षय चिकित्सा में ट्यूबर्क्यूलिन, (यक्ष्मि) कोई महत्त्व की औषध नहीं है।

आत्मयक्ष्मि (Anto Tuberculin)—जब संयोगवश फुफ्फुसक्षयी की त्वचा उसी की नखों से क्षयोपसृष्ट हो जाती है, तब प्राय वह अच्छा हो जाता है ऐसा अनुभव है। इसका कारण मालूम करने के

लिये कुछ लोगों ने शरीर के विविध अंग-प्रत्यङ्गों की क्षयदण्डाणुघातक शक्ति की जांच की तो यह पता चला कि शरीर मे फुफ्फुस सबसे निर्बल और त्वचा सबसे सबल है। केवल यही नहीं, त्वचा मे क्षय का उपसर्ग होने पर भी वह शरीर के सम्पूर्ण बल को इकट्ठा करके बहुत अधिक मात्रा मे प्रतियोगी शक्ति उत्पन्न करती है जो तद्गत उपसर्ग की रोक-थाम कर रक्त के द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे भ्रमण करके कहीं भी राजयक्ष्मा का उपसर्ग हो, तो उसका भी निग्रह कर लेते है।

इस अवलोकन के आधार पर कुछ लोगों ने त्वचा मे क्षय (Cupus) उत्पन्न करके फुफ्फुसक्षय की चिकित्सा करना आरम्भ किया, और उसमें पर्याप्त सहायता मिलने लगी। इसके लिये वे फुफ्फुसक्षयी योग्य होते हैं, जिनके थूक मे दण्डाणु उपस्थित रहते हैं तथा जो मान्टो-कसौटी के प्रतिकारक होते हैं। इसका अर्थ यह है कि चिकित्सा प्रारम्भ करने के लिये मान्टोकसोटी देखना आवश्यक है। क्योंकि अप्रतिकारियों मे यह चिकित्सा निष्फल होती है। इसके लिये रोगी के थूक में मिलनेवाले क्षयदण्डाणु विशिष्ट वर्धन में विशिष्ट काल तक संवर्धित किये जाते हैं और उनका टीका रोगी की ऊरु की त्वचा मे लगाया जाता है। एक दिन के पश्चात् वहां पर प्रतिक्रिया आरम्भ होकर व्रण या विस्फोट बनता है जो एकमासतक बढ़ता जाता है और उसके बाद २ मास में घटकर उसके स्थान मे व्रण वस्तु बन जाती है। एक टीका ठीक होने के पश्चात् दूसरे की और यदि आवश्यकता हो तो क्रमश' तीसरा और चौथा टीका लगाया जाता है, इस प्रकार इसकी चिकित्सा की जाती है। प्रथम टीका लगाने के पश्चात ४-६ मास मे रोग में बहुत सुधार हो जाता है।

क्षमलसिका—(जैसे Contratoxin of Mehnarto and I. K. obspengletere) के द्वारा क्षयी में निष्क्रिय क्षमता उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु इसमें कोई सफलता नहीं मिली।

शस्त्रकर्म अथवा निपात चिकित्सा (Collapse Therapy)—इसमे

विकृत फुफ्फुस का आंशिक या पूर्ण निपात किया जाता है। इससे विकृत फुफ्फुस को आराम मिलने के कारण (Rest theory) उसके भीतर के विवर और पोले स्थान के वन्द होने के कारण (Collapse Theory) उनमे इकट्ठे हुए पूय, थूक तथा अन्य विषैले द्रव्य निकल जाने के कारण रस-रक्तसचार कम या वन्द होने के कारण, शरीर में प्रतियोगी पदार्थ भ्रमण करने के कारण, निपतित फुफ्फुस अधिक कड़ा हो जाने के कारण और फुफ्फुसगत जीवाणुओं को वायु कम मिलने के कारण फुफ्फुसगत विकार का वढ़ना वन्द हो जाता है। विकृत स्थान मे तान्तवधातु की उत्पत्ति तथा खटिका भरण होने मे सहायता मिलती है और रक्तष्ठीवन नहीं होता है। वस्तुत विकार-वृद्धि के लिये सव तरह से प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न होकर रोग जल्दी अच्छा हो जाता है। इसमे कोई संदेह नहीं कि संनिपात के साधन से क्षय रोग मे आश्चर्यजनक उन्नति होकर कई राजयक्ष्मियों का जीवन आशाजनक हो गया तथा उनकी आयु वढ गई। इसकी विधि शल्य तन्त्र मे मिलेगी। वहाँ पर देखकर उसे उपयोग मे लावें।

बी० सी० जी० वैक्सीन

इस वैक्सीन को क्षयाणुओं (Bacilli) से कालमेटी (Calmette) और ग्यूरिन नामक वैज्ञानिकों ने वनाया है। इसलिये आद्यक्षर लेकर (नामैकदेशे नाममात्र ग्रहणमिति) इस नियमानुसार बी० सी० जी० नाम प्रचलित किया गया। ये जीवाणु गव्य हैं और अनेक वर्षों तक पित्त जैसे विरोधी द्रव्ययुक्त वर्धनक में सवर्धित किये गये हैं। परिणाम यह हुआ कि उसकी विकारकारिता नष्ट हो गई। परन्तु इनकी अम्ल सहता (Acid Fastness) और प्रतिजनक या क्षमता जनक शक्ति नष्ट नहीं हुई। यह परिवर्तन क्षमतोत्पादन की दृष्टि से उचित ही हुआ।

मार्ग—इसके लिये प्रारम्भ मे मुख मार्ग का और पश्चात् उप-त्वचा के मार्ग का उपयोग किया गया। इस समय चर्मान्तर्य (Intiodarmic) और लेखन ये दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं।

उपयोग—जो व्यक्ति नैसर्गिक उपसर्ग के कारण क्षम हुए हैं; उनमें इनका उपयोग नहीं किया जाता है और न करना चाहिये। जिनमें नैसर्गिक उपसर्ग जन्य क्षमता उत्पन्न नहीं हुई और जिसके कारण जिनमे तीव्र राजयक्ष्मा उत्पन्न होने का भय होता है; केवल उन्हीं मे उसका प्रयोग किया जाता है। इस टीका का प्रयोग करने से पहले यक्ष्मि-प्रतिक्रिया का उपयोग करना चाहिये। और जो उसके लिये अप्रतिकारी (Non-Reactors) मालूम हो केवल उन्हीं मे इससे काम लेना चाहिये। इस दृष्टि से नगर के नवजात वालक और जन्म से नगर के दूषित वातावरण से दूर रहने वाले ग्रामवासी, अरण्य और पर्वत निवासी युवक इसके प्रयोग के लिये योग्य होते हैं। इसके प्रयोग से यक्ष्मि अप्रतिकारी दो-तीन मास मे प्रतिकारी अर्थात् क्षय क्षम वन जाते हैं। जो क्षमता भविष्य मे उनको नैसर्गिक उपसर्ग के कारण क्षम हुए, इतर व्यक्तियों के समान राजयक्ष्मा से वचाती है।

मात्रा—०-०५ से १ सहस्रिधान्य (mg)

विधि—विशोधित की हुई वाहु की त्वचा पर आधे वर्ग इञ्च के क्षेत्र मे टीका द्रव्य फैलाया जाता है। तत्पश्चात् विशिष्ट सूई और विशिष्ट पद्धति से उनके क्षेत्र मे ३० के लगभग वेध किये जाते हैं और वह स्थान २४ घंटे तक खुला ही रहता है। जाली वा वस्त्र से उसको न ढकें और न उस पर जल ही लगाना चाहिये। इससे वह टीका द्रव्य शुष्क हो जाता है।

कठिनाइयाँ—(१) यह टीका द्रव्य संसार के कुछ ही प्रयोगशालाओं मे वनता है और वनना भी चाहिये अन्यथा उसके कार्यनिष्पत्ति मे अन्तर हो जाता है।

(२) टीका लगाने वाले तज्ज्ञों की आवश्यकता है।

(३) टीका जिनको लगाया जाता है, उनमें पहले के यक्ष्मा का उपसर्ग नहीं होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि टीका लगाने से पहले प्रत्येक व्यक्ति में उपसर्ग का ज्ञान यक्ष्मि-प्रतिक्रिया के द्वारा करनी चाहिये।

(४) टीका लगाने के पश्चात् क्षमता या अनुर्जता (Allergy) उत्पन्न होने के समय तक उस व्यक्ति को यक्ष्मा-दण्डाणुओं से अदूषित वातावरण में रखना चाहिये। क्योंकि वह ऋणावस्था होती है।

(५) टीका के स्थान में विद्रधि उत्पन्न होकर वह सप्ताहों या महीनों तक रह सकती है।

तात्पर्य—जगत् के अनेक देशों में बी० सी० जी० टीका का जो प्रयोग आज १५-२० वर्षों से होता आ रहा है, उससे राजयक्ष्मा के प्रति बन्धन के लिये यह एक उपयोगी साधन मालूम होता है। परन्तु अभी भी अनेक तज्ज्ञों की दृष्टि से इसकी कार्यनिष्पत्ति विवादास्पद और संदेहास्पद है। उनके अनुसार इसकी उपयोगिता पर निर्णायक या निश्चयात्मक सम्मति २०-२५ वर्षों के अनुभव के बाद ही दी जा सकती है।

पार्श्वशूल (प्लूरिसी की निदान : सम्प्राप्ति)

अधिक ठंढ लगने या वक्षस्थल पर चोट लगने से ज्वर, आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), राजयक्ष्मा तथा अनेक प्रकार के फुफ्फुसजन्य रोगों से यथा—कर्कटक सन्निपात (न्यूमोनिया), दमा (Asthma), यकृत् रोग के कारण पैदा हुए पाण्डु और शोथ से वक्षःस्थल और फुफ्फुसावरण कला (प्लूरा Pleura) में तीव्र सूजन हो जाती है और उसमें पीडा होती है। किसी-किसी स्थल पर यह रोग यहीं शान्त हो जाता है। अर्थात सूजन (Inflammation) और शूल धीरे-धीरे क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु कभी-कभी अच्छे न होकर दोष की वृद्धि हो जाती है जिससे परिफुफ्फुसीया कला (प्लूरा) के स्तरों के बीच में पीले वर्ण का स्राव होकर वहाँ पर एकत्र होने लगता है और सञ्चय होने के समय ज्वर आदि के लक्षण प्रकट होते हैं।

यथोक्तम्—

शीताभिघात ज्वर सन्निपात ज्वर क्षयाद्यैरपि फुफ्फुसोत्थैः।
अन्यैश्च रोगैर्विविध प्रकारैर्यकृत्समुत्थैरपि पाण्डुशोथैः॥

सजायते वक्षसि फौफ्फुसे वा च्छदे छतीवः खलु शोथयुक्तः ।
रोगः कदाचिच्च शम प्रयाति तथा कदाचिच्च विवर्द्धते तु ॥
दोषः प्रवृद्ध. स्रवते ह्यजस्र तदा च पीतप्रभमेव स्रावम् ।
तच्चोदक सचितमेव लिङ्गान् ज्वरादि पूर्वान् प्रकटी करोति ॥

साध्यासाध्यावस्था

अधिकतर यह रोग फुफ्फुस की एक पार्श्व की आवरणी-कला में होता है। यह जब कक्षादेश वा स्तन प्रदेश के नीचे फुफ्फुस के नीचे प्रदेश पर स्थित परिफुफुसीयाकला मे जमा होने लगता है, उस समय यह कष्ट साध्य होता है। यदि दुर्भाग्य से दोनों पार्श्वों मे जल संचित हो जाय तो उस समय यह मुख्यरूप से मृत्यु का हेतु होता है।

लक्षण

इसमे ज्वर हो जाता है और रोगी को श्वास लेने में बहुत कष्ट होता है। जिस पार्श्व मे जहाँ पर जल सञ्चित होता है वहाँ पर ऊँचा हो जाता है। बेचैनी, सूखी खाँसी, प्यास, मन्दाग्नि, दुर्बलता, पाण्डुरोग, अरुचि, दीनता, हृदय का अपने स्थान से च्युत हो जाना आदि लक्षण होते है। नाडी की गति तीव्र, सूक्ष्म व शीघ्र होती है। आकर्णन यन्त्र से परीक्षा करने पर अंगास्थि के नीचे के कोने पर एक वा आधे इञ्च पर घर्पण (Friction) के तुल्य शब्द सुन पड़ता है। फुफ्फुस की संकोच प्रसारक शक्ति धीरे-धीरे मन्द हो जाती है और अन्त मे जल के संचित होने पर उसमें बिल्कुल शक्ति नहीं रहती है। जल के इकट्ठा हो जाने पर रुग्ण स्थान पर प्रतिघात (Percussion) करने से पहले की अपेक्षा मन्द शब्द सुनाई देता है। रोगी के खांसने पर शूल अधिक होता है। वह अधिक खांसना नहीं चाहता है और कास के वेग को रोकने का प्रयत्न करता है। रोगी सदा रुग्ण पार्श्व की तरफ ही सोता है।

यथोक्तं—

एकस्मिन् वक्षसः पार्श्वे स्तनस्याधोऽथवाभवेत् ।
उरस्तोयगदोह्येष कृच्छ्र साध्य. प्रकीर्तितः ॥

पार्श्वयोर्यदि जायेत द्वयोर्वा जल सञ्चयः।
कदाचित्तु तदाक्षेप प्राय· प्राणान्त कृन्मतः॥

लक्षण

ज्वर· कष्टतर· श्वास· पार्श्वोत्सेधस्तथारति·।
शुष्कः कासस्तथा तृष्णा वह्निमान्द्यं बलक्षयम्॥
पाण्डुत्वमरुचिर्दैन्य हृदस्तु स्थान विच्युति·।
नाडी सूक्ष्मतरा तीक्ष्णात्वथवा शीघ्र गामिनी॥

उरः परीक्षण

असाध्नोऽध· स्वल्पदेशे शब्दो घर्षणसन्निभ·
जायते क्रमशोमन्दा - गति फुफ्फुस सभवा।
पानीये सीञ्चिते चान्ते गतिर्नश्यति सर्वथा॥
तत्राङ्गुल्या प्रहारेण शब्दो मन्दतरो भवेत्।
शूल यतः कासनेन ह्यधिक सम्प्रजायते॥
व्याधितोऽत कासवेग निरुणद्धि विशेषतः।
रुग्णे पार्श्वे तथा रोगी सर्वदा हि शुपुप्सति॥

चिकित्सा

रोग के प्रारम्भ होते ही रोगी को पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। रोगी को उष्ण वस्त्र पहनावें और स्वच्छ हवादार गृह मे रखें। परिश्रम करना बिल्कुल बन्द कर देंव। निद्राकारक प्रयोग भी अच्छा है। पाश्चात्य वैद्य इसके लिए मार्फिया एट्रोपी की सूई लगाते हैं। पीडा दूर करने के लिये भी इसीका इञ्जेक्शन करते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि रोगी को अहोरात्रि मे एकबार खुलकर पाखाना होना आवश्यक है। कफनाशक, मूत्र और स्वेदप्रवर्तक औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं। किन्तु स्वेदकारक औषधियों का प्रयोग विचार करके करना चाहिये। इसके न करने से भी कोई हानि नहीं है।

यथोक्तं भैषज्यरत्नावल्याम्—

भेषजं श्लेष्महरण मूत्रस्यापि प्रवर्तकम्।

कोष्ठशोधक योग

हरीतकी, सनाय की पत्ती, सोंठ, मुलेठी, बडी इलायची।

विधि—इनको समभाग में लेकर चूर्ण बनावें। मात्रा छः माशा रात्रि में गरम जल से लें। इससे प्रातः एक पाखाना खुलकर होगा। प्रतिदिन कोष्ठशुद्धि के बाद, शृङ्गभस्म चार रत्ती की मात्रा में, पुनर्नवा और निर्गुण्डी (संभालू) के क्वाथ के साथ चार-चार घण्टे के अन्तर से दें।

परिफुफ्फुसीया कला में जबतक जल अथवा जलीयरस का सञ्चय नहीं होता है तबतक इसमें अतितीव्र वेदना होती है। अतः वेदना की निवृत्ति के लिये वेदना-स्थान में जलौका (जोंक) लगाना चाहिये। इसके लिये तीन-चार जोंक पर्याप्त है। इसके बाद ३-३ घंटे के अन्तर से अतसी की खली की पुल्टिस बनाकर सेक। फिर बाद को फलालैन लपेट दें। अथवा ज़ैतून के तेल में तारपीन का तेल मिलाकर वेदना स्थान पर मालिश करके लवण को पीसकर कपडे में पोटली बांधकर गरम करके सेकें। इससे वेदना शान्त होती है।

बादामादि तेल

योग—बादाम का तेल, तार्पीन तेल, जैतून तेल और सरसों का तेल।

विधि—इन तेलों को एक में मिलाकर वेदना-स्थान पर मालिश करें। ऊपर से गेहूं का चोकर और नमक, इसकी पोटली बनाकर तवे पर गरम करके उससे सेकें। इससे पार्श्वशूल शान्त हो जाता है।

पुनर्नवा-स्वरस योग

पुनर्नवा का स्वरस दो तोला में यवक्षार चार रत्ती मिलाकर प्रातः-सायं प्रतिदिन पीवें। इससे लाभ होता है।

यथोक्तं—

वर्षाभू स्वरसवापि यवक्षारसमायुतम्।
पिबेन्नित्यमुरस्तोयी सायप्रातरतन्द्रितः॥

सुधानिधि रस (भै० र०) $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक क्षीण, दुर्बल और

अविरेच्य रोगी को उरस्तोय नामक रोग मे चीनी के साथ मिलाकर शीतल जल के साथ देवें। इसी मात्रा से दिन मे तीन-चार बार तक दे सकते है। किन्तु, इस रोग मे बार-बार जल नहीं पिलाना चाहिये। यदि रोगी के लिये विरेचन की आवश्यकता हो, तो इसका प्रयोग करें। द्रव अधिक न बनने पावे। इसलिए द्रव पदार्थों मे लवण बहुत कम देवें।

डामरेश्वराभ्र

अभ्रकभस्म १ पल लेकर ब्रह्मदण्डी, धतूरा, गिलोय, अडूसा, कासमर्द, वननिम्ब, चव्य, पिपरामूल, चित्रकमूल पत्येक के १ पल स्वरस व काथ से एक-एक दिन मर्दन करके एक-एक रत्ती की गोली बनावें।

मात्रा—१ गोली, आद्रक रस से मधु मिलाकर चाटें। इससे पार्श्व-शूल, श्वासकष्ट, शोथ, कास आदि इस रोग के उपद्रव नष्ट होते हैं।

संक्षिप्त चिकित्सातत्त्व

श्वयथुनाशक, मूत्रकृच्छ्र, कास, श्वास, हृद्रोगनाशक और राजयक्ष्माधिकार मे चिकित्सा के लिये जो-जो औषध कहीं गई हैं, उनका इस रोग मे लक्षणानुसार प्रयोग करना चाहिये।

यथोक्तम् भैषज्यरत्नावल्याम्—

श्वयथौ मूत्रकृच्छ्रे च कासे श्वासे हृदामये।
क्षये च गदित यद् यद् भेषज तत्प्रयोजयेत्॥

अल्पजलसंचयोपक्रमः

पूर्व मे जो चिकित्सा लिखी गई है वही चिकित्सा करनी चाहिये। परन्तु कफनाशक चिकित्सा हितकारी है। खाँसी के लिये मरिचादिवटी, एलादिचूर्ण (चरकोक्त) और द्राक्षारिष्ट देवे। अथवा मयूरचन्द्रक भस्म मधु के साथ चटाने पर सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं। ज्वर निवृत्ति के लिये पुनर्नवा और निर्गुण्डी के क्वाथ में यवक्षार मिला कर कफचिन्तामणि के साथ प्रयोग करें। अथवा दशमूल के क्वाथ से श्वासचिन्तामणि, दिन मे चार बार देवे।

हृदय की दुर्बलता में—एकादशाङ्गाभ्र (रसहृदयोक्त) देवें। इससे वेदना की निवृत्ति और ज्वर का ह्रास हो जाता है।

वेदना स्थान पर—धत्तूर और पोस्त के छिलकों का क्वाथ बनावें और उसमें फ़लालैन भिगोकर निचोड़कर उसको वेदना स्थान पर लपेट देवें। इसी भांति स्वेदन देवें। इस प्रकार चिकित्सा करने से स्वल्प जल का संचय नष्ट हो जाता है।

तृषानाशक—षडङ्ग पानीय का प्रयोग करें।

प्रातःकाल—मकरध्वज, मुक्तापिष्टी, स्वर्णभस्म, अभ्रकभस्म, अम्बर, कस्तूरी और शिलाजीत लें।

विधि—इनको मिलाकर एक रत्ती की मात्रा में मधु के साथ देवें। प्रवालपञ्चामृत, अमृत प्राशघृत, (चरकोक्त) आदि भी दें। अथवा मल्ल-सिन्दूर सितोपलादि चूर्ण में मिलाकर मधु के साथ देवें।

प्रचुर जल का संचय होने पर शस्त्र-चिकित्सा

यदि औषध चिकित्सा से लाभ न हो तो चतुरशल्य चिकित्सक से शस्त्र क्रिया करानी चाहिये।

विधि—सातवीं-आठवीं - आठवी - नवमी अथवा नवमीं-दशवीं पर्शुकास्थियों के मध्य में (रुग्ण स्थान के अनुसार) त्रिकूर्चक (Aspirate) नामक शास्त्र को प्रविष्ट करके सम्पूर्ण जल को निकाल देवें। किन्तु अन्दर के अवयव, यकृत्, प्लीहा, फुफ्फुस आदि विद्ध न हो, इसका ध्यान रक्खें। इससे व्याधि अच्छी हो जाती है।

यथोक्तम्—

नैवव्याधि शमं यायान्निखिलैर्यदि कर्मभिः।
कुर्याच्छस्त्र क्रियां तर्हि लघुहस्तोभिषग्वरः॥
समुद्रवस्त्वोर्मध्ये वा महीध्रग्रहयोरथ।
पर्शु कास्थ्नोर्प्रदृशोः शस्त्रं नाम त्रिकूर्चकम्॥
प्रवेश्यावहितो रक्षन् यकृत्प्लीहानमेव च।
निःशेषं निर्हरेदम्बु व्याधिरेव प्रशाम्यति॥

दधि आदि अभिष्यन्दी पदार्थ, वातवर्द्धक, कफकारक, शीतवायु आदि रोगी को त्याग देना चाहिये। रोगी अच्छे हो जाने के बाद एक वर्ष तक मैथुन, अधिक चलना, व्यायाम, शीतल जल, दिन मे सोना, शोक तथा क्रोधादि त्याग देवे। लघु, सुपाच्य, पौष्टिकारक पथ्य हितकर है। यथा—दूध, साबूदाना, लाजमण्ड, कुलत्थयूपादि, मानमण्ड, रक्तशालि की पेया गोखुरू और छोटी कटेली के क्वाथ मे बनाकर देवें।

पेनीसिलीन का प्रयोग

आजकल इसकी चिकित्सा शस्त्रकर्म के बदले पूय का आचूषण और पेनीसिलीन का अन्तर्निषेचन (Instillation) द्वारा की जाती है। परन्तु सब अवस्थाओं मे इससे छुटकारा नहीं मिलता है। निम्न अवस्था में इसका उपयोग बिना शस्त्रकर्म के कर सकते हैं।

जब पूय अल्प हो, फुफ्फुसावरण गुहा मे पूय एक देश मे हो (अनेक स्थानों मे विभक्त न हो) जब पूय मे फुफ्फुस या अन्य धातु के बडे-बड़े सड़े-गले भाग या तन्त्वी प्रभृति नहीं हो तब पेनीसिलीन और आचूषण से काम चलता है। जब रोगी की चिन्ताजनक स्थिति हो उस समय शस्त्रकर्म नहीं किया जा सकता है। उस समय आचूषण और पेनीसिलीन का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी पर्शुकान्तराल मे स्रवणनलिका रख कर भीतर पेनीसिलीन डालते हैं। अत संक्षेप मे रोग और रोगी की स्थिति देखकर अन्त पूयता मे निम्न तीन प्रकार से चिकित्सा करें। (१) आचूषण और पेनीसिलीन, (२) पर्शुकान्तराल स्रवण-नलिका और पेनीसिलीन, (३) पर्शुकोच्छेदन (Resection of Rib) और पेनीसिलीन।

मात्रा—प्रथम मे २४००० एकक (यूनिट) २० सी० सी० लवणजल मे एक दो दिन के पश्चात्। द्वितीय मे ६०००० एकक दिन मे दो बार और तीसरे मे ५००० एकक दिन में दो बार।

रोगमुक्तावस्था

रोग निवृत्त हो जाने पर आहार-विहार, शयनासन और औषध सेवन, राजयक्ष्मा के तुल्य करना चाहिये।

श्लीपद

(Elephantiasis)

पर्याय—हाथीपांव, फीलपांव, एलेफेन्टीएसिस, फिलेरियेसिस, (Filariasis) पैलाग्रा (pellagra) प्रभृति।

श्लीपद प्रदेश का वर्णन

पुराणोदक भूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतला।

ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः॥

सुश्रुत

जहा पर वर्षा अधिक होती है तथा जिस स्थान पर वर्षा का पानी बहुत दिनों तक भरा रहता है, अनुस्थलीजल (Sub soil water) समीप होता है, वायुमण्डल मे ६० प्रतिशत से अधिक आक्लेद (Humidity) अधिक काल तक होता है तथा ताप ८०—९० फा० तक रहता है वहा पर मच्छर अधिक होते हैं। मच्छरी के शरीर मे प्रविष्ट हुये सब कृमि एक सप्ताह मे प्रायः परिवर्धित होते हैं। आक्लेद और ताप अनुकूल न होने पर परिवर्धन मे अधिक समय लगता है। यह रोग समुद्र के पृष्ठभाग की सतह पर (Sea Level) और ५००-१००० फुट की ऊँचाई स्थित प्रदेशों मे होता है। इससे अधिक ऊँचाई पर स्थित प्रदेशों पर तथा पहाडों मे नहीं होता है। अतः यह रोग समुद्र-तीरवर्ती तथा नदी-मुख से लेकर जहाज जाने योग्य मर्यादा तक नदी के समीपवर्ती प्रदेशों मे अधिक होता है। यथा—आसाम, बंगाल, उडीसा और उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग बनारस, गोरखपुर, बलिया प्रभृति।

बड़े-बडे शहरों और छोटे-छोटे गांवों मे यह रोग कम होता है। परन्तु बड़े-बडे गॉवों और कस्बों मे यह रोग अधिक होता है। इसका कारण यह है कि बड़े-बड़े शहरों मे नालियों की सफाई का प्रबन्ध होता है और छोटे गॉवों मे बस्ती थोड़ी और दूर-दूर होने से यह रोग कम होता है। गन्दे स्थान और मकान मे रहना, शरीर और वस्त्रों की सफाई न करना, मशहरी का प्रयोग न करना इत्यादि कारणों से गरीबों मे यह रोग अधिक होता है।

वयोनिर्णय—यह रोग बीस वर्ष के बाद होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है और दांत, मसूडे, गला, नासाकोटर प्रभृति दूषित केन्द्र के पूयजनक जीवाणु इसकी उत्पत्ति मे विशेप सहायता देते हैं।

भौगोलिक प्रविभाग—श्लीपद दक्षिण अमेरिका, अफ्रिका, अरव, भारतवर्ष, ब्रह्मप्रदेश, चीन या सिकिम महासागरस्थ द्वीप प्रभृति और मन्दोष्णकटिबन्ध (Tropical and Sub Tropical) के प्रदेशों मे होता है। भारत में मध्य प्रान्त मे अल्प उपसर्ग होता है और सिन्ध, पञ्जाब, काश्मीर, राजपुताना, मध्यभारतवर्ष और वायव्य सीमा प्रान्त इनमे यह रोग नहीं होता है। मद्रास का पूर्व किनारा, विहार, वम्वई, सूरत, अहमदाबाद और काठियावाड़ मे मध्य उपसर्ग होता है।

प्रधान कारण

श्लीपद रोग का प्रधान कारण 'फायलेरिया साग्वीनिस होमनिस' (Filaria Sanguinis Homis) नामक कृमि है। युवा कृमि को फायलेरिया वैंक्रोप्टाई कहते हैं। ये कृमि श्वेतवर्ण, पारदर्शी, केश सदृश पतले और ३-४ इञ्च लम्बे होते हैं। स्त्री और पुरुप कृमि विभिन्न होते हैं। ये सदा पेच के तुल्य मुडे हुये इस भाँति रहते हैं कि इनको स्वतन्त्र करना कठिन हो जाता है। दोनों का पिछला सिरा खोखला रहता है, सिर चौडा होता है और बीच मे मुख होता है। स्त्री कृमि पुरुप कृमि की अपेक्षा दुगुनी लम्बी और मोटी होती है तथा उसकी जननेन्द्रिय सिर के समीप रहती है। ये कृमि रसकुल्या, रसायनी, लसीका ग्रन्थियों और रसायनीजालक आदि मे रहते हैं। स्त्री कृमि समय-समय पर असख्य सूक्ष्म कृमि उत्पन्न करती है। रक्त व लसीका वाहिनियों में जो सचार करते हैं, उन सूक्ष्म कृमियों की लम्बाई $\frac{१}{८०}$ इञ्च के करीव और चौड़ाई लाल कण के वरावर होती है। ये कुछ गतियुक्त होते हैं। किन्तु इनमे स्थानान्तर करने की शक्ति नहीं होती है। इनकी एक विचित्रता यह है कि ये दिन मे त्वचा के रक्त मे नहीं पाये जाते। सन्ध्या के समय थोडे-थोडे रक्त मे आने लगते हैं। मध्य रात्रि के समय

इनकी संख्या सबसे अधिक हो जाती है। उस समय १ बूँद रक्त मे ये ३००-६०० तक पाये जाते हैं। इस आधार पर अनुमान किया जाता है कि समस्त रक्त मे इनकी संख्या ५ करोड के लगभग होती है। दो बजने के बाद इनकी संख्या फिर घटने लगती है और ८-९ बजे दिन तक रक्त मे ये बिलकुल नहीं रहते हैं। दिन में इनका निवास फुफ्फुस, वृक्क और बडी-बड़ी रक्तवाहिनियों में होता है।

रात्रि की इस घटना के कारण ऐसे कृमियों का नाम रात्रि का (Nocturna) रक्खा गया है। इनकी दूसरी जाति के कृमि दिन में मिलते हैं। उनका नाम दिन (Diurna) का रक्खा गया है। दूसरी जाति के कृमि दिन-रात्रि रक्त मे मिलते हैं। भारतवर्ष मे रात्रि के कृमि विशेष मिलते हैं। उपरोक्त घटना में यह हेतु हो सकता है कि सूक्ष्म कृमियों की वृद्धि के लिये जिस मच्छर की आवश्यकता होती है, वह क्यूलेक्स फेटीजीनस नामक मच्छर रात्रि के समय काटता है।

मच्छर में कृमियों का जीवन चरित्र

जब श्लीपद रोगी को क्यूलेक्स जाति की मच्छरी काटती है तो उसके पेट मे श्लीपद के फायलेरिया-कृमि प्रविष्ट हो जाते हैं। वहाँ पहुँचने पर ये अपने आवरण से बाहर निकल कर वक्ष की पेशियों में घुस जाते हैं। वहाँ १०-२० दिनों के भीतर इनमे विशेष परिवर्तन होकर ये पूर्ण रीति से बढ़ जाते हैं। इस अवस्था मे इनकी लम्बाई $\frac{1}{16}$ इञ्च के लगभग हो जाती है। वक्ष पेशियों से ये मच्छरी के शरीर मे फैलते हैं और बहुत से शुण्डा के पास तक पहुँच जाते हैं। जब मच्छरी किसी व्यक्ति को काटती है तब ये शुण्डा से निकल कर त्वचा पर आते हैं और काटने के छिद्र मे से त्वचा मे घुसकर लसीका द्वारा लसीका-वाहिनियों और ग्रन्थियों मे निवास करते हैं। करीब-करीब ६ मास के बाद मे इन युवा कृमियों मे परिवर्तन हो जाता है। स्त्री कृमि असंख्य सूक्ष्म कृमियों की उत्पत्ति करने लगती है। इस भाँति इस कृमि का जीवन चक्र सदैव जारी रहता है। श्लीपद वाहक मच्छर 'क्यूलेक्स फैटीजीनश' है।

श्लीपद की सम्प्राप्ति

श्लीपद मे पैर तथा अन्य अङ्गों मे कठिन शोथ हो जाता है जो दबाने से दबता है। इस शोथ का ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है कि इस तरह का शोथ कैसे हो जाता है। जबतक लसीका वाहिनियाँ अनवरुद्ध रहती हैं तबतक युवा और सूक्ष्म कृमियों की उपस्थिति से कुछ खराबी नहीं होती। परन्तु युवा कृमियों के कारण जब लसीका के प्रवाह का मार्ग बन्द हो जाता है तब श्लीपद उत्पन्न होता है। कृमि इसका सहायक कारण है। इनके कारण त्वचा, उपत्वचा और लसीका वाहिनियों मे लसीका संचय होने से उनमे कमजोरी आ जाती है, जिससे अन्य जीवाणु (Cocci) उनमे शोथ उत्पन्न करके कठिन स्वरूप का शोथ उत्पन्न कर सकते हैं। श्लीपद के आवेग समय-समय पर आते हैं। आवेग के समय ज्वर आता है। ज्वर के साथ-साथ टागों पर या वृषणों मे शोथ भी आ जाता है। शोथ के स्थान में पीडा होती है। कुछ दिनों के बाद ज्वर छूट जाता है। परन्तु, कुछ शोथ शेष रह जाता है जो प्रत्येक दौरे के समय अधिकाधिक बढ जाता है और अन्त में वह भाग मोटा हो जाता है। श्लीपद प्राय: पैर मे होता है। किन्तु, शिश्न, भग, स्तन, वृषण आदि पर भी हो सकता है। जब वृषण की त्वचा मोटी हो जाती है तब इसको मेदोजन्य वृषणवृद्धि कहते हैं। जब कृमि उदर की बडी-बडी रसवाहिनियों में निवास करके रस प्रवाह मे रुकावट पैदा कर देता है, तब रस उदरगुहा में संचित होता है और जलोदर पैदा हो जाता है। जब रस वस्ति मे पहुँचता है तब पिष्टमेह हो जाता है। जब रस अन्त्र मे आता है तब अतिसार हो जाता है। इस प्रकार ये कृमि स्थान-स्थान पर रस प्रवाह मे बाधा उत्पन्न करके अनेक रोग पैदा कर सकते हैं।

निरुक्ति और सामान्य लक्षण

श्लीपद की निरुक्ति—श्लीपद रोगी का पाद पत्थर की शिला के तुल्य भारी हो जाता है अतः इसको श्लीपद कहते हैं।

सामान्य लक्षण—कफवर्धक पदार्थों के अति सेवन करने से कफ

अधिक मात्रा में कुपित हो जाता है और साथ मे वात दोष भी कुपित हो जाता है। अतः कफोल्वण दोष कुपित होकर वंक्षण (जंघासा) और उरु प्रभृति के अधोभाग में दोष पहुँच कर मांस रक्त के अन्दर व्याप्त होकर शोथ पैदा कर देते हैं। साथ-साथ अत्यन्त पीड़ा और ज्वर उत्पन्न कर देते हैं। इस ज्वर को श्लैपदिक ज्वर कहते हैं। शोथ क्रमशः वंक्षणों से चलकर पैरों में आ जाता है। पैरों मे बहुत अधिक शोथ हो कर भारीपन हो जाता है। इससे रोगी को चलने मे अति कष्ट होता है। किसी-किसी आचार्य के मत से पाद के अतिरिक्त कर्ण, नेत्र, शिश्न, ओष्ठ और नासिका मे भी श्लीपद हो जाता है। यथोक्तमष्टाङ्ग हृदये—

> प्रस्थिताः वक्षणोर्वादिमधःकायं कफोल्वणः।
> दोषाः मांसास्रगाः पादौ कालेनाश्रित्य कुर्वते।
> शनैः शनैर्घनशोफ श्लीपद तत्प्रचक्षते॥
>
> अ. हृ. उ अ. ३०

श्लीपद के भेद

वातजन्य श्लीपद—कृष्ण, रूक्ष, फटा हुआ, तीव्र पीड़ायुक्त और विना कारण के ही दुखने वाला होता है। इसमे ज्वर अधिक होता है।

पैत्तिक श्लीपद—पीलापन लिये हुए, कोमल तथा दाह और ज्वर युक्त होता है।

कफज श्लीपद—मे चकत्ता, श्वेत, पीला तथा गुरुता और स्थिरता रहती है।

असाध्य लक्षण

त्रिदोषजन्य श्लीपद रोग सर्प की बांबी के तुल्य ऊँचा-नीचा और कटावदार होता है। त्रिदोषजन्य श्लीपद एक साल से अधिक पुराना होने पर असाध्य होता है। सब तरह के श्लीपदों मे कफ की प्रबलता रहती है। क्योंकि भारीपन कफ के विना नहीं हो सकता है। श्लीपद यदि कफजन्य आहार-विहार से पैदा हो और रोगी की प्रकृति भी कफ की हो,

अथवा स्रावयुक्त, बहुत बढ़े तीनों दोषों के लक्षण जिसमें विद्यमान हो, वह श्लीपद असाध्य होता है।

चिकित्सा

यदि प्रारम्भ मे इसका उपाय नहीं किया जाय तो यह दृढमूल होकर असाध्य हो जाता है। प्राय. आरम्भ मे ज्वर होता है और वंक्षण, कक्षा आदि मे लसीका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। जानु के पिछले हिस्से और पिण्डलियों मे अति वेदना होती है, पाँव मे गुल्फ (टखने) के चारों तरफ सूजन आ जाती है। कभी-कभी वंक्षण में सूजन न होकर जानु के पृष्ठ भाग मे सूजन होती है। किसी के उक्त दोनों स्थानों मे सूजन न होकर पैर फूल जाता है। प्रारम्भ में कुछ दिनों तक इस रोग का आक्रमण (दौरा) होता है। किन्तु यह सामान्य चिकित्सा से अथवा अपने आप ही अच्छा हो जाता है। शिरोवेदना, ज्वर आदि फिर नहीं होता है। परन्तु फिर कुछ दिनों के वाद शोथ हो जाता है। इस भाँति दो-एक वार होकर दृढ़ हो जाता है। धीरे-धीरे पैर में सूजन वढ़ जाती है। यहां तक कि सम्पूर्ण पाँव फूल जाता है जिससे उठकर चलना मुश्किल हो जाता है। किसी किसी के पैरों में मासाकुर अधिक मात्रा मे जम जाते हैं। इस अवस्था मे इसकी कोई औषध नहीं की जाती। किन्तु, प्रारम्भ मे निरन्तर कुछ मास तक अथवा वर्ष भर तक चिकित्सा की जावे तो रोग अच्छा हो सकता है।

चिकित्सा-सूत्र

पहले रोगी को स्वेदन देकर फिर विरेचन देवें और वाद को लेप करें। रोगी को वलानुसार-लंघन और रक्त मोक्षण करावें। अधिकतर कफनाशक उष्ण पदार्थों का सेवन करावें।

यथोक्तम्—

लघनालेपनस्वेद रेचनैः रक्तमोक्षणै.।
प्राय श्लेष्महरैरुष्णै श्लीपद समुपाचरेत् ॥

पथ्य—लघु, रूक्ष और तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन पथ्य है। लहसुन का प्रयोग बहुत लाभदायक होता है।

अपथ्य—कफकारक पदार्थ, दूध, दधि, मधुर पदार्थ-मिठाई और चावल आदि न खाव। दिवा शयन भी वर्जित है।

एलौपैथी पद्धति से श्लीपद की चिकित्सा

पहले रोगी को मैगसल्फ २ ड्राम १ औंस पानी मे मिलाकर देवें। इससे विरेचन होकर कोष्ठ शुद्ध हो जाता है।

(क) सूचीवेध चिकित्सा—सोडियमएन्टीमनीटार्ट २ प्रतिशत विलयन १ सी० सी० से ५ सी० सी० तक सप्ताह में दो वार देना चाहिये।

(ख) सालवर्सन तथा नीयो सालवर्सन ६ से ९ ग्राम तक सप्ताह में एक वार दें।

(ग) यूरियास्टेवेमीन १–३ ग्राम—इनका परिश्रुत जल मे विलयन बनाकर प्रयोग करें। यदि श्लीपद के स्थान पर पूय भी उत्पन्न हो गया हो, तो पूर्ण स्वच्छता का प्रवन्ध करें। स्टेप्टो तथा स्टेफिलोकोकस विरोधी लसीका को भी प्रयुक्त करना चाहिये। मूत्र मे दूध के समान पदार्थ काइल (Chile) निकले तो सोडियम एन्टीमनीटार्ट अथवा स्वामिन का प्रयोग करें।

विद्रधि—अधिक स्थूलता में शस्त्र चिकित्सा करें। इसके लिये जो विविध शस्त्र कर्म काम मे आते हैं उनके नाम लिखे जाते हैं। सैम्पसन हडले का शस्त्रकर्म, लेन्झ का शस्त्रकर्म, कोन्डोलिओ का शस्त्र कर्म, अक्दुन क्तोनेस का शस्त्र कर्म प्रभृति। इन प्रधान शस्त्रकर्मों के अतिरिक्त दांत, मसूडा, गला, तुण्डिका (टांसिल) नासा और नासा कोटर प्रभृति स्थानों मे कहीं दूषित केन्द्र हो, तो उसको भी शस्त्र कर्म से निर्दोष कर लेना चाहिये।

एन्थी ओमलाइन (Anthiomaline M.B.)—इसके ६% घोल का उपयोग पेशी या शिरा में किया जाता है। प्रारम्भिक मात्रा ½ घ० शि० मा०

एक दिन छोडकर १०-१५ सूई तक लगाई जाती है। धीरे-धीरे मात्रा ४ घ० शि० मा० तक बढ़ाई जाती है। सिरा में देने से सूक्ष्म श्लीपदियों का नाश होता है। यह औषध बढी हुई लसीका-ग्रन्थियों मे देने से उनकी आकृति कम हो जाती है और हस्तिचर्मता कम होने मे भी सहायता मिलती है।

टार्टर इमेटिक (Tartar Emetic)—इसका उपयोग सिरा द्वारा किया जाता है। इसकी प्रारम्भिक मात्रा ½ ग्रेन की होती है और धीरे-धीरे १½ ग्रेन तक बढ़ाई जाती है। १ ग्रेन तक ५% ग्लूकोज को ५ घ० शि० मा० मे विद्रुत करके इसका उपयोग करना चाहिये। ग्लूकोज का प्रयोग करने से इसका विषैलापन कम होता है। इसका घोल नये तिर्यक् पातित निर्जीवाणुक जल मे भी कर सकते हैं। इसकी सूइयाॅ एक दिन छोडकर ४—६ सप्ताह तक जारी रहती हैं। निर्जीवाणुक बनाने के लिये इसके घोल को अधिक काल तक न उबालें।

मधुरी (Glycerine)—इसका प्रयोग सिरा द्वारा किया जाता है। प्रारम्भिक मात्रा ½ घ० शि० मा० की होती है जिसमे केवल ५% मधुरी ऋजु लवणजल (Normal Saline) के साथ मिलाई हुई रहती है। दूसरी मात्रा शुद्ध मधुरी की ¼ घ० शि० मा० की होती है। ये दोनों मात्राएँ एक सप्ताह मे दी जाती हैं। इसके बाद प्रति सप्ताह एक बार मधुरी दी जाती है और प्रत्येक समय मात्रा ५% घ० शि० मा० से बढाई जाती है। इस प्रकार ¾ घ० शि० मा० तक मात्रा बढ़ाई जाती है। कुल १०-१२ सूइयाॅ दी जाती हैं। इसकी सूई बहुत ही धीरे-धीरे दी जाती है। अर्थात् २ मिनट मे देनी चाहिये।

लाभ—मधुरी जलाकर्षक होने के कारण जहाॅ पर होती है वहाॅ पर धातुओं से जल को आकर्षित करके शोथ कम करने मे सहायता करती है। सिरा के अतिरिक्त धमनी—और्वी (Femoral) मे भी इसका प्रयोग किया जाता है। इससे शिरा की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। यह एक चिकित्सक का अनुभव है। मधरी १०% प्रयुक्त होती है

और भूयिष्ठ मात्रा २-३ घ० शि० मा० की होती है। इसका प्रयोग पेशी और अनुत्वचा में देने के लिये भी किया जाता है।

शुल्वनेयदर्शतिक्ती (Sulpharsphenamine)—इसका उपयोग पेशी या अनुत्वचा की गहराई में किया जाता है। मात्रा $\frac{1}{10}$ धान्य से प्रारम्भ करके $\frac{1}{6}$ धान्य (ग्राम) तक बढ़ाई जाती है। प्रति सप्ताह एक सूई लगाई जाती है।

शुल्वौषधियाँ—प्रोटोसील, सल्फाथायाझोल (सिबाझोल), प्रोसेप्टासीन, सोल्यूसेप्टासीन, यूरिया सल्फाझाइड (Union Drug House) इनमें से कोई एक औषध व्यवहार में ला सकते हैं।

असामान्य प्रोटीन-चिकित्सा—इसके लिये टी० ए० बी० मसूरी (Vaccine) का मुख्यतया उपयोग किया जाता है। इसके साथ संखिया (आर्सनिक) मिलाने से अधिक लाभ होता है। इसलिये दोनों के संयुक्त योग (Arseno Typhoid-Filartin) प्रभृति भी मिलाते हैं। कुछ न हो सके तो दूध का भी व्यवहार कर सकते हैं।

मसूरी (वैक्सीन)—इसके लिये माला और स्तवक गोलाणु की मिश्र मसूरी यदि हो सके तो स्वजनित मसूरी और यदि न हो सके तो बनी बनाई मिश्र मसूरी काम में लाई जाती है। सप्ताह में दो बार ४-६ सप्ताह तक इसका प्रयोग करें।

लसीका—इसके लिये माला गोलाणुवीय (Streptococcal) लसीका का उपयोग किया जाता है। मात्रा—२०-४० घ० शि० मा० या आवश्यकता के अनुसार कुछ काल तक देवें।

ट्रिपार्सामिड (Triparsamide) मात्रा—१-२ ग्राम १० घ० शि० मा० तिर्यक् पातित पानी में घोल बनाकर सिरा या पेशी द्वारा सप्ताह में एक या दो बार ८-१० सूइयाँ लगाई जाती हैं।

ऊपर वर्णित ओषधियों में वैक्सीन तथा विजातीय प्रोटीन चिकित्सा शोथ के नाश करने के लिये की जाती है। पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग को दूर करने के लिये शुल्वौषधियाँ, मालागोलाणु,

वैक्सीन और लसीका का व्यवहार किया जाता है और अन्य ओपधियाँ भी श्लीपद के कृमि के लिये प्रयुक्त होती हैं।

अनागतबाधा प्रतिषेध

इस रोग का मच्छरों से फैलने के कारण मच्छरों की उत्पत्ति को रोकने के लिये और उत्पन्न मच्छरों को नाश करने के लिये स्थायी और अस्थायी सब उपाय काम में लाने चाहिये। ऐसे स्थान में जहाँ मच्छर हो मशहरी का उपयोग सबके लिये लाभदायक हो सकता है। इससे न तो मच्छर काटेंगे और न रोग ही होगा। रोग बहुत बढने से पहले ही यदि रोगी ऐसे प्रदेश को सदा के लिये त्याग देवे और दूसरे स्थान पर जहाँ श्लीपद का उपसर्ग न हो चला जाय तो रोगी के भीतर का उपसर्ग भी आप-से-आप नष्ट हो जाता है।

प्रलेप

धत्तूरपत्र, एरण्डमूल की छाल, संभालू की पत्ती, सरसों, पुनर्नवा, सहिजन की छाल—इन द्रव्यों को समान भाग लेकर गो-मूत्र से पीसकर लेप करें तो अधिक लाभ होता है।

श्लीपदनाशक वटी

शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक की कज्जली २ तोला, त्रिकटु, ३ तोला, अजवाइन १ तोला, भुना हुआ चौकिया सोहागा १ तोला, शुद्ध जमाल-गोटा १ तोला लें।

विधि—कूटने योग्य दवाइयों को पहले कूट-पीस-छान लेवे, बाद को कज्जली मिलाकर घोटें। फिर भांगरा, गोखुरू, कागजी नीम्बू का रस और अदरक इनके स्वरस की एक-एक भावना देकर घोटकर १-१ रत्ती की गोलियाँ बनावें।

मात्रा—१ गोली उष्णोदक के साथ प्रात समय देने से बहुत लाभ होता है।

सूचीवेध चिकित्सा

लहसुन का ताजा रस १ बूँद, गोदुग्ध १५ बूँद, स्रुतजल १० बूँद।

विधि—इनको एक में मिलाकर गर्म करें और जब १५ बूँद शेष रहे,

तब छानकर बाँहु की मांसपेशी मे इञ्जेक्शन करें, इससे बहुत लाभ होता है। तीसरे दिन फिर यही इञ्जेक्शन देवें। प्रति बार १-१ बूँद बढाते हुये लहसुन स्वरस ५ बूँद तक बढ़ावे, शेष चीज उतनी ही रहे। इससे कभी-कभी ज्वर भी हो जाता है। उस समय इञ्जेक्शन बन्द कर देवें। ज्वर उतर जाने पर फिर १ बूँद लहसुन से इञ्जेक्शन आरम्भ करें।

श्लीपद में नित्यानन्दरस का प्रयोग

हिंगुल से निकाला हुआ पारा, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, कांस्यभस्म, वंगभस्म, हरताल भस्म, तूतियाभस्म, शङ्ख भस्म, कौडीभस्म, त्रिकुटा, त्रिफला, लोह भस्म, वायविडंग, पञ्चलवण, चव्य, पिपरामूल, हाउवेर, वच, कचूर, पाठा (जलजमुनी), देवदारु, इलायची, विधारा, निशोथ, चित्रक और दन्ती लें।

विधि—सबको समान भाग में लेकर काष्ठादि दवाइयों को कूट-पीस छान लेवें। बाद को पारा-गन्धक की कज्जली बनावें, फिर उसमें शेष भस्मों को मिलाकर चूर्ण मिला देव। फिर हरीतकी के क्वाथ की भावना देकर घोंट कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावे।

मात्रा—१ गोली, हरीतकी के क्वाथ से देने से श्लीपद नष्ट होता है।

गोमूत्र हरीतकी

हरीतकी चूर्ण को एरण्ड तेल मे भूनकर गोमूत्र से सात दिन लेने से श्लीपद में लाभ होता है।

मदनादि लेप

योग—सोमुद्रलवण, मैनफल और नीलकमल।

विधि—गोमूत्र से पीसकर लेप करने से विशेष लाभ होता है।

द्वितीय खण्ड

जननेन्द्रियजन्य संक्रामक रोगाख्यानम्

उपदंश

(Syphilis)

नामकरण—यूनानी भाषा का एक 'सिन्' शब्द है। जिसका पाश्चात्य भाषा मे 'सिम्' शब्द हो जाता है और सिम् Sym शब्द का अर्थ (टुगेदर Together) अर्थात् साथ होता है और फिलिस् (philis) शब्द का अर्थ प्रेम है। इसका शब्दार्थ यह हुआ कि विषयभोगजन्य क्षणिक प्रेम से उत्पन्न होनेवाला दारुण रोग (सिफिलिस्—Syphilis)। यही अर्थ आयुर्वेदीय उपदंश शब्द का है। अर्थात् 'उपसामीप्येन दंश. क्षत.-इत्युपदंश' सामीप्य से जो क्षत होता है उसको उपदंश कहते है। अर्थात् इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्राय' प्रेम के प्रसङ्ग से उत्पन्न हुआ दंश (क्षत) उपदंश नामक रोग कहा जाता है। इस भॉति प्राच्य-प्रतीच्य संज्ञा की तुलना की जा सकती है। इसको गरमी और आतशक भी कहते हैं। कोई-कोई विद्वान् सिफिलिस को फिरङ्ग नाम से व्यवहार करते हैं। ग्रीक भाषा मे सिमफिलिस (Symphilos) शब्द का व्यवहार करते है।

परिचय

साक्षात् सम्बन्ध से अथवा परम्परा सम्बन्ध से स्पर्शाक्रमण द्वारा रोगाक्रान्त व्यक्ति से स्वस्थ व्यक्ति में उपदंशाणु द्वारा अर्जित होकर संक्रमण प्राप्त स्थान में नियमित गुप्तावस्था के बाद व्रण (Shancre) प्रकाशित होने के कई दिनों के पश्चात् दैहिक विकारों के लक्षणों से संयुक्त और अवशिष्ट शारीरिक यन्त्रों के पीडा के उत्पादक और स्पर्शाक्रामक विशेष प्राचीन पीडा को उपदंश कहते हैं। यह रोग वंशावली-क्रम से सन्तान-सन्तति में प्रकट हो जाता है।

उपदंश का परिचय—

विद्वद्भिरस्य नामानि यानि प्रोक्तानि तानि हि।
तेषा ग्रन्थेभ्य आदाय विलिख्यन्तेऽत्र सांप्रतम्॥

आतशङ्कोपदंशौच गर्मी सिफिलसौ तथा।
फिरङ्ग रोग नामा च चैते पर्याय वाचकाः॥
परन्तु मन्यतेऽस्माभिर्मिलितैव तदाकृतिः।
साम्प्रतमुपदशस्य विपयश्चावलम्ब्यते॥
पूर्वं द्विधोपदश स्यात्तत्र दोप निमित्तजः।
प्रथमो जन्तुसम्भूतो द्वितीय. प्रोच्यते बुधै.॥
दोपजः कथित. पूर्वं जीवाणुजोऽथ कथ्यते।
अय रोगश्चिरस्थायी ससर्ग हेतु सभवः॥
व्रणाश्चैवात्र जायन्ते वहि.स्थे जननेन्द्रिये।
पश्चाद् रोगाणवोरक्ते गत्वा कुर्वन्ति लक्षणम्॥
सामान्य लिङ्गमेतद्धि विशिष्ट चात्रकथ्यते।

—मा० नि०

इतिहास

सिफिलिस रोग का नामकरण अति विचित्र है। सबसे पहले १५२१ ई० मे विरोना नगर के कैकस्टोरियम् नामक चिकित्सक ने सिफिलिस् इस पद का आविष्कार किया था। इसी वर्ष मे इस चिकित्सक ने सिफिलि (प्रेम) नाम का एक काव्य वनाया और उसका नायक सिफिलिस नामक एक मेपपालक का नाम कल्पित किया तथा उसमे वर्णनकिया कि एपोलोदेव (मेपपालकों का देवता) के शाप से मेपपालक सिफिलिस इस जघन्य रोग से आक्रान्त हो गया था। इसलिये इसी समय से सिफिलिस यह नाम प्रसिद्ध हो गया। तव से सव लोग इस निन्दित व्याधि को सिफिलिस नाम से कहने लगे। किन्तु यह रोग सङ्गमजन्य और औपसर्गिक दोनों है। इस सिद्धान्त का निश्चय उस समय तक नहीं हुआ था। ईसा की १६वीं शताब्दी से सिफिलिस नाम प्रचलित हो यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न नाम से यह रोग प्रसिद्ध हुआ। यथा—फ्रासीसी कहते थे कि यह रोग नेपल्स से आया। अतः इसका नाम नेपल्स रोग (Malde Napales) रक्खा था। इटलीवालों ने कहा कि यह फ्रान्स का दोप है इसलिये इसका नाम Malum Francoum

(फ्रेंच रोग) रक्खा। पुर्तगाल वालों ने स्पेन वासियों का दोष देकर इसका नाम स्पेन की बीमारी रक्खा। पोलैण्ड वासियों ने जर्मनी वासियों का दोष देकर के इसका नाम जर्मन रोग (Dentsche kıankheit रखा। रूसवालों ने इस रोग का नाम पोलैण्ड का रोग (Polıische krankheit) रक्खा। एशियावाले इसको पुर्तगाल रोग तथा फिरङ्ग रोग नाम से पुकारने लगे। फिरङ्ग को पोर्तुगाल कहते हैं। श्री भावमिश्रजी ने भी आज से ४०० वर्ष-पूर्व स्वनिर्मित भावप्रकाश में फिरङ्ग रोग का वर्णन किया है। यही सिफिलिस का इतिहास है।

निदानतत्त्व

पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र मे इस रोग के निदान के विषय मे बहुत आलोचनायें की गईं। चिकित्सकों ने नित्य नूतन गवेषणाओं द्वारा अनेक सिद्धान्त निकाले और प्रतिदिन रोगियों की परीक्षा करके अनेक नवीनतम तथ्यों का अनुसंधान किये। उनका कहना है कि यह रोग भीषण संक्रामक है और इस रोग का प्रधान कारण स्पैरो-कीटापालिडा (spııochoeta Pallıda) अथवा ट्रिपोनीमापैलिडम् (Tıeponema Pallıdum) नामक जीवाणु है। यथा—

स्पैरोकीटापालिडाख्यम् परोपजीवाणुम्।
उपदशस्य कारणम् निगदन्ति भिषग्विद ॥

जीवाणु का चरित्र

यह उपदशाणु परोपजीवी है। यह पुनरावर्तक ज्वर के जीवाणु के तुल्य पेचदार जीवाणु है और उससे भी पतला चक्रकाणु है। इसकी मोटाई ½ माइक्रोन और लम्बाई ६-१५ माइक्रोन है। इसके सम्पूर्ण शरीर मे ६-१२ आवर्त होते हैं। प्रत्येक आवर्त (घुमाव) एक माइक्रोन (Mıcıon) के अन्तर पर होता है। दोनों सिरे अत्यन्त नुकीले और तन्तुयुक्त होते हैं। इसके तन्तुपिच्छ नहीं होते हैं। यह अति चंचल होता है। परन्तु इसमें स्थानान्तर करने की शक्ति नहीं होती जो इसके साथ कभी-कभी उपदंश की विकृति में मिलने वाले अन्य चक्राणुओं मे दिखलाई देती है।

यह साधारण रङ्गों से रञ्जित नहीं होता है। इसीसे इसको पालिडा (Pallid पाण्डुर) कहा जाता है। इसका संवर्धन प्राणवायु से होता है। इसका पोपक तापक्रम ३० से० है। इससे उपदंश (सिफिलिस) उत्पन्न होता है। यह दीर्घकालिक, सांसर्गिक और मैथुनी (Venereal) है। यह रोग साक्षात् सम्बन्ध से अथवा परम्परा सम्बन्ध से स्पर्शाक्रमण द्वारा, उपदंशाक्रान्त व्यक्ति से स्वस्थ व्यक्ति मे होता है। वह संक्रमण प्राप्त स्थान मे नियमित गुप्तावस्था के व्यतीत हो जाने पर प्राथमिक अवस्था मे आद्यक्षत (शैङ्कर Shancre) से उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् धीरे-धीरे तत्स्थान सम्बन्धित ग्रन्थियाँ वढ़ जाती हैं जिनको 'वद' कहते है। और भी दैहिक विकार हो जाते हैं। यह रोग वंशावली क्रम से सन्तान-सन्तति में प्रकाशित होता है। यथा—गर्भावस्था मे माता के द्वारा गर्भ मे उपदंश का उपसर्ग हो जाता है, तो इसको सहज उपदंश कहते हैं। इसके चक्रकाणु का प्रवेश व्यवायकालिक संघर्ष से जननेन्द्रिय की श्लेष्मल त्वचा पर जो सूक्ष्म क्षत होते हैं उनसे होता है। इसके अतिरिक्त यह अक्षुण्ण त्वचा से भी प्रवेश करके उपदंश उत्पन्न करता है। उपदंशजन्य संक्रामक विष के द्वारा आक्रान्त होने पर कई दैहिक विशेप अवस्थाओं की आवश्यकता है। यदि शरीर मे उपदंश का विप वर्तमान नहीं है और उपत्वक् वा किसी स्थान के ऊपर का चर्म छिल गया है अथवा किसी प्रकार का क्षत वर्तमान है, तो संक्रमण प्राप्त होकर रोग की उत्पत्ति हो जाती है। कोई भी शारीरिक यन्त्र एक वार उपदंश से आक्रान्त हो जाने पर कुछ काल के लिये उसकी संक्रमण प्राप्ति की वशवर्तिता नष्ट हो जाती है। परन्तु, इन सक्रमण प्राप्ति की वशवर्तिता से विहीन व्यक्तियों मे भी क्षत उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इस प्रकार का जो क्षत उत्पन्न होता है वह स्थानिक होता है, शारीरिक यन्त्रों में इसकी कोई क्रिया नहीं होती है।

जीवाणु का स्वरूप

ततस्तस्याकृतिर्ज्ञेया जीवाणो कर्पिणी समा।
ग्राम्य धर्मेण प्रायोऽस्य भवेदाक्रमणं खलु॥

क्वचित्संक्रमणैश्चान्यैरस्य - सक्रमणं भवेत् ।
पित्रोरपि हि बालेषु रोगेणानेन ग्रस्तयो· ॥
स्याद् रोगस्यास्य सम्भूतिर्वक्ष्यते पृथगेव सा ।
जीवाणोर्मैथुनाद्यत्र प्रसरस्तत्रमन्यते ।
व्रणता लिङ्गवास्तुषु स्त्रीपुंसोरुपदेशजा ॥

विवरण

संभागकाल में किसी प्रकार से पुरुष के शिश्न और स्त्रियों के भग वा योनि का कोई स्थान छिल जावे अथवा सहवास मे पुरुष की शिश्न त्वचा मे अथवा स्त्रियों के भगोष्ठ मे किसी प्रकार का क्षत वन जावे तो प्रधानत उससे औपदंशिक जीवाणु (स्पाइटोकीटापैलिडा) शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपदंश के जीवाणु-विष चिरकाल तक अक्षुण्ण भाव से शारीरिक यन्त्रों के साथ संस्पर्श होने पर और शरीर की विशेष अवस्था वर्तमान होने पर ग्रन्थियों और सम्पूर्ण कोमल श्लैष्मिक झिल्लियों मे उग्रता उत्पन्न करके संचालित होता है और उन्मुक्त क्षत वर्तमान होने पर स्वल्पकाल मे रोग के विष के सम्बन्ध से औपदंशिक संक्रमण उपस्थित हो जाता है।

प्रसरण

प्रायेण चाक्रमणमस्य तु मैथुनेन ,
जायेत च क्वचन सक्रमणैरथान्यै ।

तरुण उपदंश-ग्रस्त व्यक्ति के औपदंशिक व्रण के स्राव मे तथा रक्त और लसीका में उपदशाणु प्रचुर परिमाण मे वर्तमान रहते हैं, यहा तक कि रोगी के शुक्र के अन्दर जो औपदंशिक जीवाणु मिलते हैं उनसे भी स्वस्थ स्त्री आक्रान्त हो जाती है। सामान्यतया उपदंशोपसृष्ट होने के दो वर्ष वाद उपदंशी पुरुषों से रोग के सक्रमण होने की कम सम्भावना रहती है और पांच साल के वाद यह पूर्णतया नष्ट हो जाती है। उपदंशोप-क्रान्त स्त्रियों मे यह संक्रमणकाल पुरुषों की अपेक्षा अधिक होता है। अर्जित उपदंशग्रस्त व्यक्ति से प्राप्त और पूर्व पुरुष से आगत औपदंशिक

फफोले (पेम्फाइगस) और छोटे-छोटे मस्सों (पैपिलोमेटा) से पीड़ित शिशु से अनेक वर्ष तक अनौपदंशिक शरीर के अवयव में उपदंशाणु संचरण करते रहते हैं। परीक्षा से यह भी सिद्ध हुवा है कि वे रोगी जो चिरकाल तक क्षत का भोग करते हैं और उससे उसको कोई कष्ट भी नहीं होता है। परन्तु यदि यह क्षत औपदंशिक होता है तो इसमे किसी प्रकार का घर्षण लगते ही अन्यान्य उग्रता होने पर वह प्रबल हो जाता है।

पहले साधारणत. यह विश्वास था कि तृतीय औपदंशिक ग्रन्थि (Gumma) जनित सम्पूर्ण नववर्धन (ग्रोथ) मे संक्रमणशील उपदंशाणु नहीं होता है। किन्तु यह भ्रमात्क सिद्ध हुआ। क्योंकि जिन स्थलों मे तृतीयावस्था के लक्षणों के साथ द्वितीयावस्था के लक्षण वर्तमान रहते हैं उन सब स्थलों मे उपदंशाणु एक रोगी से दूसरे व्यक्ति मे प्रवेश करता है। किन्तु, द्वितीयक और गौणिक उपदंश के क्षत से रोग अपेक्षाकृत अधिक ही फैलता है।

वहिर्जननेन्द्रियमार्ग

रोगग्रस्त व्यक्ति के साक्षात संस्पर्श के अतिरिक्त रोगी के व्यवहार मे आये हुए वस्त्र, रूमाल, धोती, पात्र, सह भोजन, एक शय्यासन, प्रभृति से भी इसका संक्रमण होता है। चुम्बन से इसका संक्रमण अधिक होता है। अतः वहिजननेन्द्रिय व्रणों मे ७० प्रतिशत व्रण ओष्ठ से उत्पन्न होते हैं। दूसरा स्थान स्तन है। वैद्य परिचारकों के अंगुलियों पर व्रण होने से भी उसके द्वारा संक्रमण होता है।

शोणितपथ

उपदंशग्रस्त रोगी के रक्त मे पहली, दूसरी और तीसरी अवस्था की पूर्वस्थिति मे चक्रकाणु होते हैं। इस अवस्था के उपदंशी का रक्त यदि दिया जावे तो उससे भी उपदंश उत्पन्न होता है। वैक्सीनेशन से भी रोग का संक्रमण होता है। औपदंशिक रोगी का नि.सृत रस, शोथयुक्त श्लैष्मिक कल्प का रस और औपदंशिक व्रणस्राव से भी संक्रमण होता है।

शोषण द्वारा—व्यवाय के समय मे कोमल त्वचा से श्लैष्मिक झिल्ली के कैशिक शिरा में उपदंशाणु का शोषण होता है। संदश (शैङ्कर) का क्लेद रक्त के साथ मिल जाने से संक्रमण होता है। त्वचा मे फफोला पड जाने से देह के मध्य मे और भी सुगमता से उपदंशाणु प्रविष्ट हो जाते हैं।

पूर्व मे वर्णन किया गया है कि उपदंशी मनुष्य की सन्तति उपदंश से ग्रस्त होती है। परन्तु पिता पुत्र को स्वयं उपसृष्ट नहीं कर सकता है। प्रत्युत् माता के द्वारा करता है। जननी अपने रक्तगत जीवाणुओं से अपरा के द्वारा गर्भ को संक्रान्त करती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब माता के रक्त में जीवाणु नहीं होते उसी समय वह बालक को संक्रान्त कर सकती है। परन्तु पहली अवस्था के शुरू मे तथा तीसरी अवस्था के उत्तरकाल मे रक्त मे जीवाणु नहीं होते। अतः यदि जननी गर्भवती होने के समय तृतीयावस्था के उत्तरकाल में हो अथवा गर्भवती होने के पश्चात् प्रसूति के कुछ पूर्व संक्रान्त हो जाय तो वह अपने गर्भ को फिर संक्रान्त नहीं कर सकती है। परन्तु इसके मध्य मे होने से कर सकती है। कभी-कभी योनि-मार्ग संक्रान्त होने पर प्रसूति के समय बच्चों मे संक्रमण हो सकता है।

अन्य संक्रमण प्रकार

शैंकर का निकला हुआ रस छुरी से अल्प मात्रा मे लेकर के उपदंश विहीन किसी व्यक्ति के अङ्ग मे किसी स्थान पर छिद्र करके प्रवेश कर देने पर उसी भाँति सचारक शैंकर (क्षत) उत्पन्न हो जाता है। पहले दिन छिद्र के चारों तरफ लालिमा मालूम पडती है फिर दूसरे वा तीसरे दिन शोथयुक्त लघु क्षेत्र द्वारा वेष्टित त्वचा से उन्नत व्रण प्रकाशित हो जाता है। चौथे दिन मे व्रण की आवृत त्वचा के नीचे से घुला हुआ रस निकल कर लाल पिडिकाओं मे परिणत हो जाता है। पाँचवे दिन रस का निकलना बढ जाता है और पूययुक्त हो जाता है। पूयपूर्ण पिडिका का मध्य भाग नत हो जाता है और वेष्टित चक्र लाल होकर फूल जाता है। छठे दिन मे पूय पिडिका के मूल के चारों तरफ

तन्तु कठिन, तान्तविक उपास्थि (फाइब्रोकार्टिलेज) के तुल्य स्थिति स्थापक हो जाता है और आन्त्र में स्फीति, दृढता तथा रस का निकलना बढ जाता है, त्वचा फट जाती है और क्षत के ऊपर खिंचावट मालूम होती है। छाला उठ आने पर पहले के समान कठिन कंकर के समान ग्रन्थि (शैंकर) प्रकाशित हो जाती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपदंश का विष शरीर मे पहले से ही प्रविष्ट हो चुका होता है और वह रक्त मे वर्तमान रहता है। और भी एक प्रकार से विष-प्रवेश की प्रथा है; उससे भी संचारक शैंकर (व्रण) उत्पन्न हो जाता है। उपदंशी भृत्यगण बालकों के कोमल गालों का चुम्बन लेते हैं। इससे शिशुओं को भी उपदंश हो जाता है। प्राचीन चिकित्सकों का अनुमान है, कि यह रोग प्राचीन काल से क्रमशः संस्पर्श और संचार द्वारा फैलता है। इस समय भी यही सिद्धान्त है।

सहायक हेतुओं का उपदंश रोग में निष्प्रयोजनता

उपदंश से आक्रान्त व्यक्ति के साथ विषय-भोग के अतिरिक्त इसके लिये और कोई सहायक कारण की आवश्यकता नहीं है। जलवायु अथवा काल, ऋतु, जाति, वय, वंश, लिङ्ग प्रभृति की अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव इस रोग पर नहीं पड़ता है। यह सब व्यक्तियों मे सब समय संक्रमण करता है। जब किसी जाति वा समाज मे इस रोग का प्रथम प्रवेश होता है, तब अन्य संक्रामक रोगों के तुल्य ही यह भी अत्यन्त तीव्रता से फैलता है और हानिकारक होता है। जब किसी समाज में चिरकाल तक इस रोग की स्थिति हो जाती है तब इसकी तीव्रता और घातकता मे न्यूनता हो जाती है।

उपदंश के प्रकार

उपदंश दो प्रकार का होता है। प्रथम सहवासजनित (Acquired), द्वितीय पैतृक वा आजन्म (Inherited, or, Congenital).

सहवासजनित उपदंश (Acquired) के लक्षण

सहवास जनित उपदंश मे सबसे पहले जिस स्थान मे इसके विष का संस्पर्श होता है, उस स्थान मे क्षत (शैंकर) के रूप मे स्थानिक लक्षण

प्रकाशित होते हैं। अनेक स्थल पर स्थानिक चिह्न इतने सामान्य होते हैं, कि इनको शैंकर का स्वरूप अनुमान नहीं किया जा सकता है। उपदंशाणु प्रवेश्य स्थान मे बढ़ कर लसीका वाहिनियों द्वारा उस स्थान से सम्बन्ध रखने वाली लसिका-ग्रन्थियों मे पहुँच कर उनकी वृद्धि कर देते हैं। पीडा की इस अवस्था को प्रथमावस्था (Primary Syphilis) अथवा इसमे जननेन्द्रिय पर व्रण होता है अतः व्रणावस्था भी कहते हैं। बाद को जब सम्पूर्ण सार्वाङ्गिक लक्षण प्रकाशित होते हैं, उस समय उसको द्वितीयावस्था वा गौण-अवस्था (Secondary) का उपदंश कहते हैं। इस अवस्था मे त्वचा और श्लेष्म-कला मे विकृति होती है और नख, बाल, रसग्रन्थि, चक्षु प्रभृति विधान विविध प्रकार से विकार-ग्रस्त हो जाते हैं। आद्य क्षत (शैंकर) के प्रकाश होने के बाद प्राय पचीस दिन से पहले ये सम्पूर्ण गौण लक्षण उपस्थित नहीं होते हैं। कभी-कभी पांच-छः मास के बाद सार्वाङ्गिक लक्षण प्रकट होते है। उपदंश का आद्यक्षत (शैंकर) प्रकाशित होने के बाद दो वर्ष तक गौण सार्वाङ्गिक लक्षण देखे जा सकते हैं।

इसके बाद—शरीर के अत्यन्त गम्भीर विधान और सम्पूर्ण आभ्यन्तरीय यंत्र प्रबल रूप से पीड़ाग्रस्त हो जाते हैं। इस अवस्था को पुरातन वा तृतीयक (Tertiary) अवस्था का उपदंश कहते हैं। इस अवस्था मे विशेष कर हृदय के रक्तवह संस्थान मे विकृति होती है। यह अवस्था आद्यक्षत (शैंकर) के तृतीय वा चतुर्थ मास मे प्रकाशित होकर कई वर्ष तक स्थायी रहती है। अथवा बार-बार प्रकाशित होती है। तृतीयक उपदंश मे अस्थि सूत्रीय विधान भी आक्रान्त हो जाते हैं। चतुर्थ अवस्था मे मस्तिष्क-संस्थान मे विकृति हो जाती है। अत इसको वातिकोपदंश (Neurosyphilis) भी कहते हैं।

कुछ विद्वान् चतुर्थावस्था को स्वतन्त्र नहीं मानते हैं। इसको तृतीयावस्था के अन्दर ही अन्तर्भाव करते है। अतः इस ग्रंथ मे भी तीन अवस्थाओं का ही वर्णन किया जायगा।

कोई-कोई आचार्य संक्रमण की दैहिक स्थिति के उपदंश को दो अवस्थाओं में विभक्त करते हैं। (१) पूर्व (Early) और (२) उत्तर (Later)।

(१) पूर्वावस्था में—सामान्य संक्रमण (Generalised) होता है और इसमे पहले की दो अवस्थाओं का अन्तर्भाव कर देते हैं।

(२) उत्तरावस्था में—क्षमता की वृद्धि के कारण सामान्य संक्रमण शरीर के कुछ अवयवों मे ही सीमित रहता है और इसमे तृतीय और चतुर्थावस्था का अन्तर्भाव करते हैं।

उपदंशाणु की आवर्तना (ट्रोपिज्म)

उपदंशाणु का संक्रमण होने पर त्वचा, श्लेष्म-कला, मस्तिष्क, सुपुम्ना प्रभृति अनेक अंग विकृत हो जाते है। परन्तु ये विकृति एक समान न होकर भिन्न-भिन्न होती है। किसी मे त्वचा की विकृति तो किसी मे मस्तिष्क की उत्कट विकृति देखी जाती है। यह भिन्नता अधोलिखित दो कारणों से हो सकती है।

(१) यद्यपि उपदंशाणु एक ही है तथापि उसकी अनेक उपजातियाँ हैं और प्रत्येक उपजाति का झुकाव देह के पृथक्-पृथक् अङ्गों पर होता है। यह कल्पना इस आनुभविक भित्ति पर की गई है कि एक स्थान (व्यक्ति) से आक्रान्त हुए मनुष्यों मे त्वचा-श्लेष्मकला की विकृति की उत्कटता रही और दूसरे स्थान से आक्रान्त हुए कई आतुरों मे मस्तिष्क-संस्थान की विकृति मुख्यतया हुई।

(२) कौटुम्बिक प्रवृत्ति (प्रेडिसपोजिशन) एक परिवार के सक्रान्त हुए सब रोगियों मे एक ही प्रकार की उत्कट विकृति दृष्टिगोचर होती है।

उपदंशाणु की उपस्थिति

जिस प्रकार प्रथमावस्था के व्रणों और उसके स्रावों मे अपरिमित जीवाणु रहते हैं, उसी भाँति व्रण से सम्बन्ध रखने वाली लसीका ग्रन्थियों मे भी ये जीवाणु पाये जाते हैं। जैसे-जैसे व्रण भरने लगता है, वैसे-वैसे जीवाणुओं की संख्या भी कम होनी जाती है।

द्वितीयावस्था मे सर्व साधारण रूप से संक्रमण होने के कारण जीवाणु सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों और विक्षतों में उपस्थित रहते हैं। परन्तु उनमे भी त्वचा के विस्फोटों, श्लेष्मकला के व्रणों, लसीकाग्रन्थियों और मस्सों (Condylomata) में अत्यधिक संख्या मे होते हैं। इस अवस्था मे जीवाणु शुक्र और मस्तिष्क-सुषुम्नाजाल मे भी पाये जाते हैं। वास्तव मे उपदंश की यह अवस्था सबसे अधिक संक्रमणकारी होती है। इस अवस्था मे विद्यमान मनुष्य के व्यवाय से दूसरे व्यक्ति मे भी संक्रमण पहुँचाता है।

तृतीयावस्था मे उपदंशी अनौपसर्गिक (Non-Infective) माना जाता था अथवा तृतीयावस्था मे औपदंशिक के शरीर मे जीवाणु नहीं होते, ऐसी सम्मति था। परन्तु अब अनुसन्धान से यह सिद्ध हुआ है कि निर्यासिक-ग्रन्थि के आस-पास अल्पसंख्या में जीवाणु होते हैं। इसके अतिरिक्त इस अवस्था मे धमनियों की दीवाल की विकृति में विशेष कर वृहद् धमनी की विकृति में भी जीवाणु मिलते हैं।

चतुर्थ-अवस्था में जीवाणु वृहन्मस्तिष्क के धूसर विभाग में मिलते हैं। तृतीय और चतुर्थ अवस्था में बहुत कम जीवाणु मिलते हैं। परन्तु उपसर्ग के बाद जीवाणु शरीर मे बहुत वर्षों तक स्थित रहते हैं। ये १६ वर्ष के बाद भी देखे जाते है। उपदंशाणु सदा सेल के बाहर रहते हैं।

जीवाणुओं का आक्रमण

उपदंश का जीवाणु अत्यन्त आक्रमणकारी होता है, जो प्रवेश होने के दिन से शरीर के अनेक अङ्गों में फैल कर और उनको आक्रान्त कर विकृत कर देता है। प्रारम्भ मे इसका आक्रमण लसीका वाहिनियों द्वारा और उत्तर काल में रक्त प्रणालियों द्वारा होता है। इस भाँति नातिशीघ्र दोषमयता पैदा हो जाती हैं। उपदंश की विकृतियों में अत्यन्त भिन्नता और बहुरूपता होती है। जीवाणु का विष किस प्रकार का है? अन्तर्विष है वा बहिर्विष इस विषय का ज्ञान अभी नहीं हुआ है। इस उपदंशाणु के आक्रमण से शरीर का कोई अवयव या

धातु नहीं बच सकती है। परन्तु उसका त्वचा, श्लेष्मकला, हृदय. रक्तवह संस्थान और केन्द्रीय नाड़ी सस्थान पर अधिक आक्रमण होता है।

प्रथमावस्था

आद्यक्षत (Shancie) दो प्रकार का होता है। यथा—(१) मृदु क्षत (सॉफ्ट शैंकर) और (२) कठिन क्षत (हार्ड शैंकर)। कठिन क्षत का दूसरा नाम हन्टेरियन शैंकर (Hunterian Shancie) भी है। प्रथम प्रकार के शैंकर का वर्णन यहाँ पर नहीं किया जायेगा। इन दोनों के पार्थक्य का वर्णन आगे किया जायेगा।

स्थान—मैथुन के कारण जब उपदंश का संक्रमण होता है तब प्राथमिक क्षत (शैंकर) जननेन्द्रिय पर बनता है।

औपदंशिक संदंश का स्वभाव

पूर्व मे वर्णन किया गया है कि उपसृष्ट होने के अनति विलम्ब मे रोग की प्रकृति का निर्णय नहीं किया जा सकता है। वैद्य यही कह सकता है कि रोगग्रस्त-स्थान मे छाला पड़ गया है, छिल गया है, व्रण हो गया है, अथवा पूर्व से वर्तमान रसपिडिका छिल गई है।

यदि रोगी विशुद्ध औपदंशिक जीवाणु जन्य विष से संक्रमण को प्राप्त होता है अथवा इस जीवाणुजन्य विष के संक्रमण के साथ-साथ सम्भोग काल मे पूययुक्त संक्रामक क्षत के स्राव से संक्रमण को प्राप्त होता है, तो इन दोनों अवस्थाओं के लक्षण और चिह्नादिकों मे विभिन्नता दिखलाई पडती है। विशुद्ध औपदंशिक जीवाणुजन्य विष के द्वारा संक्रमण होने पर क्षत की प्रक्रिया धीरे-धीरे प्रकट होती है और आक्रान्त विधान के मध्य मे क्रमश अस्वाभाविक पदार्थ (Infiltration) संगृहीत होता है। शेषोक्त स्थल में दूषित सहवासजनित (Venereal) क्षत इतने तरुण क्रम का अवलम्बन करता है और क्षत स्थान इतना शीघ्र ध्वंस हो जाता है तथा उससे इतने प्रचुर परिमाण मे पूय निकलता है कि उपदंशजनित पीडा का निर्देश नहीं किया जा सकता। क्षत के सूख जाने पर रोग का औपदंशिक स्वभाव नहीं जाना जाता है।

सब प्रकार के क्षत यहाँ तक कि सहवासजनित संक्रामक क्षत की भी यथोचित संक्रामकता नाशक औषध से नियमित चिकित्सा करने पर सम्पूर्ण रूप से अच्छा हो जाता है। क्षत के शुष्क हो जाने पर रोग की प्रक्रिया नष्ट हो गई है ऐसा नहीं समझना चाहिये। शुष्क क्षत के चिह्न (Scar) निर्मित हो जाने के पश्चात् अनेक स्थलों पर अस्वाभाविक पदार्थ संगृहीत (इनफिल्ट्रेशन) हो जाते है तथा समीप की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं और उपदंश के विशेष लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। सहवासजनित औपदंशिक आद्यक्षत (शैंकर) मे संक्रमण होने के बाद अधिकतर तीन सप्ताह से पाच सप्ताह तक गुप्तावस्था के बाद स्त्रियों मे यह व्रण भगोष्ठ, भगाङ्गुलिका (Fourchette), भग-शिश्निका और मूत्र द्वार पर होता है। व्रण के अतिरिक्त जननेन्द्रिय की श्लैष्मिक-कला मे वा चर्म के ऊपर, पूयपिडिका वा दरार प्रकाशित हो जाती है। कभी-कभी छाला भी पड जाता है। ऐसा मालूम होता है कि पुरुषों मे व्रण का स्थान शिश्नमुण्ड, शिश्नच्छदत्वचा, शिश्नमुण्ड-पश्चिमवर्ति खात (Sulcus behind the glans) या शिश्नसेवनी के पास होता है। कभी-कभी यह व्रण मूत्रमार्ग के द्वार के निकट, मूत्र-मार्ग मे तथा शिश्नमूल के पास और वृषण पर भी होता है।

आद्यक्षत (शैंकर) की आकृति

क्षत के अवयव क्रमश: बढ जाते हैं और क्षत का मूल लाल पड जाता है। क्षत का उन्नत प्रदेश कोमल हो जाता है और तरल पूय से भरा रहता है। ऊपर की त्वचा उठ जाती है और क्षुद्र गम्भीर अंकुरों (ग्रैन्यूलेशन) से रहित क्षत प्रकाशित हो जाता है। क्रमश: क्षत बढता जाता है और दो-तीन दिन के मध्य में मटर के तुल्य बडा हो जाता है। क्षत गोलाकार, गम्भीर और धूसरवर्ण से युक्त और सडे हुए तन्तुओं से आच्छादित रहता है। त्वचा से क्षत बिल्कुल ऊंचा नहीं होता अथवा कुछ ऊँचा भी होता है। क्षत चारों तरफ से लाल वर्णवाले चिकने और बारीक मण्डलों से घिरा रहता है। क्रमशः क्षत का आयतन जितना बढ़ता जाता है उतना ही चारों तरफ का लालवर्ण से युक्त घिराव

भी ऊँचा होता जाता है तथा यह प्रशस्त होता है और उसके चारों तरफ के तन्तु दृढ़ हो जाते हैं। क्षत के नीचे से धूसर वर्णवाले त्यक्त पदार्थ (डेब्रिस) अंशतः आच्छादित सूक्ष्म-सूक्ष्म मलिन वर्ण के सम्पूर्ण अंकुर उत्पन्न होते हैं और तरल जल के तुल्य रस या पूय युक्त तरल क्लेद निकलता है। दृढ़ता और उच्चता क्रमशः बढ़ कर दृढीभूत या हन्टेरियन शैंकर (Hunterian shancre) प्रकाशित हो जाता है।

प्राथमिक दरार—छाला उठने की अवस्था का प्रतिकार न होने पर क्रमशः वह इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है। किसी-किसी रोगी का व्रण पूय पूर्ण नहीं होता है। किन्तु क्रमशः बढ़ कर और दृढ होकर के लाल वर्णवाली सर्पपाकार या घुणाकार पिडिका (ट्यूबर्कल Tubercle) में परिणत हो जाता है। शरीर का जो स्थान संक्रमणयुक्त होता है उससे औपदंशिक विष, रस (लिम्फ) प्रणालियों और रक्त-प्रणालियों द्वारा देह के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। रोग के स्थान से दूषित तन्तुओं का रस प्रधानतः कैशिक लसीका-प्रणालियों में जा कर बड़ी-बड़ी रस प्रणालियों के मध्य से निकटवर्ती लसीका-ग्रन्थियों में पहुँच जाता है। शिराओं के द्वारा भी पीडाग्रस्त स्थान से रोग का विष देह के अन्य स्थानों में पहुँच जाता है। यह भी देखा जाता है कि आक्रान्त स्थानों में जो कठिनता उत्पन्न हो जाती है उसके परिवेष्टक विधान स्फीत, कठिन और शोथ-ग्रस्त हो जाते हैं और उससे दृढ रज्जु के तुल्य स्फीति समीप की लसीका ग्रन्थियों तक फैल जाती है। इस अवस्था में पुरुष के लिङ्ग की त्वचा में पहले के समान दृढ क्षत के वर्तमान होते हुये भी लिङ्ग के ऊपरी भाग से दृढ रस्सी के तुल्य सूजन दिखलाई पडती है। इन सब परिवर्तनों के साथ-साथ गोलाकार (नोड्यूलर) स्फीति और कैशिक या रज्जु के तुल्य लसीका-प्रणाली-प्रदाह (लिम्फैञ्जाइटिस) होने लगता है। यदि लसीका-प्रणाली प्रदाह अत्यन्त अगम्भीर होता है अथवा गोलाकार स्फीति अत्यन्त व्याप्त होती है तो वाह्यक्षत या यहांतक कि अधिकांश स्थलों में सम्पूर्ण स्थानिक ध्वंस उत्पन्न हो जाता है। इन सम्पूर्ण गोलाकार क्षतों में प्रत्येक से रोग प्रक्रिया व्याप्त हो जाती है।

कभी-कभी प्राथमिक क्षत के परवर्ती, इस प्रकार की लसीका-प्रणाली-प्रदाह से विस्तीर्ण स्फीति उत्पन्न हो जाती है। ऐसा होने पर सम्पूर्ण जनन यन्त्र विलक्षण विकृत आकार धारण कर लेते हैं। यह अवस्था अत्यन्त दुर्दमनीय होती है। इस अवस्था को दृढीभूत उत्पादक शोथ (इण्डियूरेटिव-इडिमा Indurative oedema) कहते हैं। साधारण और सार्वाङ्गिक चिकित्सा के अवलम्बन करने से रोग अच्छा हो जाता है। पीडा के गौण (सेकेन्डरी) लक्षण प्रकाशित होने पर यह सम्पूर्ण रूप से छिप जाता है। तरुण प्रादाहिक शोथ से इस दृढीभूति संयुक्त शोथ का प्रभेद-निर्णय करना आवश्यक है। किसी प्रकार का सक्रामक (सेप्टिक) या क्षत विशिष्ट (आलसरेटिव) दैहिक तन्तु की विच्छिन्नता वर्तमान होने पर उससे सहवास जनित दूषित (वेनिरियेल) क्षत मे उसी भाँति तरुण प्रादाहिक शोथ उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी उसमें सम्पूर्ण लसीका सम्बन्धी (लिम्फैटिक) जाति के अनुसार फोडे उत्पन्न हो जाते है।

उपदंश से आक्रान्त होने के बाद संक्रमण प्राप्त स्थान के समीप की ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। लिङ्ग सम्बन्धी विधान आक्रान्त होने पर सम्पूर्ण वंक्षण-प्रदेश की लसीका-ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। मुख और ओष्ठ आक्रान्त होने पर हन्वधोवर्ती लाला ग्रन्थि (Submaxillary gland) और चिवुकधरीय ग्रन्थि (सवमेटलसण्ड) सम्पूर्ण शोथ से युक्त हो जाती है। इससे रोगी को विशेष दुःख नहीं होता है। सामान्य उपदंश के क्षत में अधिकतर सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ अल्प मात्रा मे फूल जाती है। किन्तु अपकर्षण विशिष्ट क्षत में और मिश्रित सक्रमण मे अर्थात् एक से अधिक प्रकार वाले रोग के विष से एक साथ शरीर के आक्रान्त हो जाने पर सम्पूर्ण लसीका-ग्रन्थियों की उग्रता अपेक्षा से अधिक प्रबल हो जाती है। अनेक स्थलों में ग्रन्थियाँ इतनी वढ जाती हैं, कि हाथ की मुट्ठी के बराबर हो जाती हैं। वे स्थान-स्थान पर विच्छिन्न होकर क्षय सम्बन्धी पुरातन लसीका-ग्रन्थिक शोथ के अनुरूप प्रतीत होती हैं। प्रायः रोग की स्थानिक उग्रता अपेक्षा से सामान्य होती है किन्तु क्षय सम्बन्धी कण्ठमाला (Scrofula), प्रभृति रोग का कारण यक्ष्मा

(ट्यूबर्क्यूलोसिस्) प्रभृति से रोगी के दुर्बल होने पर निम्न प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

उपदंश की प्राथमिक-अवस्था मे पुरुषों के शिश्नाग्र की त्वचा मे या शिश्न की ग्रीवा मे आद्यक्षत (शंकर) होने पर अधिकांश स्थल में उपसर्ग रूप से परिवर्तिका (Phimosis) अथवा अग्रपाटिका (पैराफाइमोसिस्—Paraphimosis) रोग उत्पन्न हो जाता है। लिङ्गाग्र का चर्म अत्यन्त शिथिल होने पर भी कठिन क्षत के चारों तरफ के विधानों के मध्य मे इतना अधिक रस निकलता है कि उससे वह स्फीत, सख्त, कुञ्चित और लिङ्गमुण्ड के सहित संलग्न हो जाता है। उपत्वक् न तो हटाई जा सकती है और न सञ्चालित ही की जा सकती है। इसको परिवर्तिका कहते हैं। स्थानिक अविराम दबाव से प्रदाह, दृढ़ता और स्फीति कम हो जाती है और कभी-कभी या गलितक्षत (गैंग्रिन Gangrene) मे परिणत हो जाता है। यदि गलितक्षत (ग्रैंग्रिन) अच्छा नहीं होता है तो उपचर्म मे छिद्र हो जाता है और उस छिद्र से लिङ्गमुण्ड निकल सकता है। नियमित रूप से चिकित्सा न होने पर समग्र उपचर्म सड कर गिर जाता है, यहा तक होता है कि गलित क्षत लिङ्ग और मुष्क की त्वचा मे भी विस्तृत होते हुए देखा जाता है। यदि पूर्वोक्त प्रकार से उत्सृजन ग्रस्त लिङ्ग की उपत्वचा आवद्ध न हो, तो उसको बलपूर्वक छुडाने पर दूसरी बार खींचकर लाने से लिङ्ग का मुण्ड, ढकना कठिन हो जाता है। लिङ्ग मुण्ड के पश्चात् भाग मे वह दृढ़ रूप से अटक जाता है। इसको अग्रपाटिका (पैराफाइमोसिस्) कहते हैं। उपचर्म शोथग्रस्त हो जाता है। लिङ्ग की ग्रीवा ध्वंस (निक्रोसिस) को प्राप्त हो जाती है। लिङ्ग मुण्ड मे और पीछे की ओर खिंचे हुए उपचर्म मे रक्त सञ्चालन का व्याघात होता है। यदि यह अवस्था कुछ काल तक स्थायी रहती है तो शोथ के स्थल मे प्रादाहिक उत्सृजन उत्पन्न हो जाता है और लिङ्ग की त्वचा को खींचकर लिङ्ग के मुण्ड का ढकना असम्भव हो जाता है और यह अवस्था स्थायी हो जाती है।

प्रभेद-निर्णय

औपदंशिक शैङ्कर (क्षत)	सामान्य शैङ्कर (क्षत)
उत्पत्ति—विविध प्रकार के स्पर्शाक्रमण द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे उपदंशग्रस्त व्यक्ति के जननेन्द्रिय से स्रावित नैदानिक रस, आद्य वा गौण औपदंशिक क्षत वा उपदंश से आक्रान्त व्यक्ति के रक्त वा रस से इसकी उत्पत्ति होती है।	रति क्रिया से स्पर्शाक्रमण द्वारा सामान्य शैङ्कर (क्षत) से वा शैङ्करजनित प्रबल वद (व्रध्न) से उत्पन्न होता है।
गुप्तावस्था—अधिकतर तीन-चार सप्ताह तक रहती है।	चौबीस घंटा के मध्य में प्रकाशित होता है।
प्रकाश—घनवटी, सर्षपाकार-पिडिका (ट्यूबर्कल्) के रूप में पहले-पहल प्रकाशित होती है।	पूय वटी वा क्षत रूप से आरम्भ होता है।
क्षत-संख्या—अधिकतर क्षत एक ही होता है। कभी-कभी बहुत भी होते हैं और ये अधिकतर एक साथ प्रकाशित होते हैं।	अनेक क्षत होते हैं। परन्तु क्रमशः प्रकाशित होते हैं।
क्षतस्थान—साधारणतः जननेन्द्रिय और मलद्वार के निकट में कभी-कभी मुख के मध्य में और कभी-कभी स्त्रियों के स्तनों में भी उत्पन्न होता है।	जननेन्द्रिय और उसके निकट-स्थान।
आकार—अधिकतर गोल वा अण्डाकार और अनियमित सीमा विशिष्ट होता है।	पहले गोल, बाद में कोनेदार, उठा हुआ और अनियमित धार से युक्त होता है।

औपदंशिक शैङ्कर (क्षत)	सामान्य शैङ्कर (क्षत)
क्षत-प्रदेश—कहीं-कहीं सूखा और छाला युक्त होता है। अधिकतर आर्द्र, लालवर्ण वा धूसरवर्ण का होता है।	सदा आर्द्र, ऊपर मे छाला पड़ जाता है। क्षत का गात्र बरावर नहीं होता है। वह धूसर और कोमल होता है।
निःस्रव रस—अल्प रक्त मिश्रित, और उग्रता युक्त होने पर पूयमय होता है।	प्रचुर पूयमय और अनेक स्थल मे विकृत रक्त रसमय होता है।
वेदना—विल्कुल मामूली होती है।	वेदना वर्तमान रहती है।
क्षत—साधारणतया क्षत (अलसर) वर्तमान नहीं रहता है। अधिकतर क्षत अगम्भीर उन्नत वा चपटा होता है। कहीं- कहीं पर मध्यस्थल गम्भीर होता है।	गम्भीर धार अवनत और रूक्ष होता है।
दृढ़ीभूति—कठिन वा दृढीभूत, निर्दिष्ट सीमा विशिप्ट होता है।	तल देश और धार कोमल होती है। प्रदाह से कभी-कभी दृढ़ हो जाता है। किन्तु, यह काठिन्य स्थिति स्थापकता से विहीन और निर्दिप्ट सीमा से विहीन होता है।
सञ्चारण—स्पर्शाक्रामक, उपदंश-ग्रस्त व्यक्ति से सञ्चारित नहीं होता है।	स्पर्शाक्रामक, एक व्यक्ति से अनेक वार सञ्चारित हो सकता है।
रस-ग्रन्थि—अनेक संख्या मे लसीका सम्बन्धी ग्रन्थियॉ वढ़ जाती हैं और प्रदाहयुक्त होती है। वाद मे पूय की उत्पत्ति नहीं होती है।	एक वद (व्रध्न) उत्पन्न होता है और उसमे पूय पैदा हो जाता है।

औपदंशिक शैङ्कर (क्षत)	सामान्य शैङ्कर (क्षत)
फल—गौण और पुरातन औपदंशिक लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं ।	गौण और पुरातन उपदंश उपस्थित नहीं होता है ।
स्वभाव—दैहिक पीडा, सर्वाङ्ग विकारग्रस्त होता है ।	स्थानिक पीडा, देह आक्रान्त नहीं होता है ।
चिकित्सा—पारद घटित औषध की आवश्यकता होती है ।	पारद का प्रयोजन नहीं होता है ।
वशवर्तिता—रोग के पुनराक्रमण की वशवर्तिता नष्ट हो जाती है ।	पुनराक्रमण की वशवर्तिता का ह्रास नहीं होता है ।
कौलिकता—कुलागत क्रम से सञ्चारित होती है ।	वंशावली क्रम से प्रकाशित नहीं होती है ।

माधव नि० में नव्यरोग के प्रकरण में वर्णित प्रथमावस्था

जीवाणवोऽस्यहि गदस्य सदाऽभ्युपेत्य ।
स्पर्शस्थले विदधति व्रणमत्युदग्रम् ॥
पूर्वं भवेत्त्वचि तु वर्तुलसूक्ष्मसेला—
ना वृद्धिरत्यधिकता सहिता विशेषात् ॥१॥
सजायते तदनु सौत्रिक तन्तुजाल—
सवर्धन प्रतिदिन ननु रोगिमध्ये ॥
शूनाकला भवति रक्तधरातिवृत्त ।
सेलाभिवृद्धिसहिताऽविरत नितान्तम् ॥२॥

हेतोरतो रुधिर धारिधराऽथ्व सूक्ष्मत्व जायते तदनु सन्निधिवर्तितोऽन्द्रा ।
पूर्णाभिवृद्धि रुदिताऽपि भवेल्लसीका-ग्रन्थिव्रजस्त्व किलता स्वपि सेलरूस्था ॥३॥

द्वितीयावस्था

सप्ताहषट्केन तत प्रयान्ति ग्रन्थिभ्य एवास्य गदाणवोऽस्र ।
प्रकुर्वते च त्वचि तत्र सगतास्ते श्लेष्मलायां हि तत कलायाम् ॥४॥

स्फोटांस्तथाऽद्वा पिडिकाऽवश्य ततः प्रवृद्धि विपुलां प्रयाति ।
समस्तकायस्थितमल्लसीका-ग्रन्थिव्रजोऽस्मिन्नुपदंश रोगे ॥५॥
पश्चाद् भवेद् ग्रन्थिषु सेल्लतन्तु-प्रवर्धनं पूर्ववदेव नूनम् ।
गदस्य चेत्यगदिता द्वितीयाऽवस्थाभिषग्भिर्बहुशो विविच्य ॥६॥

क्षमता

(Immunity)

उपदंश के लिये पुरुषों मे सहज प्रतिकारिता नहीं होती और असंक्रान्त मनुष्य संक्रमण का अवसर मिलने पर अवश्य संक्रान्त हो जाता है। संक्रान्त होने पर निश्चित रूप से देह मे एक प्रकार की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु यह क्षमता प्रतियोगियों की उत्पत्ति के कारण न होकर यक्ष्मा के तुल्य शरीर मे उपदंशजनक जीवाणु की विद्यमानता से होती है। अतः क्षयकल्प मे भी उपसर्ग क्षमता होती है। इसका प्रारम्भ प्राथमिक व्रण पैदा होने से पहले न होकर उसके साथ होता है और जब तक शरीर मे उपसर्ग रहता है तब तक क्षमता रहती है। इस क्षमता की सीमा मे फिर संक्रमण नहीं होता है। परन्तु प्रारम्भ मे ही समुचित चिकित्सा हो जावे, तो फिर भी वह रोगी उपदंश से पीड़ित होता है।

पुन' संक्रमण के सम्बन्ध मे कुछ वैद्यों का मत है कि उसके लिये प्रारम्भिक चिकित्सा से उपसर्ग का पूर्णविध्वंस करने की आवश्यकता नहीं है। उससे उपसर्ग मे जो कुछ अल्प मात्रा मे परिवर्तन हो जाता है उतना ही पुन संक्रमण के लिये पर्याप्त होता है। इसी भाँति प्राथमिक व्रण पैदा होने से पहले यदि कई वार सक्रमण हो जावे तो अनेक प्रारम्भिक व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु प्राथमिक व्रण पैदा होने पर संक्रमण के अनेक अवसर प्राप्त होने पर भी दूसरे व्रण उत्पन्न नहीं होते हैं। इस भाँति यद्यपि शरीर में उपसर्ग से क्षमता उत्पन्न हो जाती है तथापि वह बहुत ऊँची न हो सामान्य होती है और उसके होते हुए भी रोग बढ़ता चला जाता है जो आप से आप ठीक नहीं होता। कुछ व्यक्तियों में क्षमता का

अधिक से अधिक परिणाम उपसर्ग को गुप्त रखने मे अर्थात् विकृति प्रकट न होने देने मे दिखाई देता है, इससे अधिक नहीं। परन्तु उनमे भी लसीका की प्रतिक्रियाये विद्यमान रूप मे मिलती हैं। अर्थात् क्षमता भी उपसर्ग का निर्मूल नहीं कर सकती। वास्तविक मे उपदंश की क्षमता यद्यपि दीर्घकालानुवन्धी होती है तो भी मसूरिका आदि के क्षमता के समान जीवन पर्यन्त न हो केवल जव तक उपसर्ग होता है तभी तक होती है।

द्वितीय अवस्था वा गौण उपदंश (सेकेन्डरी Secondaıy)

उपदंश रोग की पूर्व वर्णित अवस्था के लक्षणों के प्रकाशित होने और सम्पूर्ण ग्रन्थियों के वढ जाने के वाद, कुछ काल के लिये अन्यान्य लक्षणों का प्रकाशित होना वन्द हो जाता है। आद्यक्षतावस्था और गौण लक्षण प्रकाशित होने के मध्यवर्ती काल को द्वितीय गुप्तावस्था कहते हैं। आद्यक्षत के आरम्भ से प्राय' छ' वा सात सप्ताह के वाद गौण उपदंश प्रकाशित होता है। किन्तु अनेक कारणों से इस व्यवहित काल का न्यूनाधिक्य हो जाता है। दुर्वल और चञ्चल स्वभाव वाले व्यक्ति को शीघ्र तथा वलवान् व स्वस्थ व्यक्ति को विलम्व से इस अवस्था के लक्षण उत्पन्न होते हैं। द्वितीय गुप्तावस्था मे कोई-कोई रोगी किसी प्रकार के दु ख का भोग नहीं करता है और कोई-कोई अस्वस्थता और असुख का भोग करता है। रोगी तेज हीन, मलिनमुख और दुर्वल हो जाता है।

इसके वाद उपदंश के सार्वाङ्गिक लक्षण विविध प्रकार से प्रकाशित होते हैं। किसी-किसी को ज्वर आ जाता है, देह का ताप सहसा या क्रमश' वढ कर कई दिवस तक १०४ डिग्री रहता है। शरीर मे पिडिकाओं के निकलने पर कभी-कभी ज्वर का ह्रास हो जाता है। किन्तु अधिकांश-स्थल मे ज्वर कई सप्ताह तक स्थायी रहता है और मलेरिया के तुल्य सविराम का रूप धारण कर लेता है।

इस अवस्था मे शिर में पीडा होना एक प्रधान लक्षण है। अधिकतर शिर में शूल अत्यन्त प्रवल होता है। वेदना पार्श्व कपाल से ऊपर मे

होती है। दिन में शिर' पीड़ा नहीं होती। नियमित रूप से सायं काल वा रात्रि में उपस्थित हो जाती है। वेदनायुक्त अन्यान्य पीड़ाएँ भी इसी रूप में रात्रि को बढ़ जाती हैं। पृष्ठ देश और दोनों हाथ-पैरों में वेदना होती है। अनेक स्थलों की सन्धियाँ फूल जाती हैं कभी-कभी सम्पूर्ण अंगुलियों की सन्धियाँ फूल जाती हैं। किन्तु उनमें वेदना नहीं होती। यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जिस समय सार्वाङ्गिक लक्षण प्रकाशित होते हैं, उस समय अधिकतर साधारण रीति से देह के विभिन्न स्थानों में सम्पूर्ण लसीका-ग्रन्थियाँ क्रमशः बढ़ जाती हैं। अक्षकास्थि के ऊपर ग्रीवादेशीय, ग्रीवा और कान के पश्चात्, कक्षा प्रदेशीय, हाथ और अन्यान्य विविध स्थानों की ग्रन्थियाँ बढ़ जातीं और कठिन हो जाती हैं। •कण्ठमाला (Scrofula) और रक्ताल्पता से ग्रस्त होने पर वा अन्यान्य प्रकार से दौर्बल्य ग्रस्त होने पर ये लक्षण विशेष रूप से प्रकाशित होते हैं।

द्वितीय गुप्तावस्था के अन्त में कभी-कभी कोई लक्षण प्रकाशित न होकर अथवा पूर्वोक्त लक्षणों के प्रकाशित होने के बाद सब अङ्गों में उपदंश की पिडिकायें निकल आती हैं और ये गुटिकायें विविध प्रकार की होती हैं। इनको सिफिलाइडस् कहते हैं। इन विभिन्न प्रकार की औपदंशिक गुटिकाओं के विशेष लक्षण ये है, कि ये ताम्र के समान लाल वर्ण की होती हैं और एक व्यक्ति को एक ही समय में नाना प्रकार की चर्म पीडा प्रकाशित होती है। ये साधारणत मण्डलाकार वा अर्द्ध चन्द्राकार में प्रकाशित होती हैं। अति शीघ्र सम्पूर्ण गुटिकाओं के न निकलने पर उनमे खुजली नहीं होती है। उपदंश की सम्पूर्ण गुटिकाये अधिकतर देह के दोनों तरफ समभाव से प्रकाशित होती हैं। अधिकतर अधोलिखित एक वा एक से अधिक प्रकार वाली त्वचा की पीडा प्रकाशित होती है।

(१) मैक्यूलर सिफिलाइड् Macular Syphiloid (चर्म मे उपदंशजनित बिन्दु के तुल्य दाग वा वर्ण परिवर्तन)। यह दो प्रकार की होती है।

(क) रक्तावेग (हाइपोरेमिया) जनित औपदंशिक वर्ण परिवर्तन--

इसको एरिथेमेटस् सिफिलाइड्, सिफिलिटिक् रोजिओला और एकसेन्थेमेटस् सिफिलाइड् कहते हैं। साधारणत उपदंश रोग का आद्यक्षत प्रकाशित होने के प्राय. ४५ दिन के बाद गौण अवस्था मे शरीर पर इस प्रकार की पिडिका सबसे पहले दिखलाई पड़ती है। यह समान आकार मे संरचित, गोलाकार, अण्डाकार या अनियमित सीमा विशिष्ट दाग के (मैक्यूल) तुल्य प्रकाशित होता है। सम्पूर्ण दाग चर्म से ऊँचा नहीं होता है। मसूर के दाल के आकार से एकपाई के आकार के तुल्य तक बडा दाग हो जाता है। सम्पूर्ण दाग गुलाबी, लाल-पीले या काले-लाल रग के होते हैं। दबाने पर अदृश्य हो जाते हैं। रोग के आरम्भ मे सम्पूर्ण दाग इतने अस्पष्ट होते हैं कि रोग-निर्णय करना असम्भव हो जाता है। यहाँ तक कि रोगी स्वयं ही किसी प्रकार से इसका अस्तित्व नहीं जान सकता है। सब अङ्गों मे दाग प्रकाशित हो जाते हैं। किन्तु अधिकतर ये उदर, कटि, वक्ष स्थल और पृष्ठदेश मे स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं। रोग के प्रबल होने पर भ्रू, कपाल, पार्श्व, ठोढ़ी, ग्रीवा का पश्चादेश और दोनों हाथ-पैर आक्रान्त हो जाते हैं। इसके साथ-साथ औपदंशिक ज्वर, वक्षोऽस्थि के नीचे और अन्यान्य स्थानों मे वेदना, ग्रीवा के पश्चादेशीय सम्पूर्ण चक्र (ग्लैंग्लियन) मे रक्तावेग और मुख के अन्दर की श्लैष्मिक झिल्ली मे नाली के तुल्य दाग प्रभृति विशेप लक्षण प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार के सम्पूर्ण दाग एक सप्ताह तक स्थायी हो करके मिल जाते हैं और सम्पूर्ण नवीन दाग (मैक्युला) प्रकाशित हो जाते हैं। सम्पूर्ण गुटिकाओं के स्थायी होने पर भी अंगुली द्वारा दवाने पर उनका वर्ण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार के औपदंशिक चर्म रोग में पारद घटित औषध के प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। वाल और लोम विशिष्ट स्थान मे प्रकाशित होने पर वाल और लोम गिर जाते हैं।

(ख) वृहदाकार मैक्यूलर (Macular) औपदंशिक चर्म रोग

पूर्व वर्णित गुलावी पिडिका (रोजिओला—Roseola) प्रकाशित

होने के समय मे और भी विलम्ब से शरीर मे इस प्रकार की गुटिकाय निकलती हैं। अधिकतर जनन यन्त्र, मुखाभ्यन्तर, मलद्वार प्रभृति स्थानों मे गाँठदार (पैप्यूलर-Papular) गुटिकाओं के साथ, एक साथ उत्पन्न होती है। देह के ऊर्द्ध्वांश मे जो दाग (मैक्यूला) प्रकाशित होते हैं वे ताम्रवर्ण के होते हैं और जो देह के निम्नांश मे प्रकाशित होते हैं वे म्लान-नीले वर्ण के होते हैं। पूर्व वर्णित क्षुद्र रोजिओला को मैक्यूली कहते हैं और अत्यन्त बड़े दागों को मैक्यूलीमेजरेस कहते हैं। इनके आकार और उत्पत्ति के स्थान भेद से विभिन्न नाम रखे जाते हैं। जैसे—अंगूरीय आकार वाले वृहत दाग को 'मैक्यूली मेजरेस एन्यूलारेस' और चक्राकार वृहत् दाग को 'मैक्यूली मेजरेस् जाइरेटी' कहते है। गुलावी पिडिका (रोजिओला Roseola) के अदृश्य होने पर कोई अनुभव के योग्य परिवर्तन नहीं होता है। वृहत्तर आकार के सम्पूर्ण मैक्यूला के दागों के मिल जाने पर भी किसी-किसी रोगाक्रान्त स्थान के उपत्वक् मे छाला उठे हुये (डिस्कोयामेशन) लक्षित हो सकते हैं। अधिकांश स्थल मे जो वर्ण द्रव्य सञ्चित (पिगमेन्टेशन) होता है वह अदृश्य हो जाता है और आक्रान्त स्थान श्वेतवर्ण का हो जाता है।

(२) घनवटी विशिष्ट औपदंशिक चर्म रोग

पैप्यूलर सिफिलाइडिस्-Papular Syphilides—उपदंशजनित चर्म पिडिकाओं के मध्य मे इस प्रकार का चर्म रोग ही सबकी अपेक्षा अधिक देखा जाता है। सार्वाङ्गिक संक्रमण प्राप्ति के बाद इस प्रकार की पिडिकाये सबसे पहले प्रकाशित होती हैं और इसी तरह की पीड़ा इस अवस्था के समग्र भोग-काल मे स्थायी रहती है। अथवा इसके साथ-साथ पूर्व वर्णित गोभी के फूल के समान दाग (मैक्यूलर) वाला चर्म रोग वा सम्पूर्ण पूयवटी वर्तमान रहती है। औपदंशिक घनवटी, चर्म से उन्नत और निर्दिष्ट सीमा विशिष्ट होती है। ये विभिन्न आकार और अवयव की होती है। क्षुद्र वा वृहत्, सूक्ष्माग्र वा चप्टी, पृथक्-पृथक् वा दलवद्ध होती है। क्षुद्र सूक्ष्माग्र औपदंशिक घनवटियों को 'सिफिलिटिक लाइकेन' कहते हैं।

सम्पूर्ण पिडिकायें सूक्ष्माग्र और कठिन निर्दिष्ट सीमा विशिष्ट होती हैं और ये पिन के मुण्ड के आकार से लेकर मटर के आकार तक की होती हैं। इसमे ज्वर वर्तमान रहता है। ये उदर, वक्षःस्थल, पृष्ठदेश और दोनों हाथ-पैरों मे प्रकाशित होती है। चर्म के वर्ण के तारतम्य के अनुसार सम्पूर्ण पिडिकायें गुलाबी, बैंजनी प्रभृति भिन्न-भिन्न वर्णों की होती है। सम्पूर्ण पिडिकाओं मे किसी प्रकार का परिवर्तन होने पर रसवटी, पूय-वटी या घनवटी के अग्रभाग मे छाला उत्पन्न हो जाता है। सम्पूर्ण गुटिकायें कई महीनों तक स्थायी रह सकती हैं और बार-बार प्रकाशित हो सकती हैं। ये मण्डलाकार वा अर्द्धमण्डलाकार मे उत्पन्न होती हैं। उपदंशीय अरुंपिका (लाइकेन) विवर्द्धित पैपिली (लघुमशक) निर्मित, क्षुद्र, कठिन, शुण्डाकार, ताम्रवर्ण और ऊंची होती हैं। ये चर्म के सब स्थानों मे प्रकाशित होती है और अत्यन्त उग्रतायुक्त होती हैं। अधिकतर ये सूखी हुई होती हैं। ये मछली के त्वचा के तुल्य एपिडार्मि-कन (उप त्वचा) से आवृत रहती हैं। रोगी के स्वास्थ्य-भङ्ग होने पर ये पूयपूर्ण रहती हैं और उस समय इनको उपदंशीय वेरियोला-इड इरंशन (मसूरिका-सदृश पिडिका) कहते हैं। सर्षप-तुल्य उपदंशीय अरुंपिका निकलने के कई सप्ताह बाद अथवा शीघ्र ही पूयपूर्ण हो जाती है। सम्पूर्ण व्रण पहले दुग्ध-तुल्य रस से परिपूर्ण रहता है। सप्ताह के मध्य मे सूक्ष्माग्र विशिष्ट, घन और निर्दिष्ट पूयपूर्ण गुटिकाओं मे परिवर्तित हो जाते हैं। व्रण का मूल प्रदाहयुक्त, कुछ ऊंचा और लालवर्ण का होता है। ये पहले अधिक संख्या मे मुखमंडल पर प्रकाशित होती हैं, बाद को शरीर मे अल्प संख्या में निकलती हैं। दो-तीन सप्ताह के बाद शरीर के सम्पूर्ण व्रण पक जाते हैं। इन पूय वटियों का परवर्ती इतिहास बृहन्मसूरिका (Variola) के तुल्य होता है। किन्तु इस व्रण में पपडी पड कर गिर जाती है और व्रण के चारों तरफ के प्रदाह से उत्पन्न हुये पदार्थों को शोषित होने में अधिक काल लगता है। क्षुद्रक्षत शुष्क होकर अधिक काल तक धूसरवर्ण के दाग के तुल्य बना रहता है। क्षत के भर जाने पर भी क्षत का चिह्न

(सिकाट्रिजेशन्) रह जाता है। पिडिकाओ के अधिक संख्या मे निकलने पर और पिडिकाओं के पूर्ण होने पर वे मसूरिका के तुल्य मालूम होती हैं। विशेषरूप से परीक्षा करने पर छोटे-छोटे सूक्ष्माग्र विशिष्ट पूयपूर्ण व्रण द्वारा इस रोग का निर्णय किया जाता है।

वृहत् सूक्ष्माग्र औपदंशिक वनवटी—इनका मध्य भाग उन्नत, लेन्स (शीशा) के आकार की (लेन्टीक्यूलर) पिडिकायें वैगनी और लाल वर्ण वाली होती हैं। ये पृष्ठदेश, स्कन्ध और वक्षःस्थल आदि मे प्रकाशित होती हैं। इनके अग्र भाग मे छोटी-छोटी पूयवटियॉ उत्पन्न हो जाती हैं और उनमे पपड़ी पड़ जाती है। सम्पूर्ण पिडिकाय आठ से चौदह दिन तक स्थायी रहती हैं। पपड़ी गिर जाने के वाद त्वचा के ऊपर कोई स्थायी दाग नहीं रहता है।

छोटी चप्टी औपदंशिक वनवटी

ये सम्पूर्ण पिडिकाये, गोलाकार वा अण्डाकार होती है तथा लाल होकर गहरे-पीले वर्ण की हो जाती हैं। ये पहले आलपीन के मुंड भाग के समान होती है जो फिर वढ़कर मसूर के दाल के वरावर हो जाती हैं। ये कोमल और चप्टी होती हैं। ये शरीर मे गिनने योग्य अथवा प्रचुर संख्या मे प्रकाशित होती है। ये पतली सेवोरियर (सेवेशसग्रन्थि पिडिका) के तुल्य पपड़ी से आवृत रहती हैं। पपड़ी उठा देने पर लाल, पाटल वर्ण वा वैगनी वर्ण आदि विचित्र वर्ण की दिखलाई पड़ती हैं। सम्पूर्ण गुटिकायें स्वल्प मात्र पतले, कृष्ण-पाटल वर्ण वाली पपड़ी से आवृत रहती हैं।

वृहच्चप्टी औपदंशिक वनवटी

ये पिडिकायें लाल-पीली होती है। कोई-कोई साफ ताम्र वर्ण के समान भी होती है। ये चप्टी वा गोलाकार मे उठी हुई निर्दिष्ट सीमा विशिष्ट मटर के आकार से लेकर पैसे के आकार तक हो जाती है। इनका अग्र भाग वा तलदेश, शल्क (स्केल) विशिष्ट होता है। अथवा ये अंकुर विशिष्ट, आर्द्र और रस के नि:सरण से संयुक्त होती है।

इस रोग मे वेदना, ज्वाला, यंत्रणादि विहीन और किसी-किसी स्थान पर खाज मालूम होती है। नासापक्ष, कपाल, मुख, करतल, वगल, कमर, एवं दोनों हाथ-पैर प्रभृति स्थानों मे ये प्रकाशित होती हैं। सम्मुख कपाल मे ये घन वटियाँ उज्वल और ताम्र वर्ण से युक्त होती हैं। साधारणत भौंह के ऊपर एक रेखा में संरचित दिखलाई पडती हैं। इन पिडिकाओं के किनारे उठे हुए और मध्यस्थल अवनत दिखलाई पडता है। और व्यक्ति, विशेप करके रोगी कैकहेक्सिया Cachexia (एक प्रकार के पाण्डुरोग) से ग्रस्त होने पर अथवा जिस स्थान पर पिडिका निकलती है वह स्थान विषम आर्द्रता और उग्रता के वशवर्ती होने पर सम्पूर्ण पिडिकायें क्षतयुक्त हो जाती हैं।

पूयपिडिका (पश्च्यूलर) विशिष्ट औपदंशिक चर्मरोग

उपदंश रोग मे ये पिडिकायें शीघ्र वा विलम्ब से प्रकाशित होती हैं। ये गोजिह्वा पौष्पिक पिडिका (मैक्यूलर Macular) और पूय-रहित पिडिका (Papular) विशिष्ट औपदंशिक चर्म रोग की अपेक्षा कम दिखलाई पडती है। सम्पूर्ण पूयपिडिका आलपीन के मुण्ड के आकार से लेकर मटर के आकार तक हो जाती हैं। ये स्वल्प कालस्थायी वा दीर्घ कालस्थायी, मृदु वा विषम लक्षणों से संयुक्त होती हैं। ये गोजिह्वा पौष्पिक पिडिका (मैक्यूलर) वा पूयरहित पिडिका के रूप में आरम्भ होती है। सम्पूर्ण पिडिकायें अलग-अलग दलवद्ध वा अल्प संख्या मे होती है। इन सव पूय पिडिकाओं की परिणामावस्था में खुरण्ट (क्राष्टिङ्ग) पड़ जाता है और क्षत हो जाता है तथा शुष्क क्षत चिह्न (सिकाटिक्स) उत्पन्न हो जाता है। अधोलिखित कई प्रकार के पूयपिडिका विशिष्ट चर्मरोग देखे जाते हैं।

क्षुद्र सूक्ष्माग्र पूयपिडिका विशिष्ट औपदंशिक चर्मरोग

ये गोजिह्वा पुष्प के तुल्य पिडिका (मैक्यूलर) पूयरहित पिडिका (पैप्यूलर) के रूप मे आरम्भ होती हैं और पिडिकाएँ (इरप्सन्) आलपीन के मुण्ड के वरावर होती हैं। अथवा उसकी अपेक्षा वड़ी

होती हैं। मलिन वा काली या गुलावी वर्ण की गोलाकार पृथक्-पृथक् वा संयुक्त रूप से प्रकाशित होती है। ये शरीर मे अधिक संख्या मे निकलती हैं और साथ-साथ औपदंशिक ज्वर भी वर्तमान रहता है। पूय वनने पर पिडिकाओं का अग्र भाग पीला और सब्ज वर्ण का हो जाता है। पूय के सूखने से ऊपर मे पपडी पड जाती है। अथवा पूय पिडिका के नीचे क्षुद्राकार क्षत (अलसर) हो जाते है। ये सब छोटी-छोटी पूय पिडिका मण्डलाकार रूप धारण करती हैं। ये साधारणत. मस्तक, मुखमण्डल, ग्रीवादेश और देहकाण्ड मे प्रकाशित होती हैं। ये परिवर्तित हो करके अधिकतर दीर्घ कालस्थायी वर्ण द्रव्य सञ्चय (पिग्मेन्टेशन) का रूप धारण कर लेती हैं। किसी-किसी स्थान मे ये छोटे-छोटे विशीर्ण ग्रस्त शुष्क क्षत के चिह्नों (स्कार्स) मे परिणत हो जाते है।

वृहत् सूक्ष्माग्र पूयपिडिकामय औपदंशिक चर्मरोग

इन पिडिकाओं का आकार वड़ा, पीला, पाटलवर्ण और रथचूड़ाकृति होती है। ये मटर के वरावर अथवा उसकी अपेक्षा वडी होती हैं। ये क्रमश वडी हो जाती हैं। अथवा गोजिह्वा पौष्पिक पिडिका (मैक्यूलर) और पूयरहित पिडिकाओं के तुल्य चर्मरोग से शीघ्र ही इस प्रकार की वड़ी पूय पिडिका मे परिवर्तित हो जाती है। अधिकतर ये अगम्भीर होती हैं और इसके अग्रभाग के प्रदेश मे पपडी पड़ जाती है। पपडी पड़ने के वाद मध्यस्थल अवनत हो जाता है। इस प्रक्रिया से अधिकतर क्षत (अलसर) वन जाता है और क्षत के शुष्क हो जाने पर क्षुद्र क्षत के चिह्न रह जाते है। ये मस्तक, मुखमण्डल, ग्रीवादेश, स्कन्धदेश और हाथ-पैरों मे प्रकाशित होती हैं।

क्षुद्र चप्टी पूयपिडिकामय औपदंशिक चर्मरोग

उपदंश रोग में अधिकांश स्थल पर इस प्रकार की चर्म पीडा प्रकट हो जाती है। ये सीमावद्ध सकल दाग (मैक्यूल) वा दाग के तुल्य पूय रहित पिडिका से आरम्भ होकर शीघ्र ही ये चप्टी, गोलाकार और पूय पिडिका में परिवर्द्धित हो जाती हैं। ये पूय पिडिकायें, पिनमुण्ड के आकार की वा उसकी अपेक्षा वडी होती है और ये चर्म

के वाह्यप्रदेश मे स्थित होती हैं। साधारणतः ये दलबद्ध हो कर वा पृथक्-पृथक् प्रकाशित होती हैं। प्रथमावस्था में सब पूय पिडिकायें संयुक्त (कन्फ्लुयेन्ट) नहीं होती हैं। किन्तु; पिडिकाओं का लाल वा पीला सम्पूर्ण चूड़ा मिलकर एक हो जाता है और शीघ्र ही सब प्रदेश चप्टा, मलिन, पीला और सब्ज छिल्कों (क्राष्ट) से आच्छादित हो जाता है। यह छिल्का साधारणतः रोगग्रस्त अंश की सीमा को छोड कर व्याप्त हो जाता है। छिल्का उठा देने पर नीला प्रदेश दिखलाई पड़ता है। इस प्रदेश में अंकुरयुक्त वा पूयमय, कभी-कभी वाह्य प्रदेश क्षयग्रस्त और सम्भवत' क्षययुक्त हो जाता है। इस प्रकार का चर्मरोग अधिकतर मस्तक और मस्तक के निकट होंठ, ठोढी (चिबुक) और देहकाण्ड मे प्रकाशित होता है। रोगी की दैहिक-अवस्था क्षीण होने पर और ठीक-ठीक चिकित्सा न होने पर कभी-कभी समग्र मुखमण्डल अनियमित खुरण्ट द्वारा सम्पूर्ण रूप से आवृत हो जाता है।

बृहदाकार की चप्टी पूययुक्त औपदंशिक चर्मपीड़ा

ये सम्पूर्ण पिडिकायें मटर के बरावर अथवा उससे भी वडी होती हैं। ये गम्भीर स्थित वा चर्म से प्रवर्द्धित होती हैं। कैकूहेक्सिया (Cachexia) ग्रस्त रोगी के पूर्व मे वर्णन की हुई विभिन्न प्रकार की पिडिकायें इस प्रकार के चर्मरोग में परिणत हो जाती हैं। ये उपदंश रोग के द्वितीय अवस्था के शेष भाग में प्रकाशित होती हैं। पूय पिडिकायें, काली और लाल वर्ण की होती हैं। गम्भीर पिडिकाओं का तलदेश अस्वाभाविक पदार्थ (इन्फिल्ट्रेशन्) से युक्त होता है इसमे नीला, मण्डल विशिष्ट, पूय परिणाम मे शुष्क होकर मोटा, सब्ज वा काला खुरण्ट पड जाता है। इस खुरण्ट संलग्न घाव का तलदेश दुर्गन्धयुक्त होता है और उससे सहज में रक्तस्राव होता है। अथवा खुरण्ट के नीचे पूय संगृहीत हो जाता है। इस पूय पिडिका के फट जाने पर नीचे से सीमावद्ध क्षत प्रकाशित होता है और इस क्षय ग्रस्त सड़े हुए क्षत से यथेष्ट परिमाण मे पूय और रक्त निकलता है। ये क्षत, अल्प वा अधिक संख्या मे होते हैं। अथवा ये गम्भीर और

अगम्भीर होते हैं। ये गोलाकार, अण्डाकार, अर्द्ध चन्द्राकार आदि विविध आकार को धारण करते हैं। क्षत शुष्क हो जाने पर विशेष प्रकार के औपदंशिक क्षत चिह्न में परिणत हो जाता है।

पूर्वोक्त प्रकार से खुरण्ट संयुक्त एक प्रकार की विशेष उपदंशिक चर्मपीडा को रौप्यक पिडिका (रुपिया Rupia) कहते हैं। चर्म में ये कई रूप से निकलती हैं और ये क्षुद्राकार होती है। अथवा सम्पूर्ण अङ्गों मे ये अधिक संख्या मे और बड़े-बड़े आकार में निकलती हैं। इस रोग मे पहले दाग (मैक्यूल) प्रकाशित होता है फिर बाद को यह पूय पिडिका मे परिणत हो जाता है। इस पूय पिडिका के आधेय के शुष्क हो जाने पर नीली, पीली एवं काली पपडी पड़ जाती है। पपड़ी के नीचे क्षत वर्तमान रहता है। क्षत धीरे-धीरे चारों तरफ फैल जाता है और इससे स्रावित पूय और रक्त शुष्क हो कर ऊपर के छिलके का आकार और अवयव को बढ़ा देता है। खुरण्ट के अत्यन्त नीचे का प्रदेश क्रमशः अत्यन्त बढ़ कर समग्र छिल्का निश्चित रूप से शंख के आकार को धारण कर लेता है। इस खुरण्ट के नीचे का क्षत साधारणतः दुर्गंधयुक्त, पूयमय और रक्तस्राव से संयुक्त होता है। घाव के किनारे तेज़ और कटे हुवे होते हैं।

जलपिडिका युक्त (Vesiculai) औपदंशिक चर्मरोग

त्वचा मे उपदंश के विष से किसी-किसी स्थान पर जल पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं। कभी-कभी बाजरा के बराबर पानीदार पिडिकाओं के आगे का भाग बिलकुल स्वल्प मात्रा से निकले हुए रक्त रस से संयुक्त दिखलाई पडती है। कोई-कोई कहते हैं कि उपदंश-ग्रस्त व्यक्ति मे पामा (Eczema), मकड़ी लगना, (Heipes) प्रभृति पानीदार पिडिकाओं से युक्त रोग प्रकट होते हैं। किन्तु कोई-कोई इस प्रकार के चर्मरोग का उपदंशिक कारण नहीं मानते हैं। किसी-किसी स्थल में उपदंश वा अन्य किसी रोग की चिकित्सा में उग्र औषध के बाह्य प्रयोग से वा रोग विशेष की चिकित्सा के लिये तीव्र औषध का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर त्वचा के ऊपर इस प्रकार की जल पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं।

वृहज्जलपिडिका युक्त औपदंशिक चर्मरोग

ये सम्पूर्ण जलपिडिकायें पृथक्-पृथक्, गोलाकार, बड़े मटर से लेकर कबूतर के अण्डे के बराबर तक हो जाती है। ये उपदंश ग्रस्त व्यक्ति के चर्म के ऊपर एक समय में वा क्रमश: पंक्ति-पंक्ति मे निकलती हैं। किसी-किसी स्थल मे उपत्वचा को भेदन करके उसके मध्य मे दुग्ध के तुल्य रक्त, रस वा पूय संगृहीत. हो जाता है। पिडिंकाओं का स्थान प्राय: शुष्क होकर, मोटा, हरा और काला वर्ण का होकर खुरण्ट में परिणत हो जाता है। खुरण्ट के नीचे अकुर विशिष्ट क्षयग्रस्त वा क्षययुक्त प्रदेश मालूम होता है। अनेक स्थल मे इन पिडिकाओं के चारों तरफ नीले-काले रग के दाग होते हैं। पपडी के निकाल देने पर रोगी की दैहिक अवस्था के अनुसार अथवा अवलम्बन की हुई चिकित्सा के अनुसार इसके नीचे का क्षत चारों तरफ वा गम्भीरतर प्रदेश मे फैल जाता है। अथवा शुष्क क्षत मे परिणत हो जाता है।

इस प्रकार की पिडिकायें देह के अन्यान्य स्थानों की अपेक्षा शरीर के अर्द्धभाग में वा दोनों हाथ-पैरों में अधिक प्रकाशित होती है। यह चर्मरोग उपदंश की गौण अवस्था के अन्तिम अवस्था मे अथवा तृतीय अवस्था में मलेरिया ज्वर जन्य दु:स्वास्थ्य (ककहेकूशिया) ग्रस्त रोगी में उत्पन्न होता है। इसी कारण अधिकाश-स्थल मे वंशावली क्रम से आगत औपदंश से ग्रस्त शिशु की कोमल त्वचा मे ये पिडिकायें देखी जाती हैं। इस रोग के निर्णय करने के समय स्मरण रखना चाहिये कि कभी-कभी आयोडाइड आफ् पोटासियम् के प्रयोग करने पर भी इस प्रकार की पिडिकायें निकल आती हैं।

यक्ष्मिक (Tuberculai) औपदंशीय चर्मरोग

त्वचा में घनवटियों (पैप्यूल्स) के प्रकाशित होने पर उसके अस्वाभाविक वृद्धि की अधिकता से जो परिवर्तन होता है उसमे पूर्व वर्णित विकारों के अतिरिक्त निर्दिष्ट सीमावद्ध गम्भीर स्थित एक वा, अनेक लाल वर्ण एवं कृष्ण वर्ण से युक्त मटर के आकार से लेकर काकपक्षी

के अण्डे के आकार की, त्वचा में अधिकांश स्थल मे त्वचा के नीचे जो पिडिकायें उत्पन्न होती हैं उसको यक्ष्मिक (Tubercular) कहते हैं। ये उपदंश की गौणावस्था के शेप भाग में वा तृतीयक अवस्था में प्रकाशित होती हैं। पिडिकाओं में जो परिवर्तन होता है, उसके पार्थक्य के अनुसार इस प्रकार के चर्मरोग को दो श्रेणियों में विभक्त करते है।

यक्ष्मिक शोपणात्मक औपदंशीय चर्मरोग

इसमें कोई विशेप आश्रयनिष्ठ लक्षण प्रकाशित नहीं होते हैं। धीरे-धीरे रोग के स्थान में परिवर्तन होता जाता है। नीचे वाली त्वचा के सम्पूर्ण स्थूलांश में तान्तविकोत्सृजन (प्लैष्टी इन्फिल्ट्रेशन) उत्पन्न हो जाता है। फिर बाद को वह शोपित होकर अदृश्य हो जाता है। क्षत प्रकाशित नहीं होता। अन्त में स्थायी क्षत के चिह्न रह जाते हैं। इस प्रकार के रोग मे पहला अगम्भीर, रक्तवर्ण से युक्त पिन्-मुण्ड के आकार गोल ग्रन्थि (गोमा) के सदृश नोड्यूल (क्षुद्रग्रन्थि) से युक्त पिडिकाये निकलती हैं। बाद को पिडिकाये जितने बड़े आकार को धारण करती हैं उतनी ही वे चिपटी, चिकनी, उजली और अत्यन्त गहरे वर्ण की हो जाती है। ये अधिकतर मुखमण्डल वा ग्रीवादेश मे प्रकाशित होती है। कभी-कभी देहकाण्ड और दोनों हाथ-पैरों मे भी फैल जाती हैं। हाथ और पादतल मे देह की ये पिडिकायें छिल्केदार होती हैं। परन्तु; दूसरे स्थान की ये पिडिकाये प्रायः छिल्केदार नहीं होती हैं। करतल और पादतल मे इस प्रकार की पिडिकाओं के उत्पन्न होने पर उनका बाह्यदेश मोटी पपडी से ढका रहता है। इन पिडिकाओं की पपड़ी निकाल देने पर चारों तरफ बैगनी वर्ण वाले दाग दिखलाई पडते हैं। ये पिडिकायें अलग-अलग होती हैं। अथवा ये दलबद्ध निर्दिष्ट सीमा मे विशिष्ट रूप से प्रकाशित होने पर कपाल में पत्थर के तुल्य कठिन आकार में विस्तृत स्थान को आक्रान्त कर

देती हैं। अथवा नासिका के ऊपर से दोनों कपालों में प्रजापति के अन्तर मे व्याप्त हो जाती हैं।

रोग के अत्यन्त प्रवल होने पर नासिका, ठोढी, कान, भौंह प्रभृति स्थान अत्यन्त मोटे हो जाते है और जो यक्ष्मिक (ट्यूवर्कल) सम्पूर्ण रीति से उन्नत दशा मे प्रकाशित होते हैं वे सीता (गर्त) से पृथक् भूत हो जाते है और मस्तक के किसी भी स्थान मे चर्मकील (वार्ट) के तुल्य ग्रंथि उत्पन्न हो करके अधिक स्थान मे फैल जाती है। इस वढे हुए पिण्ड से पूय के तुल्य दुर्गंधित स्राव निकलता है। इसको फ्रेम्चोसिया सिफिलिटिक या पैपिलोमा सिफिलिटिक आदि कहते हैं।

क्षतोत्पादक यक्ष्मिक (ट्यूवर्क्यूलर) औपदंशीय चर्मरोग

ये पिडिकाये प्रायः उपदंश की अन्तिम अवस्था मे प्रकाशित होती हैं। किसी-किसी स्थल में यदि रोगी की ठीकचिकित्सा नहीं होती। अथवा रोगी कैकहेक्सिया (Cachexia) से ग्रस्त होता है, तो आद्यक्षत उत्पन्न होने के कई महीने के वाद ये पिडिकायें प्रकाशित होती हैं। ये अधिकतर मुखमण्डल, देहकाण्ड और दोनों हाथ पैरों में दिखलाई पडती है। पूर्व वर्णित शोषण शील ट्यूवर्क्यूलर (यक्ष्मिक) रोग में जिस रूप से शोषण होता है, इस प्रकार की पिडिकाओं मे वह रूप नहीं होता है। पिडिकाओं के पुञ्ज का अधिक अंश कोमल होता है और हरे वा काले रंग की पपडी से ढका रहता है। इस रूप में ठोडी, कपाल, गाल प्रभृति स्थानों मे घनिष्ट रूप से दलबद्ध वनी पिडिकायें, क्षत और ऊपर मे पपडी पडने की अवस्था अधिकतर एक संग मे वर्तमान रहती है।

किसी-किसी स्थल मे पूर्व वर्णित दोनों प्रकार का ट्यूवर्क्यूलर और औपदंशिक चर्म रोग एक सग दिखलाई पडते हैं। साधारणतः रोगी की अधोलिखित अवस्था मालूम होती है। संक्रमण प्राप्त होने के पॉच से दश वर्ष के वाद रोगी के कपाल, नासिका और गाल में अनेक मसृण, चिकनी, मटर के आकार की, काली और लाल वर्ण की क्षुद्र

ग्रन्थियां (नोड्यूल) निकल आती हैं। इन क्षुद्र ग्रन्थियां (नोड्यूल्स) के व्यवहित स्थान में निर्दिष्ट वर्ण द्रव्यहीन अवनति लक्षित होती हैं। ये क्रमश: मस्तक, वालों के किनारे, वालों के मध्य, नासिका के मध्य और गाल में व्याप्त रहती हैं। इन क्षुद्र ग्रन्थियों का वर्ण और उनके ऊपर में शल्क निर्माण, क्षुद्र ग्रन्थियां (नोड्यूल) के व्यवधान में अवनति, संकोच, क्षुद्र क्षत, अल्प संख्या में पूयवटी, मस्तक और मुखमण्डल में प्रकाशित होने पर रोग के निर्णय करने में भ्रम नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि उपदंश के अतिरिक्त अन्य किसी रोग में इस प्रकार की अवस्था नहीं देखी जाती है।

किसी-किसी स्थल में देह के मध्य भाग और स्कन्ध में चकत्तेवाला ट्यूबर्कल विशिष्ट चर्म रोग दिखलाई पड़ता है। ये गोल-निर्दिष्ट सीमा विशिष्ट-मध्य स्थल में संकुचित वा शुष्क क्षत के तुल्य और चारों कोनों में ध्वंसग्रस्त होते हैं। करतल और पादतल की उपदंशीय पूय रहित पिडिकाओं में विशेषत्व लक्षित होता है। इसका कारण यह है कि आक्रान्त स्थान का उपचर्म एपिडर्मिस (Epidermis) अधिक स्थूल हो जाता है और ये सब स्थान मध्य-मध्य में घर्षण सञ्चाप, विविध द्रव्यों के साथ सम्बन्ध, शीतलता, उष्णता, आर्द्रता प्रभृति के वशवर्ती हो जाते हैं। ये सम्पूर्ण पिडिकायें पीडा की प्रथमावस्था में विलम्ब से प्रकाशित होती हैं। ये स्वल्प काल स्थायी वा दारुण हो सकती हैं। अथवा वार-वार प्रकाशित हो सकती हैं। इसको औपदंशिक किट्टिभ (सोरायेसिस् Psoriasis) कहते हैं।

करतल और पादतल में पूय रहित पिडिकाओं का आकार आलपीन के मुण्ड के आकार से लेकर मटर के वरावर के आकार का और कठिन शृङ्ग के तुल्य उपत्वक् से आवृत रहता है। जबतक रोग व्याप्त होकर के अंगुली के पर्वों पर आक्रमण नहीं करता है और स्थानिक संचाप के प्रयोग करने पर वा कठिन पदार्थों को हाथ से पकड़ने पर वेदना का अनुभव नहीं होता है, तवतक रोगी इस पीड़ा के अस्तित्व का अनुभव नहीं करता है। कभी-कभी ये चप्टी शीशा धातु के वर्ण के

तुल्य वर्ण वाली, मध्य स्थल मे कठिन शृङ्ग के तुल्य, मलीन और पीतवर्ण वाली उपत्वक् (एपिडर्मिस) से संयुक्त व्रण रूप मे प्रकाशित होती है। अन्त में चर्म फट जाता है और मछली की त्वचा के समान त्वचा गिर जाती है। किसी-किसी स्थान पर पूय रहित पिडिकायें बड़ी-वडी होती हैं। अधिकांश स्थल मे ये पूय रहित पिडिकायें आपस में मिल कर एक सग मे दल बाघ कर निकलती हैं और स्पष्ट प्रतीत होता है। चर्म उत्सृष्ट पदार्थ से पूर्ण रहता है। उपत्वचा कडी पड़ करके फट जाती है। त्वचा शीघ्र ही कठिन और मोटी हो जाती है और वेदना से युक्त हो करके फट भी जाती है। इसी कारण रोगी को हाथ-पैर से कार्य करने में वडी कठिनाई मालूम पड़ती है। यहा तक कि रोगी बिल्कुल असहाय हो जाता है। हाथ और पैर की अंगुलियों के मध्यवर्ती स्थान मे पूयरहित पिडिकाये उत्पन्न हो जाती हैं। उपत्वचा कोमल और क्षयग्रस्त हो जाती है। वियुक्त क्षत प्रकाशित हो जाता है और सब अगुलियाँ फूल कर विवर्णयुक्त हो जाती हैं। आक्रान्त अंगुलियों का अन्त क्षतयुक्त हो जाता है। इसके बाद सम्पूर्ण हाथ और पैर फूल जाता है और उनमे अत्यन्त वेदना होती है। समय पर ठीक चिकित्सा न करने पर विषम लसीका-प्रणाली शोथ (लिम्फैञ्जाइटिस्) उत्पन्न हो जाता है।

औपदंशिक नख विकृति वा चिप्प (Onychia)

यदि नख की भित्ति वा मूल (मेट्रिक्स) अथवा उसके किनारे रोगाक्रान्त हो जाते हैं तो उसके पोषण मे विकार उत्पन्न हो जाता है और औपदंशिक नखभित्ति क्षत (ओनिकिया Onychia) वा पैरा-ओनीकिया (Paraonychia) उत्पन्न हो जाता है। अंगुली के शेष पर्व न्यूनाधिक मात्रा मे फूल जाते हैं तथा कठिन, शुष्क, भङ्गुर और विकृताकार नख हो जाता है। क्रमःश' यह नीचे के विधान से अलग हो जाता है। इसका वर्ण वदल कर म्लान-पीत वर्ण वा पाटल वर्ण का हो जाता है। क्रमशः नख आगे को निकल आता है और अन्त मे सब नख गिर पडते हैं। यदि इस प्रक्रिया के साथ-साथ नख के

कोने में पूय पड जाय तो रोगी अत्यन्त यातना का भोग करता है और आक्रान्त प्रत्यङ्ग एक काल में अकर्मण्य हो जाता है। यह औपदंशिक नख पीडा अधिकतर अनेक मास तक स्थायी रहती है। नख के गिर जाने पर दूसरा नख निकल आता है। किसी-किसी स्थल में नख के पैदा होने में ६ महीना अथवा इससे भी अधिक विलम्ब होता है।

यथोक्तम्—

नखमांसमधिष्ठाय वात. पित्तञ्च देहिनाम्।
करोति क्षयपाकौ त व्याधि चिप्पमादिशेत॥

जनन यंत्र और मलद्वार के समीप में गौण उपदंशजनित अवस्था

गौण उपदंश मे जनन यन्त्र और मल द्वार के समीप मे नियमित रूप से विषम लक्षणादि उपस्थित हो जाते है। ये सब अवस्थायें बार-बार प्रकाशित होती हैं। ये अत्यन्त स्पर्शाक्रामक तथा इस अवस्था के चिह्न और सब लक्षण विभिन्न प्रकार के होते हैं।

जिस स्थल में आद्यक्षत होता है, उस क्षत के चारों तरफ के विधान कुछ दूर तक औपदंशिक विष से पूर्ण रहते हैं। इस कारण से ये सब विधान उग्रतायुक्त होते हैं और विभिन्न प्रकार के नववर्द्धन (ग्रोथ) के उत्पन्न करने मे सहायता करते हैं। जनन-यन्त्र की इस अवस्था मे स्रावित रस और स्वेद के द्वारा उग्रता अधिक बढ़ जाती है। जब परिष्कार-परिच्छन्नता का अभाव होता है तो सर्वाङ्ग की त्वचा मे रोग प्रकाशित होने के पूर्व साधारणतः स्त्रियों के भग के वृहदोष्ठ के किनारे मे और पुरुष के अण्डकोष मे पूयरहित पिडिकायें प्रकाशित होकर क्षत रूप मे परिणत हो जाते हैं। वर्तमान अपकर्ष के प्रकार और स्वभाव के अनुसार इस क्षत से नष्ट पदार्थ पूय वा रसलसीका से युक्त रस (सेरोलिम्फफिड्) निकलता है। इन सब पदार्थों और रस मे प्रचुर परिमाण में प्रबल औपदंशिक विष वर्तमान रहता है और अधिकाश में इन्हीं पदार्थों से रोग दूसरे व्यक्ति मे फैलता है। घनिष्ट रूप से पंक्तिबद्ध होकर पूय रहित पिडिकायें शीघ्र ही एकसाथ मिल

जाती हैं और फैलनेवाले क्षत मे परिणत हो जाती है। क्षत के वाह्य प्रदेश मे छोटे-छोटे दाने पड़ जाते हैं और तल देश मे मध्यमरूप से अन्तराभरण (इन्फिल्ट्रेशन) होने लगता है तथा क्षत से स्वल्प मात्रा मे रस निकलने लगता है।

कभी-कभी आक्रान्त-स्थान मे यथा—पुरुष के शिश्न के उपचर्म वा लिङ्ग के चर्म मे और स्त्रियों के भग के वृहदोष्ठ मे लसीका सम्बन्धीय (लिम्फैटिक) सम्पूर्ण स्थान के चारों तरफ मे व्याप्त अन्तराभरण (Infiltiation) और पूर्व वर्णित दृढ़ीभूत शोथ (इण्डियूरेटिइडिमा) उत्पन्न हो जाता है।

जननेन्द्रिय और मल द्वार सम्बन्धीय औपदंशिक पिडिकाओं का क्षत कभी-कभी गम्भीर हो जाता है। साधारणतः ४-६ सप्ताह के वाद पूय-रहित पिडिकाएँ तलदेश से ऊपर की तरफ बढ़ती है और उनका आकार सहतूत के फल से भी बड़ा हो जाता है। उत्पन्न पिडिकाओं का पिण्ड-घना, वाह्यप्रदेश विच्छिन्न और देखने मे प्रसरणशील औपदंशिक गोजिह्वा पुष्पाकार पिडिकापुञ्ज (प्रोलिफारेटिङ्ग वेनिरियल काण्डिलोमेटा एक्यू-मिनोर) औपदंशिक मस्सा वेनिरियल पैपिलोमेटा के समान होता है। शेषोक्त प्रकार के रोग से व्यभिचारिक मस्सा नामक अतिवर्द्धन शील औपदंशिक पूयरहित पिडिकाओं का प्रभेद यह है कि उनका परिवर्द्धन और उत्पादन (प्रोलिफिरेशन Prolifeiation) अत्यन्त अधिक होता है। पिडिकाओं के तल देश मे अत्यधिक अस्वाभाविक पदार्थ संगृहीत होता है। तलदेश चर्म से कुछ ऊँचा होता है और वेनिरियल पैपिलोमेटा (औपदंशिक मस्सा) मे, जैसे गम्भीर दरार (फसर्स) से भिन्न-भिन्न पैपिलोमा (छोटा मस्सा) का तलदेश तक अलग हो जाता है, इसमे ऐसा नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों के मध्य मे शरीर-तन्तु सम्बन्धी पार्थक्य दिखलाई पड़ता है।

अतिवर्द्धनशील औपदंशिक घनवटी से युक्त रोग मे चर्म की पैपिलरी (लघुमशक) के स्तर के मध्य मे प्रचुर परिमाण मे गोलकोष विशिष्ट अस्वाभाविक पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। किन्तु, लघुमशक

(पेपिलोमा) रोग मे रोग-प्रक्रिया अधिकतर उपत्वचा (एपिडर्मिस्) में अवस्थित रहती है। विटप (पेरिनियम्) और नितम्ब स्थान (नेटस) इसी भाँति मल द्वार के निकट की ग्रन्थियों से युक्त सम्पूर्ण अश मे पूयरहित पिडिकाओं के प्रकाशित होनेपर जननेन्द्रिय मे जो रूप होता है, उसी अवस्था के अनुकूल सम्पूर्ण अवस्था उत्पन्न होती है। मल द्वार प्रदेश की शारीर तत्त्व सम्बन्धी अवस्था के अनुसार समय-समय पर विशेष प्रकार की पिडिकाएँ बन जाती हैं। इस प्रदेश का सम्पूर्ण भाग अत्यन्त दीर्घ, कठिन और अस्वाभाविक पदार्थ से ग्रस्त हो जाता है। इससे व्यवहित स्थान मे गम्भीर दरार हो जाती है और यह दरार मलद्वार के रन्ध्र तक फैल जाती है। यह दरार मध्यस्थल से चारों तरफ मे फैल जाती है अथवा ये अनुग्रस्थ मे अवस्थित हो जाती हैं। इस रूप मे अस्वाभाविक पदार्थ से ग्रस्त सम्पूर्ण भाग उसके तलदेश से अलग हो जाता है। देखने पर मालूम होता है कि अनेक नूतन क्षुद्र-ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो गई हैं। यह अवस्था अत्यन्त यंत्रणादायक होती है। यह यंत्रणा मल-त्याग काल मे बहुत बढ़ जाती है।

मुखाभ्यन्तरीय गौण औपदंशिक पीडा

उपदंश के स्थानिक लक्षणों के मध्य मे मुख और तालु की श्लैष्मिक झिल्ली का क्षत अधिकतर प्रथमावस्था मे प्रकाशित होता है। यह क्षत गम्भीर नहीं होता। केवल त्वचा उठी हुई मालूम पडती है और चारों कोने चिकने होते हैं। श्लैष्मिक-झिल्ली से कुछ ऊँचा, गोलाकार और मसृण सीमा से घिरा रहता है। निकट का उपत्वक् (एपिथिलियम्) अस्वच्छ हो जाता है। ये सम्पूर्ण क्षत ओष्ठ के आभ्यन्तर प्रदेश मे, अधरोष्ठ के कोने मे, जिह्वा के पार्श्व मे और तालु अलिजिह्वा मे प्रकाशित होते हैं। अलिजिह्वा और तालुप्रदेश के क्षत गम्भीर और छिन्न-भिन्न मालूम होते हैं। अधिकतर स्वरयंत्र की श्लैष्मिक-झिल्ली वा श्लैष्मिक-झिल्ली के नीचे के तन्तु इस रूप से आक्रान्त हो जाते हैं।

कण्ठ-स्वर कर्कश और गम्भीर हो जाता है। मुख के अन्दर की श्लैष्मिक-झिल्ली दो प्रकार से औपदंशिक प्रक्रिया द्वारा आक्रान्त हो जाती है। (१) औपदंशिक विष के साक्षात् संक्रमण से उत्पन्न आद्यक्षत और (२) उपदंश की गौण अवस्था मे श्लैष्मिक-झिल्ली क्षत। इनमे द्वितीय प्रकार से उत्पन्न हुआ क्षत प्राय. अधिकाश स्थलों मे देखा जाता है।

अनेक स्थलों में विशेष करके यदि रोगी के भग्न दन्त की तीक्ष्णधार होती है अथवा रोगी अत्यन्त तमाकू या अन्यान्य कोई उग्रता साधक पदार्थ का व्यवहार करता है, तो ओष्ठ और गाल मे उग्रतावस्था वर्तमान रहती है। इसलिये इन स्थानों की श्लैष्मिक-झिल्ली मे अधिकतर पूय रहित पिडिकाओं का यही प्रभेद है कि ये पूयरहित पिडिकाये शीघ्र ही क्षत मे परिणत हो जाती हैं। एपिथिलियम् (उपकोष) विकृत, मलीन और श्वेत वर्ण के हो जाते हैं। अधिकतर द्वितीय दिवस मे पूयरहित पिडिकाओं का बाह्यप्रदेश नष्ट हो जाता है और तलदेश अस्वाभाविक पदार्थ से ग्रस्त हो कर अगम्भीर क्षत उत्पन्न हो जाता है तथा सामान्य कारण होने पर भी इस क्षत से रक्तस्राव होने लगता है।

ओष्ठ और गाल के अन्दर प्रदेश की अपेक्षा गलतोरणिका (Fauces फासेस), तालुग्रन्थि और कोमल तालु मे अधिकतर पूयरहित पिडिकाये प्रकाशित होती हैं। गले के मध्य मे पूयरहित पिडिकायें इतनी उत्पन्न होती हैं कि इससे रोहिणी (डिफ्थीरिया) और कूजितकास (क्रूप्) का भ्रम हो जाता है। इस प्रकार की औपदंशिक अवस्था मे देह का ताप बढ़ता नहीं है। इसका क्रम मन्द गतिवाला होता है। इस रोग से देह के अन्यान्य अंशों मे उपदंशजनित अन्यान्य चिह्न और लक्षण वर्तमान रहते हैं। इनके प्रति लक्ष्य रखने से ही रोग का निर्णय किया जा सकता है। तालुग्रन्थि के आक्रान्त होने पर पीड़ा के न्यूनाधिक्य के अनुसार लक्षण प्रकाशित होते हैं।

तालुग्रन्थि के प्रबल रूप से आक्रान्त होने पर वह अत्यन्त बढ जाती है। इस्थमस मोटा हो जाता है, रोगी का कण्ठस्वर सानुनासिक हो जाता है। लाला अधिक मात्रा मे निकलती है और निगलने मे

अत्यन्त कष्ट होता है। कभी-कभी छाल (क्राप्ट) या फालिकल (कोष) ध्वंस हो कर तालुग्रन्थि में गम्भीर क्षत हो जाता है।

श्लैष्मिक-झिल्ली आकर्षण या घर्षण की वशवर्ती हो जाती है। जैसे ओष्ठ, ओष्ठाधर का कोला, जिह्वा का तलदेश प्रभृति आक्रान्त होने पर गम्भीर दरार से युक्त क्षत प्रकाशित हो जाता है। क्षत श्लैष्मिक झिल्ली के नीचे तक भेद करके व्याप्त हो जाता है जिससे रोगी को अत्यन्त कष्ट होता है।

कभी-कभी मसूड़े औपदंशिक पूयरहित पिडिकाओं से आक्रान्त होकर सूज जाते है और अस्वाभाविक पदार्थ से ग्रस्त हो जाते हैं। मसूढ़ों के दोनों किनारे क्षतयुक्त हो जाने से दाँत भी शिथिल हो जाते हैं।

उपदंश रोग की परिणत गौण-अवस्था में कभी-कभी गण्डदेश की श्लैष्मिक-झिल्ली का इन्फिल्ट्रेशन (उत्सृजन), ऐसा मालूम होता है कि क्षत से ग्रस्त नहीं हुआ है। कोमल तालु और अलिजिह्वा, अस्वाभाविक पदार्थ से संगृहीत होकर कोमल नमनीय फासेस (गलतुण्डिका) के दोनों स्तम्भ दृढ़, कृष्ण और रक्तवर्ण के हो जाते हैं और परिवेष्टक विधान से ऊँचा, उज्वल बन्धन से युक्त विधान मे बदल जाता है। जो अस्वाभाविक पदार्थ उत्पन्न होता है वह कुञ्चित होकर ओवेलमपैलेटाइ (ककुद) को विकृत कर अलिजिह्वा को एक तरफ आकृष्ट कर देता है।

अनेक स्थलों पर जिह्वा मे गौण औपदंशिक पीडा उत्पन्न होती है। वह पीडा भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न होती है। उपदंश की पूयरहित पिडिका (पैप्यूलर) की प्रारम्भिक अवस्था मे जिह्वा के ऊपर भाग मे सम्पूर्ण अंकुर उन्नत हो जाते हैं और वे छोटे मटर के आकार मे अलग-श्वेत उपकोष (एपिथिलियम्) से आवृत दाग के तुल्य दिखलाई पड़ते हैं। इसके बाद उपकोष (एपिथिलियम्) गिर जाता है। सम्पूर्ण दाग उज्वल और लाल मांस के समान वर्ण मे बदल जाते हैं। यदि क्षय और ध्वंस-क्रिया वर्तमान रहती है तो वे मैले-पीले वर्ण के हो जाते हैं।

जिह्वा का समतल उन्नत क्षत मे परिवर्तन हो जाता है। यह अवस्था प्रधानतः जिह्वा के ऊर्ध्व प्रदेश और किनारों मे उत्पन्न होती है। इस स्थल मे अधिकतर देखा जाता है कि जिह्वा के किनारे क्षतग्रस्त वा भग्न-दन्त द्वारा अत्यन्त उग्रता से युक्त हो गये हैं। जो अधिक चुरुट वा सुरा पीते हैं यदि वे अच्छी तरह मुख के अन्दर का भाग साफ-साफ नहीं धोते हैं, तो उनकी जिह्वा के किनारे मे इस प्रकार के क्षत हो जाते हैं, जिससे रोगी को बोलने और भोजन करने मे विशेष कष्ट होता है।

इन पीड़ाओं के अतिरिक्त जिह्वा मे एक विशेष प्रकार की पीडा होती है और यह अधिकतर स्थान व्यापी होती है। आक्रान्त स्थान निर्दिष्ट रूप से सीमा विशिष्ट, उज्वल और अस्वाभाविक पदार्थ से युक्त होता है। इस प्रकार की पीडा दरार (फिसर्स) क्षत मे परिणत हो जाती है।

जिह्वा में एक और प्रकार की औपदशिक पीडा होती है। इसमे जिह्वा की श्लैष्मिक-झिल्ली का प्राय. आधे पैसा के तुल्य गोलाकार अश कठिन पिण्डरूप मे परिवर्तित हो जाता है। ये जिह्वा की पेशियों से पृथक् और जिह्वा के समतल से उन्नत होते हैं। इसका ऊपरी भाग अनियमित सीता (फरो Furrow) से चिह्नित होते हैं। वाह्य प्रदेश मे स्थान-स्थान पर एक-एक श्वेत वर्ण युक्त विवर्द्धन शील अंकुर (पैपिला) बढ जाते हैं।

जिह्वा मे और एक प्रकार की औपदंशिक पीडा देखी जाती है। इससे जिह्वा के पश्चात् भाग मे सार्कम वैलेट पैपिला (मासिक अर्बुद) और एडिनपिड्, (क्षुद्रग्रन्थिक धातु) का वर्द्धन लक्षित होता है। सम्पूर्ण लघुमस्सा (पैपिला) विवर्द्धित और अस्वाभाविक पदार्थ से युक्त होता है।

केश और केशविशिष्ट स्थान की औपदशिक पीडा—उपदंश रोग की गौण अवस्था मे अधिकतर मस्तक मे एक प्रकार (Seborrhoea) सेवोरिया उत्पन्न हो जाता है। साधारण सेवोरिया रोग से

उसका अनेकांश में पार्थक्य मालूम होता है। साधारण सेबोरिया (सेबेशस ग्रन्थिक) रोग के तुल्य इसमें रस अधिक नहीं निकलता है और उपत्वक् के खण्ड भी नहीं निकलते हैं। इस औपदंशिक सेबोरिया (Seborrhea) में लघुमस्सा (पेपिला) के स्तर के और बालों के उपकोष (फोलिकल) से व्याप्त उत्सृजन होता है। उपत्वचा (एपिडार्मिस) पतली छाल के तुल्य स्तर-स्तर में हो करके गिर जाती है। केशों के वर्ण में विकृति हो उनकी उज्ज्वलता नष्ट हो जाती है। खींचने पर बाल स्वयं ही खिंच जाते हैं अथवा अपने आप ही गिर जाते हैं। यह अवस्था मस्तक के सब स्थान में व्याप्त हो जाती है। इसको खालित्य (डिफ्यूज एलोपेशिया) कहते हैं।

किसी-किसी स्थल पर मस्तक में औपदंशिक पूयरहित पिडिकायें प्रकाशित होती हैं। इस स्थल में केश एक स्थूल गुच्छा के आकार में एकत्रित हो जाते हैं और स्थान-स्थान पर बड़े मटर के आकार में निर्दिष्ट अंश के बाल गिर पड़ते हैं। इसको अंग्रेजी में एरिओला एलोपेशिया (लघुक्षेत्रिक केश पात) कहते हैं। पूर्वोक्त दोनों प्रकार के व्याप्त और सीमाबद्ध औपदंशिक एलोपेशिया (केशपात) रोग में ठीक चिकित्सा करने से तीन-चार मास में पहले के समान बाल उत्पन्न हो जाते हैं। प्रधानतः इस रोग से मस्तक में एलोपेशिया (केशपात) हो जाता है। इसके अतिरिक्त भ्रूप्रदेश अक्षिपल्लव कभी-कभी बगल और लिंग प्रदेश के भी बाल गिर जाते हैं। मस्तक की पूर्व वर्णित पीडा की अपेक्षया पूयवटीयुक्त औपदंशिक पीड़ा अधिक स्थल में उत्पन्न होती है। केश कोष के चारो तरफ में उत्सृजन (इन्फिल्ट्रेशन) प्रकाशित होता है वा सम्पूर्ण केशमूल उत्सृजन से आक्रान्त हो जाता है। यद्यपि सम्पूर्ण बाल मस्तक में दृढीभूत छिलका (काष्ट) के द्वारा अटके हुए रहते हैं, तो भी वे ध्वंस होकर गिर जाते हैं। बालों की उज्वलता नष्ट हो जाती है और स्थूल गुच्छा के आकार में मस्तक के चर्म में खाज उत्पन्न

हो कर चालगिर जाते हैं। कभी कभी औपदंशिक पूयवटी विशेष आकार को धारण कर लेती है। एक पूयवटी जनित क्षत वा अनेक छोटी-छोटी पूयवटी एकत्र होकर एक अधेला या पैसा के समान बडा क्षत हो जाता है।

इस क्षत का तलदेश, जनानाधिक्य (प्रोलिफरेशन) ग्रस्त हो जाता है और वह कपोताण्ड के तुल्य वृहदाकार धारण कर लेता है। इसको फ्रेम्बेसिया सिफिलिटिका (Frembasia Shiphiletica) कहते हैं। यह काली और लाल रग की पपड़ी से ढका रहता है। प्रोलिफारेंटेड, विधान सामान्य स्पर्श मात्र से रक्तस्राव से ग्रस्त हो जाता है जिससे रोगी को अत्यन्त यंत्रणा होती है। इसकी चिकित्सा विशेष फलप्रद नहीं होती पूय पीडिकाओं के सूख जाने पर शुष्क क्षत के चिह्न वन जाते हैं। रोग की प्रक्रिया से मस्तक के आक्रान्त अश मे खालित्य (एलोपेशिया) उत्पन्न हो जाता है।

किसी-किसी स्थल मे आद्य औपदंश प्रकाशित होने के कई वर्ष वाद यहाँ तक कि शरीर के अल्प भाग मे किसी प्रकार की औपदंशिक पीडा इतने काल तक दिखलाई न देने पर भी जननेन्द्रिय मे और मलद्वार के समीप पूयरहित पिडिकायें सहसा प्रकाशित होते हुए देखा जाता है। स्त्रियों की गर्भावस्था मे जननयंत्र की शिरा में रक्त संचालन की स्थिरता से अधिकांश स्थल में पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं। केवल त्वचा और श्लैष्मिक-झिल्ली ही उपदंश के विष से आक्रान्त होती हो ऐसा नहीं किन्तु, रसविधान और सौत्रिकतन्तु भी (सिरस और फाइब्रसटिशू) परिशेष मे पीडा से ग्रस्त हो जाते हैं। नेत्र का कृष्ण भाग (आइरिस्) दृष्टिपीठ (रेटिना), मतिष्क की वाह्यावरणी कला (ड्यूरामेटर) और अस्थि परिवेष्टनी कला (पेरिओष्टियम्) मे उपदंशीय प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण नेत्रीयकृष्णभागिक प्रदाह (आइराइटिस्) दृष्टिपीठ प्रदाह (रेटिनाईटिस्), मूर्च्छा, आक्षेप, अस्थि परिवेष्टनी कलाप्रदाह (परिओप्टाइटिस्) प्रभृति प्रवल रोग उत्पन्नहो जाते हैं। परिणाम मे अस्थि का ध्वंस हो जाता है। अथवा रोग पुरातन होकर

ग्रन्थि बढ़ जाती है और नाड़ीशूल उत्पन्न हो जाता है। उपदंशीय विष से आभ्यन्तरिक यंत्र में भी यही रूप अस्वाभाविक क्रिया से उत्पन्न होता है। उपदंश के परवर्ती फलस्वरूप यक्ष्मा, मूत्र मे लाल अण्डों से उत्पन्न हुआ शोथ और आभ्यन्तरिक यन्त्र में वसामयी (लार्डेशस) पीडा उत्पन्न हो जाती है।

छः से आठ महीने के बाद अधिकतर उपदंश की द्वितीय अवस्था का शेष हो जाता है और अनेक स्थलों में इस समय के बाद रोगी ज्वर से कोई विशेष कष्ट नहीं पाता है। किसी-किसी स्थल में कई मास वा कई वर्ष के बाद तृतीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी मध्य-मध्य में द्वितीय और तृतीय अवस्था के सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। यथा—त्वचा मे स्थान-स्थान पर मोटे-मोटे खुरण्ड या छिल्के (Scoles) पड़ जाते हैं। हस्त-पादतल मे विचर्चिका के तुल्य दुर्दम पिडिकाये निकल आती हैं। जिह्वा मे क्षत क्रमशः गम्भीरतर स्थूल सीमायुक्त होता है। बाद मे तृतीयावस्था शुरू हो जाती है।

औपदंशिक तृतीया अवस्था

यह अवस्था उपसर्ग के बाद छः मास से लेकर दो साल के मध्य में प्रायः पैदा होती है। कभी-कभी दस-बीस साल तक भी इस अवस्था के लक्षण उत्पन्न नहीं होते। इस काल को गुप्तावस्था (Lateut period) कहते है। इस अवस्था में द्वितीय अवस्था के लक्षण प्रायः मिट जाते हैं और तृतीय के भी उत्पन्न नहीं होते। अर्थात् इस अवस्था मे उपसर्ग सुप्त रहता है। तृतीयावस्था की प्रधान विकृति निर्यासार्वुद है। ये एक या अनेक अंगों और स्थानों मे तथा परिमित या विस्तृत (Localised, or, Diffiused) स्वरूप में होते हैं। शरीर के सब अङ्गों में ये उत्पन्न नहीं हो सकते, परन्तु त्वचा, उपत्वचा, पेशियाँ, यकृत्, वृक्क, वृषण, आमाशय, मस्तिष्क, हृदय, रक्तवाहिनियों और हड्डियों में ये अधिक होते हैं। इनमे से आधे केवल यकृत् मे और आधे दूसरे सब अङ्गों में रहते हैं। ये उन स्थानों पर अधिक होते हैं जिन पर आघात, दबाव, भार

पीडन प्रभृति अधिक होता है। यथा—नितम्ब, स्कन्ध, जानु, मस्तक, नासा, हथेली, अन्तर्जंघास्थि, उर.फलक प्रभृति। आकृति में मटर से लेकर संतरे के तुल्य या उससे भी अधिक बड़े होते हैं।

इस रोग मे यकृत् सबसे अधिक आक्रान्त हो जाता है और एक प्रकार का अत्यन्त प्रबल पाण्डुरोग उत्पन्न हो जाता है। त्वचा मलिनवर्ण की हो जाती है, त्वचा और श्लैष्मिक-कला मे निर्यासार्बुद (गमा Gumma) से उत्पन्न हुए विवर्धन (ग्रोथ) के कारण आक्रान्त स्थान दृढ होकर विस्तृत हो जाता है। कुछ काल के बाद त्वचा बैंजनी और लाल वर्ण की हो जाती है और वह नीचे के विधानों मे संलग्न रहती है। अन्त मे विविध स्थानों में क्षत प्रकाशित हो जाता है, कभी यह क्षत चर्म में विस्तृत हो जाता है। इसको दद्रुमण्डलसम (Serpiginous सार्पिजिनस) क्षत कहते हैं। इस क्षत का मध्यांश शुष्क होता है अथवा क्षत चारोंकोनों में फैल जाता है। विविध स्थानों की श्लैष्मिक-कला भी इसी रूप के क्षत से ग्रस्त हो जाती है। चर्म मे सीमाबद्ध उत्सृजन (Infiltration) प्रकाशित होने पर उसको औपदंशिकयक्ष्मिका (ट्यूबर्कल) कहते हैं और कललरूप (सेल्यूलर) तन्तु में प्रकाशित होने पर उसको निर्यासार्बुद (गमा) कहते हैं। प्रथम मे ये छोटी, कड़ी, चर्म के नीचे संचलनशील और गोल होती है। इसके बाद बढ जाती है, ये कोमल और विवर्णयुक्त त्वचा से ढकी रहती है, अन्त मे ये फट जाती और क्लेद निकल कर क्षत सूख जाता है और गम्भीर क्षत चिह्न रह जाते हैं।

कोमल तालु के आक्रान्त होने पर उसमे गम्भीर क्षत और छिद्र हो जाते हैं। कभी-कभी उत्पन्न क्षत शुष्क होकर कोमल तालु के साथ ग्रसनिका (फेरिंक्स) से संलग्न हो जाती है अत: नासा मार्ग के साथ श्वास-मार्ग का सम्बन्ध अवरुद्ध हो जाता है और नासिका से फुफ्फुस मे वायु का प्रवेश नहीं होता है अतएव रोगी मुख से श्वास लेता है।

अथोक्ता तृतीयावस्था माधव परिशिष्टे—

श्यामाग्रन्थीरूर्ध्वमव्दद्वयात्र प्रायः कुर्वन्त्यामयस्याणुत्रोऽस्य ।
रोगग्रस्तानां नृणां वै विशिष्ट भागेन्तेवाथो शरीस्य मध्ये ॥१॥
पश्चास्तास्तुग्रन्थयो मांसपेशी-भिस्तत्रस्था आवृताः सत्य एव ।
सूक्ष्मा.स्थूलाः क्षुद्रवृत्तैश्चसेलै. किंवा, सेलैः श्लेष्मिकैः सर्वथैव ॥२॥
नूनंसौत्रैस्तन्तुभिर्वाकृताःस्युः-पश्चात्ताश्च ग्रन्थयोमध्यभागात् ।
सयाता. स्युः शीर्णभावं विशेषात्-पश्चाज्जायेत् व्रणत्वतु तत्र ॥३॥
तस्मिन्काले रक्तसवाहिनाड्यो द्राढ्यं प्राप्ता रज्जुवच्चातिमात्रम् ।
सङ्कुच्यन्ते चाति सकीर्णमार्गा-इत्थ सकीर्णत्वातिरेकाद् यदा तु ॥४॥
तासां जायेताथ मस्तिष्कदेशे-भूम्नामार्गस्यावरुद्धत्वमेव ।
पक्षाघातो मूर्च्छन वाऽपिमृत्यु-र्नूनंतेनास्मिन्गदे स्यात्तदा तु ॥५॥
इत्थतासांहृत्प्रदेशेकदाचिच्चेत्स्यान्मार्गस्यावरुद्धत्वमद्धा ।
सजायेताशु प्रायशो वै तदातु-हृत्कार्यस्यातीव्ररोधोऽप्यकस्मात् ॥६॥
किंवातत्रस्याद्धृदो विस्तृतिश्च-ह्येवभूता अन्य एवोपसर्गाः ।
प्राणघ्ना वा दृश्यमाना भवेयु. प्रोक्तावस्थाऽस्येत्यशेषात्तृतीया ॥७॥

आशूत्तरोत्तरं जीवाणुनामल्पता निर्देशः—

पुरोदितास्वाशु दशासु तूत्तरोत्तर भिषग्वृन्दमवेतु चाल्पताम् ।
व्रणेषुजीवाणुगणस्यचामय प्रदायिनो नूनमिहोपदर्शे ॥८॥

लक्षणम्—

श्यानाभिधाग्रन्थय आमयेऽस्मिन् तेनोभवेयुर्ननु यत्र तत्र ।
वर्णास्तुतासां पल्लोपमो वा ताम्रोपमो वा परिदृश्यतेऽत्र ॥१॥
ता उद्भवेयुश्च समानरूपतो- भूय. शरीरस्य च पार्श्वयोः सदा ।
यदाद्विवद्वयोर्मिलिता परस्पर तदा तु दध्युर्ननु मण्डलाकृतिम् ॥२॥
मन्दज्वरः स्यादिहकण्ठपाकता-न्यूनत्वमस्रस्यतथेन्द्रलुप्तता ।
शिरोव्यथानक्तमथास्थिमध्ये रुजासशोथाऽभ्यधिका प्रदृश्यते ॥३॥
मुखेऽधिनासरदनच्छदेऽथो श्लेष्मच्छदे योनिगते विशेषात् ।
भवेद्व्रणोत्पत्तिरपीह सशयो विधेय ईषत्र कदापि कोविदैः ॥४॥

परिस्थितावत्रतद्वातृतीया यां लक्षणां प्रागुपवर्णितानाम् ।
सन्दर्शन पूर्णतयाऽखिलानां भवेत्तनावप्युपदंशरोगिणाम् ॥५॥
श्यानाभिधग्रन्थिसमुद्भवेऽस्मिन् यकृत्यथो प्लीहन्यधि फुफ्फुस हृदि ।
सदृश्यते तत्स्फुटन ततश्च-तथा च तत्र स्फुटितेऽधरूढे ॥६॥
समुद्भवेत्सौत्रिकतन्तुता तदा गदेऽत्र योषित्स्वपि गर्भपात ।
आदौभवेच्च क्रमतस्ततः स-विलम्बितो दृश्यत एव लोके ॥७॥
तदन्वपातश्च ततोऽल्पजीविन शिशोर्भवेदुद्भव एव सर्वथा ।
तत क्रमेणत्वुपदंशरोगिण-श्चिरायुपोबालजनस्य जन्म ॥८॥
प्रजायते प्रायश एवचैषा-रीतिर्मिषग्भिर्भुवनेऽनुभूता ।
ततस्तुतद्बालगतो ह्यवश्य सदोपदंश सहजः सबोध्य ॥९॥

अत्रोपद्रवाः—

सङ्कोचभावोऽप्यधिफुफ्फुस वा यकृत्यथो प्लीहन्यपि पक्षघात ।
अपस्मृतिर्मूर्छनमध्यवश्य (मतेता मातगिकाश्च) ॥१०॥
एते यदाह्यप्युपदंशरोग-मुपद्रवा वैद्यवरैर्विशिष्य ।
सङ्कीर्तितास्तेनयुत सदैमी-रोगीलभेतान्तक लोकवासम् ॥११॥

स्त्रियों का उपदंश

यद्यपि पूर्वोक्त उपदंश का वर्णन स्त्री-पुरुष के लिये समान भाव से किया गया है। परन्तु स्त्री जन्य उपदंश के लक्षणों मे कुछ पार्थक्य होता है अत स्त्रीजन्य उपदंश के विशिष्ट लक्षण लिखे जाते हैं।

पार्थक्य का हेतु—(१) उपदंश जननेन्द्रिय का रोग है और स्त्री की जननेन्द्रिय की सूक्ष्म और स्थूल रचना पुरुष की जननेन्द्रिय की अपेक्षया भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त स्त्री जननेन्द्रिय अत्यधिक आर्द्र और मलिन रहती है और उसमे संघर्षण अधिक होता है। अत स्त्री की जननेन्द्रिय मे व्रण, विस्फोट तथा शोथ का लक्षण पुरुष की अपेक्षया पृथक् होता है। (२) डिम्ब ग्रन्थियों (ओवरी) की कार्य क्षमता, (३) सगर्भावस्था की बीज-ग्रन्थियों के और सगर्भावस्था मे गर्भ के बाह्य आवरण के अन्तःस्राव से स्त्री के शरीर के कुछ अंगों की रक्षा होती है।

जिससे स्त्री के अन्दर हृदय, रक्त-प्रणालियां और मस्तिष्कीय उपदंश के विकार अत्यल्प होते हैं। ये रक्षक पदार्थ लसीका-परीक्षा में भी अन्तर पैदा करते हैं। पुरुषों की अपेक्षया स्त्रियों का जीवन प्रायः सुखमय होता है। इसीलिये हृदय और रक्तप्रणालियों मे अल्प विकार होते हैं। वेश्याओं के अतिरिक्त अन्य स्त्रियाँ प्राय मद्यपान नहीं करती हैं। इससे भी लक्षणों मे पार्थक्य होता है।

प्राथमिक अवस्था—स्त्रियों के प्राथमिक व्रण की तरफ कभी-कभी ध्यान भी नहीं दिया जाता है। इसका हेतु यह है कि व्रण अत्यल्प होता है अथवा होता भी नहीं है, कभी वेदना शून्य तो कभी अस्थायी होता है। कभी श्लेष्मयुक्त त्वचा के कगूरे मे छिपा रहता है उसमें कई वार काठिन्य नहीं होता है।

जननेन्द्रिय की आर्द्रता के कारण उसके बाहर के स्वरूप में अन्तर होताहै। कभी वह ऐसे स्थान मे पैदा हो जाता है जिसका निरीक्षण नहीं किया जा सकता है। कभी-कभी वह गोल व्रण के वदले कठिन विदार (फीसर) के आकार मे पदा होता है और उसका रोपण हो जाने पर उसकी जगह मे स्थायी चिह्न अथवा व्रण वस्तु अधिकतर निर्मित नहीं होती है। इसके अतिरिक्त प्राथमिक व्रण अधिकतर अनेक होते हैं और व्रण के स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली लसीका-ग्रन्थियों की वृद्धि प्रत्येक आतुर मे दृष्टिगोचर नहीं होती।

द्वितीयावस्था

इस अवस्था मे भग, गुदा, जंघासा और नितम्ब आदि स्थान सदा आर्द्र और मलिन होने से इनकी त्वचा पर पर्याप्त मात्रा मे चपटे-चौड़े उपदंशिक शूक (Condylomata) पैदा हो जाते हैं। स्तन के नीचे गाँठदार विस्फोट आर्द्र स्वरूपयुक्त दिखलाई पड़ते हैं। दोनों स्तनों मे विह्वलता पैदा करनेवाली पीडा और पीडनाक्षमता होती है। ग्रीवा, स्कन्ध तथा किसी स्थल पर स्कन्ध से कक्षा की त्वचा पर कुछ-कुछ विवर्णता उत्पन्न हो जाती है। अंगुली के पहले पर्व के बराबर इस वैवर्ण्य के छोटे-छोटे मण्डल बन जाते हैं और इन मण्डलों के किनारे

अधिक रंगदार हो जाते हैं। इसे वैकृति और औपदंशिक श्वित्र (Leucoderma cervicis) कहते है। यह विवर्णता स्थायी स्वरूप की होती है और ज्वर, रक्तहीनता, खालित्य, पुनः पुनः गर्भस्राव वा गर्भपात, मृतगर्भजन्म (स्टिलवर्थ) प्रभृति उपद्रव स्त्रियों मे अधिकतर उपदंश के कारण होते हैं।

तृतीयावस्था

इस अवस्था में भग के समीप वा गर्भाशय की ग्रीवा के ऊपर ग्रन्थियाँ (Gumma) उत्पन्न हो जातीं हैं, जो कर्कट (कैंसर) समझे जाते हैं। स्तनों में कभी-कभी कुछ ग्रन्थियाँ (गमा) पैदा हो जाती हैं जो स्तनों के कठिन कर्कट (Scirrhus) समझे जा सकते हैं। स्त्रियों मे इस अवस्था की विकृतियाँ प्राय रजोनिवृत्ति के समय होती हैं। हृदय और धमनियों के विकार वहुत कम होते हैं।

वातिकोपदंश

औपदंशिक उन्मत्तता का सर्वाङ्गवात और खञ्जता ये दोनों वातव्याधियाँ स्त्रियों मे अत्यल्प देखी जाती हैं। इस विषय मे कुछ आचार्यों की सम्मति है कि डिम्बग्रन्थि और गर्भ के वाह्यावरण का अन्तःस्राव इन व्याधियों से स्त्री-शरीर की रक्षा करता है।

उपसर्ग

उपदंश के उपद्रव तृतीयावस्था मे अधिक होते हैं। इसका कारण यह है कि इस समय उपदंश देह के सम्पूर्ण अङ्गों पर अपना प्रभाव जमा लेता है इससे अपरिमित उपसर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। इनका विमर्श प्रत्येक संस्थान के व्याधियों मे किया जायगा। कुछ प्रधान उपद्रवों के नाम लिखे जाते हैं। औपदंशिक उन्मत्तता, खञ्जता, पक्षाघात, एकांगाघात, आक्षेप, तीव्रशिरःशूल, गर्भस्राव, गर्भपात, मृतगर्भजन्म अथवा औपदंशिक वालक का जन्म प्रभृति उपद्रव होते हैं।

पैतृक वा आजन्म उपदंश

(Inherited or Congenital Syphilis)

निर्वचन—पिता अथवा माता के द्वारा या दोनों के द्वारा उपदंश का जीवाणु (स्पैरोकीटापालिडा) सन्तान में संक्रमण करके वालक

को उपदंश रोग से पीडित कर देता है। इसको आजन्म अथवा सहजोपदंश कहते हैं। प्रसवकाल मे प्रसव पथ के व्रण (Shancre) के स्पर्श से वालक के शरीर में जो उपदंश होता है, उसको आजन्म उपदंश नहीं कहते हैं, उसे संक्रान्तोपदंश कहते हैं। सहजोपदंश में पिता के शुक्र के साथ और माता के आर्तव के साथ उपदंशाणु भ्रूण में संचालित हो जाता है। उसको आजन्म उपदंश कहते हैं।

संक्षिप्त परिचयात्म विवरण

माता और पिता के उपदंश होने पर गर्भावस्था मे ही गर्भस्राव और गर्भपात प्राय' हो जाता है। यदि गर्भ पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तो अनेक स्थल पर मृतभ्रूण निकलता है। यदि जीवित शिशु उत्पन्न होता है, तो जन्मकाल मे किसी पीडा के लक्षण प्रकाशित नहीं होते है और उस समय शिशु विल्कुल स्वस्थ मालूम होता है किन्तु वाद को दो सप्ताह से लेकर ६ सप्ताह के मध्य मे शिशु का क्रमशः स्वास्थ्य भंग होने लगता है और शिशु दुर्वल होता जाता है। पहले नासा के छिद्र मे सूजन हो जाती है और गाढ़े कफ से मिला हुआ पूय निकलता है। नासा मार्ग मे अवरोध होने से श्वास-प्रश्वास मे व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। शिशु को सर्दी हो गई है, ऐसा भ्रम हो जाता है। क्रमशः वालक म्लान रहने लगता और एक-एक क्षण मे शिशु चौंक पडता है। इसके बाद में शिथिल होकर पड़ जाता है। प्रायः पक्ष के अन्त में कमर, पैर और मलद्वार के चारों तरफ लालवर्णवाली पिडिकायें निकल आती हैं। इसके वाद शरीर के अन्यान्य स्थानों मे विशेष कर ग्रीवा, गला और सन्धियों मे दाग के तुल्य पिडिकायें वाहर निकल आतीहैं। ये पिडिकायें कुछ ऊँची और गोलाकार होती हैं और पतली-सूखी त्वचा से ढकी रहती हैं। वंक्षणप्रदेश और सीवन में ये सव पिडिकाये आर्द्र रहती है। इनकी पपड़ी निकल जाने पर उपदंशिक शूक (Condy Lomate) उत्पन्न हो जाता है। क्रमश. रोग बढ जाने पर पिडिकाओं का वर्ण ताम्रवर्ण के समान हो जाता है। मुख के अन्दर मे व्रण हो जाते हैं। वालक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। ओठ और नासिका में दरार

पड जाती है। शरीर की त्वचा वृद्धमनुष्य के तुल्य सिलवटदार, संकुचित और शिथिल हो जाती है। नासा-क्लेद, कास आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। स्थायी दाँतों के मध्य मे विशेपत' ऊपर की पक्ति के मध्य के छेदक दन्तों मे गर्त पड जाता है। प्राय सम्पूर्ण दाँत विकृत हो जाते है। शेष लक्षण अर्जित उपदंश के तुल्य होते हैं। जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। इसको आजन्म उपदश कहते हैं।

सहजोपदंश का निदान

जीवाणुयोगयुत शोणित शुक्रहेतु।
जातोपदश उदित. सहजाभिधो हि॥
शुक्रे तथा रजसि दुष्ट इहोपदश।
जीवाणुभि. सतितयोरवमेलनाद्वै॥१॥

जायेत क्वचन कदाचन दैवयोगाद्-गर्भ सनाशमपिनूनमवाप्नुयाच्च।
किवा क्वचित्त्वभिनवेऽप्युपदशरोगे नैवोद्भवेत्सकृतिनोऽथ च गर्भपात॰॥२॥

एव च जातु च न बालकजन्म चेत्स्यात्
सद्वैद्यवृन्द परिभापित एवलोके।
नूनबुधै स सहजेन गदेन चोप—
दशेन पीडिततनुर्ननुबोधनीय॥३॥

कि चोपदशवशगा यदि गर्भिणीस्यात्
तत्रोद्भव त्वधिगत शिशुरप्यवश्यम्
सासर्गिकेण कलित. स इहोपदशे
नाभापितो बुधजनैरपि वेदनीय॥४॥

अत्रोपदशे सहजाभिधे बुधैरवश्यमेतत्सतत विबोध्यम्।
अथोपदशस्य च चिह्नजात न चेज्जनन्यां क्वचिदीक्षित स्यात्॥५॥
तदेव चेद्बाल शरीरमध्ये जन्मक्षणे लक्षितमेव नूनम्।
स बालको मातरि तूपदशे प्रभुर्न सक्रामयितु भवेत्क्वचित्॥६॥
स्यात् किन्तु चान्यत्र निजोपदश—व्रणस्य सक्रान्ति कृतेऽनिश क्षम.।
न सशयस्यावसरोऽत्र ज्ञेयो यतोभिषग्भिर्बहुशोऽनुभूत॥७॥

एवं च पित्रोरुपदंशिनो क्वचिच्चेत्सोपदंशार्ततनुः शिशुः स्यात् ।
तदा स संसर्गभवोपदंश—संक्रान्तिभीत्या रहितो भवेद् ध्रुवम् ॥८॥
इयन्तु रोगाक्रमणं प्रभावं सोढुं च शक्तिः किल तत्र बाले ।
संदृश्यमाना वयसि प्रवृद्धे विलीयमाना स्वयमेव वै भवेत् ॥९॥

सहजोपदंश के लक्षण

भवन्ति चास्मिन् सहजोपदंशेगदे शिशौ यान्यपि लक्षणानि ।
प्रदृश्यमानान्यखिलानि तानि ब्रवीम्यहं सम्शृणु साध्विदानीम् ॥१०॥
न जातमात्रे हि शिशौ विलोक्यते गदस्य किंचित् क्वचिदेव लक्षणम् ।
परन्तु सप्ताह चतुष्टयात्परं तद्वर्ष्मणि प्राय अनावृतेषु वै ॥११॥
नासामुखादिष्वखिलेषु चाङ्गकेषु पाटलाभा पिडिका भवेयुः ।
परस्परं ताः मिलिताः व्रणत्वं प्रसारिणोऽद्धा बहुधा हि दध्युः ॥१२॥
ततस्त्विमां प्राप्य दशामवश्यं संक्षीयमाणां शिशवः संदृशाः ।
वलीविशेषाकलिताननाः ध्रुवं विलोक्यमाना इह वै भवेयुः ॥१३॥
पतिष्णुता वाऽथ विरूपता भवेन्नखेषु तेषामपि चेन्द्रलुप्तता ।
मुखोष्ठयोर्वा व्रणयुक्तताऽधिकाऽधि नासिकं वा स्वरयन्त्र मध्ये ॥१४॥

श्लेष्मच्छदेऽपि व्रणिता तयोर्ध्रुवं ।
नासास्थिमध्ये गलतिर्विशेषात् ॥
मिथो विलम्बेन तथास्थिकेन्द्रा—
णां मेलनं जायत एव नूनम् ॥१५॥

समुद्गमश्चाथ विनाश आशु प्रदृश्यते बालतनौ रदानाम् ।
तथाऽश्रितेष्वप्यथ तेषु यौवनं पुरोदितायां उपदंश जायां ॥१६॥
प्रायो दशायां बहुशस्तृतीया—या लक्षणानीह भवेयुरेव ।
अथोपदंशीय गदाणुजुष्टयोः पित्रो रजः शुक्रत आप्तजन्मसु ॥१७॥
किंचित्प्रवृद्धेषु च तेषु नूनं कार्श्यं प्रदृश्येत च दुर्बलत्वम् ।
तथाधिकत्वं वयसोऽपि लक्ष्यते तदीयदेह स्थित लक्षणैर्ध्रुवम् ॥१८॥
नासासेतुश्चिपिटः स्याच्च तेषां साम्यं शीर्णाप्रायशः संभवेद्वै ।
मूर्ध्नोरन्ध्रायत्र नूनं चिरेण—संपूर्णत्वं संभजन्ते विशेषात् ॥१९॥

ऊर्ध्वस्था. ये भेदकास्ते रदास्तु तीक्ष्णा. कीलौपम्ययुक्ता भवेयु. ।
चक्राकारा ओष्ठयोः प्रान्तभागे वाह्ये जायेरन् व्रणा. पूर्णरीत्या ॥२०॥
दीर्घास्थ्नां च स्युः शिरासि प्रकाश स्थूलान्येव नेत्रयोः शुक्ररोग· ।
जायेताथो शोथ एवोपतारि-कायामन्ये चाक्षिरोगा भवेयु· ॥२१॥
कथन सहोपदंशजानां-निखिलानामिह लक्षणमयेत्यम् ।
विहित बहुशो भिषग्जनेर्ज्यैर्गदितानां तु नवैः छपञ्चवृन्दैः ॥२२॥

उपदंश पीडित रोगी के लिये पाणिग्रहण विषयक परामर्श

उपदंश से ग्रस्त स्त्री-पुरुष को विवाह नहीं करना चाहिये। इसका कारण यह है कि पुरुष के शुक्र मे उपदंशाणु उपस्थित रहते हैं। अत पुरुष अपनी स्त्री और अन्यान्य मे उपदंश का उपसर्ग पहुँचा देता है। यदि विवाह के पश्चात उपदंश हुआ हो, तो स्त्री के साथ सहवास नहीं करना चाहिये। यदि दम्पति उपदंश से आक्रान्त हो, तो सम्बन्ध करने पर भी सन्तान नियमन करें। परन्तु उपदंशी पुरुष को सदा विवाह से शून्य करने और स्त्री का सम्बन्ध बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। यह भी देखा जाता है कि यदि उपदंश होने पर उसका उचित उपचार ठीक समय तक किया जावे और उपक्रम पूरा हो जाने के बाद दो साल तक रोग के कुछ लक्षण प्रकट न हो (इस अवधि मे वासर मैन की परीक्षा कई बार करें और उसके बाद भी लक्षण प्रकट न हो) तो उसके बाद रोगी को विवाह की आज्ञा दी जा सकती है। अत. उपक्रम करने के बाद विवाह करने के लिये कम से कम ५ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। इस अवधि के बाद यदि पुरुष स्वस्थ स्त्री के साथ विवाह करे तो उसकी संतान उपदंश से पीडित नही होती है।

स्त्रीजाति में उपदंश का परिणाम

पुरुषों के तुल्य ही स्त्रियों मे भी उपदंश का प्रभाव होता है। परन्तु निम्नलिखित विशेषताएँ देखी जाती हैं। यथा—सन्तानोत्पत्ति की दृष्टि से स्त्री के देह मे उपदंश का दोष सम्पूर्ण रीति से ध्वस नहीं होता है। अत. उपदंश-पीडिता-स्त्री को पुरुष के तुल्य अथवा सन्तानोत्पत्ति के

लिये कोई निश्चित सीमा नहीं कही जा सकती है। यहाँ तक देखा जाता है कि स्त्री को यदि बाल्यावस्था मे उपदंश होता है और ३० वर्ष के बाद यदि उसके सन्तान होती है तो वह भी उपदंश से पीड़ित ही होती है और सगर्भावस्था से शरीरगत उपदंश दोष उद्दीप्त होकर गर्भ को दूषित कर देता है। अनेक वार गर्भ धारण होने पर उत्तरोत्तर उपदंश का गर्भ नाश करनेवाला प्रभाव कम हो जाता है। इससे उपदंशयुक्ता-स्त्री मे प्रारम्भ मे गर्भस्राव इसके बाद गर्भपात, मृतगर्भजन्म और उपदंश युक्त सजीव बालक का जन्म और अन्त मे स्वस्थ बालक का जन्म इस क्रम से गर्भ धारण का इतिहास मिलता है। उवर्युक्त गर्भ धारण का इतिहास यदि किसी स्त्री मे मिले तो वह उपदंश सूचक होता है। परन्तु प्रत्येक गर्भ धारण के बाद निश्चित काल पर गर्भपात या गर्भस्राव का इतिहासोपदंशपरक नहीं होता है। अतः उपदंश से रक्षा करने के लिये गर्भावस्था मे उपदंशनाशक चिकित्सा करे। इससे अधिकतर गर्भ की रक्षा हो जाती है।

पिता से संक्रमण

पुरुप के शरीर से जो संक्रमण होता है वह प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् उसके वीर्य मे उपस्थित उपदंशाणु गर्भाधान के समय ही गर्भ को आक्रान्त कर लेते हैं। इसके बाद वीर्यस्थ उपदंशाणु गर्भ पर संक्रमण नहीं कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि गर्भाशय के द्वार गर्भाधान के पश्चात शीघ्र ही वन्द हो जाता है। यह मार्ग अत्यन्त सामान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त आरोग्य पुरुष उपदंश का नया संक्रमण प्राप्त कर गर्भवती स्त्री को संक्रान्त करके शिशु मे सहजोपदंश पैदा करने के लिये परोक्षभाव से भाग लेता है। यह मार्ग प्रथम मार्ग से सामान्य है।

माता से संक्रमण

माता से रक्त के द्वारा सन्तान मे उपदंश का संक्रमण होता है। जननी गर्भ धारण के पूर्व उपदंश से आक्रान्त हो अथवा गर्भ धारण के

पश्चात् आक्रान्त हो उसके रक्त मे स्थित अथवा प्रविष्ट उपदंशाणु गर्भाशयिक धमनी द्वारा पहले अपरा में चले जाते हैं और वहाँ से आगे मार्ग मिलने पर गर्भ में चले जाते हैं। उपदंश के सक्रमण से शुरू मे अपरा (Placenta) की रक्त-प्रणालियों मे सूजन पैदा हो जाती, जिससे रक्त-सञ्चालन में बाधा पडती है। पहले महीने से तीन मास तक को गर्भस्राव और इसके बाद को गर्भपात कहा जाता है। इससे गर्भस्राव, गर्भपात या मृतगर्भ जन्म तथा उपदंश पीडित बालक अथवा देखने मे स्वस्थ बालक का जन्म होता है। गर्भ धारण के पश्चात् स्त्री जब उपदंश के नूतन संक्रमण से उपसृष्ट होती है, तब संक्रमण काल के अनुसार उसका प्रभाव गर्भ पर होता है।

उपदंश का गर्भपर प्रभाव

यदि पिता से संक्रमण होता है, तो अट्ठाइस प्रतिशत गर्भ नष्ट हो जाते हैं और ३७ प्रतिशत गर्भों मे उपदंशजन्य विकार हो जाते हैं। माता से सक्रमण पहुँचने पर ६० प्रतिशत मृत्यु हो जाती है और २० प्रतिशत विकृति दिखाई पड़ती है। यदि दोनों मे संक्रमण होता है तो ६८.५ प्रतिशत मृत्यु होती है और ९२ प्रतिशत विकृति दिखाई देती है। माता मे संक्रमण होने के बाद तीन वर्ष के अन्दर गर्भाधान से सबसे अधिक गर्भ की मृत्युएँ देखी जाती है और उत्तरोत्तर प्रभाव कम होता जाता है। परन्तु इसका प्रभाव पूर्ण रीति से कभी भी नष्ट नहीं होता है। अत' अन्ततक उपदंशोपसृष्ट बालक पैदा होने की आशा रहती है। पाँच वर्ष के बाद अधिकतर गर्भ पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता है।

उपदंश का गर्भाधानकाल में अनुकूल प्रभाव

यदि गर्भाधान के पूर्व उपदंश का संक्रमण होता है, तो ६५ प्रतिशत गर्भ में ही मृत्यु हो जाती है और ७० प्रतिशत विकृति देखी जाती है। गर्भाधान के पश्चात् उपसर्ग होने पर ३९ प्रतिशत मृत्यु होती है और ७२ प्रतिशत विकृति होती है। गर्भाधान के समय संक्रमण होने पर ७५ प्रतिशत मृत्यु होती है और ९१ प्रतिशत विकृति देखी जाती है।

परन्तु गर्भावस्था के काल के अनुसार इसमें अन्तर होता है। यथा—पॉचवें महीने के पूर्व संक्रमण होने पर अधिकतर सम्पूर्ण गर्भ संक्रान्त होते हैं। इसके पाद पॉचवे महीने के बाद सात मास के अन्दर उपसर्ग होने पर ६० प्रतिशत के लगभग गर्भ बच जाते हैं और शेष संक्रान्त हो जाते हैं। सातवें मास के बाद उपसर्ग होने से प्रायः गर्भ उपदंश से छूट जाते है। इसका कारण यह है कि इस समय अपरा पूर्ण होकर उसमे गर्भरक्षणार्थ एक पदार्थ बन जाता है जो उपदंशाणु को नष्ट करता है।

सहजोपदंश के लक्षण

सहजोपदश मे प्राथमिक-अवस्था का प्रादुर्भाव नहीं होता है। इसलिये संक्रमण स्थानिक न होकर प्रारम्भ से ही व्यापक हो जाता है और जन्म के पूर्व ही सब देह मे व्याप्त हो जाता है। अतः उपदंशोप सर्ग का प्रभाव गर्भ के पोषण पर तथा दैहिक और मानसिक विकास पर भी होता है। इसके अतिरिक्त जन्म के समय बालक के देह पर कई विकृतियॉ दिखाई देती हैं। जो बालक जन्म के समय विकृत या स्वस्थ दशा मे जन्म लेकर जीवित रहते हैं उनका ही विचार यहां पर किया जाता है। जो जन्म के समय मृत हो जाते हैं उनकी विकृतियों का विचार नहीं किया जाता है। सामान्यतया जन्म के बाद तीन मास के अन्दर सहजोपदंश के लक्षण प्रकट होते हैं। ये लक्षण प्रायः द्वितीयावस्था और तृतीयावस्था के होते हैं। फिर सातव वर्ष मे तरुणावस्था और वर्धमानावस्था मे प्रबल लक्षण हो जाते हैं जो अधिकतर तृतीयावस्था के होते हैं। इसमे अन्य आशयों की अपेक्षया यकृत् और प्लीहा अधिक आक्रान्त होती है। हृदय और रक्त प्रणालियों मे विकृति नहीं होती परन्तु मस्तिष्क-संस्थान विकृति हो जाता है।

क्षीरपायी बालक की आकृति

जन्म के समय जो शिशु उपदंशग्रस्त होते है, उनमे अधिकतर बालक शुष्क-क्षीण, रुग्ण, निर्बल, छोटे-नाटे और देखने मे बन्दर की आकृति के प्रतीत होते हैं। सिलवट पडी हुई निर्जीव और भूरेवर्ण की पतली

त्वचा होती है। किसी-किसी वालक के मुख तथा हाथ-पैरों मे शोथ होता है। उदर बडा और त्वचा कुछ नीली मालूम होती है। देखने में ऐसा मालूम होता है कि इसकी आसन्न मृत्यु है। कोई-कोई वालक जन्म के समय स्वस्थाभास मालूम होते हैं। परन्तु २८ दिन मे अधिकतर वालकों मे उपदंश के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। द्वितीय मास के अन्त तक प्रतिशत ८० वालकों मे ये लक्षण होते हैं और ६ महीने के अन्दर तो प्राय सब वालकों में लक्षण प्रकट हो ही जाते हैं। उनका वर्णन नीचे लिखा जाता है।

त्वचागत लक्षण—द्वितीयावस्था के समान अनेक वालकों मे लालवर्ण के विस्फोट देह पर निकल आते हैं। प्राय. ये स्फोट संकोचक पृष्ठभाग पर और गुदा, जंवासा, नितम्व प्रभृति आर्द्र स्थानों पर निकलते हैं। आर्द्रता के कारण उनसे स्राव भी निकलता है। हस्त और पादतल पर वड़े-वडे पूययुक्त फफोले (Bulla) निकल आते हैं। मुख के कोने के पास विस्फोट के कारण विचर्चिका के समान व्रणयुक्त विदार अथवा रेखायें (Rhagades) पैदा हो जाती हैं। व्रण भर जाने पर भी उनके चिह्न स्थायी हो जाते हैं। यह सहजोपदंश सूचक चिह्न है।

यथोक्तं सुश्रुते—

व्रणोति यस्माद् रूढेऽपि व्रणवस्तु न सिध्यति।

आदेह धारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधै.॥

मुख और गुदा के पास अर्श (Condylomate) भी पैदा हो जाता है। त्वचा का पोषण ठीक न होने से उसमें अनेक विकृति हो जाती है और शिर के वाल गिर जाते हैं।

औपदंशिक चिप्प—(Onychia) कुछ नखों के तल मे तथा उनके चारों तरफ सूजन होकर उनसे स्राव निकलता है। कुछ नख रूक्ष और मोटे हो जाते, जिससे उनकी पारदर्शकता नष्ट हो जाती है। कुछ नख गिर पडते हैं।

श्लेष्मलत्वचा की विकृति—मुख, गला, स्वरयन्त्र, नासा आदि स्थानों में व्रण उत्पन्न हो जाते है। स्वरयन्त्र में विकृति होने से रोने के तुल्य वैठा हुआ शब्द निकलता है। नासा मे विकृति होने से श्वास लेने मे

कठिनाई और एक प्रकार का शब्द (Snuffles) निकलता है, तथा दुग्ध पीने मे रुकावट होती है।

अस्थि विकृति—दीर्घास्थियों के आवरण और प्रान्त भाग मे सूजन होने से उनमे पीडनाक्षमता और आमवात के तुल्य पीड़ा होती है। कभी-कभी प्रान्त भाग मध्य भाग से पृथक् होकर शाखाओं का कूटघात (सिफलिटिकस्यूडो पैरालिसिस) हो जाता है। कपालास्थियाँ कहीं पतली और कहीं मोटी हो जाती है। जहाँ पर पतली होती हैं वहां पर दबाने से शुष्क चर्म पत्र (पार्चमेण्ट) के तुल्य मालूम होनी है। परन्तु जहाँ मोटी होती है वहाँ पर गाँठें पैदा हो जाती हैं। ये गाँठें पूर्वतालु के पास होने पर प्यारट की गाँठें (प्यारटस्नोडस्) कहलाती है। कभी-कभी अंगुलि-पर्व में शोथ होकर तक्वीकृति हो जाती है।

अन्यान्य लक्षण—दन्तोत्पत्ति मे कभी शीघ्रता और कभी विलम्ब हाता है तथा ये शीघ्र ही विकृत हो जाते हैं। तारामण्डल और मध्य कर्ण में सूजन होने से बालक बधिर हो जाता है। यकृत् और प्लीहा बढ़ जाती है। रोग-विष से तथा पोषणाभाव होने से रक्तालपता होकर रोगी कृश हो जाता है और उसका स्वभा चिड़चिडा-सा हो जाता है और अतिसार, श्वसनक ज्वर प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें लसीका-ग्रन्थियों की वृद्धि नहीं होती है।

वर्धमानावस्थिक लक्षण

उपरोक्त वर्णित रोगों और उपद्रवों से युक्त बालक यदि १-१॥ वर्ष तक जीवित रहे, तो इसके बाद अधिकतर सम्पूर्ण लक्षण कुछ वर्ष में दूर हो जाते हैं। परन्तु इस अवधि में बालक की वृद्धि ठीक रूप से नहीं होती है। सातवें और चौदहवें वर्ष के अन्दर फिर से प्रबल लक्षण हो जाते हैं।

हचिसन के दांतों का वर्णन—स्थायी दाँत एक दूसरे से पृथक्-पृथक् छोटे, नुकीले और दन्तुरित (नोच्ड) होते हैं। मुख्यतया यह विकृति राजदन्तों (अपर सेन्ट्रलसीजर्स) में दिखलाई पड़ती है।

मून के दांतों का वर्णन—उपर्युक्त विकृति के अतिरिक्त प्रथम चर्वणक (मोलर) दंत गर्तयुक्त (डोमशेप्ड) हो जाते हैं। इनको मून के दाँत

कहते हैं। ये दोनों प्रकार के दाँत सहज उपदंश के मुख्य लक्षण से युक्त होते हैं। परन्तु दोनों मे अन्तर यह होता है कि सब आतुरों मे हचिंसन के दाँत नहीं निकलते हैं तथा २० वर्ष की आयु के पश्चात् ठीक हो जाते हैं। मून के दाँत सब रोगियों मे होते हैं और सर्वदा के लिये विकृत हो जाते हैं।

आन्तरिक स्वच्छमण्डल शोथ

(Interstitialkeratitis)

नेत्र के स्वच्छमण्डल (कॉर्निया) मे सूजन पैदा हो जाती है। इसको 'आन्तरिक स्वच्छमण्डल शोथ' कहते हैं। यह सूजन पहले एक चक्षु में और बाद को दूसरी चक्षु मे शुरू हो जाती है। इससे स्वच्छ-मण्डल पहले धुंधला होकर बाद मे घिसे हुये काच के समान श्वेत हो जाता है। इसका प्रतिकार करने से इसकी सफेदी बहुत कुछ दूर हो जाती है। परन्तु कुछ शेष भी रह जाती है। इसमे पुनरावर्त्तन की प्रवृत्ति होती है। नेत्र के अन्यान्य रोगों मे यह रोग वंशज उपदंश का मुख्य परिचायक है।

कर्णरोग—कर्ण मे कर्णक्ष्वेद पैदा होकर बहरापन हो जाता है। अधिकतर पीड़ा और स्राव नहीं होता है। प्रतिकार से बधिरता दूर हो जाती है। कभी-कभी नहीं भी दूर होती है। सन्धियों की श्लेष्म-कला मे सूजन हो जाती है। परन्तु, पीड़ा नही होती है। अधिकतर यह विकृति, जानु तथा अन्य बड़ी सन्धियों मे होती है। इस अवस्था मे त्वचा, आभ्यन्तरिक आशय और मस्तिष्क संस्थान विकृत नहीं होते हैं।

उत्तरकालिक लक्षण

इसमे १५ वर्ष के बाद होनेवाले रोगों का अन्तर्भाव किया जाता है। ये सब शैशवीय उपदंश के ही परिणाम हैं। यह कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है, इसे स्मरण रखना चाहिये। इस अवस्था मे मुख के समीप चारों तरफ व्रणवस्तु रेखायें दिखलाई पडती हैं और मुख के अन्दर गले और तालु पर भी वैसी ही व्रणवस्तुएँ होती है। तालु अधिक ऊँचा होकर उसमे रन्ध्र हो जाता है। बेडौल खोपडी होती है। ललाट पटल विस्तृत और उसके दोनों विभाग अधिक उठे हुए होते हैं। घोड़े के जीन की

भाँति नासिका मध्य में बैठी हुई मालूम होती है। अन्तर्जंघास्थियाँ खम्भ के तुल्य टेढ़ी और चपटी हो जाती है और द्रवयुक्त सविशोथ होने से उनके स्वरूप में विषमता आ जाती है। श्वेतमण्डल में सूजन कम हो जाती है और उसमे धुँधलापन रहता है। तारामण्डल तथा अन्य अङ्गों मे सूजन होने से दृष्टिमान्द्य हो जाता है। कर्ण बाधिर्य, वर्धमानावस्था के तुल्य दाँत नोकदार और छोटे दन्तुर होते हैं।

उपदंश के कारण शारीरिक और मानसिक विकास उचित मात्रा से नहीं हो पाता है। जिससे रोगी सहजोपदंशी, क्षुद्र शरीर वाला, पतला, दुर्बल, मन्द बुद्धि, उन्मादी और अज्ञानी होता है। इनके अतिरिक्त औपदंशिकोन्माद और खञ्जता ये दो मुख्य रोग होते हैं। इसके साथ-साथ अंगवातादि लक्षण भी पैदा हो जाते हैं। स्त्रियों में गर्भपातादि के लक्षण देखे जाते हैं। पुरुष अपनी सन्तान मे भी उपदंश का संक्रमण पहुँचा देते हैं। अतएव यह उपदंश सहज और परम्परायुक्त होता है जो आगे पीढ़ियों में भी इस भाँति संचरण करता रहता है।

यथोक्तम्—

शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं स दारं बाधते नरम्।

रोग निर्णय

पूर्वोक्त लक्षणों को देखकर सहजोपदंशका निर्णय करना चाहिये।

आणुवीक्षणिक परीक्षा—सहजोपदंश पीड़ित बालक की त्वचा तथा श्लेष्मलत्वचा के व्रणस्राव मे विशेषकर फफोले के स्राव, नासास्राव, मल, मूत्र, पित्त, रक्त, यकृत् और प्लीहा मे तथा शरीरान्तर्गत सब अंगों मे उपदंश के असंख्य जीवाणु विद्यमान होते हैं। इन स्थानों के स्राव या रस लेकर उसकी परीक्षा रंजन विधि से करने पर जीवाणु दिखलाई देते हैं।

भावीफल

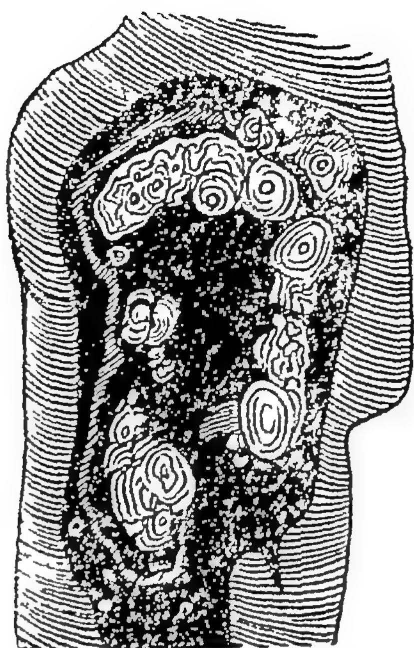
वंशज उपदंश सौम्य नहीं है। इसकी प्रवृत्ति घातक होती है और कदाचित् रोगी बच भी जावे तो उसका जीवन अत्यन्त दुःखदायी होता है।

उपदंशजनित चर्मपुष्पिका (Exanthema)

(वंशगत रोग का आदर्श)



यह चित्र एक क्षुद्र शिशु का है। इसकी आयु चार सप्ताह की है। इसका वजन ५३/४ पौण्ड है। शिशु अति कृश है। सर्दी और खांसी भी आती है। शरीर की त्वचा सिकुर कर हस्तिचर्म के तुल्य असमृण हो गई है। शरीर रक्तहीन, मलिन और क्षीणतापूर्ण है। चर्म के ऊपर कण्डूसमूह विद्यमान है। मस्तक और मुखपर असख्य पिडिकाएँ निकली हुई हैं। वक्षस्थल और दोनों हाथों में सिर्फ पूयपूर्ण दो-चार पिडिकाएं हैं। यह पिता-माता के उपदंश का फल है।



औपदंशिक ग्रन्थिक्षत का चित्र

औपदंशिक ग्रीवास्तम्भ
(टार्टिकोलिस)

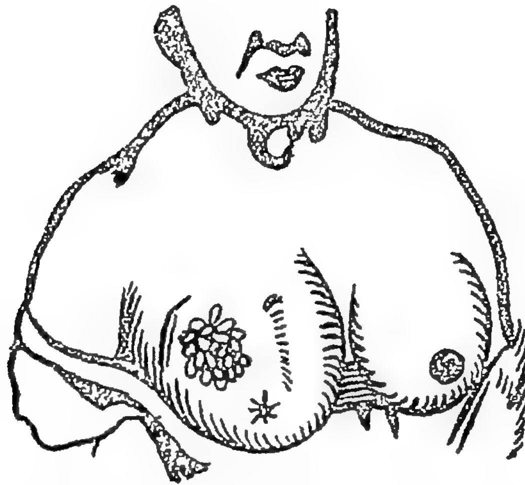


औपदंशिक ग्रीवास्तम्भ का चित्र

उपदंश जनित ग्रीवास्तम्भ में ग्रीवासन्धि के समीप की शिरा प्रशिराओं का संकोच हो जाता है और पेशियों में आक्षेप होने से ग्रीवा का एक भाग संकुचित हो जाता है। मस्तक स्कन्ध की तरफ झुक जाता है। तरुण व्यक्ति के स्वस्थ शरीर में उपदंश रोग के भावी फलस्वरूप यह रोग उत्पन्न होता है। माता-पिता के पाप से नवप्रसूत सन्तानों में भी यह रोग देखा जाता है।

इस रोग का कारण—शोणित और पैशिकक्रिया समुदाय की विकृति, शिरा-प्रशिराओं का आक्षेप एवं जरायु की विविध पीड़ा आदि है।

औपदंशिक क्षतजन्य स्तनवृन्त के संकोच का चित्र



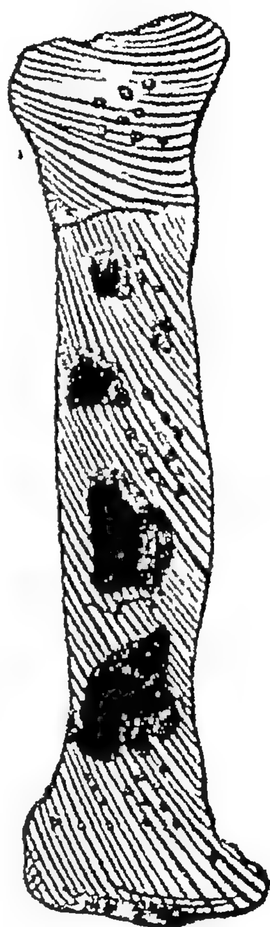
इस चित्र में रमणी के दाहिने स्तन के चर्म के ऊपर बहुत-सी अर्बुद के आकारवाली गाठे उत्पन्न हो गई हैं, जिससे स्तनवृन्त संकुचित हो गया है। वामस्तन के वृन्त का जो रूप स्वाभाविक अवस्था में है दक्षिण स्तन का वही अंश विकृत अवस्था को प्राप्त हो गया है और वे अर्बुदाकार गाँठें छोटे-छोटे फोडे के रूप मे परिणत हो गयी हैं। जब यह रोग चर्म के ऊपर आभ्यन्तरिक पेशियों में पहुँचता है उस समय ये क्षत विशेष कष्टदायक होते हैं। रोगी दुर्वल (क्षीण) हो जाता है। कभी-कभी ये ग्रन्थियाँ स्थायी रूप को धारण कर लेती है। पीडित अंश की ओर का हाथ फूल जाता है। यह रोग सीमा विशिष्ट होता है। कभी रोगिणी १५ या २५ वर्ष तक रोग को भोगती रहती है।

औपदंशिक श्रोत्रियार्बुद का चित्र



इस चित्र में रोगिणी के कान के निम्न प्रदेश मे उपदंश जनित अर्बुद उत्पन्न हुवा दिखलाई पड़ता है। उसके मध्य मे मांस के पिण्ड के तुल्य पदार्थ मालूम होता है। उसको दवाने से किसी प्रकार की पीड़ा मालूम नहीं होती है तथा स्थानिक यंत्रणाभी नहीं होती। पहले इसमे एक प्रकार की उत्तेजना मालूम होती है और इसके वाद यंत्रणा की प्रतीति होती है। इसकी चिकित्सा औपदंशिक अर्वुद के तुल्य करनी चाहिये।

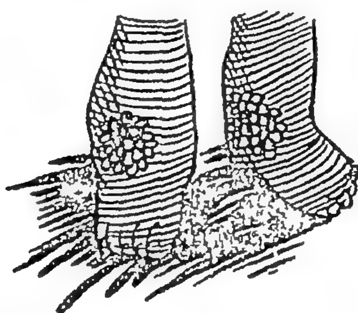
औपदंशिक भोपण अस्थिपूति (निक्रोसिस्) का चित्र



उपदंश रोग मे पारददोष, वा रोगविष, अस्थि के सारांश को विकृत करके उसको नष्टास्थि मे परिणत कर देता है और अस्थि के अन्दर की मज्जा का क्षय करके अस्थि को खोखला कर देता है। यह अवस्था वड़ी भयानक है। जो ऊपर दिये गये चित्र से स्पष्ट मालूम होता है।

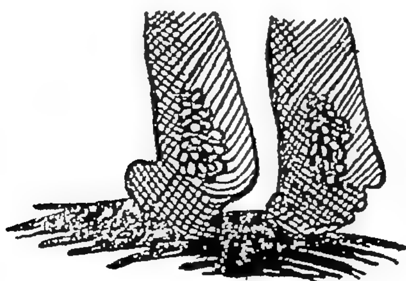
उपदंशजनित श्लीपद का चित्र

निम्न प्रदर्शित चित्र उपदंश रोग के फलस्वरूप श्लीपद रोग का है। यह उपदंशजनित रक्तविकृति का फल है। पार्ष्णि (एडी) के चारों तरफ



श्लीपद के तुल्य मांसपिण्ड उत्पन्न हो गया है। यह रक्तविकृति से ही उत्पन्न हुवा है। इस रक्तविकृति के मूल में उपदंश का दोष विद्यमान है।

द्वितीय औपदंशिक श्लीपद का चित्र



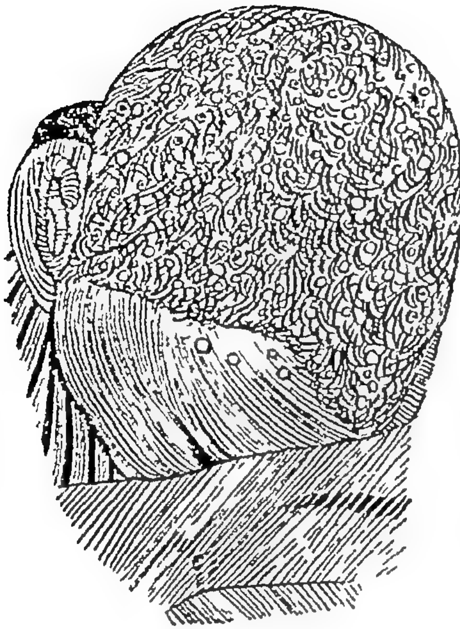
इस चित्र में दोनों पैरों के पश्चात् भाग में उपमांस पिण्ड उत्पन्न हो गया है।

औपदंशिक स्तनविवृद्धि का चित्र

इस व्याधि मे रोगिणी के दोनों स्तनों मे ग्रन्थि उत्पन्न होकर अस्वाभाविक रूप से उनमे वृद्धि हो गई है। किसी-किसी स्थल मे स्तन का शेषांश मृदु मांसमयीस्तन वृद्धि से युक्त होता है और कहीं-कहीं पर कठिन हो जाता है। अथवा दोनों तरफ के शेष भाग मे दृढ़मांसपिण्ड



के तुल्य पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। दोनों स्तनों का भाग बहुत बढ़ जाता है। यौवन काल मे यह रोग बहुत उत्पन्न होता है। यही विवृद्धि परिणत अवस्था मे होने पर रोगिणी को बहुत दु.ख होता है। कभी-कभी स्तन का भार इतना अधिक बढ़ जाता है कि रोगिणी दोनों जानुओं के ऊपर उनको रखता है। इसमे कोई कष्ट नहीं होता है। कभी-कभी स्नायुशूल के तुल्य वेदना उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में दोनों स्तनों की स्वाभाविक क्रिया मे कमी हो जाती है। गर्भावस्था मे दुग्ध का संचार नहीं होता है। इसकी चिकित्सा उपदंश की रीति से करनी चाहिये।

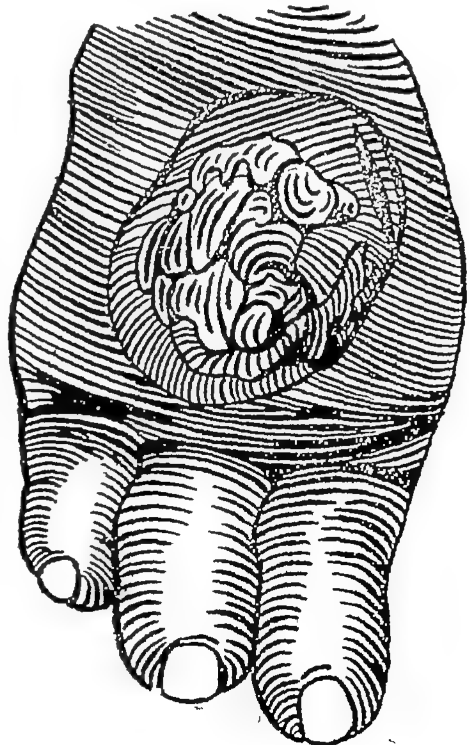


औपदंशिक केशहीनता का चित्र

इस उपदंश-रोगी को एक वार उपदंश का क्षत हुवा था। परन्तु फिर दूसरी वार उपसर्ग के साथ प्रकाशित हुवा। जिसका चित्र ऊपर दिया है। कपाल और मस्तक के ऊपर मसूर के तुल्य पिडिकायें निकल आई हैं। इनमे अनेक सूखी हुई और अनेक पूयपूर्ण हैं। जिन स्थानों का घाव सूख गया है वहाँ के वाल गिर गये हैं तथा वहाँ का चर्म चिकना एवं क्षत-चिह्नयुक्त हो गया है।

औपदंशिक गलितक्षत का चित्र

रोगिणी के वामपाद के ऊपर का क्षत चित्र में दिखलाया गया है। क्षत गम्भीर, गोलाकार एवं गलित अवस्था से युक्त है। यह क्रमशः वढ कर त्वचा से मांस तक पहुच गया है। विशेष चिकित्सा से इसमें लाभ हो सकता है। त्वचा की विकृति मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है। क्षत का जो स्थान अच्छा होता है उसके ऊपर लाल दाग पड जाता है।



औपदंशिक गलगण्ड का चित्र

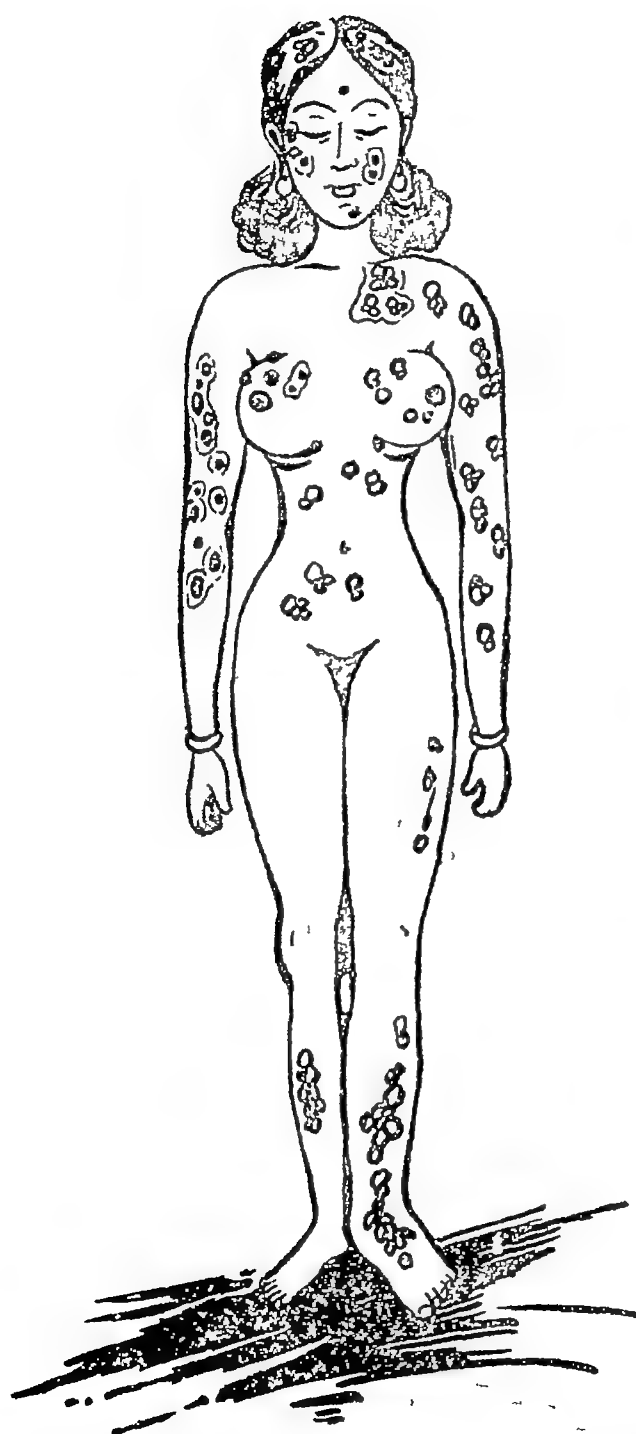


इस चित्र मे रोगिणी का रोग गलगण्ड के आकार को धारण करता है। किन्तु सामान्य गलगण्ड से यह भिन्न प्रकार का होता है। इसका वाम पार्श्व दक्षिण पार्श्व की अपेक्षा अधिक फूला हुवा होता है और अङ्गुली से छूने पर कोमल और स्थिति-स्थापक मालूम होता है। दबाने पर इसमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती है। रोगी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है। रोग के आरम्भकाल में इसके अन्दर की ग्रन्थि मृदु होती है। चिरकाल तक औषधोपचार न करने से अन्दर की ग्रन्थि कड़ी पड़ जाती है। यह औपदंशिक गलगण्ड माता-पिता के औपदंशिक विष से सन्तति मे पैदा हो जाता है।

औपदंशिक अर्बुद का चित्र



इस चित्र मे पुरुष के गण्डस्थल मे उपदंशजनित अर्बुद दिखलाया गया है। यह कर्णमूल के नीचे से आरम्भ होकर दक्षिण चिबुक के शेष भाग तक फैल जाता है। इसको केवल दैहिक विकृति ही नहीं समझनी चाहिये वरन् इसके भार से रोगी को समय-समय पर बड़ा कष्ट होता है। इस अर्बुद के अन्दर का भाग अनेक प्रकार के ग्रन्थिमय पिण्डाकार मांसपेशियों से परिपूर्ण रहता है। अनेक चिकित्सकों के मत से यह भी रक्तविकृति का ही फल है। इस रोग की प्रथम अवस्था मे चिकित्सा करने से उपयुक्त फल होता है।

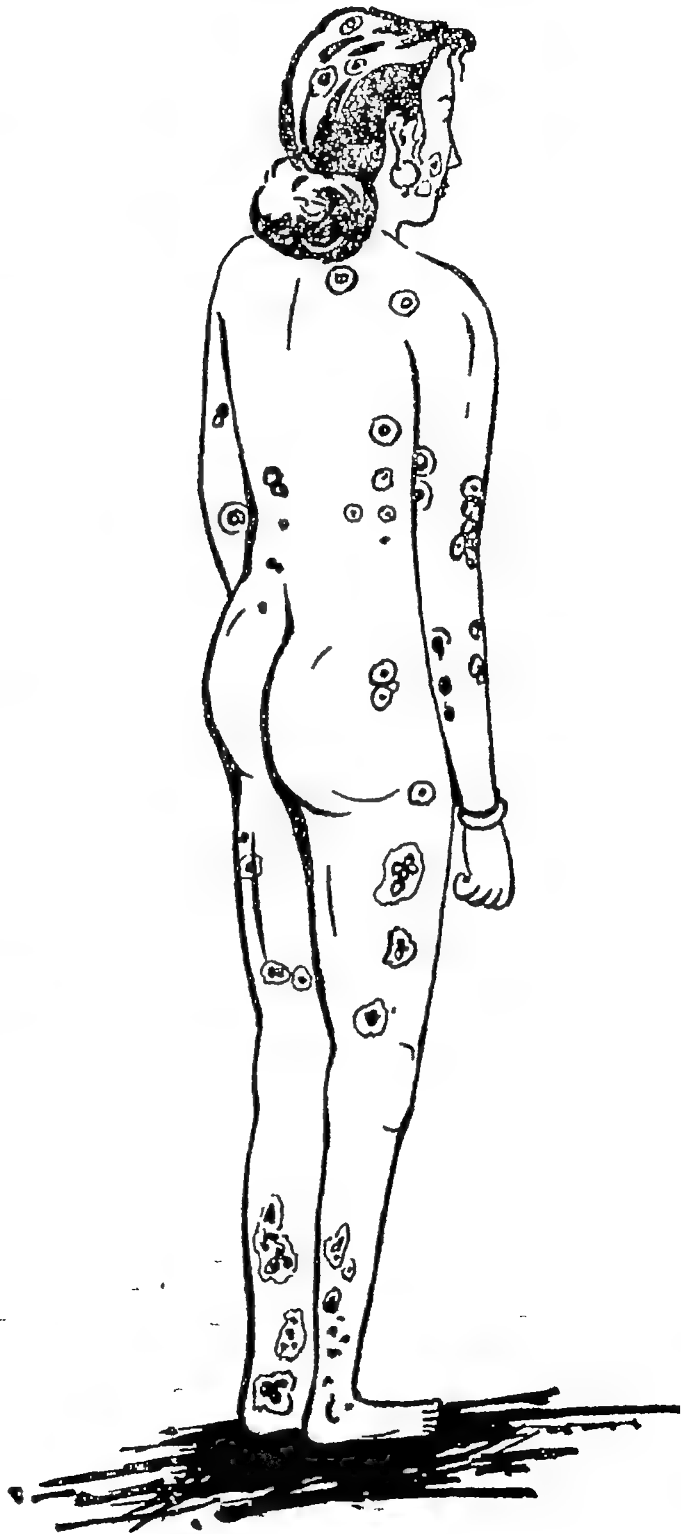


औपदंशिक रक्तविकृति का चित्र

इस चित्र में रोगिणी का सम्मुख भाग प्रदर्शित किया गया है। स्त्री युवती है। इसके सम्पूर्ण अङ्ग में विशेषकरके मुख, कपाल, वक्षप्रदेश और दाहिने हाथ-पैर में पिडिका के आकार में कण्डू प्रकाशित हो गई है। इस समय कण्डू पूय-पूर्ण नहीं रहती है। दाहिने पैर में कम पिडिकायें निकली हैं। परन्तु वामपाद के गुल्फ के ऊपर इनका अभाव नहीं है। वामपाद और ग्रन्थियाँ अस्वाभाविक रूप से फूल गई हैं और उनमें पूयपूर्ण गुटिकायें निकल आई हैं। इस पीड़ा के उत्पन्न होने से रोगिणी की स्वाभाविक श्री बदल गई है। इसकी औपदंशिक चिकित्सा रक्तविकृति के तुल्य ही करनी पडती है।

औपदंशिक पामा का चित्र

इस चित्र मे रोगिणी का पश्चाद्-भाग प्रदर्शित है। इसमे दद्रु के तुल्य गोल आकारकेक्षत है। खाज की पिडिकाओंके फट जाने पर ऐसा क्षत हो जाता है। मातृ - पितृ जनित वंश-गत उपदंश के विष का यह फल है। इसकी चिकित्सा औपदंशिक रक्तविकृतिके तुल्य करने पर विशेष लाभ होता है।



विविध आभ्यन्तरिक यंत्र को औपदंशिक पीड़ा

मस्तिष्क और कशेरुका मज्जा का उपदंश

इसमें अधोलिखित विकार-समूह उत्पन्न होते हैं :—

(१) निर्यासवद् ग्रन्थि (गमेटा)—इससे मटर के आकार से लेकर अखरोट के बराबर का विशेष प्रकारवाला अर्बुद (ट्यूमर) बन जाता है। और ये अधिक संख्या में होते हैं। ये मस्तिष्कावरणी-कला (पायामेटर) कभी-कभी मस्तिष्क बाह्यावरणी-कला (ड्यूरामेटर) में सलग्न होते हैं। ये सम्पूर्ण अर्बुद शिरोवर (सेरिब्रम) में अधिक होते हैं और अनेक समय में विलक्षण आकार को प्राप्त हो जाते हैं। कशेरुका की मज्जा में जो निर्यासवद् ग्रन्थियाँ (गमेटा) होती हैं उनका आकार इतना बड़ा नहीं होता।

(२) निर्यासवद् ग्रन्थि सम्बन्धीय मस्तिष्क परिवेष्टनी-कला-प्रदाह (गमेटस मेनिआइटिस)—बड़े आकार की नैर्यासिक ग्रन्थियाँ (गमेटा) अर्बुद के समीपवर्ती स्थान में उत्पन्न होकर इस प्रकार मस्तिष्क परिवेष्टनी कला-प्रदाह (मेनिञ्जाइटिस्) प्रकाशित हो जाता है। मस्तिष्क परिवेष्टनी-कला विस्तृत स्थान में प्राप्त होकर स्थूल हो जाता है। मस्तिष्क अन्तरा-वरण (Piamater) में रसोत्सृजन (इन्फिल्ट्रेशन) होता है और धमनियाँ अत्यन्त स्थूल हो जाती है।

(३) निर्यासवद् ग्रन्थीय धमनी-प्रदाह (गमेटस् आर्टिराइटिस्)—सम्पूर्ण धमनियाँ विकारग्रस्त हो जाती हैं। ये वर्तुलाकार अर्बुद (नोड्य,लरट्यूमर) से आक्रान्त दिखलाई पड़ती हैं। इस विषय का वर्णन आगे किया जायेगा।

(४) स्थान-स्थान पर स्क्लेरोसिस् नामक स्थूलता और दृढ़ीभूत लक्षित होता है।

(५) स्थानिक मस्तिष्क-प्रदाह (एनसेफेलाइटिस्) या मज्जा प्रदाह (माइलाइटिस्)—अनेक स्थलों में ये पीड़ाएँ उत्पन्न होती हुई दिखलाई पड़ती हैं। किन्तु, रक्त-प्रणालियों के बिना आक्रान्त हुए इन पीड़ाओं का उत्पन्न होना सन्देहजनक है।

उपदंशजनित विविध गौण परिवर्तन

निर्यासवद्ग्रन्थीय धमनी-प्रदाह (गमेटस् आर्टराइटिस) से साधारणत. मस्तिष्क मे कोमलता उपस्थित होकर विस्तीर्ण स्थान मे व्याप्त हो जाती है। यथा—मध्य मे मिञ्जिपेल (मस्तिष्कावरणी) धमनी विकारग्रस्त हो जाती है अथवा व्यापक स्थान में औपदंशिक मस्तिष्क परिवेष्टनी कला प्रदाह (मेनिञ्जाइटिस्) वर्तमान रहता है और इन सब स्थानों मे विकार-प्रक्रिया प्रकृत पक्ष मे मस्तिष्कावरण की झिल्ली और मस्तिष्क - प्रदाह (मेनिन्गो-एन्सेफेलाइटिस्) मे होती हैं। जो सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित होते हैं वे साक्षात् सम्बन्ध से ग्रन्थि (गमा) जनित नहीं होते। फलस्वरूप मस्तिष्क के पदार्थ मे गौण परिवर्तन से ये सम्पूर्ण लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। गमेटस् (निर्यास-वद्ग्रन्थीय) वर्द्धन के कुछ समय पूर्व प्रवल मास्तिष्क्य प्रदाह (एन्सेफे-लाइटिस्) वा कशेरुका मज्जा प्रदाह (माइयेलाइटिस) उत्पन्न हो जाता है। ऐसा होने पर लक्षणादिकों मे विलक्षण परिवर्तन हो जाता है। गमेटस् आर्टिराटिस (उपदंशिकार्बुदभारजन्य धमनी प्रदाह) मे रक्तप्रणाली का प्राचीर क्षीण होकर विच्छिन्न हो जाता है और मस्तिष्कावरण झिल्ली के मध्य मे रक्तस्राव उपस्थित हो जाता है। वंशावली क्रम से आगत या अर्जित दोनों प्रकार के उपदंश से नाड़ीमूल मे पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। किन्तु प्रधानत अर्जित उपदंश मे ही नाड़ी-केन्द्र आक्रान्त होता है। आजन्म उपदंश के रोग में अर्बुद अधिकतर शैशवावस्था मे प्रकाशित होता है। किन्तु डाक्टर उड् महोदय कहते हैं कि यह इक्कीस वर्ष की अवस्था मे भी प्रकाशित होते हुए देखा जाता है। अर्जित उपदश मे नाड़ी-पीडा वहुत काल के वाद प्रकाशित होती है। यहॉ तक कि अनेक स्थान मे रोगी को याद भी नहीं रहता है कि आद्यक्षत हुआ था या नहीं। अनेक स्थल मे गौण उपदश के सम्पूर्ण लक्षण अति समान रूप से प्रकाशित होते हैं। आद्यक्षत के तीस वर्ष वाद नाड़ी विकार उत्पन्न हो जाता है अथवा यह अति शीघ्र उपस्थित हो जाता है। आद्यक्षत के तीन मास के मध्य द्रुताक्षेप और पार्श्वार्द्धाङ्ग पक्षाघात

प्रकाशित हो जाता है। उपदंश रोग की द्वितीय अवस्था मे भी सम्पूर्ण नाड़ी सम्बन्धी लक्षण कभी-कभी ही प्रकाशित होते हैं।

लक्षण

वृहन्मस्तिष्केय उपदंश (सेरिब्रेलसिफिलिस्) मे अर्बुदजनित सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित होकर सहसा प्रवल प्रलाप उपस्थित हो जाता है। किसी-किसी स्थल में प्रलाप प्रकाशित होने के पूर्व शिर मे पीड़ा होती है, रोगी की प्रकृति वदल जाती है और स्मरणशक्ति का लोप हो जाता है तथा इनके साथ-साथ द्रुताक्षेप भी उपस्थित हो जाता हैं। नाडी-प्रदाह (न्यूराइटिस्) पक्षाघात और किसी प्रकार के स्थानिक लक्षण आदि मे प्रकाशित नहीं होते है।

साधारणतः शिर मे पीड़ा, शिरोघूर्णन (शिर को इधर-उधर चलाना) वा नाडी सम्वन्धी उग्रता की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। यहाँ तक कि प्रलाप प्रकाशित होने के बाद रोगी मृगी रोग से आक्रान्त हो जाता है। अथवा पार्श्वार्द्धाङ्ग मे पक्षाघात उपस्थित हो जाता है। अथवा मस्तिष्क के तलदेशस्थ सम्पूर्ण नाडी विकार से ग्रस्त हो जाती है। किसी-किसी स्थल मे डिमेन्सिया पैरालेटिका नामक सार्वाङ्गिक पक्षाघात के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। डाक्टर सिकल् कहते हैं कि उपदंश से मस्तिष्क मे साक्षात् सम्बन्ध से प्रादाहिक परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। अन्य किसी-किसी स्थल मे उपदंश से इस प्रादाहिक पीडा की वशवर्तिता उपस्थित हो जाती है। जिन स्थानों मे सार्वाङ्गिक नाड़ीय अवसाद (जेनरल पैरेलिसिस) दिखलाई पड़ता है उन स्थानों मे अधिकतर देखा जाता है कि कोई स्थानिक लक्षण प्रकाशित नही होते। इन सव स्थलों मे परिणत अवस्था के प्राप्त होने के पूर्व द्रुताक्षेप उपस्थित नहीं हो सकता है।

मस्तिष्क सम्बन्धी उपदंश के अनेक स्थल में मस्तिष्क मे वर्तमान अर्बुद के सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। जैसे शिर मे पीडा, आप्टिक न्यूराइटिस् (दृष्टिनाड़ी-प्रदाह), वमन और द्रुताक्षेप इस रोग का सर्व प्रधान लक्षण है। अनेक चिकित्सकों का

मत है कि तीस वर्ष से ऊपर अवस्था वाले व्यक्तियों को द्रुताक्षेप मस्तिष्क के उपदंश का निर्देशक लक्षण है। कभी-कभी इस रोग में एम्बोलिज्म (शिरावरोध) वा थ्रम्बोसिस् (शिराप्रदाह) के अनुकूल सम्पूर्ण लक्षण सबसे पहले उत्पन्न हो जाते है। जैसे सहसा पार्श्वार्द्धाङ्ग पक्षाघात उपस्थित होकर उसके साथ-साथ चैतन्यता का लोप हो जाता है अथवा नहीं भी होता है।

कशेरुका की मज्जा सम्बन्धी उपदंश मे विभिन्न प्रकार से लक्षण प्रकाशित होते हैं। मस्तिष्कावरण (मेनिञ्जस) मे बडे-बड़े आकार की निर्यासवद् ग्रन्थि (गमेटा) जनित वर्द्धन के सलग्न होने पर सम्पूर्ण लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस स्थल में कशेरुका की मज्जा मे अवुद के वर्तमान होने पर सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। अथवा गमेटस आर्टिराइटिस् (निर्यासवद् ग्रन्थि सम्बन्धीय धमनी प्रदाह) और उसकी सहवर्ती गौण के मलीभूति वा मज्जा के गौण परिवर्तन का सहयोगी मस्तिष्क परिवेष्टनी कला प्रदाह अथवा विलम्ब से उत्पन्न दृढीभूति (स्क्लेरोसिस्) से भिन्न-भिन्न प्रकार के लक्षण उपस्थित हो जाते है।

फुफ्फुसीयोपदंश

यह वहुत कम देखा जाता है। इसमे श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) अथवा पुरातन सूक्ष्म कोपाणु माध्यमिक श्वसनक-ज्वर (Interstitial Pneumonia) के लक्षण प्रकाशित होते है। इस रोग का निर्णय करना कठिन हो जाता है।

यकृत् का उपदंश

उपदंश में प्राय: यह अग विकृत हो जाता है और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों मे इसकी विकृति अधिक देखी जाती है। इसमें विकृति तीन प्रकार से प्रकाशित होती है।

(१) व्यासोपदंशज याकृत् शोथ (डिफ्यूज सिफिलिटिक हिपेटाइटिस)—इसकी उत्पत्ति प्राय आजन्म उपदंश में होती हैं। यकृत् के अवयव ठीक रहते हैं। किन्तु ये वड़े, दृढ़ और कठिन हो जाते हैं।

(२) निर्यासिक ग्रन्थि (गमेटा)—वंशज उपदंश, शैशवावस्था अथवा प्रौढावस्था में निर्यासिक ग्रन्थि (गमेटा) यकृत् मे उत्पन्न हो जाते हैं।

(३) कभी-कभी ग्लिसनाविष्कृत कोष (ग्लिसन्) की थैली (Sheath) मे प्रधानतया औपदंशिक परिवर्तन दिखलाई देने लगते हैं, कोष स्थूल हो जाते हैं और यकृत् परिवेष्टनीकलीयशोथ (पेरिहिपेटाइटिस) उत्पन्न हो जाता है।

लक्षण—औपदंशिक यकृत् प्रदाह से विभिन्न प्रकार के लक्षण प्रकाशित होते हैं। इस पीडा से सद्योजात शिशु को अनेक स्थलों मे पाण्डुरोग उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इसमें यकृत की प्रकृत अवस्था का निर्णय करना कठिन है। इस रोग मे प्रौढ व्यक्ति मे दो श्रेणी के लक्षण देखे जाते हैं।

(१) रोगी यकृत के सिरोसिस् (संकोचजन्यकर्कशत्व) के लक्षण से युक्त रहता है। सामान्य पाण्डुता उपस्थित होकर देह का परिमाण घट जाता है और उदरी (एसाइटिस्) प्रकाशित हो जाता है। यकृत् अत्यन्त अनियमित और विषम आकार को धारण करता है। उपयुक्त चिकित्सा करने से रोगी अच्छा हो जाता है।

(२) अन्य श्रेणी के लक्षणों से युक्त रोगी नीरक्तावस्था से ग्रस्त हो जाता है। उसका प्रचुर परिमाण मे लघु वर्ण हो जाता है। अल्ब्यूमिन् और ट्यूबकास्ट्स विशिष्ट पेशाब निकलता है। यकृत् और प्लीहा विषमाकार मे वढ जाती है। सार्वाङ्गिक शोथ उत्पन्न हो जाता है। अथवा कोई विषम उपसर्ग उपस्थित होकर रोगी के प्राण नष्ट हो जाते हैं।

अन्नवहानाली का उपदंश

अन्नवहानाली मे औपदंशिक पीडा बहुत कम देखी जाती है। इससे अन्नवहानाली मे सकुचता उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी पक्वाशय मे ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और पक्वाशय, क्षुद्रान्त्र एव उद्ध्र्वगुद (सीकम्) मे औपदंशिक क्षत देखा जाता है। सम्पूर्ण अन्नवहानाली के मध्य मे मलाशय (रेक्टम्) औपदंशिक पीडा के अधिक वशवर्ती

होती है। स्त्रियों मे यह पीडा अधिक देखी जाती है। मलद्वार की आभ्यन्तरिक अवरोधक पेशी (स्फिन्कटर) के ऊपर की श्लैष्मिक-झिल्ली के निम्न विधान (सब्म्यूकोसा) मे निर्यासवद् ग्रन्थि (गमेटा) उत्पन्न हो जाती है। चिरकाल के बाद मलाशय मे संकोच और अवरोध उत्पन्न हो जाता है। मलाशय की परीक्षा से इस रोग का निर्णय किया जाता है।

रक्त सञ्चालक विधान का उपदंश

हृदय का उपदंश

उपदंश रोग से तरुण अभिमांस विशिष्ट हृद्गह्वर की परिवेष्टनी कला मे प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। जीवित अवस्थामे इस रोग का निर्णय नहीं किया जा सकता है। हृदय-कपाट मे औपदंशिक गमेटा (निर्यासवद् ग्रन्थि) जनित वर्द्धन का विवरण वर्णित है। इस पीडा मे निर्दिष्ट गमेटा (निर्यासवद् ग्रन्थि) के आकार मे वा व्याप्त सौत्रिक दृढ़ीभूति (फाइब्रस् इन्ड्यूरेशन्) के रूप मे हृदय पेशी प्रदाह (माइयोकार्डाइटिस्) उत्पन्न हो जाता है। हृद्पिण्ड की औपदंशिक पीड़ा से हृत्प्राचीर विदीर्ण हो जाती है। अथवासहसा मृत्यु हो जाती है।

धमनी जनित उपदंश

धमनी प्राचीर की स्थूलता और दृढीभूति (स्क्लेरोसिस्) धमन्यर्वुद (एन्यूरिज्म्) रोग उपदंशजनित ही गिने जाते हैं। इस विषय का यहाँ पर वर्णन नहीं किया जायगा। यहाँ पर केवल औपदंशिक धमनी प्रदाह (आर्टिराइटिस्) के सम्बन्ध मे उल्लेख किया जावेगा। यह दो प्रकार से प्रकाशित होता है।

आभ्यन्तरिक धमनी प्रदाह (आफ्लिटेरेटिङ्ग एन्डार्टिराइटिस्)—इसमें एण्डोथिलियम् (अन्तस्त्वक्) के नीचे के तन्तु बढ जाते हैं और क्रमशः नली की समुदायवृत्ति इससे परिपूरित होकर नली का अवरोध उपस्थित हो जाता है। यद्यपि यह अवस्था उपदंश का निर्दिष्ट लक्षण नहीं है

फिर भी यदि इस अवस्था के साथ देह के अन्य स्थान में निर्यासवद् ग्रन्थि (गमेटा) वर्तमान रहती है अथवा समीप की धमनियों में गमेटस् पेरिआर्टिराइटिस् (उपदंशीय ग्रन्थि जन्य परिधमनी प्रदाह) लक्षित हो, तो इस अवस्था को उपदंश जनित जानना चाहिये।

औपदंशिक ग्रन्थिभारजन्य परिधमनी प्रदाह (गमेटस पेरिआर्टिराइटिस)—इसमें धमनी के गात्र में गोलाकार वा अण्डाकार गमेटाजनित स्फीति उत्पन्न हो जाती है। यह स्फीति यथेष्ट परिमाण में बढ जाती है। इस प्रकार की स्फीति अधिकाश स्थल में बृहन्मास्तिष्केय (सेरिब्रल) धमनी में उत्पन्न होती है। यह अवस्था अधिकतर क्षुद्रतरधमनियों मे उत्पन्न होती है। इससे विशेष कर मस्तिष्क की क्षुद्रतरधमनियां आक्रान्त हो जाती हैं।

मूत्रग्रन्थि का उपदंश

कभी-कभी वृक मे निर्यासवद् ग्रन्थि (गमेटा) उत्पन्न हो जाती है। परन्तु ये ग्रन्थियां अधिक नहीं होती हैं। लक्षणादि से रोग का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

औपदंशिक अण्डप्रदाह (अर्काइटिस्)

अण्डकोष मे उपदंश रोग निम्न दो प्रकार से प्रकाशित होते हैं —

(१) गमेटा (निर्यासवद् ग्रन्थि) जनित वर्द्धन—अण्ड के विधान के मध्य में दृढ़ीभूत पिण्ड वा पिण्ड का गुच्छा बन जाता है। यक्ष्म कीटाणुजन्य श्वेत सर्षपसन्निभा घुणाकार पिडिका (ट्यूवर्क्यूलर) की पीडाजनित वर्द्धन से इस वर्द्धन का प्रभेद करना बडा कठिन है। गमेटा जनित वर्द्धन में दृढीभूत अंश अपेक्षा से अधिक कठिन होता है। वह अण्ड के देह (वाडी आफ् दी टेष्टिस्) पर आक्रमण करता है। निर्यासवद् ग्रन्थि (गमेटा) से उत्पन्न हुए वर्द्धन द्वारा चर्म आक्रान्त नहीं होता है। परन्तु ; ट्यूबर्कल के द्वारा अधिकतर उपाण्ड (एपिडिडाइमिस) आक्रान्त हो जाता है। गमेटा जनित वर्द्धन से चर्म आक्रान्त नहीं होता है और चर्म विच्छिन्न कोमलीभूत तथा पूययुक्त नहीं होता है। इस प्रकार का वर्द्धन अधिकतर वेदना विहीन होता है।

(२) औपदशिक (इन्टर्स्टिशेल अर्काइटिस्) अण्डप्रदाह—इससे अन्त में अण्डग्रन्थि की सौत्रिक (फाइब्रयिड्) दृढ़ीभूति हो जाती है। क्रमश' ग्रन्थि शीर्णता को प्राप्त होकर उससे पूय वहने लगता है। कभी-कभी वृषणरज्जु मोटी पड जाती है और कभी-कभी मूत्रवृद्धि (हैड्रोसील) भी उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्सा

उपदंश रोग की चिकित्सा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) स्थानिक चिकित्सा और (२) दैहिक चिकित्सा।

स्थानिक चिकित्सा

साधारण रूप से प्राथमिक क्षत की चिकित्सा के लिये क्षत को साफ रखना चाहिये। आर्द्र लिन्ट (तूलारक पट्टी) के प्रयोग से भिन्न और किसी की आवश्यकता नहीं होती है। यदि क्षत के शीघ्र अच्छे होने के लक्षण दिखलाई न पड़े, तो ब्लैक्वाश, सल्फेट्ऑफ् जिङ्क वा अन्य कोई मृदु संकोचक वा रुक्मापह औषध द्रव का प्रयोग करना चाहिये। यदि क्षत मे पूय की उत्पत्ति हो जावे तो कार्बोलिक द्रव वा हाइड्रार्ज परक्लोराइड् द्रव (२००० ए १) के द्वारा क्षत को परिष्कृत करना चाहिये। क्षत को वस्त्र से पोंछकर शुष्क कर देवे और फिर आइडोफार्म का चूर्ण उस पर छोड। प्रथम अवस्था में काष्टिक नाइट्रेट् आफ् सिल्वर, नाइट्रिक् एसिड् वा पोटाश के प्रयोग से क्षत (घाव) दव जाता—आरोग्य हो जाता है। अन्त मे सड़े हुए पदार्थ के अलग हो जाने पर ब्लैकवाश (प्रक्षालनार्थ कृष्णजल) कैलोमेल ओइन्टमेन्ट (मलह्म) प्रभृति से पूर्वोक्त प्रकार से चिकित्सा करें।

दैहिक चिकित्सा

उपदश रोगग्रस्त व्यक्ति की चिकित्सा के लिये सबसे पहले पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिये। पुष्टिकारक पथ्य देना चाहिये। मद्य और तमाखू का बिल्कुल सेवन नहीं करना चाहिये। प्रतिदिन घर के अन्दर शीतल जल से स्नान करें और बाद को खद्दर से शरीर को अच्छी तरह

पोंछकर गात्र की गरमी संस्थापित करने के लिये गरम वस्त्रों को पहनना-ओढ़ना चाहिये। अधिक मानसिक वा कायिकश्रम और स्त्री सहवास नहीं करना चाहिये। नियमित रूप से कोष्ठ को परिष्कृत रखना चाहिये। किसी विषय में अनियम नहीं होना चाहिये। समय पर निद्रा और आहार, नियमितरूप से मृदुव्यायाम और ठीक समय में आमोद-प्रमोद करना चाहिये। सुविधानुसार जलवायु के परिवर्तन के लिये देशभ्रमण विशेष करके समुद्र की यात्रा करनी चाहिये।

किसी-किसी स्थल पर मृदु उपदंश में पूर्वोक्त चिकित्सा और साथ-साथ बलकारक औषध का प्रयोग करना चाहिये। जैसे—लोह घटित औषध और तिक्त तथा बलकारक औषध से रोगी को लाभ होता है। फिर रोग के सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित हुए नहीं देखे जाते। किन्तु सर्वत्र इसी चिकित्सा पर निर्भर नहीं रहना चाहिये। इसका कारण यह है कि अधिकांश स्थलपर पीडा के प्रबल रूप से प्रकाशित न होने पर भी उसकी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता होती है।

पारद का व्यवहार

पारद उपदंश रोग का अमोघ औषध है इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। इस रोग में पारद-प्रयोग की प्रणाली के सम्बन्ध में तथा रोग की किस अवस्था में इसका प्रयोग करना चाहिये, इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञान होना आवश्यकीय है। प्राचीन समय में पारद से उपदंश की चिकित्सा की जाती थी किन्तु, अधिक मात्रा में प्रयोग करने से मुख आ जाता था। इस समय परीक्षा द्वारा निश्चित हुआ है कि विषममात्रा में पारद का प्रयोग करने पर रोगी के लिये हानिकारक होता है। पारद की क्रिया से रोगी के शरीर में नाना प्रकार के उत्पात खड़े हो जाते हैं। उपदंश रोग में पारद का व्यवहार करना हो तो चिरकाल तक अल्प मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

इस समय यह विचारणीय विषय है कि उपदंश की पहली अवस्था में पारद का व्यवहार करना चाहिये या नहीं? कोई-कोई कहते

हैं कि पारद से उपदंश में उपकार नहीं होता है किन्तु; ऐसा नहीं है। इससे प्रकृत पक्ष में बहुत उपकार होता है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि इस रोग में प्रथम-अवस्था से ही विराम रहित पारद का प्रयोग करने पर पीडा की द्वितीय अवस्था प्रकाशित नहीं होती है। यदि आद्यक्षत कठिन मालूम पडे तो अविलम्ब के अल्प मात्रा से पारद द्वारा चिकित्सा करना आरम्भ कर दे।

पारद-प्रयोग के मार्ग

पारद का विविध प्रकार से प्रयोग होता है। जैसे—उदर मे पहुँचाने के लिये-प्रोटो-आइयोडाइड्, रिन् आइयोडाइड्, वाई क्लोराइड्, कैलोमेल, ग्रे पाउडर, व्लू-मस प्रभृति पारद के प्रयोग रूप से व्यवहृत होते हैं। कोई-कोई चिकित्सक प्रोटो आइयोडाइड् (इयेलो मर्क्यूरस् आइयोडाइड्) के विशेष पक्षपाती हैं। इसकी मात्रा—एक ग्रेन का पञ्चमांश है। कोष्ठ की अवस्था, लार निकलने की अवस्था और उदर में वेदना प्रभृति क्रियाओं के प्रति लक्ष्य रख कर प्रयोजन के अनुसार मात्रा को घटा-बढ़ा सकते हैं। पारद की क्रिया शीघ्र ही प्रकाशित हो, इस उद्देश्य के लिये पारद के इस प्रयोग की मात्रा एक ग्रेन का दशमांश होना चाहिये। परन्तु प्रति घंटा मे दूध चीनी के साथ अच्छी तरह मिलाकर प्रयोग करें। वटिकाकार में लोह के संयोग से पारद की निम्न व्यवस्था की जाती है। जैसे—

ग्राह्य प्रयोग—पिल् हाइड्रार्ज् G - XI, पिल्फेरि सव् कार्ब G-X, एक्सट्राक्ट ओपियाई G-IV, इनको एक में मिलाकर २० गोली वनावें और भोजन के वाद एक वटी की मात्रा दिन मे तीन वार देवें। इस वटी के साथ अथवा इसी प्रकार की अन्य वटी के साथ फेरिसल्फ एक्सिकेट्, क्विनाइन्, आर्गटिन् वा एलोज् का संयोग करके प्रयोग करना चाहिये। वाई क्लोराइड् के साथ नीचे लिखी हुई विधि से लोह का प्रयोग उपयोगी होता है।

ग्राह्य प्रयोग—हाईड्रार्ज् वाई क्लोराइड् १-२ ग्रेन, टिञ्चर फेरिम्यूर्

२-४ ड्राम, सिरप् जिञ्जि वार वा सिरप् सार्सी २ ड्राम, परिस्रुतजल ५ औंस, इनको एक मे मिलाकर एक ड्राम की मात्रा मे जल के साथ भोजन के बाद दिन मे तीन वार सेवन करें। अथवा हाइड्रार्ज. वाइक्लोर १/१६ ग्रेन, टिञ्चर फेरि परक्लोर ६ बूँद, ग्लिसरीन २५ बूद, ओलिकैरियो फार्ड १ बूँद, सिरप १ ड्राम—इन सव को एकत्र कर भोजन के वाद दिन मे तीन वार सेवन करें। मुख के द्वारा पारद के निम्नयोग भी प्रयुक्त होते हैं।:—

ग्रे पाउडर १-२ ग्रेन, हैड्राजिंरम आयोडिडम् फ्लावम १/६-१ ग्रेन, हैड्राजिंरम परक्लोरिडम् १/१६ ग्रेन, पिल हैड्राजिंरी १-३ ग्रेन लायकर हैड्राजिंरी परक्लोरिडी १/२-१ ड्राम, इसमे अन्तिम औषध पोटास आयोडाइड (५-१० ग्रेन) के साथ मिश्रण के रूप मे और शेष औषधियाँ डोवर के पाउडर (१-२ ग्रेन) के साथ गोली बनाकर दी जाती है। ग्रे पाउडर और डोवर के पाउडर के संयोग को हचीसन का पाउडर कहते हैं। उपयुक्त ओषधियों मे से एक ओषधि दिन में तीन वार देनी चाहिये। विषम परिणाम के लक्षण प्रकट होने के समय तक विशेष करके मुखपाक प्रारम्भ होने तक औषध की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये। एक औषध का लगातार उपयोग करने की अपेक्षा प्रत्येक चिकित्साक्रम (Course) मे भिन्न-भिन्न औषध-प्रयोग करना लाभदायक होता है। प्रत्येक क्रम छ सप्ताह का होता है। प्रथम और द्वितीय क्रम के पश्चात् एक सप्ताह और तृतीय क्रम के पश्चात् चार सप्ताह तक औषध बन्द रक्खी जाती है। इस प्रकार वर्ष-दो वर्ष और तीन वर्ष तक पारद का प्रयोग मुख द्वारा आवश्यकता के अनुसार जारी किया जाता है।

नीचे लिखे हुवे रासायनिक संयोग-वियोग द्वारा वाई क्लोराइड और आइयोडाइड् आफ् पोटासियम् के संयोग में विन् आइयोडाइड् का प्रयोग किया जाता है।

ग्राह्य प्रयोग—हाईड्रार्ज् वाइ क्लोर १ ग्रेन, पोटासि आइयोडाइड् २ ड्राम, परिस्रुत जल ३ औंस, इनको एक में मिलाकर १ ड्राम की

मात्रा मे आहार के बाद दिन मे तीन चार देवें। अथवा लाइकर हाइड्रार्ज परक्लोर ½ ड्राम, पोटास आइयोडाइड ५ ग्रेन, टिंचर—फाईटोलैका ४ बूंद, एक्स्ट्रा स्टिलिंजा फ्लूविड १५ बूंद, डिकक्ट सार्सी १ औंस, इनको एक मे मिलाकर दिन मे तीन चार सेवन करें। निम्नलिखित व्यवस्था भी अनुमोदित है।

ग्राह्य—हाइड्रार्ज बिन् आइयोडाइड १ ग्रेन, पोटास आइयोडाइड् १ ड्राम, परिस्रुत जल १ ड्राम—इनको एक मे मिला-छान कर सिरप् एरेन्सियाईक टेक्स ६ औंस मिला लेवें।

मात्रा—१ ड्राम जल के साथ आहार के बाद देवें।

पारद का वाष्प-प्रयोग

वाष्प रूप से पारद का प्रयोग विशेष लाभदायक होता है। शीघ्र ही पारद की क्रिया शरीर मे प्रकाशित करने की अभिलाषा हो तो पारद के वाष्प की व्यवस्था करनी चाहिये। इसके लिये रोगी को विना बिछौने की शय्या पर बिठावें और उसको गले से भूमि तक कम्बल द्वारा आवृत कर देवें। फिर उसके नीचे १५-३० ग्रेन तक रसपुष्प (केलामल) को जलावें।

पारद का मर्दन

पारद का मर्दन रूप से प्रयोग करने पर उसकी क्रिया विशेष रूप से प्रकाशित होती हैं। मर्दन के लिये प्रतिशत २० भाग ओलियेट् आफ् मर्करी ½ ड्राम और वेसलीन सुगन्धीकृत ½ ड्राम लें।

विधि—इनको एक मे मिलाकर प्रत्येक रात्रि मे शयन करने के पहले शरीर के केशरहित स्थान मे २० मिनिट तक मला जाता है। इसके लिये उदर, छाती, पीठ, पिंडलियाँ, उरु और बाहु के अन्तर्भाग प्रभृति स्थान पसन्द किये जाते है। प्रतिदिन स्थान बदला जाता है। इस भाँति छः दिन तक लगातार मर्दन करने पर सातवें दिन रोगी को स्नान कराया जाता है। फिर मर्दन का क्रम जारी होता है। इस भाँति ६०-२०० तक मर्दन किये जाते हैं। कोई-कोई विद्वान् ४२ दिन तक मर्दन करने पर एक सप्ताह मर्दन बन्द कर देते हैं और फिर शुरू करते हैं।

त्वचोऽधः प्रक्षेपण (इञ्जेक्शन)

वर्तमान समय में त्वचोऽधः प्रक्षेपण रूप से अधिकतर प्रयोग किया जाता है। इस विधि से अन्य सब की अपेक्षा पारद की क्रिया शीघ्र ही प्रकाशित हो जाती है। किन्तु सब स्थलों पर इस विधि का प्रयोग करना कठिन है। इसका कारण यह है कि प्रति बार इस भाँति औषध का प्रयोग करने के लिये चिकित्सक की आवश्यकता है। अतः त्वचोऽधः प्रक्षेपण विधि से प्रयोग करने के लिये निम्न व्यवस्था लिखी जाती है।

ग्राह्य प्रयोग—कैलोमेल १½ ग्रेन—२ ग्रेन, विशुद्ध ग्लिसरिन २४ बूँद इनको एक में मिलाकर प्रयोग करें। अथवा करोसिव् सब्लीमेट् ४ ग्रेन, परिस्रुत जल १ औंस इनको एक में मिलावें और १५ बूँद की मात्रा में दो-तीन घण्टा का अन्तर देकर प्रयोग करें। वेदना और यन्त्रणा निवारण करने के लिये इसके साथ उपयुक्त मात्रा में एसिटेट् वा सल्फेट आफ् मर्फाइन् का संयोग करना चाहिये। अथवा द्रव की उग्रता-निवारण के लिये एक भाग बाइक्लोराइड् में चार भाग क्लोराइड् आफ सोडियम मिलाना चाहिये। इसके अतिरिक्त बाइसाइयेनाइड्, बिन्-आइयोडाइड् प्रभृति की पिचकारी दी जाती है। अथवा पारद के प्रयोजित होने पर शरीर में इसकी विष-क्रिया प्रकाशित हो तो प्रकृत-पक्ष में वे उपदंश के लक्षण मात्र है। परन्तु साधारणतः लोक में इसको पारद के व्यवहार का फल कहते हैं। इसके फलस्वरूप मुख के अन्दर घाव, शरीर के विविध स्थानों में वात प्रकोप, विविध चर्मरोग प्रभृति उपदंश के लक्षण वर्तमान हो जाते हैं। पारद की क्रिया प्रकाशित होने पर लाला अधिक निकलती है और मसूड़ों की अस्थि का क्षय (निक्रोसिस्) उपस्थित हो जाता है।

उपदंश रोग में पारद का गुण-दोष विवेचन

विशुद्ध पारद के सेवन से मृत्यु और जरावस्था नष्ट हो जाती है। शुद्ध पारद साक्षात अमृत के तुल्य होता है। पारद अशुद्ध होने पर

विष के समान हानिकारक होता है। विधि पूर्वक पारद-सेवन करने से सम्पूर्ण रोग नष्ट होते है और मिथ्या प्रयोग करने से बहुत से रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

यथोक्तं रसशास्त्रे—

दोषहीनो यदा सूतस्तदा मृत्युजरापहः ।
शुद्धोऽयममृतः साक्षाद्दोषयुक्तो रसो विषम् ॥
विधिना सेवितः सूतो निहन्ति सकलान् गदान् ।
तस्य मिथ्योपयोगेन जायन्ते बहवो गदाः ॥

पारद के विकार का वर्णन

मसूड़े लाल और वेदनायुक्त हो जाते हैं। मसूड़ों मे शोथ और क्षत हो जाते हैं। ये छिद्रयुक्त तथा अत्यन्त मृदु होते हैं। इन्हे थोड़ा-सा भी दबाया जाय तो रक्त निकलने लगता है। दॉत ढीले पड़ जाते हैं। मुख से लाला बहती रहती है, जिह्वा मे सूजन हो जाती है और उसमे दरार पड़ जाता है। शरीर कृश होने लगता है एवं गलशुण्डी आदि रोग हो जाते हैं। कर्णमूल, अधोहनु तथा गले की ग्रन्थियों (टान्सिल्स) मे शोथ हो जाता है। रोगी मुख में धातुरस (Metallic Taste) के स्वाद का अनुभव करता है। यदि पारद को अत्यधिक मात्रा मे लगातार सेवन किया जाय तो ज्वर, शिथिलता, मन.साद, दन्तपात, हन्वस्थिकाक्षरण, मुख मे विद्रधि, पाण्डुता तथा रक्तपित्त आदि भयंकर रोग उत्पन्न होकर मृत्यु भी हो सकती है।

यथोक्ताः पारद विकारा.—

दन्तवेष्टा सरुक्तोदाः रक्ता. शोथक्षतान्विताः।
छिद्रैर्बहुभिराक्रान्ता जायन्ते मृदवस्तथा ॥
दन्तशैथिल्यमास्रावः जिह्वा शोथोऽतिकर्षणम्।
जिह्वाया दरणंचापि गलशुण्ड्यादिका गदा ॥
कर्णमूल हनु गलग्रन्थीनां शोथ एव च।
वस्त्रेऽप्रिय धातुरसास्वादमनुभवेद् गदे ॥

प्रयुक्तस्त्वति मात्रायां सतत पारदः पुनः ।
ज्वर शिथिलता चापि मनस सदन तथा ॥
दन्तानां पातन चैव हन्वस्थिक्षरण तथा ।
मुख विद्रधि पाण्डुत्व रक्तपित्तादिकान् गदान् ॥
घोरान् सञ्जनयित्वा तु मृत्युमापादयत्यपि ।

पारदवाष्पप जनित विकार का वर्णन

पारद की वाष्प को लगातार सूँघते रहने से उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त कम्पवायु हो जाती है। यह कम्प पहले मुख पर होता है और वहाँ से बाँहु और पैरों पर चला जाता है और वे काँपने लगते हैं। मांसपेशियाँ दुर्बल हो जाती हैं और इन्द्रियों की क्रिया मे विकृति उत्पन्न हो जाती है।

पारद का आशुकारी विकार

अति पारद सेवन करने से आशुकारी विकार हो जाता है। यथा—अंत्रों और आमाशय मे भयंकर शोथ एव शूल हो जाता है। वमन, रक्तातिसार, मूर्च्छा और मृत्यु भी हो सकती है।

पारद की विष-क्रिया प्रकाशित होने पर पहले लाला के निकलने मे वृद्धि होती है, जिह्वा के किनारे दाँतों से चिह्नित रहते हैं और श्लैष्मिक झिल्ली फूल जाती है। इन सब प्राथमिक लक्षणों के प्रकाशित होने पर भी यदि पारद का प्रयोग स्थगित न किया जाय तो विलक्षण लाला नि.सरण होता है और दांत शिथिल पड जाते हैं यहां तक कि गिर पड़ते हैं। उपदंश रोग की फलोपधायक चिकित्सा मे जहा तक पारद प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती है वहा तक लालानि.सरण की अधिकता उपस्थित हो जाती है। पारद की इस लार निकलने की क्रिया के प्रकाशित होने पर उपयुक्त चिकित्सा से इसकी शीघ्र ही शान्ति करनी चाहिये। पारद का प्रयोग बन्द करके कुछ गरम दूध, क्लोरेट् आफ् पोटास् का द्रव वा संकोचक द्रव का कुल्ला रूप मे व्यवहार करें और मृदु विरेचक औषध देवें। इससे शीघ्र ही सब लक्षण शान्त हो जाते हैं।

पारद के साथ आइयोडिन वा आइयोडिन घटित लवण का प्रयोग विशेष उपयोगी होता है। रोगकी द्वितीय अवस्था के अन्त मे वा तृतीय अवस्था मे इनका प्रयोग होता है। इनमें सबसे श्रेष्ठ आइयोडाइड् आफ् पोटासियम है। इसे ३—२० ग्रेन की मात्रा मे लेकर जल मे द्रव करके प्रयोग करना चाहिये। अनेक स्थल मे २४ घण्टा के मध्य मे १ ड्राम से १ औंस तक प्रयुक्त होता है। शरीर मे आइयोडाइड् आफ् पोटासियम् की विष-क्रिया जिससे प्रकाशित न हो, इस विषय का ध्यान रखकर प्रयोग करना चाहिये। अनेक स्थल मे अल्पमात्रा मे भी प्रयोग करने से इसकी विष-क्रिया प्रकाशित होकर अत्यन्त सर्दी हो जाती और पलकें सूज जाती हैं। ओष्ठ और गलछिद्र (ग्लटिस्) शोथ से युक्त हो जाता है। लालानिःसरण की अधिकता, पकाशय और आन्त्र मे यंत्रणा, दाबने पर वेदना प्रभृति आइयोडिज्म के सम्पूर्ण लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। त्वचा मे विविध प्रकार की पिडिकाएँ निकल आती हैं।

पूर्वोक्त दो औषधों के अतिरिक्त अन्यान्य विविध औषधों का भी प्रयोग होता है। आर्सेनिक (सखिया) और आर्सेनिक घटित विविध प्रयोग व्यवहृत् होते हैं। इसी भाँति आर्सेनिक (सखिया) और मर्करी (पारद) घटित का प्रयोग विशेष रूप से फलप्रद होता है।

मल्ल (Arsenic) का प्रयोग

इस रोग की चिकित्सा में आर्सेनिक घटित प्रयोगों के मध्य मे एटोक्सिल (Atoxyl) सोयामिन (Soamin), एटोक्सिलेड् आफ् मर्करी, एन्सेल् नामक पारद और मल्ल का द्रवणीय लवण सूचीभरण से प्रयुक्त होता है। वर्तमान समय मे आरलिच निर्मित दो प्रयोग विशेष रूप से व्यवहृत होते हैं। (१) आर्सेनोफेनिल (Arsenophenyl Glycin) (२) डाई ओक्सिडियामिडो आर्सेनोबेञ्जल (Di—Oxydia-mido) इन शेषोक्त प्रयोगों को दो आविष्कारकों के नाम के अनुसार आरलिकहेटा (Ehrlich Heta) प्रयोग अथवा परीक्षा की परम्परा के

अनुसार संज्ञित ६.६ नम्बर औषध के प्रयोग से प्रोटोजोया जनित पीड़ा में आश्चर्यजनक फल होता है। एटोक्सि और आर्सेसेटिन के प्रयोग से जो विप के लक्षण प्रकाशित होते हैं, इनके प्रयोग से वे लक्षण प्रकाशित नहीं होते। कभी-कभी दुर्भाग्यवश ६.६ न० की औषध मनुष्य के शरीर में विशेप सुविधाजनक नहीं होती है। इसका प्रयोग गलाधः करण द्वारा और मलाशय के मध्य मे करने पर कोई फल नहीं होता है। इसका प्रयोग त्वचोऽध· प्रक्षेपण वा शिरा के मध्य से करना चाहिये। इन दो प्रणालियों से प्रयोग करने पर अयथा वेदना और यंत्रणा उपस्थित होती है। अतः इस भाँति द्रव करके प्रयोग करना चाहिये जिससे प्रयोग के स्थान मे उग्रता उत्पन्न न होवे। इसके लिये विविध प्रणालियों का अवलम्बन किया जाता है। देखा गया है कि अम्लाक्त द्रव के प्रयोग करने पर अत्यन्त यत्रणा उपस्थित होती है। इसके प्रयोग-प्रणाली तथा मात्रादि के सम्बन्ध में विशेप परीक्षायें प्रचलित है। यहाँ पर इसका विस्तृत विवरण अनावश्यक है।

पूर्व वर्णित औपधों में अनेक से उपकार होता है और अनेक से नहीं भी होता।

लोहघटित सम्पूर्ण प्रयोग, धातव अम्ल, कार्ड लीवर आइल्, क्विनाइन्, उद्भिद् तिक्त द्रव्य और सुरावीर्य का विवेचना पूर्वक प्रयोग करने से विशेप उपकार की आशा की जाती है। कोई-कोई चिकित्सक कहते हैं कि उपदंश रोग मे एरिथ्रकसिलन्कोका का तरल सार उत्कृष्ट औपध है। साल्सापैरिला, मेगडेडस् सोल्यूशन प्रभृति सार्वाङ्गिक बलकारक रूप से कार्य करती है।

रोगी के आरोग्यकाल की मर्यादा

रोगी को अच्छी तरह आरोग्य होने के लिये कितने दिन तक चिकित्सा करने की आवश्यकता है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। साधारणतः २ वर्ष से २॥ वर्ष तक रोगी की चिकित्सा होना आवश्यकीय है। इस चिकित्सा-काल के समय रोगी वा

रोगिणी को स्त्री वा स्वामी के साथ सहवास करना बिलकुल निषिद्ध है। क्योंकि इस अवस्था में जो सन्तान होगी वह आजन्म उपदंश से ग्रस्त रहेगी।

शैशवीय उपदंश की चिकित्सा

इस अवस्था में पारद महौषध है। सर्दी के तुल्य सम्पूर्ण लक्षण और शरीर में निकली हुई पिडिकायें जब तक अदृश्य न हो जावें तबतक और बाद में दो-तीन सप्ताह तक, हाईड्रार्जिराईकमक्रीटा १-२ ग्रेन की मात्रा से दिन में दो-तीन बार देवें। अतिसार वर्तमान होवे तो पारद-घटित औषध के साथ रोगी की अवस्था का विवेचना करके ½ ग्रेन से १ ग्रेन की मात्रा में, पल्विस इपेकाक्युआना कम्पोजिटस् का प्रयोग लाभदायक है। क्षत-स्थान में, आग्यूयेन्टम (मलहम) हाइड्रार्जाइराइ एमोनियटा का प्रयोग करें। एक खण्ड फलालेन में डाइल्यूटेड मर्क्यूरियल् ओइन्टमेन्ट (मलहम) लगा करके कमर पर बांध देने से विशेष लाभ होता है। प्रति रात्रि में नूतन मलहम लगावें। प्रति तीसरे दिन त्वचा को धोना चाहिये। इसके अतिरिक्त सिरप् फेरि-आइयोडाइड् और कार्ड लीवर आइल् का प्रयोग किया जाता है। साधारणतः छ मास तक रोगी को चिकित्सा के अधीन रखना चाहिये। शेष अवस्था में, आइयोडाइड् आफ् पोटासियम् अत्यन्त उपकार करता है। यथा नियम से स्थानिक चिकित्सा का अवलम्बन करना चाहिये। निकले हुये श्लेष्मा से नासिका का छिद्र बन्द हो जाने पर रूई से उसको अच्छी तरह निकाल कर साफ कर देवें और क्षत स्थान में रेड् ऑक्साइड आफ् मर्करी का मलहम लगावें।

सालवर्सनादि-संयुक्त पारद-योग

पेशीद्वारा—सालवर्सन या नीओसालवर्सन के साथ प्रायः इसी मार्ग के द्वारा पारद दिया जाता है। पारद की सूची विस्मथ की अपेक्षा अधिक पीडादायक होती है। इस कारण से तथा अन्य दोषों से पारद की अपेक्षा सालवर्सन के साथ विस्मथ का अधिक प्रयोग होता है। सूचीभरण के लिये घुलनशील (यथा—बिनायडाइड् १ प्रतिशत घोल का

एफ सी० सी०) तथा अनघुलनशील (जैसे—ग्रे आइल और स्याम्बफिन की क्रीम) १ ग्रेन, कैलोमल क्रीम ½ से १ ग्रेन, मर्क्युरीस्यालिसालेट १½-२ ग्रेन दोनों प्रकार के योग प्रयुक्त होते हैं। ये सूचीभरण प्रति सप्ताह दिये जाते हैं। घुलनशील योगों की अपेक्षा अघुलनशील योगों का प्रचूषण धीरे-धीरे होकर दूसरे सूचीभरण के समय तक शरीर पर उनका परिणाम लगातार रहता है। इसलिये अघुलनशील अधिक उपकारी और उनमें भी कैलोमल सबसे अच्छा प्रमाणित हुआ है। सूची नितम्ब की पेशियों के ऊपर और बाहर के हिस्से मे लगायी जाती है। २ इञ्च सूची अन्दर प्रविष्ट करने पर पिचकारी के भीतर रक्त खींचने की कोशिश करके यह देख कि सूई शिरा मे तो प्रविष्ट नहीं हुई। पश्चात् औषध को प्रविष्ट करके सूई को निकाल कर उस स्थान को रुई के फाहा से मर्दन करना चाहिये।

शिराद्वारा—यह मार्ग बहुत कम काम मे आता है। क्योंकि इस मार्ग से दी हुई औषधि अधिक विषम परिणाम उपस्थित करती है तथा बहुत शीघ्र शरीर से उत्सर्गित होती है। अत' इसका प्रयोग एक-एक दो-दो पीडाके बाद करना पडता है।

पारद सेवन के पूर्व कर्तव्य

पारद सेवन के समय रोगी को मद्य और तम्बाकू-सेवन निषेध है। मुख की सफाई पर विशेष ध्यान दें। पारद योग इस प्रकार सेवन करें जिससे मुख-पाक न हो।

यथोक्तं भावप्रकाशे—

एतद् भक्षयत. शोथो मुखस्यान्तर्न जायते।

यदि मुखपाक हो जावे तो दुस्पर्शा के क्वाथ से कुल्ला करना चाहिये। यथोक्तम्—

'दुस्पर्श क्वाथगण्डूषा कार्या पाके मुखस्य च।

प्रति दिन दो बार दाँतों को नीम की दन्तधावन या ब्रुश से साफ करायें और सोते समय पोटासक्लोरेट के घोल से कुल्ला करावे। जिसकी क्षुधा और पाचनशक्ति ठीक न होवे उसको मुखद्वारा पारद का सेवन नहीं करावें। जो रोगी मुखद्वारा सेवन नहीं कर सकते हैं उनको सूचीभरण द्वारा पारद देना चाहिये। दुर्बल, रक्तहीन और वृक्क के रोगी

को पारद नहीं देना चाहिये। पारदचिकित्सा की अवधि में रोगी के साधारण स्वास्थ्य, भार और मूत्र की ओर ध्यान रखना चाहिये। यदि भारक्षय, अलब्यूमिन तथा निर्मोक (कास) की मूत्र मे उपस्थिति मालूम होवे तो पारद सेवन वन्द कर देवें। पारद के विषम परिणामों का प्रारम्भ मुख से होता है। अत. दंतमांस मे या मुख मे किंचिन्मात्र भी विकृति मालूम होने पर उसको वन्द कर देवें।

पारद विषयक वर्तमानकालिक विचार

यूरोप मे सिफिलिस के आरम्भ काल से (१४९५) मल्ल और विस्मथ के आगमनकाल (१९०५ और १९२९) तक पारद आतशक का एकमात्र औषध था। आतशक-चिकित्सक पारद की बहुत प्रशंसा करते थे। परन्तु आतशक की चिकित्सा मे मल्ल और विस्मथ के अवतीर्ण होने के बाद उनके मुकाबिले में पारद के सब गुण अवगुण के रूप मे हो गये और वह आतशक की चिकित्सा मे बहुत पिछड़ गया। तो भी अधोलिखित तीन विशेष गुण होने के कारण इसका उपयोग अब भी थोडा-थोड़ा होता है।

(१) पारद से शरीर की प्रतिकारक शक्ति अल्प नहीं होती प्रत्युत् वढती है। (२) इसके प्रयोग से झरीश-हरझीमर, औपशयिक विरोध तथा आघात—ये घातक दुर्घटनायें नहीं होती। (३) सूचीभरण के अतिरिक्त और कई मार्गों से इसका प्रयोग किया जा सकता है।

तुलनात्मक दोष

(१) इसकी आतशक नाशक शक्ति सबसे निम्न श्रेणी के और मन्द होती है। (२) संचायी (Cumulative) स्वरूप का औषध होने कारण अधिक काल तक क्रमशः इसका उपयोग नहीं कर सकते हैं। दो महीने तक उपयोग करने पर एक महीना वन्द कर देना पड़ता है। (३) इस कारण से तथा मन्दशक्ति के कारण केवल पारद आतशक का समूल विनाश नहीं कर सकता है। अतः पारद-चिकित्सा के वाद पुनरावर्तन अधिक होता है। (४) अधूरे और अपूर्ण काल तक

चिकित्सा करने के बाद आतशक बड़े जोर से फिर आक्रमण करता है और यह परिवर्तित आतशक अधिक प्रतिरोधक (Resistant) स्वरूप का होता है। (५) साधारण विषमय परिणाम औरों की अपेक्षा अधिक होता है। यह परिणाम तीव्र स्वरूप का न होकर जीर्ण होता है, जिसमे मुख-पाक, दंतमांस-पाक, दन्तचालन (Looseness), लालास्राव, मुख-दुर्गन्ध, मंदाग्नि, स्थूलान्त्र मे सूजन, मसूडों पर नीली लकीर, वृक्कशोथ, शुक्लिमेह, त्वक्शोथ, रक्तहीनता, दौर्बल्य, भारक्षय, कम्प आदि लक्षण प्रधान होते हैं। मुखद्वारा सेवन करने पर निम्नलिखित दोष होते है।

मुखद्वारा सेवन करने से पचनसस्थान मे खराबी होने के कारण सेवन की हुई मात्रा का अचूषण निश्चित प्रमाण से नहीं होता तथा विस्मरण, आलस्य या अनिच्छा के कारण रोगी प्रतिदिन उचित मात्रा मे इसका सेवन नहीं करता। अतः अब इस मार्ग का उपयोग अल्प होता है। तो भी वालकों में सुविधा के लिये तथा सूचीभरण क्रिया के लिये जो राजी नहीं होते या जो साल्वर्सनादि की सूचियाँ ले चुके हैं उनमें इस मार्ग का उपयोग अब भी किया जाता है पारद की चिकित्सा सबसे पुरानी है। पारद में अनेक दोष होने के कारण आजकल इसका उपयोग वहुत मन्द पड़ गया है।

उपदंश के जीवाणु-नाशक प्रथम औषध

जीवाणु से उत्पन्न होने वाले इस भयानक रोग के चिकित्सा का साधन आज से १०-१५ वर्ष पहले वहुत असतोपजनक था। औपध ऐसा होना चाहिये जिसका रोगोत्पादक जीवाणु पर अप्रतिहत विनाशक प्रभाव हो। परन्तु शारीरिक तन्तु कोषों पर कोई हानिकारक प्रभाव न हो सके इस दिशा मे सबसे प्रथम सफल आविष्कार विद्वान् यहूदी, 'अहर्लिक' नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने किया। उसने संखिया (आर्सेनिक) का ऐसा योगिक बनाया जो उपदश रोग के कीटाणुओं पर शर्तिया प्रभाव करे। इस औषध का नाम साल्वर्सन था। वाद को इसका संशोधन यौगिक "नव साल्वर्सन" भी अहर्लिक ने वनाया। आजतक उपदंश रोग मे ये दवाई अपने समकक्ष और किसी को नहीं रखती है। इसके वाद

सल्फोनामाईड समूह के अन्तर्गत अनेक पदार्थों का निर्माण किया गया जो उपदंशाणु के ऊपर तत्काल लाभ करते हैं। उनका वर्णन आगे किया जावेगा। इसके पश्चात् 'सर अलेक्जेण्डर फ्लेमिंग' नामक अंग्रेज वैज्ञानिक ने पेनीसिलीन नामक औषध का अविष्कार किया। यह सल्फोनामाईड समूह से भी उत्तम और अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। यह प्रामाणिक रूप से सल्फोनामाईड समूह से होनेवाले कुछ हानिकारक प्रभावों से भी रहित पाया गया है। यह औषध उपदंशाणु के विनाश करने का प्रभाव भी रखता है जिसका वर्णन आगे किया जावेगा।

वर्तमान कालिक मल्ल प्रयोग

वर्तमान काल मे संखिया के त्रिसंयुज (Trivalent) और पंचसंयुज (Pentavalent) सेन्द्रियक (Organic) अधोलिखित योग प्रयुक्त होते हैं।

त्रिसंयुज—सालवर्सन, नीयोसालवर्सन, मायोसालवर्सन, सेल्फासेनाल, मेफार्साइड (मेफार्सन), पंच संयुज, स्टोवार्सल असिटिल आर्सन, ट्रिपार्सामाइड्।

इनमे त्रिसंयुज योग अधिक परिणामकारी और अधिक प्रयुक्त होते हैं। इनमे सालवर्सन और सल्फार्सेनाल अधिक विषयुक्त और मेफार्सन कम विषयुक्त होता है। आजकल इसी का प्रयोग होता है। इसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं।

शरीर में जाने पर इसमे कोई रूपान्तर नहीं होता है। कार्य करने के लिये धातु-प्रतिक्रिया की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिये यह स्वयं आतशक के जीवाणु को नष्ट करता है। कम विषैला होने से सूई लगाने पर प्रतिक्रिया बहुत कम होती है। अधिक स्थायी होने से घोल अधिक काल तक रख सकते है। सूई के स्थान मे पीड़ा नहीं होती है। सालवर्सनादि सोमल योगों के विरोधी हुवे (Arseno-Resistant) उपदंशाणुओं का भी नाशक होना है। पंचसंयुज योग तरुणों मे नहीं प्रयुक्त होते हैं। वे बच्चों के लिये बहुत उपयोगी है। सल्फार्सेनाल सहज उपदंश मे और ट्रिपार्सामाइड् नाडी के उपदंश मे अधिक लाभ करता है।

गुण-वर्णन

ये उपदंशाणु का तुरन्त नाश करते हैं। यहां तक कि सूची-प्रयोग करने के बाद अहोरात्र के अन्दर गम्भीर धातुगत जीवाणुओं को छोड़ अन्य सब धातुगत जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। अतः रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे जब कि जीवाणु अन्तराश्रित नही होते ये ओषधियाँ उपसर्ग नाशन के लिये बहुत अच्छी होती है। संक्रामकता (Infectiousness) शीघ्र नष्ट हो जाती है। उपदंश जन्य व्रण तथा विस्फोटों का रोपण बहुत जल्दी होता है। तृतीय-चतुर्थावस्था की उत्पत्ति बन्द हो जाती है। शरीर पर सर्वसाधारण बल्य परिणाम होता है।

दोष-वर्णन

(१) इनका शरीर से उत्सर्ग बहुत जल्दी (३ दिन के अन्दर) होता है। अतः इनसे बचे हुये जीवाणु फिर से शरीर पर आक्रमण कर देते हैं। इस दोष के कारण इनके साथ पारद या बिस्मथ जैसी कोई स्थाई परिणामजनक ओषधि देने की आवश्यकता होती है।

(२) जिनके द्वारा शरीर मे क्षमता उत्पन्न होती है उन्हीं जीवाणुओं का तुरन्त नाश होने के कारण शरीर अपनी व्याधि क्षमता उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि रोग की पूर्ण चिकित्सा न की जावे तो अक्षम शरीर पर अवशिष्ट जीवाणु निर्दयता से आक्रमण कर देते हैं। इसलिये रोग की पूरी चिकित्सा करनी चाहिये।

(३) इनका जीवाणु नाशक परिणाम केवल उत्तान धातुस्थित जीवाणुओं के ऊपर होता है, गम्भीर धातुस्थित या अन्तराश्रित जीवाणुओं पर नहीं होता। जिसका फल यह होता है कि चिकित्सा से जागता हुआ रोग सुप्त (Letent) हो जाता है। अतः आजकल नाडीय उपदंश पहले की अपेक्षा अधिक होता है। उचित मात्रा मे प्रयोग न करने से भी यही परिणाम होता है।

(४) कभी-कभी इनके प्रयोग से देहगत उपदंश के विकृत स्थान उद्दीप्त और शोथयुक्त हो जाते हैं। इस दुर्घटना को औपशयिक आघात ('Therapeutic Shock), जरीष हरझीमर (Jarisch Herxheimer

Reaction) कहते हैं। इसमे त्वचा, मस्तिष्क, हृदय, यकृत, वृक्क प्रभृति अङ्गों की विकृति बढ़ जाने से पक्षाघात, उरुघात, नेत्रपेशिक आघात, शुक्लि मेह, हृदयस्तम्भ (Heart Block) तथा हृदय भेद आदि भयानक रोग उपद्रव रूप मे प्रकट होते हैं। अतः इनका प्रयोग करने के पूर्व रोगी फिरंग से पीड़ित है केवल इसके ऊपर ही संतुष्ट न होकर उसके भीतरी विकृति का ज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा इस प्रकार की दुर्घटना होने की सम्भावना रहती है।

(५) कभी-कभी इनके प्रयोग से आरम्भ मे अतीव लाभ होता है। परन्तु अन्त में हानि होती है। इसको औपशयिक विरोध (Therapeutical Paradox) कहते हैं। जैसे उपदंशज विकार मे इनके प्रयोग से आरम्भ मे लाभ होता है। परन्तु आगे चलकर यकृत मे उत्पन्न हुये तान्तवधातु के सिकुड़न से प्रतिहारिणी (पोर्टल) शिरा तथा उसकी शाखा-प्रशाखाये अवरुद्ध होकर यकृत् की अकार्यक्षमता और जलोदर उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है।

(६) मह्न तीव्र विष होने के कारण इनके प्रयोग से कभी-कभी शरीर पर विषमय परिणाम (Toxic Effects) होते हैं। कालक्रमानुसार इसके तीन विभाग किये जा सकते हैं।

प्रथमावस्था—सूची प्रयोग के समय या तत्काल उसके बाद मुख की लालिमा, ओष्ठ और जिह्वा की सूजन, श्वास लेने मे कठिनाई, शीतपित्त, मूर्च्छा, मसूड़ों मे पीड़ा और मुख मे एक विशेष प्रकार की रुचि की प्रतीति होती है।

द्वितीयावस्था—सूई के पश्चात् कुछ घण्टों मे होने वाले सर्दी, ज्वर, शिरोवेदना, वमन, विरेचन, पृष्ठवंश मे वेदना, जंघा में उद्वेष्टन और मुख या छाती पर विस्फोट हो जाते हैं।

तृतीयावस्था—सूची प्रयोग के पश्चात् एक दिन से महीने दो महीने के अन्दर होनेवाले शुक्लप्रमेह, त्वचा की रक्तिमा (Erythema) और शोथ, कामला, मुखपाक, मन्दाग्नि, भार और बल का क्षय, निद्रानाश, शिरोवेदना, मानसिक संभ्रम, आक्षेप, संन्यास और कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है।

मात्रा का निर्णय

सालवर्सन की मात्रा ३ से ६ ग्राम, नीओसालवर्सन की ४५-९ ग्राम, सल्फार्सेनाल तथा मायो सालवर्सन की नीओसालवर्सन के वरावर और माफार्सन की ·०४-·०६ ग्राम की होती है। प्रारम्भिक मात्रा आधी या दो तिहाई देकर धीरे-धीरे प्रत्येक वार साधारण मात्रा तक वढानी चाहिये। मद्यसेवी, त्वग्रोगी, मधुमेही तथा आभ्यन्तरीय अंगों और मस्तिष्क के उपदंश मे प्रारम्भिक मात्रा वहुत कम (·१५ से ·३ ग्राम, नीओसालवर्सन) रखकर सावधानी से मात्रा को वढावे। अल्प मात्रा सप्ताह मे दो वार देना लाभदायक है। अतः मात्रा के अनुसार देना चाहिये।

सूचीभरण के पूर्व तथा पश्चात् कम से कम दो घण्टे तक रोगी को खाने को कुछ भी न देवें। परन्तु सूई के एक घण्टा पूर्व रोगी को ग्लूकोज और सोडावायकार्व पानी मे मिला कर देने से लाभ होता है। पिचकारी विशोधन के लिये तथा अन्य काम मे आलकोहल का प्रयोग न करें। सूची प्रयोग के वाद २४ घण्टे तक विस्तरे पर आराम से रहे। माफार्सन, सालवर्सन और नीओसालवर्सन की सूई सिरा मे देनी चाहिये। सल्फासेनॉल और मायोसालवर्सन की सूई पेशी में देनी चाहिये। सिरा में सूई प्रविष्ट होने के पश्चात् औषधियों के वरावर रक्त पिचकारी मे खींच कर रक्तमिश्रित ओषधि धीरे-धीरे शिरा मे प्रविष्ट करनी चाहिये। चिकित्सा की अवधि मे प्रत्येक सूई देने के पूर्व औषध के विषम लक्षणों के सम्वन्ध मे (यथा—त्वचा मे कण्डू या रक्तिमा, मुखपाक, हृल्लास, वमन, वहुमूत्रता, शुक्ति का उत्सर्ग, कामला, शिरोवेदना प्रभृति) सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। इनकी उपस्थिति होने पर लक्षणों की तीव्रता के अनुसार मात्रा कम करनी चाहिये। इसके वाद औषध देना वन्द कर दें। अथवा लक्षणों की मुख्य चिकित्सा करें। सामान्यतया उपर्युक्त पूर्व सूचनाओं के अनुसार औषध प्रदान करने पर तथा साधारण चिकित्सा के अनुसार रोगी का जीवनक्रम रखने पर विषम लक्षण तथा अन्य

दुर्घटनाय प्रायः नहीं उत्पन्न होती। सूचीप्रयोग के पूर्व रोगी को ५-१० बूँद एड्रेनलीन जिह्वा पर देने से भी अधिकतर आकस्मिक दुर्घटनाओं से रक्षा होती है।

मल्ल प्रयोग के अयोग्य रोगी—प्राचीन वृक्कशोथी, मधुमेही, राजयक्ष्मी, हृद्रोगी, पक्षाघाती और जिनमे रक्तनिपीडन या धमनीविकार हो ऐसे रोगी एवं अत्यन्त दुर्वल रोगी प्रभृति मे उपर्युक्त मल्लयोगों का प्रयोग न करें।

चपल (विस्मथ) प्रयोग

आजकल उपदंश की चिकित्सा मे चपल (विस्मथ) का प्रयोग वहुत हो रहा है। इसका प्रयोग सदा पेशी मे होता है। मात्रा १-३ ग्रेन की होती है। इञ्जेक्शन के लिये विस्मथ स्यालिसालेट (B.P) विस्मथ (B. P.) ट्रेपोल, नीओ ट्रेपोल, विसेरोल, विस्मोक्षाव, विसोक्झिल, नीओओलीसल, क्यासविस, क्विनवी प्रभृति अनेक योग आजकल मिलते हैं। प्रचूपणगति के अनुसार इनके चार विभाग किये जाते है। (१) घुलनशील विस्मथ के पानी मे घोल, (२) घुलनशील विस्मथ के तेल मे घोल (३) अघुलनशील विस्मथ के पानी का अवलम्बन (Suspensions), (४) अघुलनशील विस्मथ के तेल का अवलम्वन। इनमें प्रचूपण की गति मन्द होती हैं।

गुण वर्णन

यह उत्तम फिरंग-नाशक है। परन्तु इसकी शक्ति मल्ल के योगों से कुछ कम और पारद से कुछ अधिक होती है। इसमे शरीर की प्रतिकारक शक्ति वढ़ाने का गुण है। इसका विषैलापन पारद से बहुत कम होता है। अत. इसके प्रयोग से जो कुछ विषम परिणाम होते हैं वे अल्प होते है। पारद या सोमल से यह कम अवसादक है। इसलिये वृद्ध और दुर्वल रोगियों मे इसका अधिक काल तक उपयोग कर सकते हैं। नेत्रगत, सहज और मस्तिष्कगत उपदंश मे औरों की अपेक्षा विस्मथ अधिक लाभदायक है। अतः तीव्र उपदंश, मस्तिष्कगत फिरंग और दुर्वल

रोगियों में मल्ल की तीव्र प्रतिक्रिया को टालने के लिये प्रथम विस्मथ का ही प्रयोग किया जाता है।

केवल विस्मथ ही शरीरगत फिरंग का नाश करने के लिये पर्याप्त है। उसके साथ सोमल के योग देने की कोई आवश्यकता नहीं है। सयुक्त चिकित्सा से चिकित्सा की अवधि घट जाती है और रोगी को जल्दी आराम मिलता है। अत: विस्मथ और सोमल का प्रयोग सयुक्त होता है। पारद-सोमलसयुक्त-चिकित्सा की अपेक्षा विस्मथ-सोमल-चिकित्सा अधिक परिणामकारी होती है। पारद और सोमल के योगों से जिनमे लाभ नहीं होता उनमे भी विस्मथ लाभदायक है।

दोष-वर्णन

विस्मथ के प्रयोग से विषम परिणाम यद्यपि अल्प होते हैं तो भी संखिया के समान इससे भी कभी-कभी झरिस, हरझीमर प्रतिक्रिया हृदयरक्तवहसंस्थान तथा यकृत के फिरग मे औपशयिक आघात तथा विरोध होता है। इन खास दुर्घटनाओं के अलावे साधारण विषम परिणाम भी होते हैं जिनमें मसूढों पर नीली लकीर, मुख मे अरुचि तथा दुर्गन्ध, क्षुधानाश, मुखपाक, प्रवाहिका, लालास्राव, अस्थि-सन्धियों में पीडा कभी-कभी शीतज्वर, लालत्वचा, वृक्कशोथ, और मूत्र मे अलव्यूमिन निकलने लगता है।

विस्मथ-प्रयोग के पूर्व सूचनायें

रोगी के मुख, दाँत, यकृत् तथा साधारण स्वास्थ्य की परीक्षा कर लेवें। यदि उनमें कुछ खराबी हो, तो उसको दूर करें। मूत्र मे अलव्यूमिन और निर्मोक (कास्टस्) निकलते हों तो विस्मथ-प्रयोग न करें। इसके लिये प्रथम मूत्र की परीक्षा कर लेवें। पचनसंस्थान की ओर भी ध्यान देकर प्रवाहिका, विबन्ध प्रभृति को दूर करके विस्मथ का प्रयोग करें।

पेनीसिलीन का प्रयोग

उपदंश की चिकित्सा मे पेनीसिलीन सबसे नई औषधि है। इस रोग में इसका प्रयोग ६-७ वर्षों से किया जाता है और उससे यह सिद्ध

हो गया है कि प्रथमा और द्वितीयावस्था के व्रणों के भीतर होने वाले फिरंगाणु इससे अत्यन्त शीघ्रता से नष्ट हो जाते हैं। तृतीयावस्था के गोन्दार्बुद अति शीघ्र ही अदृश्य हो जाते हैं। नाड़ी फिरङ्गी का अस्त्यात्मक म० सु० जल शीघ्रता से नास्त्यात्मक हो जाता है। परन्तु चिकित्सानुभव की अवधि बहुत कम होने के कारण तथा फिरंग का उपसर्गगणानुबन्धी होने के कारण ये परिणाम स्थायी नहीं माने जाते। इसके सिवाय कुछ रोगियों में इतनी अल्प अवधि में भी उपर्युक्त परिणाम निष्फल हुवे दिखाई दिये गये हैं। इसलिये उपदंशज्ञ केवल पेनीसिलीन से चिकित्सा न करके, मल्ल या विस्मथ या दोनों की सयुक्त चिकित्सा-क्रिया करते है। यह संयुक्त-चिकित्सा किसी एक औषधि से चिकित्सा करने की अपेक्षा अधिक शीघ्र फलदायी और स्थायी प्रमाणित हुई है।

मात्रा और मार्ग

पेनीसिलीन अनेक रोगों मे प्रयुक्त होता है। परन्तु अन्य रोगों की तुलना मे उपदंश मे प्रयुक्त पेनीसिलीन की मात्रा कई गुना अधिक (९ लाख से १०० लाख एकक तक) होती है। अभी तक फिरंग मे इसका उपयोग प्रयोगावस्था मे होने के कारण चिकित्सा-क्रम निश्चित नहीं हो सका। परन्तु साधारणतया १० हजार यूनिट की मात्रा प्रति ३ घण्टे पर ८-१५ दिन लगातार पेशी मे दी जाती है। आजकल मधुसिक्थतैल का पेनीसिलीन (P. B.) बनाया गया है जिसको दिन मे एक ही बार दिया जाता है। इससे रोगी की तकलीफ कम हो जाती है और चिकित्सक भी व्यर्थ के परेशानी से बचते है।

पेनीसिलीन के अनुभव—(१) प्राथमिक अवस्था मे चिकित्सा प्रारम्भ करने से अधिक सफलता मिलती है। (२) तात्कालिक परिणाम की दृष्टि से ९ लाख, १२ लाख, २४ लाख या इससे अधिक मात्रा मे कोई अन्तर नहीं कर सकते। स्थायी परिणाम की दृष्टि से मात्रा का निर्णय आज तक नहीं किया जा सका है। परन्तु यह बात निश्चित हो गई है कि अकेला पेनिसिलीन, चाहे जितनी अधिक मात्रा मे दिया जावे उपदंश को निर्मूल नहीं कर सकता। (३) विस्मथ, मल्ल और

पेनीसिलीन परस्पर वीर्यवर्धक (Synergistic) औषधियाँ हैं। शरीर-ताप की वृद्धि भी पेनीसिलीन की कार्य क्षमता को बढाती है। इनके अतिरिक्त, पारद, आयोडीन विटामिन बी० सी०, यकृतनि.सार (Extract) ये सब सहायक औषधियाँ है। इसलिये स्थायी परिणाम होने की दृष्टि से पेनीसिलीन के साथ इनमें अनेक औषधियाँ संयुक्त की जाती हैं। इस प्रकार की संयुक्त चिकित्सा से उपदंश-चिकित्सा की अवधि बहुत घट जाती है।

उपदंश विषयक आयुर्वेदीय सिद्धान्त

कारण और लक्षण—दूषित योनि वाली रमणी एवं ब्रह्मचारिणी के साथ सहवास करने से, अधिक मैथुन करने से, मैथुन के बाद लिङ्ग को न धोने से अथवा क्षार मिश्रित उष्णजल मे धोने से तथा और भी अनेक कारणों से लिङ्ग मे क्षत हो जाता है। जिस प्रकार प्रबल काम की वासना होने पर लिङ्ग मे नाखून और दात का घाव हो जाता है। अथवा हाथ से लिङ्गों मे किसी प्रकार का अभिघात होकर उपदंश रोग उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार दूषित पुरुष के साथ सहवास प्रभृति कारणों से स्त्रियों को भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है। इस पीड़ा से प्रथम लिङ्ग-मुण्ड वा आवरक चर्म मे छोटी-छोटी पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं और पिडिकाओं के चारों तरफ कड़ा पड़ जाता है। क्रम से ये पिडिकाय पक जाती हैं और उनसे पूय और जल के तुल्य पदार्थ निकलता है। क्षत स्थान अत्यन्त विवर्ण युक्त हो जाता है। इसके साथ सामान्य ज्वर हो जाता है और वमनोद्रेक, अग्निमांद्य, जिह्वा मलयुक्त तथा स्वाद विकृत, अस्थि मे वेदना और शिर मे पीड़ा होती है। किसी-किसी के वंक्षण प्रदेश मे वेदना होने लगती है। अथवा वद (ब्रध्न) निकल आती है। क्षत-स्थान का मूल भाग कठिन और मध्यस्थान कुछ नीचा और उसके चारों तरफ का भाग ऊँचा हो जाता है। इस रोग की चिकित्सा न करने से क्रमशः पिडिकायें सम्पूर्ण अङ्गों में निकल आती हैं। स्थान-स्थान पर क्षत अथवा स्फोट प्रकाशित हो जाते हैं। नेत्र-रोग, केश और लोम का क्षय,

सन्धि-स्थानों में वेदना, पीनस और कभी-कभी प्रकुन कुष्ठ रोग भी हो जाता है। चिकित्सा न करने से यहां तक अवस्था आ जाती है कि क्षत-स्थान में कृमि पड़ जाते हैं और लिङ्ग का क्षय हो जाता है। इस अवस्था में रोगी के प्राणान्त हो जाते हैं।

यथोक्तम् सुश्रुते—

तत्राति मैथुनादति ब्रह्मचर्याद्वा तथा ब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां रजस्वलां दीर्घरोमां कर्कशरोमां संकीर्णरोमां निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रियामकामाम चौक्ष्य सलिल प्रक्षालित योनिमप्रक्षालितयोनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतो वा दुष्ट योनिं वियोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य तथा करजदशन विषशूक निपातना दर्दनाद्धस्ताभिघाताच्चतुस्पदीगमनादचौक्ष्य सलिल प्रक्षालनादवपीडनाच्छुक्रवेगविधारणान्मैथुनान्तेऽप्रक्षालनादिभिर्मेढ्रमागम्य प्रकुपिताः दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति तमुपदंशमित्याचक्षते ।

वातिक उपदंश के लक्षण

वायु के उपदंश में खुरदरापन, लिङ्ग की त्वचा का फटना और लिङ्ग का कठिन हो जाना, सूई चुभोने के समान पीडा, भेदन के तुल्य पीडा और काले स्फोट हो जाते हैं।

पैत्तिक उपदंश

पित्त के उपदंश में ज्वर, शोथ, परिपक्व उदुम्बर फल के समान रक्तवर्ण, तीव्रदाह, शीघ्रपाक और पीले क्लेद वाले स्फोट हो जाते हैं।

श्लैष्मिक उपदंश

कफ के उपदंश में सूजन, खाज, कड़ापन, खिन्नता और श्वेत तथा घनस्रावयुक्त स्फोट हो जाते हैं।

रक्तज उपदंश

रक्त के उपदंश में काली-काली फुन्सियाँ, शोणित का अधिक निकलना और पित्त के तुल्य सब लक्षण, ज्वर, दाह और शोष होते हैं। रक्तजन्य उपदंश याप्य होता है।

सान्निपातिक उपदंश

त्रिदोषज उपदंश में तीनों दोषों के लक्षण मिले हुये होते हैं। लिङ्ग में दारुण क्षत हो जाता है और क्रिमि पड जाते हैं। ऐसी अवस्था में मृत्यु हो जाती है।

फिरङ्ग का वर्णन

'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ में फिरङ्ग रोग का वर्णन मिलता है। वहाँ पर इस रोग का नामकरण संस्कार इस भाँति किया है कि पोर्तुगीज वासियों का फिरङ्गियों के साथ संसर्ग होने से अथवा फिरङ्गियों के साथ विषय भोग करने से यह आगन्तुक रोग भारतवर्ष में व्याप्त हो गया। शीत प्रधान देश में फिरङ्गादि में यह अधिकतर होता है। इसलिये इसका नाम फिरङ्ग ही प्रचलित हो गया है।

यथोक्तम्—

फिरङ्ग संज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद् भवेत्।
तस्मात्फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधि विशारदैः॥
फिरङ्गिणोऽङ्ग संसर्गात्फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गतः।
व्याधिरागन्तुजोह्येष दोषाणामत्र संक्रमः॥

प्रभेद

यह व्याधि तीन प्रकार की होती है। (१) बाह्य व्याधि (२) आभ्यन्तरिक व्याधि और (३) बाह्याभ्यन्तरिक व्याधि।

बाह्यफिरंग का लक्षण

बाहिरी फिरङ्ग में फुन्सियाँ-सी प्रतीत होती है। इनमें पीड़ा भी कम होती है। इनके फूट जाने पर वैद्यों ने व्रण के तुल्य इसे सुख साध्य कहा है।

यथोक्तम्—

तत्र बाह्य फिरङ्गः स्याद् विस्फोट सदृशोऽल्परुक्।
स्फुटितो व्रणवद् वैद्यैः सुख साध्योऽपि स्मृतः॥

आभ्यन्तरिक फिरङ्ग के लक्षण

आभ्यन्तरिक फिरङ्ग मे आमवात के समान सन्धियों में पीड़ा व शोथ हो जाता है। चिकित्सकों ने इसको कष्टसाध्य कहा है। यथोक्तम्—

सधिष्वाभ्यन्तर' स स्यादामवात इव व्यथाम्।
शोथञ्च जनयेत् कष्ट साध्यो बुधैः स्मृतः॥

वाह्याभ्यन्तरिक फिरङ्ग के लक्षण

यदि दोनों के लक्षण प्रकाशित होवे तो उसको वाह्याभ्यन्तरिक फिरङ्ग कहते हैं।

फिरङ्ग के उपद्रव

कृशता, वलक्षीणता, नासाभङ्ग, मन्दाग्नि, रक्तविकार, अस्थिवक्रता प्रभृति फिरङ्ग के उपद्रव हैं।

विशेष वक्तव्य

"भावप्रकाश" नामक ग्रन्थ मे उपदंश और फिरङ्ग मे भेद वतलाया है। साथ ही उपदंश रोग से भिन्न चिकित्सा का जो वर्णन किया गया है वह यह है कि, फिरङ्ग मे आमवात के समान व्यथा और नासाभङ्गादि उपद्रव होते हैं। परन्तु वस्तुतः मे "योनिरोगोपसृष्टामुपसेवमानस्य" इत्यादि सुश्रुतोक्त कारणों से उपदंश रोग व फिरङ्ग रोग मे कोई भेद प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि फिरङ्ग मे भी "फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गतः" अर्थात् फिरङ्गियों के साथ प्रसङ्ग करने से फिरङ्ग होता है। दोनों के निदानादि प्रायः मिलते हैं। केवल नाम मे भिन्नता है।

फिरङ्ग और उपदंश की पारस्परिक विलक्षणता

कोई-कोई चिकित्सक फिरङ्ग को सिफिलिस और उपदंश को साफ्टशैंकर कहते है। ऐसी दशा मे फिरङ्ग का कारण स्पाइरोचीटापैलिडा नामक जीवाणु हो सकता है। उपदंश का वैसिलस् आफ् ड्यक्रे नामक जीवाणु पृथक् होता है। इसके अलावे और भी निम्नलिखित भिन्न लक्षण होते हैं।

फिरंग	उपदंश
(१) रक्त के साथ विप का सम्पर्क होने से तृतीय वा चतुर्थ सप्ताह मे कठोर व्रण प्रकाशित होता है।	रक्त के साथ विष का सम्पर्क होने से तीसरे वा चौथे सप्ताह मे मृदु व्रण प्रकाशित होता है।
(२) साधारणतः कठोर व्रण अकेला होता है।	५-७-१० तक व्रण होते हैं।
(३) इसके प्रान्त उपास्थि के तुल्य दृढ़ होते हैं। अतः यह अत्यन्त कठोर हाता है।	यह अत्यन्त मृदु होता है।
(४) प्रदाह नहीं होता है।	प्रचुर दाह होता है।
(५) पूय, एवं लसीका का स्राव नहीं होता। अथवा अल्प होता है।	अधिक पूय, एवं लसीका का स्राव होता है। जहाॅ पर इसका संसर्ग होता है वहाॅ पर मृदु व्रण प्रकाशित होता है।
(६) पारद-सेवन, लेप और मर्दन से शान्ति मिलती है।	औषध सेवन की इसमे आवश्यकता नहीं होती। केवल व्रण-चिकित्सा से लाभ होता है।
(७) सर्वाङ्गीण लक्षण होता है।	स्थानिक लक्षण होता है।

मूल भाग कठिन, मध्य स्थान कुछ नीचा और उसके चारों तरफ का भाग ऊॅचा हो जाता है। इस रोग की अधिक दिन तक चिकित्सा न करने पर क्रमशः पिडिकायें सम्पूर्ण अगों मे निकल आती हैं। स्थान-स्थान पर क्षत वा फोडे प्रकाशित हो जाते हैं। नेत्ररोग, केश और लोम का क्षय, सन्धि स्थानों में वेदना, पीनस और कभी-कभी प्रकृत कुष्ठ रोग भी उत्पन्न हो जाता है। चिकित्सा न करने से क्षत स्थान में कीडे पड जाते हैं और लिङ्ग का क्षय हो जाता है। ऐसी अवस्था मे रोगी के प्राण नष्ट हो जाते हैं।

चिकित्सा

उपदंश रोग की परीक्षा करके रोगी को स्नेह पान करावें और वाद को आवश्यकता होने पर स्वेदन देवें। इसके पश्चात् अत्यन्त वढ़े हुये विकारों को विरेचन द्वारा शान्त करें। कफ की प्रवलता में मृदु वमन-योग देवें। तत्काल दोषों को निकाल देने से पीडा और शोथ शान्त हो जाता है। यदि रोगी दुर्बल होवे तो विरेचन नहीं देना चहिये। वल्कि वढ़े हुये दोषों को निरूह वस्ति देकर निकाल देना चाहिये। औपदंशिक क्षत निवारण करने के लिये करञ्जाद्य घृत, भूनिम्बाद्य घृत और लेप का प्रयोग करें।

करञ्जाद्य घृत का प्रयोग

योग—कल्क के लिये करञ्ज के वीज, नीम के पत्र, अर्जुन की छाल, शाल (साखू) की छाल, जामुन की छाल, वट, गूलर, पीपल, पाकर और वेत की छाल—इन सव का मिला हुआ भाग ८ सेर लें और ६४ सेर जल मिलाकर पाक करें। जव १६ सेर क्काथ वाकी रह जावे तव छानकर इस क्काथ में उपरोक्त ओषधियों का कल्क १ सेर और घी ४ सेर डाल करके पकावें। फिर इस घी का प्रयोग क्षत-स्थान के ऊपर करें। इससे उपदंश का दाह, पाक, पूयादि स्राव और रक्तवर्णता दूर हो जाती है।

भूनिम्बादि घृत

योग—क्काथ के लिये चिरायता, नीम की छाल, त्रिफला, परवल के पत्ते, करञ्ज के वीज, जाती-पत्र, खदिर की छाल, विजयसार प्रत्येक द्रव्य १ सेर लेकर ६४ सेर जल में पकायें, जव १६ सेर जल शेष रहे तो ४ सेर घी डाल कर घृतपाक विधि से पाक करें। इसका उपदंश रोग में प्रयोग करने से पूर्वोक्त क्वाथ के समान लाभ होता है।

अनन्ताद्य घृत

गौ का घी ४ सेर, अनन्तमूल का क्काथ १६ सेर और कल्क के लिये अनन्तमूल, आँवला मुनक्का, काकोली, क्षीर काकोली, शतावर, छोटी

इलायची, विदारी कन्द, महुआ के फूल, मुलेठी, जटामासी, त्रिफला, सोनामुखी, गोखुरू के बीज (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, गोखुरू, बिल्व, अग्निमन्थ, सोनापाठा, खम्भारी, पाढल) अर्थात दशमूल, सफेद मुसली, निशोथ, इन्द्रायण, नील की जड़ और केवाच के बीज प्रत्येक द्रव्य दो तोला परिमाण में ले करके विधि पूर्वक पाक करें। इस घृत के सेवन से उपदंश और रक्त-दोष दूर हो जाता है।

त्रिफला भस्म-प्रयोग

आँवला, हरीतकी, बहेड़ा इनको समान भाग में लेकर हाँडी में भर कर ऊपर से शराब से तर करके अग्नि में रख कर भस्म करें। फिर भस्म को निकाल कर उपयुक्त मात्रा में शहद मिलाकर क्षत-स्थान पर प्रयोग करें। अथवा त्रिफला के क्वाथ से क्षत को धोवें। इससे लाभ होता है।

रसाञ्जनादि प्रयोग

रसाञ्जन और हरीतकी को समान मात्रा में पीस करके उसमें मधु मिला कर क्षत स्थान पर प्रयोग करें।

शिरावेधन

स्निग्ध या स्विन्न करके रोगी के शिश्न के मध्य शिरावेधन करें जिससे दूषित रक्त निकल जावे। अथवा शिरावेधन के योग्य रोगी न होवे तो निर्विष जलौका लेकर लगावें। वह दूषित रक्त को चूस लेती है।

वातोपदंशहर लेप

योग—पुण्डरीककाष्ठ, मुलेठी, देवदारु, अगर, दारुहल्दी, रास्नाकूठ और छोटी इलायची।

विधि—इन औषधों को समान मात्रा में लेकर जल से पीसकर कल्क बनावें और उपदंश के क्षत पर लेप करे। इससे वातोपदंश शान्त होता है। अथवा, उक्त योगों का क्वाथ बनाकर सेचन कर्म करे।

यथोक्तम् भैषज्य रत्नावल्याम्—

उपदंशेषु साध्येषु स्निग्ध स्विन्नस्य देहिनः।
मेढ्र मध्ये शिरां विध्येत् पातयेद्वा जलौकसः॥
प्रपौण्डरीककुष्ठ्याह्व सरलागुरुदेवदारुभिः।
सरास्नाकुष्ठ पृथ्वीकैः वातिके लेप सेचने॥

पित्तोपदंश-प्रलेप

स्वर्णगैरिक, रसौत, मजीठ, मुलेठी, खस, पद्माख, लालचन्दन, नीलकमल।

विधि—इन सब औषधियों को समान भाग में कूट-पीस कर घी मिलाकर लेप करें। इससे पित्तज उपदंश शान्त होता है।

सेचन-प्रयोग

योग—वट, पीपल, पिलखन, शिरीष, गूलर, वेत—इनकी छाल लेकर काथविधि से काथ बनाकर सेचन करें। इससे पित्तज उपदंश शान्त होता है।

कफोपदंशहर लेप

योग—हल्दी, अतीस, नागरमोथा, सरल काठ, देवदारु, पाठा (जलजमुनी) पत्तूर (सखाली)।

विधि—इन औषधियों को मद्य से पीस कर तेल मिश्रित करके गरम-गरम लेप करें। इससे कफजोपदंश नष्ट हो जाता है।

रक्तोपदंशहर लेप

योग—निम्ब, अर्जुन, पीपल, कदम्ब, शाल, जामुन, वटवृक्ष, गूलर, बेत।

विधि—इन सब वृक्षों की समान मात्रा से छाल लेकर काथ बनाकर उससे परिसेचन करें। अथवा, इन सब छालों को पीस कर उसका लेप लगाने से रक्तजोपदंश नष्ट होता है।

प्रक्षालनार्थ काथ

योग—करवीर (कन्नेर) की पत्ती, चमेली की पत्ती, अमलतास की पत्ती।

विधि—इन पत्तियों में जल डालकर क्वाथविधि से क्वाथ बना कर व्रण को धोवें। अथवा, शालिमूल, गिलोय, सोंठ, मुलेठी एवं वट के मृदु पल्लव—इनको समान मात्रा में लेकर जल डालकर क्वाथ बनावें और इससे औपदंशिक व्रण का प्रक्षालन करें। इससे उपदंश नष्ट हो जाता है।

घृतकुमार्यादि-प्रलेप

घृतकुमारी के रस में जीरे को पीसकर लेप करने से, उपदंशजपाक, दूर हो जाता है।

कसीसादि-प्रलेप

योग—हीराकसीस, फिटकिरी, गेरु, तूतिया, सुरमा, सेंधा नमक, लोध्र, रसौत, दारुहल्दी, हरताल, मनःशिला, संभालू, छोटी इलायची।

विधि—इन औषधियों को समान भाग में लेकर कूट-पीसकर छान लेवें और उसमें शहद मिलाकर लेप करें।

वटादि-प्रलेप

योग—वड़ के मृदुपल्लव, अर्जुन की छाल, जामुन की छाल, लोध्र, हरड़ की छाल और हल्दी।

विधि—इन सबको जल में पीसकर लेप करने से उपदंश नष्ट होता है।

—अमृत सागर

श्वेत करवीर-प्रलेप

श्वेत करवीर (कनेर) के मूल की छाल को पानी में पीस कर लेप करने से उपदंश की शोथ आदि आसाध्य अवस्था शांत होती है।

—शार्ङ्गधर संहिता

तिरीटादि अर्क

लोध्र, जामुन, वड की जटा, हरड़, अर्जुन की छाल और हल्दी—इनका अर्कविधि से अर्क खींच कर पीने से स्त्री-पुरुषों का उपदंश नष्ट होता है।

—अर्कप्रकाश.

वड़वानल रस-प्रयोग

योग—शिंगरफ से निकाला हुवा पारद और शुद्ध गन्धक १-१ तोला लेकर इनकी कज्जली बनावें। फिर उसमें ताम्रभस्म १ तोला, लोह-

भस्म १ तोला, शिलाजीत मलाईदार १ तोला, तुत्थभस्म १ तोला, रसौत १ तोला, हरितालभस्म १ तोला, शंखभस्म १ तोला, कपर्दभस्म १ तोला हरवेर १ तोला, पञ्चलवण ५ तोला, त्रिकटु ३ तोला, यवक्षार १ तोला, कुठ १ तोला, छोटी इलायची १ तोला, फूलप्रियंगु १ तोला, अजमोद १ तोला, वायविडंग १ तोला, पिपरामूल १ तोला, जीरा १ तोला, कृष्णजीरक एक तोला, कर्पूर १ तोला, दन्ती १ तोला, निशोथ १ तोला, त्रिफलाचूर्ण ३ तोला, गजपीपल १ तोला और शुद्ध जयपाल २ तोला।

विधि—काष्ठौषधियों को कूट-पीस कर छान लेवें। बाद में सब औषधियों को मिला कर त्रिफला-क्वाथ से भावना देकर धूप में सुखाकर और फिर हरितकी के क्वाथ की भावना देकर ५-५ रत्ती की गोली बनावें।

सेवन विधि—प्रातःकाल १-१ गोली की मात्रा में अद्रक के स्वरस के साथ सेवन करने से सब प्रकार के उपदंश नष्ट होते हैं।

स्वर्णक्षीरी-योग

स्वर्णक्षीरी के मूल की छाल १ माशा और कालीमिर्च ७ नग इनको पीस-छान कर दुग्ध से पिलावें। अथवा, स्वर्णक्षीरी १ तोला लेकर उसमें पाव भर दूध मिला कर १५ दिन प्रयोग करें। इससे लाभ दिखलाई पडता है। वमन और विरेचन दोनों में साथ-साथ प्रयोग करना अच्छा होता है।

इन्द्रायणी-प्रयोग

इन्द्रायण के फलों का स्वरस लेकर धूप में सुखा लेवें। बाद को १ माशा की मात्रा में प्रातः काल कच्चे गो-दुग्ध के साथ देवें। इससे वमन-विरेचन होकर ७ दिन के लगातार सेवन से उपदंश अच्छा हो जाता है।

पथ्य—चने की रोटी घी के साथ खावें। लवण का प्रयोग नहीं करें।

यथोक्त भावप्रकाशे—

सेवयेन्नित्यं यवान्नञ्च पानीय कौपमेव च।
त्यजेल्लवणमम्लञ्चोपदंशस्तस्य नश्यति॥
लवण यदि वा त्यक्तु न शक्नोति यदा जन।
सैंधव सहि भुञ्जन्ति मधुर परम हितम्॥

चोपचीनी का प्रयोग

चोपचीनी का चूर्ण ३ माशा शहद के साथ प्रतिदिन सेवन करें। लवण का सेवन बिल्कुल छोड़ देवें। इससे उपदंश तथा फिरङ्ग नष्ट हो जाते हैं।

यथोक्त भावप्रकाशे—

चोप चीनीभवं चूर्णं शाणमान स माक्षिकम्।
फिरङ्ग व्याधि नाशाय भक्षयेल्लवण त्यजेत्॥

बबूलादि चूर्ण-प्रयोग

बबूल और अनार के पत्तों का चूर्ण क्षत के ऊपर डालें। इससे क्षत अच्छा हो जाता है।

मानवास्थि चूर्ण-प्रयोग

मनुष्य के शिर की अस्थि का बारीक चूर्ण बनावें। फिर उसे कपड़े से छान लेवें, और इसको उपदंश के घाव के ऊपर प्रतिदिन डालें। इससे उपदंश का क्षत बहुत जल्दी आराम हो जाता है। रसरत्नाकर

प्रक्षालन प्रयोग

वर्णित घृत प्रलेपादि प्रयोगों के पहले त्रिफला के क्वाथ अथवा श्वेत कन्देल के क्वाथ से, भृङ्गराज वा जयन्ती वा अर्क के पत्तों के क्वाथ अथवा नीम के पत्तों के क्वाथ से उपदंश के क्षत को अच्छी तरह धोकर लेपादि का प्रयोग करें।

त्रिफलादि गुग्गुलु

त्रिफला का चूर्ण १ तोला, नीम की छाल का चूर्ण १ तोला, अर्जुन की छाल का चूर्ण, पीपल की छाल का चूर्ण, खदिर की छाल का चूर्ण,

चिरौंजी की छाल का चूर्ण और अडूसे की छाल का चूर्ण प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण एक-एक तोला लेवें और सबके बराबर शुद्ध गुग्गुलु मिलावें। इसकी मात्रा ६ माशा की है। इससे उपदंश और रक्त दुष्टि का नाश होता है।

रस शेखर वटिका

शुद्ध पारद २ रत्ती और शुद्ध अफीम १२ रत्ती लेकर के लोहे की खरल मे डाल कर तुलसी की पत्ती का रस छोड करके नीम के दण्ड से खूब घोटें। फिर शुद्ध हिंगुल २ रत्ती की परिमाण मे मिला कर उसमे पुनर्नवा और तुलसी पत्र का रस डाल कर मर्दन करे। इसके बाद जावित्री, जायफल, खुरासानी अजवायन और अकरकरहा प्रत्येक द्रव्य ३२ रत्ती मिलावें और सम्पूर्ण द्रव्य के दूने परिमाण मे कत्था मिलावे। फिर तुलसी के पत्र के रस के साथ घोंट करके मूँग के बराबर गोली बाँधे। प्रतिदिन सायकाल एक वटी का सेवन करें। इससे उपदंश, गलितकुष्ठ, दुष्टव्रण और सब प्रकार के स्फोटक प्रभृति दूर हो जाते हैं।

कृष्णमरिचादि वटी

कालीमिर्च १ रत्ती, खुरासानी अजवायन ७ माशा, कृष्ण तिल ६ माशा, शुद्ध जमालगोटा ३ माशा, पुराना गुड १० तोला, सबको मिला कर तीन दिवस तक घोंटें और बाद को जंगली बेर के बराबर गोली बाँध लेवें।

मात्रा और विधि—१ गोली, प्रातःकाल दूध की मलाई मे रख करके खावें।

फिरंग की चिकित्सा

शुद्ध रसकर्पूर को ऊर्ध्वपातन विधि से उड़ा लेवें। फिर गेहूं का आटा गूँध कर उसकी छोटी कूपिकायें बनावें और उसमे चौथाई रत्ती की मात्रा मे रसकर्पूर-सत्त्व रख कर गोली बना लेवें जिससे रसकर्पूर-सत्त्व बाहर न निकलने पावे। फिर इन गोलियों को लवंग के सूक्ष्म चूर्ण मे लपेट कर इस भाँति पानी के साथ सेवन करें जिससे दन्त से

स्पर्श न होवे। इसके बाद पान खाव। लवणाम्ल, शाक प्रभृति को छोड़ देवें और परिश्रम, धूप, मार्गगमन, विषय-भोग सर्वथा त्याग देव।

यथोक्त भावप्रकाशे रसकर्पूर सेवनम्—

फिरङ्ग सञ्ज्ञक रोग रस कर्पूर सञ्ज्ञकः,
अवश्य नाशयेदेत इत्युः पूर्वं चिकित्सक.।
गोधूमचूर्ण सन्तोय विदध्यात्सूक्ष्म कूपिकाम्,
तन्मध्ये निक्षिपेत् सूत चतुर्गुञ्जमित भिषक्।
ततस्तु गुटिकां कुर्याद् यथा न दृश्यते वहि,
सूक्ष्म चूर्ण लवगस्य तां वटीमवधूलयेत्।
दन्त स्पर्शो यथा न स्यात् तथा तामम्भसा गिलेत्
ताम्बूल भक्षयेभ्यश्चाच्छाकाम्ल लवणान् त्यजेत्।
श्रमातपमध्वान विशेषात् स्त्री निषेवनम्॥

धूम-प्रयोग

योग—शुद्ध पारा १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, चावल १ तोला।

विधि—सर्वप्रथम इनकी कज्जली बनाकर, पश्चात् सात गोली बनाएँ। सात दिन तक १-१ गोली की मात्रा में प्रतिदिन धूम-सेवन विधि के अनुसार सेवन करें। इससे लाभ होता है।

यथोक्तं भावप्रकाशे—

पारद कर्षमात्रस्यात्तावानेवहि गन्धक.
तण्डुलाश्चाक्षमात्रास्युरेषां कुर्वीत कज्जलीम्।
तस्या सप्तवटी कुर्यात्ताभिर्धूम प्रयोजयेत्
दिनानि सप्ततेन स्यात् फिरङ्गान्तो न सशय.।

द्वितीय प्रयोग

पारद टक मात्र स्याद् यवचूर्ण त्रि तोलकम्।
टकण कर्षमेकन्तु सघृस्य त्रितय क्षणात्॥
आवद्ध्य वटिकां कुर्याद् वदरी प्रमितां बुधः।
तस्या धूम प्रगेदद्याद् वदरीकाष्ठ वह्निना॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पारद मर्दन-प्रयोग

शुद्ध पारद ४ माशा की मात्रा में [illegible] के स्वरस में हाथों पर मर्दन करें और [illegible] पारद दृष्टिगोचर होवे। जब पारद [illegible] बन्द कर देवें। मर्दन के समय हाथों को अग्नि में [illegible] चाहिये। इस प्रकार सात दिन प्रयोग करें। इससे फिरंग नष्ट हो जाता है। इससे [illegible] है।

यथोक्त—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

उपदंश में पारदाभ्यंग का प्रयोग

शुद्ध पारद ६ माशा लेकर तुलसी के स्वरस में मर्दन करें। फिर हल्दी, दारुहल्दी, शुद्ध तूतिया, खदिर, एरण्ड के बीज प्रत्येक ६-६ माशा लेकर कूट-पीस छान कर पारद में मिलावें। पारद को ताम्रपात्र में डालकर घृत मिला कर निम्ब के डण्डे से रगड़ना चाहिये। जब पारद बिल्कुल न दिखलाई पड़े तब इसका अभ्यंग करें। इससे उपदंश नष्ट होता है।

यथोक्तं चिकित्सा शास्त्रे—

कर्षार्धं पारदं शुद्धं तुलसीरस मर्दितम्।
रजनीद्व निशां तुत्थं खदिरैरण्ड फलम् ॥
प्रत्येकं कर्षमात्राणि ताम्रपात्रे घृतेन वत्।
घृष्ट्वा निम्बस्य काष्ठेन फिरंगेऽभ्यंगमाचरेत् ॥

निम्बादि चूर्ण

निम्ब की पत्तियों का चूर्ण ८ तोला, हरीतकी चूर्ण १ तोला, आँवला चूर्ण १ तोला, हल्दी का चूर्ण ६ माशा।

सेवन विधि—३ माशा चूर्ण प्रात सायं शीतल जल से लेने से दोनों प्रकार का फिरंग नष्ट होता है।

अनुभूतयोग

दालचीनी ६ माशा, शीतलचीनी ६ माशा, कबाबचीनी ६ माशा, चोबचीनी ३ माशा, बड़ी इलायची १ तो०, तूतियाभस्म १ तो०, शुद्ध शिंगरफ १ तो०, सफेद कत्था १ तो०, वाकुची १ तो०, माजूफल १ तो०, शुद्ध भिलावा १ तो०, शुद्ध पारद १ तो०, शुद्ध गन्धक १ तो०, देशी कर्पूर १ तो०, शुद्ध रसकर्पूर ६ माशा।

निर्माण विधि—बंगला पान के रस में खरल करके गोरखमुण्डी के बराबर गोली बनावें। खरल करने के पहले काष्ठौषधियों को कूट-पीस कर छान लेवें। पारा गन्धक की भी कज्जली पहले ही बना लेवें।

सेवन विधि—१ गोली दूध की मलाई मे रखकर प्रात काल निगल जावें। लेकिन दंत-स्पर्श न होने पावे। इससे फिरङ्ग नष्ट होता है।

—वैद्य माधवराम शुक्ल

रसशास्त्र मे उपदंश रोग-प्रतीकारार्थ पारद का प्रयोग निम्नलिखित प्रणालियों द्वारा किया जाता है।

(१) मुख द्वारा

(२) अभ्यङ्ग के रूप मे

(३) धूम्र के स्वरूप मे

(४) त्वचोऽन्त. क्षेपण विधि से

(५) सूचिकाभरण विधि से शिरा के मध्य प्रक्षेप द्वारा।

पारद का मुख द्वारा प्रयोग

(१) वड़वानल रस, रसकर्पूरादि वटी, रसशेखर वटी प्रभृति का उपयोग मुख द्वारा किया जाता है। उनके प्रयोग लिखे जा चुके हैं।

(२) पीतपुष्पवल्लादियोग मे पारद का मर्दन और अभ्यङ्ग का वर्णन आगे किया गया है।

(३) पारद गन्धकादि धूम्र-प्रयोग का पूर्व मे वर्णन किया गया है।

(४) त्वचोऽन्त क्षेपण विधि से पारद के प्रयोग का पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

(५) शिरा के मध्य मे पारद-प्रवेश का वर्णन भी पाश्चात्य चिकित्सापद्धति मे किया जा चुका है।

रसकर्पूरादि वटी

शुद्ध रसकर्पूर ४ माशा, शुद्ध शिंगरफ ४ माशा, अकरकरहा ४ माशा, सफेद शुद्ध किया हुवा संखिया ८ रत्ती, तलख चोव ४ माशा इन सब को कूट-पीसकर छान लेवें और मुख की लाला (लार) से घोंटकर बाजरा के बराबर गोली बनाकर छाया मे सुखा लेवें। रोगी के बलाबल का विचार कर १ या २ गोली की मात्रा मे प्रातः सायंकाल, उष्ण जल के साथ देवें। शीतल जल से सदा बचे रहे। नमक, मिर्च, तेल, खटाई और नारी से भी बचे रहे। इससे बहुत लाभ होता है।

किरातादि वटी

चिरायता का चूर्ण ४ माशा, छोटी इलायची ६ माशा, कालीमिर्च २ तो०, पीपल १ तो०, पुराना गुड़ ३ तो० इन सब औषधियों को कूट करके खरल मे खूब घोंटकर बकरी के दूध मे डाल देवें। जब खमीर हो जाय तब फिर उसे घोटकर झाऊबेर के बराबर गोली बाँधे। १ गोली प्रतिदिन खाकर ऊपर से बकरी का दूध आधा सेर पीवें। भोजन मे गेहूं की रोटी, घी और नमक न खावे। एक सप्ताह तक इसका प्रयोग करें।

द्वितीय चोपचीन्यादि चूर्ण

चोपचीनी का चूर्ण १६ तोला, चीनी ४ तो०, पीपल ६ माशा, पिपरामूल ६ मा०, कालीमिर्च १ तो०, लवग ६ मा०, अकरकरहा ६ मा०, गोखुरू ६ मा०, सोंठ ६ मा०, वायविडग ६ मा०, दालचीनी ६ माशा।

विधि—इन सब ओषधियों को कूट-पीस छान लेवें।

मात्रा—३ माशा से ६ माशा तक मधु और सर्पि के साथ प्रातः-सायं लेवे।

पथ्य—शालि चावल का भात, अरहर की दाल, गेहूं की रोटी, सेंधानमक, तोरी, सहजन की फली, कुंदरु, परवल, आद्रक और ईषदुष्ण जल प्रभृति हितकारी है।

यथोक्तम् योगरत्नाकरे—

कुडव चोपचीन्याश्च शर्कराया. पल तथा।
पिप्पली पिप्पली मूल मरिच देवपुष्पकम्॥
आकल्ल क्षुरक शुण्ठी जन्तुघ्न च वराङ्गकम्।
पृथक्कोलमित ग्राह्यमेतच्चूर्णी कृत शुभम्॥
कर्षमेकत्र सयोज्य कर्षार्धं प्रतिवासरम्।
भक्षयेन्मधुसर्पिर्भ्यां युक्त पथ्य समाचरेत्॥
शाल्योदन तथा सूपस्तुवरीणां घृत मधु।
गोधूम सैन्धव शिग्रुर्बिम्बी कोशातकी फलम्॥
आद्रकं जल मन्दोष्ण हितमत्र प्रकीर्तितम्।
पञ्चोपदश रोगाणां प्रमेहाणां तथैव च॥
व्रणानां वात रोगाणां कुष्ठानाञ्च विनाशनम्।

चोपचीनी-पाक

चोपचीनी का चूर्ण ४८ तोला, पीपल १ तो०, पिपरामूल १ तो०, काली मरिच १ तो०, सोंठ १ तो०, दालचीनी १ तो० अकरकरहा १ तो०, लवंग १ तोला और सब ओषधियों के बरावर चीनी ५५ तोला।

विधि—सब ओषधियों को कूट-पीस छान लेवे। फिर चीनी की चासनी बनाकर उपरोक्त ओषधियों का चूर्ण डाल, पका कर १-१ तोला का मोदक बनावें।

मात्रा और विधि—१-१ मोदक, प्रात -सायं जल के साथ लेने से सब प्रकार के उपदंश, व्रण, कुष्ठ प्रभृति नष्ट होते हैं।

यथोक्तम्—

चोपचिन्युद्भवं चूर्णं पलद्वादशमेव च।
पिप्पली पिप्पलीमूल मरिच नागर त्वचम् ॥
आक्ल्लक लवङ्गं च प्रत्येक कर्ष सम्मितम् ॥१॥
शर्करा समचूर्णं च पाचयेत्सर्वमेकत. ।
मोदक कारयेत्तत्तु कर्प कर्प प्रमाणतः ॥२॥
साय प्रातर्निषेव्यस्तु पथ्य पूर्वोक्त चूर्णवत् ॥
उपदंशे व्रणे कुष्ठे वातरोगे भगदरे ॥३॥
धातुक्षय कृते कासे प्रतिश्याये च यक्ष्मणि ॥
सर्वान्रोगान्निहन्त्याशु ततः पुष्टिकरो भवेत् ॥४॥

तुत्थकादि वटी

शुद्ध तूतिया का भस्म ३ माशा, सफेद शुद्ध संखिया १ मा०, शुद्ध रसकपूर २ मा०, पारा शुद्ध किया हुवा ३ मा०, शुद्ध शिंगरफ ५॥ मा० इनको खरल में डाल करके नीवू के रस मे २० पहर खरल कर १ रत्ती की गोली वाँध मलाई अथवा मक्खन मे रखकर खा जावे। गोली दाँतों मे नहीं लगनी चाहिये।

पथ्य—गेहूँ की रोटी, घी, चने की दाल आदि है।

द्वितीय रसकर्पूरादि वटी

शुद्ध रसकपूर ४ मा०, छिल्कारहित चना ६ छटाक दोनों को वारीक पीसकर सेहुड़ के दूध मे १ पहर तक खरल करके चने के प्रमाण की गोली वाँध लेवें।

मात्रा—१ गोली, प्रातः सायंकाल लेने से अधिक विरेचन होता है। ज्यों-ज्यों दस्त कम होते जावेगे, त्यों-त्यों रोग भी कम होता जायगा। जव उपदंश का विष शरीर मे नहीं रहेगा तो दस्त सर्वथा वन्द हो जावेगे।

पथ्य—गेहूँ की रोटी विना नमक के घी के साथ खावे। गोली को घी के साथ निगल जावे।

लवंगादि वटी

लवंग १ तो०, कालीमिर्च १ तो०, जायफल १ तोला, शुद्ध रसकर्पूर १ तो०—इनको अदरक के रस के साथ खरल करके चना प्रमाण की गोली बनावे।

मात्रा—१-१ गोली प्रात और सायकाल खावें। पथ्य मे दूध, घी और भात लें। —राजवैद्य शिवनारायणलालजी

उपदशीय ताम्रभस्म-प्रयोग

भिलावा ४ तोला पीस कर दो टिकया बनावे। एक मे पहले १ तोला स्वर्णमाक्षिक का चूर्ण मिलावें। उसके बाद शुद्ध किया हुआ एक पैसा रखकर ऊपर से स्वर्णमाक्षिक चूर्ण बिछा देवें। फिर दूसरी टिकिया उसके ऊपर रखकर उसकी सन्धि बन्द करके कपडमिट्टी करके धूप मे सुखावें। जब सूख जावे तो ११ सेर उपलों की अग्नि मे भस्म कर देवें।

मात्रा—१ रत्ती बतासा में रख करके खावें। इससे अधिक लाभ होता है।

पारद का प्रयोग

शुद्ध पारद १ तोला, काली मिट्टी ३ तोला, लवण २ तोला—इन तीन वस्तुओं को एक में खरल करके एक प्याला मे रक्खें और दूसरा प्याला लेकर ऊपर से ढँक देवें। सन्धि बन्द करके कपडमिट्टी कर बेर की लकडी की मन्द-मन्द अग्नि एक पहर तक देवें। फिर शीत होने पर उसे निकालें। ऊपर के प्याले मे श्वेत भस्म मिलेगी।

मात्रा—१ रत्ती का नवाँ भाग।

विधि—एक रत्ती औषध लेकर के ९ माशा बडी इलायची के चूर्ण में मिला कर नौ पुडिया बना लेवें। एक पुडिया गौ के घी के साथ सेवन करें। इससे बहुत शीघ्र लाभ होता है। शीतल पदार्थ और शीतल जल अपथ्य हैं।

पारद-सेवन के फलाफल का संक्षिप्त परामर्श

उपदंश रोग से शीघ्र छुटकारा पाने के लिये अधिकतर लोग पारद का सेवन करते है। पारद का ठीक-ठीक संशोधन न करने अथवा

विधिपूर्वक प्रयोग न करने पर पारद शरीर के मध्य मे प्रविष्ट होकर के नाना प्रकार के उत्कट रोग उत्पन्न कर देता है। सम्पूर्ण सन्धियों तथा अङ्गों मे वेदना, अस्थियों मे दाह, शरीर के कई स्थानों में क्षत वा पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं। काले और श्वेत वर्ण के दाग पड़ जाते हैं। हाथ और पैरों की त्वचा निकल जाती हैं। मुख नासिका आदि में क्षत, प्रतिश्याय, मुख-रोग, दन्त-पतन, नासिका-क्षय, शिर में पीड़ा, पक्षाघात, अण्डकोप मे शोथ, चक्षु-रोग, भगन्दर, नाना प्रकार के चर्म-रोग और कुष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा

पारद की विकृति में अनन्त मूल का क्वाथ पीना और पञ्चतिक्त घृत का उपयोग करना चाहिये।

पञ्चतिक्त घृत

नीम की छाल, परवल की पत्ती, कण्टकारी, गिलोय, अडूसा की छाल प्रत्येक द्रव्य १० पल लेकर ६४ सेर जल मे पकावें। जब १६ सेर क्वाथ बाकी रह जावे तो उसे छान कर फिर कडाही मे चढावें और,उसमे गौ का घी ४ सेर एव त्रिफला का कल्क एक सेर डाल कर यथाविधि पकावें। प्रात सायं ६ माशा की मात्रा मे घी का सेवन करें। इससे पारद जन्य विकृति शान्त हो जाती हैं।

गन्धक-प्रयोग

शुद्ध गन्धक ४ रत्ती की मात्रा मे घृत के साथ सेवन करें। इससे भी पारद का विकार शान्त हो जाता है।

यथोक्तं चिकित्सा शास्त्रे—

अहन्यहनि सेवेत बलि रक्त चतुष्टयम्।
शुद्ध गन्धादृते नास्ति भेपज किंचिदुत्तमम्॥
पारदस्य विकाराणां शमनञ्च सुवर्णकृत्।

त्रिफलादि क्वाथ

त्रिफला, कटुकी, शतावर, पटोल-पत्र, गिलोय, पित्तपापडा—इनको क्वाथ विधि से क्वथित करके पीवें। इससे पारद विकार शान्त होते हैं।

सारिवादि कल्क

अनन्त मूल, गोरखमुण्डी, काला सारिवा, गिलोय, हरीतकी, कटुकी मकोय, जीवन्ती, शतावर, बड़ी कटेली, आँवला और बेलगिरी—इनके क्वाथ के प्रयोग से पारद जन्य विकार शान्त हो जाते हैं। वातरक्त और कुष्ट रोग मे जो-जो क्वाथ, गुग्गुल आदि वर्णित है, उन सब का उपयोग व्याधि के बलाबल के अनुसार कर सकते हैं। महारुद्र गुडीची-तैल, व्रणराक्षस तैल और वृहन्मरिचादि तैल का अभ्यगार्थ प्रयोग करें। उपदशघ्न अनन्ताद्य घृत भी इसमें अन्त प्रयुक्त करने पर लाभ करता है।

पारदजन्योद्गारादिविकार प्रशमनोपाय:

पारद सेवन करने से यदि उद्गार अधिक आने लगे तो दही, चावल, और जीरक संस्कृत कृष्णमत्य का मांस सेवन करें। यदि नाडी-सस्थान मे क्षोभ होवे तो नारायण तेल की मालिश करें। अधिक विह्वलता हो तो मस्तक के ऊपर शीतल जल का परिषेक करें और यदि पिपासा अधिक लगे तो नारियल का जल तथा शर्करायुक्त मूँग का यूप पीवें।

तुवरक-प्रयोग

तुवरक (चालमुँगरा) का तेल ५ बूँद की मात्रा मे लेकर दूध में मिलाकर पीवें। इससे पारद का विकार शान्त हो जाता है।

क्षत चर्मरोग-प्रतिकार

क्षत निवारण करने के लिये पूर्वोक्त क्षत-निवारक औषधों का व्यवहार करें। चर्म रोग की शान्ति के लिये सोमराजी तेल एवं मरिचादि तेल का व्यवहार करें। इससे विशेष लाभ होता है।

नोट—उपदंश रोग का विशेष विवरण देखना हो तो लेखक की लिखी हुई, उपदंश विज्ञान नामक पुस्तक को पढ़ें।

उपदंश नाशक धूम

सफेद राल ३ माशा, नीला थोथा ३ माशा, मुरदासंग ३ माशा, इन सब औषधियों को बारीक पीस करके १ तोला लवंग मिलाकर खरल करें। फिर जंगली बेर के बराबर गोली बाँध लेवें। इसके बाद

चारपाई पर रोगी को बिठावें और सम्पूर्ण वस्त्र निकाल कर एक चद्दर ओढा देंवे। शिर को छोड़ शेष सम्पूर्ण शरीर ढँका रहे। फिर एक मिट्टी के पात्र मे कोयले की अग्नि डाल उसमे एक गोली रखकर उसे सावधानी पूर्वक चद्दर के अन्दर इस भाँति रक्खें जिससे अच्छी तरह सम्पूर्ण शरीर मे धूम लगे। बाद को वस्त्र ओढाकर बिछावन पर लिटा देंवे। इस भाँति तीन दिन बराबर करने से बड़ा लाभ होता है।

उपदंश विषयक ग्राह्य प्रयोग

शुद्ध भिलावा ३ माशा, शुद्ध पारद ३ माशा, खुरासानी अजवाइन ३ माशा, अजवाइन ३ माशा, कत्था सफेद ३ माशा, शुद्ध रसकर्पूर १ तोला—इन सब ओषधियों को बँगला पान मे घोंट कर मूँग के बराबर गोली बाँधे। साधारण विरेचन लेने के बाद प्रातः एक गोली दूध की मलाई में रख कर निगल जावें। गोली दाँत मे नहीं लगनी चाहिए। पथ्य से रहे। इसके सेवन से सात दिन मे उपदंश जड़ से नष्ट हो जाता है।

द्वितीय प्रयोग

सफेद इलायची १ तोला, सफेद कत्था १ तोला, शुद्ध रसकपूर १ तोला और लवंग १ तोला इन ओषधियों को लेकर अदरक के रस मे घोंट कर मूँग के सदृश गोली बाँधें। प्रातःकाल १ गोली दूध की मलाई मे रख कर खावें।

अपथ्य—मिर्च, तेल, खटाई, नमक आदि हैं।

तृतीय प्रयोग

काली मिर्च १ तोला, अतीस १ तोला, तूतिया शुद्ध किया हुआ २ माशा, शुद्ध रसकर्पूर २ तोला इन सबको बकरी के दूध में तीन दिन घोंटकर मटर के बराबर गोली बाँधे। प्रातःकाल १ गोली दूध की मलाई मे रख कर खावें। इससे विशेष लाभ होता है।

अथवा

कर्पूर भाण्डेश्वर नामक योग, रसचिन्तामणि के उपदंश प्रकरणोक्त विधि से बनाकर सेवन करें। वैद्यराजजी ने इसे सैकड़ों रोगियों पर तात्कालिक लाभदायक पाया। ऐसा वर्णन द्वारा ज्ञात होता है।

मुख आने पर चिकित्सा

खजूर के पत्ते, बबूल की छाल और गेरू इनका काथ करके कुल्ला करें। अथवा भुनी हुई फिटकिरी को चमेली की पत्तियों मे रखकर मुख मे रखें। अथवा कचनार और बेरी की पत्तियों का काथ बनाकर कुल्ला करें। इससे शीघ्र ही लाभ होता है।

मलहर योग

सफेद कत्था ६ माशा, मुरदाशंख ६ मा०, तूतिया २ रत्ती, सफेद इलायची ६ मा० इन सबको पीस कर बारीक चूर्ण बना लेवें। फिर गौ का ताजा मक्खन ऽ≈ ले १०१ बार धोकर इसमे इस चूर्ण को मिला देवें और उपदंश के घाव पर लगावें। इससे घाव बहुत जल्दी आराम हो जाता है।

द्वितीय मलहर योग

सफेद कासगरी १ तोला, माजूफल १ तो०, चन्दन १ माशा, सफेद कत्था १ तो०, १०१ बार धोई हुई गौ के मक्खन मे मिलाकर मलहर बनावें। इससे बहुत लाभ होता है।

व्रध्न का कारण व लक्षण

उपदंश होने पर प्राय व्रध्न (वद) रोग उत्पन्न हो जाता है। कफकारक, एवं गुरु पाकी आहार, शुष्क-सडा हुआ मास का भोजन, ऊँची-नीची जमीन मे चलना, बहुत जल्दी चलना अथवा दौड़ना और पैर के किसी स्थान मे फोडे का उत्पन्न हो जाना, अथवा किसी प्रकार से चोट आदि लग जाना इत्यादि कारणों से यह रोग उत्पन्न हो जाता है। इस रोग से वक्षण-सन्धि मे शोथ उत्पन्न होकर उसके साथ-साथ ज्वर भी हो जाता है। उपदंशजनित वद पक जाता है। किन्तु, अन्य वद प्राय पकते हुवे नहीं देखे जाते हैं।

व्रध्न-चिकित्सा

उपदंशजनित वद के पक जाने पर शस्त्र प्रयोग करके उसका दूषित पूय रक्तादि निकाल देना चाहिये। अन्यथा अन्य रोगों के उत्पन्न होने

की सम्भावना रहती है। व्रणशोथ को पकाने और पकने के वाद विदारण करने के लिये तथा क्षत को सुखाने के लिये जिन योगों का व्यवहार किया जाता है, वाद में भी उन्हीं का उपयोग करना चाहिये। उपदंशजनित वद को वैठाने की आवश्यकता हो तो उत्पन्न होते ही उसको वैठा देना चाहिये। वद को वैठाने के लिये जोंक लगाकर उसका रक्त निकाल देना चाहिये। अथवा वट के दूध वा गंधाविरोजा का लेप करें। अथवा मुर्गी के अण्डे के द्रव भाग का लेप करें। अथवा १ छटाँक जल में ३ माशा नौसादर या ३ माशा सोरा डाऊ देवें और फिर उस जल मे वस्त्र का खण्ड भिगोकर उसकी पट्टी वाँध देवें। इससे भी व्रण वैठ जाता है। ज्वरनाश करने के लिये ज्वरनाशक औषध का व्यवहार करें। इस रोग में कोष्ठ की शुद्धि विशेष करके रखनी चाहिये।

पथ्य का वर्णन

इस रोग मे पुरातन शालि चावलों का भात, मूँग, मसूर, अरहर की दाल, परवल, लौकी, वैंगन, सहजने की फली और पुरातन कुष्माण्ड प्रभृति की तरकारी घी मे पकाकर सेवन करें। गेहूँ की रोटी विशेषकर रात्रि में और छागमांस, मृगमांस और कुक्कुट का मांसरस प्रभृति सेवन करे। ज्वर अधिक होने पर भात वन्द करके रोटी अथवा लघु आहार सेवन करे।

परहेज

मिठाई, खटाई, तेल, मिर्च, नारी, शीतल और कफवर्द्धक द्रव्य, दूध, मछली, स्नान, मैथुन, दिन में सोना, व्यायाम प्रभृति इस रोग मे अत्यन्त अनिष्टकारक है।

यथोक्तं पथ्यापथ्यम्—

दिवानिद्रां मूत्रवेग गुर्वन्न मैथुन गुडम्।
आयासमम्ल तक्रञ्च वर्जयेदुपदंशवान्॥

पूयमेह (Gonoirhoea)

नामकरण—"गोनो" शब्द का अर्थ जननेन्द्रिय और "रिया" शब्द का अर्थ प्रमेह होता है। इसलिये पूयमेहाणुजन्य पूयविशिष्ट जननेन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले रोग को गोनोरिया (पूयमेह) कहते हैं।

नाम के विषय में आचार्यों का विवाद

प्रवदन्ति चोष्णवात केचिदान्तरिकमन्ये,
मेमिरेचोपदश हि केचिचाहुर्मेदमन्ये।
विद्रधि वन्हिद्वारिकां चोचु पित्तशुक्रमन्ये,
वाह सक्रामक रोगत्वादागन्तु मेह ब्रुवे॥
गनोरिया सूजाकश्च तथा भृशोष्ण वातकः।
तेऽस्य वक्ष्यमाणस्य नामान्याभरस्य हि॥

प्रधान कारण

पूयमेह का प्रधान हेतु पूयमेहाणु (गोनोकोकस् Gonococcus) होता है। इनका आकार वृक्क अथवा लोबिया के बीज के सदृश होता है। ये निम्न मध्य भाग के समक्ष रहते हैं जिससे दोनों किनारों के मध्य में कुछ लम्बोत्तरा भाग खाली रहता है। अर्थात् उनका लम्बाक्ष (Longaxis) समानान्तर से होता है। मूत्र मार्ग के स्राव में पूयकोषों के आकार सदा चिद्रस में एकत्र हुए मालूम होते हैं। पूयकोषों (सेलस) के केन्द्रों में ये नहीं प्रवेश करते हैं। कोषाभ्यन्तरीय स्थिति इनके परिज्ञान का मुख्य चिह्न है। पुरानी वृद्धि में ये अपचयाकार दिखाई पड़ते हैं। ये चञ्चल स्पोरहीन, सामान्य रगों से रञ्जित और ग्रामत्यागी (Giam negatve) होते हैं। इनका जीवन प्राणवायु द्वारा होता है। परन्तु ये वातपी होने पर भी सूक्ष्मवात सेवी (Micio aeiophilic) हैं। पोषक तापक्रम ३५-३६ अंश सें० है। तापक्रम की उच्च मर्यादा और अधो मर्यादा ४० और २५ अंश सें० है। शरीर में होने वालों के लिये उच्च मर्यादा ४२ अंश सें० है और घातक तापक्रम ५५ अंश सें० है। ये सामान्य वर्धनकों में ही बढते है। वर्धनक में जलीय भाग का होना

आवश्यक है। इनके लिये प्राणिज प्रोटीनों की आवश्यकता होती है। इनके संघ २४-४८ घंटों मे दिखाई देते हैं। ये आल्पीन के शिर के बराबर अर्धपारदर्शी और गोल होते हैं। प्रारम्भ मे इनका किनारा गोल होता है। परन्तु धीरे-धीरे दन्तुर (Crenated) हो जाता है। प्राथमिक वृद्धि मे ये शीघ्र मर जाते हैं। अतः दो-तीन दिन मे उपवृद्धि करना जरूरी होता है, जिससे ये अधिक काल तक जीवन-क्षम बने रहते हैं।

जीवन रासायनिक प्रतिक्रिया—ये ग्लूकोज में अम्ल उत्पन्न करते हैं। परन्तु ; माल्टोज में नहीं कर सकते।

जीवन-क्षमता और प्रतिकार—ये पूर्ण परोपजीवी होने के कारण शरीर के बाहर घंटे दो घंटे के अन्दर ही मर जाते हैं। इसका कारण यह है कि इनमे उष्णता, शुष्कीकरण और जीवाणु नाशक पदार्थ—इनके साथ संघर्ष करने की बहुत कम शक्ति होती है। इनके ऊपर रौप्य लवणों का विनाशक प्रभाव विशेष होता है।

विष-प्रादुर्भाव—इनमें अन्तर्विष बनता है, वहिर्विष नहीं। अतः कुछ दिनों की पुरानी वृद्धि में इनके मर जाने के कारण मिलते हैं। अन्तर्विष के प्रभाव से इसके स्थानिक तथा सार्वदैहिक लक्षण होते हैं।

संक्रमण

पूयमेह का प्रधान कारण गोनोकोकस नामक पूयमेहाणु है। परन्तु, इसका आक्रमण स्वस्थ व्यक्ति मे पूयमेहाक्रान्त स्त्री और पुरुष के प्रसङ्ग से होता है। शरीर मे प्रवेश का मुख्य मार्ग मूत्र प्रजनन-संस्थान की श्लेष्मल त्वचा है। इससे प्रवेश होने पर ही पूयमेह उत्पन्न हो जाता है। पूयमेहाक्रान्त स्त्री के साथ संभोग करने, अथवा पूयमेही बालक के साथ गुद मैथुन करने, सूज़ाक पीडित मनुष्य, स्त्री और बालक के साथ उठने-बैठने, खाने-पीने, सोने, पहनने आदि से इसका संक्रमण हो जाता है। पूयमेही जिस स्थान पर पेशाब करता है, उस स्थान पर पेशाब करने से भी पूयमेह हो जाता है।

यथोक्तं सुश्रुते—

प्रसङ्गात् गात्र संस्पर्शान्निश्वासात्सह भोजनात्

सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्

औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।

साम्य भाव

आयुर्वेदोक्त उष्णवात के साथ इसके लक्षण प्राय मिलते हैं। यथा अधिक व्यायाम करने, अधिक रास्ता चलने, अधिक धूप में काम करने, तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल पदार्थों के खाने और अधिक विषय भोग करने तथा हस्तमैथुन (मास्टरबेशन Masturbation) से, क्षारीय पदार्थ, चाय, काफी आदि उत्तेजक पदार्थों के सेवन करने से पाचन शक्ति विकृत हो जाती है। जिससे पित्त कुपित हो मूत्राशय में पहुँच कर कुपित वायु से मिल कर, मूत्राशय, पुरुषेन्द्रिय और स्त्री की जननेन्द्रिय में जलन उत्पन्न करता है। मूत्र का रंग हल्दी के समान पीला और लाल रंग का हो जाता है और कभी-कभी रक्त भी निकलता है। बड़ी यन्त्रणा के साथ रोगी बार-बार पेशाब करता है। ये उष्णवात के लक्षण हैं।

यथोक्तम् निदाने—

पित्त व्यायाम तीक्ष्णोष्ण भोजनाध्वातपादिभि.

प्रवृद्ध वायुनाक्षिप्त वस्त्युपस्थार्ति दाहवान् ।

मूत्र प्रवर्तयेत्पीत सरक्त रक्तमेव च

उष्ण पुन. पुन. कृच्छ्रादुष्णवात वदन्ति तम् ।

(अ० नि० ६ अ०)

पूयमेह रोग के समय का निर्णय

प्राचीन भारत में इस रोग का विस्तृत क्षेत्र नहीं था। परन्तु चार सौ वर्ष से पहले भारत में इस रोग का समागम म्लेक्ष स्त्री-पुरुष के संसर्ग द्वारा हुआ। आजकल इसका विस्तार प्रबल रूप से देखा जाता है।

यथोक्तम् निदाने—

पूर्वं वर्ष चतु शत्यां म्लेच्छस्त्री-पुंस संगमात् ।

सम्प्राप्तो दुष्टरोगोऽयं प्रसृतो भारतेऽधुना ॥

कीटाणवो युगल बिन्दुनिभा निदान त्वस्यामयस्य गदितगदलक्षनविद्भिः।
स्यान्मैथुनेन खलु संक्रमण सदैतद्रोगार्दित प्रमदया सह पूरुषेण ॥
तथा जनन्या यदि योनिमार्गादुत्पद्यमानेषु शिशुष्वयम्-
विलोक्यते संक्रमतोऽक्षिपाको भृशोष्णवातस्य हि लोक मध्ये ॥

सम्प्राप्ति

मनुष्य से अतिरिक्त प्राणियों मे यह रोग नहीं होता है। पूयमेहाणु स्वस्थ व्यक्तियों मे नहीं पाये जाते हैं। प्रत्युत् पूयमेह पीडित व्यक्तियों के गुप्तांगों के स्राव में होते हैं। रोग प्राचीन होने पर यद्यपि ये स्राव मे नहीं मिलते, तथापि स्राव की संक्रामकता अल्प नहीं होती है। अत पूयमेहपीडित व्यक्ति के साथ विषय भोग करने से इसका उपसर्ग हो जाता है। इस रोग का संक्रमण किस भाँति होता है इसका पूर्व मे वर्णन किया जा चुका है। पूयमेहाणु मनुष्य के शरीर मे जननेन्द्रिय तथा नेत्र की श्लेष्म-कला पर अक्षत अवस्था मे भी आक्रमण करते हैं। उसमें श्लेष्म-कला की पक्ष्मरचना के अनुसार कुछ भिन्नता दिखाई देती है। श्लेष्म-कला मे सेल (कोष) शल्काकार (Squamous), स्तम्भाकार (Columnar) और संक्रमणशील (Transitional) ऐसे तीन प्रकार की होती है। इनमे शल्काकार-कोष बहुत प्रतिकारक, स्तम्भाकार, अत्यल्प प्रतीकारक या ग्रहणशील, संक्रमणशील, कभी प्रतीकारक और कभी ग्रहणशील होते हैं। मूत्र-प्रजनन संस्थान की श्लेष्म-कला मे भिन्न-भिन्न स्थानों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कोष होते हैं। केवल यही नहीं, अवस्था के अनुसार उनमे परिवर्तन भी हो जाता है। यही कारण है कि बहिर्भग योनिशोथ (Vulvo Vaginitis) जो बालिकाओं मे होता है, अधिक अवस्था की स्त्रियों में नहीं होता। मूत्र-प्रजनन-संस्थान का एक प्रत्यंग अधिक आक्रान्त होता है। दूसरा छूट जाता है और तीसरा मध्यम रूप से आक्रान्त होता है। यह जीवाणु मूत्र प्रजनन-संस्थान के विविध प्रत्यंगों की श्लेष्म-कला मे प्राय सीमित रहता है। कभी-कभी यह रक्त मे प्रवेश करके दूरस्थ अंगों मे विकृति पैदा कर देता है।

विषय-भोग के समय जीवाणुओं का प्रवेश प्रथम मूत्रमार्ग के भीतर होता है। एक दिन तक जीवाणु मूत्रमार्ग की श्लेष्म-कला के ऊपर ही रहते हैं। इसके बाद वे श्लेष्म-कला तथा मूत्रमार्ग की छोटी-छोटी ग्रन्थियों में प्रवेश करते हैं। श्लेष्मकला से जीवाणु बहुत अधिक गहराई में नहीं चले जाते। कुछ जीवाणु पीछे वस्ति की तरफ भी चल देते है। इनकी गति प्रतिदिन एक इञ्च के लगभग होती है। इस गति से ५-६ दिन मे ये अग्र मूत्रमार्ग के प्रारम्भ तक पहुँच जाते हैं। मूत्र-मार्ग के मध्य मे आगे और पीछे सकोचक पेशी होने के कारण इनकी पीछे की दौड़ मे कुछ बाधा पड़ती है। परन्तु, अन्त मे ये उस सकट-मार्ग को पार कर पीछे चल देते है। एक बार पीछे के मूत्रमार्ग मे पहुँच जाने पर आगे इनके रास्ते मे कोई रुकावट नहीं होती। पुरुषों मे ये पौरुषग्रन्थि, वृषण, अधिवृषण, वस्ति, शुक्राशय, मूत्रप्रणाली और कभी-कभी उदरावरण मे प्रवेश करके तत्तस्थानों मे शोथ उत्पन्न कर देते हैं। स्त्रियों मे योनि, गर्भाशय, बीजवाहिनी, वस्ति और उदरा-वरण प्रभृति में प्रवेश करके शोथ उत्पन्न कर देते हैं।

जब जीवाणु उपश्लेष्मल कला मे प्रवेश करते हैं तब उनके विष से शोथ होकर उन-उन स्थानों की रक्तवाहिनियाँ विस्फारित हो जाती है। उस समय श्वेत कणों का धावा रक्तवाहिनियों के तरफ होता है और लसीका स्राव होने लगता है। इस स्राव मे लाल कण, श्वेतकण, श्लेष्मलकला के कोष और श्वेत कणों के भीतर पूयमेहाणु होते हैं। धीरे-धीरे कुछ गोलाणु शोथ-स्थान की लसीका या रक्तवाहिनियों मे जाकर सम्पूर्ण शरीर मे फैल कर जीवाणुमयता, हृदय और सन्धि प्रभृति स्थानों मे सूजन पैदा कर देते हैं। मूत्रमार्ग मे जिस स्थान की श्लेष्मल-कला छिल जाती है उस स्थान पर दूसरे प्रकार के कोष उत्पन्न होकर अन्त मे वे संकुचित हो जाते हैं जिससे वह स्थान संकीर्ण हो जाता है। अत इस रोग मे मूत्रमार्ग का संनिरोध (Stricture) हो जाता है। जीवाणुओं के पीछे मूत्रमार्ग मे तथा अन्यान्य अगों मे पहुँचने पर रोग चिरकालिक हो जाता है।

यथोक्ता सम्प्राप्तिः

रोगाक्रान्तवराङ्ग मैथुनवशात् कीटाणवोऽस्यामय-
स्याशास्ते जननेन्द्रियेऽपि च तदन्तःस्थां कला श्लैष्मिकीम् ।
निर्दग्धां विदधत्यथास्पदमर दग्ध भवेत्पूययुक्
तत्पश्चाच्च शनै शनैरविरत सवर्धमानोगद ॥
मूत्रस्थानमनुप्रयाति च तदा मूत्रस्य मार्ग क्रमा-
न्नृ ग्रन्थि च तथाण्डकोश युगमाक्राम्यन् नृश दारुणः ।
एव तत्र भवेत् कदाचिदपि वै शोथोऽथ पूयादिकम्
किं चाप्यस्य गदस्य शोणितमिता. कीटाणवो जातुचित् ॥
कुर्वन्तीह हि सन्धि शोथमपि सैप्टीसीमियां कुत्रचित्
कृत्वा रोगिजनस्य मारण कृतो नून भवन्ति द्रुतम् ।
किंचास्य गदस्य पाक समयो वैद्योत्तमैर्भाषितो
ज्ञातव्यो वसुवासरावधिरहो युग्मादपि प्रायशः ॥

प्रभेदात्मक लक्षण

स्त्री और पुरुष के भेद से विभिन्न स्थान आक्रान्त होकर भिन्न-भिन्न लक्षण प्रकट होते हैं। इसलिये दोनों प्रकार के पूयमेह का स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया जावेगा।

पुरुष का पूयमेह

(Gonorrhoea male)

पुरुषों में मूत्रनाली, पौरुष ग्रन्थि (Prostate), कौपर ग्रन्थि, वीर्य-वाहिनी, वीर्याशय, शिश्नमणि, वस्ति, शिश्नपेशी आदि आक्रान्त होते हैं। तरुण मूत्र प्रणाली की प्रदाह मे अधिकांश स्थल पर पूयमेहाणु, पूयजन कीटाणु एवं अन्यान्य प्रकार के कीटाणु एक मे मिले हुए पाये जाते हैं। किसी-किसी स्थल पर पूयमेहाणु नहीं मिलते है। अत पुरुष की मूत्रप्रणाली की प्रदाह को दो भागों मे विभक्त किया जाता है।

(१) सामान्य मूत्रप्रणाली प्रदाह (सिम्पल यूरेथ्राइटिस)—इसमें केवल पूयजनक जीवाणु (पसमाइक्रोब्स) से सक्रमण होता है।

(२) विशेष मूत्रनाली प्रदाह (स्पेसिफिक यूरेथ्राइटिस)—इसमें पूयजनक जीवाणु और गोनोकोकस वर्तमान रहते हैं। सामान्य मूत्रनाली-प्रदाह अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकता है। यथा—मूत्रमार्ग के मध्य में उग्र पदार्थ की पिचकारी अथवा शलाका (कैथीटर) प्रवेश से प्रकृत पूयमेहाक्रान्त मूत्रप्रणाली-प्रदाह और सामान्य मूत्रनाली-प्रदाह के लक्षणादि प्राय सदृश ही होते हैं। परन्तु अधिकाश स्थल पर सामान्य मूत्रनाली-प्रदाह के लक्षण अपेक्षाकृत मृदु और स्वल्पस्थायी होते हैं। लिङ्ग नाल से निकले हुये पूय की परीक्षा करने पर प्रकृत रोग का निर्णय किया जाता है। सम्पूर्ण लक्षणों की प्रबलता के भेद से मूत्रनाली प्रदाह को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते है।

(१) तरुण प्रादाहिक[1] पूय प्रमेह (गनोरिया) (२) अप्रबल पूय-प्रमेह (कैटरल गनोरिया) और (३) उग्रताजनक वा व्यर्थ (एबॉर्टिव) पूय प्रमेह (गनोरिया)।

तरुण पूय प्रमेह (गनोरिया) का वर्णन

प्राय. स्पर्शाक्रमण के सात दिन के मध्य कभी-कभी कई घण्टा और कभी-कभी बारह-चौदह दिन के बाद मूत्रनाली में कुछ वेदना मालूम होती है और दुग्ध मिश्रित जल के तुल्य क्लेद निकलता है। इसके बाद पेशाब करते समय सम्पूर्ण नाली के मध्य में जलन मालूम होती है, मूत्रनाली का छिद्र लाल हो जाता है और सूज जाता है। इसी तरह कई घण्टे के मध्य में तरल क्लेद निकलता है। क्लेद शीघ्र ही गाढा, सफेद, हरा और पूय के तुल्य निकलने लगता है, मूत्रनाली फूल जाती है और मूत्र के स्रोत का ह्रास हो जाता है। लिङ्गोत्थान में वेदना, बार-बार पेशाब करने की इच्छा और पेशाब करने में जलन पैदा होती है। कुन्थनता अधिक पैदा हो जाती है और कभी-कभी मूत्र में रक्तस्राव भी होता है।

प्रमेह रोग की प्रथमावस्था में अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

---

१ प्रदाह शब्द का अर्थ शोथ, सर्वत्र जानना चाहिये।

प्रदाह (शोथ) विस्तृत होकर सम्पूर्ण लिंगमुण्ड को आक्रान्त कर लेता है। इसको वेलेनाइटिस् कहते हैं। यह प्रदाह अधिकतर विस्तृत होकर लिंगाग्र त्वचा के आभ्यन्तरिक आवरण वा श्लैष्मिक आवरण को प्रदाह-युक्त कर देता है। इसको वेलेनोपन्थाइटिस् (मुण्ड-प्रदाह) कहते हैं। लिंगाग्र त्वचा प्रेप्यूस (Prepuce) की प्रदाह और उसके कोषीय (सेल्यूर) विधान के शोथ से वह स्फीत हो जाता है। लिंगाग्र की त्वचा हटा कर लिंगमुण्ड प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। इसको परिवर्तिका (Phimosis) कहते हैं। अग्रत्वचा को प्रतिक्षिप्त करने पर लिंगमुण्ड के पश्चात् स्थित भाग मे स्फीति और प्रदाह होने से वह दृढता से चिपक कर अटक जाती है और अग्रत्वचा सन्मुख की तरफ खींचने से भी नहीं आती है। इसको अवपाटिका (Paraphymosis) लिंगोच्छ्वास (Chordee) नामक अवस्था मे लिंग के उठने के समय लिंग मे वेदनायुक्त टेढापन आ जाता है।

इस अवस्था की परवर्ती वा स्थायी अवस्था मे मूत्र नाली के मध्य से अधिक मात्रा मे क्लेद निकलता है और मूत्र त्यागने के समय अत्यन्त गर्मी और लिंगोच्छ्वास अत्यन्त प्रबल हो जाता है। रोगी वार-वार पेशाव करता है और रात्रि मे वार-वार लिंगोच्छ्वास होने से रोगी को अत्यन्त कष्ट होता है। यह अवस्था एक सप्ताह से लेकर १५ दिन तक रहती है। इस अवस्था मे प्रदाह पीछे की तरफ फैलता है और अन्यान्य विविध उपसर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। इन उपसर्गों के मध्य मूत्रनाली के प्रदेश मे क्षुद्र गोल, वेदनायुक्त अर्बुद के रूप मे छोटे-छोटे दाने (फोलिक्यूलर और पेरियूरिथ्रैल) मेहनाली के चारों तरफ स्फोटक रूप मे प्रकाशित हो जाते हैं। अधिकांश स्थलों मे ये स्फोटक अन्दर की ओर होते हैं। कभी-कभी वाहर की तरफ त्वचा द्वारा फट जाते हैं।

पूयमेह के रोग मे किसी-किसी स्थल पर पूय शोषित होकर लसीका नाली-प्रदाह (लिम्फैञ्जाइटिस्) उत्पन्न हो जाता है और लिंग के पृष्ठ देश के लिम्फैटिक (लसीका सम्बन्धी) स्थान आक्रान्त हो जाते हैं। इसके अनन्तर वा इन उपसर्गों के प्रकाशित होने पर भी वंक्षण-प्रदेश की

सम्पूर्ण लसीका ग्रन्थियों मे प्रदाह (एडिनाइटिस्) उपस्थित हो जाता है। इसको पूयप्रमेहजन्य वद (गनोरियल व्यूबो) कहते है। साधारणत' प्यूपर्टस् लिगमेन्ट (विटपज घन चूड़ा संयोजनी स्नायु) के अव्यवहित नीचे की अगम्भीर ग्रन्थियाँ आक्रान्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त अधिकतर तृतीय सप्ताह के अन्त मे अथवा इससे भी अधिक विलम्ब मे अन्य बहुत से उपसर्ग उपस्थित हो जाते हैं। एक वा दोनों शिश्नमूल ग्रन्थियाँ काउपर्स ग्लैन्डस् (Cowper's glands) प्रदाह-ग्रस्त हो जाती है और सीवन (पेरिनियम) प्रदेश मे यन्त्रणा होती है। दाबने पर वेदना बढ़ जाती है और बैठने या पादसचालन से अत्यन्त कष्ट होता है।

प्रदाह विस्तृत होकर पौरुषग्रन्थि (प्रोस्टेट ग्लैण्ड) को भी आक्रान्त कर लेती है। इससे मलाशय और सीवन-प्रदेश में भार और खिंचाहट मालूम होता है। रोगी बार-बार पेशाब करता है और पेशाब करने के अन्त मे यन्त्रणा उपस्थित हो जाती है। मल त्यागने के समय मे भी यन्त्रणा होती है। प्रदाह जितना बढता है यन्त्रणा और वेदना भी उतनी ही बढती जाती है और उतना ही मूत्र गाढा-गाढा और कष्टकारक होता है। यहाँ तक कि अनेक समय पेशाब भी बन्द हो जाता है। अधिकाश स्थल में प्रदाह शान्त हो जाता है। परन्तु, किसी-किसी स्थल मे प्रदाह पूय मे और तरुण पौरुषग्रन्थि-प्रदाह, दारुण पुरातन प्रदाह मे परिणत हो जाता है। इस अवस्था मे तरुण प्रदाह के सम्पूर्ण लक्षण अप्रबल रूप से वर्तमान रहते हैं, वेदना के बदले भार और पूर्णता का बोध होता है तथा पेशाब बार-बार होता है। पेशाब की शेष अवस्था में मूत्र के कई विन्दु अटक जाते हैं और मूत्रनली से अल्व्यूमिन के तुल्य और कभी-कभी दूध के तुल्य क्लेद प्रति बार मलत्यागने के समय निकलता है। परीक्षा करने पर पौरुषग्रन्थि वेदनायुक्त और चढी हुई मालूम पडती है।

मूत्राशय का ग्रीवा प्रदेश (नेक) प्रदाहग्रस्त होने पर वह प्रदाह विस्तृत होकर पूयमेहज मूत्राशय-प्रदाह उत्पन्न कर देता है। इससे बार-

वार पेशाव आता है और प्रस्राव के अन्त में अत्यन्त कुन्थन, जलन तथा यन्त्रणा होती है। पेशाव के अन्त में रक्त और पूय निकलता है।

पूर्वोक्त सम्पूर्ण उपद्रवों से युक्त पूयमेहकी द्वितीय वा स्थायी अवस्था अधिकतर एक से दो सप्ताह तक स्थायी रहती है। इस द्वितीय अवस्था के वाद रोग के शान्त होने की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। मूत्र अपेक्षा से कम और यन्त्रणा रहित निकलता है। क्लेद भी तरल जल से युक्त और अल्प होता है। अथवा कभी-कभी सूख जाता है। वार-वार लिङ्गोच्छ्वास उपस्थित नहीं होता और वेदना आदि भी वर्तमान नहीं रहती है। जबतक अच्छी तरह से रोग की शान्ति नहीं होती, तवतक प्रदाह के विस्तार से और भी अनेक उत्कट उपसर्ग उपस्थित हो सकते हैं।

अधिकाश स्थल मे पूय प्रमेह-ग्रस्त रोगी के सावधान रहने और उपयुक्त चिकित्सा होने से मूत्रनाली-प्रदाह (यूरिथ्राइटिस) के सिवाय अन्य कोई उपद्रव उपस्थित नहीं होता है। यह सम्भव है कि प्रतिशत १६ या २० पूय प्रमेह के रोगी को एक वा एक से अधिक उपसर्ग प्रकाशित होकर रोग केवल मूत्रनाली के मध्य में ही आवद्ध न रहकर शरीर के दूसरे भागों मे भी प्रकाशित हो जाय। अधिकतर मूत्रनाली-प्रदाह के फैल जाने से समीप के सम्पूर्ण यन्त्र आक्रान्त हो जाते हैं और कभी-कभी शरीर मे दोपमयता (सेप्टीसीमिया) उपस्थित हो जाता है। नीचे लिखे हुए एक वा एक से अधिक कष्टदायक विपम उपसर्ग प्रकाशित हो जाते हैं। इन उपसर्गों के मध्य वहुत से ऐसे उपसर्ग है जो जीवन को सन्देह मे डाल देते हैं। अथवा चिरकाल तक इनसे शरीर को दु ख सहन करना पडता है।

किसी-किसी स्थल मे पूय प्रमेह के उत्पादक जीवाणु (गोनोकोक्कस) से यह सव अवस्था उत्पन्न हो जाती है। किन्तु अधिकाश स्थल मे पूय प्रमेह के जीवाणु और पूयोत्पादक जीवाणु (विशेप करके स्टैफिलो कोक्कस) मिल कर विशेप क्रिया उत्पन्न करके इन सम्पूर्ण उपद्रवों को उत्पन्न कर देते हैं। अतः विशेप सावधान रहना चाहिये।

पूय प्रमेह (सूज़ाक) की मूत्रनाली-प्रदाह की चिकित्सा के आरम्भ मे ही पचन निवारक (एण्टीसेप्टिक) उपाय प्रभृति का अवलम्बन करना चाहिये। अपरिष्कृत अस्रादि के व्यवहार करने से पूय-जीवाणुओं के प्रविष्ट हो-जाने पर ये सम्पूर्ण विपम उपसर्ग उपस्थित हो जाते हैं।

उपसर्ग-प्रकरण

पूय प्रमेह से पुरुष मे नीचे लिखे.उपद्रव प्रकाशित होते हैं—

जैसे—उपाण्ड-प्रदाह (एपिडिडाईमाइटिस्), पौरुषग्रन्थि-प्रदाह (प्रोप्टेटाइटिस्), वीर्य सम्बन्धी लिङ्गमणि प्रदाह (सेमिनेल वेसिक्यूलाइटिस्) मूत्राशय-प्रदाह (सिष्टाइटिस), गर्भाशय-प्रदाह (यूटेराइटिस्), वृक्कोत्स-प्रदाह (पाइयेलाइटिस्), वृक्क-प्रदाह (नेफ्राइटिस्) प्रभृति उपसर्ग उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त मूत्रावरोध छोटे-छोटे दाने (फॉलिक्यूलर) और मूत्रनाली के चारों तरफ (पेरियूरिथ्रेल) स्फोटक, शिश्नमूल ग्रन्थि-प्रदाह, शिश्नमुण्ड-प्रदाह (वेलेनाइटिस्), परिवर्तिका (फाइमोसिस्) अवपाटिका (पैराफाइमोसिस्), ब्रध्न (वद) और लसीका ग्रन्थि-प्रदाह (लिम्फैञ्जाइटिस्) उत्पन्न होते है। इसी भॉति पूयमेह रोग मे प्रमेहजनित अक्षिझिल्लि-प्रदाह (गनोरियल कञ्जाक्टिवाइटिस्) प्रभृति साधारण रीति से उपसर्ग रूप से प्रकाशित होते हैं।

उपाण्ड-प्रदाह (एपिडिडाइमाइटिस्)

यह उपसर्ग पुरुप के पूय प्रमेह रोग मे अधिकतर प्रकाशित होता है। पौरुष ग्रन्थिक मूत्रनाली (प्रोप्टेटिक यूरेथ्रा) से वीर्य-प्रक्षेपक नाली (इजेक्यूलेटरी डॉक्ट) के द्वारा वीर्याशय (वास डिफरेन्स) मे और वहाँ से उपाण्ड मे पूयमेहजनित प्रदाह उपस्थित हो जाता है।

पूयमेह रोग मे प्रतिशत नव्वे आदमियों के उपाण्ड प्रदाह उपस्थित हो जाते हैं। यह साधारणत रोग के द्वितीय सप्ताह और तृतीय मास के मध्य मे प्रकाशित होता है। पूय-प्रमेह के भोगकाल मे अत्यधिक परिश्रम, सुरापान और स्त्री के साथ सहवास करने से यह उपसर्ग उद्दीप्त हो जाता है। अधिकांश स्थल मे एक ही अण्ड (टेंष्टिकल) आक्रान्त

होता है। किसी-किसी स्थल मे दोनों अण्ड आक्रान्त होते हुए देखे जाते है। उपाण्ड मे प्रदाह होने के पहले रोगी वीर्याशय (वासडिफरेन्स) मे, विशेष करके वंक्षणगत नाली (इंगूपिनेल केनाल) और वस्तिगह्वर के मध्य मे ऐंठन के तुल्य स्नायुशूल की वेदना का अनुभव करता है। अण्ड-कोप के मध्य मे स्थित, वीर्यवाही नाली (वास) वढ़ जाती है और दवाने पर वेदना मालूम होती है। इसके वाद प्रायः दूसरे दिन ही उपाण्ड मे प्रदाह प्रकाशित हो जाता है। किन्तु अधिकाश स्थल में इस प्रकार का कोई पूर्व लक्षण लक्षित नहीं होता है। सहसा वेदना प्रकाशित होकर रोग आरम्भ हो जाता है। वेदना शीघ्र अत्यन्त प्रवल रूप से प्रकाशित हो जाती है। उपाण्ड-प्रदाह के आरम्भ के साथ-साथ मूत्रनली के मध्य से पूय निकलना सहसा वन्द हो जाता है। अथवा अत्यन्त कम हो जाता है।

प्रदाह की सम्पूर्ण अवस्था विवर्द्धित हो जाने पर आक्रान्त तरफ का अण्डकोप फूल जाता है और वैंगनी वर्ण का हो जाता है। अधिकतर तरुण जलदोप (हाइड्रोसील) उपस्थित हो जाता है। उपाण्ड, अण्ड (टेष्टिस्) की अपेक्षा अत्यन्त वढ़ जाता है। ग्लोवसमेजर (वडा गोलक) के सवसे नीचे का अंश दवाने पर सवकी अपेक्षा अधिक वेदना होती है। इस अवस्था मे उपाण्ड के सवसे नीचे का भाग दवाने पर एक विशेप प्रकार की वमन उत्पन्न करने वाली वेदना होती है। कहीं वीर्याशय (वासडिफरेन्स) मे खिचाहट न उत्पन्न हो जावे इसलिये रोगी कुवड़ा होकर रहता है तथा पैर फैलाकर चलता है। दक्षिण की अपेक्षा वाम भाग अधिक आक्रान्त होता है। उपाण्ड-प्रदाह मे जो वेदना होती है वह भिन्न-भिन्न स्थल पर अत्यन्त सामान्य होने पर भी अत्यन्त असहनीय होती है। वीर्यनाली (स्पार्मेटिक कार्ड) पूर्ण रूप से फूल जाती है और परीक्षा करने पर वीर्याशय (वास डिफरेन्स) अत्यन्त स्थूल मालूम होता है। वर्तमान मूत्रवृद्धि (हैड्रोसील) उपाण्ड-प्रदाह के शान्त होने पर स्वयं शान्त हो जाती है।

उपाण्ड-प्रदाह का भावी फल अच्छा होता है। कहीं-कहीं पर

प्रदाह पूयोत्पत्ति मे परिणत हो जाता है। अण्ड (टेष्टिस) वहुत कम आक्रान्त होते हुवे देखा जाता है। अण्ड तक रोग के विस्तृत हो जाने पर उसको उपाण्ड सम्बन्धी अण्डग्रन्थि प्रदाह (एपिडिडाइमो आर्काइटिस्) कहते है। दोनों तरफ के उपाण्ड आक्रान्त हो जाने पर वन्ध्यता उत्पन्न हो जाती है। किन्तु; ऐसा होने पर भी रोगी की मैथुन शक्ति अक्षुण्ण रहती है।

अप्रवल पूयप्रमेह (कैटरेल गनोरिया)

जिनको पहले एक वार तरुण पूयप्रमेह हो चुका होता है उनको अपरिमित वा दूषित रति सम्भोग के वाद मूत्रनली मे प्रदाह पैदा हो जाता है और यथेष्ट परिमाण मे पूयमय श्लेष्मा और क्लेद निकलता है। इसमे विशेष वेदना नही होती है। अधिकतर पेशाव करते समय मूत्रनाली के मध्य मे उष्णता मालूम होती है। कार्डी (लिङ्गोच्छ्वास) आदि वर्तमान नहीं रहता है। अथवा विल्कुल सामान्य होता है। मूत्राशय मे उग्रता और उपसर्गादि मालूम नहीं पडते हैं। नियमित चिकित्सा करने पर क्लेद निकलना वन्द हो जाता है। अथवा कम निकलता है। सिर्फ एक-दो वूँद श्लेप्मा मिला हुवा पूय विशेष कर प्रातः काल मे निकलता है। साधारणतः इस अवस्था का प्रतिकार कुछ भी नहीं होता है। मूत्रनली की अप्रवल (कैटरेल) अवस्था मे वहुत से विषम उपसर्ग उपस्थित हो जाते हैं। जैसे—पूयप्रमेह वात (गनोरियल र्यूमैटिज्म), पूयप्रमेहजन्य अभिष्यन्द (गनोरियल अफथैलमिया) और पूयप्रमेहजन्य अक्षिझिल्ली प्रदाह (गनोरियल कञ्जाक्टिवाइटिस्) ये सम्पूर्ण उपसर्ग तरुण पूयप्रमेह रूप से प्रकाशित होते हैं।

पूयप्रमेहजन्य वात (गनोरियल र्यूमैटिज्म)

पूयप्रमेह में पूय निकलने की अवस्था में सहसा जानु, गुल्फ, मणिवन्ध वा कूर्पर सन्धि में वेदना होती हैं। सन्धियाँ फूल जाती हैं और क्लेद के निकल जाने पर हल्कापन आ जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुप इससे अधिक आक्रान्त होते हैं।

पूयप्रमेहजन्य अभिष्यन्द (गनोरियल अफथैलमिया)

प्रमेह रोग से चक्षु के भिन्न-भिन्न विधान प्रदाह-ग्रस्त हो जाता है। (स्क्लेरोटिक) सकोचनशील आवरण एव नेत्रकृष्णभागीय सचालनांश-युक्त पक्ष्म (आइरिस् ओक्यूलोपेल्पिब्रेल) अक्षिझिल्ली प्रदाह से आक्रान्त हो जाती है। उपयुक्त चिकित्सा करने पर रोग की शान्ति हो जाती है। किन्तु, अधिकतर रोग पुरातन क्रम को अनुसरण करके स्वय ही अच्छा हो जाता है।

पूयप्रमेहजन्य अक्षिझिल्ली-प्रदाह

अङ्गुली अथवा वस्त्र द्वारा पूयप्रमेह के पूय का साक्षात् सस्पर्श हो जाने पर अक्षिझिल्ली मे शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह पूर्वोक्त प्रकार के पूययुक्त अक्षिप्रदाह की अपेक्षा अत्यन्त विषम होता है। पूय लगने के कई घंटे के मध्य मे ही सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। प्रथम अक्षिझिल्ली मे सामान्य कैटरेलप्रदाह उपस्थित होकर शीघ्र ही बढ़ जाता है और चौबीस घटे के मध्य मे दोनों अक्षिपल्लव स्फीत, शोथग्रस्त और आपस मे चपट जाते हैं और उनके मध्य से गाढा पूययुक्त रस निकलता है। दोनों पलकों को अलग-अलग करके देखने पर अक्षिझिल्ली लाल नखूना (किमोसिस्) ग्रस्त पूय से आवृत दिखलाई पड़ती है। चिकित्सा से नखूना (किमोसिस्) के शान्त न होने पर शीघ्र ही कनीनिका (कर्निया) क्षतयुक्त, वियुक्त और प्रक्षिप्त होकर अक्षिगोलक के आधेय एक साथ निकल आते हैं। रोगारम्भ से लेकर तीन-चार दिन के मध्य मे ये उत्पात उपस्थित हो जाते हैं। यह प्रदाह जनित पूय अत्यन्त स्पर्शाक्रामक और उग्रतासाधक होता है। यह गालपर पड़ने से विलक्षण उग्रता उत्पन्न कर देता है।

प्रारम्भिक सूजाक (इरिटेटिव् गनोरिया)

अनेक स्थल पर दूषित सहवास के बाद पेशाब करने के समय अल्प वेदना और जलन उत्पन्न होती है। मूत्रनली के छिद्र मे सामान्य खाज मालूम होता है। मूत्रनली के छिद्र के दोनों तरफ के

किनारे लाल हो जाते हैं और उसके मध्य से अल्प परिमाण मे स्वच्छ रस निकलता है। वास्तविक रूप से इनमे तरुण पूयप्रमेह के प्रथमावस्था के सम्पूर्ण लक्षण वर्तमान रहते हैं। यह अवस्था कई दिन तक स्थायी रहती है। बाद को आठ-दस दिन के मध्य मे ही रोग की शान्ति हो जाती है।

मूत्रनलिका से पुरातन क्लेद का निःसरण

इस अवस्था को तीन श्रेणियों मे विभक्त कर सकते हैं।

(१) मूत्रनाली का तरुण प्रदाह उपशम हो जाने पर जो क्लेद निकलने के लिये रह जाता है। (२) पूय प्रमेह पुरातन हो कर मूत्र नाली के किसी अंश के प्रदाह से जो पूय निकलता है। और (३) पुरातन सूजाक जनित क्लेद-निःसरण।

मूत्रमार्गीय कफ की विकृति (यूरिथ्रेलकैटार)

पूय प्रमेह के अच्छे होने के बाद किसी-किसी स्थल पर चिरकाल तक प्रचुर परिमाण मे रस निकलता रहता हैं। इसमे कोई विशेष लक्षण प्रभृति प्रकाशित नहीं होते है। मूत्रनली के मुख से रस निकलने पर रोगी को विशेष असुविधा होती है। वह मन मे अनेक प्रकार की वृथा चिन्ता करता है और अनेक स्थल पर पौरुष ग्रन्थिक पिच्छिल स्राव का भ्रम हो जाता है। मूत्रनाली को दबाने से मूत्रनली के मुख से एक-दो बूँद रस निकल पड़ता है। साधारण रीति से यह रोग कई दिन अथवा कई सप्ताह मे स्वयं अच्छा हो जाता है।

पुरातन पूयमेह

तरुण पूयमेह के लक्षणादि के शान्त हो जाने पर अनेक स्थलों पर श्वेत क्लेद निकलने लगता है। मूत्र नाली के दबाने पर अथवा कई घण्टे के बाद पेशाब करने पर यह पूय युक्त क्लेद निकलता है। यह पूय मूत्रनाली के किसी भी अंश मे उत्पन्न हो सकता है। अधिकतर यह शिश्नमुण्ड के पश्चात् भाग से अथवा सम्मुख कलाओं से उत्पन्न होता है। मूत्रनाली का द्वार कुछ लालवर्ण का, फूला हुआ मालूम होता है। पेशाब करने के समय मूत्रनली के मध्य मे उष्णता मालूम होती है

और कभी-कभी सामान्य जलन भी मालूम होती है। लिङ्ग के उत्थान में अप्रबल वेदना होती है। ये सब लक्षण रतिसम्भोग, मद्यपान, अपरिमित आहार एवं रात्रि जागरण प्रभृति अत्याचारों से बढ़ जाते हैं।

कठिन पूयमेह

(Gleet)

पूयमेह जिन स्थलों पर चिरकाल तक स्थायी रहता है, अथवा बार-बार प्रकाशित होता है। उन सब स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न-भिन्न लक्षण प्रकाशित होते हैं। इन लक्षणों के मध्य मूत्रनाली के मध्य से श्लेष्मा और पूय मिश्रित क्लेद निकलने लगता है। कठिन सूज़ाक (ग्लीट) रोग में प्रातःकाल मूत्रनली-छिद्र के दोनों ओष्ठ खूब चपक जाते हैं। मूत्रनली को दबाने पर एक बूँद अस्वच्छ, श्वेतवर्ण क्लेद निकल पड़ता है। किसी-किसी स्थल पर वह अधिक मात्रा में देखा जाता है। किसी-किसी समय पेशाब करने के अन्त में बूँद-बूँद होकर पेशाब निकलता है और बार-बार आने लगता है। कटि प्रदेश एवं पेड़ू प्रदेश में अस्थायी मृदु वेदना उपस्थित हो जाती है। रोग का यह रूप होने पर मूत्रनली के अवरोध (स्ट्रिचर) की आशंका होने लगती है। इनके अतिरिक्त पौरुष ग्रन्थिक प्रदाह (प्रोस्टेटाइटिस) प्रभृति रोगों में मूत्रनली के मध्य से क्लेद निकलता है।

स्त्रीजन्य पूयमेह

जब पूयमेही मनुष्य स्वस्थ स्त्री से विषय भोग करता है तो स्त्री भी पूयमेहाक्रान्त हो जाती है। उस समय मूत्र प्रजनन-संस्थान की श्लेष्मल त्वचा से पूयमेह के जीवाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। इसका प्रभाव प्रायः मूत्र मार्ग से प्रारम्भ होता है। मूत्रमार्ग में सूजन होने से पेशाब करने में कष्ट होता है और मूत्र द्वार से पूय निकलने लगता है। भग पर भी सूजन आ जाती है। भग के पश्चात् भाग में एक ग्रन्थि होती है जिसमें फोडा उत्पन्न हो जाता है। योनि में शोथ होकर यह ऊपर को बढ़ जाता है और गर्भाशय पर आक्रमण करता है। फिर गर्भाशय से पीलापन लिये हुए

स्राव निकलता है, एवं पेडू मे पीड़ा होती है। शोथ गर्भाशय से डिम्ब-प्रणाली और डिम्बग्रन्थि समूह मे पहुँच जाता है। गर्भाशय के चारों तरफ के बन्धनों मे भी शोथ हो जाता है। डिम्बप्रणाली का मार्ग वन्द हो जाता है। अथवा उसमे फोडा हो जाता है। अतः डिम्ब गर्भाशय मे नहीं पहुँच पाता है जिससे स्त्री वन्ध्या हो जाती है।

स्त्रियों के उदर्याकला (पेरीटोनियम) मे सूजन हो जाती है। कभी-कभी पेडू मे भी फोडा हो जाता है। स्त्रियों के सब अङ्गों मे पुरुष के समान ही पूयमेह हो जाता है। इसका संक्रमण भी पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

निर्णय तत्व

योनिपथ प्रदाह (वेजाइनाइटिस्) और भग प्रदाह (वल्वाइटिस्) से यह निश्चय करना कि इस मूत्र मे सूजाक के कीटाणु है वा नहीं कठिन हो जाता है। क्योंकि सूजाक के न होने पर भी अनेक स्थल पर जरायु की ग्रीवा से अधिक मात्रा मे पीला स्राव निकलता है। अत: यहाँ यह पीडा पूयमेह जन्य है वा नही इसमें सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इस हेतु स्राव मे पूयमेहाणुओं का अनुसन्धान करके इसका निर्णय करें।

स्त्रीजन्य पूयमेह का परिणाम

यदि ऐसा प्रवन्ध करे जिससे रोग योनि के ऊपरी भाग मे अथवा जरायु की ग्रीवा तक न पहुंच सके तो प्राय: ३ सप्ताह मे रोग शान्त हो जाता है। योनिपथ-प्रदाह, जरायु-ग्रीवा, गर्भाशय के अन्दर की कला और मूत्रनाली तक रोग के फैल जाने पर वह याप्य हो जाता है। रोग की वृद्धि के समय यदि अनेक उपद्रव उपस्थित भी हो जावें तो अशुभ फल नहीं होता है।

पूय पीड़ित माता द्वारा जनित शिशु की अन्धता

अन्धों मे २० प्रतिशत पूयमेह के कारण अन्धे होते हैं। इसका कारण यह है गर्भिणी माता के सूजाक होने से जब उसको बच्चा होता है तो उसके नेत्रों मे पूयमेह का मवाद लग जाता है जिससे आँख फूल जाती है। कुछ दिन इसी अवस्था मे रहने और उचित उपचार न होने से रोग वढ कर शिशु को अन्धा कर देता है।

शैशविक पूयमेह

बालक, बालिकाओं को पूयमेह उनके माता-पिता के द्वारा ही होता है। पूयमेह का पूय लगे हुये वस्त्र आदि बालक की इन्द्री और लड़की के भग पर लग जाते हैं। अथवा मवाद लगी हुई अंगुली जब माता उनकी जननेन्द्रिय पर लगा देती है उस समय निरपराध बालक को भी यह रोग हो जाता है। लडकी का रोग अधिकतर भग में ही सीमित रहता है, ऊपर नहीं चढता। पूयमेही नौकर-नौकरानियों से भी यह रोग बालक-बालिकाओं मे फैलना है। अत ऐसे नौकर न रक्खें जिन्हे संक्रामक रोग हो।

अन्धविश्वास

दुष्ट-दुराचारी मनुष्य अन्धविश्वास मे आकर अबोध कुमारियों के जीवन का सत्यानाश कर देते है। क्योंकि इनका प्राय: ऐसा विचार है कि यदि सूजाकी कुमारी से मैथुन करेगा तो उसका सूजाक अच्छा हो जावेगा। परन्तु ; यह बिल्कुल मिथ्या भ्रम है। सूजाकी पुरुष लड़कों के साथ जब गुद मैथुन करता है तो उनकी गुदा सूज जाती हैं जिससे शौच के समय बहुत कष्ट होता है और अनेक प्रकार की पीडाएँ होती हैं।

चिकित्सा-रहस्य

प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्। (च० सू० अ० २५)

अनुषङ्गिणी व्याधियों मे पूयमेह सबसे प्रधान है। अर्थात् एक बार सूजाक अच्छा होकर फिर हो जाता है। यहाँ तक कि कई वर्षों के बाद भी मिथ्याहार-विहार करने से फिर हो जाता है। इसकी चिकित्सा को दो विभागों में विभक्त कर सकते है।

(१) नियमित चिकित्सा (Rational Treatment)

(२) क्षणिक चिकित्सा (Empirical Treatment)

नियमित चिकित्सा के भी दो भेद होते हैं—

(१) एवारटिव (उत्पन्न होते ही दवा देना)

(२) पूर्ण चिकित्सा (क्यूरेटिव)

एवारटिव उपक्रम का वर्णन

इसमें कीटाणुजन्य विष को नष्ट करके अधिक ह्रास किया जाता है। इसके लिये तीक्ष्ण दाहक (कास्टिक) औषधें उत्तर वस्ति के द्वारा शिश्न में पहुँचाई जाती हैं। किन्तु, इस विधि से कठिन सूजन उत्पन्न होने का भय रहता है। अतः गोक्षुरादि क्वाथ में प्रथम श्रेणी की सुरा मिला करके पिचकारी से लिङ्ग में पहुँचाने पर बहुत लाभ होता है।

पूर्ण (क्यूरेटिव) चिकित्सा का वर्णन

इसके भी दो भेद होते हैं। (१) शारीरिक चिकित्सा और (२) स्थानिक चिकित्सा।

शारीरिक चिकित्सा

पूयमेह की चिकित्सा रोगी की अवस्था और पूर्व में वर्णन किये हुये श्रेणी विभागों के प्रति दृष्टि रखकर करनी चाहिये। स्थानिक उग्रता न बढ जावे इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये सब उग्रताओं के कारणों को दूर करना ही सबसे प्रधान कर्तव्य है। अत देह की अपेक्षा कटि प्रदेश को ऊँचा करके रोगी को विस्तरे पर आराम से लेटावें और लघु आहार, दूध, लस्सी, जव का पानी (वार्ली वाटर), अलसी का फॉट, भिण्डी का पानी, नारियल का पानी, सोडावाटर, फलों का रस एवं पञ्च-तृण का पकाया हुआ जल पीने को दें। सोडावायकार्ब, पोटासियमवाय-कार्ब और नीबू का शर्बत भी अच्छा है। वृषण के लिये कौपीन वा लटकनेवाली पट्टी (Suspensory Bandage) का प्रयोग करना चाहिये।

अपथ्य—चाय, काफी, कोको तथा मसालेदार चीजें मद्य, मांस प्रभृति त्याज्य है। चलना, फिरना, दौडना, नाचना, कूदना, सायकल और घोड़े की सवारी नहीं करनी चाहिये। रति की लालसा होने से रक्त-संग्रह न बढ़ जाय इस उद्देश्य से स्त्रियों से रोगी की परिचर्या करवाना मना किया गया है। मूत्र की कटुता को कम करने के लिये यथेष्ट परिमाण में जल और जल मिश्रित दुग्ध, क्षार, मूत्रकारक औषध और स्निग्धताकारक द्रव पदार्थ की व्यवस्था करनी चाहिये। रोग की

प्रथम अवस्था में गरम जल से कटि स्नान (Hip Bath) या सम्पूर्ण स्नान करावें। वृषण तथा शिश्न को भी गरम पानी से सेकें। कामोत्तेजक विषयों का दर्शन, भाषण, पठन या चिन्तन न करना चाहिये। रोगी के वस्त्रों को अलग रक्खें। शिश्न से हाथ लग जाने पर प्रति समय हाथों को जन्तुघ्न द्रव्य के घोल से धोवें। शिश्न को मर्दन न करें।

मलावरोध होने पर मृदु विरेचन देवें। क्योंकि मलावरोध से रोग को पीछे की ओर बढने में सहायता मिलती है। लावणिक विरेचन से भी लाभ होता है। ज्वर और शोथ के दमन के लिये टिञ्चर आफ् एकोनाइट, १ बूँद की मात्रा मे प्रति घण्टा पर प्रयोग करने से समय-समय उत्कृष्ट फल होता है।

गन्धाविरोजा (Copaiba), कबावचीनी (Cubebs), चन्दन-तेल, यूक्लिप्टस (निलगिरी) तेल प्रभृति औषधें मूत्र नाली की श्लैष्मिक कला के ऊपर विशेष कार्य करती हैं। ये मूत्रमार्ग से निकलने के समय मूत्रमार्ग के जीवाणुओं को नष्ट करके निकलती हैं। परीक्षा द्वारा प्रमाणित हुआ है कि पूयमेह के गोनोकोकसों को नष्ट करने के लिये कोपेबा (गन्धाविरोजा) सबसे श्रेष्ठ है। पूर्वोक्त औषधे सैलोल के साथ प्रयोग करने पर विशेष उपकार करता है।

ग्राह्य प्रयोग—सैलोल ५ ग्रेन, ओलियोरेजिन क्यूबेव्स ५ ग्रेन, पैरा-बाल्सम ऑफ कोपेबा १० ग्रेन और पेप्सिन १ ग्रेन।

विधि—इनको एक में मिला कर कैप्स्यूल के अन्दर रखकर उचित मात्रा में ३-४ घण्टे का अन्तर देकर सेवन करें। मूत्रमार्ग की उग्रता अधिक हो जाने पर क्यूबेव्स वा गन्धाविरोजा का निषेध होने पर, १० ग्रेन की मात्रा मे सैलोल, दिन मे चार बार देना चाहिये। इसके निष्फल हो जाने पर चन्दन का तेल १० बूँद की मात्रा मे दिन भर में चार बार देना चाहिये। आभ्यन्तरिक प्रयोग के लिये उपरोक्त औषधों के अतिरिक्त अन्य किसी औषध की आवश्यकता नहीं है। कोई-कोई चिकित्सक तरुण पूयमेह के रोग मे नीचे लिखी हुई व्यवस्था करनी चाहिये—ऐसा कहते हैं।

बाह्य प्रयोग—कोपेवा ३ औंस, स्पिरिट ईथर नाइट्रो आधा औंस, टिञ्चर काइनो आधा औंस, मर्फसल्फ ४ ग्रेन, एक्वोकैम्फर २ औंस, इनको एक मे मिला कर १ ड्राम की मात्रा से दिन में तीन वार देवें। इस व्यवस्था के द्वारा अनेक स्थल पर, आठ-दस दिन मे रोग की शान्ति हो जाती है। यदि पूयादि अधिक निकले तो विश्राम और नीचे लिखे हुये चूर्ण का प्रयोग महोपकारक है।

पल्व क्यूबेव ८ औंस, पल्व एल्यूमेन् १ औंस, पल्व सिनेमोम १ औंस—इनको एक मे मिलाकर ३२ पुडिया बाँधें और एक-एक पुडिया दिन में तीन वार सेवन करें। कोई-कोई चिकित्सक नीचे लिखी हुई चिकित्सा का अनुमोदन करते हैं।

कोपेवा आधा औंस, ओलिक्यूवेव् आधा औंस, लाइकर पोटासी ३ ड्राम, स्पिमाइरिथ्रिसी आधा ड्राम, एक्वोकैम्फर १ औंस—इनको एक मे मिलाकर दो ड्राम की मात्रा मे दिन मे तीन वार देवें।

हेयर महोदयजी नीचे लिखी हुई व्यवस्था करते हैं—

मेथलीन् ब्लू २ ग्रेन, चन्दन तेल (आइल् ऑफ् सेण्डल उड्) ३ बूंद, ओलियो रेजिन् कोपेवा ३ ग्रेन, आइल् आफ् सिनेमन् १ बूँद—इनको एक मे मिलाकर कैप्स्यूल रूप मे वा वटिका के रूप में दिन में तीन वार देना चाहिये।

स्थानिक चिकित्सा

पूयप्रमेह रोग की स्थानिक चिकित्सा करने के लिये पिचकारी के द्वारा मूत्रनली के मध्य में औषध का प्रयोग करना चाहिये। यदि पूर्व मे वर्णन की हुई औषधों के आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर रोग न दवे तो प्रादाहिक अवस्था के शान्त हो जाने पर पिचकारी की व्यवस्था करनी चाहिये। कोई-कोई प्रादाहिक अवस्था मे भी पिचकारी की व्यवस्था करते हैं। किन्तु, इसमे अधिक उत्पात होने की सम्भावना रहती है। यदि पिचकारी का प्रयोग करना हो तो स्थूलाग्र रवड़ की बनी हुई यूरिथ्रेल (मूत्रनालीय) सिरिञ्ज नामक पिचकारी का व्यवहार करें। इसके न मिलने पर छोटी काँच की पिचकारी का उपयोग करना

चाहिये। पिचकारी मे औपध को भर कर बायें हाथ की अँगुलियों से लिङ्ग के मुण्ड को पकड कर पिचकारी की नली मूत्रनाली के मध्य में प्रवेश करें और धीरे-धीरे औपध-द्रव्य छोड़ें। इस रूप से दो अथवा ढाई ड्राम औषध नली के मध्य मे प्रवेश करें। पिचकारी प्रयोग करने के बाद तीन-चार मिनट तक मूत्रनली का मुख बन्द रक्खें।

पिचकारी पेशाब करने के बाद लगानी चाहिये। परन्तु; इस बात का ध्यान रखें कि पिचकारी के द्वारा प्रयोज्य द्रव्य ऐसा हो जिसके प्रयोग करने से मूत्रनली के मध्य मे सामान्य मात्र चुनचुनाहट उत्पन्न होवे। यदि यन्त्रणा अधिक होगी तो उपकार के बदले अपकार ही होगा। इस कारण औपध के द्रव मे जल मिलाकर क्षीण कर लेवें। अथवा तीक्ष्ण द्रव्य को बदल देवें। अथवा पिचकारी का प्रयोग ही बन्द कर देवें। पिचकारी के लिये विविध औपधों का व्यवहार होता है। उनके मध्य मे द्रव्यों का उग्र द्रव प्रयोग न करने पर पूयकोप वा जीवाणु नष्ट नहीं होते हैं। प्रत्युत्; इस रूप मे प्रयोग करने पर स्थानिक उग्रता पैदा करके विशेष अपकार होता है। नाइट्रेट आफ सिल्वर, कार्बोलिक एसिड, क्लोराइड आफ जिङ्क, आइयोडीन, क्लोरेल, पर्मेङ्गनेट आफ पोटासियम, सेलिसिलिक एसिड, क्रियोजोट, प्रोटार्गल प्रभृति इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। अन्य अनेक औपधें यथेष्ट रूप मे पचननिवारक (एण्टीसेप्टिक) क्रिया को प्रकाशित नहीं करती है। जीवाणु-नाश के लिये इनके ऊपर निर्भर नहीं किया जाता है। जैसे—रेसर्सिन, थेलिन, कुनाइन सल्फेट और एसिटेट् आफ जिङ्क, लैनोलिन्, टेनिन् एलम्, कैलशियम सल्फेट इत्यादि।

तृतीय श्रेणी के औषधों की पचन निवारक (एण्टीसेप्टिक) क्रिया क्षीण होती है। दूसरे इसके अतिरिक्त वे अद्रवणीय हैं और काइनो, खदिर, लोध, त्रिफला प्रभृति अनेक सङ्कोचक औपधों का व्यवहार होता है। प्रकृत पूयमेह रोग मे इनकी उपकारिता के सम्बन्ध मे सन्देह है।

पूर्वोक्त द्रव्यों से भिन्न अनेक औपधें यथेष्ट रूप मे पचननिवारक (एण्टीसेप्टिक) का कार्य करती है। ये उग्रता से रहित होती हैं।

ये औषधें पिचकारी के द्वारा प्रयोग करने के लिये विशेष उपयोगिता के साथ व्यवहृत होती हैं। जैसे—करोसिव् सब्लीमेट, सल्फोकार्बलेट् आफ जिङ्क, बोरेसिक एसिड, परक्साइड ऑफ हाइड्रोजन और सैलिसिलेट ऑफ विसमथ प्रभृति। कोई-कोई चिकित्सक उपरोक्त औषधों के साथ नीचे लिखे द्रव-प्रयोग करते हैं। जिङ्क सल्फेट १ औंस में ५ ग्रेन, जिङ्क क्लोराइड १ औंस मे १/३ ग्रेन, टानिक एसिड १ औंस मे ५ ग्रेन, पोटासियम् पर्मङ्गनेट् १ औंस मे १ ग्रेन, कार्बोलिक एसिड ४० अंश मे १ अंश, आइडोफार्म १ औंस मे ३० ग्रेन, सिल्वर नाइट्रेट १ औंस मे १/४ ग्रेन, करोसिव सब्लीमेट् १ औंस मे १/१६ ग्रेन, क्लोरेल १ औंस मे ३ ग्रेन. बोरेसिक एसिड १ औंस मे ५ ग्रेन, क्विनाइन सल्फ १ औंस में २ ग्रेन, सोडियम सैलिसिलेट् १ औंस मे ५ ग्रेन, एसिटेट् ऑफ लेड् १ औंस मे ३ ग्रेन, विस्मथ और ग्लिसरिन् १० अंश मे १ अंश। ये सब ओषधियाँ विशेष करके आइयोडोफार्म. विस्मथ, क्लोरेल, लेड और म्यूसिलेज आफ ट्रागार्कान्थ के साथ व्यवहार की जाती हैं। सम्पूर्ण द्रवों को कुछ गरम करके प्रयोग करने पर विशेष लाभ होता है।

पिचकारी के लिये निम्नलिखित व्यवस्था विशेष उपयोगी है।

बाह्य प्रयोग—हाइड्राजं करोसिव् सब्लीमेट् १/६ ग्रेन, जिङ्कसल्फो कार्बलेट् १/२ ड्राम, एसिड बोरिक् २ ड्राम, लाइकर हाइड्रोजेन् परक्साइड ६ औंस—इनको एक मे मिलाकर पिचकारी से प्रयोग करें। पिचकारी के प्रयोग करने पर यन्त्रणा होवे तो द्रव की शक्ति क्षीण करके प्रयोग करना चाहिये। मूत्रनाली में अधिक उग्रता वर्तमान होवे तो १८—२४ ग्रेन एक्वोयस् एक्स्ट्राक्ट ऑफ ओपियम् अथवा कोकेयिन् का संयोग करके प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त शीतल वा उष्ण जल की पिचकारी का भी व्यवहार होता है।

पूयप्रमेह रोग के लक्षणों में—पेशाब करने के समय अत्यन्त यन्त्रणादायक जलन और कार्डी (लिङ्गोच्छ्वास) होता है। इन दोनों लक्षणों की चिकित्सा नीचे लिखी हुई रीति से करनी चाहिये।

मूत्र की ज्वाला, यन्त्रणा और बार-बार पेशाब करने की इच्छा की

चिकित्सा के लिये ब्रोमाइड् आफ पोटासियम् और अल्प मात्रा में एकोनाइट और वेलाडोना-संयुक्त मूत्रकारक ओषधियों की व्यवस्था करनी चाहिये। ताजा दूध, जल मिलाकर पिलावें अथवा अलसी का फाण्ट बना कर पिलावें अथवा पोटाश वाटर (जल) पिलाने से भी विशेष उपकार होता है। इसके अतिरिक्त लिङ्ग को उष्ण जल में डुबा कर पेशाब करने पर विशेष लाभ होता है। ज्वाला और यन्त्रणा के साथ पेशाब करते समय रक्तस्राव होने पर सम्पूर्ण मूत्रनाली के ऊपर बरफ रखकर संचाप-प्रयोग करने पर विशेष लाभ होता है। इस स्थल पर कोई-कोई कैलेन्ड्यूल का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने के लिये अनुमोदन करते हैं। एक औंस जिन्सिरप, एक औंस दही के साथ मिश्रित करके दो घण्टा का अन्तर देकर सेवन करने पर शीघ्र ही उपकार होता है। यन्त्रणा अधिक होने पर पेशाब करने के कई मिनट पहले मूत्रनली के मध्य में प्रतिशत ४ अंश कोकेइन द्रव के एक विन्दु का प्रयोग उपकारक होता है।

लिङ्गोच्छ्वास (कार्डी) की चिकित्सा

वेदनायुक्त वक्रता के सहवर्ती लिङ्ग के उच्छ्वास रोग की चिकित्सा के लिये अन्त्र को परिष्कृत रखना अत्यन्त आवश्यकीय है। जिससे किसी प्रकार की रति लालसा उद्रिक्त न होवे, इस विषय पर लक्ष्य रखना आवश्यकीय है। इसकी चिकित्सा के लिये अहिफेन एवं मर्फाइन की गुह्यवर्ती (सपोजिटरी) उपयोगी है। अफीम की निम्नलिखित गुह्यवर्ती (सपोजिटरी) विशेष फलप्रद है।

ग्राह्य प्रयोग—पल्व ओपियाई ६ ग्रेन, पल्व कैम्फर १८ ग्रेन और ओलियियोब्रोम—इनको यथेच्छापरिमाण (Q. S.) में मिश्रित करके छः गुह्यवर्ती बनावें। प्रति रात्रि में सोने के समय एक-एक गुह्यवर्ती का प्रयोग करें। स्पञ्ज के तुल्य शिश्न मूल (कर्पस् स्पञ्जियोसम) के ऊपर एक्स्ट्राक्ट् (सार) वेलाडोना का लेप करें और हेनवेन की गुह्यवर्ती (सपोजिटरी) का प्रयोग करें। उष्ण स्नान एवं शीतल जल के धारा द्वारा स्नान करना भी उपकारक है।

इसके लक्षण के निवारणार्थ कर्पूर का अरिष्ट १ ड्राम की मात्रा मे अथवा मोनोब्रोमाइड आफ् कैम्फर का ३-५ ग्रेन की मात्रा मे आभ्यन्तरिक प्रयोग किया जाता है। लॉप्यूलिन् ५-२० ग्रेन और जेलसिमियम का तरल सार १० वूँद (मिनिम) की मात्रा में प्रतिवार रोगी की निद्रा भङ्ग होने पर प्रयोग किया जाना अच्छा है। इस कष्टदायक लक्षण के निवारण के लिये ब्रोमाइड् आफ् पोटासियम् सबसे श्रेष्ठ है। सोने के समय पूर्ण मात्रा मे १० वा १५ वूँद (मिनिम) वेलाडोना के अरिष्ट के साथ प्रयोग किया जा सकता है। अन्य समय में अन्यान्य औषधों के साथ पहले की अपेक्षा कम मात्रा मे सेवन करें। किसी-किसी स्थल मे कार्डी इतनी यन्त्रणादायक हो जाती है कि मर्फाइन् का अन्तस्त्वक्क्षेपण (हाइपोडर्मिक) प्रयोग का प्रयोजन हो जाता है।

मूत्रनालीय श्लेष्म विकृति की पुरातन चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा के लिये साधारण रूप से रोगी की सार्वाङ्गिक स्वास्थ्योन्नति के अतिरिक्त अन्य कोई चिकित्सा आवश्यकीय नहीं होती है। किसी-किसी स्थल मे संकोचक पिचकारी से विशेष उपकार होता है। परन्तु किसी-किसी स्थल मे इससे रस नि सरण और भी अधिक वढ जाता है।

पुरातन गनोरिया की चिकित्सा

इस रोग मे समस्त मूत्रनाली प्रदाह-ग्रस्त न होकर नाली का सीमावद्ध स्थान मात्र आक्रान्त हो जाता है। इसलिये सम्पूर्ण मूत्रनाली के मध्य मे औषध प्रयोजित न होकर केवल रोग के स्थान मे ही औषध लगे इस विषय में पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। अधिकतर मूत्रनाली (Bulbous) के अश वा झिल्लीय (मेम्ब्रेनस्) अंश वा पौरुष ग्रन्थियुक्त (प्रोष्टेष्टिक) अंश मे पुरातन प्रदाह का आक्रमण हो जाता है। कभी-कभी प्रदाह विस्तृत होकर के नली के सम्मुख अंश तक को आक्रान्त कर लेता है और वह अंश स्थूल, कठिन और अवरोध-ग्रस्त हो जाता है।

इन सब स्थलों मे सप्ताह में दो बार बड़े आकार की शलाका (साउण्ड) नाली के मध्य मे करने पर अच्छा लाभ होता है। यदि इस भाँति नाली प्रसारित करने के बाद भी पूय निकलना बन्द नहीं हो और मूत्रनाली के सम्मुखस्थ अंश मे कैटरेल अवस्था दिखलाई पड़े तो नीचे लिखे हुये रीति से नालीयप्रक्षालन (इरिगेशन) आवश्यक है। मूत्रनाली के झिल्लीय अंश तक एक कोमल रबर प्रविष्ट करके उसके मध्य से तीन औंस नाइट्रेट आफ् सिल्वर का द्रव (एक औंस मे ½ ग्रेन) पिचकारी द्वारा प्रयोग करें। सल्फेट् आफ् कॉपर प्रभृति का द्रव भी इसके लिये व्यवहृत होता है।

कोई-कोई चिकित्सक दुर्दम पूय प्रमेह को दूर करने के लिये नीचे लिखी हुई चिकित्सा का अवलम्बन करते हैं।

ग्राह्य प्रयोग—ओलिकोकी २ ड्राम, सिराफ्लेवी ½ ड्राम, अर्जेन्ट् नाइट्रेट १५ ग्रेन, वालसम् ऑफ् पीरु ½ ड्राम इनको एक मे मिला करके जल स्वेदन यन्त्र के उत्ताप मे गलावें। बाद को इसमे शलाका (साउण्ड) डुबा करके शुष्क कर लेवें। यह शलाका (साउण्ड) नाली में प्रवेश करने पर नाली के उत्ताप से गल जाता है और रुग्णांश मे औषध लग कर रोग की शान्ति हो जाती है। यदि इस चिकित्सा से सम्पूर्ण नली में औषध लग भी जावे तो कोई अपकार नहीं होता है।

मूत्रनाली के पश्चादंश में पुरातन प्रदाह वर्तमान होने पर नीचे लिखी हुई व्यवस्था करनी चाहिये।

ग्राह्य प्रयोग—आर्जेन्ट नाइट्रेट् वा क्यूप्राई सल्फ १५ ग्रेन, लैनोलिन् ३ औंस, ओलिः अलिवी १½ ड्राम—इनको एक में मिला करके एक कैथिटर मे भर ले। बाद को मूत्रनाली के मध्य कैथिटर प्रवेश करें। वक्रांश का छिद्र मूत्रनाली के प्रोष्टेटिक अंश तक पहुँचने पर एक परिमाण चिह्नयुक्त दण्ड के द्वारा शलाका के मुक्त मुख से डाल कर के मूत्रनाली के मध्य मे निर्दिष्ट परिमाण से मलहम छोड़ देवें।

पुरातन पूयप्रमेह (ग्लीट)—इस अवस्था में अधोलिखित व्यवस्था करनी चाहिये।

ग्राह्य प्रयोग—पल्व क्यूबेब १ ड्राम, फेरिकार्ब आधा ड्राम से १ ड्राम—इनको एक में मिला करके एक पुड़िया दिन में तीन बार सेवन करें।

पुरातन पूय प्रमेह (ग्लीट) की चिकित्सा

इसमें लघु और पुष्टिकारक पथ्य देवें। आनन्ददायक कार्य में मन लगावें। नियमित व्यायाम, शीतल अवगाहन स्नान और बाद में उत्तम रूप से अङ्गवर्षण करें। इससे इस रोग में विशेष लाभ होता है। आभ्यन्तरिक प्रयोग के लिये फेरिसल्फ २ ग्रेन, क्विनाइन् सल्फ आधा ग्रेन—इनको एक में मिला कर वटी के आकार में बनाकर दिन में तीन बार प्रयोग करें। सल्फेट् आयरन् के बदले अक्जैलेट् वा साइट्रेट् आफ् आयरन् का व्यवहार किया जाता है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित व्यवस्था से भी अच्छा लाभ पाया जाता है।

ग्राह्य प्रयोग—टिञ्चर कैन्थराइडिस् आधा औंस, ष्ट्रिक्नियो १ ग्रेन, सिरप् लेमन् ३ औंस—इनको एक में मिलाकर, एक ड्राम की मात्रा में प्रातः और सायंकाल सेवन करें। इसके साथ-साथ संकोचक पिचकारी की भी व्यवस्था करनी चाहिये। कोई-कोई चिकित्सक इस रोग में टिञ्चर कैन्थराइडिस के साथ तार्पीन के तेल की व्यवस्था करते हैं और साथ ही नीचे लिखी हुई वटी का भी अनुमोदन करते हैं।

ग्राह्य प्रयोग—पल्व: क्यूबेब् आधा औंस, कोपेवा २ औंस, फेरि सल्फ् १ औंस, ओलिटेरेबिन्थ ३ ड्राम—इनको एक में मिलाकर १० ग्रेन परिमाण की एक-एक गोली बनावें। दिन में १५ से ३० वटी का प्रयोग करें। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि इस रोग में कैन्थ-राइडिस् वा आर्जेंट् का आभ्यन्तरिक प्रयोग करें। सप्ताह में एक वा दो बार मूत्रनाली के मध्य में उत्तम रूप से तैलाक्त शीतल नाली (बूजी) का प्रवेश करने से भी बहुत लाभ होता है।

किसी-किसी का मत है कि ग्लीट (कठिन सूजाक) रोग की चिकित्सा के लिये उपयुक्त औषध क्षार मूत्रनाली पर अल्प प्रमाण में रखें। कामोद्रेक न होने पावे इस विषय पर पूर्ण ध्यान रखें। बाल्सम् ऑफ क्यूबेब् का [illegible] करें। उत्तेजनाकारक वा संकोचक

पिचकारी की व्यवस्था करें। निरुद्ध प्रकाश (Stricture of the urethia) वर्तमान होने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

पूयप्रमेह के विविध उपसर्गों की चिकित्सा

लिङ्गमुण्ड-प्रदाह (वेलेनाइटिस्)—इसकी चिकित्सा के लिये दिन मे तीन-चार वार लिङ्गमुण्ड को क्लोराइड् आफ् जिङ्क द्रव (एक औंस में चार ग्रेन), वोरिक एसिड् द्रव (प्रतिशत १ अंश), कार्वोलिक् एसिड् द्रव (प्रतिशत १½ अंश) वा नाइट्रेट् आफ् सिल्वर द्रव (एक औंस मे १ ग्रेन) द्वारा अच्छी तरह धो देवें। बाद मे धीरे-धीरे सुखा करके प्रदाहयुक्त स्थान के ऊपर, टॅानिक एसिड् वा ओक्साइड् ऑफ् जिङ्क अथवा नीचे लिखा हुआ चूर्ण छोड कर लिन्ट (तूलाक्त पट्टी) वा एवृजर्वेन्ट की रूई से लिङ्गाग्र त्वचा को ढक देवें।

ग्राह्य—पल्व ओपियाई १ ग्रेन, लाइकोपोडियम् २ ग्रेन, इनको एक मे मिला कर प्रयोग करें।

लिङ्गमुण्ड आवरक त्वचा (शिश्नाग्रत्वचा) प्रदाह

इसकी चिकित्सा भी पूर्व उपसर्ग के तुल्य ही होती है। प्रदाह अधिक होने पर आगे की त्वचा सूज जावे तो लेडनम् और लेड् लोशन के द्वारा उसको सदा भिगोये रखे और शोथ कम होने पर लिङ्गमुण्ड प्रदाह (वेलेनाइटिस) के अनुरूप चिकित्सा करें।

परिवर्तिका और अवपाटिका की चिकित्सा

परिवर्तिका (फाइमोसिस)रोग की चिकित्सा के लिये संकोचक औषध की पिचकारी से अग्र चर्म के आभ्यन्तरिक प्रदेश को धोकर परिष्कृत कर दें और सम्पूर्ण लिङ्ग को जल मिश्रित लेड् वाटर से भिगोये रखे। इससे उपकार न होने पर अस्त्र चिकित्सा का अवलम्वन करें। अवपाटिका (पैराफाइमोसिस्) रोग मे शिश्नाग्रत्वचा को खींच कर परिवर्तिका के रूप मे परिणत करे और फिर बाद में उसकी चिकित्सा करे।

नोट—इनकी अस्त्र-चिकित्सा लेखक की लिखी हुई शल्यतन्त्र नामक पुस्तक में देखें।

छोटे-छोटे दाने (स्फोटक) की चिकित्सा

अधिकतर ये अपने से ही अच्छे हो जाते हैं। इनकी चिकित्सा साधारण स्फोटक के तुल्य करनी चाहिये। इनकी विशेष चिकित्सा शल्यतन्त्र में पढ़नी चाहिये।

ब्रध्न (वद) की चिकित्सा

पूयप्रमेहजनित वद रोग में कभी-कभी टिञ्चर ऑफ् आइयोडीन् वा ओलियेट् आफ् मर्करी का प्रलेप करके पट्टी बाँध देने पर वद बैठ जाता है। परन्तु, पूय की उत्पत्ति हो जाने पर शस्त्र-चिकित्सा करनी चाहिये।

पौरुष ग्रन्थि-प्रदाह (प्रोष्टेटाइटिस्) की चिकित्सा

इस रोग में रोगी को अच्छी तरह विश्राम करावें। पथ्य में लघु आहार देवें। कोष्ठ शुद्ध रखें। मूत्र की कटुता को दूर करने वाली औषध देवें। नितम्ब प्रदेश को ऊँचा रखें। पेरिनियम (विटप से गुदा तक सीवन) प्रदेश में जोंक तथा मर्फाइन बेलाडोना की गुह्यवर्ती लगावें। अनेक स्थल में पेरिनियम प्रदेश में बेलाडोना का प्रलेप लगाने पर विशेष लाभ होता है। पूयोत्पत्ति होने पर शीघ्र ही उसको दूर कर देने की आवश्यकता होती है। पेशाब के बन्द हो जाने पर कोमल कैथीटर (शलाका) का व्यवहार करें। पुरातन रोग की चिकित्सा (पुरातन होने पर) और यदि निरुद्ध प्रकाश (स्ट्रिक्चर) वर्तमान हो तो उसकी चिकित्सा के लिये प्रतिकार करें। लघु आहार दें। कोष्ठ शुद्धि के साथ मलाशय के मध्य में प्रतिदिन शीतल जल की पिचकारी देवें। शीतल जल में प्रतिदिन कटिपर्यन्त भाग को डुबोवें। पेरिनियम (सीवन) प्रदेश में आइयोडीन का प्रलेप करें। शीतल स्टिल की शलाका (साउण्ड) नियमित रूप से मूत्रनली के मध्य में प्रवेश करने पर लाभ होता है।

उपाण्ड-प्रदाह (एपिडिडाईमाइटिस्) की चिकित्सा

रोग के आरम्भ में रोगी को चारपाई पर लिटा कर अण्डकोष के नीचे तकिया लगा कर दोनों ऊरुओं के बराबर रखें। वेदनायुक्त अण्ड (टेष्ट्रिकल) को नीचे लिखे हुवे द्रव से भिगोये रखें।

वाह्य प्रयोग—टिञ्चर एकोनाइट् आधा औंस, टिञ्चर ओपियाई १½ औंस, लाइकर प्लम्बाई सब एसेट् २ औंस, परिस्रुत जल २ औंस—इनको एक में मिला करके व्यवहार करें। रोगी को लघु पथ्य देवें। लावणिक विरेचन से कोष्ठ शुद्धि करें। दो घण्टे का अन्तर देकर एक बूँद टिञ्चर एकोनाइट् और पाँच ग्रेन ब्रोमाइड् आफ् पोटासियम् का प्रयोग करें। इसमें आइयोडाइड ऑफ पोटासियम और फाइटलाक्का का प्रयोग भी अनुमोदित है। यदि पूर्वोक्त चिकित्सा से रोग की शान्ति न होवे और आक्रान्त विधान कठिन और विवर्द्धन ग्रस्त होवे तथा वेदना मृदु होवे तो एटिसिव प्लाष्टर की पट्टी (ष्टेपिङ्ग) के सङ्काप प्रयोग करने से उपकार होता है। इसके वाद वेलाडोना और आइयोडो फार्म का मलहम लिन्ट मे लगाकर विवर्द्धित अण्ड के ऊपर वांध कर ऊपर से धोती की कच्छ वांध देवें। यदि प्रादाहिक लक्षणों के शान्त हो जाने पर उपाण्ड कठिन पड गया हो तो वेलाडोना और पारद के मलहम का स्थानिक तथा आइयोडीन और पारद का आभ्यन्तरिक प्रयोग करें।

पूयप्रमेहिक आम वात (गनोरियल् र्‌यूमेटिज्म्)

इसमें पूयप्रमेह के आरोग्य करने की विशेष चेष्टा करें। अधिकतर सन्धि-प्रदाह के आरम्भ में पूय-प्रमेह विल्कुल सामान्य होता है। कभी-कभी यह प्रवल भी होता है। किन्तु, दैहिक लक्षण अत्यन्त अधिक न होवे तो शीघ्र ही पूयप्रमेह शान्त हो जाता है। यदि पूयप्रमेह के लक्षण शान्त न होवे तो नियमानुकूल इसकी चिकित्सा करें। सन्धि-प्रदाह की चिकित्सा के लिये रोगी को शय्या पर लिटावें और आक्रान्त सन्धियों के सम्पूर्ण विश्राम के लिये स्प्लिन्ट (कुशा) का व्यवहार करें। पुल्टिस, सेक, समभाग वेलाडोना का सार और ग्लिसरीन् का प्रयोग करें। किसी-किसी स्थल में सन्धि के ऊपर जोंक लगाने से विशेष लाभ होता है। चिरकाल तक सन्धि अत्यन्त अधिक फूली रहे तो व्लिष्टर का प्रयोग करें। रोग के अप्रवल होने पर स्थानिक अङ्गमर्दन और मृदु सन्धि सञ्चालन की व्यवस्था करें। आजकल इक्थिओल

ग्लिसरीन, नरम एन्टीफ्लोजिस्टीन, आयोडेक्स आदि वेदनाहर और शोथहर दवाई लगाई जाती है। वेदना कम होने पर नारायण तैल की मालिश करें।

पूयमेहजन्य अफथैलमिया
(Ophthalmia)

पूयमेहजन्य अफथलमिया रोग मे वात के अनुकूल चिकित्सा करनी चाहिये। अत' किनाइन और पारद के द्वारा इसकी चिकित्सा करे। इसके साथ-साथ त्रिफला-क्वाथ से नेत्र को धोना चाहिये। पार्श्वकपाल मे छाला उठाने वाली (ब्लिस्टर) औषध का प्रयोग करें। अथवा जलौका का प्रयोग करं। कनीनिका प्रसारित रखने के लिये एट्रोपिन का प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त उष्णपाद स्नान, मृदु विरेचक औषध, सर्षप-प्रलेप और अन्यान्य प्रत्युग्रता साधक उपायों की व्यवस्था करें।

पूयमेहजन्य अभिष्यन्द की चिकित्सा
(Conjunctivitis)

पूयमेह मे यह उपद्रव अत्यन्त कठिन होता है। इसका भावी फल अशुभ होता है। इसकी चिकित्सा सावधानी से करनी चाहिये। रोगी को अन्धकारपूर्ण गृह मे रक्खें। यदि आँख में अभिष्यन्द हो जावे तो दूसरी चक्षु में स्पर्शाक्रमण न होने पावे ऐसा प्रवन्ध करें। आक्रान्त चक्षु मे नाइट्रेट ऑफ सिल्वर के द्रव का प्रयोग करं। पार्श्व-कपाल मे जलौका का प्रयोग करें। एट्रोपिन, साधारण शोथ नाशक और प्रत्युग्रतासाधक चिकित्सा की व्यवस्था करे। अथवा निम्ब के क्वाथ से नेत्र को धोवें। फिर उसमें पोटार्गल, आर्गीरोल और सिल्वोल मे से किसी एक का २ से ५ प्रतिशत घोल डालें। महात्रिफलाघृत ६ माशा, १ तोला मिश्री मिलाकर रात्रि मे सेवन करें। फिटकिरी का फूला, रसौत, लोध्र, देवदार, हरीतकी—इनको पीसकर गरम करके प्रलेप करे। इससे वेदना शान्त होती है।

पुरुष के पूयमेह मे पूर्ववर्णित मूत्रनली शोथ (यूरीथ्राइटिस) मणि-मुण्ड प्रदाह प्रभृति और स्त्रियों के गर्भाशयान्तरीय कलाशोथ (इण्डो-

मेद्राइटिस) प्रभृति साधारण पूयमेहजन्य रोगों के अतिरिक्त दोषमयता (सेप्टीसीमिया), उपसर्गयुक्त हृदयाभ्यन्तरिक शोथ (इन्फेक्टियइण्डोकार्डाइटिस), शिरोवर सौपुम्नीय मस्तिष्कावरणीयकलीय शोथ (सेरिब्रोस्पाइनल मेनिञ्जाइटिस), सन्धि शोथ (अर्थाइटिस) और उदरच्छदा कला शोथ (पेरीटोनाइटिस) प्रभृति रोग पूयमेहाणु से उत्पन्न हो सकते हैं। पूयमेहाणु के द्वारा पुरातन उपसर्ग जन्य सम्पूर्ण रोग और दुर्दम पुरातन पूयमेह (ग्लीट) प्रभृति रोगों मे वैक्सीन द्वारा (विशेष करके रोगी के निज शरीर से जीवाणु लेकर उसका वैक्सीन प्रस्तुत करके) चिकित्सा करने से विशेष लाभ होता है। इस वैक्सीन के प्रथम प्रयोग मे चार करोड से पाच करोड़ जीवाणु (कोक्काई) प्रयुक्त होते हैं। इस वैक्सीन का दूसरी चार प्रयोग करने पर दो सप्ताह के बाद इसकी व्यवस्था करनी चाहिये।

स्त्रीजन्य पूयमेह की चिकित्सा

भग प्रदाह मे बाइकार्बोनेट ऑफ सोडियम् के उग्र द्रव से भग को धो देव। बाद को वस्त्र से पोंछ कर शुष्क कर देवं। इसके बाद श्वेत सार का सूक्ष्म चूर्ण, बोरिक एसिड, ओक्साइड् आफ् जिङ्क, अफीम और लाइकोपोडियम् का चूर्ण छोड़ कर उसके ऊपर लिण्ट (तूलाक्त पट्टी) रख देवं। रोगी को विश्राम करावें। प्रदाह अत्यन्त प्रबल होने पर उष्ण स्नान करावें, विरेचक औषध से अन्त्र को साफ रक्खें तथा लघु पथ्य देवें। प्रदाह-ग्रस्त स्थान मे सदा लेड्लोशन और अहिफेन का प्रयोग करें। सम्पूर्ण भग प्रदेश में नाइट्रेट आफ् सिल्वर का द्रव (१ औंस मे ४० ग्रेन) प्रयोग करें। भग-योनिक ग्रन्थि (वल्वो वेजाइनेल) प्रदाह-ग्रस्त होने पर स्थानिक रक्तमोक्षण द्वारा उसका दमन करें। इसके निष्फल हो जाने पर शीघ्र ही पूय उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में उष्ण सेक आदि की व्यवस्था करें। स्फोट पैदा हो जाने पर शस्त्र चिकित्सा करनी चाहिये।

योनि पथ-प्रदाह (वेजाइनाइटिस) की चिकित्सा भग-प्रदाह (वल्वाइटिस्) की चिकित्सा के तुल्य ही करनी चाहिये। दो घण्टे

के वाद सावुन के जल की पिचकारी से योनि को धोव। अथवा उसमे उग्रता उत्पन्न हो जाने पर क्षीण क्षार के द्रव से योनि को धोव। इसके बाद कुछ गरम जल से धोकर पुनः औषध के संयुक्त द्रव की पिचकारी से योनि को धोव। इस पिचकारी के लिये प्रयुज्य अनेक औषधें हैं। जैसे एसिटेट् आफ् लेड् एलम्, एसिटेट् वा सल्फेट् ऑफ् जिङ्क, सल्फोकार्वलेट् आफ् जिङ्क और करोसिव् सब्लीमेट का द्रव प्रभृति व्यवहृत होता है। योनि धोने के बाद, टॅनिक एसिड् प्रभृति सकोचक औषध संयुक्त एवं एब्जर्वेन्ट का फाहा योनि पथ के मध्य प्रवेश करें। यन्त्रणा आदि अधिक होने पर गुह्यवर्ति (सपोजिटरी) के आकार मे अफीम का स्थानिक प्रयोग करें। जैसे—एक्स्ट्रा ओपियाई ३ ग्रेन, एसिड् टानिक १ ड्राम और ओलिथ्रियोब्रोम Q. S (यद्रक्षा परिमाण में) इनको एक में मिलाकर बारह गुह्यवर्ती वनावें।

स्त्रियों के मूत्रनाली प्रदाह की चिकित्सा पुरुष के मूत्रनाली प्रदाह-चिकित्सा के तुल्य ही करें। स्त्रियों के पूयप्रमेह जन्य विविध पीडाओं की चिकित्सा वैक्सिन् द्वारा करने से विशेष लाभ होता है।

आयुर्वेदीय औषध-व्यवस्था

पूयमेह मे मूत्र को परिष्कृत रखने के लिये विशेष उपाय का अवलम्बन करना आवश्यक है। इसके साथ-साथ क्षत निवारण करने के लिये भी औषध देवें।

क्षत-निवारक योग

त्रिफला क्वाथ, वब्बूल क्वाथ, दारुहरिद्रा क्वाथ, खदिर क्वाथ प्रभृति संकोचक ओषधियों का व्यवहार लाभदायक है। इन क्वाथों मे रसाञ्जन, फिटकिरी और कत्था मिलाने से अधिक लाभ होता है। परन्तु, स्मरण रक्खें, पिचकारी लगाने के वाद कार्बोलिक सावुन से हाथ धोकर तौलिया से पोंछ डालें। क्योंकि विना धोया हुआ हाथ यदि आँखों में लग जायगा तो आँख विकार युक्त हो जावेगी। पिचकारी दिन में ३ वार लगावें। किन्तु मात्रा से अधिक औषध का प्रयोग न करें। व्याधि के अनुसार मात्रा मे न्यूनाधिक करते रहें।

मूत्र-शोधक योग

कवावचीनी का चूर्ण, कल्मी शोरा, यवक्षार इन ओपधियों का १-१ तोला और वंशलोचन ६ माशा, श्वेत जीरा ६ माशा, सफेद फिटकिरी ६ माशा, गेरु ६ माशा, छोटी इलायची ६ माशा—इन सवका वारीक चूर्ण करके ६ माशा की मात्रा मे गौ के शुद्ध दूध के साथ पीवें। इससे मूत्र का संशोधन होता है।

इन्द्रिय विरेचन

खीरा के वीज की गिरी ६ माशा, कासनी १ तोला, काहू १ तोला, ककडी के वीज की गिरी ६ माशा, कल्मीशोरा ६ माशा, खरवूजा के वीज की गिरी ६ माशा, तरवूज के वीज की गिरी ६ माशा, गोखुरू १ तोला—इनको कूट करके ९ पुडिया वनावें। २४ घण्टे मे सम्पूर्ण पुड़िया वकरी के दूध की लस्सी के साथ खा जावे। सूजाक के लिये यह योग अत्यन्त लाभदायक है।

शतपुष्पादि प्रयोग

सौंफ ११ माशा, धनिया ११ माशा, पोस्ते का डोडा ५ माशा इन सवको कूट करके मिट्टी के पात्र मे १½ पाव पानी डाल कर शाम को भिगो देवें। प्रात. छान कर पी ले। सात दिन तक इसका प्रयोग करने से वड़ा लाभ होता है।

शिलाजत्वादि वटी

शुद्ध शिलाजीत २१ माशा, शीतलचीनी ४ माशा, पाषाण भेद ४ माशा, छोटी इलायची के दाने ४ माशा, वडी इलायची के दाने ४ मा०, पुराना गुड ४ माशा, हर्रे ५ माशा, वहेरा ५ माशा, आँवला ५ माशा—इन सवको खरल करके धतूरे के पत्तों के स्वरस से अथवा महानिम्व (वकायन) और नीम के पत्तों के स्वरस से घोंट करके जंगली वेर के वरावर गोली वांधें। १ गोली प्रतिदिन दूध की लस्सी के साथ खाएँ। इससे वहुत लाभ होता है।

वंग प्रयोग

वंग भस्म ३ माशा, गुडूची का सत ३½ माशा, शिलाजीत मलाईदार ३½ माशा, श्वेत इलायची ३½ माशा, पाषाणभेद ३½ माशा, मुलेठी ३½ माशा, वंशलोचन ३½ माशा सबके बराबर मिश्री मिला कर चूर्ण बनावें। ९ माशे की मात्रा में ताजे पानी के साथ खावें। एक सप्ताह में सूजाक अच्छा हो जाता है।

संगजराहतभस्म-प्रयोग

संगजराहत १ छटाँक और सफेद कत्था १ छटांक दोनों को लेकर एक मिट्टी के सकोरा मे रक्खें और ऊपर से ढक कर कपड़मिट्टी करके धूप मे सुखा देवें। सूख जाने पर उपलों की अग्नि में पका लेवें और शीतल होने पर निकाल लेवें। बाद को इसे पीस कर रख लें।

मात्रा और अनुपान—३ माशे की मात्रा में शीशम की छाल के स्वरस से पीवें। इससे सूजाक बहुत जल्दी अच्छा होता है।

शुक्तादि योग

मोती के सीप की भस्म ३ रत्ती और फिटकिरी का फूला ३ रत्ती गौ के दूध के साथ प्रतिदिन ३ वार सेवन करें। इससे दाह की शान्ति हो जाती है।

नागादि योग

शीशे की भस्म १ रत्ती की मात्रा में दूध की लस्सी के साथ पीवें।

रसेन्द्र-प्रयोग

रससिन्दूर १ रत्ती, गिलोय सत २ माशा मिलाकर मधु से चाटें और ऊपर से मुलेठी, गोखरू, हरीतकी, विदारी कन्द, गेरु—इनका क्वाथ बनाकर पीवें। इससे सूजाक ५-७ दिन मे अच्छा हो जाता है।

तृणपञ्चमूलादि योग

कुश की जड, कास की जड, खस, ईख की जड, शरकण्डे की जड़, श्वेत चन्दन, गोखरू इनका सम्मिलित योग ४ माशा लेकर ६ छटाक जल में क्वाथ बनावे। शीतल होने पर चीनी मिलाकर प्रतिदिन तीन वार पीने से अच्छा लाभ होता है।

चन्दन तेल-प्रयोग

४ बूंद चन्दन का तेल बतासा में रख कर खायें और ऊपर से ताजा दूध पीवें। इससे अत्यन्त लाभ होता है।

स्वर्णप्रभादि योग

स्वर्णप्रभा १ रत्ती, ताजी हल्दी का स्वरस १ तोला और शहद १ तोला मिलाकर प्रात.-सायंकाल सेवन करें। ऊपर से त्रिफला और नीम के काथ की पिचकारी लिङ्ग में लगावें। इससे अत्यन्त लाभ होता है।

वहरोजादि योग

वहरोजा १ तोला, सूखा हुआ आँवला १ तोला, वड़ी इलायची १ तोला—इनको पीस करके ३ माशे की मात्रा से गौ के दूध की लस्सी के साथ पीवें। अथवा वहरोजा का तेल २ बूँद वतासा में रखकर सेवन करने से वहुत जल्दी आराम होता है।

आहार—दूध-भात आदि।

अपथ्य—गुड, तेल, मिर्च, खटाई प्रभृति।

नोट—सूजाक का विशेष विवरण लेखक की लिखी हुई औपसर्गिक मेह विज्ञान में देखना चाहिये।

वट योग

वरगद की जटा २ तोला लेकर एक छटाक जल में पीस कर वस्त्र से छान लेवें। वाद को उसमें २॥ तोला मिश्री मिलाकर प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में पीवें। इससे पित्तजन्य पूयमेह अच्छा होता है।

अश्वत्थ योग

पीपल की छाल २ तोला लेकर पाव भर पानी में पीसकर छान लेवें। फिर उसमें चन्दन का तेल ५ बूँद और मिश्री ३ तोला मिलाकर २१ दिन पीवें। इससे सूजाक जड से आराम हो जाता है।

सैरेयक योग

पियावाँसा के पञ्चांग को धूप मे सुखाकर अग्नि मे जला देव। फिर उसकी भस्म को छानकर कतीरा के पानी से चना प्रमाण की गोली बना लेवें।

मात्रा—१ गोली नागवला के क्वाथ से अथवा २ तोला नागवला स्वरस के साथ दिन मे तीन चार सेवन करे। इससे लाभ होता है।

कपूरकचरी-प्रयोग

कपूरकचरी ४ तोला, छोटी इलायची २ तोला, मुलेठी ५ तोला, गन्धाविरोजा का सत ५ तोला और मिश्री १० तोला।

विधि—इन सबको अलग-अलग कूटकर छान लेवे।

मात्रा—६ माशा गौ दुग्ध के साथ प्रात-सायं सेवन करे। इससे अवश्य ही लाभ होता है।

धात्री-प्रयोग

सूखा आँवला २॥ तोला लेकर कूटें। उसमे पाव भर जल डालकर शाम को भिगो देवें। प्रातः हाथ से मर्दन कर छान लेवे और उसमे २॥ तोला मिश्री और शुद्ध विरोजा का तेल ५ बूँद मिलाकर पीवें। इससे जलन व सूजाक अच्छा होता है।

मधूक योग

महुआ की छाल १ तोला और मिर्च ३ रत्ती—इनको २ छटाक पानी मे पीसकर छान लेवें और उसमें २ तोला मिश्री मिलाकर पीकर, ऊपर से एक पाव गो-दुग्ध पीवें। १५ दिन तक इसका प्रयोग करने पर लाभ होता है।

बब्बूल योग

बब्बूल की पत्ती २ तोला, काली मिर्च ४ रत्ती और मिश्री २ तोला—इनको २ छटांक जल मे पीसकर छान लेवें। प्रात-सायं इसका सेवन करने से सूजाक एवं मूत्र मे जलन शीघ्र ही अच्छा हो जाता है।

गुडीच्यादि योग

गिलोय, ताजी हल्दी और आंवले के ६ माशे स्वरस में मधु आधा तोला मिलाकर सेवन करें। इससे पूयमेह अच्छा होता है।

मूलकादि योग

मूली के पत्तों के एक पाव स्वरस में कल्मीशोरा ३ माशा मिलाकर पीवें। इससे मूत्र अधिक आकर एक ही दिन में सूज़ाक का बहुत-सा विप निकल जाता है।

धान्यकादि योग

पुरानी धनियाँ ११ माशा, पोस्ते का डोंडा ५ माशा—इनको थोड़ा-थोड़ा कूटकर मिट्टी के नवीन पात्र में ऽ।≈ पाव जल भर के सायंकाल भिगो देवे। प्रातःकाल उसको मर्दन करके वस्त्र से छानकर पीवें। इससे पूर्ण लाभ होता है।

पूयमेहनाशक वानस्पति-प्रयोग-वर्ग

निर्विषी-प्रयोग

निर्विपी अथवा जदवार खताई २ माशा और काली मिर्च ७ दाना मिला जल से पीस-छानकर प्रातःकाल दो सप्ताह तक पीवें। इससे पूयमेह मे आश्चर्यजनक लाभ होता है।

काकमाची योग

मकोय के पत्तों का स्वरस १ तोला, कासनी अर्क २॥ तोला, कुसुम अर्क २॥ तोला।

विधि—इन सबको एक मे मिलाकर दिन मे तीन-चार बार पीवें। इस प्रकार कुछ दिन सेवन करने से पूर्ण लाभ होता है।

वंश-प्रयोग

वांस के पत्तों के स्वरस मे कतीरा गोंद मिलाकर पीने से सूजाक में लाभ होता है।

गोक्षुरादि योग

बड़ी गोखुरू के पत्तों का स्वरस २ तोला, ककडी के बीज ६ माशा, काली मिर्च १ माशा—इनको घोट-पीस कर पीवें। इससे भी लाभ होता है।

अतिबला योग

अतिबला (कंघी) के पत्ते ३ तोला, मिर्च १ माशा, मिश्री २ तोला—इन सबको पानी में पीसकर २ छटाक जल मे घोल लेवें। फिर उसमें निम्बू का रस अल्प मात्रा में मिलाकर पीव। इससे सूजाक २१ दिन मे अच्छा हो जाता है।

दुग्धिका योग

छोटी दुग्धी का पंचाग ३ तोला और कालीमिर्च १ माशा लेकर २ छटाक जल मे पीस कर छान लेवें। फिर उसमे गो-दुग्ध एक पाव और मिश्री २ तोला मिलावें। प्रात सायकाल २१ दिन तक पीवें। इससे सूजाक में बहुत लाभ होता है।

पूयमेहनाशक सुरमा

१ तोला सुपारी के फूल को १ सेर अर्कगुलाब में खरल कर सुरमा बनावें।

समय—प्रात-सायं नेत्रों मे दो सलाई लगाया कर। इससे सूज़ाक अच्छा होता है।

द्वितीय सुरमा

योग—पुराने गोश्रृंग का चूर्ण १ तोला और युवा अवस्थावाले भैंसों के श्रृंग का चूर्ण १ तोला।

विधि—सेमल की रूई में इनको रखकर बत्ती बनावें और उसको दीपक मे जलाव। फिर बाद को उसका काजल मिट्टी के सकोरा मे इकट्ठा करें। काजल दिन मे २-३ बार नेत्रों मे लगाया करें। एक सप्ताह मे सूजाक बिल्कुल अच्छा हो जावेगा।

विचित्र अञ्जन

महिष के शृंग का चूर्ण वस्त्र मे लपेट कर उसकी वत्ती वनावें और दीपक में सरसों का तेल भर कर इस वत्ती को उसमे डालकर जलावें। फिर उसका काजल एकत्र करं। कोष्ठ संशोधन और इन्द्री विरेचन के बाद इस काजल को नेत्र मे लगाव। चार घडी तक एक दीपक जला कर, सामने मे रख कर उसकी तरफ देखते रहं। कुछ काल बाद सो जावे। प्रातः काल उठने पर सुजाक से छुटकारा मिल जावेगा। इसके सेवन करने से नवीन और प्राचीन दोनों तरह के सूज़ाक एक ही दिन मे जाता रहेगा।

वृश्चिक योग

एक वड़े बिच्छू को एक मिट्टी के पात्र मे रखकर उसका मुख सकोरा से ढक करके कपडमिट्टी से वन्द कर देवं। फिर १० उपलों की पुट देकर अग्नि शान्त होने पर उसको निकाल लेवं।

मात्रा—आधी रत्ती भस्म, १ तोला मक्खन मे मिलाकर खिलावें। इससे सूज़ाक, आतशक और मूत्रावरोध अच्छा हो जाता है।

पूयमेहमुद्गर रस

रसौत १ तोला, मनियारी नमक १ तोला, सतविरोजा १ तोला, विल्व की छाल १ तोला, गोखुरू १ तोला, अनार का फूल १ तोला, चिरायता १ तोला, पिपरामूल १ तोला, त्रिकटु १ तोला, निशोथ १ तोला, लोहभस्म ४ तोला, वंगभस्म २ तोला, तुत्थभस्म १ माशा और गुग्गुल शुद्ध ४ तोला।

विधि—इनको कूट-पीस-छान करके मक्खन से तीन दिन लगातार घोटें। फिर केले के रस से घोट कर चना प्रमाण गोली वनावें। औषध सेवन के पहले साधारण विरेचन ले लेवें और लिङ्ग में त्रिफला और निम्ब के क्वाथ की पिचकारी लगावें।

मात्रा—२ गोली मिश्रीयुक्त दूध से ले। इससे अवश्य ही लाभ होता है।

सूजाक का अद्भुत प्रयोग

पेशाव करने की विशेष विधि—तूतिया २५ तोला लेकर पीस कर पॉच-पॉच तोले की पाच मात्रा बनावें। एक मिट्टी का हुक्का लेवें और उसमे ५ तोला तूतिया डाल कर पेशाव करने के समय आधा सेर कोयले की अग्नि पर हुक्का रख देवें। फिर सगसरेमाही का बारीक चूर्ण १ तोला की मात्रा में चीनी मिलाकर खावें और ऊपर से दूध की लस्सी भर पेट पीवें। थोड़ी देर मे मूत्र की शका होगी। परन्तु उस समय पेशाव को रोक लेवें। जव पेशाव का वेग न रुके तव आग पर रक्खे हुये हुक्के मे इन्द्री लगाकर पेशाव करें। इस भाँति दिन मे पांच वार संगसरेमाही की पुडिया खाकर अग्नि पर रखे हुये पांचो हुक्कों में ५ बार पेशाव करें। इससे एक दिन में सूजाक मिट जाता है।

पथ्य—दुग्ध, भात और घृत देवें।

पूयमेहान्तक वटी —

कवाब चीनी का तेल १ तोला, चन्दन का तेल १ तोला, गन्धाविरोजा का तेल १ तोला, शुद्ध कौड़िया लोवान ४ तोला, सफेद इलायची के बीज का चूर्ण १ तोला, वशलोचन १ तोला, गिलोयसत १ तोला।

विधि—पहले लोवान आदि दवाइयों को कूट-पीस छान लेवें। वाद को तेल मिलाकर घोट कर जगली वेर के बरावर गोली बनाकर शीशी मे रख लेवें।

मात्रा—१ गोली, दूध के साथ प्रात सायं सेवन करें।

अपथ्य—लालमिर्च, तेल, खटाई, मिठाई, नारी प्रभृति।

वैक्सीन प्रयोग

व्याधि की अनुतीव्र तथा चिरकालिक अवस्था मे, और अन्य उपद्रवों मे भी वैक्सीन से लाभ होता है। किन्तु ; प्रारम्भ मे १ सप्ताह तक वैक्सीन का प्रयोग न करें। पूयमेह के लिये कई प्रकार के वैक्सीन प्रयुक्त होते हैं। परन्तु उनमें वहुद्रव निर्विषीकृत (डीटाक्सीकेटेड) और आत्मजनित

अधिक लाभदायक है। इसकी पहली मात्रा ऐसी होनी चाहिए जिससे कि रोगी पर उसकी प्रतिक्रिया अल्प होवे। इस दृष्टि से वहूद्भव संचित की पहली मात्रा पॉच-दशलक्ष और निर्विषीकृत की दो हजार-दशलक्ष तक ठीक होती है। फिर पांच छः रोज के बाद धीरे-धीरे मात्रा वढा कर वहूद्भव मे दो सौ-दश लाख तक और निर्विषीकृत मे तीस हजार-दश लाख तक अन्तिम मात्रा वढा सकते हैं। आत्मजनित वैक्सीन नवीन की अपेक्षा पुरानी अवस्था मे जव पूयमेहाणु (गोनोकोक्कस) के साथ अन्य जीवाणु भी होते हैं (मिश्र उपसर्ग) अधिक लाभदायक होती है। इसके साथ जव निर्विषीकृत वहूद्भव वैक्सीन का प्रयोग होता है तव अधिक लाभ होता है। यदि वैक्सीन का कार्य शुरू न होता हो तो उसके साथ प्रोटीन (यथा—एज़ोलन या दूध) की सूई वीच में देने से उसका कार्य शुरू हो जाता है। आजकल गोनोयाट्रीन, गोनोक्यासीन, आर्थिगोन प्रभृति वैक्सीन प्रोटीनयुक्त होते हैं। इनका उपयोग इस अवस्था मे करना चाहिये।

प्राचीन पूयमेह में वैक्सीन, पौरुषग्रन्थि मर्दन, शलाका प्रयोग एवं प्रसेचन ये चारों उपाय प्रयुक्त होते हैं। प्रसेचन के लिये घोल की उष्णता ११०-११२ डिग्री तक और शक्ति कुछ अधिक होनी चाहिये। यदि पूयमेहाणुओं के साथ अन्य पूयजनक जीवाणु भी हों, तो मर्क्यूरी आक्सीसायनाइड के घोल का प्रयोग करना चाहिये।

निरुद्धप्रकाश (Stricture) प्रतिकार

मूत्रद्वार संनिरोध मे मूत्रमार्ग मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक मोटी शलाका डालनी चाहिये। प्रथम सप्ताह मे एक वार शलाका डालें। इसके वाद दो सप्ताह मे एक वार डालें। यदि सन्निरोध अधिक हो तो शलाका के साथ-साथ फैब्रोलायसीन (Marck) का पेशी में सूचीभरण भी देनी चाहिये। शलाका डालने के पूर्व पेशाव करके मूत्र-मार्ग का प्रक्षालन करना चाहिये और वाद मे मूत्र विशोधक औषधियाँ देनी चाहिये। इससे शलाका-ज्वर (Catheter fever) नहीं होता। यदि हो जावे तो कुनैन देवें।

शलाका का उपयोग

(Instrumentation)

पूयमेह की चिकित्सा में शलाका का प्रयोग रोग की तीव्रता कम होने पर करना चाहिये। जब मूत्र साफ होने लगे, तो सप्ताह में एक बार प्रयोग करें। प्रयोग करने के पूर्व तथा पश्चात् मूत्रमार्ग का प्रसेचन करना आवश्यक है। शलाका मूत्रमार्ग मे प्रविष्ट कर उसको धीरे-धीरे दबाना चाहिये ताकि मूत्रमार्ग से सम्बन्धित ग्रन्थियों और दरारों मे जो पूय तथा जीवाणु इकट्ठे हों वे बाहर निकल कर मूत्रमार्ग मे आ जावें। इसके प्रयोग से भविष्य में होनेवाला मूत्रमार्ग सन्निरोध भी नहीं होता। शलाका प्रयोग के पश्चात् यूरोट्रोपिन, सलाल या अन्य मूत्रमार्ग विशोधक ओषधि मुख द्वारा देनी चाहिये।

पौरुषग्रन्थि विमर्दन

(Prostatic massage)

इसका प्रयोग तीव्रावस्था मे नहीं करें। रोग के पीछे की ओर बढ़ने पर पौरुष-ग्रन्थि में विकृति न होने पर भी इसका प्रयोग लाभदायक होता है। इससे ग्रन्थि के अन्दर जो कुछ भी पूयस्राव तथा अन्य दूषित पदार्थ होते हैं वे बाहर निकल आते हैं। उसमे रक्त-संचार उचित रूप से होने लगता है। उसकी सकोचक शक्ति बढती है और उसमे उत्पन्न हुए प्रतियोगी पदार्थों का प्रचूषण रक्त मे होकर रोग-क्षमता मे वृद्धि हो जाती है। मर्दन सप्ताह मे एक या दो बार प्रत्येक समय आधा मिनट तक करना चाहिये। मर्दन करने के बाद मूत्र-त्याग करके फिर प्रसेचन करना चाहिये। जिस दिन मर्दन-क्रिया हो उस दिन वैक्सीन की सूई नहीं लगानी चाहिये।

आतपोपक्रम

(Pyro Therapy)

गोनोकोकस (Gonococcus) नामक जीवाणु के सम्बन्ध मे यह देखा गया है कि [illegible]तुएँ जितनी उष्णता सहन कर सकती

है उतनी उष्णता से ये मर जाते हैं। इस धर्म के आधार पर आजकल रोगी के शरीर का ताप उच्च अश पर उष्णजलावगाहन, विद्युत्पन्न (Diathermy) प्रभृति के द्वारा कुछ घण्टों तक रख के पूयमेह की चिकित्सा करने का उपक्रम शुरू हुआ है। केटरिंग नामक चिकित्सक ने इस चिकित्सा के लिये एक तप्त मंजूषा (Kettering Hypertherm) निर्माण की है। इस मंजूषा में सिर के सिवाय रोगी का समस्त शरीर बन्द कर दिया जाता है। फिर धीरे-धीरे एक से डेढ घण्टे में उष्णार्द्र वायु द्वारा मञ्जूषा का भीतरी ताप १०६ डिग्री फ॰ तक बढ़ाया जाता है। फिर छः घण्टे तक इतना ताप स्थिर रख कर उसके पश्चात् धीरे-धीरे घटाया जाता है। इसमें प्रत्येक दश मिनट के बाद रोगी के शरीर का ताप गुदा मे ज्वरमापक रखके देखा जाता है। उसको दो सेर से पाँच सेर नमक पानी ०.६% पानी के लिये दिया जाता है तथा उसके ऊपर ध्यान भी दिया जाता है। इस भाँति ३ से ५ दिन के बाद तीन से पाँच बार यह चिकित्सा की जाती है। इससे पूयमेह और उसके सन्धिशोथादि उपसर्ग शीघ्र अच्छे हो जाते हैं, ऐसी चिकित्सकों की सम्मति है। यही कार्य विजातीय प्रोटीन्स् (Foreign-proteins) की विविध ओपधियों द्वारा किया जाता है।

साम्प्रतिक उपक्रम

आजकल पूयमेह की दवा, शुल्वौषधियाँ और पेनीसिलीन है। इनसे इसकी चिकित्सा मे अत्यन्त आश्चर्यजनक सफलता मिली है। यदि आरम्भ में ही चिकित्सा शुरू कर दी जावे तो २-३दिन मे सव लक्षण शान्त हो जाते है और उपद्रव उत्पन्न नहीं होते तथा रोग का निर्मूलन भी हो जाता है।

शुल्वौषधियां—इनमें सल्फाडायाजाइन, सल्फाथायोझोल, सल्फापायरीडीन और सल्फानिलामाइड ये औषधियाँ प्रयुक्त होती है। इनमें सल्फाथायोझोल सबसे अधिक लाभ करती है। इसकी मात्रा ३—७ धान्य (औसत ४ धान्य) दिन में चार तुल्य मात्राओं मे

(२ या ३ गोली प्रत्येक समय) विभक्त करके दी जाती है। सामान्यतः २-८ दिन तक ओषधि दी जाती है। ओषधि चूर्ण करके पानी के साथ सेवन करें। दिन रात्रि में ४—५ सेर पानी पीना चाहिये। चार दिन में प्रायः रोग ठीक हो जाता है। यदि ४ दिन में मूत्रमार्ग-शोथ पूर्णतया ठीक न हुआ हो तो दहातु अतिलोहकित (यो-परम्यांगनेट) या मर्क्यूरी आक्सीसायनाइड के घोल से अग्रमूत्रमार्ग का एक सप्ताह तक प्रक्षालन करें। यदि इससे रोग पूर्णतया ठीक न हो तो सल्फाथायाज़ोल से अन्य ओषधि का दूसरा क्रम दिया जावे। यदि इससे भी रोग ठीक न हो तो जीवाणु शुल्वौषधि विरोधी हो गये हैं ऐसा मान कर उनका प्रयोग बन्द कर दिया जावे। ऐसे रोगियों में पेनीसिलीन या आतप चिकित्सा से लाभ होता है।

पेनीसिलीन—इसकी मात्रा २ लक्ष एकक होती है। जो ५० सहस्र और १ लक्ष की तीन मात्राओं में यानी ४० सहस्र, ४० सहस्र, ४० सहस्र और ८० सहस्र की चार मात्राओं में प्रत्येक तीन घण्टे पर दी जाती है। आजकल तैल-मक्खी सिक्थ (Oil-Beeswax) में मिलाये हुए पेनीसिलीन की २ लाख की मात्रा एक ही बार पेशी में दी जाती है।

इससे नब्बे प्रतिशत से अधिक रोगियों में लाभ होता है। मुख द्वारा भी पेनीसिलीन का प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु, उसमें इतनी सफलता नहीं मिलती। चिकित्सा की सार्थकता—वास्तविक निदान तथा ठीक मात्रा में ओषधि और चिकित्सा के पश्चात् पथ्य की व्यवस्था, इन तीन बातों पर निर्भर करती है। प्रायः स्त्रियों में ट्रेचोमोनस, मोनीलिया तथा अन्य जीवाणुओं का मिश्रित उपसर्ग होने पर पेनीसिलीन से उतनी सफलता नहीं मिलती। अतः स्त्रियों में अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

पेनीसिलीन की श्रेष्ठता—पूय प्रमेह में शुल्वौषधियों की अपेक्षा पेनीसिलीन से निम्न लाभ होते हैं—(१) शीघ्र फलदायी। (२) तीव्र रोग में और (३) केवल मूत्रमार्ग के शोथ में पेनीसिलीन जितनी सफल होती हैं उतनी ही जीर्ण रोग तथा मूत्रमार्ग सम्बन्धित अंगों के शोथ में

होती है। (४) फिरङ्गोपसर्ग का अनुमान होने पर पेनीसिलीन से चिकित्सा करने पर यदि पहले का या साथ-साथ फिरङ्ग का उपसर्ग हो तो रोगी मे प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो केवल गुह्यगोलाणु के उपसर्ग मे नहीं होती। इसको 'हर्क्सहीमर' प्रतिक्रिया कहते हैं। इसमें शीतज्वर, शिरःशूल, हृल्लास, प्राथमिक व्रण आदि लक्षणों से फिरङ्ग की पहिचान करें।

सावधानता--फिरङ्ग की चिकित्सा के लिये पेनीसिलीन की बहुत अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। पूयमेह में जो अल्प मात्रा प्रयुक्त होती है उससे फिरङ्ग का संचयकाल बढ़ता है तथा उसके लक्षण अस्फुट हो जाते हैं। अतः पेनीसिलीन, चिकित्सा समाप्त होने पर प्रतिमास चार से ६ मास तक वासरमन कसौटी के द्वारा फिरङ्ग का पता लगावें।

पेनीसिलीन तथा सल्फाथायाजोल की संयुक्त चिकित्सा—इसमें प्रथम तेल मक्खीसिक्थ पेनीसिलीन की २ लक्ष की सूई लगाई जाती है और दूसरे दिन से चार दिन तक प्रतिदिन ५ धान्य (ग्राम) की मात्रा में सल्फा थायाजोल दिया जाता है।

स्ट्रेप्टोमायसीन

आजकल इसका भी प्रयोग किया जाता है। मात्रा आधा धान्य प्रत्येक ३ घंटे पर ६ वार। जाना गया है कि इसके प्रयोग से पहले मूत्रमार्ग के शोथ मे लाभ होता है। परन्तु पुराने उपद्रवयुक्त रोगियों में यह निष्फल होता है।

सद्योजात नेत्राभिष्यन्द के प्रतिबन्धनार्थ पेनीसिलीन का प्रयोग

यह उपसर्ग जन्म के बाद पूयमेह पीड़ित जननी के बच्चों मे होता है। इससे वे अन्धे हो जाते हैं। यदि उसी समय इसका प्रतिकार किया जावे तो इसका प्रतिबन्ध न होकर बालक के नेत्र बच सकते हैं। इसके लिये एक प्रतिशत सिल्वर नैट्रेट का घोल काम मे लाया जाता है। जन्म के बाद बालक की आंखें रूई के फाहा से पोछने के बाद

तिर्यक् परिस्रुत जल में बनाये हुए ऊपर वर्णित रजत के घोल के २-३ सी० सी० से प्रक्षालित करें। आजकल रजत के बदले पेनीसिलीन का उपयोग किया जा रहा है। इसके लिये एक सी० सी० निर्जीवाणुक दैहिक लवणजल (Normal Saline) में २५०० एक पेनीसिलीन का घोल बनाया जाता है और नेत्र प्रक्षालन के लिये रजत के घोल के बदले इसका व्यवहार किया जाता है। रजत से पेनीसिलीन न्यून वेदनाजनक अथवा वेदनारहित होता है और नेत्रों को स्थायी हानि नहीं पहुँचाता है।

लिङ्गार्श का परिचय

पर्याय—लिङ्गार्श, लिङ्गवर्ती, कामजन्य कणिकार्बुद (Granu Loma Venereum or Inguinal) व्रणयुक्त कणिकार्बुद (Ulcerating granuloma of the Pudenda) प्रभृति।

नामकरण संस्कार

लिङ्गार्श नामक रोग में शिश्नेन्द्रिय में धान्य के अंकुर के समान मांसांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। ये अंकुर एक दूसरे के ऊपर छोटे-छोटे अनुक्रम से बढ़-बढकर स्थित हो जाते हैं। इन लिङ्ग की सन्धियों मे अथवा शिश्नमणि के अधोभाग में मुर्गी की शिखा के तुल्य मांसांकुर दिखलाई पड़ते हैं। इनको लिङ्गार्श अथवा लिङ्गवर्त्ति कहते हैं। यथोक्तं भावमिश्रेण—

अङ्कुरैरिव संजातैरुपर्युपरिसंस्थितैः।
क्रमेण जायते वर्त्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा॥
कोशस्याभ्यन्तरे सन्धौ पर्व सन्धिगतापिवा।
लिङ्गवर्त्तिरितिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे॥

संक्रामकलिङ्गार्श का वर्णन

अधिष्ठान—लिङ्गार्श यूरोप के कई देशों में उत्पन्न होता है। यथा—दक्षिण अमेरिका, उत्तरी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, प्रशान्त महासागर के कई प्रदीप और भारतवर्ष प्रभृति उष्ण कटिबंध देशों में अधिक

परिमाण में पाया जाता है। यह व्याधि प्रधानतया व्यवाय से तो फैलती ही है। परन्तु कभी-कभी अन्य प्रकार से भी हो सकती है। इस रोग की उत्पत्ति १५-५० वर्ष तक की अवस्था में होती है।

प्रधान कारण

क्लेवसिलाग्रैन्यूलोमेटिसनामक जीवाणुम् ।
लिङ्गार्शसोमुख्य हेतु प्रवदन्ति चिकित्सकाः ॥
केचिद्विषाणु सञ्ज्ञकम् केचित्तृणाणु सञ्ज्ञकम् ।
संक्रामकस्यास्यव्याधेः कथयन्ति च कारणम् ॥

विवरण—आज तक इस रोग के वास्तविक कारण के विषय में अनेक भेद माने गये हैं। कोई चिकित्सक इसका कारण विषाणु (Virus) और कोई-कोई इसका हेतु वेक्टेरिया मानते हैं। परन्तु इस समय कारणभूत जीवाणु को क्लेवसिला ग्रैन्यूलोमेटिस (Klebsiella granulomatis) कहते हैं। यह जीवाणु ग्रामत्यागी (ग्रामनिगेटिव) कोष के मध्य (Intra cellular) आटोपिका से युक्त दूसरा दण्डाणु (Bacillus) है। यह दण्डाणु किसी विषाणु के साथ मिलकर रोग पैदा करता है। ऐसा भी कोई आचार्य मानते हैं।

सम्प्राप्ति वर्णन

इस व्याधि का संक्रमण व्यवाय-काल मे जननेन्द्रिय की त्वचा पर होकर उससे उपसर्गी लिंगार्श मे स्वरूप के धातु की विकृति से होती है। यह विकृति त्वचा की शोणित प्रणालियाँ, तेल ग्रन्थियाँ, स्वेद ग्रन्थियाँ, इनके समीप और विशेष रूप से केशपिण्डों के निकट होती है। इसमें प्ररस कोषायें (सेल्स) बड़े आकार वाले श्वेतकायाणु लिम्फोसिटी (लसिकाणु) और विशिष्ट स्वरूप की कोषायें—इनकी भरमार होती है। जिससे लिंग का चर्म मोटा और स्थूल मालूम होता है। इनमें जो विशेष सेल्स होतीं हैं वे निदान की दृष्टि से महत्त्व की हैं। इनमें अनेक रिक्तगोल होते हैं तथा इनमें डानोवन के पिण्ड पाये जाते हैं। विकृत स्थान में रक्तवाहिनियां बहुत होतीं हैं। परन्तु रक्तस्राव नहीं

होता। विकृति पुरानी होने पर इसमें तन्तूत्कर्ष (Fibrinuous) और व्रणवस्तु (Scar Tissue) इनकी उत्पत्ति हो जाती है। विकृति का प्रसार सरल संतति (कान्टीन्यूटी) और आत्मान्तरोपण से होता है। लसीकावाही संस्थान इससे संक्रान्त या उपद्रुत नहीं होता। इसमें विषमयता न होने से स्थानिक विकृति के सिवाय सार्वदैहिक विकृतियाँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं।

संचय-काल

इस व्याधि का संचय काल कुछ दिनों से १२ सप्ताह तक होता है। अधिकतर खराब संगति के बाद २—८ दिन के अन्दर शिश्न प्रभृति और भगास्थि, भगशिश्निका, इनमें से किसी एक स्थान की त्वचा में एक छोटा-सा गोल-ग्रन्थि वाला उभार पैदा हो जाता है। इसके ऊपर की त्वचा अत्यन्त मृदु और गुलाबी वर्ण की होती है।

लक्षण

त्वचा शीघ्र ही छिलकर क्षतयुक्त हो जाती है और उससे बदबूदार मवाद निकलने लगता है। यह व्रण शनैः-शनैः चतुर्दिक् में विस्तृत हो जाता है और पुराने भागों में व्रणवस्तु निर्मित होती जाती है जो फिर से व्रणित हो सकती है। यह व्याधि आर्द्र और मन्दोष्ण-स्थानों को अधिक चाहती है जिससे गुदा के चारों तरफ, भगोष्ठ, योनि, वृषण और उसके मध्य के स्थानों में यह अधिक होता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे यह व्याधि मनुष्यों के लिङ्ग, वृषण और उसके ऊपर का भाग, गुदद्वार और उसके आस-पास का भाग और स्त्रियों में भग, शिश्निका, भगोष्ठ, योनि-मूत्रमार्ग, गुदद्वार, उरुवंक्षण प्रभृति भागों में विस्तृत हो जाता है। इससे पतला और बदबूदार स्राव निकलता है जो कपड़ों को खराब कर देता है। मल-मूत्र और प्रजननमार्ग में व्रण होने से आतुर को कष्ट और विह्वलता होती है। परन्तु व्रण-स्थानों में पीडा, लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि और सार्वदैहिक लक्षण—इनमें से एक भी इस व्याधि में नहीं दिखाई देते हैं।

उपसर्ग

गुदवस्ति अथवा गुदा और योनि में नाड़ीव्रण, गुप्ताङ्गों में हस्तिचर्मता, मूत्रमार्ग का संकोच, शिश्नक्षय, ध्वजभंग, वंध्यता और कभी-कभी द्वितीय उपसर्गजन्य वस्ति शोथादि अन्य विकार भी होते हैं।

भावीफल

यह मन्दगामी, वर्द्धनशील और चिरकालानुबन्धी रोग है, जो प्रतिकार न करने पर जीवनपर्यन्त दुःख देता रहता है और गुप्ताङ्गों को विकृत कर देता है।

यह स्वयं घातक नहीं है। किन्तु कभी-कभी द्वितीयक उपसर्ग से उत्पन्न होनेवाले वस्ति-शोथ प्रभृति उपसर्गों से रोगी की मृत्यु हो जाती है। वर्तमानकालिक चिकित्सा से कृच्छ्रसाध्यता अति न्यून हो गई है।

एलोपैथिक चिकित्सा

शस्त्र चिकित्सा—आरम्भ में जब व्रण सीमा में रहे, तब शस्त्र से उसका मूलोच्छेद कर देंवे। व्रण-स्थान पर स्वस्थ त्वचा का कलम (Grafting) करने से लाभ होता है। जब शिश्न अत्यन्त खराब हो जावे तो सड़ा-गला भाग काट कर निकाल देवें और फिर व्रणोपचार पद्धति से चिकित्सा करें।

स्ट्रेप्टोमायसीन

वर्तमान समय में इसका प्रयोग लिङ्गार्श मे किया जाता है। यह सब से उत्तम औषध है।

मात्रा—प्रतिदिन ४ ग्राम, पाँच दिन तक क्रमशः प्रयोग करें। स्थानिक चिकित्सा के लिये एक्सरे से इसमे बहुत लाभ होता है। इसके सिवाय यूसोल से व्रण शुद्धि होती है और एन्टीमनीटार्टरेट के मलहम के उपयोग से भी लाभ होता है। विजातीय प्रोटीन चिकित्सा से भी लाभ होता है।

फौआडिन का प्रयोग

यह अञ्जन का योग है। इसकी प्रारम्भिक मात्रा डेढ घ० शि० मा०, दूसरे दिन साढ़े तीन घ० शि० मा० और उसके पश्चात एक दिन छोड़ कर पाँच घ० शि० मा० हो सकती है। स्त्रियों में अधिक से अधिक साढ़े चार घ० शि० मा० तक दे सकते हैं। साधारणतः ५-६ इञ्जेक्शन से लाभ हो जाता है।

नीओष्टिबोसन का प्रयोग

इञ्जेक्शन द्वारा इस औषध का प्रयोग किया जाता है। प्रारम्भिक मात्रा २ ग्राम उसके पश्चात् ३ धान्य (ग्राम) है। यह औषध शीत-विशोधित तिर्यक्पातित २—३ सी. सी. पानी मे विद्रुत करके सिरा द्वारा दी जाती है। आठ इञ्जेक्शन का पूरा कोर्स है और प्रत्येक इञ्जेक्शन १-३ दिन के पश्चात् दिया जाता है। कुछ चिकित्सक १० का कोर्स पसंद करते हैं। चिकित्साक्रम समाप्त होने पर ४२ दिन बाद यदि रोग नष्ट न होवे तो दूसरा कोर्स प्रारम्भ करें। अथवा, स्टिबासेटिन, प्रभृति अजन के योग काम मे लायें। इस रोग में टार्टरएमेटिक का भी प्रयोग करते हैं।

क्षार चिकित्सा—पहले मासाकुरों को काट कर फिर क्षार से दग्ध कर देवें। इसके पश्चात् व्रण के तुल्य उपचार करें।

स्वर्जिकाक्षारादि चूर्ण का प्रयोग

सज्जीखार, तूतिया, छैरछबीला, सुर्मा, रसौत, मनःशिला, और हरिताल।

विधि—इनको समान भाग मे लेकर कूट-पीस छान लेवें। फिर इसको लिङ्गार्श के ऊपर छोड़े। यह मासाकुरों को नष्ट कर देता है।

घृतकुमारी पत्र का प्रयोग

घृतकुमारी के पत्तों को गरम करके लिङ्गार्श के ऊपर लपेट देवें। इससे अवश्य लाभ होता है। अथवा, गुञ्जा के मूल को बैल के मूत्र से पीसकर लेप करने से भी उससे मासांकुर नष्ट हो जाते हैं।

संक्रामक व्रध्न रोग का परिचय

अत्यभिष्यन्दि गुर्वन्न सेवनान्निचयगत ।
करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वंक्षण सन्धिषु ॥
ज्वरः शूलाङ्गसादश्च त व्रध्नमिति निर्दिशेत् ॥

निर्वचन—विषय भोग के समय प्राप्त हुये संक्रमण से यह व्याधि उत्पन्न होती है। इसमें वंक्षण सन्धि की लसीका-ग्रन्थियों में सूजन हो जाती है। पूय की उत्पत्ति और नाड़ी व्रण प्रभृति भी हो जाते हैं। इसके साथ ज्वर, शूल, अङ्गसाद प्रभृति सार्वदैहिक लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं। कोई-कोई विद्वान् जलवातज व्रध्न (Climatic Bubo) अथवा, वंक्षण संधीय लसकणिकार्वुद (Lympho granuloma Inguinale), कामजन्य लसीका-ग्रन्थीय विकार (Venereal Lympho pathy) प्रभृति नाम से कहते हैं।

संक्रामक व्रध्नरोग का कारण

व्रध्न रोगस्य कारणम्, कथयन्ति भिषग्विदः।
सूक्ष्मदृश्यकातीतश्च, निःस्पन्दन शीलकश्च ॥
संक्रमण शीलकश्च, विषाणु संज्ञकश्च वै।
स्त्रीतो नर संक्रामति, व्यवायतः परस्परम् ॥

कारण

इस रोग का हेतु एक विषाणु है, जो कि व्रण के पूय में और ग्रन्थियों के स्राव में विद्यमान रहता है। इसका संक्रमण व्यवाय से होता है। यह रोग स्त्रियों से पुरुषों में अत्यधिक होता है। इसका कारण यह है कि स्त्रियों में वहिर्भग के केवल ऊपर का अर्ध भाग वंक्षण ग्रन्थियों से सम्बन्धयुक्त होता है और अधोभाग, योनि और गर्भाशय की ग्रीवा—इनका सम्बन्ध श्रोणिगुहा और गुदा की लसीका-ग्रन्थियों से होता है। इस भाँति शारीरिक रचना के कारण स्त्रियों की वंक्षण-ग्रन्थियों में सूजन नहीं होती है। इसके विषाणु स्त्रियों की योनि में पराश्रयी होकर उनके साथ विषयभोग करने वालों पर आक्रमण करते हैं। परन्तु जिनकी

योनि में रहते हैं उन पर आक्रमण नहीं करते हैं। मुसलमानों में यह रोग कम होता है क्योंकि; उनकी शिश्नाग्र की त्वचा कटी हुई होती है। यह रोग १५—३० वर्ष की अवस्था में अधिक होता है। भारतवर्ष में प्रचुर मात्रा से यह रोग होता है।

व्याधि-सङ्क्रमण

अधिकतर यह व्याधि उपसृष्ट व्यक्ति के साथ मैथुन करने से होता है। स्त्रियों की योनि में व्रण उत्पन्न होता है जिससे लसीका-वाहिनियों के द्वारा भग में भी व्रण हो जाते हैं। स्त्रियों में संक्रमणता चिरकाल तक रहती है। अतः इस रोग से पीडित स्त्री चिरकाल तक अनेक मनुष्यों को संक्रान्त कर सकती है। पुरुषों में यह रोग अधिक लक्षित होता है। इसका यह भी एक कारण समझना चाहिये कि पुरुषों में प्रारम्भिक व्रण अज्ञातावस्था में ही उत्पन्न हो जाता है। उसके बाद उनकी संक्रामकता नष्ट हो जाती है। कभी-कभी व्रण उत्पन्न भी नहीं होता है। अतः पुरुषों से स्त्रियों में इस रोग के फैलने की कम आशा रहती है।

सम्प्राप्ति

इस रोग का संक्रमण मैथुन से अथवा कभी-कभी अत्यन्त संसर्ग से स्वस्थ व्यक्ति में हो जाता है। यह रोग अत्यन्त सांक्रामिक है। इसका आरम्भ गुप्तेन्द्रिय पर, ग्रन्थि या व्रण के आकार में होता है। यह व्रण अति मृदु, वेदना शून्य, कण्डूशून्य, अति लघु और अल्पकालिक होता है। इसमें कोई विह्वलता नहीं होती है और यह अल्प समय में ही भर जाता है। अतः इसकी तरफ अधिकतर आतुर का ध्यान आकृष्ट नहीं होता है। इसके उत्पन्न होने के समय ही वंक्षण ग्रन्थियों में विषाणु पहुँच जाते हैं।

लक्षण

मनुष्यों में यह व्रण शिश्न की त्वचा पर होता है और स्त्रियों में योनि के पश्चात् भाग में और गर्भाशय की ग्रीवा के सन्निकट होता है। कभी-कभी बाहर के अवयव पर व्रणोत्पत्ति के बदले मूत्रमार्ग में सूजन

होती है। सूक्ष्म रचना की दृष्टि के अनुसार प्रारम्भिक व्रण एक सामान्य अथवा अवशिष्ट स्वरूप का कणिकार्बुद होता है, जिसमें कभी-कभी ओसिनोफिल (Eosinophil) की प्राबल्यता होती है। कभी-कभी यह प्रारम्भिक व्रण पैदा नहीं भी होता है। ३५ प्रतिशत पुरुषों की वंक्षण ग्रन्थियों में अधिकतर एक तरफ और कभी-कभी दोनों तरफ सूजन हो जाती है।

प्रथमावस्था में—यह ग्रन्थि कुक्कुटाण्ड के सदृश बड़ी हो जाती है। वह रबड़ तुल्य स्थितिस्थापक, संचलन शील, नीचे की धातु और ऊपर की त्वचा से अनभिलग्न और पीडायुक्त प्रतीत होती है।

द्वितीयावस्था में—वह ग्रन्थि नीचे की धातु और ऊपर की त्वचा से अभिलग्न (Adherent) होती है और समीप की अन्य ग्रन्थियों में भी सूजन होकर वे भी उसके साथ मिल जाती है। बढ़ी हुई ग्रन्थियों मे बहिरधिश्रोणिका (इलियक्) ग्रन्थियाँ होती हैं जो पूपार्ट के स्नायु (Poupart's Ligament) के ऊपर स्पर्श की जा सकती है। ग्रन्थियों के अतिरिक्त परिग्रन्थिक धातुओं में भी सूजन हो जाती है। वंक्षण की ग्रन्थि के सूजन के साथ परिग्रन्थिक (पेरीग्लैण्डूलर) धातु शोथ और अधिश्रोणिका-ग्रन्थि-शोथ की विशेषता होती है। इस भाँति इस दशा में बहुत ग्रन्थियाँ परस्पर मे मिलकर उनका समूह निर्मित हो जाता है। इसमे पन्द्रह दिन लगते हैं। इस दशा में ऊपर की त्वचा मे शोथ हो जाता है।

तृतीयावस्था में—ग्रन्थियों के अन्दर पूय की उत्पत्ति हो जाती है। इससे अनेक छोटी-छोटी विद्रधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे उनमे मृदुता और द्रव का संचलन मालूम होता है। इसके सिवाय वे वेदना से युक्त होती और पीड़ा को सहन नहीं कर सकती है।

चतुर्थावस्था में—ऊपर की त्वचा में व्रण हो जाने से ग्रन्थियों की विद्रधियों से सान्द्र, स्निग्ध एवं पीत पूय निकलने लगता है और उस जगह पर अनेक नाडी व्रण बन जाते है तथा उनमे बाहर से पूय को उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं का संक्रमण हो जाता है। इस भाँति

वंक्षण-प्रदेश पूय स्रावक अनेक व्रणों से आक्रान्त हो जाता है। कई बार अधिश्रोणिका ग्रन्थियों में भी सूजन हो जाता है, तो भी उनमे अधिकतर मवाद नहीं उत्पन्न होता। कभी-कभी यह ग्रन्थि-शोथ वंक्षण, श्रोणि और गुदा की ग्रन्थियों तक सीमित न रहकर उदर, वक्ष, कक्षा और ग्रीवा तक विस्तृत हो जाता है।

गुदा-शोथ—कभी-कभी विषाणु लसवाहिनियों के द्वारा श्रोणि की ग्रन्थियों मे पहुँच कर उनमे सूजन पैदा कर देता है, जिसके फलस्वरूप गुदा में सूजन हो जाती है। इससे गुदा की श्लेष्मकला और उपश्लेष्मकला में व्रण वन जाते हैं। आगे तान्तविक धातु पैदा हो जाती है जिसके सिकोड़ने से गुदा मे उपसंकोच हो जाता है। यह उपसकोच (स्ट्रिक्चर) गुदा के द्वार से कुछ ऊपर नलिका के आकार का होता है। किसी-किसी स्थान पर गुदा के व्रण गुदा-द्वार के समीप नाड़ीव्रण उत्पन्न कर देते हैं। कभी-कभी नाड़ीव्रण के द्वारा गुदा का सम्बन्ध, मूत्राशय, योनि, भग प्रभृति के साथ हो जाता है। इसको जेनीटो-एनो रेक्टल सीनड्रोमी (Genito-ano Rectal syndrome) कहते हैं।

स्त्रियों मे प्रारम्भिक व्रण, योनि के पश्चात भाग मे होता है। वहाँ से वे लसवाहिनियों के द्वारा विषाणु श्रोणिगुहा की लसीका-ग्रन्थियों मे पहुँच जाते हैं जिसके फलस्वरूप पुरुषों के तुल्य स्त्रियों मे भी गुदोप-संकोच तथा जननेन्द्रिय, पायु-गुद-संरूप उत्पन्न हो जाता है। वंक्षण की लसीकाग्रंथियों मे कोई विकार नहीं होता है। किन्तु लसीका वाहिनियों में सूजन होने से मार्गावरोध हो जाता है। ऐसे समय मे भग मे गजचर्मता पैदा हो जाती है। वंक्षणीयलसकणिकार्बुद का स्त्रियों मे यही प्रतिरूपक होता है। इसको इस्थिओमेति कहते है।

अन्यांगों की विकृति

इसके विषाणु नेत्र, जिह्वा, पाद प्रभृति अङ्गों मे प्रसृत हो जाते हैं।

संचय-काल

इस व्याधि का ७—२१ दिन तक संचयकाल रहता है। कभी-कभी महीनों तक भी हो जाता है। व्याधि का प्रारम्भ प्रारम्भिक व्रण से शनैः-शनैः होकर ऊपर में वर्णन किये हुए स्थानिक और सार्वदैहिक विकार स्वरूप हो जाते हैं। प्राथमिक व्रण से कोई चिह्न प्रकट नहीं होता है। चलते समय जंघा में वेदना की-सी प्रतीति होती है। यह प्राथमिक लक्षण प्रायः उस समय होता है, जब विषय भोग के बाद ४—६ सप्ताह के मध्य जंघा की ग्रन्थियों में सूजन पदा हो जाती है। द्वितीयावस्था में जब कि ग्रन्थियाँ परस्पर में सम्मिलित हो जाती हैं, उस समय अधोलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी ज्वर १०३-१०५ शतांश तक हो जाता है। कभी-कभी अर्धविसर्गी एवं पूर्ण विसर्गी ज्वर हो जाता है। छर्दि, शिरोवेदना, अरुचि, मन्दाग्नि, शीत, स्वेद, दौर्बल्य, उदर में वेदना, सन्धियों में आम वात तुल्य वेदना और कभी-कभी द्रवसंचय प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। गुदोपसंकोच होने पर विबन्ध हो जाता है जिसमे प्रयत्न करने पर भी ठीक-ठीक पाखाना नहीं होता है। मध्य-मध्य में आँव और रक्त भी निकलता है।

उपद्रव

गुदोपसंकोच हो जाता है। दश प्रतिशत आतुरों में गुदोपसंकोच के स्थान पर कर्कटार्बुद उत्पन्न हो जाता है। प्रजनन-पायु-गुदसंरूप आभ्यन्तर ग्रंथियों मे सूजन, नेत्रशोथ और स्त्रियों में वहिर्भग की हस्तिचर्मता सदा ही बनी रहती है। पुरुषों मे वंक्षण की लसीकाग्रथियों से शस्त्रकर्म-द्वारा जब तक मल निष्कासित नहीं होता है तबतकउप सर्ग नहीं होता। इस निदान से तथा द्वितीयक उपसर्ग के भय से इस व्याधि मे शस्त्रकर्म का व्यवहार नहीं किया जाता है। युवावस्था मे धमनी शोथ, धमनी जरठता तथा रक्तवाहिनियों के अन्य विकार हो जाते हैं।

रोग-निर्णय

वासेनकसौटी—व्रध्न का पूय, मूषक मे प्रविष्ट करने पर यदि आतुर इस रोग से आक्रान्त हो तो चूहा मस्तिष्क-सूजन से मर जाता है।

फ्रीज़टेस्ट (Frei's Test)—इसमें विदीर्ण न हुये व्रध्न के पूय से विशेष रीति से एन्टीजेन (Antigen) बनाया जाता है। फिर उसकी १० सी० सी० आतुर की त्वचा में प्रविष्ट करते हैं। यदि रोगी इस रोग से आक्रान्त होता है तो, १-२ दिन में सूचीवेध के स्थान पर ग्रंथि उत्पन्न हो जाती है।

भावी फल

यह व्याधि साध्य है। उपद्रव होने पर भी यह कष्ट साध्य होती है। परन्तु; गुदा में कर्कटार्बुद होने पर रोग असाध्य हो जाता है। गुदोपसंकोच और गुदा के समीप व्रणों की उत्पत्ति होने पर रोगी का जीवन कष्टमय हो जाता है।

उपक्रम

प्रथम अवस्था में आतुर को विश्राम करने की सलाह दें। इसके बाद रोगी को बलानुसार विरेचन देकर कोष्ठ की शुद्धि करें। फिर मल्लसिन्दूर ½ रत्ती, गिलोय सत्त्व १ माशा प्रातःकाल मधु से चटावें। बृहन्मञ्जिष्ठादि क्वाथ (शार्ङ्गधरोक्त) १ छटांक पिलावें और मध्याह्न-काल में भोजन के बाद शारिवाद्यासव (भैषज्य रत्नावली प्रोक्त) १½ तोला की मात्रा में पिलावें। रात्रि में माजून उशबा १ तोला गरम जल से लेवें। इन औषधियों का ३ सप्ताह तक सेवन करें। इसके साथ ही व्रध्न पर निम्नोक्त प्रलेप लगावें।

स्वर्णक्षीरी-प्रलेप

स्वर्णक्षीरी की मूल १ छटांक, कालीज़ीरी १ तोला, आंबा हल्दी १ तोला, विषपलाण्डु १ छटांक, सिंगरफ १ तोला।

विधि—इन्हें गोमूत्र में पीस और गरमकर व्रध्न (बद) पर दिन में दो बार लेप करें। इससे बद बैठ जाती है। अथवा एन्टीफ्लोजेस्टिन का प्रलेप लगा कर सेंक दें।

एलोपैथिक-प्रयोग

सल्फानिलामाइड ४½ ग्राम प्रतिदिन एक सप्ताह तक देवें। इसके बाद दूसरे सप्ताह में प्रतिदिन ३ ग्राम आवश्यकता के अनुसार देवें।

अथवा सल्फाडायाझीन ९ ग्राम पहले दिन देकर उसके बाद प्रतिदिन ३ ग्राम, २-३ सप्ताह तक आवश्यकतानुसार देवें। इससे प्रायः रोग अच्छा हो जाता है।

द्वितीयावस्थिक औषध का विधान

इस अवस्था में सल्फाड्रग्स ओपधियों के सिवाय अंजन के कुछ लवणों का उपयोग करना चाहिये। इसके लिये एन्थिओमलाइन की १०-२० सूची पेशी में दी जाती है। प्रारम्भ में ½ घ० शि० मा० और प्रत्येक समय ½ घ० शि० मा० की मात्रा से लेकर २ घ० शि० मा० मात्रा तक की वृद्धि की जाती है। सप्ताह में दो वार इञ्जेक्शन किया जाता है। अधिकतर १० इञ्जेक्शन से अर्थात् ४ सप्ताह में लाभ हो जाता है। इस अवस्था में स्थानिक प्रलेप एवं सेंक का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

तृतीयावस्था में औपध का विधान

तृतीयावस्था में जब पूय की उत्पत्ति आरम्भ हो, तब विजातीय-प्रोटीन्स (Foreig Proteins) की चिकित्सा शुरू करनी चाहिये। इसके लिये टी०, ए०, वी० १०, ५०, १००, २००, ३००, ४०० से दश लक्ष की मात्रा में प्रति तीसरे दिन सिरा द्वारा दी जाती है। अथवा दूध या एओलन ५ घ० शि० मा० की मात्रा में पेशी में सात दिन में दो वार दे सकते हैं। इसके साथ ग्रन्थियों के अन्दर पूय का आचूषण निर्जीवाणु पद्धति से भी किया जाता है।

चतुर्थावस्था में औपध का विधान

इस अवस्था में जब व्रण बन जाय, उस समय व्रण शोधनार्थ सल्फा-ड्रग्स के साथ यूसोल या अन्य संक्रमण नाशक औषध का प्रयोग करें।

एन्थिओमलाइन और पेनीसिलीन—इस अवस्था के प्रारम्भ में एन्थीओमलाइन की तीन सूची लगाई जाती है और उसके बाद २-४ लक्ष यूनिट पेनीसिलीन दिया जाता है।

शस्त्रकर्म—इस रोग में शस्त्रकर्म से ग्रन्थियों को न निकालें। क्योंकि

उससे हस्तिचर्मता उत्पन्न होने का भय रहता है तथा व्रणों का रोपण भी ठीक तरह नहीं हो पाता।

स्थानिक उपदंश का विमर्श

शिश्नेन्द्रिय में हाथ, नाखून एवं दाँत के आघात होने, अधिक विषय-भोग करने, योनि में अनेक प्रकार की खराबी होने और अनेक प्रकार के मिथ्याहार करने से पांच प्रकार का उपदंश उत्पन्न होता है। इसमें कोई व्रण मेढ्र की सन्धि में और कोई सम्पूर्ण इन्द्रियों के ऊपर-नीचे हो जाते हैं। कोई व्रण कुलत्थ की आकृति के तुल्य तथा कोई मूँग की दाल के तुल्य होते हैं। इसमें वेदना, दाह, तृष्णा, तोद और सूचीवेधन-वत्पीड़ा होती है। कहीं-कहीं पर व्रण बहुत शीघ्र फैलता है। यह व्रण स्त्री और पुरुषों में दारुण दुःख उत्पन्न कर देता है।

यथोक्तं माधव निदाने—

हस्ताभिघातान्नख दन्तघातादधावनात्, अत्युपसेवनाद्वा।
योनि प्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशाः विविधापचारैः॥
मेढ्रसन्धौ व्रणान्केचित् केचित्सर्वाश्रयास्मृता.।
कुलत्थाकृतया केचित् केचिन्मुद्गदलोपमा.॥
रुजादाह परीताश्च तृष्णास्तोद समन्विताः।
शीघ्रं केचिद् विसर्पन्ति, शनैः केचित्तथापरे॥
स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशा. सुदारुणाः।

स्थानिक उपदंश वा मृदु संदंश

(Soft-Chancreochan croid)

कारण—इस रोग का जीवाणु शोणितप्रिय (Hemophilus) वर्ग का दण्डाणु है, जो ड्यूक्रे (Ducrey) के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह पूय-जनक-जीवाणु व्रणों के स्राव, आस-पास की धातुओं और व्रणस्थान से सम्बन्ध रखने वाली, संक्रान्त लसीका-ग्रन्थियों में पाया जाता है। इसके सिवाय अस्वच्छ योनि वाली स्त्रियों में और विशेष कर वेश्याओं की योनि में पाया जाता है जो कि प्रत्युपजीवी (Sapro phyte) के सदृश

मिलता है। यह मैथुनजन्य रोग है। जो गुह्यांगों की स्वच्छता पर विशेष ध्यान नहीं देते उन्हे यह रोग विशेष होता है। जिन पुरुषों मे निरुद्धप्रकाश (Phimosis) होता है उनमे भी यह रोग होता है। इसका कारण यह है कि उससे शिश्नमणि एवं शिश्नचर्म की स्वच्छता भली-भाँति नहीं हो सकती है।

सम्प्राप्ति

इस रोग का संक्रमण विषयभोग के समय होता है। व्यवाय के वाद १—४ दिन के मध्य जननेन्द्रिय पर ग्रन्थि पैदा हो जाती है जिनमें दो-तीन दिन के अन्दर लसीका भर जाती है। इसके चारों तरफ कुछ सूजन और रक्त की अधिकता हो जाती है। एक दो दिन में उसमें पूय पड़ जाता है और वह फोड़ा फूटकर व्रण वन जाता है। धीरे-धीरे यह व्रण एक सीमा तक वढ़ जाता है। यदि सफाई रक्खी जावे तो अपने आप ही अच्छा हो जाता है। इस व्रण के किनारे गोलाकार, चिथड़े के तुल्य फटे हुए (Ragged), अन्दर में खोखले और मृदु होते हैं। इस व्रण में हरे रंग का स्राव भरा रहता है जो अत्यन्त संक्रमणशील होता है। अतः यह स्राव जहाँ पर लगता है वहीं पर व्रण हो जाता है। इसमें मूल व्रण के आस-पास वहुत व्रण हो जाते हैं। इस रोग का व्रण गुह्यांगों के सिवाय अन्य स्थानों मे नहीं दिखाई देता है।

पुरुषों में इसका स्थान शिश्नमणि और मणि के भीतरी मूत्रमार्ग में तथा मणि की त्वचा के अन्दर वाहर और सेवनी (Frenum) मे भी होता है। स्त्रियों में इसका स्थान लघुभगोष्ठ, भगाञ्जलिका, भगशिश्निका और भगालिन्द मे होता है। स्राव लग जाने पर वृहद् भगोष्ठ, मूलाधार (Perinaeum), नितम्ब और उसके भीतरी त्वचा पर भी व्रण हो जाता है। अधिकतर व्रणस्थान से सम्बन्ध रखने वाली सम्पूर्ण लसीका ग्रन्थियाँ वढ़ जाती हैं और पीड़ित होकर पक जाती हैं। इसके अधो-लिखित दो प्रकार होते हैं।

(१) सामान्य ब्यूब (सिम्पल ब्यूवो)—इस व्रण में अधिकतर पूयजनक

जीवाणुओं का दूसरा उपसर्ग होता है। उस उपसर्ग से लसीका ग्रन्थियाँ उपसृष्ट होती है। उपसर्ग ग्रन्थियों के मध्य से सीमित रहता है।

(२) उग्रवघ्न (Virulent)—यह वद पूयजनक जीवाणुओं के अतिरिक्त मृदु सदृश के जीवाणुओं के उपसर्ग से भी उत्पन्न होता है। इसमे पूयजनन केवल ग्रन्थियों के भीतर ही नहीं किन्तु; उनके चारों तरफ भी भीतर की अपेक्षा अधिक होता है। इसको परिग्रन्थि शोथ (Peri-adenitis) कहते हैं। यह जननेन्द्रिय के समान प्रत्युत् उससे भी वडा वंक्षण मे वन जाता है।

लक्षण

उपर्युक्त दैहिक विकृति के कारण, इस रोग में पीडा, पीड़नासहता, जलन, लसीका ग्रन्थियों की अभिवृद्धि प्रभृति केवल स्थानिक लक्षण मिलते हैं। सार्वदैहिक लक्षण इसमे नहीं मिलते।

यथोक्तं माधवनिदाने नव्यरोग-प्रकरणे—

विभिन्न जातीय पराङ्गनाश्च किंवाऽप्यनेका स्ववलाश्च सङ्गमात्।
व्रणेऽविघोरो वहुरुक् प्रकाशक: स्यात्कष्टदो वै जननेन्द्रिये नृणाम् ॥
पापोपदंशोऽथ विषोपदंशो यः कीर्तितो वैद्यवरैर्विशेषात्।
स एव प्राचीनतमैर्ध्रुव चौपसर्गिकाख्योऽप्युपदंश उक्त ॥
संक्रामति प्रायश एष पुंसि स्त्रीतश्च तस्यां तत एव रोग.।
जायेत चापत्यजलेष्वतोऽसौ सदारुणोऽद्धा कुलजः .. ॥
द्विधोपदंशोननु मुख्य गौण विभेदतो वैद्यजनैः प्रदिष्टः।
मुख्यस्तु तत्रेन्द्रियजेहि दोषो बोध्यः सदा देहगतोऽथ गौणः ॥

विषोपदंश का स्वरूप

आरभ्य य सौरतकालतस्त्रि-सप्ताह मध्ये जननेन्द्रियेतु।
प्रजायमानो गदितो व्रण: स विषोपदंशेति पदेन नूनम् ॥
यश्चातिदीर्घं समतीत्य काल नृणां शरीरे सतत स्थित. स्यात्।
स चाति कृच्छ्रोऽमित दु:खदायी निबोधित सर्व भिषग्जनेन ॥

पापोपदंश का स्वरूप

पापोपदंशस्य विशेषतः स्यात् द्विधाव्रणोऽद्धा कठिनो मृदुश्च।
तत्रादित कृत्स्नतनु प्रतापी सङ्क्रामकः कृच्छ्रतर प्रसिद्धः॥
नान्यः सङ्क्रामेत्कदाचित्क्वचिच्च कचिद् देह नैव सदूषयेद्वा।
प्रोक्तश्चातोत्पन्नसाध्यो भिषग्भिर्भूम्ना भूम्नापि कष्टदायी॥

मुख्योपदंश का रूप

जायन्ते पिडिकाः सदैव पुरुषस्योपस्थ मुण्डे तथा—
चर्मण्यावरके स्त्रियास्तु च भगद्वारे-भगोष्ठेऽपि च।
याश्चस्युः कठिनाः समन्तत इमा निम्नाश्च मध्ये रस—
स्यात्यन्त परिवाहिका दृढतमा मूले विदीर्णा मुखे
ज्वरव्रध्न रोगादिजन्म प्रदाव्यो विशेषेण मुख्योपदंशे प्रजाताः।
भवेयुश्चता इत्थमुक्तात्यशेषाणि लक्ष्माणि बोध्यानि सर्वैः सुवैद्यैः॥

गौणोपदंश का स्वरूप

प्रशान्ति प्रयातेऽपि मुख्योपदंशे विष देहसस्थ विकाराननेकान्।
प्रकुर्याच्च तेन त्वचायां विकारोऽक्षिरोगः क्षयः केशलोम्नामवश्यम्॥

भवेद् ग्रन्थि रोगोऽथ कुष्ठ तथापि—
न स चात्र गौणोपदंशे विशेषात्।
इतीमानि चिह्नानि वैद्योदितानि—
समस्तानि सज्ज्ञोजन साधु विद्यात्॥

व्रध्न का निदान

कफस्य च ग्रन्थिषु यत्तु सस्रत-पापोपदंशस्य विष भवेद्धि।
तत् सज्वरं चामित दु खदायिन व्रध्नाख्यरोग जनयेदवश्यम्॥

अन्तर्भाव

मृदुसंदंश नामक रोग को कोई-कोई आचार्य सुश्रुतोक्त उपदंश रोग के अन्दर समावेश करते हैं। परन्तु इसमें त्रुटि यह है कि जब वे इस

रोग के सार्वदैहिक लक्षण को नहीं मानते हैं तो यह रोग उपदंश नहीं हो सकता। क्योंकि इसके वातिक, पैत्तिक आदि दोषों के लक्षण सार्वदैहिक होते हैं।

उपद्रव

यह रोग सीमित होता है, जो सफाई रखने या चिकित्सा करने पर अच्छा हो जाता है। यदि स्वच्छता न रक्खी जाये और चिकित्सा भी न की जाय तो व्रण बढ़ जाता है। वैसे तो कुछ व्रण स्वयं बढनेवाले भी होते हैं, जो बराबर बढ़ते रहते हैं। सेवनी मे व्रण के बढ़ने और रक्तवाहिनी के गल जाने से रक्त स्राव हो सकता है। कभी-कभी शिश्नचर्म मे विद्रधि होकर शिश्न मणि बाहर निकल जाता है। कभी-कभी शिश्न मणि-शोथ, निरुद्ध प्रकाश और व्रण-स्थान मे कोथ उत्पन्न होकर शिश्न गल जाता (Phagedena) है।

यथोक्तम्

विशीर्ण मांस कृमिभिः प्रजग्ध मुष्कावशेष परिवर्जयेच्च।
सजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः॥
कालेन शोथ कृमिदाह पाकैर्विशीर्ण शिश्नोः म्रियते स तेन।

रोग-निर्णय

अणुवीक्षण यंत्र से स्राव की परीक्षा करने एवं मृदुसंदंश के जीवाणु मिलने पर रोग का निर्णय किया जाता है। पूर्वोक्त लक्षणों को देखकर ही रोग का निश्चय किया जाना है। लसीका की परीक्षा करें।

त्वक् कसौटी (Skin Test)—इसमे विशेष पद्धति से निर्मित ड्यूक्रे के दण्डाणु के संवर्ध की $\frac{1}{10}$ घ० शि० मा० की मात्रा त्वचा के अन्दर प्रविष्ट की जाती है। यदि रोग मृदु संदंश से पीडित होता है, तो १—३ दिन मे सूई के स्थान पर शोथयुक्त गोलाकार गांठ उत्पन्न हो जाती है।

सापेक्षरोग का निर्णय—इसमें वंक्षणिक लसकणिकार्बुद, वंक्षणीय कणिकार्बुद, औपदंशिक बद, ग्रन्थिकज्वर का बद इत्यादि रोगों का विचार करके निर्णय करें।

चिकित्सा

सौभाग्याम्ल प्रक्षालन (बोरिक लोशन) से व्रण को साफ करके उस पर पेनीसिलीन का मलहम लगावें। इसके अतिरिक्त और किसी स्थानिक चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। पीने के लिये क्षारीय मिश्रण दिया जावे। इस रोग में सल्फानिलामाइड (३—६ ग्राम प्रति-दिन) या सल्फाथायोजोल (४ ग्राम प्रति दिन) एक सप्ताह क्रमशः प्रयोग करने पर अवश्य लाभ होता है। प्रारम्भ मे २—३ दिन सल्फा-निलामाइड का प्रयोग करने के बाद पेनीसिलीन देने से अधिक लाभ होता है।

उपर्युक्त ओषधियों से सफलता न मिलने पर एन्थिओमोलाइन का प्रयोग करें। इससे लाभ होता है।

श्वेतातिसार

(Sprue)

सञ्ज्ञा—संग्रहणी, स्प्रू, अलवा आदि।

निर्वचन—इस रोग में श्वेतवर्ण वाले झागदार अतिसार (पतले दस्त) आते हैं। आहारनलिका मे श्लैष्मिक-कला के जीर्ण शोथ के कारण जीर्णातिसार, मुखपाक, क्षीणता, दुर्बलता आदि लक्षण पैदा हो जाते हैं। यद्यपि इसके सम्पूर्ण लक्षण संग्रहणी से नहीं मिलते, किन्तु कुछ समानता होने से इसे संग्रहणी भी कही जा सकती है।

कारण

यह मोनीलियासाइलोसिस (Monilia Psilosis) नामक विशेष प्रकार के कीटाणु से होता है। कोई आचार्य इस रोग का कारण भोजन मे खाद्योज की हीनता मानते है। किसी-किसी का मत है कि भोजन मे वसा और प्रोटीन के अधिक होने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। परन्तु वास्तविक कारण अभी तक अज्ञात ही है। यह रोग उष्ण प्रदेशों और आर्द्र प्रदेशों मे अधिक होता है। पञ्जाब और उत्तर भारत मे यह वास्तविक रूप में नहीं होता है। बम्बई प्रान्त की

ओर से आये हुये मनुष्यों मे यह रोग अधिक होता है। यह वाल्यावस्था मे कम होता है। वली स्त्री-पुरुषों को यह रोग अधिक होता है। प्रायः यह देखा गया है कि अमीविक प्रवाहिका के वाद इसके होने का अधिक भय रहता है।

सम्प्राप्ति

आन्त्र की दीवार अतिक्षीण और रक्तविहीन हो जाती है। इसमे भोजन को लीन करनेवाले ग्राहाङ्कुर क्षीण हो जाते हैं। शनैः-शनैः ये अकुर नष्ट हो जाते हैं और सौत्रिक तन्तु वन जाते हैं। श्लैष्मिक कला में पहले सूजन हो जाती है, फिर इसमे व्रण वनने लगते हैं। इस रोग में विशेष कर क्षुद्रान्त्र के निचले भाग मे यकृत् और क्लोम अत्यधिक प्रभावित होते हैं। शोथयुक्त, वसामय और क्षीण क्लोम हो जाता है। यकृत् सिकुडने लगता है। जिह्वा की श्लैष्मिक-कला फूल जाती है और उसमे व्रण वन जाते हैं। आमाशयिक-कला के क्षीण हो जाने से आमाशयिक रस कम वनता है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि वसा का पक्वीकरण क्लोम के प्रभावित होने से पूर्ण रीति से नहीं होता है। ग्राहाङ्कुरों के क्षीण हो जाने से पक्वीकरण के अनन्तर भी लीन नहीं होने पाता। अत रोगी प्रति-दिन क्षीण और रक्तहीन होने लगता है।

लक्षण

रोग शनैः-शनैः गुप्तरूप से प्रारम्भ होता है। प्रथम कुछ महीनों मे साधारण दो-तीन दस्त प्रात काल आते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई विशेष लक्षण नहीं होता है। केवल अजीर्ण, अम्लपित्त और उदराध्मान प्रतीत होता है। कुछ दिन के वाद प्रातःकाल के दस्तों में इस रोग की विशेषता प्रतीत होने लगती है। उनका वर्ण सफेद व हरा होने लगता है। मल मे अपक्व भोजन द्रव्य और अधिक मात्रा मे वसा रहती है। अतिसार के साथ-साथ अथवा अतिसार रहने के वाद कुछ समय तक जिह्वा पर इस रोग के लक्षण दिखाई पडने लगते हैं। यथा—जिह्वा का

किनारा और अग्र भाग लाल हो जाता है। उस पर छोटे-छोटे शोथ-युक्त स्थान और छाले बनने लगते है। छालों के फटने से व्रण बन जाते हैं। इसी प्रकार तालु, कण्ठ और कपोल के आन्तरिक भाग मे छाले और व्रण वन जाते हैं। शनैः-शनैः जिह्वा की श्लैष्मिककला क्षीण हो जाती है। स्वादाङ्कुर संकुचित होकर नष्ट हो जाते और जिह्वा शुष्क, लाल व श्लक्ष्ण मालूम होती है।

ये लक्षण कुछ काल के लिये मध्य-मध्य मे मन्द भी हो जाते हैं और रोगी को शान्ति प्रतीत होने लगती है। इस अल्पकालिक शान्ति के बाद लक्षण फिर पहले की अपेक्षा तीव्र होने लगते हैं। इस प्रकार रोग बढ़ जाता है और आतुर प्रतिदिन दुर्वल, क्षीण एवं रक्तहीन हो जाता है। शनैः-शनैः क्षीण होकर आतुर की मृत्यु हो जाती है। अथवा क्षीणा-वस्था मे कोई अन्य रोग पैदा होकर वह रोगी का अन्त कर देता है। यह चिरस्थायी रोग है। कम से कम इसमे २ वर्ष लगते हैं और अधिकतर यह कई वर्ष तक रहता है।

निर्णयतत्त्व

तीव्र दशा में लक्षण स्पष्ट होते हैं। अतः निर्णय करने में कोई कष्ट नहीं होता। प्रातः समय श्वेत-झागदार और वसायुक्त दस्त आते हैं। मुख मे छाले और व्रण हो जाते हैं तथा प्रतिदिन क्षीणता की अधिकता रोग को स्पष्ट कर देती है। यकृत् परिमाण से कम हो जाता है और मल परीक्षा मे क्लोमरस का अभाव प्रतीत होता है। रक्तपरीक्षा से दुष्ट रक्तता के लक्षण प्रतीत होते हैं। रक्ताणु घटकर ५० लक्ष के स्थान पर १५-२० लक्ष तक ही रह जाते हैं। श्वेताणुओं की संख्या घटकर सात हजार से पाँच हजार ही रह जाती है। आमाशयिक रस की परीक्षा से आमाशय की क्षीणता मालूम होती है। मल और मुख के व्रणों मे 'मोनीलिया साइलोसिस' प्रायः प्रतीत होते हैं।

चिकित्सा

इसके उपचार के समय भोजन की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। रोगी को पूर्ण विश्राम दें। पीने के लिये दूध का पनीर दें। इसमें

तक्र विशेष लाभकारक है। क्योंकि इससे रोग के अन्त्रस्थ कारण नष्ट हो जाते हैं।

यथोक्तं चरके—

तक्रन्तु ग्रहणी दोषे दीपन ग्राहि लाघवात्।
श्रेष्ठ मधुरपाकित्वान्न च पित्त प्रकोपयेत्॥

पाश्चात्य चिकित्सक दुग्ध के पक्षपाती हैं। परन्तु उनका यह विचार संदिग्ध है। इसके स्थान पर अर्ध परिपक्व दुग्ध (Petonoid milk) दे सकते हैं। इसके वाद अनन्नास, सन्तरा, केला, सेव, नासपाती, अंगूर, लीची आदि दे सकते हैं। मांसभोजी के लिये मांसरस एवं यकृत् का मांस वहुत लाभकारी है। अरारोट, साबूदाना, कार्नफ्लोर आदि वस्तुएँ कुछ काल के वाद देवें। पल्विस वटावी (pulvis Batavıae) १ ड्राम दिन में तीन वार देने से लाभ होता है।

सुवर्ण पर्पटी का क्रमवृद्ध प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है। कल्याण गुड़, नृपतिवल्लभ रस भी अच्छा है।

शुद्ध हिंगुल, कर्पूर, नागरमोथा, लवंग, जायफल अथवा इन्द्रजव।

विधि—इनको समान भाग मे लेकर ३-३ रत्ती की गोली बनाकर २-२ गोली दिन मे तीन वार उष्ण जल के साथ देने से पूर्ण लाभ होता है।

श्वेतातिसार में तक्र-प्रयोग का वैज्ञानिक तत्त्व

वैसिलस लैक्टी (Bacillus Lacti) नामक जीवाणु दूध से दधि जमाने वाले होते हैं। ये खट्टे दही और मट्ठे मे होते हैं। ये जीवाणु अंत्र मे रहने वाले दूसरे जीवाणुओं को मारते हैं। अतः पेचिस और सग्रहणी मे तक्र का प्रयोग वैज्ञानिक होता है। तक्र पीने से मनुष्य दीर्घजीवी होता है। तक्रीय जीवाणु अंतड़ियों मे पहुँचकर एक प्रकार का अम्ल पैदा करते हैं, जो दूसरे जीवाणुओं के लिये मारक होते हैं।

उपान्त्र पुच्छविद्रधि

(Appendicitis)

संज्ञा—एपेण्डिसाइटिस्, टिफ्लिटिस्, उपान्त्र पुच्छविद्रधि।

परिचय—वृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग थैली जैसा होता है। इसका

एक सिरा बन्द होता है। इस सिरे के साथ २–३ इञ्च लम्बी उंगली के समान एक नली लगी रहती है। इस नली को उपान्त्र वा अन्त्र परिशिष्ट कहते हैं। यह नली बृहदन्त्र में जिस स्थान पर खुलती है वहाँ इसका मुख छोटा-सा होता है। इस नली की दीवार की रचना प्रायः क्षुद्रान्त्र की दीवार के समान होती है। इसमें श्लैष्मिक कला और मांस के बीच, सौत्रिक तन्तुओं के अन्दर लसीका ग्रन्थियाँ अत्यधिक होती हैं। श्लैष्मिक-कला में रस बनाने वाली ग्रन्थियाँ नहीं होती हैं। इस नली का कार्य अभी तक अज्ञात ही है। सब मनुष्यों में इसकी लम्बाई एक समान नहीं होती है। किसी में केवल आधा इञ्च और किसी में आठ इञ्च तक होती हैं। यह सदा एक तरफ नहीं रहती है। कभी ऊपर, कभी नीचे और कभी बृहदन्त्र के प्रारम्भिक भाग के इतस्ततः लिपटी रहती है। इसी नली के शोथ को 'उपान्त्र पुच्छशोथ' कहते हैं।

कारण

स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को यह रोग अधिक होता है। यह प्रायः बाल्यावस्था और प्रौढ़ावस्था के आरम्भ में होता है। जिन पुरुषों में उपान्त्र अधिक लम्बी और नीचे की ओर होती है उनमें इस रोग का अधिक भय रहता है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक वंश के सब प्राणियों में इसकी बनावट और लम्बाई समान होती है। अतः एक वंश के कई प्राणियों में यह रोग देखा जाता है। जब कोई भोज्यवस्तु या छोटी-सी गुठली इसके अन्दर जाती है, तो मुख छोटा होने के कारण उसका बाहर निकलना कठिन हो जाता है। फलतः वह वहीं रहकर शोथ और विद्रधि उत्पन्न कर देती है। प्रायः कोष्ठबद्धता के कारण ऐसा हो जाता है। यह स्मरण रहे कि उपान्त्र में रक्त का संचार बहुत कम होता है, जिससे कृमियों को शीघ्रता पूर्वक बढ़ने का अवसर मिलता है। शोथ अति शीघ्र उत्पन्न हो जाता है। शोथ को उत्पन्न करने वाले बी० कोलाई (B Coli.) नामक कृमि प्रायः आन्त्र में स्वाभाविक रूप से रहने वाले होते हैं। कभी-कभी अन्य शोथ वा पूयोत्पादक स्ट्रैप्टो-

कॉकस (पंक्तिबद्ध कीटाणु) भी आहारवस्तु या गुठली के साथ अन्दर जाकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। ये कीटाणु बृहदन्त्र के प्रारम्भिक भाग के शोथ मे सञ्चरण करते हुए कभी-कभी उपान्त्र मे पहुच जाते हैं और शोथ उत्पन्न कर देते हैं। गलग्रन्थि-शोथ से कीटाणु उपान्त्र में पहुंच कर कभी-कभी शोथ उत्पन्न करने का कारण हो जाते है। गलग्रन्थि और उपान्त्र मे लसीका-ग्रन्थियों की प्रधानता समान होती है। जो कार्य गलग्रन्थि अन्नमार्ग के ऊर्ध्व भाग के लिये करती है वही कार्य उपान्त्र अन्नमार्ग के निम्न भाग के लिये करती है।

नव्य रोग-निदान में उपान्त्र के शोथ का परिचय

प्रतिमानव विभिन्ना—मानेनान्त्र पुटेऽन्त्रनित्यलग्ना।
एका नलिका वर्तत—उपान्त्रपदनामिकाविदिता ॥ १ ॥
तस्या मानं क्वचन स्यादङ्गुलिद्वयोन्मिता बहुधाऽपि।
जातु च नातोऽप्यधिक-मान क्वचिदष्टाङ्गुलोन्मित भवति ॥ २ ॥
अतएव स्थितिरस्या-भवति हि मनुजानुसारिणी नियतम्।
जाते चात्र प्रदाहे-तीव्रा पीड़ा प्रजायते नूनम् ॥ ३ ॥

यथोक्तं सिद्धान्त निदाने—

उण्डुकपुच्छं नाम निम्नतश्चोण्डुके संलग्ना प्रायस्त्रिचतुरङ्गुलदीर्घा शर नलिकाकारा नलिका, उण्डुक पुच्छ नाम, सा गर्भस्थ बालकस्यान्त्रनिर्माणाव-शेषभूता निष्क्रिय प्राया च, तस्याञ्च कदाचिज्जम्बीर बीजादि दुर्जरवस्तु प्रवे-शादन्यथापि वा विद्रधि संभवः।

कारण

यदाहारभागोऽत्र किंवाऽन्यदेवा विशेद्वस्तु काठिन्ययुक्त कदाचित्।
तदोपान्त्र मध्ये प्रदाहोऽतिघोरो-ऽनुभूयेत रोगार्दितेनैव नूनम् ॥ ४ ॥

सम्प्राप्ति

उपान्त्रस्य भित्तौ यदाश्लेष्मणो वा कलायां प्रकुर्युर्हि कीटाः प्रशोथम्।
ततो मन्दभावेन वृद्ध- सशोथो-व्रणस्य स्वरूप तु नून ह्युदध्यात् ॥ ५ ॥
ततो यानि रूपाण्युपान्त्रस्यशोथे-गदेऽत्रोद्भवेयुश्च तानीहकृत्स्नम्।
नवीनैश्चिकित्सा प्रवीणैश्च पाश्चात्यदेशोद्भवैर्वर्णितानि ब्रुवेऽग्रे ॥ ६ ॥

इह श्रोणिदेशे रुजा दक्षिणे स्याद्-भृश जातु देशे कपर्दाभिधे वा ।
समुत्पद्य पूर्वं ततश्चोदरं वै परिव्याप्य सा प्रायशश्चाभ्युदेति ॥ ७ ॥
स्थिता श्रोणिमध्ये पुनः पूर्णरीत्या-ततश्छर्दनाधिक्यमाटोप उग्रः ।
भवेन्मांसपेशीस्थित स्पर्शनोत्था-रुगुग्राप्युपान्त्रस्य नून तदानीम् ॥ ८ ॥
सदा दक्षिण सक्थि सङ्कोच्य रोगी स्वपित्यत्र यन्त्रादभीष्टः प्रशान्तिम् ।
भवेद् द्व्युत्तर तापमान ज्वरस्या-विश ह्येक संख्याशत रोगि देहे ॥ ९ ॥
विबन्धस्य सम्बन्ध एवात्रभूम्ना प्रदृश्येत वा जातु चिह्नातिसार ।
उपान्त्रस्थ शोथाख्य रोगे बुधानां स्वरूपाभिधानेऽयमित्थ विचारः ॥ १० ॥

साध्यासाध्यादि लक्षण

दशायां तु साध्यास्य रोगोऽयमुक्तो मृदुश्चक्रमेण द्व्यग्रहाद्वा त्र्यहाद्वै ।
लभेतापि च न्यूनभाव च तेनामयी मानवः सौख्यमाप्नोति नूनम् ॥ ११ ॥
यदा चाक्रमेदेपि रोगाणु शश्वज्ज्वरानस्य कृच्छ्रत्व मूह्य तदातु ।
प्रशस्तैः प्रयोगैश्चिकित्साऽतियत्ना-द्विधेयेति सर्वैः सुवैद्यैरिहोक्ता ॥ १२ ॥
यदाचात्र योगो भवेद् विद्रधेर्वा प्रजायेत विस्फोट एवैतदीय ।
तथा चोदराच्छादिकायां कलायां भवेच्छोथ सदर्शन दैवदोषात् ॥ १३ ॥
विना शल्य सबन्धिनीं सचिकित्सा-मसाध्यत्वमस्येति बोध्य वदा तु ।
प्रजातेऽत्र योगे ध्रुव विद्रधेर्वै-ज्वरादीनिरूपाणि वृद्धान्यपिस्युः ॥ १४ ॥
तथा चोदराच्छादिकायां कलायां-प्रजाते च शोथे भवेत् तापमानम् ।
अपि स्वस्थ तुल्य ज्वरस्याथ शीताङ्गताच्छर्दनादीनि चिह्नान्यपिस्युः ॥ १५ ॥

सम्प्राप्ति

कीटाणु श्लैष्मि-कला और उपान्त्र की दीवार में शोथ उत्पन्न कर देते है। यदि यह शोथ देर तक थोडा वहुत बना रहे तो श्लैष्मिक-कला में व्रण हो जाते हैं। पूयोत्पादक कीटाणुओं की उपस्थिति मे उपान्त्र में पूय पड़ कर विद्रधि बन जाती है। यदि ऐसी दशा मे ऑपरेशन करके उपान्त्र को न निकाला जावे तो वह अन्दर ही अन्दर फूट कर उदर्या-कला में शोथ उत्पन्न करके रोगी को मार डालता है।

कई वार व्रण से विद्रधि नहीं बनती है। परन्तु; वह व्रण दिनों-

दिन बढ़ता हुआ दीवार को उल्लङ्घन करके उदर्याकला तक पहुँच जाता है और उसमें घोर शोथादि उपद्रव उत्पन्न कर देता है। मृदु अवस्था में एक बार शोथ होकर उसकी शान्ति हो जाती है। कभी-कभी शान्ति हो जाने के बाद फिर यह रोग हो जाता है। इसको 'जीर्ण शोथ' कहते हैं। यह उपान्त्र के निकट के अङ्गों के साथ सौत्रिक तन्तुओं के द्वारा जुड जाती है। अतः यदि जीर्णावस्था में उपान्त्र में व्रण दीवार को उल्लङ्घन कर जावे या विद्रधि बन कर फट जावे तो पूय सारी उदर्याकला में न फैल कर सौत्रिक तन्तुओं से बनी हुई थैली में जमी रहती है।

लक्षण

उपान्त्र शोथ सदैव अचानक रूप से आरम्भ हो जाता है। रोगी के दक्षिण श्रोणि प्रदेश में अकारण अति तीव्र वेदना उत्पन्न हो जाती है और वमन होने लगता है। कभी-कभी यह पीडा दक्षिण श्रोणि प्रदेश में न होकर क्रोडी प्रदेश से आरम्भ हो सम्पूर्ण पेट में फैल जाती है और अन्त में दायें श्रोणि (उपान्त्र) प्रदेश में जाकर स्थायी हो जाता है। मासपेशियाँ तन जाती हैं। उपान्त्र प्रदेश को स्पर्श करने से पीडा अति तीव्र हो जाती है। रोगी सदा दाहिनी पैर को संकुचित करके रखता है। पीडा के साथ ज्वर १००—१०१ या १०२ फा० तक हो जाता है। नाड़ी की गति अति तीव्र हो जाती है। प्राय कोष्ठ-बद्धता रहती है। कभी-कभी पतले दस्त भी हो जाते हैं। रक्त परीक्षा से ज्ञात होता है कि श्वेताणु १५००० से २०००० तक बढे हुए हैं।

मृदु अवस्था में पीड़ा, ज्वर आदि लक्षण दो-तीन दिन तक रहकर धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं। कभी-कभी थोडा आराम हो जाता है और बाद को फिर इसका वेग प्रकट हो जाता है। २—३ सप्ताह तक यही क्रम बना रहता है। परन्तु, विद्रधि होने पर पीड़ा और ज्वरादि लक्षण बढ़ जाते हैं। यदि यह फट जाय और उदर्याकला में शोथ हो जाय तो ताप स्वस्थ रेखा से न्यून हो जाता है और उदर्याकला के शेष लक्षण वमन, शीतकम्प प्रभृति भी प्रकट हो जाते है। जीर्णावस्था में ज्वर-

जब शोथ होता है तब-तब उपर्युक्त लक्षण प्रकट हो जाते हैं। वेग के दिनों मे और उसके पश्चात् उपान्त्र के स्थान पर छोटा अर्बुद प्रतीत किया जा सकता है।

निर्णय

जब यह रोग प्रथम बार प्रकट होता है तो इसका पहचानना कठिन हो जाता है। विशेषकर उस समय जब कि उपान्त्र ऊपर की तरफ पड़ी हो। जब दक्षिण फुफ्फुस मे प्रदाह आरम्भ होता है तब कभी-कभी उपान्त्र प्रदेश मे पीड़ा आरम्भ हो जाती है। परन्तु, ऐसी दशा मे नाडी, श्वास और फुफ्फुस की परीक्षा रोग को स्पष्ट कर देती है। चतुर चिकित्सक लक्षण देख कर ही इसका निर्णय कर लेते हैं।

चिकित्सा

रोग का ज्ञान होते ही यदि सम्भव हो तो रोग के आरम्भ से ३६ घण्टे के अन्दर आपरेशन कराने से बहुत लाभ होता है। इससे कोई हानि या उपद्रवादि लक्षण उत्पन्न नहीं होने पाते। अतः रोगमुक्ति के विषय मे कुछ कहना कठिन है। साधारण रीति से रोग तो शान्त हो जाता है। परन्तु, यह भय रहता है कि विद्रधि न बन जाय। उदर्याकला मे शोथ आदि उपद्रव उत्पन्न होकर अनिष्ट परिणाम न निकलें इस हेतु ओषधि-चिकित्सा की प्रतीक्षा न करते हुए शल्य-चिकित्सा करा देनी चाहिये।

यदि दो दिन के पश्चात् रोग-ज्ञान हो तो उस समय सोच-समझ कर शल्य-चिकित्सा करानी चाहिये। जब विद्रधि के लक्षण उत्पन्न हों अर्थात् ज्वर पाँच दिन से अधिक हो, नाड़ी की गति तीव्र हो और श्वेताणु अधिकाधिक होते जायं अथवा उदर्याकला में शोथ हो जावे। अर्थात् शीताङ्ग, वमन और अति तीव्र नाड़ी हो तो तात्कालिक आपरेशन कराने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

यदि शल्य-चिकित्सा न हो सके तो औषधोपचार करें। रोगी को शान्तिपूर्वक लिटा रखें। उपान्त्र-प्रदेश पर सतत सेंक करें, इसके लिये

एण्टीफ्लेमीन (Antiflamin) लगावें या उष्ण जल की बोतल से सेंक देवें। यदि आवश्यकता हो तो वस्ति देवें। खाने के लिये दो-दिन तक यव-यूप या एलब्यूमिन वाटर के सिवाय कुछ न देवें। इसमें रेचन कभी न देवें। जब आराम होने लगे तब धीरे-धीरे लघु भोजन देवे। कोई-कोई वैद्य पीड़ा और कष्ट के निवारण के लिये अहिफेन खिलाते हैं, अथवा अफीम-सत्त्व (मर्फिया) त्वचोऽन्त क्षेपण (इञ्जेक्शन) करते हैं। परन्तु; रोग का निर्णय हो जाने पर भी इसका देना भावी उपद्रवों और उससे उत्पन्न हुए परिणामों के ज्ञान से वञ्चित रखता है। इसमें कोई दवा न देकर वाह्योपचार करना अच्छा है। अथवा पुनर्नवादि क्वाथ देवें।

भावी फल

बालक, वृद्ध, दुर्बल, हृदय के रोगी, मधुमेही, वृक्कशोथी, कासरोग से पीड़ित आदि कष्टसाध्य होते हैं। अवस्था जितनी कम होती है; रोग उतना ही कष्टसाध्य होता है। प्रसेक की प्रकार, अवरोधक और कोथयुक्त-प्रकार कृच्छ्रसाध्य होते हैं। परन्तु प्रारम्भिक चिह्नों में भिन्नता न होने से प्रारम्भ में रोग की साध्यता और असाध्यता का ज्ञान होना कठिन हो जाता है। विश्राम और आहार द्वारा चिकित्सा करने पर भी ज्वर अधिक रहने पर और ज्वर कम होने पर भी, नाड़ी की गति तीव्र होने पर, अनुबद्ध छर्दि, हिक्का और विषमयता प्रभृति आसाध्यता के प्रतीक है। नाड़ी-गति, संताप और श्वेतकायाणु की वृद्धि रोग के बढ़ने की सूचना मात्र है। विरेचन के प्रयोग से आन्त्रपुच्छ के फटने की सम्भावना रहती है। उसके फटने पर सम्पूर्ण उदर में सूजन होकर रोगी की जीवन लीला समाप्त हो जाती है। अतः समझ-बूझ कर इस रोग में चिकित्सक को विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। प्रतिहारिणी शिराशोथ, फेफड़ों की अन्त शल्यता, प्रतिहारिणी पूयमयता, सार्वत्रिक पर्युदरशोथ प्रभृति उपद्रव भी मृत्यु सूचक है।

शस्त्रकर्मजन्य मृत्यु की ह्रासता

पेनीसिलीन और सल्फानिलामाइड् के प्रयोग से शस्त्रकर्मजन्य मृत्यु-प्रतिशत दो ही रह गई है, इससे विपरीत स्थिति मे ७-८ प्रतिशत या इससे अधिक हो सकती है। इस रोग से बालक और वृद्धों की मृत्यु अधिक होती है।

पेनीसिलीन-चिकित्सा

रोगी को पेनीसिलीन और सल्फोनाइड् का प्रयोग करावें। पेनीसिलीन का सूचीभरण प्रत्येक दो घण्टे के बाद १ लक्ष यूनिट की मात्रा मे कुछ दिन तक लगातार देते रहना चाहिये।

अन्य मिश्रण का प्रयोग

सोडाबाईकार्ब १० ग्रेन, पोटाश सैट्रेट १६ ग्रेन, सोडियम ब्रोमाइड् १० ग्रेन, टिंचर हायोसायमस् २० बूंद, ग्लिसरीन ३० बूंद और पानी आधा औंस।

विधि—इस मिश्रण का ४-४ घंटे के अन्तर से व्यवहार कर सकते हैं।

ग्लूकोज का प्रयोग

ग्लूकोज को पानी मे मिलाकर रोगी को पिलावें, वर्फ देवे, खाने-पीने के लिये कुछ नहीं देना चाहिए। चार-चार घंटे के अन्तर पर नाड़ी ताप, श्वसन, उदर की पीडा, पीडनासहता, कठोरता आदि की परीक्षा करते रहें।

प्रकृतलवण जल का प्रयोग

गुदा द्वारा, अथवा शिरा द्वारा प्रकृत लवण जल का प्रयोग करें।

विश्राम का प्रयोजन

इस रोग मे रोगी को पूर्णतया आराम से फाउलर (Fowler) के आसन मे रखना चाहिये। इस आसन मे रोगी का शिर और वक्षःस्थल ऊंचा तथा वस्तिप्रदेश नीचा रहता है।

संक्रामक रोग के सहायक रोगों का वर्णन

विबन्ध (Constipation)

निर्वचन—इस रोग में मल अति विलम्ब से निकलता है। वह अति कठिन और असम्पूर्ण निकलता है। इसका कारण यह है कि अन्त्र की आनुलोमिक गति कम हो जाती है। साधारण अवस्था में कोई भी खाद्य पदार्थ ९—१३ याम के अन्दर मलरूप होकर बाहर निकल जाता है। १६ याम अर्थात् ४८ घण्टे से अधिक किसी भी खाद्य पदार्थ का अन्त्रों में स्थित रहना विबन्ध कहा जा सकता है। ज्वरादि रोगों में लक्षण रूप में जो विबन्ध होता है, उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से विबन्ध रोग का वर्णन किया जाता है।

निदान

अन्त्र की आनुलोमिक गति के ह्रास के हेतु नीचे लिखे जाते हैं। अति गुरु पदार्थों का सेवन, रूक्ष, शुष्क, असात्म्य और अल्प पदार्थों का सेवन करने से तथा मल के कम बनने से अन्त्र में अनुलोमिनी गति उत्पन्न नहीं होती है। अथवा गुरु-भोज्य पदार्थों में आनुलोमिक गति उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं होती है। आनुलोमिक गति को बढाने की शक्ति विशेष कर शाक और फलों में होती है। क्षीर और मांस रसादि में आनुलोमिक गति को पैदा करने वाली शक्ति का अभाव होता है। इसका कारण यह है कि इनसे कुछ भी मल बाकी नहीं रहता है। यदि भोजन के बाद दूध पिया जाये तो वह अधिकतर विबन्ध बाधक होता है। भाँग, गाँजा, अफीम आदि मादक द्रव्यों का अति मात्रा में सेवन, व्यायाम न करना, आहार-विहार, कुटुम्ब की परिस्थिति, निवास स्थान आदि के दूषित होने से भी प्रायः मलावरोध हो जाता है। आलस्य, अतिव्यवाय, मिथ्याश्रम आदि भी विबन्ध के कारण होते हैं।

विबन्ध जनक व्याधियों का वर्णन

शोक, चिन्ता, लोभादि मानसिक रोग, उन्माद, अपस्मारादि रोग वार्धक्य शोष, अतिवृद्धता, अजीर्ण, जीर्णज्वर, वृहदन्त्र में शोथ और उसमें रोग हो जाना, वातव्याधियाँ, बहुत समय तक मूत्र-पुरीषादि वेग का अवरोध करना अथवा वेगावरोध का स्वभाव हो जाना, आमाशय, यकृत, अन्त्र एवं फुफ्फुस के विकार भी विबन्ध के कारण होते हैं। जिनका शरीर दुर्बल होता है, और रक्ताल्पता (एनीमिया) रोग होता है उनको भी मलावरोध रहता है। अनेक प्रकार के मस्तिष्क रोग विशेष करके यक्ष्मिक मस्तिष्कावरणीकला शोथ (ट्यूबरक्यूलोसिस् मेनिन्जाइटिस्) रोग से विलक्षण मलावरोध लक्षित होता है। बार-बार विरेचक औषधों के लेने से विबन्ध हो जाता है।

कुछ रोग ऐसे हैं जिनमें अन्त्र की आनुलोमिक गति कम न होने पर भी विबन्ध उत्पन्न कर देते हैं। यथा—अन्त्रमार्ग-संकोच, प्रवाहिका और आन्त्रक्षय प्रभृति में व्रणों के भर जाने पर अन्त्रमार्ग संकुचित हो जाता है। अन्त्रमार्गार्बुद, अन्त्रपृष्टिकार्बुद, वा अन्त्रपृष्टिक-ग्रन्थि आदि का उत्पन्न होना तथा अर्श वा गुदा के द्वार पर व्रण होना आदि विबन्ध के कारण होते हैं। जिन रोगियों में बराबर कब्जी रहती है अथवा बाल्यावस्था से जिनको कब्जी रहती है, उनके विबन्ध का कारण जानना कठिन हो जाता है। किसी-किसी आतुर के मल उचित रूप से बनने पर भी मलाशय के ठीक-ठीक कार्य न करने पर मलाशय में कई घंटे तक मल जमा रहता है। जलवायु के परिवर्तन, देशपरिभ्रमण, तीर्थ-यात्रा, समुद्रयात्रा प्रभृति से विबन्ध उत्पन्न हो जाता है। बार-बार गर्भधारण करने से स्त्रियों के आन्त्र की आकुञ्चनिक क्रिया का ह्रास होने से विबन्ध उत्पन्न हो जाता है।

लक्षण

विबन्ध रोग का मुख्य लक्षण यह है कि मलत्याग की इच्छा विलम्ब से होती है। मल कठिन, अल्प परिमाण में, कभी-कभी बहुत दुर्गन्धयुक्त,

कृष्णवर्ण, मृत्तिकातुल्य वर्णवाला तथा अत्यन्त कठिन पिण्ड के सदृश निकलता है। कभी-कभी मलत्याग करते समय अति कष्ट और यंत्रणा होती है।

मलाशय मे मल के रुके रहने से उसमे वेदना होती है। आध्मान, अन्त्रशूल, प्रदाह, क्षत, अन्त्रभेद प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। मल के विशेष रूप से आवद्ध होने पर उसको अन्त्रावरोध कहते हैं। संचित मल के दबाव से स्त्रियों मे रजोऽधिकता, गर्भाशय प्रदाह आदि लक्षण देखे जाते हैं। पुरुषों में मूत्राशय के दबाव से शुक्रपात, अर्श, पैरों मे शीतलता, नाडीशूल आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। विवन्ध होने के कारण परिपाक यन्त्रों मे अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जिह्वा मल-लिप्त, निःश्वास दुर्गन्धयुक्त, मन्दाग्नि, अम्लपित्त, पैत्तिक विकार एवं पाण्डुरोग उपस्थित हो जाते हैं। मूत्र मे लिथेटस्, अधिक मात्रा मे वर्तमान रहता है।

सार्वाङ्गिक लक्षण

सार्वाङ्गिक लक्षणों के मध्य, कायिक और मानसिक अवसाद, विमर्शता, उग्रस्वभाव, शिरोवेदना, शिरोभ्रम, मस्तिष्क और मुखमण्डल में उष्णता, रक्तवेगावरोध, हृत्कम्पन, रक्ताल्पता, दुर्वलता प्रभृति लक्षण प्रायः प्रकाशित होते हैं।

चिकित्सा

"सक्षेपत. क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्।"

अर्थात् जिन कारणों से विवन्ध उत्पन्न हो, उन कारणों को दूर करने के उपाय करने चाहिये। कारणों के दूर हो जाने पर विवन्ध खोलने की चेष्टा फलीभूत होती है। यदि मनुष्य स्वभावत. २४ घंटे में एक ही वार शौच जाता है तो उसको विवन्ध रोगग्रस्त नहीं समझना चाहिये। परन्तु जो अहोरात्रि मे २-३ वार शौच जाते हैं यदि उनको २४ घंटे के वाद शौच आवे तो विवन्ध जानना चाहिये। साधारणतया २४ घटे में एक बार शौच आना आवश्यक है।

मिथ्या विबन्ध

संदिग्ध (शंकी) मनुष्य कुछ कष्ट न होते हुए भी विबन्ध का भ्रम करके विरेचक ओषधियों का सेवन करते हैं। अतः उनकी पाचनशक्ति बिगड़ कर वास्तविक विबन्ध उत्पन्न कर देती है तथा उसके साथ-साथ कुछ उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में सबसे प्रथम वैद्य का यह कर्त्तव्य है कि वह विबन्ध नाशक औषधों का प्रयोग न कर रोगी के मन से विबन्ध का मिथ्याभ्रम दूर करे। इससे वस्तुतः लाभ होता है।

पथ्यापथ्य विवेचन

विबन्धी पुरुष को प्रातः-सायं प्रतिदिन कम से कम आधा मील भ्रमण करना चाहिये। शीतल जल वा उष्ण जल से स्नान करके तौलिया से शरीर को पोंछना चाहिये। शरीर में शीत न लगे इस हेतु उष्ण वस्त्र पहनना चाहिये। व्यायाम नियमित समय पर इतना करें जिससे अति स्वेद न निकले। अथवा अपनी शक्ति से अर्धशक्ति तक व्यायाम करें। अर्धशक्ति का तात्पर्य यह है कि ललाट, कक्षा आदि में स्वेद निकल आवे। अथवा जिससे श्वास-वायु की गति शीघ्र होने लगे और मुख शुष्क हो जावें।

यथोक्तं सुश्रुते—

किंवा ललाटे नासायां गात्र सन्धिषुकक्षयोः।
यदा संजायते स्वेदो बलार्धं तु तदादिशेत्॥

उदरीय व्यायामों से अधिक लाभ होता है। पश्चिमोत्तान नामक आसन करने पर भी उदर की मांसपेशियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

उदर पर आवर्तन कर्म

बृहदन्त्र की गति के अनुसार दाहिने हाथ से उदर पर नीचे से ऊपर को मालिश करावें। अपने आप से उचित रीति से मर्दन नहीं होता है। अतः अन्य पुरुष से ही मालिश करावें। यदि अन्य पुरुष न

मिले तो सीधे लेटकर २-३ सेर वजन का धातविक गोला लेकर उदर पर बृहदन्त्र की गति के अनुसार गोला को नीचे से ऊपर की ओर ५-१० मिनट तक प्रात: घुमाना चाहिये।

यथोक्तम्—

अगस्त्य कुम्भकर्णं च शनिं च वड़वानलम्।
आहार परिपाकार्थं स्मरामि च वृकोदरम्॥
इत्युच्चार्य स्वहस्तेन परिमार्ज्य तथोदरम्।

भोजन की व्यवस्था

भोजन नियत समय पर मात्रायुक्त लघु एवं सुपाच्य होना चाहिये। मलोत्पादक अथवा आन्त्रिक गतिजनक शाक, चक्की से पीसे हुये और बिना छने हुये आटे की रोटी और फलादि पदार्थ भोजन मे अधिक होना चाहियें। जिन रोगियों को केवल बृहदन्त्र के प्रारम्भिक भाग में ही विकार होता है और उसीमें मल का सचय होता है, उनमें ऐसे पदार्थ लाभकारक नहीं होते हैं। भोजन के साथ पानी अवश्य पीवें। किन्तु अधिक न पीवें। अधिक पानी पीने से आमाशयिक रस(Gastric juice) पतला होकर पाचनक्रिया अच्छी प्रकार नहीं कर पाता है। शुष्क भोजन वा मात्रा से अत्यल्प जल पीने से ही जिनको विबन्ध हो, उनको भोजन के साथ अधिक जल पीना चाहिये। भोजन के २-३ घण्टे के बाद फिर जल पीवें। प्रातःकाल ठंढे पानी मे कागजी नीबू का रस निचोड़ कर पीने से शौच खुलकर आता है। अथवा रात्रि में सोते समय उष्ण क्षीर वा उष्ण जल पीने से भी प्रातःकाल खुलकर शौच होता है। पाखाना प्रतिदिन नियत समय पर ही जावें। शौच होते समय मल उतारने के लिये कांखना (प्रवाहण) नहीं चाहिये। मल जितना स्वयं उतरे उतना ही उतरने देवें।

प्रातःकाल सूर्योदय से प्रथम ताजा जल नासिका द्वारा पीने से भी शौच खुलकर आता है और नेत्र की दृष्टि भी गरुड़ के तुल्य तीव्र हो जाती है। परन्तु यह विधि पित्त प्रकृति वालों के लिए अत्युत्तम

है। विद्युत् चिकित्सा, हिप बाथ और उष्ण जल का क्रमशः सेचन भी लाभकारक होता है। किसी-किसी व्यक्ति को विबन्ध दूर करने के लिये ही धूम्रपान कराया जाता है। मानसिक विग्रन्थियों को धूम्रपान कराने से लाभ होता है। इसका कारण यह है कि अल्प धूम्रपान से अन्त्र की आनुलोमिक गति होती है तथा अधिक धूम्रपान करने से अन्त्र की आनुलोमिक गति कम हो जाती है। किसी-किसी का ऐसा स्वभाव पड जाता है कि विना धूम्रपान किये पाखाना ही नहीं होता। उनके लिये धूम्रपान आवश्यक है किन्तु ; मात्रा से पीना चाहिये।

यथोक्तं चरके—

स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान्निघृष्य च
नावनाञ्जन निद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत ॥

शरीर में स्निग्धता का न होने से यदि विबन्ध होवे तो घी, दुग्ध आदि स्निग्ध पदार्थ सेवन कराने से विबन्ध नष्ट हो जाता है। विबन्ध के भय से जो अत्यल्प भोजन करते हैं उनके मल भी थोड़ा ही बनता है। इससे उनको विबन्ध का और भी संदेह हो जाता है। अतः मात्रा से भोजन करना आवश्यक है। भोजन में प्रोटीन (प्रतनु), कार्बोज, वसा, लवणादि रसायनिक पदार्थ उचित मात्रा में होना चाहिये। शाक और फल अधिक सेवन करें। शाक के सूत्रों से और फलों के रस से आमाशय की गति बढ़ती है।

मांस भोजियों के भोजन में शलगम, प्याज आदि मिलाकर देना चाहिये। विबन्धकारक शाक, फल यथा घुइयां, कद्दू, केला, नासपाती, अखरोट, चिलगोजा, चिरौंजी आदि हैं।

वस्ति का प्रयोग

यदि आहार-विहार से विबन्ध ठीक न हो, तो वस्ति का उपयोग करें। इसके लिये उष्ण जल का प्रयोग करें। उष्ण जल की मात्रा २४ छटांक से लेकर २ सेर तक युवा मनुष्य के लिये पर्याप्त है। जल में आवश्यकता होने पर थोड़ा साबुन घोल देवें तथा उस जल में एरण्ड तेल १ छटांक या ज़ैतून का तेल १ छटांक और मिला लेवें। इससे पाखाना खुलकर

आता है। परन्तु प्रतिदिन साबुन, तेल आदि न मिलाव। इससे अंत्र की दीवारें क्षुब्ध हो जाती हैं। अतः प्रतिदिन विबन्ध को दूर करने के लिये कुछ गरम पानी की पिचकारी लेवें। अथवा ग्लिसरिन की पिचकारी प्रतिदिन लेवें। १। तोला से २॥ तोला तक ग्लिसरीन एक बार के लिये पर्याप्त है, इससे मल स्निग्ध होकर निकलता है और किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता है।

मानसिक विबन्ध प्रतिकार

यदि मानसिक विबन्ध का भ्रम हो, तो मानसिक चिन्ता, शोकादि को दूर करके रोगी को धैर्य देवें और विबन्ध की ओर से रोगी का मन हटावे। आहार, विहार, व्यायाम आदि पर उसके चित्त को आकृष्ट करें। इससे उसका विबन्ध दूर होता है।

विरेचनीय वर्ग

द्राक्षा, काश्मरी के फल, फालसा, हरीतकी, आमला, बहेड़ा, कुवल, बदर, कर्कन्धू नामक वेर की जातियों का उपयुक्त भाग, पिलु, गुलाब के फूल, सनाय की पत्ती, मुसब्बर, कंकुष्ठ (उशारे रेवन्द शुद्ध) कालादाना, स्कमोनिया, शुष्क अजीर, एरण्डतेल, अमलतास का गूदा आदि विरेचन के लिये रोगी की अवस्था देखकर प्रयोग करें।

यथोक्तं वाग्भट्टेनापि—

निकुम्भ कुम्भत्रिफलागवाक्षीस्नुकूशखिनी नीलिनितिल्वकाग्नि।
शम्याककपिल्लक हेमदुग्धा दुग्धञ्चमूत्रञ्च विरेचनानि॥

एलोपैथी में—कैस्कारा, फिनालपैथेलीन (Phenal Phathalein) और पैराफीन आदि दवाइयाँ व्यवहृत होती हैं। यदि रेचक ओषधियों की आवश्यकता हो तो ऐसी ओषधियाँ दें जिसके बाद फिर विबन्ध न हो और रोगी को विरेचनीय दवाओं की आदत भी न पडे। ऐसी ओषधियों में लिक्विड और पैराफीन ही उत्तम है। इसको प्रति दिन

देने से भी कोई हानि नहीं होती है और न आदत ही पड़ती है। अथवा अगरोल (Agarol), पैट्रोगैलार (Petrogalar) आदि अनुभूत दवाइयाँ दें।

तरुणी कुसुमाकर चूर्ण

गुलाव के फूल एक पाव, काला नमक दो छटाँक, सेन्धा नमक, सफेद जीरी, जवाखार, आँवला, हरड, बहेडा, सोंठ, मिर्च, प्रत्येक १ छटांक, सोहागा का फूला, बड़ी इलायची, नवसादर, सनाय की पत्ती एक सेर लें।

विधि—सबको कूट-पीस छान करके रख लेवे। मात्रा ६ माशे से १ तोला तक।

अनुपान—गरम जल।

लाभ—इस चूर्ण से विबन्ध दूर होता है।

यथोक्तः पञ्चसकार चूर्ण प्रयोग सिद्धभेपजमणिमालायाम्—

सैंधवसनामुकिशिवाशुण्ठी शतपुष्पिका कृत. क्षोद.।
नाम्ना पञ्चसकारः शकृतिविबद्धे समुपयोज्यः॥

षट् सकार चूर्ण-प्रयोग

सोहागा का फूला एक छटाँक, सेंधा नमक एक छटाँक, हरीतकी चूर्ण एक छटाँक, सोंठ, सौंफ और सनाय की पत्ती एक-एक छटाँक।

विधि—इन ओपधियों को कूट-पीस छान कर रख लेवें।

मात्रा—६ माशा।

अनुपान—उष्णोदक। इससे सब प्रकार के विवन्ध नष्ट होते हैं।

भोजनोत्तर की व्यवस्था

भोजन के प्रथम हिंग्वष्टक चूर्ण २ माशा घृत के साथ लेवें। और भोजन के बाद लवणभास्कर चूर्ण २ माशा लेकर, अभयारिष्ट (भैषज्य-रत्नावली प्रोक्त) १॥ तोला लिया करें। इसका ४० दिन तक लगातार प्रयोग करने से सदा रहनेवाला विवन्ध दूर होता है।

प्रवाहिका
(Dysentery)

निर्वचन—इसमें बार-बार अल्प परिमाण में श्लेष्मा और रक्त मिश्रित मल गुदामार्ग से निकलता है। उदर में बहुत वेदना और कुन्थनाधिक्य और ज्वर आदि लक्षण हो जाते हैं। इसमें बृहदन्त्र की श्लैष्मिककला में सूजन हो जाती है और क्षत होने पर रक्त मिश्रित मल दस्त में निकलता है। यह जनपद व्यापक (एपेडेमिक) अथवा स्थान विशेष (एण्डेमिक) वा विक्षिप्त रूप से प्रकाशित होती है। यद्यपि समस्त पृथ्वी पर यह प्रकट हो सकती है। किन्तु, किसी-किसी स्थान पर विशेष रूप से प्रकाशित होती है। यथा—ग्रीस, भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेश, जावा, चीन, अमरीका, अफ्रीका, भारतवर्ष आदि में प्रकट होता है। कभी-कभी या रक्तातिसार के साथ जनपद व्यापक रूप से प्रकाशित हो जाता है।

सहायक कारण

अपक्व फल, सडा मांस, दूषित जल एवं दूषित खाद्य-पदार्थों के सेवन से यह उत्पन्न होता है। किसी विद्वान् का मत है कि अनेक स्थल पर सम्भवत. बृहदन्त्र की शक्ति क्षीण होने से यह उत्पन्न होता है। किसी-किसी का मत है कि शरीर मे अधिक शीत लगने से यह रोग होता है। वर्षाकाल मे यह अधिक होता है। दिन में गर्मी होने पर और रात्रि मे शीत होने पर यह अधिक होता है। कभी-कभी नातिशीतोष्ण प्रदेश मे भी इसका विलक्षण कोप देखा जाता है। स्वाभाविक अवस्था में परिवर्तन, विशेषकर श्रमजनित दौर्बल्यावस्था मे, अनियम, वस्त्रों की कमी, गन्दे और धूप से रहित स्थान, वायु जहाँ शुद्ध नहीं है ऐसी जगह मे निवास, इस रोग के सहायक कारण हैं। उपरोक्त कारणों से आन्त्र की स्वाभाविक प्रतिरोध की क्षमता क्षीण होने पर रोग की उत्पत्ति में सहायता मिलती है। उसमे प्रवाहिको-

त्पादक जीवाणु अपना कार्य करते हैं। बाद में वहां पर पूयोत्पादक, क्षतोत्पादनकारी साधारण वैक्टेरिया भी विशेष क्रिया करते हैं। इस अवस्था में खाद्य-पेय पदार्थों का मात्रा से अधिक सेवन करने, अथवा अनुपयुक्त पदार्थों के खाने से आंत्रिककला मे शोथ हो जाता है। किन्तु आंत्र की श्लैष्मिककला के स्वस्थ और स्वाभाविक अवस्था होने पर कोई रोगोत्पादक जीवाणु कुछ भी विकृति नहीं पैदा कर सकते हैं।

वृहदन्त्र के अधोभाग मे और सरलान्त्र मे विशेष रूप से सूजन हो जाती है। कभी-कभी यह सूजन शेषान्त्र (इलियम्) तक फैल जाती है। शोथ की प्रबलता के अनुसार आन्त्रिक-कला मे क्षत हो जाता है, जो इसका विशेष चिह्न है। रोग सामान्य होने पर आंत्र की श्लैष्मिककला मे स्वाभाविक परिवर्तन हो जाता है। श्वेत-धूसर वर्णयुक्त तान्तविक पदार्थों के स्तर से श्लैष्मिक-कला आवृत हो जाती है। तह उठाने पर क्षत प्रकाशित होते हैं। वृहदन्त्र की निःसङ्ग ग्रन्थियों मे भी रोग का आरम्भ होने से ग्रन्थियाँ पक जाती हैं। फिर क्षत हो जाता है और क्षत का आकार शीघ्र वढ़ जाता है। अत्यन्त प्रबल स्थानिक निर्जीवाणु (निक्रोसिस) उपस्थित हो जाता है। श्लैष्मिक झिल्ली का अधिक भाग, काला-सडा हुआ क्षत मे परिणत हो जाता है और समय-समय पर पूययुक्त सूजन हो जाने पर सडी हुई झिल्ली निकलती है। कभी-कभी स्वाभाविक क्रिया के द्वारा क्षत शुष्क होकर रोग शान्त हो जाता है।

प्रवाहिका (Dysentery) के भेद

प्रवाहिका दो प्रकार की होती है। (१) वैसीलरी डिसेन्ट्री (Bacillary Dysentery) (२) अमीविक डिसेन्ट्री (Amoebic Dysentery)।

प्रधान कारण

वैसिलरी डिसेन्ट्री का मुख्य कारण वैसीलस डिसेन्ट्री नामक जीवाणु है। इस जीवाणु के तीन वर्ग किये गये हैं।

(अ) शिगावर्ग—इसका मुख्य जीवाणु शिगा का वसीलस (Shiga's Bacillus) है।

(ब) फ्लेक्सनरवर्ग—इस वर्ग का मुख्य जीवाणु वै० डिसेन्ट्री फ्लेक्सनर है। इसके पाच प्रकार होते हैं। C, V. W, X,Y. Z

(स) सकीर्ण वर्ग (Atypical)—इसी वर्ग मे (Sonnes Bacillus, Schmidt's Bacillus, Paradysentery Bacillus) इत्यादि जीवाणु है।

इनके सिवाय यह भी देखा जाता है कि जब अतिसार ठीक होने लगता है, तब B, Morgan No, I, B. Paracolon, B. Faecalis alkaligenes इत्यादि जीवाणु मल में मिलते हैं। ये सहचर जीवाणु कहलाते हैं। भारतवर्ष मे फ्लेक्सनर जीवाणुओं से लगभग ८०% अतिसारी पीडित होते हैं। फ्लेक्सनर जीवाणु से जो प्रवाहिका उत्पन्न होती है वह सौम्य, चिरकालिक और परिवर्तनशील होती है। शिगा जीवाणु से होने वाली प्रवाहिका भारतवर्ष मे कम होती है। परन्तु यह तीव्र स्वरूप, अचिरकालिक और अपरिवर्तनशील होती है।

(२) अमीविक डिसेन्ट्री—इसका कारण एण्टेमीवा हिस्टोलिटिका (Entamoeba histolytica) नामक प्राणी वर्ग का जीवाणु है। इसका संक्रमण सिस्टों (cysts) के द्वारा होता है।

संक्रमण

रोगी के मल में वैसीलस डिसेन्ट्री तथा एण्टेमीवा हिस्टोलिटिका नामक जीवाणु उपस्थित रहते हैं। इसलिये मल-दूषित खाद्य-पेय पदार्थ के सेवन करने से प्रवाहिका स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होती है। खाद्य-पेय पदार्थों की दुष्टि मल दूषित हाथों से और मक्खियों से प्रायः हुआ करती है। इसमे वाहक बहुत भाग लेते हैं।

प्रवाहिका-वाहक—रोग, जब पुराना होता है, तब आंत्रगत सब व्रणों का रोपण अच्छी तरह नहीं होता। कहीं-कहीं पर तान्तव धातु बनती है जो आगे चलकर सिकुड जाती है। इसके कारण कहीं-कहीं झुर्रियां झोल, अवकाश (Sacculations) बन जाते हैं जिनमे जीवाणु की वृद्धि होती रहती है और वे समय-समय पर मल के साथ निकलते रहते हैं। वाहक दोनों प्रकार के होते हैं। इसका हेतु यह है कि शिगा मे आन्त्रों की विकृति अधिक तीव्र स्वरूप की होती है जिससे अवकाशादि की उत्पत्ति होने की संभावना अधिक रहती है। शिगा के वाहक कुछ दुबले-पतले और सदैव रोगी के समान दिखाई देते हैं और फ्लैक्सनर के वाहक देखने मे प्राय स्वस्थ होते हैं।

बैसीलरी डिसेन्ट्री और अमीबिक डिसेन्ट्री के जीवाणु दूषित खाद्य-पेय पदार्थों के द्वारा उदरगुहा मे पहुंचकर आन्त्र मे विकृति उत्पन्न करके प्रवाहिका उत्पन्न कर देते हैं। दोनों की पृथकतादर्शक-कोष्ठ निम्नलिखित प्रकार का है।

(१) बैसीलरी डिसेन्ट्री	(२) अमीबिक डिसेन्ट्री
(१) इसमे विकृति, क्षुद्रान्त्र तथा बृहदन्त्र के अन्तिम हिस्से मे होती है।	(१) विकृति केवल बृहदन्त्र मे होती है। अत्यन्त तीव्र प्रकार में भी क्षुद्रान्त्र अविकृत रहता है।
(२) समस्त स्थूलान्त्र मे विकृति होती है। किन्तु बृहदन्त्र कुण्डलिका और गुदनलिका मे विशेष होती है।	(२) अधिक विकृति बृहदन्त्र के प्रारम्भिक भाग मे और कम विकृति बृहदन्त्र कुण्डलिका तथा गुदनलिका मे होती है।
(३) विशेष परिणाम श्लेष्म कला पर होता है।	(३) विशेष परिणाम उप-श्लेष्म-कला पर होता है।
(४) समस्त श्लेष्मल-कला न्यूनाधिकतया विकृत रहता है।	(४) विकृत श्लेष्म-कला के बीच-बीच मे अविकृत कला मिलती है।

(५) साधारण विकृत तथा स्थूल हुई श्लेष्मकला से व्रणस्राव होते हैं।

(६) व्रण के किनारे सर्पगति के तुल्य सम गोल और वक्र होते हैं तथा उनमें गोलाई में फैलने की प्रवृत्ति नहीं होती।

(७) सम्पूर्ण श्लेष्मकला-पर सडे-गले, मैले तथा स्राव के कारण एक झिल्ली बन जाती है।

(८) श्लेष्मल-कला से गंभीर फैलने की प्रवृत्ति नहीं होती, जिससे आंत्र की उपश्लेष्म-कला में कुछ विकृति नहीं होती है। किन्तु अन्य स्तर में विकृत रहती है।

(९) उपश्लेष्म-कला मे अमीवा नहीं मिलता है।

(१०) व्रण सर्पगति के तुल्य गोल, वक्र, लम्बे तथा असंख्य और एक दूसरे से मिले हुये होते हैं, जिसके कारण श्लेष्मल का स्वरूप कृमि भक्षित पत्र के समान हो जाता है।

(५) व्रण अविकृत श्लेष्मल-कला से कुछ उभरे हुये होते हैं।

(६) व्रण आन्त्र की गोलाई की दिशा में फैलते हैं।

(७) श्लेष्मल-कला के सड़े-गले भाग काले तथा मकड़ी के जाल के समान दिखाई देते हैं।

(८) उपश्लेष्म-कला से गम्भीर स्तरों में फैलने की प्रवृत्ति होती है। जिससे समस्त आन्त्र प्राची में सूजन हो जाती है।

(९) उपश्लेष्म-कला में अमीवा मिलता है।

(१०) चिरकालिक प्रकार में व्रण अवनत, मृदुतल गोल एवं दीर्घ गोल होते हैं और उनके बीच-बीच में अविकृत कला होती है।

उपरोक्त पृथकता प्रकाशक कोष्ठक आन्त्रविकृति की दृष्टि से बतलाया गया है। किन्तु निदान के लिये दोनों प्रकार की प्रवाहिका का पृथक्करण निम्न प्रकार से करते हैं।

(१) बैसिलरी डिसेन्ट्री	(२) अमीबिक डिसेन्ट्री
(१) महामारी के स्वरूप को धारण करती है।	(१) महामारी के रूप में नहीं होती।
(२) सञ्चय-काल अल्प, सात दिन का होता है।	(२) संचय काल लम्बा होता है।
(३) सहसा आक्रमण।	(३) शनै शनैः आक्रमण।
(४) प्रायः ज्वर होता है।	(४) अधिकतर ज्वर का अभाव।
(५) रोग का काल अल्प, दो सप्ताह का होता है।	(५) रोगकाल लम्बा महीनों या वर्षों का होता है।
(६) मृत्यु संख्या का प्रमाण अधिक होता है।	(६) मृत्यु संख्या का प्रमाण कम होता है।
(७) रक्त में श्वेत कणों की संख्या वृद्धि नहीं होती।	(७) श्वेतकणों की संख्या-वृद्धि होती है।
(८) पुनरावर्तन की प्रवृत्ति नहीं होती।	(८) पुनरावर्तन की प्रवृत्ति बहुत होती है।
(९) औपद्रविक सन्धिशोथ।	(९) यकृत् विद्रधि।
(१०) सम्पूर्ण उदर विभाग पर पीडना क्षमता।	(१०) उदर के दक्षिण भाग पर अधिक पीडनाक्षमता।
(११) कुन्थन अत्यन्त तीव्र होता है।	(११) कुन्थन विशेष नहीं होता।
(१२) दस्तों की संख्या अत्यधिक होती है।	(१२) दस्तों की संख्या बहुत कम होती है।
(१३) मल प्रत्येक समय अल्प प्रायःविष्ठारहित,अत्यन्त चिप-चिपा प्रतिक्रिया क्षारीय। अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर लालकणों की अल्पता, श्वेतकणों की अधिकता, जिसमें बहुकेन्द्रीय कण ८०	(१३) मल प्रत्येक समय में अधिक राशि में, बहुत चिप-चिपा नहीं, प्रतिक्रिया अम्ल, अणुवीक्षण यन्त्र से देखने पर समूह में मिलने वाले लाल कणों की अधिकता, श्वेत कणों तथा मैक्रोफेग की कमी,

प्रतिशत, मैक्रोफेग सेलों की अधिकता तथा अन्य जीवाणुओं की कमी ।

(१४) मृत्यु प्रायः क्षीणता और विषमयता से होती है ।

दूसरे जीवाणुओं की अधिकता, अमीवा और उनके सिष्ट की उपस्थिति ।

(१४) मृत्यु, आन्त्रच्छेद, आन्त्र से रक्तस्राव, यकृत् विद्रधि तथा क्षीणता के कारण होती है ।

लक्षण

कभी-कभी रोग प्रकाशित होने के पहले कई दिन से ही अनिर्दिष्ट सार्वाङ्गिक विकार और पाचन क्रिया मे विलक्षणता उत्पन्न हो जाती है । विशेषकर अग्निमाद्य, पिपासा, समान्यतया उदर में पीडा और उदरामय की प्रवणता लक्षित होती है । कभी-कभी रोग के आरम्भ में शीत लगता है । शरीर कांपने लगता है अथवा ज्वर के अन्यान्य लक्षण प्रकाशित होते हैं । अधिकांश स्थल मे रोग के आरम्भ मे अतिसार प्रकट होता है । दस्तों के पहले कुछ-कुछ उदर मे वेदना मालूम होती है और मल त्यागने के समय कुछ-कुछ कुन्थन होता है । अधिकतर मल त्यागने के बाद उदर मे बहुत पीडा होती है (यह पीडा मल त्यागने के पहले से आरम्भ हो जाती है) और दस्त आने के पहले बहुत पीड़ा होती है । प्रत्येक बार दस्त होने के समय अत्यन्त यंत्रणा और वेदना होती है । इसके साथ-साथ मूत्रकृच्छ्र हो जाता है । कुन्थन होने के कुछ काल बाद सामान्य परिमाण मे मलहीन श्लेष्मायुक्त श्वेत वा घूसर वर्ण अथवा कफ और रक्त मिश्रित पदार्थ अथवा विशुद्ध रक्त ही निकलता है । कभी-कभी श्लेष्मा अथवा श्लेष्मा और रक्त मिश्रित पिण्ड के साथ-साथ और मध्य-मध्य में कठिन मल की गाँठ निकल पडती है । दस्त होने के बाद रोगी को कुछ आराम मालूम होता है और उदर अथवा बृहदन्त्र के प्रदेश मे दबाने से, वेदना मालूम होती है । किन्तु शीघ्र ही फिर उदर मे ऐंठन होने लगती है । रोगी यंत्रणा से विह्वल हो जाता है, कभी-कभी ऐंठन असह्य हो जाती है । उसी समय और कुन्थन होकर दस्त में अधिक मल निकलता है । कभी-कभी

रोगी की यह अवस्था २४ घण्टे तक रहती है। उसमें २०-३० बार पाखाना जाना पड़ता है। यदि रोग के आरम्भ में ज्वर नहीं हो, तो रोग की प्रबलावस्था में यह उपस्थित हो जाता है। अन्त्र के मध्य में विकार की प्रक्रिया मृदु होने पर ज्वर प्रादाहिक स्वभावयुक्त होता है। नाड़ी पूर्ण द्रुतगामिनी और कठिन हो जाती है। रोग अत्यन्त प्रबल रूप से प्रकाशित होने पर रोगी शीघ्र ही दुर्बल हो जाता है और नाड़ी तीव्र गति से चलने लगती है।

सहवर्ती ज्वर की अवस्था के अनुसार प्रवाहिका को विभिन्न श्रेणी में विभक्त करते हैं। प्रादाहिक दौर्बल्यकर (एडिनेमिक) और पचन-कारक (प्यूट्रिड) अथवा टाइफस। रोग अति मृदु होने तथा ज्वर भी सामान्य होने पर शरीर से रक्त निकलने के कारण यंत्रणा और निद्रानाश के कारण रोगी शीघ्र ही क्षीण शीर्ण एवं रक्तहीन—मलीन वर्ण का हो जाता है। नाड़ी पहले पूर्ण रहती है, परन्तु; बाद में क्षीण हो जाती है। अत्यन्त मानसिक अवसन्नता, तेजो-विहीनता और स्फूर्तिरहित रोगी हो जाता है। कभी-कभी रोग के आरम्भ होने के बाद ४—८ दिन के अन्दर उदर में ऐंठन, कुत्थन आदि पीड़ाएँ कम हो जाती हैं और धीरे-धीरे रोग के लक्षण तिरोहित हो जाते हैं। जिस स्थल पर प्रथम सप्ताह के अन्त में और द्वितीय सप्ताह के आरम्भ में दस्त में पतला मल निकलता है, उस स्थल में भी अधिक मात्रा में रक्त की कमी हो जाने से रोग के अन्त में दौर्बल्य प्रायः चिरस्थायी हो जाता है और अन्त में इसमें सूजन उत्पन्न हो जाती है। रोग के प्रबल होने पर बार-बार दस्त होते हैं तथा उदर में ऐंठन सदा बनी रहती है जो कभी-कभी रोगी को असह्य हो जाती है।

उदर पर दबाने से अत्यन्त वेदना मालूम होती है। मल में रक्त मिला हुआ रहता है। उसमें फ्लाक्यूलाई और झिल्ली के टुकड़े निकलते हैं। कभी-कभी बड़े आकार के झिल्ली के टुकड़े मल में निकलते हैं और कभी-कभी प्रचुर परिमाण में रक्त ही निकलता है। इस प्रकार की प्रबल प्रवाहिका में मृदुगति वाली नाड़ी हो जाती है। दूसरे

प्रकार की प्रवाहिका में नाड़ी अपेक्षा से अधिकतर द्रुतगामिनी और पूर्ण रहती है। किन्तु, बाद में यह अत्यन्त द्रुतगामिनी हो जाती है। इसकी पूर्णता का शीघ्र ही ह्रास हो जाता है और अत्यधिक दैहिक विलक्षणता उपस्थित हो जाती है। यथा—क्षुधा का नाश, जिह्वा की शुष्कता और कायिक, मानसिक खिन्नता होकर रोगी प्रलाप करने लगता है।

यदि रोग शुभ क्रम का अनुसरण करता है, तो पूर्वोक्त लक्षण धीरे-धीरे शान्त हो जाते हैं और दस्त भी विलम्ब से आने लगने हैं। दस्त में मल, गुलाबी रंग का आने लगता है और रक्त, उपत्वक्, श्लेष्मा आदि कम हो जाते हैं। नाडी की अवस्था उन्नत हो जाती है। आर्द्र जिह्वा और मानसिक अवस्था भी ठीक होने लगती है। किन्तु रोग के अन्त में दुर्बलता चिरकाल तक रहती है। यदि रोग सांघातिक होता है, तो रोग के सब लक्षण तीव्र हो जाते है, और अन्त में मृत्यु हो जाती है। यदि रोगी की तरुणावस्था व्यतीत हो जाती है और रोग पुरातन आकार को धारण कर लेता है तो ज्वर छूट जाता है और अंत्र में क्षत होने के लक्षण पैदा हो जाते हैं। इस समय कभी-कभी दस्त होने लगता है; कभी-कभी विबन्ध हो जाता है और कभी-कभी ठीक-ठीक पाखाना होने लगता है। परन्तु मल में रक्त और श्लेष्मा मिला रहता है। कभी-कभी क्षतयुक्त श्लैष्मिक झिल्ली से सडा हुआ पानी के तुल्य मल निकलता है। रोगी अत्यन्त क्षीण हो जाता है। इस भाँति कई मास तक ऐसा कष्ट सहन करके देह का ह्रास और क्षीणता होकर शोथ हो जाता है और अन्त मे रोगी की मृत्यु हो जाती है। यदि रोगी के आन्त्र की श्लैष्मिक झिल्ली का क्षत सूख जाता है, तो आत्र की वृत्ति संकुचित हो जाती हैं जिससे आन्त्र के अवरोधक लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। इस दशा मे रोगी को कोष्ठ काठिन्य (कान्स्टिपेशन) का दु:ख चिरकाल तक भोगना पडता है।

दूषित प्रवाहिका (सेप्टिक डिसेन्ट्री)

इसमें मल दुर्गन्धयुक्त गुलाबी रंग का अथवा काला रंग का निकलता

है और साथ-साथ श्लैष्मिक झिल्ली के काले रंग के बड़े-बड़े टुकड़े निकलते हैं, नाड़ी क्षीण हो जाती है और दस्त संख्या में बहुत एवं पतले होते हैं। देह मे अत्यन्त जलन होती है। पतनावस्था (कोलैप्स) से ग्रस्त रोगी का मुख मलीन, स्थूल, मल से आवृत जिह्वा और मन में विह्वलता हो जाती है। उदर मे एठन, कुन्थन आदि रुक जाते हैं और अपने आप दस्त होने लगते हैं। रोगी को पता भी नहीं लगता है और मलद्वार के बाहर मल लगा रहता है। इस दशा में रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। रक्तस्राव होने लगता है और नासिका से भी रक्त निकलने लगता है। ऐसी प्रवाहिका साघातिक होती है।

प्रवाहिका के भेद

प्रवाहिका के पूर्व में वर्णन किये हुए प्रकार भेद से भिन्न लक्षण-विशेष की प्रबलता के अनुसार इसको विभिन्न श्रेणी में विभक्त किया जाता है।

(१) सामान्य कैटरेल, (२) डिफथिरिटिक्, (३) रक्तस्राव-संयुक्त (हेमोरेजिक्), यह ग्रीष्म प्रधान देश में देखी जाती है और इसमे अधिक मात्रा मे सांघातिक रक्तस्राव देखा जाता है। (४) गलित क्षत (गैंग्रिन), (५) एलजिड्—इसमे नाडी का स्पन्दन अत्यन्त क्षीण हो जाता है। मुखमण्डल नीले रंग का, कण्ठ-स्वर लुप्त, मूत्र-स्तम्भ और देह में शीतलता उपस्थित हो जाती है। यह रोग शीघ्र ही साघातिक हो जाता है। (६) वातिक प्रवाहिका—इसमें वायु के लक्षण वाली प्रवाहिका होती है। (७) पैत्तिक प्रवाहिका—इसमे पित्त का वमन, रक्तमिश्रित दस्त और पाण्डु रोग हो जाता है। (८) मलेरियल प्रवाहिका—इस प्रकार का प्रवाहिका मलेरियल प्रदेश मे होता है। अतः यह मलेरिया ज्वर के साथ-साथ अथवा बाद मे होता है।

बैसिलरी डिसेन्ट्री

इस प्रकार की डिसेन्ट्री सहसा प्रबल रूप से आक्रमण करती है। अधिकांश स्थल पर रोगारम्भ के पूर्व ही ज्वर प्रकाशित हो जाता है।

इसमें स्थूलान्त्र मे तीव्र शोथ उत्पन्न होकर कुन्थन (Tenesmus) और मरोड के साथ ऑव और रक्त मिले हुए दस्त आते हैं। इस रोग की प्रधान विकृति स्थूलान्त्र के अन्तिम हिस्से मे और कभी-कभी क्षुद्रान्त्र के अन्तिम १-२ फुट में होती है। बैसिलस आन्त्र में रह कर बढते हैं और उनका विष इकट्ठा होकर स्थानिक तथा सम्पूर्ण देह मे विकृतियाँ पैदा कर देती है। इसमे आन्त्रिक ज्वर के समान जीवाणु रक्त मे नहीं पहुचते, अधिक से अधिक आन्त्रिक निबन्धिनी की ग्रन्थियों तक जा सकते हैं। विष का स्थानिक परिणाम श्लेष्मल त्वचा पर सबसे अधिक और उपश्लेष्मल त्वचा पर कम होता है। बाकी दो स्तर बच जाते हैं। विष के कारण श्लेष्मल त्वचा तथा उसके नीचे रक्ताधिक्य और कोषाभरण होकर उससे उसके ऊपर फैब्रिनयुक्त शोथज स्राव की तह बन जाती है। फिर धीरे-धीरे श्लेष्मल त्वचा का नाश होने लगता है और व्रण बनने लगते हैं। कुछ विष आन्त्र से शोषित होकर सधिशोथ, नाड़ीशोथ, नेत्रविकार इत्यादि उपद्रव उत्पन्न करता है। संक्षेप मे इस रोग में विषमयता मुख्य है जो शिगा मे अधिक और फ्लेक्स्नर मे बहुत कम हुआ करता है। इसलिये फ्लेक्स्नर प्रवाहिका की अपेक्षा शिगीय प्रवाहिका अधिक तीव्र स्वरूप का और सन्धि शोथादि उपद्रवों से युक्त होता है।

अमीबिक डिसेन्ट्री

यह पेचिश प्राय: धीरे-धीरे प्रच्छन्न रूप से प्रकट होती है और पुरातन पीड़ा में परिणत हो जाती है। बीच-बीच मे कुछ शान्त होकर फिर प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। इस रोग में यकृत् मे भी स्फोट उत्पन्न हो जाता है। यह रोग ग्रीष्म-प्रधान देश मे अधिक होता है और नातिशीतोष्ण देश मे ग्रीष्मकाल मे प्रकट होता है। शेष उपरोक्त लक्षण होते हैं। भेदकारक लक्षण पहले वर्णन की हुई भेदक तालिका मे देखना चाहिये।

प्रवाहिका

(Dysentery)

परिचय—अधिक मात्रा में वात वर्धक पदार्थों के सेवन करने से वायु कुपित होकर कण्ठ में हृदय के बल से कुन्थन (कांखना) करता हुआ, शब्दयुक्त अपान वायु को गुदामार्ग से निकालता हुआ पुरीष युक्त संचित कफ को बार-बार थोड़ा-थोड़ा करके गुदामार्ग से निकालता है। इसको प्रवाहिका (पेचिश) कहते हैं।

यथोक्त भावप्रकाशे—

वायु प्रवृद्धो निचित बलासनुदत्यधस्तादहिताशनस्य।
प्रवाहतोऽल्प बहुशोमलाक्त प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञा॥

दोषभेद से लक्षण

वातजन्य प्रवाहिका में अधिक शूल होता है, पित्तजन्य में अधिक दाह होता है और कफज प्रवाहिका में अधिक कफ निकलता है। शोणित-जन्य प्रवाहिका जो रूक्ष और तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होती है, उसमें मलके साथ रक्त निकलता है।

यथोक्त भावप्रकाशे—

प्रवाहिका वातकृतासशूला पित्तात्सदाहा सकफाकफाच्च।
सशोणिता शोणित सम्भवा च ताः स्नेहरूक्ष प्रभवामतास्तु॥

चिकित्सा

निम्नलिखित उद्देश्य के लिये प्रवाहिका में चिकित्सा करनी चाहिये। (१) उपयुक्त उपायादि का अवलम्बन करके रोग के विस्तार का निवारण करना चाहिये। (२) रोगी के बल की रक्षा करें। (३) तरुण रोग में वेदना, मरोड़, आदि का शमन करना चाहिये। (४) शोथग्रस्त श्लैष्मिक झिल्ली में उग्रता न उत्पन्न हो; ऐसा उपाय करें। (५) स्थूलान्त्र से दुर्गन्धयुक्त मलादि को बाहर निकालें और उसके अन्दर पचनशील प्रक्रिया का दमन करें। (६) सूजन (कैटर) ग्रस्त,

और क्षतग्रस्त श्लैष्मिक-झिल्ली को ठीक रखनेवाली क्रिया की उन्नति करें। (७) रक्त में कोई विशेष मलेरियाजन्य अथवा. स्कार्विजन्य अप्रकृत सेप्टिक पदार्थ वर्तमान हो तो उसको नष्ट करें।

(८) वैसिलरी डिसेन्ट्री का प्रधान कारण वैसीलस डिसेन्ट्री नामक जीवाणु होता है और अमीबिक डिसेन्ट्री में एण्टेमीया हिस्टोलिटिका नामक जीवाणु होता है। उसको विनष्ट करने के उपाय का अवलम्बन करें।

(९) पानीय जल—पका कर देंवे। अथवा, उपयुक्त औषधियों द्वारा पकाकर छानकर देंवे। क्योंकि इसका विष जल के द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट होता है।

(१०) रोगग्रस्त व्यक्ति के मल से इस रोग का विस्तार होता है। अत त्यक्त मल को बडी सावधानी से संक्रमण नाशक औषधों को डाल कर अलग करना चाहिये।

(११) इस रोग में पथ्य निवार्चन ही प्रधान चिकित्सा है। अत. पथ्य की व्यवस्था उचित होनी चाहिये।

वैसिलरी डिसेन्ट्री में आहार की व्यवस्था

आहार सुपाच्य और द्रवाधिक्य होना चाहिये जिससे अन्त्र में मल की उत्पत्ति कम हो तथा प्रवाहिका जन्य द्रवापहरण की पूर्ति हो जावे। प्रारम्भ में दो-एक दिन लंघन कराना आवश्यक होता है। उस समय जल के सिवाय और कोई वस्तु न देवें। उसके बाद बार्लीवाटर (यवयूप) अलव्यूमिन वाटर, काँजी, एरोरूट, साबूदाना, नारियल का पानी, मस्तु, मट्ठा, चाय, काफी, मधु, ग्लूकोज, दुग्धशर्करा प्रभृति खाद्य द्रव २-२ घण्टे पर थोडी-थोडी मात्रा में देवें। इस रोग के प्रारम्भ में दूध का प्रयोग लाभकारक नहीं होता है। परन्तु मट्ठा बहुत लाभकारक होता है। पानी पर्याप्त मात्रा में देवें। फलों में मौसमी, मीठा सन्तरा, अनार, केला, बेल का फल, सेब आदि अच्छे हैं। कोई-कोई चिकित्सक फ्लेक्सनर के उपसर्ग में प्रोटीन भूयिष्ठ और शिगा के उपसर्ग में कार्वोहाईड्रेट भूयिष्ठ आहार लाभदायक मानते हैं। इसके सिवाय विटामिन बी० सी० युक्त खाद्य द्रव भी हितकर होते हैं।

यथोक्तम् सुश्रुते—

तत्र लंघनमेवादौ पूर्वरूपेषु देहिनाम् ।
तत्र पाचन संयुक्तो यवाग्वादि क्रमोहित. ॥
युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षाम लघून्यन्नानिभोजयेत् ।
तथा स शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निवल बलम् ॥
तक्रेणा वन्तिसोमेन यवाग्वातर्पणेन वा ।
सुरया मधुना चादौ यथा सात्म्यमुपाचरेत् ॥
यवागूभिर्विलेपीभि. खडै: यूषै· रसोदनै· ।
दीपन ग्राहि संयुक्तै क्रमश्च स्याद्भम· परम् ॥

(चरक)

औषध-चिकित्सा

विरेचक-चिकित्सा—इसके लिये सोडियम अथवा मैग्नेशियम सल्फेट १ ड्राम की मात्रा मे प्रथम दिन २-२ घण्टे के बाद आधा प्याला जल के साथ देवें। दूसरे दिन ४-४ घण्टे के अन्तर से देवें। इससे रोग के मुख्य लक्षण ज्वर, उदरपीडा, प्रवाहण आदि कम हो जाते हैं। इस प्रकार के विरेचन से वैसिलरी प्रवाहिका मे बहुत लाभ होता है। यदि रोग के प्रारम्भ में व्रणोत्पत्ति के पूर्व इसका उपयोग किया जाए तो बहुत लाभ होता है। सल्फाड्रग्स (शुल्वौषधियाँ) और प्रतिविष लसीका के उत्पत्ति के प्रथम केवल विरेचन से वैसीलरी प्रवाहिका की चिकित्सा की जाती थी। अब इस चिकित्सा का उपयोग सौम्य प्रकारों के लिये किया जाता है। तीव्र और विषमय प्रकारों मे तथा अत्यन्त द्रवापहृत रोगियों मे प्रारम्भ मे एक बार विरेचन देकर इसको बन्द कर देना चाहिये। इसके लिये शुद्ध एरण्ड तेल (कास्टरवाइल) बहुत उत्तम है। अन्य प्रभावजन्य औषध भी देवें।

प्रतिविष-चिकित्सा

प्रवाहिकान्तक लसीका—शिगा और फ्लेक्सनर दोनों के लिये लसीका होती है। परन्तु फ्लेक्सनर प्रवाहिका सौम्य होने से तथा सल्फाड्रग्स

की ओषधियों का उपयोग होने से अब लसीका का प्रयोग केवल विषमय शिगा प्रवाहिका में ही किया जाता है। यह प्रतिविष लसीका है। पोप की विशेष पद्धति से बनाई हुई लसीका ५-१० सी० सी० (पचास हजार से एक लाख तक) की मात्रा में ५ प्रतिशत ग्लूकोज के साथ और लवण जल १० औंस के साथ सिरा में देवें। दूसरे दिन आवश्यक हो, तो ५०००० यूनिट की मात्रा से फिर उसी प्रकार देवें।

इस भाँति दो-तीन बार देने से बहुत लाभ होता है। बच्चों में इसका उपयोग पर्युदरान्तर्य (Intia Peritioneal) मार्ग से करना चाहिये। शिगा की लसीका वीर्यशाली और फ्लेक्स्नर की मध्यम गुणकारी होती है और सोने के लिये लसीका ही नहीं होती है। ये लसीका प्रत्येक प्रकार के बैसिलसों के लिये स्वतन्त्र या मिश्रित रूप से मिलती है। जहाँ तक हो सके स्वतन्त्र का ही उपयोग करें। शिगा प्रवाहिका में लसीका के साथ शुल्वौपधियों का उपयोग करने से अतीव लाभ होता है। आजकल शुल्वौपधियों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। क्योंकि लसीकाओं की मूल्य अधिक और लाभ अस्थायी होने से इसका प्रचार कम हो रहा है।

विषाधिचूषकोपक्रम

इसके लिये केओलिन और ओस्मोकेओलिन (Kaolin and osmokaolin) का उपयोग किया जाता है। ये एक प्रकार की मृत्तिकायें होती हैं जिनमें बेक्टेरियाजन्य अथवा अन्य विषों का अधिचूषण करने का गुण होता है। इनके उपयोग से विषहरण होकर विषमयता अल्प हो जाती है। इनमें उपसर्ग नाशक गुण नहीं है। दो तोला औषध एक प्यालाभर पानी में डालकर दिन में कई बार देवें अथवा १॥ सेर जल में आधा सेर औषध डालकर वह पानी रोगी के समीप में रख देवें। रोगी उसको थोड़ा-थोड़ा करके बार-बार पीता रहे। इसमें कुछ ग्राही गुण होता है जिससे विषापहरण के साथ पुनर्निसरण भी कम हो जाता है।

बैक्टेरिया के भक्षण का उपक्रम (Bacteriophage)

बैक्टेरियो फैज की ३-४ सी० सी० मात्रा ५ रत्ती सोडावायकार्ब मिश्रित शीतल क्षरीय जल के साथ ३-३ घण्टे के अन्तर से दी जाती है। गुदा द्वारा भी इसका उपयोग कर सकते है।

रोग के प्रारम्भ मे इसका उपयोग कर। इस औषध मे यह दोष है कि यह कभी लाभ करती और कभी नहीं करती है। अतः इसके प्रयोग के साथ मुख द्वारा अन्य औषधियों का उपयोग बन्द कर देव। एक-दो दिन मे इससे लाभ न होवे, तो इसको बन्द कर देवें।

बैक्टेरियास्थापक चिकित्सा

सल्फाग्वानीडीन की मात्रा प्रथम दिन ११ सेर शरीर के भार के पीछे १ ग्राम है। दूसरे दिन से जब तक प्रतिदिन दस्तों की संख्या ५ से अधिक होती है, तब तक आधा ग्राम प्रत्येक चार घण्टे पर होती है। उसके बाद मल की आकृति और मलत्याग की सख्या स्वाभाविक होने के दिन तक आधा ग्राम मात्रा प्रति आठ घण्टे के बाद दी जाती है। किसी भी दशा मे १५ दिन से अधिक चिकित्सा की अवधि न हो। यदि आवश्यक हो तो फिर से ओषधि दी जा सकती है।

उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार १ मन ३५ सेर के वजन वाले युवा व्यक्ति के लिये प्रथम दिन २८ ग्राम मात्रा होगी और दूसरे दिन से १४ ग्राम मात्रा दो-चार दिन तक दी जावेगी। सामान्यतया देखा जाता है कि तीव्र रोग में १००-२०० ग्राम औसत १३० ग्राम मात्रा की आवश्यकता होती है। मध्यम रोग मे प्रथम दिन १७ ग्राम और दूसरे दिन से पॉच दिन तक ९ ग्राम, मात्रा प्रतिदिन मात्रा पर्याप्त होती है।

औषध से लाभ—इससे द्रवापहरण, विषमयता, मलत्याग की अधिक संख्या, निपात, विसूचिका के तुल्य दस्त प्रभृति तीव्र लक्षण वाले शिगा प्रवाहिका मे—चालीस वर्ष से अधिक अवस्था वाले रोगी में तथा अन्य रोगों मे उपद्रव के रूप मे उत्पन्न होने वाली प्रवाहिका मे प्रयुक्त करनी चाहिये।

सक्सीनिल सल्फाथायोजोल—इसकी दैनिक राशि १० ग्राम होती है जो ५ समान मात्रा मे विभक्त करके दी जाती है।

उपयोग—यह औषध तीव्र तथा चिरकारी दोनों प्रकार के शिगा-प्रवाहिका मे, विशेष करके वालकों मे पूर्वोक्त औषध की अपेक्षा अधिक प्रभावजनक है। इसके सिवाय, सोने की प्रवाहिका मे भी फायदा करती है।

थायाजोल (M B)

थायाज़ोल की मात्रा आधा ग्राम प्रति चार घण्टे के अन्तर से दो दिन (दैनिक मात्रा ३ ग्राम) तक, उसके वाद प्रति आठ घण्टे के बाद प्रवाहिका वन्द होने तक अथवा ७ दिन तक देवें।

लाभ—यह औषध तीनों दण्डाणुओं में, विशेष करके फ्लेक्शर की प्रवाहिका मे लाभ करती है।

सावधानता

प्रवाहिका मे यह ध्यान रखना चाहिये कि जो औषध मलावरोध करती है; वह औषध विषावरोध भी करती है जिससे विष आन्त्र की श्लैष्मिक-कला का तथा रक्त में प्रविष्ट होकर शरीर के मर्माङ्गों का नाश करती है। अत' अवरोधक औषध का या अवरोधक मात्रा मे विस्मथ, केओलिन प्रभृति का प्रयोग नही करना चाहिये इस सिद्धान्त से अफीम भी हानिकारक होती है।

वेदना नाशक औषध

यदि वेदनानाश और निद्रा के लिये औषध की आवश्यकता हो, तो मार्फिया $\frac{1}{4}$ ग्रेन, अट्रोपिन $\frac{1}{100}$ ग्रेन के साथ देव।

लाक्षणिक चिकित्सा

उदर में पीडा, प्रवाहण आदि उपस्थित होने पर रवड की थैली मे गरम पानी और तारपीन का तेल भर कर उदर पर रखना चाहिये। अथवा एरण्ड तेल गरम करके उदर पर मालिश करके सेकना चाहिये।

गुह्यवर्ति-प्रयोग

मर्फिया अथवा कोकेन की गुदवर्ती का प्रयोग करें।

अतिवल लवणजल-प्रयोग

जब रोग तीव्र वा अति तीव्र होता है अथवा विसूचिका के समान दस्त होते हैं; तब अतिवल लवणजल (Hypertonic Saline) १-२ प्वाइन्ट सिरा द्वारा या पेशी मे देनी चाहिये। लसीका के साथ एक पाइन्ट लवण जल मिलाकर दे सकते हैं। यदि अवसाद अधिक हो तो उसी मे ग्लूकोज १ औंस तथा एड्रेनलीन (१ :: १००० का आधा सी० सी०) मिलाकर देना उचित है। इससे द्रवनाश की पूर्ति होकर जलगतलवण विष के साथ मिलकर उसको वृक्क के द्वारा निकालने में सहायता देता है।

पुरातन प्रवाहिका की चिकित्सा

इसमे तीव्र रोग के समान 'सल्फाग्वानीडीन' का प्रयोग किया जाता है। इसके सिवाय ईसबगोल तथा इन्द्रजव (आयुर्वेद-चिकित्सा प्रकरणोक्त) और बिस्मथ के प्रयोग से भी कुछ लाभ होता है।

वस्ति-प्रयोग—आजकल सल्फाग्वानीडीन भी वस्ति के स्वरूप मे प्रतिदिन ७-४ ग्राम २०-२५ तोले पानी में मिलाकर दी जाती है अथवा निम्न लिखित वस्ति का प्रयोग करें। यथा—सिल्वरनैट्रेट, अल्वार्गिन, पोटार्गल, परमैंगनेट, एवं कापर सल्फेट (नीलाथोथा)।

विधि—एक औंस पानी मे १ ग्रेन के हिसाव से प्रयुक्त होते हैं। इनमे चांदी के लवण (प्रथम तीन) श्रेष्ठ और ताम्र के मध्य हैं। पहले दिन की रात्रि को कास्टर आयल देवें। दूसरे दिन ओषधि की वस्ति देने से पूर्व क्षारीय जल से गुदा और मलाशय का प्रक्षालन करे।

क्षारजल विधि—६० ग्रेन सोडावायकार्व १ प्वाइन्ट जल मे घोल देवें, इसके वाद दक्षिणपार्श्व अथवा जानुकूर्पासन (नीइल्वोपोजीशन) पर लेटे हुए रोगी के मलाशय मे मृदु रवड़ की नलिका प्रविष्ट कर फनेल (Funnel) की सहायता से १००° फा० तक गरम किया हुआ १-२

प्वाइन्ट तक औषध का घोल २ फुट की ऊंचाई से धीरे-धीरे प्रविष्ट करें और आतुर भी उस घोल को जितनी देर तक रख सके, उतनी देर तक अर्थात् ३-४ घण्टे तक रखे। गुदा वा मलाशय मे प्रक्षोभ के कारण यदि नलिका प्रवेश अथवा घोल रखने मे पीडा हो, तो आध घण्टे पहले, मर्फिया अथवा कोकेन की गुह्यवर्ती का प्रयोग करें। इस प्रकार आरम्भ मे प्रति दिन एक बार और सुधार होने पर मध्य मे अधिक समय त्याग करके आंत्र प्रक्षालन करते रहे और उत्तरोत्तर घोल की शक्ति की भी शनैः-शनैः वृद्धि करनी चाहिये।

वैक्सीन-प्रयोग

इस रोग मे जहाँ तक सम्भव हो सके आत्मजनित वैक्सीन का प्रयोग करें। इसके अभाव मे वहूद्भव सग्रहीत वैक्सीन का प्रयोग करें।

प्रारम्भ में इसकी मात्रा अल्प (२-५ करोड) देवे, फिर धीरे-धीरे ७५-५० करोड़ तक वृद्धि करें।

वैक्टेरियोफेज—कभी-कभी इसके प्रयोग से अतीव लाभ होता है।

शस्त्र-चिकित्सा—जब पूर्वोक्त चिकित्सा से लाभ न हो, तब शस्त्र-(शल्यतन्त्रोक्त) चिकित्सा करें।

पथ्य-व्यवस्था

पूर्वोक्त पथ्य का सेवन करें। गरिष्ठ और गरम मसाले की वस्तुएँ त्याज्य है। विशेष करके दूध, तक्र, अण्डा, मांस-रस, फल तथा प्रोटीन और विटामिन बी० सी० प्रभृति लाभदायक है। इसमे सेव बहुत लाभ करता है। इसलिये सेव को छीलकर पीसकर उचित मात्रा में खिलावें। आजकल एप्लोना (Aplona) नामक इसका चूर्ण मिलता है। परन्तु, इसके साथ शर्करा कर प्रयोग न करें।

पुनरावर्तक प्रतिषेध

इस रोग मे पुनरावर्तन का भय रहता है। अतः आहार-विहार की ओर ध्यान देकर इसका सेवन करें। शरीर का तापांश ९९ डिग्री से जरा भी अधिक हो जावे तो रोग को निःशेष न समझें। ऐसे समय आहार को

बढाने की कोशिश न कर उसको और हल्का करके शारीरिक ताप को ठीक रक्खे। इसके लिये सेव, पपीता, बेल, तक्र एवं विटामिन बी० सी० युक्त फल और शाक विशेष लाभदायक होते है।

विबन्ध प्रतीकार—मलावरोध होने पर लिकिड पैराफीन, एगेरोल ईसबगोल प्रभृति मृदुसारक औषधों का प्रयोग करे।

वलकारक औषध-प्रयोग—लौह प्रयोग, यकृत्, बेरिन और सीलिन प्रभृति लाभकारक हैं। कम से कम ६ मास तक आहार-विहार पर नियत्रण करें।

मिश्रित प्रयोग

प्रवाहिकीय दण्डाणुओं के वैक्सीन की प्रतिक्रिया बहुत तीव्र होती है। अत. इसका उपयोग बहुत कम किया जाता है। वर्तमान काल मे प्रतिविष लसीका के साथ वैक्सीन (Sero Vaccine) का व्यवहार किया जाता है। इसमे $\frac{1}{10}$ सी० सी० लसीका के साथ $\frac{1}{4}$ सी० सी० वैक्सीन (५० करोड़ दण्डाणु) की प्रथम सूची प्रयुक्त होती है। दस दिन के पश्चात् $\frac{1}{4}$ सी० सी० लसीका के साथ $\frac{1}{2}$ सी० सी० वैक्सीन की द्वितीय सूची प्रयुक्त होती है। इसके सिवाय फार्मेलिन युक्त वैक्सीन का भी उपयोग किया जाता है। इससे ६ मास तक रोग प्रतिरोधक क्षमता उपस्थित रहती है।

बिली वैक्सीन

इसका मुख से उपयोग होता है। मात्रा १ गोली प्रति दिन देवें। तीन दिन तक इसका प्रयोग करें। इससे स्थानिक क्षमता उत्पन्न होकर इसके जीवाणु अंतडी मे विकार नहीं पैदा कर सकते हैं।

अमीबिक प्रवाहिका की चिकित्सा

पथ्य निर्वाचन—इस रोग मे पथ्य-निर्वाचन प्रधान चिकित्सा है। अत. लघु, सुपाच्य द्रवभूयिष्ठ आहार देना चाहिये जिससे अन्त्र मे मल कम उत्पन्न होवे और अन्त्र को आराम मिले। इसके साथ आहार की उचित मात्रा होनी चाहिये जिससे रोगी क्षीण न होवे और साथ ही रोग बलवान न होने पावे। परिश्रुत जल, छाना हुआ जल अथवा

अर्कसौंफ पीने के लिये पर्याप्त परिमाण मे देवे। प्रथम दिन यव का यूष काजी, दुग्ध, तक्र, ग्लुकोज, अल्व्यूमिन वाटर, अनार का रस प्रभृति देवें। नत्रजनयुक्त पदार्थों का कम सेवन करें। इस रोग मे क्षीर श्रेष्ठ पथ्य है। इसका कारण यह है कि इससे मल की प्रतिक्रिया अधिक अम्ल होती है जिससे इसके जीवाणु अन्त्र मे उचित रूप से नहीं वढ सकते है। वालक क्षीरपायी होते हैं, अत. वालकों मे यह रोग कम होता है। जिन रोगियों को दूध नहीं पचता है उनको दूध मे चूने का जल, यवयूप (वार्लीवाटर) सोडियम सैट्रेट, सोडावायकार्व प्रभृति मिलाकर देवें। जिनको दूध अनुकूल न होवे उनको तक्र देना चाहिये। यह अतिसार मे वहुत लाभदायक होता है।

यथोक्तं चरके—

तक्रं तु ग्रहणी दोषे दीपने ग्राहि लाघवात्।
श्रेष्ठ मधुर पाकित्वान्न च पित्त प्रकोपयेत्॥
कषायोष्ण विकासित्वाद् रौक्ष्याच्चैव कफे मतम्।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि यत्॥
तस्मात् तक्र प्रयोगा ये जठराणा तथाऽर्शसाम्।
विहिता ग्रहणी दोषे सर्वशस्ताञ् प्रयोजयेत्॥

जिन रोगियों मे सौम्यावस्था अथवा चिरकालिकावस्था होवे उनके लिये भोजन मे अधिक नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है। उनको पतली खिचड़ी या गीला भात, सावूदाना, एरोरुट, पका केला, पपीता, वेल आदि देना चाहिये।

औषध-व्यवस्था

सवसे प्रथम रोगी के शय्या की उचित व्यवस्था करे। रोगी की प्रकृति विक्षिप्त होने और पीडा शैत्य से हुई ज्ञात होने पर कोई-कोई चिकित्सक उष्णवाष्प स्नान कराने का आदेश देते हैं। औषध-प्रयोग करने के पहले कोष्ठशुद्धि के लिये एरण्डतेल देना चाहिये। सव आचार्यों के मत से एपिकाक इस रोग की अमोघ औषध है। डॉ० रोवार्ट्स

और मैकलिन निम्नलिखित उपाय की विशेष प्रशंसा करते हैं। जल के साथ ४ से ३० ग्रेन एपीकाक चूर्ण और जम्बीर रस का शर्बत मिलाकर देवें। इसके बाद रोगी को पूर्ण विश्राम करावें और तीन घण्टे के अन्दर किसी प्रकार का तरल द्रव्य सेवन करने के लिये न देवें। अगर इसके बीच मे तृष्णा लगे, तो बरफ का टुकड़ा चूसने के लिये देवें। आठ-दश घण्टे के मध्य अल्पमात्रा से और एक बार एपिकाक दे देवें। प्रथम मात्रा का फलाफल देखकर सम्पूर्ण लक्षणों की अवस्था का पर्यवेक्षण कर। यदि द्वितीय मात्रा की आवश्यकता होवे तो देवें। इसी भाँति प्रयोजन होने पर, तृतीय और चतुर्थ मात्रा भी दे सकते हैं। डा० रोवार्ट कहते हैं—कुछ दिन के अन्तर से इस रूप की अल्प मात्रा से एपीकाक् की आवश्यकता होती है। अतिसार स्वाभाविक होने पर दो-एक दिन रात्रि मे शयन करने के समय १० अथवा १२ ग्रेन की मात्रा मे देना चाहिये। कोई-कोई चिकित्सक कहते हैं कि थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे कई बार देना चाहिये। क्योंकि अधिक मात्रा में औपध प्रयोग करने पर अनिष्ट होने की संभावना रहती है। इस रोग में अनेक औपधिया प्रयुक्त होती है। कार्य के अनुसार उनकी निम्नलिखित श्रेणियाँ की जाती हैं।

(१) **एपीक्या और कुटजवर्ग**—इसमे मुख्यतया एमेटीन और कोनेसाइन नामक वनस्पतियों के क्षाराभ (अल्कलाइड) आते हैं। इसके अतिरिक्त इनके चूर्ण, द्रवनि'सार (Extract) प्रभृति अन्य योग भी आते हैं। इस वर्ग की ओपधियाँ प्रधानतया अमीविकियों की औद्भिदावस्था (Motile Vegetative Stage) का ध्वंसक होती है।

(२) **आयोडीनयुक्त ओपधियो का वर्ग**—इसमे मुख्यतया यािद्रन (चीनियोफान, किनोक्सिल) एन्द्रोवायोफार्म (वायोफार्म) और एन्टरोझोल—ये औपधियाँ आती हैं। ये अमीबानाशन के साथ गौण उपसर्ग नाशन और व्रणरोपण मे सहायता देती है।

(३) **प्रथम दो वर्गों की सयुक्त ओपधियाँ**—इसमे एमेटीन विस्मथ, आयोडाइड, कुर्ची विस्मथ आयोडाइड और एमेटीन पर आयोडाइड—

ये ओषधियाँ आती है। इनमे प्रथम दोनों वर्गों का संयुक्त गुण होता है।

(४) नेपालीयोग (Arsenicals)—इसमे स्टोवार्सल, कार्वासोन, अमीची आर्सन, स्पायरोसीड प्रभृति नैपाली के योग आते हैं। ये योग कोष्ठ तथा कोष्ठपूर्व अवस्थाओं पर भी कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त ये वलकारक होते हैं।

(५) गौण उपसर्ग नाशक वर्ग—इसमे अटोवैक्सीन, पेन्सीलीन और सल्फाड्रग्ज आते हैं। इनका उपयोग प्रायः अन्य उपसर्ग नाशक होता है।

(६) सहायक ओषधियां—यथा यकृत्, विटामिन्स, ग्लूकोज, लवण-जल, बिस्मथ, बेलाडोना, अफीम, बेल, ईसबगोल, केयोलिन्, लोह प्रभृति है।

एमेटीन के गुण-दोष का विवेचन

एमेटीन (Emetine) औद्भिदावस्था के अमीविकों को नाश करने वाली ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। एपिकाकुआना (Ipecacuanha) अथवा ब्राजील देश की जडी नामक वनस्पति का यह क्षाराभ (अल्कलाइड) है। इस वनस्पति मे अन्य तीन क्षाराभ होते है। परन्तु उपरोक्त दोनों ओषधियों मे यह गुण नहीं है।

उपयोग—त्वचा के नीचे या पेशी मे सूचिकाभरण से आधा ग्रेन से १ ग्रेन की मात्रा में २४ घण्टे मे प्रयुक्त होती है। सिरा में इसका प्रयोग कदापि न करना चाहिये।

गुणदोष—यह औद्भिदावस्था के अमीविकों पर विनाश का कार्य करती है। परन्तु उनके कोष्ठों या कोष्ठपूर्व अवस्था पर इसका विशेष प्रभाव नहीं होता है।

मुखद्वारा—एमेटीन के सेवन करने पर, हृल्लास, वमन प्रभृति पचन संस्थान मे प्रक्षोभक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

सचयात्मक—यह औषध सचयात्मक है जो शरीर से जल्दी उत्सर्गित न होकर सचित रहती है।

विषात्मक—यह अत्यन्त विषमय औषध है जो पचनसंस्थान की विकृतियाँ यथा—हृल्लास, वमन, उदरपीड़ा और प्रवाहिका उत्पन्न करती है, पेशी सन्धियों मे वातज रोगों को उत्पन्न करती है। हृदय-दौर्बल्य, नाडी की गति मे अनियमितता, रक्तभार की अल्पता और रक्त-सचालन संस्थान मे अनेक विकृतियां उत्पन्न करती हैं। वस्तुतः यह अत्यन्त अवसादक और विषमय औषध है। इसका विशेष प्रभाव हृदय पर पडता है।

एमेटीनवटिका-प्रयोग

वर्तमान समय में एमेटीन डिब्बियों में भर कर अथवा आन्त्रयोज्य आवेष्टनयुक्त (इन्टेरिक कोटेड) स्थिति में मुख से प्रयुक्त की जाती है।

मात्रा—२ गोलिया (३ ग्रेन की एक गोली होती है) दिन में तीन बार, १२ दिन तक लगातार दी जाती है। कुल मात्रा २४ ग्रेन की है। बालकों के लिये आधी मात्रा का प्रयोग करे।

एमेटीन सेवन के समय सावधानता

औषध-सेवन काल मे रोगी को शय्या पर आराम से रखना आवश्यक है। ऐसे समय नाड़ी की गति पर ध्यान देना चाहिये साथ ही उसको नोट भी करते रहना चाहिये। यदि हृदय मे धडकन और तेजी मालूम होवे तो हृदय पूर्ववत होने तक औषध बन्द कर देवें। इसके सेवन करने के समय परिश्रम करने से इसका अवसादक प्रभाव बढ़ता है। इसके साथ स्ट्रिकनीन देने से तथा पूर्ण आराम से इसका अवसादक दोष अल्प होता है।

एक अहोरात्र अर्थात् २४ घण्टे में १ ग्रेन से अधिक मात्रा कभी भी नहीं देनी चाहिये। साधारण अवस्था मे लगातार १२ ग्रेन से, और हानिकारक अवस्था मे १५ ग्रेन से अधिक मात्रा कभी भी न देवें। साधारणतया ६-९ ग्रेन मे ही काम हो जाता है। यदि कुछ दोष अवशिष्ट रह जावे तो दो-तीन सप्ताह के बाद कुछ सूचिकाभरण फिर

दे सकते हैं। इसका अत्यन्त विषमय होने से सूचीवेध के स्थान पर धातुनाशक परिणाम होता है तथा साथ ही पीड़ा भी उत्पन्न होती है। अतः प्रतिदिन एक ही स्थान पर सूई नहीं लगानी चाहिये। उपत्वचा की सूई की अपेक्षा पेशी की सूई से वेदना तथा धातुनाश अल्प रूप मे होता है। इसलिये पेशी में ही सूई देनी चाहिये। इसके लिये असपिण्डिका पेशी उत्तम है जिसमें एक दिन का अन्तर देकर सूची का प्रयोग कर सकते हैं। मलेरियाज्वर, इन्फ्लुएन्ज़ा एवं डिफ्थेरिया प्रभृति से जिनका हृदय दुर्बल हो और जो प्रथम से ही, हृद्रोग तथा वृक्क रोग से पीडित हों, उनमे बडी सावधानी से और अल्प मात्रा मे इसका प्रयोग करे।

एमेटीन का प्रभाव

जब अमीबा मल मे अथवा अन्त्रनलिका मे स्वतन्त्र होते हैं तब उनके ऊपर एमेटीन का कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिये उसके साथ मुख द्वारा—कुटज, इन्द्रजव, यात्रीन स्टोवार्सल एवं एपीकाकुआन्हा का चूर्ण या विस्मथ देना चाहिये।

एमेटीन के उत्तम परिणाम का समय

जिस समय रक्त और अन्त्र मे रहने वाली द्रव्यों की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है उस समय इसका उत्तम परिणाम होता है। क्षारीयतावर्धक द्रव्यों में विस्मथ कार्बोनेट सर्वश्रेष्ठ है। अतः इसका उपयोग एमेटीन के साथ परन्तु उसकी सूची प्रयोग के पहले दो घण्टे तक करना चाहिये। प्रतिक्रिया के समय तक विस्मथ का परिणाम अंत्र तथा रक्त पर होकर वे क्षारीय बन जाते हैं। यदि पुनः इसके प्रयोग की आवश्यकता हो तो १-३ महीने के बाद इसका उपयोग पहले के समान कर सकते हैं। इसका उपयोग गर्भवती स्त्रियों में भी कर सकते हैं। आर्तव प्रवृत्ति के समय इसका प्रयोग नहीं करें। परन्तु संकट कालिक अवस्था में ऐसे समय में भी प्रयोग कर सकते हैं।

कोष्ठों के ऊपर एमेटीन का प्रभाव

एमेटीन से कोष्ठों (Cysts) का नाश नहीं होता है। और उनका पूर्ण विनाश करने के समय तक इसका लगातार प्रयोग भी क नहीं

सकते हैं। अतः इसका क्रम पूर्ण करने के पश्चात् कुटज, पाट्रीन, स्टोवार्सल, एमेटीन विस्मथ आयोडाइड (E. B. I), कुर्ची विस्मथ आयोडाइड, इनमे से किसी एक के द्वारा अनुसारी चिकित्सा करनी चाहिये।

अमीबिक प्रवाहिका में कुटज-प्रयोग का महत्व

आयुर्वेद शास्त्र मे कुटज का अतिसार के सब प्रकार के भेदों के विनाश करने की अपूर्व शक्ति का वर्णन है। इसमें अतिसार नाश करने के साथ-साथ और भी गुण है। यथा—अग्निदीपक, पाचक, ज्वरनाशक प्रभृति। इसलिये पचन-संस्थान के सब विकारों को नाश करने के लिये यह प्रयुक्त होता है। इसके आर्द्र वल्कल के प्रयोग करने का बडा महत्त्व है। इसका उपयोग पुटपाक, अवलेह, क्वाथ, चूर्ण, सत्त्व प्रभृति विविध रूपों में किया जाता है जिनका वर्णन आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रकरण मे किया जायगा। यहा पर एलोपैथिक योगों का वर्णन किया जाता है।

यथोक्तम् कैयदेवनिघण्टौ—

कुटजः शीतलो रूक्ष. कषायोद्दीपनः कटु.।
कफपित्तास्रतृट् कुष्ठ जन्त्वामार्शोऽतिसारहा॥
दीपन पाचन कुष्ठज्वर वीसर्प शूलनुत्।
गुदकीलक वातास्र श्रमलोहित नाशनम्॥

एलोपैथिक कुटज योग—इसमे कोनेसाइन (Connessine), कुर्चीसाइन (Curchicine) और कुर्चीन (Kurchine) नामक तीन क्षाराभ होते हैं। छाल मे इनका प्रमाण १०५ प्रतिशत और बीज मे अत्यल्प ०·०२५ प्रतिशत होता है। इनमें कोनेसाइन का कार्य एमेटीन के बराबर होता है। परन्तु यह देखा जाता है कि अकेले कोनेसाइन की अपेक्षा सब क्षाराभ (अलकलाइड्स) अधिक लाभकारक होते हैं। कुटज का प्रयोग चूर्ण की गोलियों, प्रवाही सत्त्व और कोनेसाइन नामक क्षाराभ मे या सम्पूर्ण अल्कलाइड्स (Total Alkaloids) मे किया

जाता है। चूर्ण और प्रवाही सत्त्व का प्रयोग मुख द्वारा किया जाता है। चूर्ण की मात्रा ३० रत्ती और सत्त्व की मात्रा १-२ ड्राम होती है।

सूचिकाभरण-प्रयोग

कोनेसाइन और पूर्ण अल्कलाइड्स उपत्वचा या पेशी मे सूचिका-भरण से १-२ ग्रेन की मात्रा मे दिये जाते हैं। इञ्जेक्शन एमेटीन के समान सामान्य रूप से १० दिन तक क्रमश. दिये जाते हैं। चूर्ण और पीने की औषध एमेटीन इञ्जेक्शन के साथ दी जाती है। इञ्जेक्शन का क्रम समाप्त होने पर भी कुछ दिन तक इनको देते रहना चाहिये। इञ्जेक्शन द्वारा दी हुई ओषधि एमेटीन के तुल्य तत्काल लाभ करती है और रोग की तीव्रता को कम कर देती है। इसके अलकलाइड्स मुख द्वारा भी दिये जा सकते हैं। मुख द्वारा दी हुई ओषधि कार्य करने मे एमेटीन से कुछ कम लाभ करती है। परन्तु उसके परिणाम स्थायी होते हैं। वस्तुत कुटज एपिकाकुआना के समान कार्य करनेवाली औषध है। परन्तु कुटज मे एपिकाकुआना के समान दोष नहीं होते हैं।

एमेटीन और कुटज के गुण-दोषों का विवेचन

एमेटीन अत्यन्त विषैली, अवसादक, आमाशयान्त्र क्षोभक, संचार्य, अतिमूल्यवाली और पीडादायक औषध है जो केवल अमीबिक प्रवाहिका की नवीनावस्था मे सफल होती है। अत जहांतक सभव हो इसका प्रयोग न करें। प्रयोग करने के समय बड़ी सावधानी से काम लेवें। कुटज निर्विष और निरवसादक, आमाशयादि मे अक्षोभक, असंचार्य, सस्ता, पीड़ा न करने वाला, नवीन-प्राचीन एवं सज्वर-निर्ज्वर सब प्रकार की प्रवाहिका मे लाभकारक है। रोगी अपनी इच्छानुसार मुख अथवा इञ्जेक्शन द्वारा सेवन कर सकता है।

बाजार में बिकनेवाली कुटज की ओषधियाँ

कुटज शब्द को हिन्दी भाषा में कुडा या कोरैया कहते हैं। परन्तु बंगाली भाषा मे इसको कुर्ची (Kurchi) कहते हैं। अंग्रेजी भाषा मे भी इसी नाम से रूढ़ हो गया है। अत कुर्ची के नाम से इसकी ओषधियाँ

मिलती हैं। यथा—कुर्चीसोल वङ्गालकेमिकल, कुर्चीलोइड यूनियन ड्रग, क० Kurchidin Tablets Dr. Bose's Laboratory, Kurchi Bark Extract, Burrugh, Wellcome and co. प्रभृति मिलती है। इनमें विशेष गुण यह है कि इनमें कुल क्षाराभों की मात्रा निश्चित रहती है।

(१) एमेटीन विस्मथ आयोडायड (Emetine Bismuth Iodide) *उपयोग का समय—रोग पुराना होने पर जब अमीवा कोष्ठ मे परिवर्तित होते हैं तथा व्रणतन्तु भूयिष्ठ होकर उनमें अमीवा वास करते हैं, उस समय उनके ऊपर सूचीभरण से सेवन की हुई एमेटीन का कुछ भी परिणाम नहीं होता है। ऐसी पुरानी अवस्था में उपयोग करने के लिये एमेटीन का योग प्रयुक्त होता है।

(२) कुर्ची विस्मथ आयोडाइड (Kurchi Bismuth Iodide)—यह एमेटीन विस्मथ आयोडाइड के समान गुणकारक होता है। परन्तु उससे यह कम विषैली और अधिक प्रभावकारी है; जिससे इसको अधिक मात्रा मे हम दे सकते हैं और थोड़े समय में इससे लाभ प्राप्त कर सकते है।

सेवन विधि—मात्रा १० ग्रेन; दिन में दो वार; १० दिन तक लगातार दी जाती है। इसके सेवन करने के आधा घण्टा पूर्व क्षारीय-घोल (सोडावाय कार्व ३० ग्रेन, सोडियम सैट्रेट २० ग्रेन, जल दो औंस) देना चाहिये। साधारण रोग में १० दिन का क्रम और तीव्र या मिश्रित रोग मे १५-२० दिन का चिकित्सा-क्रम होता है।

(३) एमेटीन पेरीआयोडाइड (Emetine Peri Iodide)—गुण में यह पूर्वोक्त औषध के समान है। परन्तु उससे बहुत कम विषैली है। अतः चिकित्सक इसको अधिक ग्रहण करते हैं। इसका योग पूर्वोक्त औषध के समान ३ ग्रेन की दैनिक मात्रा में ५ ग्रेन बैल के पित्त (Ox bile) के साथ डिब्बी में भर कर दिया जाता है।

ओरेमेटीन (Auremetine)—आरामाइन रंग के साथ एमेटीन का यह योग है।

मात्रा—१ ग्रेन कैप्स्यूल में भर कर दिन में चार बार लेवें। मध्य में एक दिन का अन्तर देकर ७ दिन दी जाती है।

पेन्सीलीन-योग

पेन्सीलीन और सल्फा साक्सीडीन—जीर्ण रोग मे आन्त्र में रहने वाले गौण उपसर्ग का नाश करने के लिये आरम्भ मे ही इनके द्वारा चिकित्सा की जाती है। इसलिये पेन्सीलीन १—२ लाख यूनिट की मात्रा मे दिन में ६ वार दो दिन तक दी जाती है। उसके वाद १० दिन सल्फा-साक्सीडीन की दो गोली दिन में तीन वार दी जाती है। उसके पश्चात् एमेटीन विस्मथ आयोडाइड और याट्रिन से १० दिन तक चिकित्सा की जाती है। पहले इसी उद्देश्य से विलीवैक्सीन का उपयोग किया जाता था। परन्तु अव इन ओपधियों के कारण उसका प्रयोग कम हो गया है।

मल्ल-प्रयोग

(१) मल्ल के योग—स्टोवार्सल (Stovarsol)—इसको स्पाइरोसिड, अथवा एसेट आर्सोन (Spirocid or Acetarsone) भी कहते हैं।

गुण—यह अमीवानाशक, शोणित-स्थापक (Haematinic) और वलकारक है। इसका विशेष प्रभाव कोष्ठ पूर्वावस्था (Precystic) पर होता है। इसका प्रयोग अत्यन्त सीधा है। चिरकाल तक सेवन करने पर भी विषमय लक्षण नहीं पैदा होते हैं। अत. प्राचीन एवं नवीन प्रवाहिका में एमेटीन का क्रम पूर्ण होने पर कुछ दिन के वाद इसका प्रयोग करें। इससे रोग समूल नष्ट होता है। एमेटीन का अवसादक प्रभाव नष्ट होकर रोगी का स्वास्थ्य ठीक हो जाता है और स्वास्थ्य ठीक होने से रोग भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

मात्रा—प्रातः और रात्रि मे १ टिकिया (४ ग्रेन की) जल के साथ लेवें। इस भाँति प्रतिदिन दो टिकिया के हिसाव से १० दिन तक क्रमशः सेवन करें। प्रतिदिन २ टिकिया से अधिक कभी नहीं देना चाहिये।

(२) कार्बोसेन—यह औषध स्टोवार्सल से कम विषैला और अष्टगुण प्रभावमय होता है। यह औषध ४ ग्रेन की मात्रा मे कठिन जिलेटीन के कैप्स्यूल मे भर कर दिन मे दो बार लेवें। इसी भाँति दश दिन तक क्रमशः लेवें। यदि दश दिन के सेवन से लाभ न हो, तो दश दिन के पश्चात् फिर दश दिन का दूसरा क्रम प्रयोग करें।

(३) अमीबी आर्सन (Amibiarsone)—इसकी भी दो गोली दिन मे दो बार क्रमशः दश दिन तक व्यवहार करे। अर्थात् २० गोलियों का पूर्णक्रम होता है। यह औषध बंगाल केमिकल और फार्मास्यूटिकल कम्पनी से आती है।

मल्ल-प्रयोग का निषेध

वृक्क रोगी और यकृत् के रोगी को मल्ल का प्रयोग नहीं करावें। क्योंकि इन रोगों मे इसका प्रयोग हानिकर होता है। अमीबिक यकृच्छोथ पीडितों मे भी मल्ल का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

यात्रिन का प्रयोग

(१) यात्रिन १०५ (Yatrin 105)—यह आयोडिन क्विनोलाइन का योग है। इसका विशिष्ट कार्य अंतडी की श्लैष्मिक-कला पर तथा मल मे रहने वाले अमीबाओं के ऊपर होता है। प्राचीन रोग मे यह विशेष लाभ करता है। रोग की नवीनावस्था मे एमेटीन या केनोसाइन के सूचीभरण का क्रम समाप्त होने पर इसका प्रयोग करे।

(२) एण्टरोफोल और एण्टरोवायोफार्म—ये दोनों ओषधियाँ यात्रिन के समान आयोडीन के योग है। पहली यूनियन ड्रग कम्पनी की देशी औषध है। इसमें ४८ प्रतिशत आयोडीन है। दूसरी सिवा कम्पनी की है। उसमे ३७॥ प्रतिशत आयोडीन है। दोनों के परिणाम समान हैं। इनका उपयोग यात्रीन के समान मुख या गुदा द्वारा (बस्ति) किया जाता है। १-३ गोलियाँ दिन मे तीन बार १० दिन तक देवें। कुछ दिनों के बाद यदि जरूरी हो, तो दूसरे क्रम का उपयोग करें। प्राचीन रोगों मे २०० सी. सी. जल में २ गोली घोलकर उसकी बस्ति रात्रि में देनी चाहिये।

चपल (विस्मथ)-प्रयोग

जल के साथ २ ड्राम विस्मथ मिलाकर दिन मे ३-४ वार लेवें।

केओलिन और ओस्मोकेओलिन का प्रयोग

इनका उपयोग विस्मथ के वदले किया जाता है।

ओस्मो केओलिन का प्रयोग—ओस्मो १½ औंस, म्युसिलेज ट्रागाकान्थ, एवं पिपरमेन्ट का तेल १० बूँद, जल ८॥ औंस।

मात्रा—२ औंस की मात्रा से ६ घण्टे के बाद लेवें।

ईसवगोल का वैज्ञानिक तत्त्व

अमीविक प्रवाहिका मे ईसवगोल क्यों लाभ करता है? इसका कारण यह है कि ईसवगोल पिच्छल होने के कारण आन्त्र की व्रणयुक्त कला मे ऊपर गोंद की पतली सी तह वनाकर उसका सरक्षण करता है साथ ही आंत्र मे रहने वाले विप का भी शोषण करता है। अत. यह सब प्रकार की प्रवाहिका तथा आन्त्र प्रक्षोभकजन्य रोगों मे लाभ करता है। वस्तुतः इसका कार्य केओलिन और ओस्मोकेओलिन के तुल्य है। इसकी सेवन विधि आयुर्वेदीय-चिकित्सा प्रकरण में वर्णन की जावेगी।

यथोक्तं भैषज्यमणिमालायाम्—

ईषद् गोळ पर वृष्य मधुर ग्राहि शीतलम्,
पिच्छिल तुवर किञ्चिद् वातकृत् कफपित्तहृत्।
रक्तातिसारास्रपित्त नाशयेदिति कीर्त्तितम्,

प्रवाहिका की मुक्तावस्था में पालनीय नियम

अमीविक प्रवाहिका से मुक्त हो जाने पर भी जब निर्वलता दूर न होवे, तो पूर्वोक्त पथ्य का ही सेवन करें। सदा लघु, सुपाच्य और पौष्टिक पदार्थों का सेवन करे। जिसके सेवन से आन्त्र मे प्रक्षोभ होवें और मल की अधिक उत्पत्ति होवे, ऐसे पदार्थों को त्याग देवें। पिष्टमय पदार्थ (carbohydiates) तथा मास का अधिक सेवन अच्छा नही है। सुरापान वर्जित है। शीत से भी

बचना चाहिये। उदर पर गरम वस्त्र की पट्टी बाँधें। दूषित जल और अनुत्कथित दूध का भी त्याग करना चाहिये। जिन सहायक कारणों से रोग की उत्पत्ति में सहायता मिलती हो उनको छोड़ देवें। साथ हीपुनः संक्रमण के साधनों को भी त्याग देना चाहिये।

बलकारक औषधों का सेवन

रोग की मुक्तावस्था मे किनीन, सिन्कोना, कुचला तथा मल्ल और लोह के यौगिकों का सेवन करें। तथा जलवायु परिवर्तन के लिये दूसरे स्थान पर जाना चाहिये। चिकित्सा मे यदि एमेटिन का प्रयोग हुआ हो तो उपक्रम के पूर्ण होने के बाद भी कुछ दिनों तक शय्या पर विश्राम करने की आवश्यकता होती है। यदि हृदय दुर्बल हो तो उसका प्रतिकार करें। इसके लिये वातचिन्तामणि रस का सेवन लाभकारी है।

आयुर्वेदीय ओषधि-चिकित्सा का रहस्य

प्रवाहिका में आम और यकृतमल की परीक्षा करनी चाहिये। आम-दोषों से संसृष्ट पुरीष अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त, पिच्छल (लेसदार—चिपकने-वाला) होता है। पक्व पुरीष के लक्षण इससे विपरीत होते हैं। यह विशेष कर लघुतायुक्त होत है। इसकी आमावस्था में संग्राहक औषध नहीं देना चाहिये, क्योंकि ; आमावस्था मे संग्राहक ओषधि देने से दण्डकालसक, आध्मान, ग्रहणी, अर्श, शोथ, पाण्डुरोग, गुल्म, उदररोग एवं ज्वरादि रोग हो जाते हैं। परन्तु विशेष अवस्था में क्षीणधातु वाला, दुर्बल रोगी अधिक दोष से युक्त होने पर, संख्या में अधिक दस्त आ चुके हों ऐसी अवस्था में आम दोष को भी स्तम्भन करना चाहिये। ऐसी दशा में यदि पाचन चिकित्सा की जाती है तो रोग सांघातिक हो जाता है।

लंघन-चिकित्सा

यदि रोगी बलवान हो और उसके दोष अधिक संचित हुये हों, तो रोगी को लंघन करावें। उसके बाद पाचक ओषधि की व्यवस्था करें। अथवा दोषशामक चिकित्सा करें।

यथोक्तम्—

लवनमेक मुक्त्वा नान्यदस्तीह भेषज बलिनः
समुदीर्ण दोषनिचय तत्पाचयेत् तथा शमयेत्

हरीतक्यादि योग

हरीतकी ४ तोला, अतीस २ तोला, भुनी हुई हींग ३ माशा, मीठी वच २ तोला, सौवर्चल लवण १ तोला, सेंधा नमक १ तोला।

विधि—कूट-पीस छान लेवें।

मात्रा—४-५ माशे की मात्रा मे उष्णोदक के साथ ४—४ घण्टे के बाद देवें। इससे मल का पाचन हो जाता है।

शतपुष्पादि योग

सौंफ आधी कच्ची और आधी भुनी हुई १ छटांक, हरीतकी भुनी हुई १ छटांक, सोंठ १ छटाक, मिश्री २ छटाँक।

विधि—इनको कूट-पीस-छान कर ६-६ माशे की मात्रा मे अर्क सौंफ से लेवें। इससे बहुत लाभ होता है।

पिपासा नाशक योग

धनिया, नेत्रवाला, सौंफ, लवग इनको पानी मे पका कर देवें। इससे प्यास शान्त होती है। अथवा अर्क सौंफ और अर्क गाजवां मिलाकर पिलावें। इससे भी प्यास शान्त होती है।

आनन्द भैरवादि पाचक योग

आनन्द भैरव १ रत्ती की गोली, जातिफलादि १ गोली, विषमुष्टिक १ गोली, शंखभस्म ४ रत्ती, तालिसादि चूर्ण २ माशा।

विधि—इनको मिश्रित करके बेल के शर्बत के साथ तीन-तीन घण्टे के बाद देवें। इससे प्रवाहिका शान्त हो जाती है।

पथ्य—दधि मे लवणभास्कर मिलाकर पिलावें। अथवा मूँग की पतली खिचडी देवें। इसमें रोटी, दाल नहीं देनी चाहिए।

कुटजादि योग

कुटज की छाल ५ सेर लेकर २० सेर जल में पकावें। ५ सेर जल

जब शेष रह जाय तब उसको छानकर फिर कड़ाही में चढ़ावें। फिर लज्जावती ४ तोला, धाय के फूल ४ तोला, बिल्वगिरी ४ तोला, जलजमनी (पाठा) ४ तोला, मोचरस ४ तोला, नागरमोथा ४ तोला और अतीस ४ तोला लें।

विधि—इनको चूर्ण करके छानकर फिर कुटज क्वाथ में डालकर पकावें। अवलेह के समान जब पाक हो जावे तब उसको उतार कर चौड़े मुख की शीशी में रख लेवें। इसे २-२ माशे की मात्रा में तीन-तीन घण्टे के बाद अर्क सौंफ से देवें। इससे रक्त मिश्रित प्रवाहिका शान्त हो जाती है।

कुटजादि क्वाथ

कुटज की ताजी छाल ४ तोला, अतीस तीन माशा, नागरमोथा १ तोला, नेत्रवाला १ तोला, लोध्र १ तोला, चन्दन १ तोला, धाय के फूल १ तोला, दाड़िम की छाल १ तोला, पाठा १ तोला।

विधि—इनको जौ कूटकर इसमें से तीन तोला दवा लेकर आधा सेर जल में पकाएं। २ छटाक जल शेष रहने पर छानकर पिलावें। इससे दाह, शूल, रक्त का प्रवाह आदि सब अच्छे हो जाते हैं।

यूनानी प्रयोग

तुख्ममलङ्गा १ तोला, तुख़्मकलौंचा १ तोला, तुख्मबारतंग १ तोला, तुख़्मरेहाँ १ तोला।

विधि—३-३ माशे की मात्रा में दधि के मस्तु से ३-३ घण्टे के बाद देवें। इससे बहुत लाभ होता है।

ईसबगोल का प्रयोग

ईसबगोल तीन-तीन माशे की मात्रा से प्रवाहिका में दधि के मस्तु से अथवा जल से लें। इससे भी बहुत-लाभ होता है।

रक्तवटी

भाग का चूर्ण १ छटाँक, पिप्पली १ तोला, अफीम तीन माशा, स्वर्णगैरिक २ तोला।

विधि—भाँग को धोकर धूप में सुखाकर गौ-घृत में भूनकर मिलाकर फिर सब ओषधियों को कूट-पीस-छानकर जल से पीसें। बाद को अफीम मिलाकर चना प्रमाण गोली बनावे। जब रक्त मिले हुए दस्त बहुत आते हों और रोगी की दुर्बलता अधिक बढ रही हो तो यह गोली १-१ मात्रा से बट दुग्ध बतासा में भरकर उसमें गोली रखकर तीन-तीन घण्टे के बाद देवें। इससे बहुत लाभ होता है।

उदुम्बरफल का प्रयोग

कच्चे गूलर के फलों को कूट करके उबाल ले फिर उसमें दधि और काला नमक मिलाकर मूंग की पतली खिचड़ी के साथ खिलावें। इससे प्रवाहिका शान्त हो जाती है।

कुटजारिष्ट-प्रयोग

प्रवाहिका रोग में जब शूल, मरोड अधिक होवे और विह्वलता होवे तो आनन्दभैरव १ गोली खिला कर ऊपर से कुटजारिष्ट २ तोले की मात्रा में पिलावें।

अहिफेन का प्रयोग

अहिफेन का प्रयोग प्रवाहिका में तीन उद्देश्य से किया जाता है। (१) इससे उदर में असह्यशूल उसी समय बन्द हो जाती है। (२) पेशियों में जो उत्तेजना होती है वह न्यून हो जाती है। (३) आन्त्रिक कृमियों का विनाश हो जाता है और आन्त्रिक क्रिया में सहायता मिलती है। आन्त्रिक-कला की क्रिया भी बढ जाती है। उदर में मरोड एवं शूल की अधिकता को निवारण करने के लिये यह महोपकारक है। यंत्रणाजनक सम्पूर्ण लक्षणों का निवारण करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोग—सूचिकाभरण से मार्फिया (अफीमसत्त्व) का प्रयोग करें। अथवा, गुह्यवर्ति (सपोजिटरी) अथवा वस्तिप्रयोग किया जाता है। आसव के रूप में अहिफेनासव रक्तमिश्रित प्रवाहिका में बहुत लाभ करता है।

विधि—वटदुग्ध चीनी के बतासा में १० बूँद भर कर उसमें कर्पूररस वटी १ गोली रख कर खिला देवें। ऊपर से वेदना होने पर अहिफेनासव २-२ माशे की मात्रा से देवें। इससे बहुत लाभ होता है।

संजीवनीसुरा का प्रयोग

प्रवाहिका में शूल होने पर संजीवनी सुरा २-२ माशे की मात्रा में देने से बहुत लाभ करता है। बालकों की प्रवाहिका में ५-५ बूँद की मात्रा में प्रयोग करने से अत्यन्त लाभ होता है।

तक्र का प्रयोग

वैज्ञानिक रहस्य—दूध से दधि में परिणत करने वाले बैसिलस् लैक्टी (Bacillus Lacti) नामक जीवाणु अंतड़ियों में रहने वाले प्रवाहिका-जनक जीवाणुओं के लिये घातक होते हैं। अतः प्रवाहिका में दधि, अथवा तक्र पिलाना अत्यन्त लाभकर और जीवनदायक पथ्य है। क्योंकि तक्रीय जीवाणु अंतड़ियों में पहुँच कर एक प्रकार का अम्ल पैदा करते हैं जो अन्य जीवाणुओं के लिये अहितकारक एवं मारक होता है।

तक्रारिष्ट-प्रयोग

अजवायन १२ तोला, पथ्या १२ तो०, कालीमिर्च १२ तो०, सेंधानमक ४ तो०, सांभर लवण ४ तो०, संचर नमक ४ तो०, खारी नमक ४ तो०, मनियारीनमक ४ तो० और गो तक्र ४ सेर लें।

विधि—तक्र को किसी पात्र में रखकर उसमें उपरोक्त ओषधियों को कूट-छान कर, चूर्ण डाल कर, पात्र का मुख बन्द करके धूप में चार दिन रख देवें।

मात्रा—२-२ तोले की मात्रा से ३-३ घंटे पर पीवें।

त्रिदोष नाशक तक्र

तक्र दीपन, ग्राही एवं लाघवकारी होने से प्रवाहिका में श्रेष्ठ है। मधुरपाकी होने से पित्त को यह कुपित नहीं करता है और कषाय

रसयुक्त, उष्ण, विकासी और रूक्ष होने से कफ को नष्ट करता है ताजा तक्र और स्वादु, आम्लरस एवं अविदाहि होने से वायु को नष्ट करता है। इसलिये प्रवाहिका मे तक्र पीना आवश्यक है। तक्रकल्प का सेवन करना तो अतीव हितकारक है।

संक्रामक कामला

(Epidemic Jaundice)

निर्वचन—इस रोग में रक्त के अन्दर पित्तरञ्जक की मात्रा अधिक हो जाती है। इससे नेत्र हरिद्रा के समान पीले हो जाते हैं। त्वचा, नख और मुख सब पीले हो जाते हैं। मूत्र और पुरीष रक्तपीताभ हो जाते हैं। शरीर का वर्ण मण्डूक के समान पीला हो जाता है। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसमे हृल्लास, वमन, पित्तप्रमेह, ज्वर प्रभृति लक्षण प्रकट हो जाते हैं। यह एक सामान्य, घातकता शून्य, अति संक्रामक रोग है। जब यह एक साथ प्रान्तभर में फैलता है तब इसको संक्रामक कामला कहते हैं और जब पृथक्-पृथक् फैलता है तब इसको प्रसेकी कामला (Catarhhal jaundice) कहते हैं। इसे तीव्र संक्रामक यकृच्छोथ (Acute Infective Hepotitis) भी कहते हैं।

यथोक्तं सुश्रुते—

हारिद्रनेत्र सभृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः।
रक्तपीत शकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः॥

आनुमानिक कारणता

कामला रोग के हेतुभूत जीवाणु का अभीतक निश्चय नहीं हुआ है। परन्तु रोग की संक्रामकता को देखकर यह निश्चय हो जाता है कि यह एक औपसर्गिक रोग है। अत इसका कारण कोई विषाणु (Virus) है। यह व्याधि जगत् के सम्पूर्ण देशों तथा सब वंशों के पुरुषों एवं सम्पूर्ण अवस्था मे पाई जाती है। परन्तु यह बालकों और युवा पुरुषों में अधिक देखा जाता है और ग्रीष्म की अपेक्षा शीतकाल में अधिक

होता है। रोगियों मे इसका प्रादुर्भाव होने से प्रथम अथवा इसके साथ-साथ ही प्रवाहिका या अतिसार का इतिहास भी पाया जाता है।

संक्रमण का वर्णन

कामला के कारणभूत विषाणु कभी रोगी के मल, रक्त और कभी-कभी नासाग्रसनिका मे पाये जाते हैं। अतः रोग का सक्रमण मल दूषित भोज्य-पेय पदार्थों के द्वारा विशेष कर जल के सेवन से, अथवा लसीका या रक्त का शरीर मे प्रवेश करने से विन्दूत्क्षेपों मे संक्रमण होता है। जहां पर मल-मूत्र के नाश करने का उचित प्रबन्ध नहीं होता है, मक्खियों की अधिकता होती है, धूलि अधिक उड़ती है, ऐसे स्थानों मे यथा—पाठशाला, स्कूल, कालेज, छात्रावास, शिविर, सैनिकवास-स्थान प्रभृति मे यह अधिक होता है। रोग पीडित रोगी कामला की पूर्व अवस्था मे अधिक उपसर्गी होता है। परन्तु कामला के प्रकट हो जाने पर उनकी संक्रामकता घट जाती है अर्थात् रोग पीडित व्यक्ति से स्वस्थ मनुष्य पर उपसृष्ट होने की प्रवृत्ति इसमें अत्यल्प होती है। परन्तु दूषित खाद्य-पेय पदार्थों से संक्रामक रूप मे फैलने का स्वभाव इसमें अधिक होता है। अत. जहा पर बालक, युवा पुरुष अधिक संख्या मे इकट्ठे होते हैं, वहां पर यह जनपदोध्वंस के रूप मे प्रकट होता है। प्रधानतया, युद्धस्थल मे यह महामारी के रूप मे प्रकट होता है। दूसरे स्थानों पर १-२ रोगी होते हैं।

सम्प्राप्ति-वर्णन

कामला की मुख्य विकृति यकृत् मे होती है। विषाणु मल दूषित भोज्यद्रव्यों के साथ महास्रोत मे प्रविष्ट होकर अतडी से प्रचूषित होकर के यकृत् मे पहुँच जाते हैं। वहां वे सम्पूर्ण यकृत् के कोषों (सेलसों) का विध्वंस कर देते है। अनुमानतः आधे से अधिक यकृत् के कोष नष्ट हो जाते हैं। फिर भी यकृत के कार्य मे कोई विशेष बाधा नही होती है। इससे यकृत् की संचित शक्ति का कुछ अनुमान हो सकता है। यकृत् के कोषों की विकृति के साथ-साथ कोशस्तम्भिकान्तर्य एवं पित्त

की नलिकाये फैल जाती हैं। इससे उनमें जमे हुये पित्त के थक्के बन जाते हैं और पित्त प्रवाह मे अवरोध होकर कामला उत्पन्न हो जाता है। पित्त की यह स्थिति जबतक कामला उत्पन्न होती है तभीतक रहती है। इन दो विकारों के सिवाय और कोई विकार नहीं होता है। कामला की अवस्था मे यकृत् की अभिवृद्धि हो जाती है।

याकृतीय निपात

(Hepatic failure)

कभी-कभी यह व्याधि घातक हो जाती है। उसमें यकृत् की स्थिति तीव्र पीतक्षय (एक्यूट एलो एट्रोफी) के तुल्य हो जाती है। प्रतिशत ५ रोगियों में यकृत् की स्थूलता स्वाभाविक से कुछ अल्प अथवा कुछ अधिक रहती है। परन्तु ७० फी सदी रोगियों मे यकृत् का भार और परिमाण लगभग आधा हो जाता है। जिन रोगियों की मृत्यु अति शीघ्रता से होती है उनमें यकृत आधे से भी कम हो जाता है और यकृत् का वाह्यतल स्निग्ध और सिलवटदार रहता है। परन्तु जब मृत्यु विलम्ब मे होती है तब वह गॉठदार होता है। गॉठों के मध्य का भाग संकुचित-सा रहता है। सक्षेप मे यकृत् के अन्दर की विकृति एक-सी नहीं होती है। इस घातक प्रकार में यकृत् की सब सेलें नष्ट हो जाती हैं। दक्षिण भाग की अपेक्षा वाम भाग मे ध्वंस अधिक होता है। नष्ट हुये सेल बहुत जल्दी गल जाती है। जो रोगी शीघ्र नहीं मरते हैं उनमे अवशिष्ट कोषों (सेल्स) से पुनरुत्पत्ति का कार्य किया जाता है। परन्तु यह पुनरुत्पादन जैसा होना चाहिये वैसा न होकर अति अव्यवस्थित स्वरूप का होने के कारण उन पुनर्जनित क्षेत्रों से यकृत् का कार्य बिल्कुल एक हो जाता है। यकृत् को काटने पर उसमें मांसवर्ण के रक्त बहने वाले बड़े-बडे क्षेत्र दिखाई देते हैं। इनके मध्य भाग मे विशेषकर ग्रन्थि स्थानों मे छोटे-छोटे पीत वर्ण के क्षेत्र दिखलाई पडते हैं। ये पुनर्जनित भाग के होते हैं।

अन्यान्य अङ्गों की विकृतियाँ

प्लीहाभिवृद्धि—इसमें प्लीहा भी बढ़ जाती है। प्रारम्भ में यह वृद्धि प्लीहा की सेलों के बढ़ने से होती है। परन्तु बाद को यकृत् के रक्तसंचार में बाधा पड़ने के कारण रक्ताधिक्य से होती है।

वृक्क शोथ—पित्त विष के प्रभाव से कुछ शोथ (Cholemic Nephrosis) हो जाता है।

आन्त्र शोथ—आन्त्र में सूजन हो जाती है और ग्रहणी शोथ के कारण साधारण पित्त प्रणाली का मार्ग बन्द हो जाता है। यकृत के अन्दर होने वाली पूर्व मे वर्णित वास्तविक विकृति का अनुसन्धान होने से प्रथम इस रोग मे यही विकृति मुख्य मानी गयी थी। इसीसे वीर्चो (Virchow) महोदय ने इसका नाम 'प्रसेकी कामला' रक्खा था।

मस्तिष्कावरण शोथ—वात संस्थान मे गैंग्लिन सेलों (Ganglion cells) का अपचय होकर मस्तिष्क और उसके आवरण मे शोथ हो जाता है। इसके सिवाय आमाशय, आन्त्र, नासा, फुस्फुस, त्वचा प्रभृति स्थानों में से भी रक्तस्राव होता है।

विविध लक्षणों का वर्णन

यकृत् की सेलों के नाश होने से, पित्तवाहिनियों में पित्त प्रवाह बाधा उत्पन्न होने के कारण रक्त मे पित्त की अधिकता होने पर कामला उत्पन्न होती है। रक्त मे पित्त की विद्यमानता से नेत्र, त्वचा, नख, मुख आदि पीले पड़ जाते हैं तथा हृदय दुर्बल, न्यूनगति और मानसिक अवसादग्रस्त हो जाता है।

रक्तस्राव का कारण—यकृत् की सेलों के नाश होने के पूर्व घनास्रि (Prothrombin) और विटामिन (K) की कमी होने से अनेक स्थानों मे रक्तस्राव होता है। यकृत् के निर्विषी करण का कार्य ठीक न होने से रक्त में बहुत से विषमय पदार्थ प्रविष्ट होकर के मस्तिष्क में सूजन हो जाने पर मस्तिष्कीय लक्षण उत्पन्न होते हैं। यकृत् के रक्तसचार में बाधा होने से और यकृत् मे जल का उचित संचय न होने से तथा रक्त-

रस में प्रोटीनों की कमी होकर आसृतीय पीडन घट जाने से जलोदर, सर्वाङ्गशोथ प्रभृति लक्षण पैदा हो जाते हैं।

कामला के दो प्रकार होते हैं। यथा—

(१) अविनाशक कामला—पूर्व में वर्णन किये हुये लक्षणों से युक्त कामला और उससे उत्पन्न पित्तप्रमेह अविनाशक कामला होता है। इसमें यकृत् की कार्य निष्पत्ति कम नहीं होती है।

(२) विनाशक कामला—इसमें यकृत् का अतिपात होकर उसके सब कार्य बन्द हो जाते हैं।

लक्षण

त्वचा, नख, नेत्र, नासिकादि पीले हो जाते हैं। सामान्य कामला मे इनका वर्ण वसन्ती होता है। परन्तु कुम्भ कामला मे इसका रंग हरित-कृष्ण होता है। स्वेद और मूत्र का वर्ण भी पीत होता है। थूक, श्लेष्मा और दूध मे प्रायः कोई विकार नहीं होता है। सामान्यतया आँखें पीली दिखाई पड़ती हैं। किन्तु कभी-कभी रोगी की दृष्टि पीताभ नहीं भी होती है।

त्वङ्नख नेत्रादि पीले होने से पहले पित्तरञ्जक मूत्र में आने लगते हैं। रोग का सचयकाल २१-३५ दिन का होता है। इस संचयकाल में अनेक रोगियों मे प्रवाहिका वा अतिसार भी हो जाता है। रोग का प्रारम्भ शनैः-शनैः शिरोवेदना, आलस्य, अवसाद प्रभृति पूर्वरूप के लक्षण मे प्रकट होता है। यह दशा ३-४ दिन तक रहती है। इसके पश्चात् कुछ ज्वरांश, अरुचि, हृल्लास, उदर प्रदेश मे प्रक्षोभ, वमन, यकृत् प्रदेश मे पीडनासहता प्रभृति लक्षण होते हैं तथा एक-दो दिन के बाद पित्तप्रमेह उत्पन्न हो जाता है। इसके कुछ दिन बाद ही कामला उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः कामला की पूर्व अवस्था की अवधि ५-८ दिवस तक होती है। यह रोग पूर्वावस्था मे अत्यन्त संक्रमणशील होता है और कामला उत्पन्न होने के बाद इसकी सक्रामकता जल्दी ही कम हो जाती है। शुरू में त्वचा की विवर्णता असंलक्षित होकर ८-१० दिन मे भूरापन लिये हुये पीली हो जाती है। उसके पश्चात शनैः-शनैः कामला का

ह्रास होने लगता है। कामला के बढने पर यकृत् और प्लीहा भी बढ जाती है और कामला के घटने पर इनकी वृद्धि भी घट जाती है। मूत्र मे पित्तलवण तथा पित्तरञ्जक (Bili pigment) मूत्र का रंग कुछ गहरा होता है। मल मे पित्त की कमी होने से उसका रंग कुछ फीका होता है और उसकी मात्रा तथा दुर्गन्धि अधिक होती है जिससे आध्मान हो जाता है। इस रोग मे मन्दाग्नि हो जाती है तथा कभी-कभी कोष्ठबद्धता भी हो जाती है। पित्त के आन्त्र में न पहुँचने के कारण भोजन का परिपाक भलीभाँति नहीं होता है। वसा वैसी की वैसी रहती है। प्रारम्भ मे नाडी की गति मन्द होती है। कभी-कभी नाड़ी की गति ४०-५० तक हो जाती है। लगभग २० प्रतिशत रोगियों मे कण्डू होने लगती है। कभी-कभी इतनी तीव्र होती है कि इसके कारण नींद नहीं आती है। कामला के रोगी को मानसिक अवसाद अधिक होता है। तीव्रावस्था मे रोगी को तन्द्रा आ जाती है जिसका परिणाम अशुभ होता है।

विलम्बित प्रकार

कुछ आतुरों मे ज्वर के आक्रमण के बाद कामला की उत्पत्ति में ३-७ दिवस का विलम्ब हो जाता है। इसकी अवधि मे आतुर कुछ अच्छा हो जाता है। परन्तु इससे संक्रमणता की अवधि उतनी ही अधिक देखी जाती है।

अ-कामलिक प्रकार

(Subicteric)

कुछ आतुरों मे पूर्वरूप तथा अन्य लक्षण अतीव सौम्य होते हैं। पित्तप्रमेह उत्पन्न होता ही नहीं अथवा कुछ घण्टों के लिये ही होता है। कामला उत्पन्न नहीं होता है। यह भेद सैकडे दस रोगियों में होता है।

पूर्वरूप—अकामलिक प्रकार में अरुचि, शिथिलता, शिरोवेदना, अवसाद प्रभृति पूर्वरूप में उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—हृल्लास, वमन, यकृत् पीडनासहता और ज्वर ये आक्रमण-कारी लक्षण तीनों प्रकारों मे समान होते है।

(१) सामान्य प्रकार में—१-२ दिन के पश्चात् पित्तमेह और उसके १-२ दिन के वाद कामला पैदा हो जाता है।

(२) विलम्बित प्रकार—इसमे ज्वरोत्पत्ति के एक-दो दिन के वाद रोगी कुछ रोगमुक्त-सा प्रतीत होता है। इसके वाद ३-७ दिन मे पित्त-मेह और उसके १-२ दिन के वाद कामला पैदा हो जाता है।

(३) अकामलिक प्रकार में—ज्वरावेग के एक-दो दिन के पश्चात् नाम मात्र के लिये कुछ घंटो तक पित्तमेह उत्पन्न होता है और कामला पैदा ही नहीं होता।

भावीफल

यद्यपि कामला रोग सौम्य और अविनाशक है, तो भी इसके शान्त हो जाने के वाद पूर्ण आरोग्यता लाभ के लिये पर्याप्त समय लगता है। सामान्यतया कामला निवृत्ति के वाद ८-१० दिन रोगी को स्वास्थ्य अच्छा होने मे लगता है और ३-४ सप्ताह मे रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। कमला की पूर्वावस्था का काल ७ दिन का होता है। विलम्बित प्रकार मे पूर्वावस्था की अवधि १४ दिन की होती है। अकामलिक प्रकार की अवधि अनिश्चित है। परन्तु ये दोनो भेद सक्रमण की दृष्टि से अत्यन्त भयानक होते हैं। इसका कारण यह है कि कामला पूर्व अवस्था में अत्यन्त संक्रमणशील होता है। कामला प्रादुर्भूत होने के वाद अधिक रोगी एक सप्ताह मे ही अच्छे हो जाते हैं। कुछ रोगी २१ दिन मे और कुछ २८ दिन मे अच्छे होते हैं। परन्तु किसी-किसी मे १२ सप्ताह तक भी लग जाता है। जिन रोगियों मे यकृत् और प्लीहा की वृद्धि होती है उनके अच्छे होने मे २-३ मास का समय लग जाता है। यद्यपि यह रोग अत्यन्त सौम्य है, तो भी आधे से चौथाई प्रतिशत रोगियों मे यह घातक होता है। यह घातक प्रकार सामान्य प्रकार के समान प्रारम्भ होता है। कामला पैदा होने के वाद कुछ रोगियों मे सुधार मात्र होता है। परन्तु सामान्यतया उनमें वह अधिक गम्भीर स्वरूप

धारण करने लगता है और १०-१२ दिन मे मानसिक क्षोभ, निद्रालसता, प्रलाप, लगातार वमन, जलोदर, अनेक स्थल पर रक्तस्राव प्रभृति यकृत के अतिपात के लक्षण वा यकृत् का संकोच हो जाता है। आसन्न मृत्यु होने पर दो-एक वार ज्वर भी चढ़ जाता है। यकृत् के अतिपात के लक्षण पैदा होने पर तिहाई रोगी ३-४ दिन मे इस लोक से चल वसते हैं। १० दिन के अन्दर आधे से अधिक रोगी की मृत्यु हो जाती है और २० दिन के अन्दर लगभग सम्पूर्ण रोगी कालकवलित हो जाते हैं।

रोग-निर्णय

वालकों और युवा पुरुषों में वमन, अरुचि, हृल्लास, निद्रालस्य, थकावट, मन्दज्वर प्रभृति सौम्य लक्षणों के साथ कामला की उत्पत्ति अधिकतर संक्रामक कामला रोग को सूचित करती है।

इस प्रकार का कामला पीत ज्वर, रक्तस्रावी कामला, ट्रायनेट्रोटूलोल, शिचोफेन प्रभृति सेन्द्रिय रसायनों से तथा गर्भवती स्त्रियों मे गर्भ की विषमता से पैदा होता है। अतः रोग-निर्णय करते समय इनका ध्यान रक्खें।

जब एक ही घर मे वहुत से व्यक्ति इस रोग से पीड़ित हों, तो संक्रामक कामला उत्पन्न होने का भय रहता है। कामला अनेक कारणों से उत्पन्न होता है। यहां पर रोग निर्णय की दृष्टि से निम्न-लिखित दो वर्गों पर ध्यान रखना चाहिये।

(१) प्रतिधारण कामला (रिटेन्शन ज्वाइंट्स)—यह कामला रक्त कणों के नाश से होता है। इसमे पित्तरञ्जक अधिक बनता है और यकृत की कार्य-निष्पत्ति कुछ घट जाती है। इसको रक्त नाशज कामला भी कहते है।

(२) पुनरुद्धीरण कामला (Regurgitation)—इस प्रकार का कामला, प्राणिज और वानस्पतिक विषों के प्रभाव से (यथा सर्प विष, संखिया, फॉस्फरस आदि से), अनेक वेक्टेरियों अथवा विषाणुओं के संक्रमण से तथा शोथ के कारण आर्वुदों एवं ग्रन्थियों के

कारण पित्त प्रणालियों पर दबाव पड़ने से उत्पन्न होता है। इसमें यकृत्-सेलों का विनाश होता है तथा पित्त प्रणालियों में अवरोध उत्पन्न होता है।

चिकित्सा

कारणों का पूर्ण निश्चय करके उनको दूर करने का प्रयत्न करें। साधारण दशा मे उदर की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। रोगी को पूर्ण विश्राम करने के लिये शय्या पर लिटाये रक्खें। प्रोटीन और स्निग्ध द्रव्यों की मात्रा कम करके लघु, सुपाच्य भोजन देवें। यथा—दूध, यवयूष या फटे दूध का पानी, शाकाहार प्रभृति तरल पदार्थ देवें। इसमें वसा सर्वथा वर्जित है।

विरेचन प्रयोग

इस रोग में विरेचन देने से लाभ होता है। अत' प्रति दिन विरेचन देते रहना चाहिये। इसके लिये गुलकन्द वहुत अच्छा है। परन्तु कैलोमल (रसपुष्प) का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

औषध-चिकित्सा—इसकी चिकित्सा कारणानुसार करनी चाहिये। यथोक्तम्—

"सक्षेपत क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्"

कण्डूनिवारणार्थ—उष्ण जल में सोडावाई कार्व डालकर स्नान करें। अथवा निम्ब की पत्तियों से उबाले हुए जल मे स्नान करें। वाह्य प्रलेपार्थ महामरिचादि तैल मे गन्धक मिश्रित करके लगावें, नीबू को काटकर शरीर पर मलने से भी लाभ होता है। ७० भाग स्पिरिट में १ भाग पुदीना का सत्त्व (मेथोल) डालकर लगाने से भी लाभ होता है। अथवा कार्वोलिक एसिड लोशन ($\frac{१}{४०}$ भाग) लगाने से लाभ होता है।

आभ्यन्तरिक औषध-प्रयोग

प्रवालभस्म २ रत्ती, स्फटिका भस्म ४ रत्ती, वराटिका भस्म २ रत्ती, नागकेशर चूर्ण २ माशा, गिलोयसत्त्व ४ रत्ती।

विधि—इनको एक मे मिलाकर शर्बत अनार से दिन में ३ वार उपयुक्त मात्रा मे चाटने के लिये देवें। इससे रक्तस्राव बन्द हो जाता है। अथवा कैलसियम लैक्टेट (Calcium Lactate) वा कैलशियम क्लोराइड (Calcium chloride) १०-१५ ग्रेन की मात्रा में दिन मे ३ वार खाने को देवे।

सूचिकाभरण प्रयोग

कैलशियम साल्ट का इञ्जेक्शन देवें।

आयुर्वेदीय पद्धति

कामला रोगी को पहले स्नेहपान करा करके मृदु विरेचन देवें। फिर कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर निम्नलिखित प्रयोग करें।

फलत्रिकादि क्वाथ

ऑवला, हर्रे, बहेडा, वासा, कुटकी, चिरायता और निम्ब की छाल—सब ओपधियाँ समान मात्रा मे लेकर (मिलित मात्रा २ तोला) ३२ तोला जल में पकावें, अवशिष्ट क्वाथ ८ तोला रहने पर उतार ले, इस क्वाथ मे मधु डालकर प्रातः काल सेवन करें। ग्रीष्म ऋतु में इसका हिम बनाकर सेवन करें। २१ दिन लगातार सेवन करने से अवश्य ही लाभ हो जाता है।

धात्रीलौह

ऑवला १ तोला, सोंठ, मीर्च, पीपर ३ तोला, हरिद्रा १ तोला, लोह भस्म ५ तोला सब एकत्र मिला, घोटकर शीशी मे रक्खें।

अनुपान—घृत, मधु, चीनी मिलाकर धात्री लोह की मात्रा—२ रत्ती मिलावें। फिर इसका सायं-प्रातः प्रयोग करें। इससे कामला नष्ट होता है।

नवायस चूर्ण

सोंठ, मिर्च, पीपर, नागरमोथा, वायविडंग और चित्रक।

विधि—इन्हे १-१ तोला लेकर कूट-पीस-छान करके लोहभस्म ९ तोला में मिलाकर खूब खरल करें। १-४ रत्ती मात्रा मे मधु, घृत से प्रयोग करें।

गुण—इससे यकृद्‌दुष्टि, ज्वर, कामला, शोथ प्रभृति दूर हो जाते हैं। परन्तु कुछ समय तक बराबर इसका सेवन करना चाहिये। पथ्यापथ्य व्यवस्था आगे वर्णित संक्रामक रक्तस्रावी कामला की तरह करें।

संक्रामक रक्तस्रावी कामला

Infective Haemorrhagic Jaundice

निर्वचन—यह रोग अति तीव्र संक्रामक है। यह स्पाइरोकीटा इन्टेरो हेमोरेजिका (Spirocheta Entero Hemorrhagic) के कारण उत्पन्न होता है। अतः इसको यही कहते भी हैं। कोई इसको वील का रोग (Weil's disease) भी कहते हैं। इसमे शरीर के विविध अङ्गों से रक्तस्राव होने लगता है। इसमे ज्वर और कामला दोनों हो जाता है। अतः इसको संक्रामक रक्तस्रावी कामला कहते हैं।

जीवाणुकारणता

रक्तस्रावी कामला का हेतु एक पेचदार जीवाणु है। इसका नाम कामला रक्तस्रावी तन्तु कुन्तलाणु (Leptospira Icterohemorrhagica) है। यह नाम उसके गुण और आकार के अनुसार प्रसिद्ध हो गया है।

संक्रमणता

ये जीवाणु चूहे और मूषकों के वृक्कों में रहते हैं। ये मूत्र त्यागने के साथ बाहर निकलते हैं। अर्थात् चूहों और मूषकों से इस रोग का संक्रमण पुरुषों पर होता है। परन्तु संक्रान्त मूषक चूहे स्वयं इस रोग से पीडित नहीं होते हैं। क्योंकि इनमे चिरकालिक उपसर्ग से रोगक्षमताउत्पन्न हो जाती है। प्रारम्भ में वे भी इस रोग से पीड़ित होते थे।

त्वाचिक प्रवेश

ये जीवाणु त्वचा के क्षतों के द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। त्वचा में क्षत न होने पर भी ये प्रवेश करते हैं। ये जीवाणु आर्द्रभूमि मे महीनों तक रह सकते हैं। अतः चूहों एवं मूषकों के मूत्र से संपृक्त आर्द्रभूमि में काम करने वालों के शरीर में तत्रस्थित जीवाणु त्वचा द्वारा

प्रवेश करते हैं। उपसृष्ट जल के तालाव में स्नान करने से भी इसका संक्रमण मनुष्यों मे हो जाता है। जल से संपृक्त त्वचा इसके अनुकूल होती है।

श्लेष्मकलीय प्रवेश

ये जीवाणु नासा, नेत्र, श्वसनिका (Bronchiole) एवं इनकी श्लेष्म-कला द्वारा भी प्रविष्ट होते हैं।

मौखिक प्रवेश

मूषकों के मूत्र से संयुक्त खाद्य-पेय पदार्थों के सेवन करने से भी इसका उपसर्ग होता है। दंशक कीटकों के द्वारा इसके प्रसार की संभावना हो सकती है। रोगी से स्वस्थ मनुष्यों पर इस रोग का संक्रमण अत्यल्प होता है।

रोगानुकूल स्थान

यह रोग एशिया के अनेक देशों मे न्यूनाधिक मात्रा मे होता है। उसी भांति अमेरिका, अफ्रीका प्रभृति यूरोपीय देशों में भी होता है। भारत के पूर्व भाग वंगाल प्रभृति में देखा जाता है। यह रोग सैनिकों मे जनपदिक रूप से प्रकाशित होता है। कहीं-कहीं पर यह स्थानिक रूप से भी प्रकट होता है। घर के वाहर आर्द्र स्थानों मे काम करने वाले पुरुषों मे यह अधिक होता है। कहीं-कहीं पर यह रोग वर्षा, शरद् और कहीं पर ग्रीष्म में भी होता है।

सम्प्राप्ति

ये जीवाणु त्वचा मे प्रवेश करके रक्त मे चले जाते हैं और रक्त के द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाते हैं। इस भाँति इनका संक्रमण सार्वदैहिक होता है। यह सार्वदैहिक संक्रमण व्याधि के संचय काल मे रोग प्रकाशित होने के वाद पांच छः दिन तक रहता है। इस समय ये जीवाणु शोणित में मिलते हैं। इसके वाद वे रक्त से अदृश्य होकर प्रधान रूप से यकृत मे मिलते हैं।

याकृतिक विकृति

इस रोग मे संक्रमण का प्रभाव सबसे अधिक यकृत् पर पडता है। परन्तु यकृत् के स्थूल और सूक्ष्म रूप मे कोई विशेप परिवर्तन नहीं देखा जाता है। यह इसका विचित्र प्रभाव है। 'यकृत् सामान्य रूप से कुछ बढा हुआ और पित्तरंजित रहता है। यकृत् के कुछ सेल नष्ट हो जाते हैं और कुछ सेल अपजनित हो जाते हैं। सामूहिक दृष्टि से सेलों का विनाश नहीं होता है और पित्त प्रवाह मे भी कोई बाधा नहीं पड़ती है। पूर्वोक्त यकृत् की विकृति के आधार पर कामला की उत्पत्ति की ठीक सम्प्राप्ति नहीं कही जा सकती है। अधिकतर जीवाणुजन्य विपमयता तथा अन्य अनेक कारणों से कामला पैदा होता है।

वृक्क की विकृति

इसमे दोनों वृक्क अभिवृद्ध, मृदु, पित्तरंजित और कुछ पाण्डुरवर्ण के हो जाते हैं। वृक्क की विकृति के कारण ही शोणितमेह, शुक्लिमेह (Albuminuria) और अल्पमूत्रमेह उत्पन्न हो जाता है।

पैशिक विकृति

इस रोग मे कांकालिक वा ऐच्छिक पेशियाँ विकृत हो जाती हैं। विशेप करके पादकी पेशियों मे मुख्य विकृति होती है। जिसके जीवद् वीक्षण से रोग-निर्णय मे सहायता मिलती है। इसमें पेशियों के तन्तु विनष्ट हो जाते हैं। उनकी धारियां लुप्त हो जाती हैं। उनमे रिक्तगोल बन जाते हैं। श्वेतकायाणु (Leukocyte) तथा, प्लाज्मा सेलों का अन्तराभरण हो जाता है। अन्त मे पेशियों के विकृततन्तु काचकी भूत-द्रव्य बन जाते हैं। विकृत पेशियों मे जीवाणु नाममात्र के होते हैं। इस विकृति के कारण ही रोग के प्रारम्भ मे पेशी मे शूल होता है।

रक्तस्राव

इस रोग मे हृदयावरणी कला, फुफ्फुसीया कला, फुफ्फुस, वृक्क, महा स्रोत प्रभृति शरीर के अनेक अङ्ग-प्रत्यङ्गों से रक्तस्राव होता है। यह रक्तस्राव जीवाणु विप द्वारा केशिकाओं के अन्तश्छद को हानि पहुँचाने

से होता है। तथा यकृत् से पूर्व घनास्रि (Protbrombin) और विटामिन K की कमी से रक्तस्राव होता है। अतः इस रोग मे लाल कणों का बहुत नाश हो जाता है।

जीवाणु दोषमयतावस्था

आरम्भिक अवस्था मे ये जीवाणु रक्त में घूमते हैं। अतः इस अवस्था को जीवाणु दोषमयता-अवस्था कहते हैं। इसके बाद जीवाणु रक्त से अदृश्य हो जाते हैं। किन्तु उनके स्थान मे विशिष्ट अभिश्लेषि (Agglutinin) द्रव्य दृष्टिगोचर होते हैं।

इन प्रधान विकृतियों के अतिरिक्त कभी-कभी प्लीहा और लसीका ग्रन्थियों की भी वृद्धि हो जाती है।

लक्षण

रोग का आक्रमण शिर.शूल, कटिपीडा, शीत, छर्दि, पिण्डलियों मे एंठन सर्वाङ्ग वेदना, पिपासा आदि लक्षणों से युक्त होता है। कुछ घंटों के बाद ज्वर चढ़ने लगता है; जो १०३—१०५ तापांश तक बढ़ जाता है। इस अवस्था मे रक्त के जीवाणु भी पाये जाते हैं। पेशियों मे अत्यन्त पीड़ा—शस्त्रछेदन के तुल्य दारुण पीड़ा होती है। इस दशा में शरीर के अन्य अङ्गों से भी रक्तस्राव होता है। जिससे नेत्रों में लालिमा, ओठों पर फुंसियाँ निकलना (हीर्पस) रक्तस्राव, नासारक्तस्राव, त्वचा पर नीलोहाङ्क(Petechia)), कालापुरीष प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

नेत्र विकार—इस रोग मे चक्षु का लाल हो जाना मुख्य लक्षण है। और यह बहुत पहले उत्पन्न होनेवाला लक्षण है। इसके सिवाय स्वच्छ मण्डल और बाह्य पटल (Sclerotic) मे सिराजाल भी निर्मित हो जाता है। ऐसा अनुमान होता है कि नेत्र के अन्तर्गत ये विकृतियाँ जीवाणुओं के आक्रमण से होती हैं।

कामला की अवस्था—सामान्यरूप से देखा जाता है, कि रोग के आक्रमण होने के ३-४ दिन मध्य में ५० प्रतिशत रोगियों को कामला

उत्पन्न हो जाता है। अधिकतर पूर्वोक्त स्वरूप के रक्तस्राव कामला के साथ होते हैं और रोग शनैः-शनैः बढ़ता है। त्वचा का वर्ण निम्बू, या नारङ्गी रंग का हो जाता है। कभी-कभी हरित वर्ण भी हो जाता है। चौथे दिन से त्वचा पर रोमान्तिकाकृति, गाँठदार, या रक्त वर्ण वाले विस्फोट निकल आते हैं। ये दोनों तरफ समान स्थानों में, कटि, उदर और अंसफलक के नीचे होते हैं। इस अवस्था में मूत्र की राशि कम हो जाती है। उसमें अलब्यूमिन, कास्ट, रुधिरकायाणु (Erythrocyte), पित्तरञ्जक, प्रभृति द्रव्य उपस्थित रहते हैं और उत्तरोत्तर इनकी मात्रा बढ़ती जाती है। इनके सिवाय दशवें दिन से मूत्र में रोग के कारणभूत जीवाणु निकलने लगते हैं; जो १५—२० दिन तक बराबर निकलते रहते हैं। कभी-कभी तो दो-तीन मास तक निकलते रहते हैं।

इन मुख्य लक्षणों के सिवाय अधोलिखित और भी लक्षण होते है। यथा—नाडी की मन्दगति, मलावरोध, यकृत् वृद्धि और कभी-कभी प्लीहाभिवृद्धि, अतिदौर्बल्य रक्तनिपीडिका अल्पहोना, पित्ताशय और वंक्षण, तथा कक्षा की लसीका-ग्रन्थियों की वृद्धि प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

मुक्तावस्था—इसका प्रारम्भ दूसरे सप्ताह के अन्त से अथवा तृतीय सप्ताह के प्रारम्भ से होता है। इसमे कामला की अल्पता,और मूत्राधिक्य हो जाता है तथा जीवाणु अल्प होने लगते हैं। रक्तक्षय की अधिकता और कृशता हो जाती है। परन्तु जब रोग की निवृत्ति होना प्रारम्भ होता है, तब शनै-शनै रोगी अच्छा होने लगता है।

उपसर्ग

विविध अंगों से रक्तस्राव, ग्रसनिका (Pharynx) में सूजन, वाधिर्य, मस्तिष्कावरण मे शोथ, अन्तर्हृच्छोथ (Endo carditis), गंजरोग, मूत्र विषमयता (Uremia), प्रलाप, कम्प, संन्यास, कृष्ण-मण्डलशोथ, कृष्णावली का शोथ (Irido cyclitis) प्रभृति उपसर्ग रूप से प्रकट होते हैं।

यथोक्तं भावप्रकाशे

छर्द्यरोचक हृल्लास ज्वरक्लम निपीड़ितः ।
नश्यति श्वास कासार्तो विड्भेदीकुम्भकामली ॥
कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूलश्च मानवः ।
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दि विण्मूत्रो यश्च ताम्यति ॥
दाहारुचितृषानाह तन्द्रामोह समन्वितः ।
नष्टाग्निसञ्ज्ञःक्षिप्रहि कामलावान् विपद्यते ॥

भावीफलादि का वर्णन

रोग के आक्रमण के साथ जो ज्वर आता है, वह १०–१४ दिन तक अनियमित होकर रहता है उसके बाद शनैः-शनै -उतर जाता है। फिर दूसरे-तीसरे दिन जब कामला की उत्पत्ति होती है, तब वह धीरे-धीरे १०–१२ दिन तक बढ़ कर उसके बाद प्रायः ज्वर के साथ ही कम हो जाता है। कुछ रोगियों मे ज्वर तो कम हो जाता है परन्तु कामला बढ़ता जाता है। कुछ रोगियों मे चौदहवें वा पन्द्रहवे दिन कामला के बिना भी ज्वर का पुनराक्रमण हो जाता है। इसको द्वितीयक ज्वर अथवा पोस्टेरियर फीवर कहते हैं। प्रथम ज्वर की अपेक्षा यह ज्वर प्रायः अधिक होता है और १५—२० दिन तक बना रहता है। यह ज्वर पुनरावर्तन के कारण नहीं होता बल्कि विषमयता और उससे उत्पन्न होने वाली अनूर्जता के कारण होता है। क्योंकि इस ज्वर के समय कामला फिर से नहीं उत्पन्न होता और रक्त मे जीवाणु भी नहीं पाये जाते हैं। यद्यपि पूर्वोक्त जीवाणु से कामला उत्पन्न होता है, तथापि वह आधे से अधिक संक्रान्तों में पाया जाता है।

कृच्छ्रसाध्यता—कामला की उत्पत्ति रोगकी कृच्छ्र साध्यता का सूचक है और कामला की अनुत्पत्ति साध्यता का सूचक है।

असाध्यता

प्रलाप, तन्द्रा, निम्नाङ्गघात, कम्प, मूत्रविषमयता (यूरिमिया), आक्षेप संन्यास आदि लक्षण असाध्यता के सूचक हैं। इससे केवल ५—३० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु २–३ सप्ताह के मध्य मे प्राय होती है।

रोग का निर्णय

रोग का निर्णय पूर्वोक्त निदान-लक्षणादि देखकर करना चाहिये। रक्त परीक्षा और चन्द्रकाणु दर्शन से भी रोग-ज्ञान होता है और मूत्र परीक्षा से अथवा जीवाणुदर्शन, प्राणिरोपण प्रभृति से भी रोग-ज्ञान होता है।

एलोपैथिक-पद्धति

रोगी को विश्राम करने के लिये शय्या पर शयन करावें। आहार के लिये लघु, सुपाच्य तरल आहार देवे और कोष्ठ शुद्धि के लिये कैलोमल (रसपुष्प) देवें। इसके सिवाय स्वाभाविक लवण जल ५—१० प्रतिशत ग्लूकोज के साथ सिरा द्वारा देना चाहिये।

प्रतिलसीका का अन्तः क्षेपण

प्रारम्भ से प्रतिलसीका का उपयोग करने पर मृत्युभय का नाश हो जाता है। अत प्रतिलसीका (Antiserum) २० सी० सी० की मात्रा में दिन मे तीन बार सिरा द्वारा ३—५ दिन तक लगातार दी जाती है। इस रोग से सन्निवृत्त की क्षमलसीका का भी उपयोग ३०—४०, सी० सी० की मात्रा मे पेशी द्वारा करने से लाभ होता है। एक अठवाड़ के बाद जब कि कामला और मूत्र-विषमयता के लक्षण तीव्र होने लगते हैं , तब इससे लाभ नहीं होता है।

पेनीसिलीन का प्रयोग

इस रोग मे जीवाणुमयता की अवस्था मे प्रारम्भ मे उचित मात्रा से पेनीसिलीन का प्रयोग किया जावे तो बहुत लाभ होता है। इस रोग मे संखिया के योग निष्फल हो जाते हैं। इस रोग मे हेक्सामिन सोडियम टार्ट्रोबिस्म्युथेट (त्वचा के नीचे) बिस्मथ याट्रीन ए० बी० इनका भी उपयोग किया जाता है।

आगन्तुक बाधा प्रतिषेध

इस रोग से पीड़ित रोगी के मल-मूत्र का संक्रमणापह औषधों से उपसर्ग का विनाश करना चाहिये। मूषकों का निष्काशन तथा विध्वस

करने का उपाय व्यवहार में आवे। खाद्य द्रव्यों को सुरक्षित रखना चाहिये और संक्रान्त जलाशयों के जल में स्नान प्रतिषेध और टीका का उपयोग करना, ये आगन्तुक बाधा प्रतिषेध का उपाय है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा

पहले कामला से पीड़ित रोगी को स्नेहपान कराकर मृदु विरेचन देवें, तत्पश्चात रोग की प्रशमन चिकित्सा करनी चाहिये।

यथोक्तम्—

रेचन कामलार्त्तस्य स्निग्धस्यादौ प्रयोजयेत्।
तत प्रशमनी कार्या क्रिया वैद्येन जानता॥

त्रिभण्डी-प्रयोग

कामला पीड़ित रोगी को विरेचनार्थ निशोथ का चूर्ण १॥ माशा, चीनी १ तोला के साथ गरम जल से देवें अथवा इन्द्रायण का सत्त्व (केलोसिंथ) भी २ रत्ती मात्रा से देवें अथवा इन्द्रायण का चूर्ण उपयुक्त मात्रा में चीनी के साथ देवें।

मण्डूर भस्म का प्रयोग

मण्डूर भस्म १ रत्ती, गिलोयसत्त्व १ माशा दोनों मिश्रित कर मधु के साथ सायं-प्रातः देवें। भोजन के बाद लोहासव १ तोला जल मिलाकर देवें। इस प्रयोग को ४० दिन सेवन करें।

द्रोणपुष्पी रसाञ्जन-प्रयोग

द्रोणपुष्पी के फूलों का अथवा पत्तियों का रस निकाल कर उसमें कुछ गो घृत मिलाकर नेत्र में लगाने से कामला रोग नष्ट हो जाता है। यह प्रयोग अनुभूत है। यह नेत्र में लगता है अतः दुर्बल रोगियों में सावधानी से प्रयोग करें।

यथोक्तम्—

अञ्जन कामलार्त्तस्य द्रोणपुष्पी रसःस्मृतः।

कामलान्तक लौह

लोह भस्म ८ तोला, अभ्रक भस्म २ तोला, मण्डूर भस्म १ तोला, वंग भस्म ६ माशा, जीरा, शुण्ठी, पिप्पली गजपीपल, पिपरामूल, तेजपत्र, दारु हल्दी, चव्य, अजवाइन, चित्रक, कायफल, रास्ना, देवदारु, आँवला, हरड, बहेड़ा, रसौत, अतीस प्रत्येक १—१ तोला लेवें।

विधि—सबको कूट-पीस छान कर खरल में डाले फिर भस्म मिलावें। इसके बाद केशराज, भृङ्गराज, सोमराज (काली जीरी) तथा मण्डूकपर्णी के रस से पृथक्-पृथक् तीन-तीन दिन भावना देकर घोटते रहें।

मात्रा—२—४ रत्ती।

अनुपान—मधु—इससे कामला नष्ट होता है।

पथ्य

पुराने यव, गोधूम, शालिचावल, मुद्ग, अरहर, मसूर की दाल, पटोल, पेठे का शाक, पुनर्नवा का शाक, रैंची, तोरी, टमाटर, मूली, पालक, बथुआ, फलवर्ग—अनार, अगूर, सेब, सन्तरा, मौसम्मी, पपीता प्रभृति पथ्य हैं।

अपथ्य

गुरु द्रव्य, तीक्ष्ण द्रव्य, अम्ल पदार्थ, विरुद्धाशन, विदाही पदार्थ, पित्तजनक पदार्थ, दिवास्वप्न, धूम्रपान, व्यवायकर्म और क्रोध प्रभृति त्याज्य हैं।

यथोक्तम्—

सर्वाण्यम्लानि दुष्टाम्बु विरुद्धान्यशनानि च।
गुर्वन्नञ्च विदाहीनि त्यजेच्च सदा कामली॥
वह्निमातपमायासमन्नपानञ्च पित्तलम्।
मैथुनं क्रोधमाध्मानं त्यजेच्च सदा कामली॥

यकृद्विद्रधि

(Abscess of the Liver)

निर्वचन—सम्पूर्ण यकृत्कोप मे व्याप्त वा सीमाबद्ध शोथ पूयोत्पत्ति में परिणत होकर विद्रधि को उत्पन्न करता है। इसमें अनियमित ज्वर, यकृत् प्रदेश मे दवाने से वेदना, यकृत की क्रिया में विकृति और पक्वाशय तथा आन्त्र की क्रिया की विकृति प्रभृति लक्षण इसके सहवर्ती हैं। यह रोग वालकों और स्त्रियों मे अत्यल्प मात्रा में होता है। परन्तु पुरुषों की २०-२४ वर्ष की जव आयु होती है तव यह प्रचुर मात्रा में होता है। भारत निवासियों की अपेक्षा यूरोप निवासियों में इस रोग का प्रकोप अधिक देखा जाता है।

कारणतत्त्व

यकृद्विद्रधि का मुख्य कारण ९५ प्रतिशत इण्डो अमीवा (Endamoeba) धातुनाशी ही होता हैं। पूयजनक गोलाणु और दण्डाणुओं के कारण भी यकृत्-विद्रधि उत्पन्न हो सकती है। आमातिसार और यकृद्विद्रधि का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अमीविकृता (Amoebs) का यह एक अत्यन्त महत्त्व का साधारण उपद्रव-अनुगामी विकार होता है। तीव्र, अनुतीव्र, जीर्ण और गुप्त प्रभृति सव प्रकार की कामरूपीयता मे यह विकार १० दिन से लेकर महीनों या वर्षों के पश्चात् २० वर्ष तक उत्पन्न हो जाती है। आधुनिक आमातिसार नाशक ओषधियों का प्रयोग करने वालों में इसका प्रमाण अत्यधिक मात्रा (५० प्रतिशत) मे रहता है।

यथोक्त निदाने—

पृथक्सम्भूय वा दोषा कुपिता गुल्मरूपिणाम्।
वल्मीकवत्समुद्वद्धामन्त्र कुर्वन्ति विद्रधिम्॥
गुदेवस्तिमुखेनाभ्यां कुक्ष्योः वंक्षणयोस्तथा।
वृक्कयो. प्लीह्नि यकृति हृदिक्लोम्नि वाप्यथ॥

सम्प्राप्ति

अमीवा (Amoeba) का उपसर्ग होने पर प्रायः डिसेन्ट्री होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रवाहिका भी उत्पन्न हो जावे

अनेक पुरुषों में उपसर्ग होते हुए भी कुछ लक्षण प्रकट नहीं होते यही हेतु है कि यकृद्विद्रधि के कुछ रोगियों में प्रवाहिका वा अतिसार का पूर्व इतिहास मिलता है और कुछ में नहीं। परन्तु प्रवाहिका की उपस्थिति हो या न हो अमीवा के संक्रमण से बृहदन्त्र मे व्रण पैदा होकर उनमें अमीवा प्रगुणित होते रहते हैं। ये अमीवा प्रतिहारिणी (पोर्टल) शिरा की शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा प्रचुर मात्रा मे सम्पूर्ण यकृत् मे उपस्थित हो जाते हैं। यही इनका सामान्य मार्ग है और गौण मार्ग यह है कि किसी समय आन्त्रिक व्रण के अमीवा आन्त्र की दीवाल मे से होकर उदर्याकला (पेरीटोनियम) में होते हुए यकृत् मे पहुँचते हैं। यह मार्ग याकृतीय-आकोच (फ्लेक्जर) के व्रणों के अमीवा को ग्रहण करते हैं। प्रथम और प्रधान मार्ग उण्डुक और ऊर्ध्वगामी बृहदन्त्र के व्रणों को अमीवा ग्रहण करते हैं।

पूर्वरूप

अमीवाओं के यकृत् में पहुचने से यकृत् में सूजन उत्पन्न हो जाती है। प्राय. यही इसकी पूर्व स्थिति है। इसी सूजन के कारण यकृत् से रक्त की अधिकता और धातु प्रतिक्रिया पैदा होती है। जिससे प्रचुर मात्रा मे अमीवा नष्ट होते हैं। यदि सुरापान अथवा अन्य हेतुओं से यकृत् के दुर्बल होने पर शेष रहे हुए अमीवाओं की वृद्धि और विषोत्पत्ति होने से जगह-जगह पर धातु नष्ट होती है, तो इन्हीं स्थानों पर यकृत विद्रधि प्रारम्भ होती है। शनै -शनै इनके चारों तरफ धातुनाश बढकर ये आप में मिल जाते हैं। जिससे एक अथवा अनेक विद्रधिया निर्मित हो जाती है।

स्थान विनिर्णय

यकृत् विद्रधि प्राय दक्षिण भाग मे दिखाई देती है और उसमें भी अधिकतर ऊपर के भाग मे। इसका हेतु यह है कि अमीविक विक्षत उण्डुक और ऊर्ध्वगामी बृहदन्त्र मे अधिक होते हैं।

विद्रधियों की सख्या तथा आकृति का वर्णन—७५ प्रतिशत आतुरों में एक विद्रधि होती है और पन्द्रह प्रतिशत रोगियों मे दो और

अवशिष्ट आतुरों में अनेक विद्रधियाँ होती हैं किन्तु, जब एक विद्रधि होती है तब नारिकेल से भी बड़ी हो सकती है और वह दक्षिण भाग मे रहती है। छोटी विद्रधि की स्थूलता सुपारी से नारंगी के आकार तक हो सकती है। विद्रधि के कारण यकृत् की वृद्धि विशेषकर वाम भाग मे होती है। यकृत्-विद्रधि का पूय अत्यन्त गाढ़ा होता है। अतः उस पर बन्धी हुई पट्टी गीली नहीं होती और पूय त्वचा तथा पट्टी के मध्य से बाहर निकलता रहता है। यह पूय पूयजनक गोलाणु जन्य पूय के तुल्य न होकर द्रवीभूत यकृत् के तुल्य होता है। अमीबा पूय में न होकर विद्रधि की प्राचीर में रहते हैं। अतः निकलते हुए पूय में अमीबा सदा नहीं मिलते हैं। विद्रधि की अवधि जितनी अधिक होती है,उसी के अनुसार उसकी स्थूलता अधिक हो जाती है और जबतक इस पूय में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग नहीं होता ; तबतक उसमें दुर्गन्ध नहीं आती है। पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर उसमें दुर्गन्ध आने लगती है। उसका वर्ण परिवर्तित होकर हरित या भूरा हो जाता है। यह विद्रधि बढकर जब पृष्ठ भाग तक पहुँच जाता है, तब ५० प्रतिशत रोगियों से भी अधिक रोगियों मे उसका उपसर्ग वक्ष और उदर के मध्य स्थान मे तथा परिहृदय, परिफुफ्फुसीया कला और अन्य समीप के अंगों मे पहुंचता है। यकृत् इनके साथ अभिलग्न हो जाता है और अनेक बार वक्ष तथा उदर मध्य पेशी निश्छिद्रित होकर जब विद्रधि फेफड़े में फूटती है तब थूक के साथ पूय निकलता है। कभी-कभी विद्रधि आन्त्र में विदीर्ण होनी है। किसी-किसी स्थल पर नाड़ीव्रण के द्वारा बाहर की त्वचा मे फूटती है। उदरच्छदा कला की विद्रधि की प्राचीर अधिकतर संलग्न हो जाने के कारण उदर्यागुहा मे विदीर्ण हुई विद्रधि कम देखी जाती है। जब अमीबा का संक्रमण मन्द होता है तब यकृत् की प्रतिकारिता अच्छी होती है और विद्रधि जीर्ण होकर उसकी दीवाल स्थूल, मृदु और तन्तुमय हो जाती है। अर्थात् वह परिकोष्ठित हो जाती है। इमेटीन के प्रयोग से भी अमीबा मर जाते हैं और विद्रधि परिकोष्ठित हो जाती है, तब इसका पूय

पीतवर्ण और मलाई के तुल्य हो जाता है और शनैः-शनैः वह सान्द्र होकर कोष्ठ सकुचित होने लगता है। अन्त मे चूना संचित होकर वह पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है।

लक्षण

प्रारम्भ मे यकृत के स्थान मे भारीपन, सूचीवेधनवत् पीडा शनैः-शनैः होने लगती है जो खाँसते समय अधिक तीव्र हो जाती है। अनेक रोगियों में रात्रि के समय आमवात के तुल्य पीडा दक्षिण अंस-संधि मे होने लगती है। जब विद्रधि वाम भाग मे होती है तब पीडा वाम अंस-सन्धि मे रहती है और अपराह्नकाल मे शीत लगकर ज्वर आता है। सायंकाल १०२-१०३ तापांश तक बढ जाता है और प्रातःकाल कम हो जाता है। इस भाँति अन्येद्युष्क ज्वर प्रतिदिन आता है। रोगी के कृश होने पर उसका वर्ण पाण्डुवर्ण का हो जाता है।

जिह्वा मलिन, पाचन शक्ति का ह्रास, आध्मान, कभी-कभी पतले दस्त हो जाते है। कभी-कभी आमातिसार और कभी कभी आम मिश्रित रक्तातिसार भी हो जाता है। यकृत् की आकृति बढ़ जाती है। अंगुलि ताड़न करने पर मंद ध्वनि, क्षेत्र ऊर्ध्वाध' बढा हुआ प्रतीत होता है। स्पर्श करने पर यकृत् कठिन मालूम होता है परन्तु गाँठ-दार नहीं होता है। उसमे वेदना कभी मन्द, कभी तीव्र होती है और कभी जलन की भाँति वेदना होती है, यह वेदना पीछे की ओर अंसफलक के मध्यस्थान मे अथवा दक्षिण अंश की तरफ फैलती है और खाँसने, छींकने अथवा गभीर श्वास लेने के समय पीड़ा बढ़ती है। वाम पार्श्व के बल लेटने से वेदना बढ़ती है और दक्षिण पार्श्व के बल लेटने से अल्प वेदना होती है। निम्न पर्शुकायें तथा पसुलियों के मध्य भाग उभर आते हैं। किसी-किसी समय विद्रधि का उभार साफ प्रकट होता है, जब बायीं ओर विद्रधि होती है, तब बढी हुई प्लीहा के समान मालूम होता है। परन्तु इस रोग मे प्लीहा नहीं बढती है। जब पित्ताशय के निकट विद्रधि होती है तब दक्षिण दण्डक (रेक्टस्) पेशी मे कुछ कठिनता आ जाती है।

कभी-कभी यकृत् की वृद्धि सम्पूर्ण उदर में व्याप्त हो जाती है। कभी-कभी विद्रधि के बहुत बढ जाने पर हृदय ऊपर की तरफ अथवा पार्श्व की तरफ अपसारित हो जाता है और हृदय की गति भी कुछ अनियमित और शीघ्र हो जाती है। अधिकतर वह्वाकारियों की अपेक्षा पूर्वक बढती न होते हुए भी इसमें १५-७५ सहस्र तक श्वेत कीटाणुओं का आधिक्य हो जाता है, रक्त क्षय भी कुछ हो जाता है। चिरकालिक विद्रधि हो जाने पर रक्तक्षय ध्वंसकारी हो जाता है। सामान्यतया यकृत् की विद्रधि के लक्षण और उसकी प्रगति ऊपर मे वर्णन किये हुए स्वरूप की होती है और इसके लिये कई महीने लग जाते हैं।

किसी-किसी समय यकृत्-विद्रधि होते हुए भी कुछ भी लक्षण दृष्टि गोचर नहीं दिखाई देते हैं और जब विद्रधि फेफड़े या अंतडी या दूसरे स्थानों मे फूटती है, तब उसकी तरफ ध्यान जाता है।

भावीफल

यह रोग ५—१० प्रतिशत रोगियों मे अत्यन्त तीव्ररूप धारण कर लेता है। उनमे डिसेन्ट्री के साथ यकृत की वृद्धि अति तीव्रता से होती है। तथा अधिक मात्रा मे पीड़ा के साथ ज्वर (सन्ताप) हो जाता है और स्वेद की प्रचुरता हो करके ज्वर शान्त हो जाता है। श्वेतकायाणुओं की अधिकता हो जाती है। इसमें ७—२१ दिन मे रोगी की जीवन लीला समाप्त हो जाती है। औषध या शस्त्रकर्म के द्वारा चिकित्सा न होने पर जीर्ण पूयावस्था के कारण रोगी प्रलेपक ज्वर से पीड़ित होकर प्रतिदिन क्षीण, कृश और दुर्बल होता जाता है और उसीसे मर्मस्थानों मे विद्रधि के फट जाने से या अन्य उपद्रव होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है। जब विद्रधि बहुत बढ़ जाती है तब वह एक तरफ उभर आती है और किसी न किसी स्थान मे फट जाती है।

आशाजनिका विदीर्णता—फेफड़ा, आमाशय, अंतड़ी तथा उदर वा छाती की दीवाल मे विद्रधि के विदीर्ण होने से रोगी को बचने की आशा बहुत होती है। परन्तु जब हृदयावरणी-कला और उदरच्छदा-कला

में विदीर्ण होती है तब हृदयावरणी-कला तथा उदरच्छदा-कला में सूजन होने से मृत्यु हो जाती है। इसके सिवाय फुफ्फुस विद्रधि, पूयोरस (Empyema), न्यूमोनिया, वक्षोवायु (Pnemoth-orax), डिसेन्ट्री प्रभृति विद्रधि के विदीर्ण होने के कारण उत्पन्न हुये उपद्रवों से भी मृत्यु हो जाती है।

सामान्यतया विना चिकित्सा के ५०-८० प्रतिशत रोगी मर जाते हैं। आजकल आमातिसार और यकृत्-विद्रधि का सम्बन्ध मालूम हो जाने से प्रवाहिका (डिसेन्ट्री) के लिये उत्तम से उत्तम ओषधियों के आविष्कार होने से तथा यकृत्-विद्रधि में एमेटीन, पूय का आचूषण और शस्त्रकर्म के द्वारा सफलता मिलने के कारण मृत्यु संख्या बहुत कम हो गई है। अनुपद्रुत विद्रधि के बढ़ जाने पर भी वह साध्य होती है। विद्रधियों की संख्या अनेक होने पर अथवा एक विद्रधि के होने पर भी प्रवाहिकादि अन्य उपद्रव होने पर रोग कष्ट साध्य हो जाता है।

सावधानता

समुचित उपक्रम करने के बाद भी अन्त्रस्थ अमीबाओं का विध्वस करना चाहिये। तथा मद्य का परित्याग सदा के लिये कर। यदि इन दो बातों पर ध्यान नहीं दिया जाय तो कई सालों के बाद भी विद्रधि उत्पन्न हो सकती है।

रोगनिर्णय

यकृत् विद्रधि के पूर्वोक्त लक्षणों का ध्यान कर रोगी की परीक्षा करने से रोग का निर्णय किया जाता है।

मल-परीक्षा—करने पर मल में अमीबा नहीं मिलते हैं। परन्तु आधे रोगियों में उनके कोष्ठ मिल जाते हैं, जो रोग सूचक हैं।

रक्त-परीक्षा—क्ष-रश्मि, यकृत्वेध (Liver Puncture), औपशीय कसौटी प्रभृति परीक्षाओं के करने से रोग का निर्णय हो जाता है।

उपक्रम का सूत्र

यकृत्-विद्रधि में केवल लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिये। वेदना और यन्त्रणा-निवारण करने के लिये स्थानिक उत्ताप का प्रयोग करें।

वेदना निवारक प्रलेप, उपनाह प्रभृति औपध की व्यवस्था करें और रोगी को आराम से रखें। कोष्ठ शुद्धि के लिये लघु विरेचन देवें। सार्वाङ्गिक लक्षणों की चिकित्सा के लिये किनाइन और धान व अम्ल उपयोगी होता है। रोगी के वल के संरक्षणार्थ उत्तेजक औपध और यथेष्ट परिमाण मे पुष्टिकारक औपध देवें।

यकृद्वेध

(Liver Puncture)

यकृत् मे पूय है अथवा नहीं, इसका परिज्ञान करने के लिये मोटी सूई और सिरिञ्ज से यकृत् का वेधन करके देखें। यदि उसमे पूय मिल जावे तो आचूपण (Aspirate) से उसको निकलना चाहिये। इससे विद्रधि का भी ज्ञान हो जाता है। पूय की स्थूल और सूक्ष्म परीक्षा से उसके कारण का भी ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त अनेक समय मे विद्रधि का छेदन करके पूय निकलने के वाद रवर की नली प्रविष्ट करके नियमित चिकित्सा करने के लिये अच्छा अवसर हो जाता है।

शस्त्रकर्म का प्रयोजन

शस्त्रकर्म की आवश्यकता अधोलिखित अवस्थाओं में होती है। जव वार-वार वेधन करने पर भी यकृत् में पूय का पता नहीं चलता है। परन्तु पूय होने की आशंका वनी रहती है, और विद्रधि वाम भाग में होती है। जव आचूपण से लाभ नहीं होता है तथा आचूषण से निकले हुये पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग मालूम होता है, तव शस्त्रकर्म के पूर्व और पश्चात एमेटीन का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

पथ्यादि का नियम विशेप रूपसे प्रयोजनीय है। वेदनादि निवारण के लिये यथाविधि औषध का स्थानिक प्रयोग करें। यथा—क्लोराइड ऑफ अमोनियम्, इपेकाकूयाना और लावणिक विरेचक ओषधि देवें। यदि इन उपायों से शोथ की शान्ति न होवे और उसमें पूय पड जावे तो विभिन्न चिकित्साओं का अवलम्वन करें। ज्वर की चिकित्सा के लिये प्रलेपक ज्वर (हेकटीक फीवर) की चिकित्सा-प्रणाली का अवलम्वन करें।

यदि यकृत-विद्रधि फुफ्फुस के मध्य मे परिफुफ्फुसीयाकला मे वा अन्य किसी सन्निहित विधान मे विदीर्ण हो जावे, तो जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी अस्त्र-चिकित्सा द्वारा काटकर पूय निकलने के लिये यथा नियम नली प्रवेश कर देवें।

सूचिकाभरण-चिकित्सा

इमेटिन (Emetine)—अर्मीविक यकृत् शोथ और छोटी विद्रधि मे केवल इमेटिन की सुई लगाने से लाभ होता है। प्रति दिन १ ग्रेन की मात्रा मे १२ दिन तक लगातार पेशी मे सूचिकाभरण करने से यकृच्छोथ और छोटी विद्रधि बैठ जाती है। दुर्बल रोगियों मे इसके साथ १/३० ग्रेन स्ट्रिक्नीन देना उचित है। यदि प्रयोजन हो, तो ५-६ दिन के बाद फिर इमेटिन की ५-६ सुई लगा देवें। इसके साथ-साथ स्थानिक चिकित्सार्थ स्वेद का प्रयोग करें; क्योंकि केवल इमेटिन के द्वारा चिकित्सा करने पर रोग के पुनराक्रमण का फिर से भय रहता है। अत: औपधक्रम पूरा होने के पश्चात् एमेटीन विस्मथ आयोडाइड और यात्रिन का क्रम देवें।

एमेटीन और आचूपण—यकृद्विद्रधि की सर्व श्रेष्ठ यह दवा है। इसमे पहले रोगी को एमेटीन के २-४ सूची लगाई जाती है इससे यकृत् में रक्त की अधिकता कम होकर रक्तस्राव की प्रवृत्ति घट जाती है। उसके पश्चात् यकृत्-प्रदेश के परीक्षण से जहाँ पर विद्रधि प्रतीत होती है वहाँ पर दीर्घ परीक्षा सूची (एक्सप्लोरिङ्गनीडल), कैन्यूला वा हाइपोडर्मिक पिचकारी वा एस्पिरेटर (आचूपण) द्वारा विद्ध करके पूय का अस्तित्व निर्णय कर पूय प्रकाशित होने पर एक वृहदाकार कैन्यूला और ट्रोकर का व्यवहार करं। अथवा परीक्षा सूची के छिद्र के अनुसार विद्रधि तक छुरिका से काट कर बाहर कर देव और एक लम्बी शलाका उसके अन्दर प्रवेश कर देवें। इस समय अङ्गुलि जितनी मोटी एक रबड की नली विद्रधि के अन्दर प्रवेश करके उससे पूय निकलने देवे। यदि पूय दुर्गन्धित न हो, तो विद्रधि-गह्वर को नहीं धोवे। नली को सेफ्टीपिन द्वारा अटका देवें। इस विल को ष्टिकिङ्ग प्लास्टर द्वारा आवद्ध रखे

और त्वचा के ऊपर के क्षत को आइडोफार्म से भर देवें तथा ऊपर से शिथिल भाव से परक्लोराइड ऑफ मर्करी गाज स्थापन करें। यदि अधिक मात्रा में पूय निकलने की सम्भावना हो, तो गाज (रूई) के ऊपर से कार्वलाइज्डटो से एक प्रशस्त बन्धन द्वारा बांधकर रखें और विद्रधि के बृहदाकार होने पर पहले कई दिनों तक दो वार अथवा एक वार पट्टी बांधें। विद्रधि गह्वर जहांतक संकुचित होता जावे वहां तक पूर्वोक्तनली को उसी भांति काट देवें, इसलिये दूसरे-तीसरे दिन बन्धन बदलते रहें। इसके बाद और भी संकुचित हो जाता है, जबतक विद्रधि शुष्क होकर रोगी अच्छा न हो जावे, तबतक क्रमशः स्थूलनली का व्यवहार करें।

आचूपण-प्रयोग

जहां पर परीक्षा से विद्रधि प्रतीत हो, वहां पर बड़ी सुई और सिरिञ्ज से वेधकर पूय चूप लेवें। यदि परीक्षण करने पर उभार से पीडनासहस्थान से अथवा तरंग प्रतीति (Fluctuation) से विद्रधि के ठीक स्थान का पता न लगे, तो विद्रधि प्रायः यकृत के दक्षिणखण्ड के ऊपरी और पीछे के हिस्से में होने के कारण अग्रकक्ष रेखा की ८ वीं या ९वीं पर्शुका के मध्य में वेध करके पूय का आचूपण करे। यदि आवश्यक हो, तो भयभीत रोगियों में नोवोकेन की सूची पहले लगा सकते हैं। यकृत में सुई ३½ इञ्च से अधिक नहीं डालनी चाहिये अन्यथा बड़ी रक्तवाहिनियों के वेध होने का भय रहता है। प्रायः एक-दो वार पूय का आचूपण करने से काम पूरा हो जाता है परन्तु यदि आवश्यक हो, तो ५-६ वार भी आचूषण कर सकते हैं। आचूषण के बाद एमेटीन का क्रम पूरा कर देवे, उसके बाद ए० वि० आ० और याद्रिन का क्रम देवें।

चिकित्साजन्य लाभ

एमेटीन के इञ्जेक्शन देने से ⅙ रोगी अच्छे और ⅓ रोगी एमेटीन और आचूषण इन दोनों चिकित्साओं के मिश्रित प्रयोग से अच्छे

होते हैं। अवशिष्ट अर्थात् ⅛ रोगी शस्त्र-चिकित्सा से लाभ पाते हैं। इनमे प्रथम दो चिकित्साएँ उत्तम हैं और तीसरी शस्त्र-चिकित्सा अत्यावश्यक—आत्ययिक-अवस्था मे ही करनी चाहिये, क्योंकि शस्त्र-चिकित्सा से २५ प्रति रोगियों की मृत्यु देखी जाती है।

अन्तर्विद्रधि नाशक वरुणादि क्वाथ

वरुणा की छाल, मौलसिरी की छाल, वेल, अपामार्ग, चित्रक, बड़ा अग्निमन्थ, छोटा अग्निमन्थ, सफेद सहजन, लाल सहजन, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, सफेद फूल का पियावाँसा, पीले फूल का पिया वाँसा, काले फूल का पियावाँसा, मरोडफली, मेढासिंगी, चिरायता, काकडासिंगी, विम्बी (कुंदरू), करंज और शतावर।

विधि—इन सब ओपधियों को समान मात्रा मे लेवें। इनकी सम्मिलित मात्रा ४ तोला लेकर डेढ पाव जल मे पकावें, १॥ छटाँक जल शेष रह जावे, तव इसको छान करके ईपदुष्ण क्वाथ ही पीवें। क्रमश कुछ दिन पीने से अन्तर्विद्रधि नष्ट हो जाती है।

पुनर्नवादि क्वाथ

पुनर्नवा, और वरुण की छाल का क्वाथ विधि से क्वाथ वना कर पीवें अथवा सहजन की छाल का क्वाथ वनावें, उसमे भूनी हुई हिंगु उचित मात्रा मे मिलाकर प्रात काल पीवें, इससे अन्तर्विद्रधि नष्ट होती है।

प्रतिश्याय

(Common cold, Nasal Catarrh)

निर्वचन—नासारन्ध्र और सम्पूर्ण नासागह्वर अथवा श्वासमार्ग के ऊर्ध्वांश की श्लैष्मिक-कला मे जो शोथ हो जाता है, उसको प्रतिश्याय कहते हैं। इसमे नासारन्ध्र से प्रतिक्षण जलीय, श्लेष्मामय वा श्लेष्मा और पूययुक्त क्लेद निकलता रहता है। यह औपसर्गिक रोग है।

प्रतिश्याय की निरुक्ति

वात प्रति अभिमुख श्यायो गमन कफादीनां यत्र स॰ प्रतिश्याय ।

प्रमाणयति चरकाचार्यः

घ्राणमूले स्थित श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव च
मारुताध्मातशिरस॰ मारुत श्यायते प्रति
प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देह कर्षणः

दोप का कारण

अतिशय स्त्री ससर्ग, मस्तक का अभिताप, धूम, धूलि, अतिशीत, अति संताप और मल-मूत्र के वेगों का धारण—इन कारणों से सद्यः प्रतिश्याय रोग उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त वायु, पित्त, कफ, पृथक्-पृथक् अथवा मिलकर रक्त के सहित मस्तक में सञ्चित होकर और अपने-अपने कारणों से प्रकुपित होकर प्रतिश्याय को उत्पन्न करते हैं।

यथोक्तं सुश्रुते—

नारी प्रसङ्ग शिरसोऽभितापोः धूमोरजः शीतमति प्रतापः।
सधारण मूत्र पुरीषयोश्च सद्य॰ प्रतिश्याय निदान युक्तम्॥
चयगता मूर्ध्निमारुतादय॰ पृथक् समस्तश्च तथैव शोणितम्।
प्रकुप्यमाणा विविधै प्रकोपणैर्नृणां प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि॥

कीटाणु का कारण

प्रतिश्याय के वास्तविक कारण के विषय मे विभिन्न मत देखे जाते हैं। इसका हेतु यह है कि कभी-कभी नासास्राव मे बेक्टेरिया मिलते हैं और कभी जीवाणुरहित स्राव होता है। मिलने वाले रोगोत्पादक कीटाणुओं में अधोलिखित लक्षण प्रधान रूप से मिलते हैं। यथा—प्रतिश्यायी या प्रलेपकी सूक्ष्म गोलाणु (मैक्रोकोकस कटारालिस) हरिद्वर्णस्तवक गोलाणु (स्टाफिलोकोकस विरिन्डस) शोणांशिकमाला गोलाणु, श्वसनकाणु (Pneumococcus). फ्रीडलराडर का दण्डाणु, श्लेष्मक (इन्फ्लुएञ्जा,) दण्डाणु प्रभृति है। वक्टेरियम् (Bacterium) न मिलने पर भी रोग होता है। अत इसका कारण कोई विशिष्ट विपाणु माना जाता है। परन्तु यह रोग संक्रामक है; इसमें किसी भाँति संदेह नहीं करना चाहिये। अत॰ वास्तविक रूप से यह कहा

जा सकता है कि प्रतिश्याय केवल विषाणुओं अथवा वेक्टेरियमों दोनों से होता है। वस्तुत इसके अनेक हेतु हैं।

यथोक्तमष्टाङ्गहृदये—

मूर्च्छन्ति चात्र कृमयो दीर्घस्निग्ध सिताणव ।

आयु के अनुसार प्रतिश्याय का प्रभाव

यह रोग जन्म लेने के बाद बालक को पहले साल मे सबसे कम होता है अथवा नहीं भी होता है। इसका कारण यह है कि यह रोग सहजक्षमतायुक्त होता है। इसके पश्चात् ५ वर्ष तक सबसे अधिक होता है। इसके बाद शनै -शनै कम हो जाता है। वृद्धावस्था में सबसे कम होता है। इसका हेतु यह है कि बार-बार होने के कारण शरीर मे क्षमता बढ जाती है।

ऋतुजन्य प्रभाव

सब ऋतुओं मे प्रतिश्याय होता है। परन्तु हेमन्त और शिशिर मे तथा ऋतु सन्धि मे प्रबल मात्रा मे उत्पन्न होता है। शीतकाल में मनुष्य एक-दूसरे के समीप अधिक आते-जाते रहते हैं और मकान की खिड़की या दरवाजा बन्द करके रहनेसे वातावरण अशुद्ध और प्रदूषित संक्रमण के साथ और अधिक बढ जाता है।

वायुमण्डलीय प्रभाव

भारतीय तीर्थ स्थानों के मेले मे जनाकीर्णता, दुष्प्रवीजन (वेडवेन्टीलेसन्) धूलि, आक्लेद प्रभृति कारणों से रोग की उत्पत्ति में सहायता मिलती है। ऋतु और वायुमण्डल से केवल प्रतिश्याय ही उत्पन्न नहीं होता और भी रोग उत्पन्न होते हैं।

व्यक्तिकरण का कारण—आहारदुष्टि, अल्पाशन, क्षुधा, अत्यधिक परिश्रम,चिन्ता, सर्दी लगना, पानी में भीगना, शीतल वायु के प्रवाह मे सोना, मद्य, तम्बाकू का सेवन तथा शरीर और मन को दुर्बल करने के कारण।

रोग—कण्ठशालूक (Adenoids), तुण्डिका, नासार्श, नासागुहा शोथ प्रभृति गले और नासा के रोग, वातरक्त, उपदंश, क्षय, मधुमेह,

अवटुका-ग्रन्थि का कार्य ठीक न चलना प्रभृति दैहिक रोग उत्पन्न होते हैं।

वंशज प्रवृत्ति—प्रतिश्याय की उत्पत्ति में यह प्रवृत्ति अनेक बार देखी गई है।

सम्प्राप्ति

यद्यपि पूर्व में वर्णन किया गया है, कि विषाणु तथा बेक्टेरियम् दोनों अलग-अलग अथवा मिश्रित होकर प्रतिश्याय उत्पन्न करते हैं, तो भी सामान्य सिद्धान्त यह है कि विषाणु पहले नासा पर आक्रमण करके प्रतिश्याय का प्रारम्भ करते हैं। उसके बाद वहां पर जो बेक्टेरियम उपस्थित होते हैं, वे विषाणु के आक्रमण से दुर्बल हुई श्लेष्म-कला पर दूसरी बार आक्रमण करते हैं। वस्तुतः प्रतिश्याय की उत्पत्ति में विषाणु और बेक्टेरियम् साथ-साथ कार्य करते हैं। तृणाणुओं का द्वितीय आक्रमण रोग की दृष्टि से विषाणुओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। इसके कारण प्रतिश्याय में विविधता और उग्रता आ जाती है। नासाकोटर, ग्रसनिका, स्वरयन्त्र, श्वसनिका शोथ, न्यूमोनिया, श्वसनीय फुफ्फुस, ग्रैविक-ग्रन्थि शोथ, मध्यकर्ण शोथ, नेत्राभिष्यन्द प्रभृति अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। द्वितीय बेक्टेरियम् बढ़कर जो इतना बल पकड़ते हैं और उपद्रव उत्पन्न करते हैं, ये विषाणु के साथ-साथ जीवन से अथवा सहयोग से, नासा की प्रतिकारक शक्ति घटने से इसका अभी तक निर्णय ठीक-ठीक नहीं हुआ है। परन्तु साधारण मत यह है कि विषाणुओं के कारण नासा की प्रतिकारिता घट जाने से पूयकारक उपसर्ग होते हैं।

ऊपर में वर्णन किये हुये देह के अन्तर्गत स्वाभाविक रासायनिक समतौल में विकृति होकर अम्ल का उत्कर्ष होता है। तथा स्वायत्त नाड़ी संस्थान पर परिणत होकर वाहिनी प्रेरण और उष्णता के नियन्त्रण का कार्य उचित रूप से नहीं होता है। एक आचार्य का मत है कि जब शीतवायु, सर्दी लगना, जल में भीगना आदि से देह के दूर रहने वाले हस्त पाद आदि अंग शीतल हो जाते हैं, तब उससे नासा की

श्लैष्मिक-कला की गर्मी ५-६ प्रतिशत न्यून हो जाती है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि नासा मे रक्त की प्रचुरता, रक्त की स्थिरता (Stasis) और स्थानिक प्रतिकार शक्ति की दुर्बलता मे हो जाता है। जिससे पहले विषाणु और बाद को अन्य जीवाणु उसपर अपना प्रभाव डालते हैं। प्रतिश्याय का प्रारम्भ उपश्लैष्मिक कला मे होता है। वहा पर रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होने से बडी आकारवाली हो जाती है। लसकायाणु (लिम्फोसिटी), प्लाज्मा कोष (Plasma cells), रक्तकण प्रभृति की अधिकता से वह शोथयुक्त हो जाती है। उसके बाद ऊपर श्लेष्म-कला भी सूजकर नष्ट होने लगती है। उपश्लेष्म और श्लेष्म-कला की सूजन के कारण नीचे की शुक्तिकास्थि के पास नासामार्ग अवरुद्ध हो जाता है। प्रारम्भ मे जो नासा से स्राव निकलता है वह लसयुक्त होता है। बाद को उसका स्वरूप श्लेष्मा के तुल्य होकर अन्त मे वह श्लेष्म पूयवत् (Mucopurulent) बन जाता है। प्रारम्भिक स्राव में अधिकतर किसी प्रकार का जीवाणु नहीं मिलता है। परन्तु उत्तरकाल में स्राव में अनेक प्रकार के जीवाणु मिलते हैं। ये द्वितीय जीवाणु ऊर्ध्वाधः विस्तृत होकर अनेक उपद्रव पैदा करते हैं।

संक्रमण

प्रतिश्याय से पीडित मनुष्य जब उच्च स्वर से भाषण करता है, खासता वा छींकता है, तब समीप के विशेष कर सम्मुख के वातावरण में जो थूक के सूक्ष्म कण निकलते हैं, वे रोगाणुयुक्त होने के कारण समीप मे रहने वाले मनुष्यों के श्वसन-संस्थान मे उपसर्ग उत्पन्न कर देते हैं। छींकने के समय इसके नासामल के सूक्ष्म-कणों का सक्रमणकारक कण अधिक से अधिक २-३ फूट होता है, इससे अधिक नहीं, और खांसने के विन्दूत्क्षेपों का इससे कम तथा भाषण के विन्दूत्क्षेपों का सबसे कम होता है। इसको विन्दूक्षेप वा संसर्ग (Droplet or Contact) कहते हैं।

वायुवाही (Airborne) सिद्धान्त से विन्दूत्क्षेपों के तथा थूक के सूक्ष्म कणों के साथ जो रोगाणु वातावरण में फैलते हैं। वे घण्टों से लेकर

के कई दिनों अथवा सप्ताहों तक जीवन-क्षम होते हैं और दीवाल, वस्त्र, फर्श प्रभृति पर बैठते हैं। वे वायु के वेग के साथ अथवा झाड़ू लगाते समय वातावरण मे फिर से उठते हैं और श्वास लेने के समय गृह निवासियों के शरीर मे प्रविष्ट होकर उनको सक्रान्त करते हैं। इन दो मार्गों मे प्रथम मार्ग प्रधान है। दूसरा मार्ग अप्रधान है।

पूर्वरूप

प्रतिश्याय रोग के प्रकाशित होने के पूर्व मे मस्तक मे भारबोध, छींके आना, अंगमर्द और रोमाञ्च प्रभृति विविध उपद्रव लक्षित होते हैं।

यथोक्तं सुश्रुते—

क्षवप्रवृत्ति. शिरसोऽभिपूर्णता स्तम्भोऽङ्गमर्द· परिहृष्टरोमता।
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्याय पुरःसर स्मृताः॥

प्रतिश्याय का लक्षण

प्रतिश्याय के प्रारम्भ मे साधारणत नासा और नासा ग्रसनिका में खुश्की और सुरसुराहट मालूम होती है, आलस्य और क्लान्ति का अनुभव होता है। प्राय· शीत लगकर सार्वाङ्गिक विकार के लक्षण प्रकाशित होते हैं, ज्वराश की प्रतीति, पृष्ठवंश और हाथ-पैरों मे वेदना, त्वचा शुष्क, रूक्ष और मूत्र गाढ़ा रग का एवं मात्रा मे अल्प होता है। सम्मुख कपाल मे वेदना और भारबोध होता है। नासानाह, छिक्का, नेत्रसे जल का स्राव प्रारम्भ हो जाता है। अन्त मे नासा से अत्यधिक स्राव होने लगता है। इसके साथ-साथ गले मे सव्रणता, खाँसी, कफ का निकलना और कर्णावरोध प्रभृति लक्षण प्रायः हो जाते हैं। उसके पश्चात् स्वर यंत्र मे उपसर्ग पहुचकर स्वरभेद हो जाता है। कभी-कभी प्रतिश्याय की विकृति ग्रसनिका मे शुरू होकर ऊपर नासा मे और नीचे स्वरयंत्र मे फैलती है। कभी-कभी स्वरयंत्र से विकृति आरम्भ होकर ऊपर नासा तक फैलती है। प्रारम्भिक स्थान स्थानिक प्रतिकारिता के ऊपर निर्भर होता है।

वातजादि दोषभेद से लक्षणों का वर्णन

वातजन्य प्रतिश्याय में नासिका सम्पूर्ण अथवा कुछ रुक जाती है। नासास्राव पतला निकलता है और गला, तालु ओष्ठ शुष्क हो जाते हैं। शंख प्रदेश मे सूचीवेधन के तुल्य वेदना होती है। छींके आने लगती हैं तथा मुख की विरसता और स्वरभेद हो जाता है।

पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण

पित्तज प्रतिश्याय में गरम व पीला स्राव निकलता है। रोगी कृश, पाण्डुवर्ण, सन्तप्त और तृष्णार्त हो जाता है और नासिका से उष्णतायुक्त धूम निकलता हुआ मालूम होता है।

कफज प्रतिश्याय के लक्षण

कफजन्य प्रतिश्याय मे नासिका से शुक्लवर्ण, शीतल कफ वार-वार निकलता है। रोगी का देह शुक्लवर्ण, चक्षुस्फीत, मस्तक और मुख भाराक्रान्त तथा मस्तक, कण्ठ, ओष्ठ और तालु मे अत्यन्त कण्डू होती है।

त्रिदोषज प्रतिश्याय के लक्षण

त्रिदोषज प्रतिश्याय में तीनों दोषों के लक्षण प्रकट हो जाते है। पक्व और अपक्व प्रतिश्याय वार-वार प्रकट होकर तिरोहित हो जाता है। यह असाध्य होता है।

दुष्ट प्रतिश्याय के लक्षण

दुष्ट प्रतिश्याय में नासिका वार-वार क्लेदयुक्त होकर सूख जाती है तथा नासा विवद्ध अथवा विवृत हो जाती है। नासिका से दुर्गन्ध युक्त नि श्वास निकलता है और घ्राण शक्ति नष्ट हो जाती है। इसको दुष्ट प्रतिश्याय कहते हैं। यह कष्ट साध्य होता है अथवा कालान्तर मे असाध्य हो जाता है।

यथोक्तं भावप्रकाशे—

प्रक्लिद्यते मुहुर्नासा पुनश्च परिशुष्यति
पुनरानह्यतेवापि पुनर्विव्रते तथा
नि श्वासोवापिदुर्गन्ध नरो गन्धान्नवेत्ति च
एवं दुष्ट प्रतिश्याय जानीयात् कृच्छ्र साधनम् ॥

रक्तज प्रतिश्याय के लक्षण

रक्तजन्य प्रतिश्याय में नासिका से रक्तस्राव, रक्तवर्णतायुक्त चक्षु, मुख और नि श्वास मे दुर्गन्ध,घ्राण शक्ति का नाश और उरःक्षत के लक्षण समूह अर्थात् वक्षःक्षत, वक्ष स्थल की स्तब्धता, कर्ण और कान मे पूतिभाव, खाँसी, ज्वर और पीनस रोग उपस्थित हो जाता है। इसमें श्वेत एवं कृष्ण वर्ण के सूक्ष्म-सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते है। कृमि पड़ जाने पर कृमिजन्य शिरोरोग के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

कष्टसाध्य और असाध्यावस्था के लक्षण

जिस प्रतिश्याय मे नासिका कभी आर्द्र, कभी शुष्क, कभी विवद्ध वा विवृत हो जाती है, निःश्वास-प्रश्वास दुर्गन्धयुक्त होता है और आघ्राण शक्ति नष्ट हो जाती है, ऐसा प्रतिश्याय कृच्छ्र साध्य होता है। प्रतिश्याय की उपेक्षा करने पर वह क्रमशः पीनस रोग में परिणत हो जाता है, वह पीनस बढ़कर वाधिर्य, अन्धता, घ्राण शक्ति का अभाव उत्कट नेत्र रोग, कास, अग्निमांद्य और शोथ रोग आदि उत्पन्न कर देता है।

यथोक्तं भाव प्रकाशे—

सर्व एव प्रतिश्याया आसाध्या अप्रतिकारिणः।
दुष्टतां यान्तिकालेन तदासाध्याः भवन्ति च॥

भावी फल

रोग की अवधि सामान्यतया उपद्रव रहित प्रकार में ७-१५ दिन से अधिक नहीं होती। प्रारम्भ मे नासास्राव जल के तुल्य पतला और मात्रा मे अधिक होता है परन्तु, वह शनैः-शनैः गाढा और कम हो जाता है। प्रतिश्याय स्वयं मारात्मक नहीं है किन्तु इसमे वार-वार होने की प्रवृति होने से यह जीर्ण रोग मे परिणत हो जाता है और उसमें पूर्वोक्त उपसर्ग हो जाते है और उपद्रव होने पर प्रतिश्याय पुन प्रकाशित हो जाता है। इस भाँति यह क्रम वरावर उपस्थित होकर शरीर को दुर्वल और प्रतिकार रहित वना देता है फलतः यह राजयक्ष्मा के सदृश शरीर के अन्दर गुप्त रोगों की उत्पत्ति कर जीवन लीला का अन्त कर देता है।

यथोक्तम् वाग्भट्टे—

क्रुद्धा वातोल्वणा दोषा नासायांस्त्यानतांगता ।
जनयन्ति प्रतिश्याय वर्धमान क्षयप्रदम् ॥
सर्वे एव प्रतिश्याया॰ दुष्टता यान्त्युपेक्षिता ॥

अन्यच्च—

प्रतिश्यायादथोकास॰ कासात् सजायते क्षय ।

रोग-निर्णय

रोमातिका, श्लेष्मक ज्वर (इन्फ्लूएञ्जा) और हे एज्मा की प्रथमावस्था के साथ इसका भ्रम हो सकता है। परन्तु रोग के कारण लक्षण के प्रति दृष्टि करने पर प्रतिश्याय का निर्णय हो जाता है। कुक्कुर कास (हूपिंग कफ),श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया), वालकीयांगघात (इसके प्रारम्भ मे प्रतिश्याय होता है) रोहिणी (डिफथीरिया) प्रभृति का ध्यान रखना चाहिये। जब प्रतिश्याय लगातार होता रहता है तो कान के मध्य और नासाकोटर में सूजन, नासार्श प्रभृति जीर्ण उपद्रवों का और तरुण पुरुषों मे क्षय (ट्यूबर्क्यूलोसिस) का सन्देह करके उसके अनुसार निरीक्षण करना चाहिये। वाहिनी प्रेरक नासाशोथ (Vasomotor Rhinitis) मे बराबर प्रतिश्याय होता है।

यथोक्त सुश्रुते—

अजस्रमच्छ सलिलप्रकाश यस्याविवर्ण स्रवतीह नासा ।
रात्रौ विशेषेण हित विकार नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत् ॥

परन्तु सहसा आक्रमण, अवधि की न्यूनता, ज्वरांश का अभाव, अचानक अच्छा हो जाना आदि से उसको पृथक् कर सकते है।

पुरातन प्रतिश्याय

(Chronic nasal Catarrh)

नासाभ्यन्तरीय विधान की विलक्षणता के साथ नासारन्ध्र मे भार और स्फीति मालूम होती है। नासा से अधिक मात्रा में दूषित नासामल

निकलता है। आघ्राणशक्ति एवं श्रवणशक्ति मे विकृति हो जाती है। नासा गह्वर की श्लैष्मिक झिल्ली मे पुरातन शोथ हो जाता है। इसको पुरातन प्रतिश्याय (क्रोनिक नॉजल कैटार) कहते हैं।

कारण

पूर्व मे वर्णन किया हुआ प्रतिश्यायाणु ही कारण होता है। वार-वार तरुण प्रतिश्याय (एक्यूट नॉजल कैटार) के आक्रमण से यह रोग उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त उपदंश और कण्ठमाला इसके उद्दीपक कारण हैं।

लक्षण

इस रोग मे नासाभ्यन्तरीय श्लैष्मिक झिल्ली मोटी और कृष्णवर्णवाली हो जाती है। कभी-कभी धूसर वर्ण की भी हो जाती है। वाहर की शिराएँ फैल जाती हैं। निर्गत क्लेद गाढ़ा एवं पीला हो जाता है। नासा कोटर में अधिक परिमाण में शुष्क श्लेष्मा संचित हो जाता है। नासिका के मध्य में भार की प्रतीति होती है और नासा गह्वर के पश्चात् रन्ध्र से गाढ़ा श्लेष्मा (फेरिंक्स) मे गमन करके खाँसी पैदा कर देता है। इस खाँसी से प्रातःकाल की निद्रा भङ्ग हो जाती है और आघ्राणशक्ति का ह्रास होता है अथवा आघ्राणशक्ति विल्कुल नष्ट हो जाती है। सूजन के वढ़ने से श्रवणशक्ति का भी ह्रास हो जाता है और स्वर सानुनासिक हो जाता है। सम्मुख कपाल मे वेदना और भार या वोझ वर्तमान रहता है। नासा मार्ग के वन्द हो जाने से नासिका से श्वास-प्रश्वास लेने मे वहुत कठिनाई मालूम होती है।

भावीफल

पुराना प्रतिश्याय कष्टसाध्य रोग है। आरोग्य होने के लिये दीर्घ काल तक इसकी चिकित्सा करनी चाहिये। परन्तु, अधिकांश रोगी चिरकाल तक चिकित्सा नहीं कराते हैं। अतः वे आरोग्य लाभ से वञ्चित रहकर चिरकाल तक कष्ट भोगते हैं।

चिकित्सा का प्रकरण

प्रतिश्याय की चिकित्सा तीन श्रेणियों मे विभक्त की जाती है। (१) निवारक चिकित्सा, (२) सार्वाङ्गिक चिकित्सा (३) और स्थानिक चिकित्सा। ये तीन प्रकार की चिकित्सा प्रतिश्याय की की जाती है।

निवारक चिकित्सा

सक्षेपत. क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्

अर्थात् जिन-जिन कारणों से बार-बार प्रतिश्याय का आक्रमण होता है, उन-उन कारणों का त्याग कर देना चाहिये। इसके लिये आलसी स्वभाव का त्याग करके विमुक्त वायु मे परिभ्रमण करना चाहिये। प्रात'काल शीतल जल से स्नान करने का स्वभाव डाल। यदि शीतल जल से स्नान करना अनुकूल न पडे तो मुखमण्डल, मस्तक, गला प्रभृति को शीतल जल से धोवें। शीतल जल से गण्डूप करना चाहिये। इसका कारण यह है कि इससे वाह्य रक्त-प्रणाली मे सकोचनशीलता की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और जिन रक्तवाहिनियों की क्षीणता से प्रतिश्याय का प्रादुर्भाव होता है उसके द्वारा उस दौर्बल्य की प्रवणता की प्रतिक्रिया सिद्ध होती है।

वासस्थान

नीचा, नमीदार और ठण्ढे स्थान पर निवास करने से प्रतिश्याय बढता है। अत' ऐसे वासस्थान का त्याग करके ऊँचे, शुष्क एवं गरम स्थान में वास करना आवश्यक है और शुष्क-शीतल स्थान में कुछ दिनों के लिये वायु परिवर्तन कर देने पर भी उपकार होता है। समुद्रस्नान तथा स्रोत-जल मे स्नान करना भी लाभदायक है।

सार्वाङ्गिक-चिकित्सा

प्रतिश्याय के उत्पन्न होने पर रोगी को आराम से शय्या पर लेटाना चाहिये। हवादार, गरम कमरा, गरम ओढना-बिछौना, गरम पेय, गरम जल से स्नान, गरम आर्द्रवस्त्र से वेष्टन (Wet Pack) लघु, सुपाच्य भोजन अथवा लंघन और शिर पर गरम वस्त्र लपेट लेवें। ये सामान्य साधन प्रतिश्याय के हैं।

यथोक्तं भावप्रकाशे—

प्रतिश्यायेषु सर्वेषु गृहं जातं विवर्जितम् ।
वस्त्रेण गुरुणा तेन शिरसो वेष्टन हितम् ॥

एलोपैथिक-चिकित्सा

कोष्ठ शुद्धि के लिये रसपुष्प (कैलोमल) अथवा अन्य विरेचक औषधियों का सेवन करे तो अच्छा है। रोग के आरम्भ में जबतक नासिका से स्राव बहने न लगे तबतक निम्नलिखित व्यवस्था करे। यदि रोगी मध्याह्न काल मे लघु भोजन कर लिया है तो सायंकाल मे भोजन नहीं देना चाहिये। शयनकाल से चार घण्टा पूर्व $\frac{1}{2}$ ग्रेन एसिटेट वा सल्फेट आफ मार्फिया अल्प परिमाण में प्रयोग करें शयनकाल में अल्प मात्रा मे ह्विस्की और जल के साथ दूसरी बार $\frac{1}{2}$ ग्रेन मार्फिया का प्रयोग करें। गात्र को गरम वस्त्र से आवृत रखें। यदि शरीर मे ठण्डक लगे तो अविलम्ब टर्किश स्नान महोपकारक है। यदि इस स्नान की असुविधा हो तो गरम जल मे राई पीस कर डाले और उससे पैरों को धोवें। उष्ण जल ही पीना चाहिये शय्याग्रहणकाल में डोवर का चूर्ण लेवें अथवा इस अवस्था में उष्ण जल, ह्विस्की और अल्प निम्बू का रस चीनी के साथ प्रयोग करने पर शीघ्र रोग का दमन किया जा सकता है।

यदि रोगी को ज्वरांश की प्रतीति होवे तो क्विनीन हैड्रोब्रोमाइड, या फेनायमान क्विनीन का मिश्रण ५ ग्रेन की मात्रा मे लेने से लाभ होता है। इस अवस्था मे रोगी को घर से बाहर निकलने न देवें। गृह के मध्य मे ही रक्खें। इससे शीघ्र ही लाभ होता है।

अहिफेन-प्रयोग की असह्यता

किसी-किसी रोगी को अल्प मात्रा में भी अहिफेन सह्य नहीं होता है। उनको वमनेच्छा, शूकावृत के तुल्य जिह्वा, गहरे रंग का मूत्र, कृष्ण वर्ण का पुरीष और सार्वाङ्गिक असुख प्रतीति होती है। ऐसी दशा मे अहिफेन का प्रयोग बन्द कर देवें। उनको एक मात्रा मर्फाइन्

और कैम्फर मिश्रित रूप से देवें। प्रातः काल लावणिक मृदु विरेचन देवें। अधिकतर यकृत की क्रिया के मन्द हो जाने पर और विबन्ध होने से श्लैष्मिक झिल्ली रक्तावेगग्रस्त हो जाती है। इस स्थल पर अल्प मात्रा में ब्लूपिल देवे। इसके पश्चात् लावणिक विरेचक औषध महोपकारक होता है।

वत्सनाभ का प्रयोग

प्रतिश्याय के साथ बालक, युवा, वृद्ध सब को ज्वराश हो जाता है। विशेष कर श्लैष्मिक झिल्ली मे सूजन और रक्तिमा हो जाती है। ऐसी अवस्था मे एकोनाइट का उपयुक्त मात्रा में प्रयोग करना महोपकारक होता है। इसके लिये संजीवनी वटी (शार्ङ्गधरोक्त) २ गोली की मात्रा में गरम जल से दिन में तीन वार लेने से भी वहुत लाभ होता है।

कपूर-प्रयोग—प्रतिश्याय मे रोग की प्रथम अवस्था में कुछ बूँद स्प्रिट आफ् कैम्फर शर्करा के साथ आध घण्टा के अन्तर से प्रयोग करें तो लाभ होता है।

एट्रोपाइन-प्रयोग—प्रचुर मात्रा मे नासापरिस्राव होने पर अल्प मात्रा मे एट्रोपाइन का प्रयोग करने से आश्चर्यजनक लाभ होता है।

नस्य-प्रयोग

प्रतिश्याय मे नासास्राव होने पर स्पिरिट आफ कैम्फर रुमाल पर छिडक कर रोगी को सुंघावे। अथवा टैनिन के सूक्ष्म चूर्ण का नस्य देवें। अथवा नीलगिरि तेल (यूक्लिप्टस आइल) को सुंघावें। प्याज, लहसुन, दालचीनी का तेल प्रभृति का भी प्रयोग करें। प्रारम्भ मे नासिका की स्थानिक चिकित्सा न करे। आगे चलकर आवश्यकता होने पर समवललवणजल वा १% एफेड्रिन सल्फेट डाला हुआ समवललवणजल नासा धोने के काम में लावें। कुल्ला करने के लिये लवण जल अथवा ग्लैकोथायमोलीन या लिस्टेरिन का प्रयोग करें। अथवा परमेगनेट ऑफ् पोटास को गरम जल मे डाल कर उस जल से नासापथ को धोवें और कुल्ला करें।

जब नासा बन्द हो जाय उस समय वाहिनी संकोचक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये अमोनिया का श्वास उपयोगी है। अत: अमोनिया (चूना, नौसादर समान भाग में मिलाकर शीशी में रखें) को सुँघा देवें। उससे नासिका-स्राव बढ़ जाता है और शिरोवेदना शान्त हो जाती है। कोई-कोई सालिसिलेट ऑफ अमोनिया का आभ्यन्तरिक प्रयोग करते हैं।

शुल्वौषधियां (Sulpha Drugs)

आजकल सल्फाड्रग्स का अधिक प्रयोग होता है। इनसे बहुत लाभ होता है। यथा एम. बी ६९३ प्रभृति है।

वैक्सीन का प्रयोग

जिस रोगी को बार-बार प्रतिश्याय होता है, उसके लिये नासास्राव में मिलने वाले जीवाणुओं से आत्मजनित वैक्सीन निर्माण कराके उसका उपयोग करें। यदि यह कार्य असम्भव हो तो बाजार से खरीद करके प्रयोग करें। इसके द्वारा चिकित्सा अव्यर्थ होती है। रोगोत्पादक संक्रामक जीवाणुओं के स्वभाव-भेद से कम्पनी ने ३ प्रकार के वैक्सीन बनाये हैं। प्रथम मात्रा में १००० मिलियन जीवाणुओं का प्रयोग करना चाहिये।

वैक्सीन न० १—यह केवल बैसिलस सेप्टस जीवाणु से प्रस्तुत होता है। जिस प्रतिश्याय मे यह जीवाणु होवें उसमें यह वैक्सीन लाभ करता है।

वैक्सीन न० २—माइक्रोकोक्स कैटारालिस नामक जीवाणुजन्य रोगों में उपयोगी है।

वैक्सीन न० ३—नासाभ्यन्तरीय श्लैष्मिक झिल्ली से कलचर प्रस्तुत करके देखें कि इसमें दोनों प्रकार के जीवाणु हैं, कि नहीं। यदि हो तो उसकी व्यवस्था करें।

बलकारक औषध-प्रयोग

रोगान्त में दुर्बलावस्था होने पर रोग का पुनराक्रमण निवारण और रोगी के बलविधान के लिये बलकारक औषध, विशेषकर लोहघटित औषध की व्यवस्था करें।

शस्त्रचिकित्सा

यदि नासार्श, तुण्डिकावृद्धि, कण्ठशालूक, पूययुक्त नासागह्वरादि दूषित स्थान होवें, तो शस्त्रचिकित्सा द्वारा उनको ठीक करना चाहिये। उसके बाद नासा में स्थानिक कार्य के लिये, एथनोलामाइन में निर्मित सल्फाडायासाइन का २—५% घोल लगाया जाता है तथा रेडियम लवण का उपयोग प्रविकिरण (Iriadiation) के लिये किया जाता है।

आगन्तुक बाधाप्रतिषेध

प्रतिश्याय से पीड़ित रोगी अपने गृह में रह कर अन्य व्यक्तियों के साथ स्वल्पतया सम्बन्ध रक्खें। भाषण करने के समय, खाँसने, छींकने पर मुख, एवं नासिका के ऊपर रूमाल का प्रयोग करें। मुख, और नासास्राव से दूषित वस्त्रों को गरम जल में डालकर फिर साबुन से धोवें अथवा जला देवें। रोगी को सार्वजनिक स्थान—सभा आदि में नहीं जाना चाहिये। जो बार-बार इस रोग से पीडित रहते हैं, उन्हें मेला आदि भीड़ वाले गन्दे स्थानों में नहीं जाना चाहिये। स्वाभाविक खाद्य पदार्थों का सेवन करें। शुद्ध जलवायुयुक्त स्थान में निवास, परिभ्रमण, व्यायाम, निद्रा का ठीक-ठीक प्रयोग और कोष्ठशुद्धि रक्खें। शीत-संताप से आवश्यकता से अधिक शरीर की रक्षा नहीं करें। इसको शरीर वज्रीकरण (Hardening) कहते है।

इस कार्य का अभ्यास साधुओं को अधिक होता है। परन्तु सब के लिये उपयोगी है। और जो रोग प्रतिश्याय की उत्पत्ति में सहायक होते हैं, उनका प्रतिकार सर्व प्रकार से करें। वैक्सीन का भी प्रयोग किया जावे। जब प्रतिश्याय बार-बार होवे, तो राजयक्ष्मा के ऊपर दृष्टि करके रोग का परीक्षण करें।

पुरातन पूतिश्याय की चिकित्सा

रोगी को किसी प्रकार की डायेथेसिस् वर्तमान हो, तो उसकी चिकित्सा करे—रोगी के स्वास्थ्य की उन्नति के लिये चेष्टा करें। स्वाभाविक पुष्टिकारक, पाचक और लघु पथ्य की व्यवस्था करे। नासाकोटर को सदा परिष्कृत रखना चाहिये। इसके लिये पोस्ट नोजल सिरिञ्ज नामक पिचकारी से पश्चात् नासारन्ध्र के मध्य को कुछ गरम पानी से धोवें अथवा आयोडीन का अरिष्ट, वोरोसिक एसिड् प्रभृति संयुक्त करके कुछ गरम जल से धोवें। बाद मे पूर्वोक्त नस्यों का प्रयोग करे।

सार्वाङ्गिक चिकित्सा के लिये भिन्न-भिन्न स्थलों पर पृथक्-पृथक् औषधों का प्रयोग करें। किसी-किसी स्थल पर काड लीवर आइल और आइयोडाइड् आफ आयरन् और किसी-किसी स्थल पर हाइयो-फास्फाइट् आफ् लाइम् का प्रयोग किया जाता है।

वालकों के प्रतिश्याय में वलकारक और परिवर्तक औषध का आभ्यन्तरिक प्रयोग करें और नासिका मे स्थानिक प्रयोग के लिये जिंक आक्साइड १ ड्राम, ग्लिसरीन १ औंस मे मिलाकर दिन में ३-४ वार रुई से प्रयोग करें। शेष चिकित्सा पूर्वोक्त ही करनी चाहिये।

आयुर्वेदीयचिकित्सा-सूत्र

नूतन प्रतिश्याय के अतिरिक्त अन्य सव प्रकार के प्रतिश्यायों मे घृत-पान प्रशस्त है। अनेक प्रकार के स्वेद, वमन और उपयुक्त समय में अवपीडन का प्रयोग इसमे अत्यन्त हितकर होता है। नूतन प्रतिश्याय के परिपाक के लिये स्वेद-प्रयोग एवं अम्लरस के सहित उष्ण पदार्थों का सेवन करें। दुग्ध अथवा गुड़ादि इक्षुविकृति के साथ आर्द्रक स्वरस, अथवा सुण्ठीचूर्ण का सेवन करे। इन क्रियाओं द्वारा कफ पक्र कर गाढ़ा पिलाहट लिये हुये निकलने लगता है। इसमें शिरो विरेचन और वातादि दोषों का विवेचन करते हुए विरेचन, आस्थापन, धूमपान और कवल धारणादि की व्यवस्था करनी चाहिये।

पक्व प्रतिश्याय में रोगी को निवात-स्थान मे शयन, उपवेशन और

शारीरिक चेष्टायें हितकर होती हैं। शिर पर गुरु और उष्ण, वस्त्र धारण करें। तीक्ष्ण शिरोविरेचन दें, तीक्ष्ण धूम भी सेवन करना चाहिये।

यथोक्त सुश्रुते—

निवातशय्यासन चेष्टनानि मूर्ध्नो गुरूष्णञ्च तथैव वासः।
तीक्ष्णा विरेका शिरस सधूमा रूक्ष पलान्न विजया च सेव्या॥

अपथ्य-वर्णन

शीतल जल से स्नान, चिन्ता, शोक, मैथुन, अतिरूक्ष भोजन, नूतन मद्यपान और मलमूत्रादि वेगविधारण ये सब पक्वप्रतिश्याय में अहितकर होते हैं।

यथोक्त सुश्रुते—

शीताम्बुयोषिच्छिशिरावगाह चिन्तातिरूक्षाशनवेगरोधान्।
शोकञ्च मद्यानि नवानि चैव विवर्जयेत्पीनस रोगजुष्ट॥

पक्वप्रतिश्याय की चिकित्सा

पक्वप्रतिश्याय मे वमन, शारीरिक अवसन्नता, गुरुत्व, ज्वर, अतिसार, अरुचि और अप्रीति ये सम्पूर्ण उपद्रव उपस्थित होने पर लंघन, पाचक और अग्निवर्धक औषध का प्रयोग करना चाहिये।

वमन-प्रयोग

वात-श्लेष्मयुक्त प्रतिश्याय मे तरुण रोगी होने पर उसको अधिक मात्रा मे द्रव पदार्थ पान कराकर वमन करावे और उपस्थित उपद्रवों की चिकित्सा करे। इससे रोग मे मृदुता आती है। फिर अपक्व प्रतिश्याय के तुल्य चिकित्सा करें।

वातिक प्रतिश्याय की चिकित्सा

वातिक प्रतिश्याय मे विदारीगन्धादिगण (सुश्रुतोक्त) औषधियों का क्वाथ बनावें। उसमे पञ्चलवण का प्रक्षेप डालकर घृतपाक विधि से घृत पकावें।

सेवन विधि—स्नेह-पानविधि के अनुसार घृतपान करावें और नस्य का प्रयोग करें।

पित्तज और रक्तज प्रतिश्याय की चिकित्सा

इन दोनों प्रतिश्यायों मे काकोल्यादि मधुरगणों की ओषधियों का क्वाथ बनावें एव उस क्वाथ में घृत पकावें। फिर विधि पूर्वक उसका सेवन करें। इसमें शीतल परिषेक और शीतल लेप हितकर होते हैं।

कफज प्रतिश्याय की चिकित्सा

कफ जन्य प्रतिश्याय मे पहले रोगी को घृत पान करावें, इससे स्निग्ध हो जाने पर वमनकारक द्रव्यों के साथ सिद्ध किया हुआ तिल, उडद और मटर का यवागू बनाकर पिलावें, इससे वमन होगा। वमन के पश्चात् कफनाशक मण्ड प्रभृति खाद्य पदार्थ की व्यवस्था करें।

शिरोविरेचन-प्रयोग

विडङ्गादि योग

वायविडंग, सेंधानमक, हिंगु, गुग्गुल, मनःशिला और वच।

विधि—इन ओषधियों का कूट-पीस कर चूर्ण तैयार करें। इसका नस्य लेने से प्रतिश्याय नष्ट होता है।

कट्फलादि नस्य-प्रयोग

काय फल का छिलका लेकर कूट-पीस कर छान लेवें। इसका नस्य लेने से प्रतिश्याय मे लाभ होता है।

अवपीड़न में नस्य का प्रयोग

पीपल, सहिजन के बीज, वायविडग और काली मिर्च।

विधि—इनको कूटपीसकर छान लेव। इसका नस्य लेने से प्रतिश्याय नष्ट होता है।

चातुर्जातादि-प्रयोग

दालचीनी, बडी इलायची, तेजपात और नागकेशर।

विधि—इन ओषधियों का कूट-पीस छानकर चूर्ण शीशी मे रक्खें। इसका नस्य लें, इससे प्रतिश्याय में लाभ होता है। अथवा कलौंजी के चूर्ण का नस्य लेव।

यमानिका-सत्त्व का नस्य

अजवाइन का सत्त्व ६ माशा, कपूर ३ माशा, हुलहुल १ माशा, सुवर्चला स्वरस १ तोला, पिपरमेण्ट ४ माशा, वायविडंग १ तोला, प्याज का रस १ तोला, हींग १ माशा, घुडवच ६ माशा।

विधि—इन सबको पीसकर प्याज और हुलहुल के रस मे घोंट देवें। इसका नस्य देने से प्रतिश्याय मे लाभ होता है।

धूम-प्रयोग

घृत और तेल मे जौ का सत्तू मिलाकर धूम पीवें अथवा सर्पगन्धा के धूम का प्रयोग करें, इससे प्रतिश्याय में लाभ होता है।

संजीवन्यादि प्रयोग

सञ्जीवनी वटी (शार्ङ्गधरोक्त) ३ माशा, अभ्रकभस्म डेढ माशा, प्रवालभस्म ६ माशा, चन्द्रामृत ३ माशा, तालिसादि चूर्ण अढाई तोला।

विधि—इन सबको एक मे मिला और घोंट कर डेढ-डेढ माशे की मात्रा में बनप्सा के शर्बत से दिन में तीन बार चाटना चाहिये और भोजन के बाद द्राक्षारिष्ट १-१ तोला प्रात-साय दें।

आद्रकावलेह

आर्द्रक एक पाव लेकर उसको छीलकर शिलापर चटनी के समान पीस करके गौ घृत एक छटॉक मे पिसी हुई आद्रक को पकावें। पक जाने पर उसमें आधा सेर चीनी और पाव भर जल डालकर फिर पकावें। जब पाक विधि से परिपक्व हो जावे तो १-१ तोला की मात्रा मे गरम जल से दिन मे प्रात-साय सेवन करे। इससे प्रतिश्याय मे बहुत लाभ होता है।

बनप्सिका क्वाथ

बनप्सा के फूल २ माशा, गाजवां २ माशा, रेशाखतमी २ माशा, अजीर ४ दाना, मुनक्का ११ दाना, मुलेठी २ माशा, लसोडा ७ दाना काली मिर्च १ माशा लें।

विधि—यह एक मात्रा है, इसको ६ छटाँक जल मे पकावें। शेष डेढ़ छटॉक क्वाथ रहने पर गरम-गरम ही पीना चाहिये। वाद को कपडा ओढ़कर लेट जाना चाहिये। इस भाँति प्रातः-सायं ५ दिन तक क्वाथ पीवें। इससे प्रतिश्याय अच्छा हो जाता है।

व्योषादि वटी

सोंठ, काली मिर्च, पीपल, अम्लवेत, चव्य, तालीसपत्र, चित्रक, जीरा सफेद, जिरिष्क, दालचीनी, बडी इलायची और तेजपात प्रत्येक १-१-तोला एवं पुराना गुड़ १० तोला लें।

विधि—पहले सव ओषधियों को कूट पीस-छान लें। वाद मे गुड़ मिलाकर घोंटें और जंगली वेर के वरावर गोली बना लेवें।

मात्रा—१-१ गोली तीन-तीन घण्टे के अन्तर से गरम जल से प्रयोग करें।

गुण—सब प्रकार के प्रतिश्याय मे लाभ करती है।

यूनानी मतानुसार नजला-प्रतिश्याय के भेद का वर्णन

जब शिर से द्रव नासिका में गिरता है तब उसको प्रतिश्याय कहते हैं और जब शिर से कण्ठ, कर्णादि में द्रव गिरता है तब उसको नजला कहते हैं।

यथोक्तम्—

यदा द्रवं मलीभूत शिरसो नासिकां प्रति-पतेत्तदा प्रतिश्यायं जानीयाद्वैद्य सत्तमः।
यदा तु शिरस कण्ठे किंवा कर्णादिके पतेत् भिषग्भिस्तस्ययोनानौ नजला नाम कथ्यते।
कल्प्यतेऽय प्रतिश्यायो वाह्याभ्यन्तरभेदत- नासाकण्ठादिपतनात्प्राप्तासञ्ज्ञा द्वयं सखे॥

चित्रक-हरीतकी अवलेह

चित्रक की मूल ६। सेर, पाकार्थ जल ५० सेर, शेष क्वाथ १२॥ सेर, आमला का स्वरस १२॥ सेर, गिलोय ६। सेर, दशमूल मिलित ६। सेर, पाकार्थ जल १०० सेर, शेष क्वाथ २५ सेर, हरीतकी चूर्ण ८ सेर, शुद्ध गुड १२॥ सेर।

विधि—इन सब द्रव्यों को एकत्र करके पाक करें, जब पाक तैयार

हो जावे, तब उसमें कालीमिर्च का चूर्ण १६ तोला, पिप्पली चूर्ण १६ तोला, शुण्ठी चूर्ण १६ तोला, दालचीनी चूर्ण १६ तोला, तेजपत्र चूर्ण १६ तो०, छोटी इलायची चूर्ण १६ तोला, यवक्षार चूर्ण ४ तोला इनका प्रक्षेप डाल। फिर खूब घोंटकर मिला दें। अवलेह शीतल होने पर दूसरे दिन मधु ४ सेर परिमाण में मिला देवें।

मात्रा—इस औषध को अग्निबलानुसार विवेचना पूर्वक प्रतिदिन प्रात-सायं ६ माशे से १ तोला तक गरम जल से सेवन करें।

गुण—इससे सब प्रकार के नवीन-प्राचीन प्रतिश्याय अच्छा हो जाता है। परन्तु इस औषध को जीर्ण प्रतिश्याय एवं दुष्ट प्रतिश्याय में लगातार २—३ मास तक सेवन करें और हितकारक आहार-विहार का सेवन करें।

तमक श्वास

(Asthma)

परिचय—श्वासनली की पेशियों के सूत्रों के आक्षेप और संकोच से संयुक्त श्वासनली की नाडी सम्बधिनी पीडा को तमकश्वास कहते हैं। इसमें श्वास फूलता है और समय-समय पर वेग के स्वरूप में श्वास चढ़ता है। कभी-कभी अथवा नियत समय में श्वास लेने में बडा कष्ट होता है।

कारण

प्राय: यह रोग वंशावली के क्रम से उत्पन्न होता है। पिता-माता या पितामहादि पूर्व पुरुषों को तमकश्वास होने पर इससे सन्तति में भी तमकश्वास उत्पन्न हो जाता है। इसके सिवाय इनको किसी प्रकार की नाडी सम्बन्धी मानसिक रोग, उन्माद, अपस्मार योपापस्मार प्रभृति होने पर भी वह रूपान्तरित होकर के तमक श्वास के रूप में पुत्र पौत्रादि में प्रकाशित हो जाता है। एक वंश में कई व्यक्ति इससे पीड़ित देखे जाते हैं। पिता से ही सन्तान में उत्पन्न होता है ऐसा कोई नियम नहीं है,

माता से भी पुत्र मे आ सकता है। यह व्याधि अधिकतर शीतल और आर्द्र जलवायु वाले प्रदेश में देखी जाती है। परन्तु यह कोई मुख्य हेतु नहीं है। दूसरे प्रदेशों मे भी हो सकती है। किसी आतुर को शीत के समय मे दौरे अधिक आते हैं और किसी को गर्मी की ऋतु मे अधिक दौरे आते हैं। जब यह व्याधि एक बार उत्पन्न हो जाती है तो फिर इसके वेग समय-समय पर गर्मी, ठंढक, शुष्क अथवा आर्द्र काल मे कारणानुकूल उत्पन्न होते ही रहते हैं। इन वेगों को पैदा करने के लिये कारणों की आवश्यकता होती है। अतः कारण नीचे लिखे जाते हैं।

किसी आतुर को धूलिकणों से, किसी मे तृणों से और किसी में जन्तु वा द्रव्य की गन्ध से यह रोग उद्दीप्त हो जाता है। किसी को नासा के अन्दर की श्लैष्मिक-कला मे शोथ होने से प्रतिश्याय, पक्वाशय, यकृत्, अन्त्र और जरायु प्रभृति की उग्रता से यह रोग प्रकट हो जाता है। पारद, शीशा आदि धातुओं से विपाक्त होने से, सुरावीर्य के प्रभाव से एवं मिथ्या विचारों से भी यह रोग उद्दीप्त हो जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों मे यह रोग अधिक होता है। युवा अवस्था से पूर्व ही इसका आक्रमण होता है। कभी-कभी यह बाल्यावस्था मे भी उत्पन्न हो जाता है। परंच, प्रबल रूप युवा अवस्था मे ही धारण करता है। नैसर्गिक अवस्था का परिवर्तन ही इस रोग का उद्दीपक कारण है। यह रोग अधिकतर स्वतन्त्र ही होता है। परन्तु किसी-किसी मे फिरंग, राजयक्ष्मा, वातरक्त और पीनस रोग भी इसके उद्दीपक कारण हो जाते हैं। दमावाले रोगियों को शिशु अवस्था में देह पर फुंसियाँ, शिरोवेदना, शीतपित्त और आमाशयिक रोग तथा दूसरी व्याधि अवश्य ही हो जाती है। दमावाले रोगी मे आमाशय और अन्त्र सम्बन्धी रोगोत्पादक कारण प्रथम से ही उपस्थित होने पर किञ्चिन्मात्रा में भी मिथ्याहार कर लेने पर प्रबल रूप मे श्वास उत्पन्न हो जाता है। अनेक रोगियों में प्रोटीनयुक्त आहार करने पर यह रोग उद्दीप्त हो जाता है।

सम्प्राप्ति

प्राणवाही स्रोतों का पुञ्ज—फुफ्फुस नामक श्वासयंत्र में वायु प्रणालियाँ संकुचित हो जाती हैं और वायुकोष्ठ फैल जाते हैं। इसके साथ-साथ किञ्चिन्मात्र वक्षोदर मध्यस्थ मांसपेशी भी संकुचित हो जाती है। वेग के बाद वायु प्रणालियाँ और वायुकोष्ठ अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। पुरानी अवस्था में यह स्वरूप कुछ अवशिष्ट ही रह जाता है। वृक्कव्याधि, योपापस्मार, हृद्व्याधि जन्य तमक श्वास में यह दशा नहीं होती है। श्वासनली के प्राचीर निर्माण में जो अरेख पैशिक सूत्र सहायता करते हैं और जो नली के अति सूक्ष्म भाग तक फैले रहते हैं उन सब में आक्षेप होने से श्वासनलीय पेशी में आक्षेप और संकोच उत्पन्न हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप श्वास रोग उत्पन्न हो जाता है। अनेक स्थलों पर विशुद्ध आक्षेपयुक्त तमक श्वास नहीं देखा जाता है। कभी-कभी श्वासनलीय प्रतिश्याय (कैटार) इस आक्षेपयुक्त तमक श्वास का सहवर्ती उत्पादक कारण होकर रोग की तीक्ष्णता और स्थिरता को बढ़ा देता है।

पूर्वरूप एवं लक्षण

सहसा अर्द्धरात्रि के समय तमक श्वास का दौरा शुरू हो जाता है वह दौरा दो-तीन घंटे लगातार रहने से रोगी की नींद भंग हो जाती है। वेग से प्रथम रोगी की अवस्था अच्छी रहती है। रोग का कारण ज्ञात न होकर के रोग अचानक शुरू हो जाता है। कभी-कभी अनेक प्रकार के पूर्व लक्षण प्रकट हो जाते हैं। यथा—गलावरोध, प्रतिश्याय, छींकों का आना, जृम्भा आदि। कभी-कभी आध्मानयुक्त अतिसार हो जाता है। कभी-कभी अति क्षीणता, आलस्य, शिरोवेदना, अवसाद, तन्द्रा आदि पूर्वरूप उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी मानसिक स्फूर्ति अस्वाभाविक रूप से उपस्थित हो जाती है। कभी-कभी हल्का रंगवाला मूत्र अधिक परिमाण में निकलता है। उसका आपेक्षिक गुरुत्व (स्पेसिफिक ग्रैविटी) न्यून हो जाता है। कभी-

कभी वक्षःस्थल मे भारीपन मालूम होता है। किसी-किसी स्थल पर साधारण खाँसी आने लगती है और ऊर्ध्वश्वास-मार्ग मे उग्रता उत्पन्न हो जाती है।कभी-कभी वक्ष प्रदेश मे दबाव प्रतीत होता है और कभी-कभी हनु के नीचे के भाग मे कण्डू उत्पन्न हो जाती है।

जैसे-जैसे तमकश्वास पुराना होता जाता है। ये पूर्वरूप अल्प मात्रा में उत्पन्न हो जाते है। अथवा पूर्वरूप के विना भी रोग अचानक आरम्भ हो जाता है। रोगी को श्वास लेने मे बहुत कष्ट होता है। रोगी लेटा हो, तो उठकर चारपाई पर बैठ जाता है। दोनों बाहु सामने की ओर स्थिरभाव से रखता है, दोनों कन्धों को ऊपर उठाता है, शिर पीछे की तरफ झुका रहता है। चारों तरफ तकिया का सहारा लेकर चारपाई पर बैठ जाता है। रोग की प्रबलता के समय श्वास कठिनाई से निकलता है। उच्छ्वास अल्प और निःश्वास लम्बा होता है, श्वास-प्रश्वास का शब्द सिटी बजने के तुल्य शब्द सुनाई देता है। कभी-कभी उच्चग्राम विशिष्ट शुष्क शब्द (सिबिलेन्टराल्स) वा कूजन शब्द (Rhonchus) फॉ-फॉ शब्दादि सुनाई पडते हैं। रोगी का वर्ण नीला पड जाता है, मुख मलीन तथा दुःखी प्रतीत होता है।

रोगी सामान्यतया हिलने-डुलने एवं बोलने मे असमर्थ हो जाता है और रक्तसंचालन की विलक्षणता से हाथ-पैर ठंडे पड जाते हैं। मुख पर स्वेद निकलने लगता है। कभी-कभी मुखमण्डल पर भयसूचक लक्षण दिखाई देते हैं। ग्रीवा की शिरायें फूली हुईं प्रतीत होती हैं। आतुर श्वास लेने की इच्छा करता है। इसलिये किसी वस्तु को पकड़ कर अथवा, बाहु पर शिर रखकर श्वास लेता है। श्वास-प्रश्वास के अभाव मे कण्ठ स्वर प्रायः लुप्त मालूम होता है। प्रति श्वास-प्रश्वास में श्वास प्रतिश्वासीय पेशियों की क्रिया में अधिकता हो जाती है नासिका फैल जाती है तथा नाडी की गति क्षीण और क्षुद्र हो जाती है। कभी-कभी अनियमित भी हो जाती है। श्वास के आरम्भ मे खाँसी नहीं आती है। परन्तु बाद को खाँसी आने लगती है। जब वेग

समाप्त होने लगता है, उसी समय खाँसी आ जाती है। इसके साथ-साथ कुछ श्लेष्मा भी निकलता है। जब कफ निकलने लगता है तब वेग कम हो जाता है। इस कफ की परीक्षा करने पर इसमे एक प्रकार के विशेष स्फटिक (Charcot Leyden crystals) मिलते हैं। ये स्फटिक तमक श्वास के श्लेष्मा मे ही होते हैं। जिस श्वास में कफ निकलता रहता है उसमे कम कष्ट होता है। वेग का समय कोई निश्चित नहीं रहता। किसी में अल्पकाल तो किसी में चिरकाल तक रहता है। एक ही आतुर में भी सदा वेग का समय समान नहीं होता है। कभी-कभी दमा का वेग कुछ मिनटों से लेकर कई सप्ताह तक रहता है। किसी-किसी स्थल पर रोगी ६ घण्टा तक कष्ट भोगकर गहरी नींद मे सो जाता है और जागने पर पूर्ण स्वस्थ प्रतीत होता है। किसी-किसी को १-२ दिन तक श्वास-प्रश्वास मे कूजन-शब्द और कष्ट वर्तमान रहता है। कभी-कभी रोग का वेग कुछ काल तक शान्त रहकर फिर ४-५ दिन तक बना रहता है। परन्तु, फिर रोग गुप्त हो जाता है। इसके बाद कई महीना अथवा कई वर्ष तक रोग का आक्रमण नहीं होता है।

इस समय वक्षः स्थल की परीक्षा करने पर रोग के चिह्न नहीं मालूम होते हैं। यदि रोग का वेग चिरकाल तक बार-बार प्रकाशित होता है तो उरोगुहा के सब यन्त्र आक्रान्त होकर पीडा से ग्रस्त हो जाते हैं। इस रूप मे फुस्फुस का एम्फीसेमा (Emphysema) और पुरातन श्वासनलीय प्रतिश्याय (ब्रोङ्कियल कैटार) उपस्थित हो जाता है। सामान्य परिश्रम से भी श्वास बढ जाता है और वयोवृद्धि के साथ-साथ हृदय का दक्षिण भाग आक्रान्त हो जाता है। अन्त मे ट्राईकस्पिड (Tricuspid), इन्सोफिसीयेन्सी, रक्तसंचालन मे व्याघात और शोथ उपस्थित होकर रोग साघातिक हो जाता है। अंगुल-प्रहार (Percussion) से अति गुञ्जन शब्द मालूम होता है। सुनने से तो उच्छ्वास लघु मालूम होता है किन्तु, अबल होता है। निःश्वास लम्बा किन्तु उसमे प्रबलता कम होती है। श्वास और प्रश्वास में कूजन शब्द श्रोत्रगोचर होना है।

रोग-निर्णय

लक्षणों को देखते ही श्वास रोग का निर्णय किया जा सकता है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यह वस्तुत तमक श्वास है अथवा किसी अन्य रोग के कारण भूत लक्षण है। अन्य रोगों से उत्पन्न हुये श्वास भी कुछ काल के बाद तमक श्वास मे परिणत हो जाता है। दमा मे श्वास कठिनाई से आता है और कूजन शब्द दूर से सुन पड़ता है। उसका आकार और श्वास लेने की तरीका इसको भलीभांति प्रकाशित कर देता है। कफ मे स्फटिक विशेप देखे जाते हैं। अम्लरंगेच्छु बढ जाते हैं। स्वस्थावस्था में १-२ प्रतिशत देखे जाते हैं। परन्तु तमक-श्वास में १०-३० प्रतिशत अम्लरगेच्छु देखे जाते हैं। इन लक्षणों से तमकश्वास का पूर्ण निर्णय हो जाता है। लक्षणों के अत्यन्त प्रबल होने पर भी यह रोग सांघातिक नहीं होता है।

यथोक्तं चरके—

प्रतिलोम यदावायु. स्रोतांसि प्रतिपद्यते।
ग्रीवां शिरश्च सगृह्य श्लेष्माण समुदीर्य च॥
करोति पीनस तेन रुद्धो घुर्घुरक तथा।
अतीव तीव्र वेगञ्च श्वास प्राण प्रपीडकम्॥

प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते।
प्रमोह कासमानञ्च स गच्छति मुहुर्मुहु॥
श्लेष्मणामुच्यमाने च भृश भवति दु खितः।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्त्तं लभते सुखम्॥

अथास्योध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम्।
न चापि निद्रांलभते शयान. श्वास पीडित॥
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः।
आसीनो लभते सौख्यमुष्ण चैवाभिनन्दति॥

उच्छ्रिताक्षो ललाटे न स्विद्यताभृशमर्तिमान्।
विशुष्कास्यो मुहुश्वासो मुहुश्चैवावधम्यते॥
मेघाम्बु शीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्चाभिवर्धते।
स याप्यस्तमक' श्वास. साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः॥

प्रतमक का लक्षण

ज्वरमूर्च्छा परीतस्य विद्यात्प्रतमकन्तुतत्
उदावर्त रजोऽजीर्ण क्लिन्नकाय निरोधजः
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति
मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्सततमकन्तुतत्

इस रोग की चिकित्सा तीन उद्देश्यों से करनी चाहिये।

(१) रोगी की यंत्रणा दूर करें। (२) रोग का वेग व प्राबल्य का दमन करे। (३) रोग के पुनराक्रमण को दूर करें।

यन्त्रणा नाशक उपाय

स्नेह स्वेदविधि—श्वास रोगी के वक्ष स्थल पर तेल में लवण मिलाकर मालिश करें। ऊपर से नाडी, प्रस्तर प्रभृति मे स्वेद देवें। इससे श्वास प्रणालियों मे जमा हुआ श्लेष्मा पिघल जाता हैं। श्वास-स्रोत मृदु हो जाते हैं तथा प्राणवायु की गति आनुलोमिक हो जाती है।

यथोक्तं चरके—

हिक्का श्वासार्दित स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत्।
आक्त लवण तैलेन नाड़ी प्रस्तर सकरै॥
तैरस्य ग्रथित श्लेष्मा स्रोत स्वभिलीयते।
खानिमार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता॥
यथाद्रि कुन्जेष्वर्कांशु तप्त विष्यन्दते हिमम्।
श्लेष्मात्तस. स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते हिमम्॥

वमन-प्रयोग

स्नेह स्वेद से फुफ्फुसस्थ श्लेष्मा पिघलकर सूक्ष्म प्रणालियों के द्वारा आमाशयमें पहुँचता है। उस समय स्निग्ध स्विन्न रोगी को स्निग्धशाली चावलों का भात, मछली वा शूकर के मांस-रस के साथ खिलावे। अथवा दधि के साथ खिलावें, इससे आमाशय मे और भी कफ का उत्क्लेश होता है। उस समय पीपल, सेंधानमक और मधु मिलाकर वमनकारक काथों का प्रयोग करें। किन्तु वमनीय ओषधियाँ वातानुलोमक ही होनी चाहिये। वमन होने से दूषित कफ निकल जाता है; श्वास स्रोत

शुद्ध हो जाते हैं एवं प्राण वायु अनुलोम हो जाता है। इससे कफाधिक्य वाले रोगी के फेफड़ों मे प्रायः कभी-कभी कुछ कफ अवशिष्ट रह जाता है, उसके लिये अधोलिखित धूम्र पीवें।

हरिद्रादि धूम

हल्दी, यव, एरण्ड की जड, लाख, मनःशिला, जटामांसी, देवदारु, बडी इलायची।

विधि—इनको समान मात्रा में लेकर पीसकर वत्ती बनाकर सुखावें। फिर घी से स्निग्ध कर इसका धूम पीवें। इससे अवशिष्ट कफ निकल जाता है।

धत्तूर धूम्रपान विधि

धतूरे के फल, पत्र एव शाखा लेकर कूटकर सुखा लेवें। फिर चिलम पर रख करके इनका धूम पीवें। इससे कफ स्रोतों से बाहर निकल जाता है। विस्तृत स्रोत संकुचित होकर स्वस्थ अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। यह धूम्र तमकश्वास मे भी अति लाभदायक है। इसके सिवाय कफाधिक्यवाले श्वास मे भी यह धूम्र अतीव हितकारक है। परञ्च; पित्ताधिक्य में यह हानिकारक है। प्रतमक श्वास मे इसका धूम्र न पिलावें। धतूरे के पत्तों को सुखाकर इसके सिगरेट बनाकर धम्र पिलावें। यथोक्त म् भैषज्यरत्नावल्याम्—

कनकस्य फल शाखां पत्र सकुट्य यत्नतः
शोषयित्वा च तद्धूमपानाच्छ्वासो विनश्यति

दमा नाशक सिगरेट

पोटासियम् नाइट्रेट्, लुवेलिया, कालीचाह, आइल आफ् एनेसी धतूरा, इनको मिलाकर सिगरेट बनाकर पिलावें। इसमे कभी-कभी गॉजा भी मिलाया जाता है। इससे दमा में अतीव लाभ होता है। आजकल बाजार में जो स्ट्रैमोनियम् (धतूरा) के पत्ते, नाइटपेपर, बेलाडोना और हाइपोसियामस के बने बनाये धूम्र द्रव्य मिलते हैं; उनका प्रयोग करें।

श्वासग्रहण-प्रयोग

पहले ५-६ बूँद की मात्रा मे आइयोडाइड् आफ् ईथल का और ईथर अथवा क्लोरोफार्म का श्वास ग्रहण करावें। स्ट्रैमोनियम (धतूरा) के स्वरस मे सोरा डाल देवें, फिर उसमे शोषक कागज को भिगोकर सुखावें और बाद को उसका धूम पीवें अथवा बादामी रंग के कागज का धूम पीवें। इससे लाभ होता है।

ग्राह्य प्रयोग (व्या० वि० का)

पोटैसियम् ब्रोमाइड्	१० ग्रेन
पोटैसियम् आयोडाइड्	५ ग्रेन
क्लोरल हाइड्रास	१० ग्रेन
टिञ्चर लोबीलिया ईथर	१० बूंद
एका क्लोरोफार्म	१ औंस

सेवन विधि—तीन-तीन घंटे का अन्तर देकर ऐसी एक मात्रा देवें। इस दवा मे टिञ्चर हायोसियामस ½ ड्राम अथवा टिञ्चर बेलाडोना ५ बूँद प्रति मात्रा मे मिला सकते हैं। इससे लाभ होता है।

यदि रोग का वेग नियमित हो और बार-बार प्रकाशित होवे तो किनाइन का प्रयोग करें। परन्तु ; यदि रोग का वेग अनियमित हो और चिर काल के बाद प्रकट होवे तो सैकारेटेड् कार्बोनेट् आफ् आयरन, ऑक्साइड् आफ् जिङ्क और आर्सेनियस् एसिड् का प्रयोग करें। रोग के विषम होने पर नाइट्रेट् आफ् सिल्वर देना अच्छा है। दूध के साथ २० या ३० बूँद की मात्रा मे ग्रिण्डेलिया का तरल सार प्रयोग करने पर समय-समय पर आश्चर्यजनक फल होता है। श्वासनलीय शोथ वर्तमान न होने पर पूरी मात्रा मे अफीम का प्रयोग करें। किसी-किसी को वमन कारक औषध से लाभ होता है। रोग की प्रबलता में एट्रोपिया के साथ मार्फिया का त्वचोऽधः क्षेपण (हाइपोडर्मिक) से प्रयोग करें। इससे लाभ होता है।

वेगकाल में—एड्रिनलीन (Adrenalin) सल्यूशन (सहस्र मे

१ भाग) का १/२-१ शतांश मीटर तक का इञ्जेक्शन देवें। इससे तत्काल लाभ होता है। अथवा एट्रोपीन १/१२० से १/६० ग्रेन का एक वार में इञ्जेक्शन दें। इससे भी लाभ होता है। अथवा एफीड्रिन ३/४ ग्रेन, इञ्जेक्शन रूप मे अथवा खाद्य रूप में देवें। इससे उचित मात्रा में लाभ होता है।

रोग की वेगावस्थामें—ष्ट्रिक्नाइन् १/६० ग्रेन और एट्रोपाइन १/५० ग्रेन इनको एक मे मिला करके प्रतिदिन अथवा एक दिन का अन्तर देकर त्वचोऽन्तः क्षेपण करें। वाद को सावधानी से इसकी मात्रा बढ़ावें।

रोग के आरम्भ में फेनास्टीन वा एन्टीपाईरीन तथा हाइपोफस्फाइट्स के प्रयोग से पूर्ण उपकार की आशा की जाती है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि खाली पेट मे उष्ण काफी का प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। कोई-कोई कहते हैं कि उष्ण काफी के साथ साइट्रेट आफ् केफिन का प्रयोग करना चाहिये। कोई-कोई चिकित्सक पाईराइडीन का ही व्यवहार करते हैं।

विधि—एक छोटे कमरे में एक पात्र रखकर उसमें पाईराइडीन् १ ड्राम डाल देंव। उस कमरे में ११/२ घंटे तक रोगी को रखने की व्यवस्था करें। यह व्यवस्था दिन मे तीन वार करें।

वमन कराने का समय

पक्काशय के परिपूर्ण होने पर यदि तमकश्वास का वेग उपस्थित होवे तो वमनकारक औषध का प्रयोग करें। यदि विरेचन की आवश्यकता होवे तो विरेचन देवें। ग्रन्थिवात प्रभृति पीड़ाओं के उपस्थित होने पर विधिपूर्वक उसकी चिकित्सा करें।

वाल-चिकित्सा

वालकों को यह रोग होने पर टिञ्चर फेरी परक्लोर १० बूँद और लाइकर आर्सेनिक २ बूँद इनको एक में मिलाकर ६ वर्ष के वालक को दिन में तीन वार देवें। इसके साथ शयनकाल में अनेक स्थल पर १/६० ग्रेन की मात्रा में पाइलोकार्पीन नाइट्रेट् का त्वचोऽधःक्षेपण से प्रयोग करने पर विशेष लाभ होता है।

विरामावस्था में उपचार

रोग के विरामकाल में, कार्डलीवर आइल और सिरप फेरी आयोडाइड् की व्यवस्था करें। संखिया का प्रयोग अतीव लाभकर है।

मल्ल प्रयोग—सफेद संखिया को दोलायन्त्र द्वारा गो-दुग्ध-घृत में शुद्ध करके, फिर आक के दूध से घोटकर शराव में रखकर उसके ऊपर कपड-मिट्टी करके सुखावें और बाद को मृदु पुट देवें। स्वाङ्ग शीतल हो जाने पर उसमें से संखिया की भस्म निकाल लेवें।

मात्रा और अनुपान—२ चावल मात्रा में मधु के साथ प्रातः-सायम् प्रयोग करें।

स्वानुभूत अपामार्ग-प्रयोग

रविवार के दिन स्नानादि से शुद्ध होकर वैद्य अपामार्ग की जड को लकडी से खोदकर उखाड लावें। फिर उसको जल से धोकर २ तोला जड़ लेकर साफ की हुई पत्थर की सिलपर रोगी स्वयं पीसे और उसको आधी छटॉक जल में घोलकर वस्त्र से छानकर प्रातः काल पी लेवें। उसके बाद भोजन के समय दूध की खीर खानी चाहिये। इससे दमा का दौरा शांत हो जाता है। यदि कुछ वेग शेष रहे तो फिर इसी विधि से रविवार को दवा पीवें।

अपथ्य—खटाई, लालमिर्च, तेल, गुड, तम्बाकू और सिगरेट विशेष हानिकर है। यदि तम्बाकू सेवन करनेवाला रोगी तम्बाकू का त्याग नहीं करे तो औषध का प्रभाव निष्फल हो जाता है।

हरीतक्यादि प्रयोग

हरीतकी, सोंठ, गुड, जवाखार और कालीमिर्च, इनको उपयुक्त मात्रा में बांटकर गरम जल के साथ पीवें। इससे वेग शान्त हो जाता है।

श्वासकुठार

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मीठातेलिया, सोहागा का फूला, शुद्ध मनः शिला, मरिच एवं त्रिकटु—इनको समान भाग में लेकर जल के साथ मर्दन करें। १ रत्ती प्रमाण की वटी बनावें और अदरक के साथ सेवन करें। इससे श्वास रोग में बहुत लाभ होता है।

विजय वटी

शुद्ध पारद, गन्धक, लोहभस्म, अभ्रक भस्म, ताम्रभस्म, मीठा विष, विडंग, रेणुका, नागरमोथा, बडी इलायची, पिपरामूल, नागकेशर, त्रिकटु, त्रिफला, चीते की जड और जमालगोटा, प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा से लेवें और इनका दूना पुराना गुड मिलाकर गोली बनावें। उपयुक्त मात्रा में इसका सेवन करें। इससे श्वास-रोग अच्छा हो जाता है।

कनकासव

धत्तूरे का पञ्चाङ्ग ३२ तोला, अडूसे की मूल की छाल ३२ तोला, मुलेठी, पीपल, कटेली, नागकेशर, सोंठ, ब्रह्मदण्डी, तालीसपत्र इनमें प्रत्येक का चूर्ण १६ तो०, धाई के फूल २ सेर, मुनक्का २॥ सेर, जल १२८ सेर, चीनी १२॥ सेर, मधु ६॥। सेर इन सब द्रव्यों को लेकर एक मिट्टी के पात्र में भर देवें। इसके बाद उसका मुख एक मास तक बन्द रक्खें। इसके बाद द्रवांश को छान लेवें। उपयुक्त मात्रा में इसका सेवन करने से श्वास रोग अच्छा हो जाता है। शास्त्रोक्त श्वास चिन्तामणि, सूर्यावर्त रस, श्वासभैरव रस, महाश्वासारि लोह, श्वास चिन्तामणि, लोहपर्पटी, पिप्पल्यादि लोह प्रभृति द्रव्यों का सेवन करें।

हिंस्राद्य घृत

गौ का घी ४ सेर, दूध २ सेर, जल १६ सेर और कल्क के लिये हिंस्रा (हैंस) विडंग, करञ्ज की जड, त्रिफला, त्रिकटु और चित्रक की जड़, प्रत्येक द्रव्य दो-दो तोला लेकर विधिपूर्वक पकावें। उपयुक्त मात्रा से सेवन करने पर श्वास रोग शान्त हो जाता है।

तेजोवत्यादि घृत

गौ का घी ४ सेर, कल्क के लिये चव्य, हरड़, कूठ, पीपल, कुटकी, अजवाइन्, पोहकरमूल, पलाश (ढाक) की छाल, चित्रक की जड, कचूर, संचर नमक, भुंइ आँवला, सेंधा नमक, बेल की गिरी, तालीशपत्र, जीवन्ती (डोडी) और वच प्रत्येक द्रव्य २ तोला, हींग आधा तोला और पाक करने के लिये जल १६ सेर लें, इनको विधिपूर्वक पकावें। इस घी के सेवन करने से श्वास-रोग अच्छा हो जाता है।

पथ्यापथ्य

जो आहार-विहार आदि, वायु का अनुलोमन करे, वही तमक श्वास में देंवे। जैसे—शालि, साठी चावल, गेहूँ, जौ, मूँग, कुल्थी आदि। कफ-नाशक आहार-विहारादि का सेवन करें।

गुरुपाकी, रूक्ष और तीक्ष्ण वीर्य वाले तथा दधि, मछली प्रभृति द्रव्य, रात्रिजागरण, अधिक परिश्रम, अग्नि वा धूप, अधिक परिमाण में भोजन, चिन्ता, शोक, क्रोध प्रभृति का त्याग कर देवें।

यह रोग बडा भयकर है। जो ओषधि एक रोगी को लाभ करती है वही ओषधि दूसरे रोगी के लिये हानिकारक हो जाती है। अतः आतुर की प्रकृति प्रभृति की परीक्षा करके औषध की व्यवस्था करें। विरामकाल में कारणों का ज्ञान करके उसके विपरीत चिकित्सा करें। जो प्रोटीन (प्रतनु) रोगी के लिये प्रतिकूल हो, उसकी परीक्षा करके उसको आहार से निकाल देवें।

परीक्षा-विधि—अल्प मात्रा में प्रत्येक प्रोटीन को लेकर उसको त्वचा में प्रविष्ट करें। जिस प्रोटीन से त्वचा में सूजन वा ललाई उत्पन्न हो जावे, उसको हानिकारक समझकर भोजन से पृथक् कर देवें। श्वास से जैसी गन्ध आती हो, उस गन्ध वाली वस्तुओं का सर्वथा परित्याग करें। रोगी के स्वास्थ्य का विचार करके स्थान और जल-वायु का परिवर्तन करें, क्योंकि, इस रोग का स्वभाव विशेषकर जल-वायु के ऊपर निर्भर करता है। उपरोक्त भोजन नियमित मात्रा से अधिक कभी न देवें, सदा अल्प, मृदु और सुपाच्य भोजन ही कराना चाहिये। सायंकाल को भोजन न देकर केवल दूध ही पीने के लिये देना अच्छा है। कब्जियत न होने पावे इसलिये दुग्ध में कभी-कभी द्राक्षा (दाख) पका कर पीवें। सायंकाल कुछ घूमना भी अच्छा है।

हृदयावरणीय कलाशोथ

(Pericarditis)

निर्वचन—सामान्य ज्वर, वेदना और हृत्प्रदेश में यंत्रणा तथा हृदय की क्रिया, रक्त संचालन की विलक्षणता से सयुक्त अनेक जीवाणु जन्य

हृदयावरण की कला के तरुण तान्तविक शोथ को हृदयावरणीय कला शोथ (पेरीकार्डाइटिस) कहते हैं।

कारण

यह रोग प्रायः उपद्रव के रूप मे और कभी-कभी प्रधान रूप से भी प्रकाशित होता है। इसका प्रधान हेतु आमवात है। इसके सिवाय श्वसनक ज्वर, फुफ्फुसीय क्षय, मध्योरस की लसीकाग्रन्थियों का क्षय, पूययुक्त परिफुफ्फुसीयाकला शोथ, हार्दिक अन्तः स्फालता, रक्तज्वर, प्रसूतज्वर, श्लेष्मक ज्वर, उर्मिमानज्वर (Undulent), अस्थिमज्जा शोथ जीवाणु दोषमयता सेप्टीसीमिया) पूयमयता, (पायमिया) यकृत्-विद्रधि, संक्रामक कामला प्रभृति उपसर्गजन्य और वृक्क शोथ, मधुमेह, मारक अर्बुद प्रभृति असंक्रामक रोगों मे भी होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह रोग अधिक होता है। अनेक रोगियों को जीवितावस्था में इसका परिज्ञान नहीं होता है। मृत्यु के पश्चात् परीक्षा करने पर ज्ञान होता है। प्राथमिक रोग प्रायः आमवातजन्य बालकों मे तथा युवा पुरुषों में क्षय, वृक्कशोथ, मधुमेहजन्य उत्तर आयु में दृष्टिगोचर होता है।

सम्प्राप्ति

यह रोग संक्रामक है। इसके उपसर्ग मे निम्नलिखित जीवाणु पाये जाते हैं। स्ट्रेप्टोकोकास, स्टेफ्लोकोकास, न्यूमोकोकास, क्षयाणु, श्लेष्मकाणु रक्तस्रावी कामलाजनक तनुकुन्तलाणु और गोनोकोकास तथा यकृद्विद्रधि मे कभी-कभी अमीविक डिसेन्ट्री के असीवा के उपसर्ग से यह रोग उत्पन्न होता है। आमवात का जीवाणु इसमे प्रधान रूप में मिलता है। न्यूमोकोकास क्रम मे दूसरे होते हैं। अवशिष्ट इनके बाद जाते हैं, पर जब वृक्क शोथजन्य होता है, तब उसमे कोई जीवाणु नहीं मिलते हैं। आमवात, पायमिया, प्रसूतज्वर, क्षय, न्यूमोनिया आदि रोगों मे रक्त और लसीका वाहिनियों के द्वारा संक्रमण हृदयावरणीकला मे पहुँचता है। और फुफ्फुस, परिफुफ्फुसीयाकला (प्लूरा), पार्श्व की अस्थियां, पृष्ठवंश, यकृत प्रभृति मध्योरस के समीपस्थ तथा संलग्न

अगों के रोगों मे संक्रमण सरलमार्ग से भी हृदयावरणीकला में पहुंचते हैं। वक्षः स्थल की अभिघात आदि से उत्पन्न हुए भिन्न अथवा विद्धाकृति के व्रणों मे जीवाणु बाहर से भी हृदय की आवरणीकला मे पहुचते हैं। इस सक्रमण से हृदय के आवरण मे सूजन हो जाती है। वह सूजन स्थानिक और सार्वत्रिक भी हो सकती है। जब स्थानिक सूजन होती है तब महारक्तवाहिनियों के पास हृदयमूल में रहता है और सार्वत्रिक होने से सम्पूर्ण आवरण मे फैल जाता है।

प्रकार भेद

शोथ हो जाने से दूपित स्थान से निर्यास निकलने लगता है। इस सघटन के अनुसार हृदयावरण शोथ के चार भेद माने जाते हैं।

(१) शुष्क (Dry)—इसमे तन्तुयुक्त निर्यास निकलता है और लसीका बहुत कम होती है। अतः इसको तान्तविक (Fibrinous) कहते हैं। इसमे सूखने की प्रवृत्ति अधिक होती है। अतः इसको शुष्क भी कहते हैं।

(२) उत्स्यन्दी हृदयावरणशोथ—इसमे तन्तुओं के साथ पर्याप्त मात्रा में लसीका टपकती है जिससे यह निर्यास मात्रा मे अधिक और तरल होता है। लसीका के सिवाय रुधिरकायाणु (Erythrocyte), श्वेत-कायाणु और कारणभूत जीवाणु भी होते हैं। तन्तु के साथ लसीका होने से इसको लसीयतान्तविक (Serofibrinous) भी कहते हैं। अधिकतर ये दोनों भेद आमवात मे अधिक देखे जाते हैं

(३) पूययुक्त हृदयावरण शोथ—कभी-कभी हृदयावरण शोथ में पूयोत्पादक जीवाणु और श्वेत कायाणु (Leukocyte) अधिकतर रहते हैं। देखने मे द्रव पूय के समान होता है। यह प्रकार पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग में दिखाई देता है।

(४) रक्तस्रावी हृदयावरण शोथ—इसमे रक्त की प्रचुरता होती है जिससे यह द्रव रक्त वर्ण का दिखाई देता है। क्षय, संघातकार्वुद, पर्प्यूरा प्रभृति मे रक्तस्रावी हृदयावरण शोथ होता है।

हृदयावरण मे सूजन होने से उसके अन्तस्तलों मे स्निग्धता और चमक नष्ट होने से खुरदरे हो जाते हैं जिससे हृदय के आकुञ्चन-

प्रसारण के समय वे आपस में रगड खाने लगते हैं। इसका कारण यह है कि प्रशोथमय स्थानों पर तन्तुयुक्त लसीका की तह जम जाती है। इसका संघटन ऐसा होता है कि दोनों तल एक दूसरे से विभक्त होने पर उनका आवरण लगी हुई डबल रोटी के समान, मधु के छत्ते के तुल्य (Honey combe) दिखाई देता है। इन खुरदरे तलों के आपस मे रगड खाने से ही इस रोग का लक्षण और हृत्पूर्व प्रदेश में पीडा और घर्षण शब्दादि चिह्न पैदा हो जाते हैं।

हृदयावरणीय शोथ के पर्यवसान (टर्मीनेशन)

यह सूजन अति सौम्य और निर्यास की मात्रा अत्यल्प तथा बहुत पतली तह हो, तो उसका पूर्ण चूषण होकर प्रशोथ पूर्णरूप से प्रशमित हो जाता है।

(२) दुग्धीय चिह्न (Milk spot)—इसमें सूजन मध्यम होती है। निर्यास की तह काफी मोटी होती है। इसलिये उसका कुछ अंग प्रचूषित हो जाता है। कुछ भाग अपने ही स्थान में तन्तूत्स्फोटों की उत्पत्ति से संघटित हो जाता है। इससे दूषित स्थान का भाग स्थूल होकर उस पर कहीं-कहीं सफेद चिह्न दिखाई देने लगते हैं। अतः इसको दुग्धीय चिह्न कहते हैं।

(३) अभिलग्न हृदयावरण (Adherent Pericardium)—इसमें निर्यास की तह अधिक स्थूल होती है। अतः उसका प्रचूषण कम होता है। उसका अधिकाश भाग उपर्युक्त पद्धति से संघटित होता है, इससे हृदयावरण के दोनों तह मोटे होकर बन्धों के द्वारा आपस में अभिलग्न हो जाते हैं। कभी-कभी ये बन्ध हृदयावरण के बाहर फुफ्फुसावरण, वक्ष, उदर मध्यस्थपेशी और वक्षप्राचीर के साथ बनते हैं और इन अंगों से हृदयावरण संलग्न हो जाता है। अतः इस विकार को अभिलग्न हृदयावरण कहते हैं।

(४) किसी-किसी स्थल पर निर्यास में अधिक लसीका आने लगती है और शुष्क भेद उत्स्यन्दी मे बदल जाता है।

(५) रोग के प्राचीन होने पर हृदयावरण के स्तर बहुत मोटे हो जाते हैं और उसमें चूना जमने लगता है, जिससे हृदय में चूने का प्लस्टर-सा बन जाता है।

हृदयावरण शोथजन्य परिणाम

सौम्य सूजन हो जाने पर पेशी हृदय और कपाटों में पेशी हृदय पर कोई परिणाम नहीं होता है। परन्तु तीव्र और दीर्घकालिक शोथ में पेशीय हृच्छोथ हो जाता है। उससे अन्तिम स्तर के नीचे २-३ मिली मीटर हृदय का मास फीका और स्थूल (Turbid) हो जाता है। जब हृदयावरण के स्तर काफी मोटे होकर आपस मे संलग्न हो जाते हैं तब हृदय को अपने कार्य सचालन मे कठिनाई का अनुभव होता है जिससे उसका बढना आवश्यक हो जाता है। परन्तु वह चारो ओर से दृढ़ स्थूल आवरण के द्वारा वेष्टित होने के कारण पुष्ट और विस्तीर्ण होता हैं। किन्तु बाद में दुर्बल हो जाता है। इसको कालिकोपसंकोची हृदयावरण शोथ कहते हैं। यह भेद आमवात मे नहीं होता है। यह प्राय. क्षय मे देखा जाता है।

जिस स्थल पर हृदयावरण मध्योर स्थित अनेक अङ्गों से अभिलग्न हो जाता है वहाँ हृदय उनसे बद्ध हो जाता है। इस समय हृदय के कार्य मे अत्यन्त कठिनाई हो जाती है। उससे तथा बन्धों से हृत्कपाटों के उचित रूप में मिलने मे कठिनता होने से द्वार पूर्णरूपेण बन्द नहीं होता है। अत. उनसे रक्त का प्रत्युद्गीरण होने लगता है।

जब द्रव की वृद्धि होती है तब हृदयावरण के गुहा के अन्दर दबाव बढ़ता है। इससे महाशिराओं द्वारा हृदय में आने वाले रक्त के मार्ग मे बाधा पैदा हो जाती है। द्रव जितना अधिक सचित होता है दबाव उतना अधिक होने के कारण रक्तमार्ग की बाधा बढ जाती है। जिससे प्रसार के समय हृदय मे कम रक्त आता है और सिराओं में रक्त संस्थित रहता है। हृदय में रक्त कम आने के कारण सकोच के समय महाधमनी द्वारा शरीर में और फुप्फुसीया धमनियों द्वारा फुप्फुसों मे भी कम रक्त जाता है। इससे साकोचिक

रक्त निपीड़न अल्प हो जाता है और उसके साथ नाड़ी निपीड़न भी अल्प हो जाती है। आभ्यन्तरीय श्वास के सभय यह परिणाम अत्यधिक हो जाता है जिससे नाडी की प्रतीति नहीं होती है। ऐसी नाड़ी को निःश्वसन रुद्ध नाडी कहते हैं। इससे धमनिक रक्ताल्पता हो जाती है। परन्तु शिराओं की स्थिति इसके विपरीत होती है। उनमे रक्त संस्थित होने से रक्त का दवाव वढ़ता है। शिरायें रक्तपूर्ण रहती हैं तथा रक्त की मात्रा और रक्त का दवाव अल्प होने से नाडी पतली, मृदुगति वा शीघ्र गतियुक्त हो जाती है और निश्वसनरुद्ध होती है। अभिलग्न हृदयावरण का फल भी ऐसा ही होता है। किन्तु उसका कारण हृदयावरणिक गह्वर के अन्दर दवाव की वृद्धि न होकर तान्तविक वृद्धि से महासिरा के द्वारों का उपसंकोच है जो शिराओं से आने वाले रक्त के पथ में दवाव की वृद्धि के समान वाधा पैदा करता है।

अन्य अङ्गों पर प्रभाव

हृदयावरण में अधिक द्रव के सचित होने के कारण, यकृत् और प्लीहा उसके दवाव से नीचे की ओर स्थापित हो जाते हैं। रक्तसंचार में, विशेष कर सिरागत संचार ठीक न होने से यकृत् एवं प्लीहा में रक्त संस्थित होकर उनकी वृद्धि कर देता है। रोग पुराना होने पर यकृद्दाली का आधिक्य (Cirrhosis) हो जाता है जिससे पैरों में पादशोथ और जलोदर प्रभृति रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण

हृदयावरण शोथ के आरम्भ मे पेरिकार्डियम् के प्रदेश में तीक्ष्ण छुरी से काटने के तुल्य वेदना और प्लूरिसी (परिफुफ्फुसीयाकला प्रदाह) की वेदना के समान वेदना उपस्थित होती है। कभी-कभी वेदना अल्प मात्रा मे होती है। अधिकांश स्थल में रोग के आरम्भ मे ज्वर और कम्प प्रकाशित हो जाता है। श्वासकृच्छ्र के साथ आवद्ध उग्रकास वर्तमान रहता है। रोगी का मुखमण्डल उद्वेगभावयुक्त और यंत्रणा प्रकाशक होता है और हृत्प्रदेश वा पर्शुका की उपास्थि के निम्न प्रदेश

पर दबाने से पीडा होती है। इस अवस्था में रोग का उपशमन न होकर क्रमशः सम्पूर्ण लक्षण बढ जाते हैं। कोई वस्तु निगलने में कष्टदायक होती है। हृदय की क्रिया की विषमता, अतिप्रबल ज्वर और अत्यन्त मानसिक उद्वेग उपस्थित हो जाता है। रोगी वामपार्श्व से शयन करने में असमर्थ हो जाता है। नाडी के विकार बढ़ जाते हैं। कभी-कभी स्थिर, मृदु और कभी-कभी उच्च स्वर से रोगी प्रलाप करने लगता है। प्रथमावस्था में हृदयावरण के शुष्कप्रशाहितगात्र के घर्षण से इधर-उधर संचर करने वाला स्पष्ट घर्षण शब्द श्रुतिगोचर होता है और स्वाभाविक हृच्छब्द प्रखरतर हो जाता है। इसके बाद रसोत्सृजन होने पर अथवा हृदयावरण के स्तरों के परस्पर सयुक्त होने पर यह शब्द निवृत्त हो जाता है और रसोत्सृष्ट होने पर कार्डियक् पूर्णगर्भ शब्द विस्तृत होकर अधिकतर स्थान में व्याप्त हो जाता है। हृदय का स्वाभाविक शब्द क्षीण और स्पष्ट हो जाता है। यदि उसके साथ अन्त: हृच्छोथ उपस्थित रहता है तो हृदय के आकुंचन से मर्मर शब्द सुनाई देता है।

हृदयावरण शोथ की तरुण अवस्था में रोगी की अचानक मृत्यु हो सकती है। किन्तु रोगी के आरोग्य होने पर भी हृत्प्रदेश के अग्रभाग (एपेक्स) को छोड़कर हृदयावरण का सम्पूर्ण स्थान हृदय के साथ संलग्न हो जाता है। रसनिःसरण के अधिक होने पर ग्राहक (आरिकल) कोष्ठ के निपीड़ित होने से हृदय की क्रिया अवरुद्ध होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है।

भावीफल

जब रोग आमवात के कारण उत्पन्न होता है; तब विशेष चिन्ताकारक नहीं होता है। हृदयावरण के दोनों स्तर परस्पर अभिलग्न होने से भी कोई विशेष चिन्ताकारक नहीं है। परन्तु जब हृदय मध्योरस के अन्य अगों के साथ अभिलग्न हो जाता है, तब कपाटों के कार्य में बाधा होने के कारण रोगी का भविष्य आशाजनक नहीं रहता है। अर्थात् हृदयावरण शोथ का भावी परिणाम उसकी विकृति के ऊपर निर्भर नहीं करता है। वरन् उसके कारण होने वाली कपाट की

विकृति पर निर्भर होती है। उत्स्यन्दन की दृष्टि से सपूय और सरक्त हृदयावरण शोथ कृच्छ्र साध्य होता है। लक्षणों की दृष्टि से तीव्र पीडा, श्वासकृच्छ्रता, प्रलापादि वातिक लक्षण, नाड़ी की अनियमित, क्षीण विपमगति अरिष्ट सूचक हैं। वालक, वृद्ध एवं मद्यप में रोग कृच्छ्र साध्य होता है। जव यह रोग श्वसनक ज्वर, क्षय, वृक्कशोथ, सांघातिक अर्वुद के कारण होता है, तव घातक होता है। तीव्र रोग में परिवर्तन शीघ्रता से होता है। किसी-किसी स्थल पर २-४ दिन में अत्यधिक राशि मे उत्स्यन्दन होता है और उतने ही दिनों में कम भी हो जाता है। प्राचीन रोगों मे कई सप्ताह तक उत्स्यन्दन होता है। अधिकतर मृत्यु, दूसरे या तीसरे सप्ताह मे पेशी और हृदय की दुर्वलता के कारण हृन्मोह से होती है। प्रायः रोग की अवधि १५-२५ दिन तक देखी जाती है।

चिकित्सा

जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो, उनका प्रतिकार करना चाहिये। यह रोग जिस रोग के उपद्रव रूप से उत्पन्न हुआ है उसकी चिकित्सा करना आवश्यक है। प्रधान रूप से हृदय को विश्राम देकर उसके वल को वढाना चाहिये एवं स्थानिक रक्त की अधिकता को रोकना चाहिए। यदि उत्स्यन्दन वहुत अधिक हो तो पारवेधन से उसको निकालना चाहिये और रोग के लक्षणों को दूर करना चाहिये। रोगी को शारीरिक और मानसिक विश्राम देना अत्यन्त आवश्यक है। शुष्क प्रकार में रोगी को पूर्ण धराशायी और उत्सङ्गी प्रकार में आद्योपविष्ट स्थिति मे रखें। लघु और सुपाच्य भोजन थोडी-थोड़ी मात्रा मे कई वार देवें। इसके लिये दूध, तक्र, काञ्जी, अण्डा, यूष, मांसरस, सोडावाटर, ग्लूकोज, शाक-सब्जी आदि देना चाहिये। परन्तु जल और लवण की मात्रा कम रखें। रोग के आरम्भ मे मृदुविरेचन देकर कोष्ठ की शुद्धि करनी चाहिये।

स्थानिक चिकित्सा

हृत्प्रदेश पर जलौका का प्रयोग करें। इसके लिये ३-४ जलौका पर्याप्त है। सेंक करें अथवा अलसी का उपनाह अफीम के रस को

छिड़क कर लगावें अथवा मेथिलस्यालीस्यालेट (४ भाग तेल में १ भाग) का मर्दन करें। अथवा वेलाडोनाप्लास्टर लगावे। उष्णोपचार समाप्त होने पर हृदयप्रदेश को रूई अथवा नरम कपडे से लपेट कर रखें। इससे वेदना कम होती है

हिम-प्रयोग

रोग के प्रारम्भ में हृदय-प्रदेश पर बरफ की थैली रखनी चाहिये। परन्तु हृदय पर उसका भार न पडे अतः उसको ऊपर से टागकर रखना चाहिये। दो से तीन घंटे के बाद बरफ को बदल देना चाहिये। इसका उपयोग कई दिन तक कर सकते हैं। इसका प्रयोग करने के समय गरम पानी की बोतलों से रोगी के शरीर को गरम रखना चाहिये। साथ ही उसकी गर्मी पर भी ध्यान रखें। यदि गर्मी कम हो जावे तो बरफ की थैली हटा देवें। इससे पीडा कम होती है, हृदय शान्त होता है और उत्स्पन्दन रोकने मे सहायता मिलती है।

रक्तनिष्कासन का समय

रोगी का श्वास ऊर्ध्वगामी हो, श्यावता, अनियमित द्रुतिगति वाली नाड़ी होवे, सिरागत रक्त संचय और धमनीगत रक्ताल्पता प्रभृति लक्षण उपस्थित हों तो सिरावेध द्वारा १०-१५ शी० शी० रक्त निकाले।

उदरस्फोट की चिकित्सा

यदि रोगी में पहले से उत्स्पन्दन मौजूद हो अथवा उपर्युक्त चिकित्सा करने पर भी मौजूद होवे तो वक्षःस्थल पर छाला उठानेवाली (Blistering) द्रव्यों से (यथा क्यान्थारडीन या आयोडीनपेन्ट) छाला उठाना चाहिये। यदि रोगी वृक्कशोथी हो तो क्यान्थारडीन का प्रयोग करें। किन्तु तीव्र आयोडीन अथवा सरसों का प्रलेप काम मे लावें और उसके बाद ऊपर से सेक करें।

शस्त्र चिकित्सा

उर पारवेधन पद्धति—यदि द्रव के अधिक एकत्र होने से हृदय के कार्य में बाधा होवे तो शस्त्रकर्म से अन्दर का द्रव निकाल लें। इसके लिये वाम

पंचम पर्शुकान्तराल में उरःफलक के किनारे के पास का अथवा स्तनरेखा से किञ्चित् अन्दर की ओर का स्थान पसन्द किया जाता है। विशोध की ओर ध्यान देकर त्वचा में चीरा लगाकर श्रीछिमुख और छिद्रारा (Trocar's canula) नलिका से द्रव निकालें। सम्पूर्ण जल निकालने की आवश्यकता नहीं होती है। कभी-कभी अनेक बार जल निकालने की आवश्यकता पड़ती है।

परिशोधन कर्म

जब पूय सचित होता है तब पञ्चमपर्शुकास्थि की तरुणास्थि को निकाल कर हृदयावरणगुहा को उपसर्ग नाशक ओषधियों के घोल से धोई जाती है।

पर्शुकामञ्जन विधि

जब बन्धों से हृदयावरण अभिलग्न हो जाता है तब विशेष प्रकार के शस्त्रों से बन्ध तोड दिये जाते हैं। अथवा हृदय के सामने की दीवाल की पर्शुकायें तोड़ (Cardiolysis) दी जाती हैं। इससे हृदय को अपना कार्य करने में कुछ आराम मिलता है।

औषध की व्यवस्था

कारण के अनुसार औषध-प्रयोग करें। यदि आमवात से रोग हो तो स्यालिस्यालेट के प्रयोग से उपचार करें। अन्य रोगों में कारण के अनुसार चिकित्सा करें। हृत्कार्यावरोध प्रभृति के लिये कुचिलासत, कोरामीन, कार्डियाजोल, मद्य प्रभृति हृद्य औषधों का प्रयोग करें। प्राणवायुवाले श्वास का ग्रहण करें।

आयुर्वेदीय योग

सहस्रपुटी अभ्रक १ माशा, मुक्तापिष्टी १ माशा, प्रवालभस्म १ माशा, मकरध्वज १ माशा, गिलोयसत ६ माशा, लोहभस्म ३ माशा और सितोपलादि २॥ तोला मिलाकर १-१ माशा की मात्रा से दिन में तीन बार मधु के साथ देवें। इससे हृदय की शक्ति का ह्रास नहीं होता है तथा शोथ, वेदना आदि उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं।

भोजन के बाद—पुनर्नवाद्यरिष्ट और पार्थाद्यरिष्ट दोनों को मिलाकर १-१ तोला की मात्रा में पीवें। इससे शोथ और वेदना दूर होती है।

रोग मुक्तावस्था में कर्तव्य

रोग से मुक्ति मिलने पर जबतक निर्बलता दूर न हो जाय तबतक उपर्युक्त योग का प्रातः सायं सेवन करते रहना चाहिये। शारीरिक और मानसिक परिश्रम से बिल्कुल दूर रहना चाहिये, लघु, सुपाच्य और बलकारक आहार सेवन करें।

संक्रामक हृदयान्तरकलाशोथ

(Endocarditis)

निर्वचन—हृदय के कोष्ठों और कपाटों के ऊपर भीतर मे जो पतली कला होती है उसके दो विभाग होते है। अर्थात् जो कला कपाटों के ऊपर होती है उसको कपाटीय कला कहते हैं और जो कोष्ठों की दीवार पर होती है उसको भैत्तिकीय कला कहते हैं। जब इसमे सूजन होती है तब इसको अन्त्रहृच्छोथ कहते हैं। सामान्यतया कपाटों की कला के शोथ को कपाटीयान्तर्हृच्छोथ कहते हैं और कोष्ठों की दीवार की कला में जब शोथ होता है, तब उसको भैत्तिकीय अन्तर्हृच्छोथ कहते हैं।

कारण

इस रोग मे रोगी के रक्त तथा कपाटों के अंकुरों में अत्यधिक संख्या मे रोग के कारणभूत जीवाणु मिलते हैं। यथा शोणांशिक (Hemolytic), हरित स्ट्रेप्टो कोकस, स्टैफिलो कोकस, न्यूमोकोकाय, गोनोकोकाय प्रभृति हैं। इनमे हरित स्ट्रेप्टोकोकस, अनुतीव्र और अवशिष्ट तीव्र के कारण होते हैं।

सहायक कारण

आमवात, सहज वैरूप्य (Congenital Defect)—कुछ व्यक्तियों में हृदय के कपाट गर्भाक्रान्ति के समय ठीक नहीं बनते हैं। ऐसे व्यक्तियों मे यह रोग अधिक होता है। यह रोग २०-४० वर्ष

की आयु में मुख्य रूप से होता है। सहजवैरूप्य के कारण इससे प्रथम भी रोग हो जाता है और किसी-किसी स्थल पर ५० वर्ष से भी अधिक अवस्था मे यह रोग देखा जाता है। इस रोग का प्रधान कारण आमवात है। अतः यह रोग २०-४० वर्ष की अवस्था मे अधिक होता है। अधिक परिश्रम करने से भी यह रोग होता है।

पूर्वोक्त रोगों के अतिरिक्त मन्थर ज्वर, विषम ज्वर, डिसेन्ट्री, श्लेष्मक ज्वर, उपदंश प्रभृति रोगों मे भी यह विकार होता है।

सम्प्राप्ति

कपाटों मे संक्रमण होने के लिये कपाटों की ग्रहणशीलता और रक्त में जीवाणु की उपस्थिति—इन दो बातों की जरूरत होती है।

(१) कपाट आमवात की विकृति के कारण ग्रहणशील है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि शरीरगत आमवात की सक्रियता (एक्टीविटी) का पूर्ण निर्मूलन हो गया हो जिसका ज्ञान अवसादनगति तथा अन्य लक्षणों से मालूम हो जाता हो तो कपाट विकृत रहने पर भी वे बहुत ग्रहणशील नहीं होते। परन्तु जब बाह्य लक्षण नष्ट हो जाते हैं और गुप्त रूप से आम वात शरीर में सक्रिय रहता है, तब कपाटों की ग्रहणशीलता अधिक हो जाती है। इस भाँति विलक्षण किन्तु सक्रिय स्थिति अनेक आमवात पीड़ितों में देखी जाती हैं और उनमे ही संक्रामक हृदयान्तर कलाशोथ अधिकतर उत्पन्न होता है। इसका हेतु यह है कि प्राचीन आमवात से कठिन—परुष और जरठ हुए कपाटों पर जीवाणु अपना प्रभाव नहीं जमा सकते हैं। उनके लिये अनुकूल स्थान होना चाहिये, जो सक्रिय आमवात से मिल सकता है। इनसे कपाटों की विकृत अन्तः कलापर रक्त चन्द्रिकाओं के छोटे-छोटे थ्रम्बस (Thrombus) बनते रहते हैं जिन पर रक्तगत जीवाणु अपना पूरा प्रभाव जमा लेते हैं।

(२) शोणित मे जीवाणु अनेक कारणों से तथा अनेक स्थानों से आ सकते हैं। आंत्र में असंख्य जीवाणु रहते हैं। अनेक बार

ये जीवाणु आंत्र से रक्त मे प्रचूपित होकर आ जाते हैं। इसी भाँति मुख, दाँत, मसूड़े और गलग्रन्थि मे जो जीवाणु रहते हैं, वे भी बीच-बीच में रक्त मे चले आते हैं। इस भाँति आंत्र, मुख प्रभृति स्थानों से जीवाणु समय-समय पर न्यूनाधिक संख्या में रक्त में बराबर पहुँचते रहते है। यदि किसी कारण से कपाट ग्रहणशील रहते हैं, तो कभी-कभी उनमे संक्रमण भी हो जाता है। जब मनुष्य दोपमयता, अस्थिमज्जाशोथ, प्रसूत ज्वर प्रभृति रोगों से पीडित रहता है, तब जीवाणुमयता बराबर बनी रहती है और कपाटों में आसानी से संक्रमण हो जाता है।

आम वात के तुल्य इस रोग में जीवाणुओं के संक्रमण से हृदय के अन्दर की कला मे प्रशोथ होकर उद्भेद विनिर्मित हो जाते हैं। प्रशोथ उद्भेदों का क्षेत्र और उनकी मोटाई रोग की मर्यादा पर अवलम्बित रहती है। रोग की घातकता के अनुसार उद्भेद, छोटे और कम होते हैं। यदि रोग अल्पकालिक होता है, तो संख्या मे कुछ अधिक स्थूलता में भी अधिक बड़े हो जाते हैं। यहाँ तक कि अशत. कुल द्वार को अवरुद्ध कर देते हैं। यदि रोग इससे भी चिरकाल तक रहा तो ये संख्या मे और भी अधिक हो जाते हैं। परन्तु ये परिमाण मे कुछ छोटे होते हैं। केवल कपाटों पर सीमित न रह कर हृद्रज्जुओं तथा भैत्तिक अन्तर्हृदय पर मुख्य रूप से वाम ग्राहक कोष्ठ की पश्चिमी दीवाल पर फैल जाते हैं। इन उद्भेदों में धातुनाशक गुण अधिक होते हैं।

कपाटों के उद्भेद (Vegetations) बहुत ही संक्रामक, धातुनाशक और भंगुर होते हैं। इनका संक्रमण धीरे-धीरे हृद्रज्जुओं तथा भैत्तिक-कला पर फैलता है। जहाँ-जहाँ यह संक्रमण फैलता है, वहाँ-वहाँ उद्भेद उत्पन्न हो जाते हैं। धातु नाशक गुण के कारण कपाट फटे वस्त्र के तुल्य होकर उनमें छिद्र बन जाते हैं जिनसे रक्त लौटने लगता है और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली हृदय की रज्जुओं की सिरा नष्ट हो जाने से वे वायु से हिलने-डुलने वाले वृक्ष के समान रक्त प्रवाह के साथ हृदकोष्ठों में बराबर हिलते-डुलते रहते हैं और वे जिन अङ्गों से सम्बन्धित

होते हैं, वहाँ पर संक्रमण फैलाते हैं। प्राचीरिक कला नष्ट होकर कभी-कभी दो क्षेपक (Ventricles) में छिद्र के द्वारा सीधा सम्बन्ध हो जाता है।

अन्तःशल्यता (Embolism)—भङ्गुरता के कारण उद्भेद बराबर दूर हो जाते हैं और रक्त प्रवाह के साथ शरीर के विविध अङ्गों में जाकर अन्तः शल्यता और अन्तः समानता (Infarction) उत्पन्न करते हैं। इनके साथ जीवाणु भी चले जाते हैं। जहाँ-जहाँ पर ये जीवाणु रहते हैं, वहाँ-वहाँ पर छोटी-छोटी विद्रधियाँ हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त शोथ, कोथ, रक्तस्राव प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं। संक्रमण के कारण रक्त में जीवाणुघाती और अभिश्लेष्मक (Agglutinin) प्रतियोगी बनते हैं जो रक्तस्थ जीवाणुओं का संहार करते है। परन्तु इनसे हृदय में उद्भेदों मे जमे हुए जीवाणुओं का नाश नहीं हो सकता है। इससे परिणाम यह होता है कि महाधमनी और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा हृदय के बायें विभाग से उद्भेदों के साथ पूयजनक जीवाणु बराबर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं। इस अवस्था को धमनीयपूयमयता (आर्टीरियलपाइमिया) कहते हैं। इसी से इस रोग मे आतुर की जीवित दशा में रक्त सम्वर्द्ध करने पर रोगाणु पाये जाते हैं। कभी-कभी प्रतियोगी उपस्थित होने से नहीं भी मिलते हैं।

व्याधि के प्रकार

(१) गुप्तावस्था—रोगी की जीवित दशा मे इसका ज्ञान नहीं होता है। मृत्यु के पश्चात् परीक्षा करने पर ज्ञान होता है।

(२) स्फूर्जकावस्था—यह भी शीघ्रघाती है। रोगी की जीवितावस्था मे इसका निर्णय कठिन हो जाता है।

(३) तीव्र—प्राधानरूप से यह प्रकार हिमोविटिक स्ट्रेप्टोकोकस से होता है। इसके सिवाय न्यूमोनियाणु और पूयमेहाणु से भी यह होता है। यह प्रकार अधिक होता है। अधिकतर सेप्टीसीमिया (Septicaemia) में उपद्रव रूप से होता है। इसकी अवधि ६० दिन की होती है।

(४) मन्द प्रकार—इसमें सबसे अधिक अन्तर्हृच्छोथ दिखलाई देता है। यह मुख अथवा मल में रहनेवाले हरित स्ट्रेप्टोकोकस से होता है। बीस प्रति शत रोगियों में कृमिदूपित दन्तोत्पाटन से यह रोग होता है। श्लेष्मक ज्वराणु से भी यह रोग होता है। श्लेष्म अवस्था में फुस्फुस में इसका उपसर्ग रहता है। इसकी अवधि दो मास से बारह मास तक होती है।

आक्रमणकाल

स्फूर्जक और तीव्र प्रकार में अकस्मात आक्रमण होता है। इससे हृदयान्त्रर्कला अति उपसृष्ट हो जाती है। परन्तु ये दोनों प्रकार स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नहीं होते हैं। ये अस्थि मज्जा शोथ, पूयमयता (पाथिमिया), दोपमयता (सेप्टीसीमिया) आदि रोगों मे उपद्रव रूप से उत्पन्न होते हैं। उस समय इनका ज्ञान नहीं होता है। मन्द प्रकार किसी दूसरे रोग में उपद्रव रूप में न होकर प्रायः आमवात पीडित रोगी में जो देखने में स्वस्थ प्रतीत होता है उसमें उत्पन्न होता है। परन्तु इसका आक्रमण इतना धीरे-धीरे होता है कि सप्ताहों तक इसका ज्ञान नहीं होता है।

लक्षण

इस रोग मे स्थानिक (लोकल) लक्षण साधारणतया अतिशय अनिर्दिष्ट है। केवल भौतिक परीक्षा से अनेक समय निर्णय होता है। पीड़ित अंश में वेदना और कोमलता नहीं होती है और हृत्स्पन्दन (पॉल्पीटेशन) प्रायः दिखलाई पड़ता है। नाड़ी की गति विषम रहती है। कभी पूर्ण उत्तेजित हो जाती और फिर मन्द हो जाती है। नाड़ी अधिकतर क्षुद्र, क्षीण तथा विषमगति ही रहती है। संक्रमण विप से ज्वर, श्वेत कायाणूत्कर्ष, दौर्बल्य प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। तीव्र प्रकार के आक्रमण से प्रतिश्याय, ज्वर, सन्धिशोथ-पीड़ा, एवं अम्लगन्धी स्वेद निकलता है और आमवात का सन्देह होता है। परन्तु उसकी चिकित्सा से असफलता मिलने पर इसकी ओर ध्यान आकृष्ट

होता है। मन्द प्रकार में रोगी धीरे-धीरे कमजोर और कृश हो जाता है। उसका वर्ण क्षीर मिश्रित काफी के तुल्य हो जाता है। हाथों की अगुलियाँ मुद्गर के तुल्य अन्तिम पर्व में स्थूल (Clubbing) हो जाती है। संधि-पीड़ा, उरःफलक के अधोभाग के प्रान्त पर और उसके तथा पर्शुका-सन्धि स्थान पर पीडनासहना तथा शुक्रप्रमेह प्रायः रहता है जो रोग-वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता है। इस रोग से पीडित रोगियों को ज्वर सदा रहता अथवा बीच-बीच में हो जाता है। तीव्र प्रकार में सतत ज्वर (रेमीटेन्ट फीवर) हो जाता है। उस अवस्था में रोगी अत्यन्त अवसन्न और विषाक्त (टायफाइड) प्रकार का हो जाता है। हृदय की विकृति के लक्षण भी हो जाते हैं। कभी-कभी शीत लगता है। मन्द प्रकार मे सर्दी अन्तः शल्यता के समय लगती है। तीव्र और मन्द दोनों प्रकारों मे ज्वर अर्धविसर्गी और अनियमित रूप का होता है। कभी-कभी उच्च सततक स्वरूप का भी ज्वर हो जाता है। यह ज्वर पूयमेह के जीवाणुओं से होता है। दोनों प्रकारों मे आसन्न मृत्यु और वृक्कों की क्रियारहित होने पर ज्वर अत्यल्प हो जाता है।

हृदय के विकार—सहज तथा आमवातजन्य हृद्विकार पीडित रोगियों में ये दोनों रोग उत्पन्न होने से प्रायः अधिक रोगियों में कपाट विकृत के चिह्न मिलते हैं। कुछ रोगियों मे रुग्णकाल मे मिलने लगते हैं और कुछ रोगियों में मिलते भी नहीं हैं। प्रारम्भ मे एक कपाट की विकृति होती है। परन्तु रोग वृद्धि के साथ अन्यकपाट भी विकृत हो जाते हैं।

हार्दिक प्रकार (Cardiac Type) मे श्वासकृच्छ्रता, नाडी की विषमता, हृदयाग्रस्पन्दन की तीव्रता, हृदय के शब्दों मे अन्तर, उनके साथ मर्मर ध्वनि और हृदयस्फारिता आदि लक्षण होते हैं।

मन्द प्रकार के आधे से अधिक रोगियों में रुग्ण समय तक हृदय की विकृति के लक्षण उत्पन्न नहीं होते हैं। कभी-कभी पाण्डु रोग, वमन और अतिसार उत्पन्न हो जाते हैं। धमनीगत अन्तःशल्यता इसका प्रधान लक्षण है। उन पर ध्यान रखते हुए रोग का निर्णय करें। त्वचागत अन्तः

शल्यता होने से नीलोहाङ्क (Petechia) और विवर्णता (Discolou-redereas) प्रकट होते हैं। वृक्कों मे अन्तः शल्यता और गुच्छिका वृक्क शोथ होने से शुक्लमेह और शोणितमेह हो जाता है। अन्तः शल्य के बढ़ने पर वृक्क मे पीड़ा तथा मूत्राघात भी हो जाता है। प्लीहा मे अन्त. शल्यता होने पर प्लीहाभिवृद्धि, नेत्र मे होने से अन्धता और रक्त-स्राव, मस्तिष्क मे होने से मूकता, पक्षाघात एव एकाङ्गघात, धमनियों में होने से धमनी विस्फारण और उसके विदीर्ण होने से घातक रक्तस्राव, अंग-कोथ प्रभृति लक्षण अंगविकृति के अनुसार होते हैं।

रक्तगत लक्षण—रक्त के लाल कणों के विनाश से रक्तक्षय होता है और श्वेतकणों की सख्या रोगी की प्रतिकारक शक्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। तीव्र रोग मे प्राय २०-४० सहस्र तक और अनुतीव्र मे १५ सहस्र तक श्वेतकायाणूत्कर्ष होता है। कुछ रोगियों में श्वेतापकर्ष भी रहता है। रोगनिर्णय की दृष्टि से रक्त-परीक्षा में सबसे महत्त्व की बात रक्त-सवर्धन है। इस रोग मे रक्त मे कारणभूत जीवाणु उपस्थित रहने से रक्त संवर्धन करने पर उनका पता लगता है। तीव्र प्रकार में रक्त मे जीवाणु प्राय उपस्थित रहने के कारण रक्तसवर्धन प्रायः पोजिटिव (Positive) होता है। परन्तु मन्द प्रकार मे कई वार जीवाणु रक्त मे अनुपस्थित होने से रक्त-संवर्धन निगेटिव होता है।

रोगनिर्णय

अन्तर्हृदयशोथ के लक्षण देखकर निदान किया जाता है। अनेक प्रकार की अन्त शल्यता और रक्तसंवर्धन से भी रोग का निर्णय हो जाता है।

भावीफल

इस रोग की तरुणावस्था मे आसन्न व्यापत्ति देखी जाती है। इससे भावीफल प्रायः अशुभ होता है। आज पेनीसिलीन की चिकित्सा से भी कालयापन मात्र ही होता है। उससे भी आशाजनक फल प्रायः नहीं देखा जाता है। तीव्र प्रकार में मृत्यु ४ सप्ताह में होती है। अधिक से

अधिक आठ सप्ताह में मृत्यु देखी जाती है। यदि इससे अधिक काल हो, तो मन्द प्रकार जानना चाहिये। मन्द प्रकार की अवधि ६ से १२ मास तक है। पेनीसिलीन से चिकित्सा करने पर यह अवधि और बढ़ जाती है। इसका कारण यह है कि पेनीसिलीन से हृदय के आभ्यन्तरिक उपसर्ग का निर्मूलन हो जाने के कारण भविष्य में हृदय के यंत्रों का विनाश रुक जाता है। परन्तु उपसर्ग का विनाश होने से पहले जो कपाटप्रभृति का विनाश हो चुका होता है उससे हृदय के कार्यों में बाधा होती रहती है। जिससे कुछ काल के बाद हृदयके कार्यावरोध से मृत्यु हो जाती है। परन्तु हृदय विकृति के प्रथम ही पेनीसिलीन का प्रयोग किया जावे तो रोगी कुछ अधिक काल तक जीवित रह सकता है। इसके अतिरिक्त हृदयविदीर्ण या निश्छिद्रित, वृक्क तथा मस्तिष्कादि अंगों की अन्तःशल्यता, मूत्र विषमयता अथवा संक्रामक रोगों से भी मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

इस रोग का परिणाम वातजन्य होता है। इसलिये अनेक स्थान पर वात व्याधि की चिकित्सा करने से लाभ होता है। ज्वर की प्रथम-अवस्था में अन्तर्हृदय शोथ की वृद्धि न होने पावे इसके लिये अनेक उपाय का अवलम्बन करना चाहिये। परन्तु इस रोग में रोगी के लिये विश्राम एकान्त आवश्यक और विशेष कल्याणकारक है। ज्वर और सन्धिस्थल में व्यथादि उपस्थित होते ही रोगी को शय्या का आश्रय लेना चाहिये। यहाँ तक कि शय्या पर उठने-बैठने भी नहीं देवे। शौचादि कार्य के लिये पुरीषपात्र का व्यवहार करे। शुद्ध वायु और प्रकाशयुक्त स्थान में रखें और बलकारक, लघु-सुपचनशील आहार देना चाहिये।

आधुनिक औषध-व्यवस्था

इस रोग में वही औषधि श्रेष्ठ हो सकती है जो रक्त के उपसर्ग का विनाश करके हृदय के अन्दर के उपसर्ग का पूर्ण उन्मूलन कर सके तथा हृदय के अन्दर उत्पन्न हुए अंकुरों तथा उद्भिदों को इतने सूक्ष्म

टुकडों मे विभक्त करके वहाँ से निकाले कि वे किसी भी रक्तवाहिनी मे न अटक सकें और साथ ही भक्षकायाणुओं (Phagocytes) के द्वारा भक्षित भी हो जावे। वर्तमान काल तक इस रोग मे किनीन, संखिया, पारद, कार्बोलिक अम्ल, क्षमलसीका, अम्लजनित वैक्सीन, क्षमरक्त-संक्रम (Immuno Transfusion) प्रभृति ओषधियाँ इस रोग में व्यवहृत की गई किन्तु; उनसे कोई लाभ नहीं हुआ। इसका हेतु यह हुआ कि ये ओषधियाँ हृदय के अन्तर्गत उपसर्ग का नाश करने मे विल्कुल सामर्थ्यहीन प्रमाणित हुईं।

पेनीसिलीन का प्रयोग

आजकल पेनीमिलीन के प्रयोग से हृदय के अन्तर्गत उपसर्ग का विनाश करने मे सफलता देखी जा रही है। प्रतिदिन इसकी मात्रा ५ लाख यूनिट के करीब दी जाती है। आठ सप्ताह तक इसका बराबर प्रयोग किया जाता है। सिरासन्ततक्षरण पद्धति (Continuous drip) से (६० सहस्र यूनिट प्रति तीन घण्टे पर) दी जाती है। कुछ विद्वान् इसके साथ हेपारिन, सल्फाड्रग्स अथवा स्ट्रेप्टोकोकास वैक्टेरियाफैज का भी प्रयोग करते हैं इससे अधिक फायदा होता है। यदि यह औषध उद्भेद वडा होने से तथा अन्त कला का अधिक नाश होने से पहले काम मे लाई जावे तो आतुर को अधिक फायदा हो सकता है। यद्यपि इस भाँति पेनीसिलीन इस रोग को नाश करने के लिये सफल कही जा सकती है तो भी उसका प्रयोग बन्द करने के वाद हृदय में फिर उपसर्ग होकर अथवा हृत्कार्यावरोध होकर कुछ समय के वाद मृत्यु हो सकती है।

अनागतबाधा प्रतिषेध

आमवात रोग से जिनका हृदय विकृत हो जाता है उनमे यह रोग अधिकतर मुख से अथवा आन्त्र से रक्त मे आये हुये जीवाणु के द्वारा होता है। इसलिये ऐसे मनुष्यों के मुख को दोषरहित करने का प्रयत्न करना चाहिये। दाँतों मे विकृति हो, तो उनको उखाड देना चाहिये यदि दन्तवेष्टों में विकृति होवे तो उनका प्रतिकार करना चाहिये।

गलग्रन्थि (टान्सिल) में विकृति हो, तो उनकी चिकित्सा करनी चाहिये। इससे आमवात (र्‍यूमैटिज्म) का पुनरावर्तन के रोकने में जैसी सहायता होती है, उसी भाँति इस रोग की उत्पत्ति रोकने में होती है। अन्त्र से जीवाणु रक्त में पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं, अतः कोष्ठ संशोधन पर भी ध्यान देना चाहिये। इसके सिवाय इस व्याधिजन्य जीवाणुओं से त्वचा, अस्थि या अन्य स्थानों में भी कोई व्याधि पैदा हो जावे तो तत्काल ही उसका प्रतिकार करें।

प्राचीन चिकित्सा पद्धति

इस रोग में सेलिसिन् किंवा सेलिसिलेट समूह विशेष हितकारक है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि इस औषध के प्रयोग से अनेक स्थल पर सुफल होता है। अन्तर्हृच्छोथ प्रकाशित होने के पहले इस औषध का प्रयोग करना आवश्यक है। इसके बाद उक्त रोग के सम्पूर्ण लक्षण प्रतीत होते ही सैलिसिन घटित औषध बन्द कर देना चाहिये ऐसा अधिकाश चिकित्सकों का मत है। परन्तु किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि ज्वर की प्रबलता में और यातना उपस्थित होने पर, सेलिसिन का प्रयोग करना चाहिए। कोई-कोई चिकित्सक क्षारबहुल (अलकलाई) औषध का प्रयोग करते हैं।

परिवर्तन—सैलिसिलेट समूह के परिवर्तन में इस समय अहिफेन के साथ पूर्ण मात्रा में क्षारीय प्रयोगों की व्यवस्था की जाती है। ५ बूंद लडेनम के साथ ३० ग्रेन बाईकार्बोनेट ऑफ पोटाश चार घण्टे के अंतर से दी जाती है। पोटाशियम के प्रयोग से हृदय में अवसाद होता है। परन्तु इसी व्यवस्था से यदि अधिक दिन तक चिकित्सा करनी हो तो बाईकार्बोनेट आफ पोटाश के परिवर्तन में बाईकार्बोनेट ऑफ सोडा देना चाहिये और ज्वर यदि अधिक मात्रा में बढ़ जावे तो किनीन अधिक मात्रा में दें। कुछ दिनों के बाद उत्तेजक औषध देवें। यदि रोगी की अवस्था संकटापन्न हो जावे तो मद्यसार (अलकोहल), अमोनिया और डिजिटेलिस उचित मात्रा में मिलाकर दी जा सकती है। किन्तु यह व्यवस्था सर्वत्र के लिये उपयुक्त नहीं है। लेकिन क्षेपक कोष्ठ

(वेन्ट्रिकल) का अवसाद होने पर उपर्युक्त व्यवस्था की जा सकती है। कोई-कोई चिकित्सक हृदय मे किसी प्रकार का दोष प्रकाशित होने पर हृत्पत्रिका (डिजेटेलिस्) का प्रयोग नि.सकोच करते हैं। परन्तु वास्तव मे इससे अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है और शरीर का संताप वढ जाने पर इससे कोई लाभ भी नही होता है। नाडी के वेग कम हो जाने पर वत्सनाभ (एकोनाइट) का प्रयोग वन्द कर देवे। रोग की प्रथम-अवस्था में एकोनाइट अल्प मात्रा मे प्रयोग करने पर अनेक स्थलों में अच्छा फल देखा जाता है।

स्थानिक प्रयोग

यातना अधिक वढ जाने पर अन्त हृच्छोथ मे स्थानिक प्रयोग से अनेक समय अच्छा फल होता है। अलसी की पुल्टिस मे वेलाडोना मलहम मिलाकर प्रयोग करने से विशेष फायदा होता है। वेलाडोना का सत्त्व ग्लिसरीन के साथ मिलाकर हृदय प्रदेश पर लगाने से विशेष लाभ होता है। वेलाडोना प्लास्टर भी हितकारक होता है। कभी-कभी जलौका के प्रयोग से भी प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

मुखपाक

(Stomatitis)

नामकरण सस्कार—मुखगह्वर के अन्तर रसना, तालु, कपोलतल प्रभृति मे सूजन या व्रण हो जाय तो उसको 'मुखपाक' कहते है।

कारण

तीक्ष्ण औषध वा विषादि के खाने से और पारद के प्रयोग से मुख पक जाता है, मसूढ़े फूल जाते हैं और उनमे से रक्त आने लगता है। दन्त कृमि से वा मात्रा से अधिक मद्य पीने से और तीक्ष्ण मसालों के प्रयोग से भी मुख पक जाता है। जिन बालकों के आमाशय और अन्त्र विकृत होते हैं उनमें कृमियों के कारण से मुख पक जाता है। ये कृमि दूषित दुग्ध के साथ वालकों के मुख मे पहुंचते हैं। वहुत समय तक आमाशय के विकृत होने पर युवा पुरुषों में भी कभी-कभी यह रोग देखा जाता है।

यथोक्तं निदाने—

आनूप पिशित क्षीर दधि मत्स्यातिसेवनात्।
मुख मध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः॥

लक्षण

सामान्य रोग की अवस्था में भोजन—खाने, चबाने और निगलने से वेदना होती है। जितना भयंकर मुखपाक होगा ये क्रियाएं उतनी ही अधिक पीड़ादायक होंगी। अति तीव्र मुखपाक मे बोलना भी कठिन हो जाता है। मुख से लाला बहती रहती है और दुर्गन्धि आती है। ज्वर, अंगमर्द और अवसादादि लक्षण भी कभी-कभी उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षणों के अनुसार इसके तीन भेद होते हैं। (१) सामान्य मुखपाक, (२) श्वेत मुखपाक और (३) पारदजन्य मुखपाक।

सामान्य मुखपाक

Simple Stomatitis

यह रोग जिन बालकों को उदर विकार हो और दुर्बल तथा क्षीण हों उनके दन्तोद्गमन काल में होता है। अधिक मद्यपान, धूम्रपान और तीक्ष्ण मसालों को खाने से युवा पुरुषों को भी यह रोग हो जाता है। कभी-कभी तीव्र संक्रामक ज्वरों मे दन्तकृमियों के कारण भी यह रोग हो जाता है।

लक्षण

ओष्ठों के अन्दर मसूड़ों पर सूजन हो जाती है और छोटे-छोटे व्रण हो जाते हैं। तीव्रावस्था मे गाल के अन्दर जिह्वा, तालु आदि सब स्थानों पर सूजन, छाले और व्रण हो जाते हैं। लाला का स्राव होता रहता है और कभी-कभी ज्वर भी हो जाता है।

उपचार

दाँतों और मुख को साफ रक्खें। तरल पदार्थ खाने को दें और खाने के बाद कुल्ला करें। सुहागे का फूला (खील) पीसकर मधु में मिलाकर लगावें। दिन में २-३ बार लगावें अथवा बोरोग्लिसरीन लगावें।

ज्वर होने पर सामान्य ज्वर नाशक औषध देदें। यदि मुख में व्रण बन जावे और खाना-पीना कठिन हो जावे तो तूतिया का फूला १ रत्ती, गेरू का चूर्ण ३ माशा मिलाकर छालों पर लगाकर गण्डूप करावें अथवा खदिर और बबूल की छाल के क्वाथ मे फिटकिरी का फूला मिलाकर गण्डूप करावें।

महाखदिरादि वटी—मुख मे रखने से लाला को गिराता है। एक पाव जल मे ८० ग्रेन पोटेशियम क्लोरास डाल कर कुल्ला करावें और दिन में १० ग्रेन की मात्रा मे ३ बार खिलावे।

व्रणा पर कास्टिक ४ या ६% लगाना चाहिये। यदि एकाध छाला हो तो कास्टिक स्टिक भी लगाना पर्याप्त है। क्रोमिक एसिड का ५% लोशन भी इसके लिये लाभदायक है।

यदि आमाशय के विकार के कारण मुख में छाले हों, तो उनके शान्त हो जाने पर भी कुछ दिनों तक चिकित्सा करते रहना चाहिये जिससे फिर आक्रमण न हो। भोजन लघु, सुपाच्य और तरल देना चाहिये।

श्वेत मुखपाक

(Thrush)

यह रोग सदा क्षीरपायी बालकों को होता है। जो बच्चे बोतलों के द्वारा दूध पीते हैं उनको बहुधा होता है। बोतल को शुद्ध न करने से उसमें विशेष प्रकार के कीटाणु प्रविष्ट हो कर बढ जाते हैं। उन्हीं के द्वारा यह मुखपाक हो जाता है। पहले जिह्वा पर सफेद छोटे-छोटे छाले पड़ जाते है जो धीरे-धीरे बढ कर आपस मे मिल जाते हैं। इसी भाँति गालों के भीतर तालु और कण्ठ में भी श्वेत वर्ण के छाले पड़ जाते हैं जिनसे सम्पूर्ण मुख शोथयुक्त मालूम होता है। इस मुखपाक में लाला-स्राव नहीं होता जैसा कि अन्य मुखपाकों में होता है।

चिकित्सा

दुग्ध पिलानेवाली बोतल को स्वच्छ रखें। इस रोग के होने पर सोडियम सल्फाइट (Sodium Sulphite) सल्यूशन १ ड्राम, १ औंस शुद्ध जल में घोल कर मुख को स्वच्छ करें और सामान्य स्वास्थ्य के ऊपर ध्यान दवें।

पारदजन्य मुखपाक

(Mercurial Stomatitis)

कारण—अशुद्ध पारा खाने से यह मुखपाक होता है और जिन्हें पहले से ही कोई मौखिक रोग होता है ऐसे व्यक्तियों मे विशेष कर अशुद्ध पारदजन्य मुखपाक होता है। किसी-किसी मनुष्य को तो अत्यल्प मात्रा में भी अशुद्ध पारद खाने पर मुखपाक हो जाता है।

लक्षण

सूजे हुये, रक्तमय, व्रणयुक्त और लाल मसूडे होते हैं। ऐसी अवस्था में खाना, पीना. चबाना और बोलना भी कठिन हो जाता है। लाला टपकती रहती है, लाला ग्रन्थियाँ शोथयुक्त पीड़ा से पीड़ित हो जाती हैं। फूली हुई जिह्वा और इधर-उधर की लसीका वाहिन्यिाँ भी शोथयुक्त हो जाती हैं। इन लक्षणों के पैदा हो जाने पर भी यदि अशुद्ध पारद दिया जाता है तो दाँत हिलकर गिर जाते हैं।

चिकित्सा

जब उपरोक्त लक्षण उत्पन्न होवें तो उसी समय पारद-सेवन बन्द कराकर शीघ्र ही तीव्र विरेचन देवें। इसके लिये मैग्नेशियम सल्फास (Mag. Sulph.) १ औंस से दो औंस तक छटाँक भर जल में घोल कर पिलाने से दस्त आ जाते हैं, जिससे लाभ होता है। तुत्थ और गैरिक से कुल्ला कराना चाहिये। इसका योग यह है कि शुद्ध तूतिया १ माशा, गेरू १ तोला मे पीस कर रख लेवें। मात्रा १ माशा लेकर गरम पानी मे डाल कर कुल्ला करें अथवा पोटासियम क्लोरास (Potassium Chloras) २० ग्रेन, जल १ छटाँक में घोल कर कुल्ला करावें। १० ग्रेन ३ बार दिन मे खिलाने से अति लाभ पहुँचता है। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि पोटासियम क्लोरास आशय मे लीन हो करके लाला-ग्रन्थियों के द्वारा लाला मे निकलता है।

भ्रंशमुखपाक (Gangrenous Stomatitis) संज्ञा—गैङ्ग्रीनस, स्टोमोटाइटिस, केन्करम ओरिस, नोमा।

कारण

यह अधिकतर दो वर्ष से पाँच वर्ष तक के बालकों मे रोमान्तिका, मोतीझरा आदि ज्वरों के पश्चात् ही होता है। अभी तक इसके मुख्य कारण का ज्ञान नहीं हो सका है जहाँ तक सम्भव है इसका कारण एक प्रकार का विशेष कीटाणु है परन्तु, यह अज्ञात ही है।

लक्षण

रोमान्तिका लघुरोमान्तिका, वा मन्थरज्वरों के अनन्तर उसकी निरुजावस्था मे ही मुख मे गालों के अन्तरीय पृष्ठ पर व्रण बन जाते हैं। यह व्रण अति शीघ्रता से आगे-पीछे और अन्दर से बाहर की तरफ बढने लगता है और सात से दस दिन में ही गालों के आरपार हो जाता है। बाहर आँखों तक और मुख के अन्दर जिह्वा, मसूडे आदि मे फैल जाता है। इसमे शारीरिक लक्षण ज्वर, दुर्बलता आदि अत्यन्त तीव्र होते हैं। नाडी की गति अति तीव्र होती है। कभी-कभी अतिसार और श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) भी हो जाता है। बहुधा रोगी सात दिन से १० दिन के भीतर ही चल बसता है।

उपक्रम

साध्य रोग मे व्रण कुछ दिनों (२—४ दिन) मे अपने आप ही भरने लगते हैं और ज्वर आदि शारीरिक चिह्न कम होने लगते हैं। रोगी १०—१२ दिन मे स्वस्थ होने लगता है।

अग्निदग्धादि चिकित्सा

रोग के उत्पन्न होते ही व्रण को काट्री (Cautry) नामक दाहक यन्त्र से अथवा सप्तशलाका आदि से पूर्ण रीति से दग्ध कर दें।

वृद्धजीर्ण गलग्रन्थीय शोथ

(Enlarged Chronic Tonsillitis)

यह व्याधि अधिकतर ५-१५ वर्ष वाले बालकों को होती है। अस्वास्थ्यजनक स्थिति में निवास, शुद्ध वायु का अभाव और प्रतिश्याय-

जनक हेतु इसके कारण हैं। जिनको एडिनाइड्स नामक नासा रोग होता है उनको यह अधिकतर होना है। सामान्यतया युवा-अवस्था में गलग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं किन्तु; जिनकी गलग्रन्थियाँ शैशवावस्था से ही बढ़ी हुई हों अथवा जिनको बार-बार प्रतिश्याय हो जावे वा रोमान्तिका रोहिणी वा काली खाँसी हो चुकी हो उन्हें यदि एक बार भी ग्रन्थियाँ बढ़ जाएँ तो आजीवन बढ़ी ही रहती हैं।

लक्षण

नासा अवरुद्ध हो जाती है। अतः रोगी मुख से श्वास लेना और प्रत्येक समय मुख खुला रहता है तथा दुर्बलता आदि लक्षण एडिनाइड्स के तुल्य होते हैं। किन्तु गलग्रन्थि के शोथ से कर्णरोग, उदररोग और उपान्त्र शोथ आदि उपसर्ग हो जाते हैं, जो एडिनाइड्स में नहीं होते हैं। इन्हीं के कारण ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं और गण्डमाला व अपची आदि रोग हो जाते हैं। गले की ग्रन्थियाँ बढी हुई मालूम होती हैं। किन्तु इनकी बढ़ी हुई अवस्था को देखकर यह कहना बहुत कठिन है, कि गले की ग्रन्थियाँ अधिक अथवा कम बढ़ी हुई है।

जब गलग्रन्थियाँ मुख के भीतर की तरफ बढ़ती हैं, तब अल्प भी बढ़ी होने पर अत्यधिक बढी हुई मालूम होती है। परन्तु जब गले की ग्रन्थियाँ मुख के बाहर की तरफ बढ़ती हैं, तो बहुत बढ़ने पर भी थोडी बढ़ी हुई मालूम होती हैं। अतः परीक्षा के समय हनुकोण के स्थान पर अन्दर और बाहर दोनों तरफ देख लेवें कि कितनी बढ़ी हुई हैं।

चिकित्सा

बालकों में सामान्य वृद्धि के उपचार के लिये शुद्ध वायु, जल, व्यायाम, पुष्टदायक भोजन आदि उपयुक्त है। बलकारक ओषधियाँ और महागन्धकयोग आदि भी लाभ करती है। गले पर लगाने के लिये मेण्डल्स पेन्ट नामक अधोलिखित योग अच्छा है।

आयोडीन	५ ग्रेन
पोटेशियम आयोडाइड्	१५ ग्रेन
शुद्ध जल	२ ड्राम
मैन्थाल	१० ग्रेन
आयल मैन्थपिप और ग्लिसरीन	१—१ औंस

विधि—इनको एकत्र मिलाकर शीशी मे रख लेवें।

टैनिक ऐसिड् ग्लिसरीन, आयरन ग्लिसरीन आदि योग उपयुक्त हैं। यदि ग्रन्थियाँ बार-बार बढ़ जाएँ अथवा, चिरकाल से बढी हुई हों, तो उनको कटवा देना चाहिये।

तरुण गलग्रन्थि प्रदाह

(Acute Tonsillitis)

पर्याय—एक्यूट टॉन्सिलाइटिस्, कण्ठपाक, सोरथ्रोट प्रभृति।

निर्वचन—इसमे गले की ग्रन्थियों मे तीव्र शोथ होता है और ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियाँ भी बढ़ जाती हैं। यह रोग बच्चों को प्राय होता है। यह अनेक रोगों मे औपद्रविक रूप से प्रकट होता है और स्वतन्त्र रोग हो करके भी प्रकाशित होता है।

निदान

आमवातिक ज्वर के समान इसका भी प्रधान हेतु पंक्तिबद्ध बिन्दु-काकृतियुक्त कीटाणु है। किसी-किसी स्थल पर इसके उत्पन्न होने के पश्चात् सन्धिक ज्वर (र्‍यूमैटिक फीवर) भी हो जाता है। अत यहाँ पर इसका वर्णन करना आवश्यक है।

सहायक कारण

अधिक परिश्रम करने से, शीत लगने से और दौर्बल्य से इस रोग की उत्पत्ति मे सहायता मिलती है। फाल्गुन, चैत्र, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन प्रभृति महीनों में प्राय यह रोग उत्पन्न होता है। यह उष्ण-आर्द्र प्रदेशों में बहुत होता है।

रूप

सहसा ठण्ढक लगकर ज्वर चढ जाता है और शरीर का संताप १०३-१०४ तापांश तक हो जाता है। हाथ-पैरों तथा कमर में दर्द होता है, ग्रीवा जकड़ जाती है, कण्ठ मे सूजन हो जाती है, गले की ग्रन्थियाँ और ग्रीवा की लसीका-ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। जिह्वा मलीन और रूक्षतायुक्त हो जाती है। अधिकतर कब्जी रहती है। मूत्र का रंग गहरा, लालवर्ण और गाढ़ा होता तथा मूत्र थोड़ा-सा निकलता है। अधिकतर ज्वर पाँच वा सात दिन रहकर उतर जाता है। गले की ग्रन्थियाँ कई दिनों तक सूजी रहती हैं। रोग के बार-बार आक्रमण होने की सम्भावना रहती है। किसी-किसी स्थल पर हृदय तथा हृदय के कपाटों मे विकार उत्पन्न हो हृदय का प्रसार हो जाता है।

उपक्रम

इसकी सबसे मुख्य चिकित्सा यह है, कि आतुर को विश्राम करावें और शीत से बचाना चाहिये। बनफ्सा को उबाल कर गले मे कपडे पर रख कर बाँध कर ऊपर से सेंक देवें और अधोलिखित मधुकादि कषाय सुबह-शाम पिलावें।

मुलेठी १ तो०, गाजबाँ १ तो०, उन्नाव १ तो०, अजीर १ तो०, रेशाखतमी १ तो०, बनफ्सा २ तो०, कालीमिर्च ३ माशा और मुनक्का २ तोला लें।

- विधि—इनको कूटकर रख लेवें। इसमें से २ तोला लेकर आध सेर जल मे पकावें जब शेष क्वाथ २ तोला रह जावे, तब उसको छानकर कुछ गरम-गरम ही पिलावें। इसी भाँति सायंकाल भी पिलावें। यदि कोष्ठबद्धता होवे, तो पञ्चसकार चूर्ण (सोंठ, सनाय, हरीतकी, सौंफ, सेन्धानमक सम भाग) ६ माशा लेकर गरम जल से रात्रि को सोते समय देवें। इससे १-२ शौच खुलकर हो जाते हैं।

स्थानिक प्रयोग

शुद्ध सुहागे का चूर्ण शहद मे मिलाकर गले में लगावें। अथवा फिटकरी का फूला और मधु लगावें। अथवा बोरोग्लिसरीन, मेन्डल्स पेन्ट, अथवा कास्टिक ४ प्रतिशत लगावें।

गण्डूष-प्रयोग

शुद्ध तूतिया १ रत्ती, गेरू २ माशा में मिलाकर उष्ण जल से सुबह-शाम कुल्ला करें। अथवा फिटकरी का फूला, सुहागे का खील, सेंधा नमक, सोडावाईं कार्ब—इनसे कुल्ला करावें तो बहुत लाभ होता है। चूसने के लिये मरिच्यादि वटी या व्योषादि वटी देवें। और भोजन के बाद द्राक्षारिष्ट २ तोले की मात्रा मे पिलावें।

संकुचित पुरातन गलग्रन्थीय शोथ

(Chronic Follicular Tonsillitis)

युवावस्था मे वृद्ध पुरातन गलग्रन्थीय शोथ से सौत्रिक तन्तु बनकर ग्रन्थि को जब संकुचित कर देते हैं तो रोगी के मुख से बदबू आने लगती है। उसके मुख का स्वाद ठीक नहीं रहता है। गला विकारयुक्त हो जाता है तथा कोई न कोई उदर विकार भी विद्यमान रहता ही है। गले से विष और कीटाणु शोणित मे लीन होकर ग्रन्थि में सूजन और वेदनाएँ पैदा कर देते हैं। गले की ग्रन्थियाँ बढी हुई मालूम नहीं होती है। किन्तु ध्यान पूर्वक परीक्षा करने से गले की ग्रन्थियों से पूय निकलता हुआ मालूम होता है।

चिकित्सा

उपरोक्त गलग्रन्थियों को निकाल देने के अतिरिक्त और कोई उत्तम उपाय नहीं है। जब तक उनको निकाला न जावे, तबतक प्रतिदिन विशेष करके भोजन से पूर्व, दो बार कम से कम भलीभाँति स्वच्छ कर लेवें और मैण्डल्स पेन्ट लगाते रहें।

विन्सैन्ट्स एञ्जाइना

(Vincent's Angina)

निर्वचन—इसमे गले की ग्रन्थियों पर एक झिल्ली-सी आ जाती है। इसके साथ-साथ ज्वर, गलग्रन्थि वृद्धि और पीडादि लक्षण होते हैं। यह एक विशेष प्रकार वाला गलग्रन्थीय शोथ है।

भ होता है।

कारण

विन्सैन्ट्स स्पाइरिलम् (Vincent's Spirillum) और फ्यूजी फार्म वैसिलस (Fusiform Bacillus) नामक जीवाणु इस रोग के मुख्य कारण हैं। ये मुख और नासिका के द्वारा इन ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न करते हैं।

लक्षण

पहले देह में गुरुता मालूम होती है। अङ्गमर्द और ज्वर धीरे-धीरे १०० डिग्री तक बढ़ जाता है। गले में विशेष पीड़ा नहीं होती है। किन्तु; पीडित पार्श्व की ग्रन्थियों तथा ग्रीवा में स्पर्श करने पर बहुत वेदना होती है। गलग्रन्थि के ऊपर पीली या चिकनी झिल्ली लगी रहती है जो सरलता से उतारी जा सकती है। एक-दो दिन में झिल्ली स्वयं ही उतर जाती है और रक्त वर्ण के व्रण रह जाते हैं जो कि २—४ दिन मे स्वयं ठीक हो जाते हैं।

निर्णयतत्त्व

इसमें रोहिणी का ही सन्देह होता है, अतः उससे भेद करने के लिये यह समझना आवश्यक है, कि रोहिणी में झिल्ली श्वेत वर्ण की और कठिन होती है तथा बड़ी कठिनता से उतरती है।

उपक्रम

यह व्याधि सुखसाध्य है। कुछ दिनों में स्वयं ही अच्छी हो जाती है। अन्तः प्रयोग के लिये खदिरादि वटी, शारिवाद्यासव, रसमाणिक्य, सुधानिधि आदि उत्तम हैं। निम्ब, खदिर और उदुम्बरत्वक् के क्वाथ का गण्डूष कराने से भी लाभ होता है।

लगाने के वास्ते टिञ्चर आयोडीन, कास्टिक ४%-६%, सल्वार्शन का अन्तःक्षेपण (इञ्जेक्शन) या वाह्य प्रयोग अच्छा है।

एडीनाइड्स

(Adenoids)

निर्वचन—नासिका के पीछे गले की छत मे लसीका-ग्रन्थियों के फूलने को 'पर्स्ट, अथद्स' कहते हैं। यह रोग भारतवर्ष मे अधिक होता है।

निदान

दूपित स्थान और आहार-विहार के ठीक न होने से यह रोग विशेष कर बालकों को होता है। और जिन्हे अशुद्ध वायु में श्वास लेना पड़ता अथवा बराबर प्रतिश्याय रहता है; उनकी नासिका के पीछे गले की छत मे रहने वाली लसीका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं जो कि सामान्यतया अज्ञात दशा मे रहती है। तरुणावस्था तक अधिकतर ये क्षीण हो जाती हैं।

आकार

इसकी आकृति कई प्रकार की होती है। उनमे मुख्य रूप यह है कि नासिका अवरुद्ध हो जाती है और रोगी कण्ठ से श्वास लेता है; जिससे लसीका ग्रन्थियाँ और फूल जाती है तथा कण्ठ भी पक जाता है। ऐसे रोगी सोने के समय खुर्राटे लेने लगते हैं। इससे पीड़ित बालक बड़ी आयु तक भी रात्रि को चारपाई पर पेशाब कर देता है। इस भाँति के रोगी अधिकतर निर्वल, पतले वा पीले और अस्वस्थ होते हैं। इनको विपमज्वर, बालग्रह आदि रोगों के होने का बहुत भय रहता है, इनका नासिका सेतु बैठ जाता है और नथुने पिचक जाते हैं, तथा हनु गोलाकार होने के स्थान पर (V) के तुल्य हो जाते हैं। अतः इस रोगका परिचय सरलता से ही हो जाता है।

निर्णयतत्व

ऐसे रोगी का आकार ही रोग को प्रकट कर देता है। यदि संदेह हो, तो मुख के अन्दर अंगुली डालकर अन्तः नासिका के छिद्र पर ग्रन्थि को मालूम कर सकते हैं। अथवा इसे देखने के लिये बना हुआ शीशे का यंत्र (हैडमिरर) प्रयोग कर सकते हैं।

उपक्रम

रोगी को द्राक्षासव और लोहासव उचित मात्रा से दिन में दो बार पिलावें और नासिका में षड्बिन्दु तेल की २-४ बूँद टपकाते रहें। अथवा गले पर कास्टिक २%-४% लगावें। इससे अति लाभ होता है।

यदि इससे लाभ न हो तो शल्यचिकित्सा करावें। धूलि एवं धूम्रादि से रहित शुद्ध वायु वाले मकान में रोगी को रखें। नासिका से श्वास लेने का प्रयत्न करावें। सामुद्रिक वायु वा पर्वतीय वायु अति लाभदायक है। मुख बन्द करके व्यायाम करें। पथ्य में लघु, पाचक और पौष्टिक भोजन देवें।

तरुण कण्ठ-शोथ

(Acute Pharyngitis)

परिचय—जिसमें कण्ठ की श्लैष्मिक-कला में सूजन हो जावे उसको 'तरुण कण्ठशोथ' कहते हैं।

निदान

यह रोग विशेषतया प्रतिश्याय के बाद ही होता है। प्रतिश्याय में नासिका की श्लैष्मिक-कला में सूजन होती है और वहीं से फैलकर सूजन कण्ठ में आ जाती है। तीक्ष्ण ओषधियों या अधिक उष्ण द्रव पदार्थों के पीने से कण्ठ की श्लैष्मिक कला में शोथ हो सकता है। मौक्तिक ज्वर, रोमान्तिका और वात-श्लैष्मिक ज्वरादि में भी प्रायः यह रोग उपद्रव के रूप मे होता है।

लक्षण

सामान्यावस्था मे कण्ठ में कण्डू होती है और खाँसी के वेग आते हैं। देखने पर गला लाल मालूम होता है। तीव्रावस्था में गले में अति भयानक कण्डू होती है और रोगी को कण्ठावरोध-सा मालूम होता है। कण्ठ के साथ स्वरयंत्र के प्रभावित हो जाने से स्वर भरा हुआ और फटा मालूम होता है। कुछ-कुछ ज्वर और अंगों में ग्लानि मालूम होती है। कण्ठ, तालु वा गले की ग्रन्थियाँ, अधिक लाल वा सूजी हुई दिखाई देती हैं। प्रायः देखने में आता है कि रोमान्तिका वा वातश्लैष्मिक ज्वर के उपसर्ग स्वरूप कण्ठ शोथ मे छोटे-छोटे व्रण होने के कारण निगलना भी कठिन हो जाता है।

उपक्रम

रोगी को मृदु विरेचन देकर उसके कोष्ठ की शुद्धि करावें। खदिर, त्रिफला, बेर की छाल के क्वाथ से अथवा अमलतास के क्वाथ से गण्डूष करावें। पोटाशियम परमेङ्गनेट २ ग्रेन, जल एक पाइण्ट में मिलाकर गण्डूष करावें। अथवा साधारण लवण (सोडियम क्लोराइड), सोहागा (सोडियम बाई बोरेट) और सोडाबाईकार्ब समभाग में मिला करके एक पाइण्ट गरम पानी में घोलकर कुल्ला करने से गला साफ हो जाता है। तीव्रावस्था में वनफ्शे का क्वाथ पिला, क्वाथ के शेष द्रव्य को गरम करके कण्ठ पर बाँधे। कास्टिक ४% भी लगा सकते हैं। लक्ष्मी विलास रस १ गोली को पीसकर मधु से चटावें। वा फिटकरी की भस्म दिन में २-३ वार मधु से चटावें। मरिच्यादि वटी, एलादि वटी, व्योषादि वटी और महाखदिरादि वटी (चरकोक्त) में से कोई एक वटी चूसने के लिये देवें। टिञ्चर बेञ्जोन को (Tincture Benzoin Co) को उबलते हुये जल में डाल इसकी वाष्प लेवें। भोजन मृदु, सुपाच्य और तरल देवे।

तरुण पूयात्मक कण्ठ-शोथ

(Acute Septic pharyngitis)

निर्वचन—जो अति तरुण कण्ठ शोथ के पूयजनक कीटाणुओं से होता है उसको 'तरुण पूयात्मक कण्ठ शोथ' कहते हैं।

निदान

इसको पैदा करने में पूयजनक कीटाणु ही मुख्य कारण हैं। यह अग्नि-विसर्प एव भृशमुख कण्ठ-शोथ में उपद्रव रूप से होता है। यह रोग अधिक विस्तृत नहीं होता। यह अति क्षीण या अति सुरापायियों को विशेष होता है।

लक्षण

कण्ठशोथ, कण्ठावरोध और श्वासाधिक्य होता है। शारीरिक अवसन्नता, अङ्गमर्द और अरति बनी रहती है अति तीव्र (१०५-१०६)

तापांश होता है। दुष्टावस्था में ज्वर अधिक होने की अपेक्षा अल्प बल्कि स्वस्थ रेखा से भी अल्प होता है। देखने पर गला शोथमय रक्त रंग का मालूम होता है। उपद्रव रूप में परिफुफ्फुसीयाकला शोथ, श्वसनक ज्वर और हृदय परिवेष्टनीकला शोथ के होने का भय होता है।

भावीफल

इस रोग का फल अति भयानक होता है। प्रायः रोगी मर ही जाते हैं। अति तीव्रावस्था मे पहले दिन ही रोगी मृत्युलोक से चल देता है।

उपक्रम

स्थानिक स्वेद और पुल्टिस का उपयोग करें। जैसे ही पूय पैदा हो वैसे ही उसको चीरकर बाहर निकाल दें। आरम्भ में एन्टी-स्टैप्टो काकल सीरम देने से अत्यन्त लाभ होता है। रोगी को पहले ही पूर्ण विश्राम देवें और जितनी पाचन शक्ति हो उतना ही भोजन—लघु-पाचक आहार दें।

जीर्ण कण्ठशोथ

(Chonic Pharyngitis)

परिचय—जो कण्ठशोथ कई मास का हो जाय, उसे पुरातन कण्ठशोथ कहते हैं। तमाखू अधिक पीने वालों मे पुरातन कण्ठशोथ होते हुये भी कास के सिवाय कोई विशेष लक्षण नहीं होता है। मृदु-प्रकृति वाले रोगियों मे समान्य शोथ होने पर भी उनको अति कष्ट होता है।

कारण

पुनः पुनः तरुण कण्ठशोथ होते रहने से शोथ स्थिर रह जाता है। जीर्ण प्रतिश्याय, जीर्ण गलग्रन्थि शोथ से तथा अति धूम्र वा धूलिपूर्ण स्थानों मे निवास करने वालों को यह रोग अधिक होता है। कण्ठ रोग भी इसको उत्पन्न कर देते हैं। इसके सिवाय और अनेक दैहिक व्याधियाँ हैं, जो इसको पैदा करने में मुख्य या गौण रूप से सहायक होती हैं। जैसे—वातरक्त, अजीर्ण, आमवात, बिलोहितता, वृक्क रोग, यकृत् रोग, जीर्ण-कास और क्षय प्रभृति।

लक्षण

जब कण्ठ मे सूजन पुरानी हो जाती है तो अनेक प्रकार के लक्षण होते है। कभी पीड़ा, दाह, कण्डु, तोद-भेद प्रभृति मालूम होते हैं। कभी-कभी अधिक ज्वर और कभी ज्वर होता ही नहीं है। अधिकतर खांसी रहती ही है। अधिक तमाखू पीने वालों को धूम्रपान के समय विशेषकर खाँसी आती है। कण्ठ रक्तवर्ण और शोथयुक्त मालूम होता है। उसमे शिराय उभरी हुई प्रतीत होती हैं। कण्ठ की दीवार मे छोटे-छोटे दाने-से मालूम होते हैं। इसको 'कणिकाशोथ' कहते हैं।

शुष्क कण्ठशोथ

किसी-किसी समय पर अतिस्वच्छ, शुष्क और लालवर्ण का कण्ठ प्रतीत होता है। इसको 'शुष्ककण्ठ' शोथ कहते हैं।

चिकित्सा

जिन कारणों से यह रोग होता हो, उनका ज्ञान कर चिकित्सा द्वारा दूर करें। यदि प्रतिश्याय के कारण कण्ठशोथ हो तो उसको दूर करें। प्रतिश्याय के शान्त होने पर पीछे से कण्ठशोथ भी शान्त हो जाता है।

दन्तवेष्टक

Pyorrhoea

साम्यता—पायरिया के लक्षण प्रायः आयुर्वेदोक्त दन्तवेष्टक रोग से मिलते हैं। इसलिये पायरिया को दन्तवेष्टक कहा गया है। 'पायरिया' यह शब्द ग्रीक भाषा का है, जिसका अर्थ यह होता है कि छोटे-छोटे छिद्रों में से (अर्थात् दन्तवेष्टक के पोले स्थान से) पूय का स्राव होना। प्राय चिकित्सा मे रक्त की दुष्टि के कारण दन्तमूल से रक्त और पूय बहने लगता है। जैसे-जैसे अधिक पूय निकलता है उसी भाँति दन्तवेष्टक का पोला भाग बढने लगता है और जैसे-जैसे पोला भाग बढने लगता है, उसी भाँति दाँत कमजोर होकर हिलने लगते हैं।

यथोक्तं सुश्रुते—

स्रवन्ति पूय रुधिरं चलाः दन्ताः भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयः दुष्ठ शोणित सम्भवः॥

कारणात्मक पाश्चात्य सिद्धान्त

रक्त में अम्लता वढ़ जाने से दाँतों से पूय आने लगता है और रक्तान्तर्गता लाला में आकर कपाल के रूप मे दाँतों पर जमती जाती है। रक्त मे यह अम्लता यकृत् की विकृति से होती है तथा यकृत् विकृति मन्दाग्नि से होती है। जिन दाँतों के मूल भाग मे पायरिया के कारण पूय-भवन की क्रिया होती है, उन दाँतों पर स्वभावतः अन्य दाँतों की अपेक्षा यह कपालिका आवरण अधिक हो जाता है। पूय मे जो उष्णता होती है वह लाला और कफ को घनीभूत कर देती है जो आगे चलकर उक्त कपालिका के रूप को धारण करती है। पश्चिमी दन्त-विशेषज्ञ इस कपालिका को ही पायरिया का मूल कारण मानते हैं। अतः इस कपालिका को ही यन्त्र द्वारा निकालते हैं। किन्तु ऐसा करने से रोग कम होने की अपेक्षा और अधिक वढ जाता है।

अतः इससे सिद्ध हुआ कि इस रोग का मूल कारण कपालिका नहीं है। वल्कि, मांसादि प्रकृति विरुद्ध और दूपित कृत्रिम आहार-विहार से पान, सुपारी, तम्वाकू प्रभृति द्रव्यों का अत्यधिक व्यवहार करने से, गन्दे ब्रुश, दन्त प्रलेप और दूपित दन्तमञ्जनों के व्यवहार करने से, अधिक गरमागरम चाय, काफी आदि पेयपदार्थों के पीने से, दाँतों को आलपीन, सूई, तृण आदि से कुरदने से तथा अन्य अस्वच्छताजनक कारणों से दन्तवेष्टकों का रक्त दूषित होकर मसूड़े पक जाते हैं। अथवा दन्तमूलों को दृढ़ करने वाले स्निग्ध पदार्थ के धीरे-धीरे पिघल जाने के कारण दाँत की जडों से पृथक् होने लगता है। अथवा मासादि दूपित आहार के तन्तु दाँतों की सन्धियों में पड़े रहने से सड जाते हैं और यह सड़न मसूडों के रक्त से मिलकर उसको दूपित कर देती है जिससे दाँत हिल जाते और इस रोग का प्रादुर्भाव हो जाता है। भोजन को खूब चवाकर जो नहीं खाते हैं, उनके मसूड़ों के रक्त मे रक्त

का संचालन भलीभाँति नहीं होता है जिससे मसूड़ों की जीवनी शक्ति कम हो जाती है। मुख से जिन्हें श्वासोच्छ्‌वास लेने का अभ्यास हो जाता है, उनके मुख के सम्मुख के मसूड़े सहज में ही दूषित हो जाते हैं जिससे दन्तपूय की उत्पत्ति हो जाती है।

कपालिका के लक्षण—

कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तेषु समलेषु च।
कपालिकेति विज्ञेया सदा दन्तविनाशिनी॥

दन्तपूय
(Pyorrhoea)

प्रतिदिन दाँतों को स्वच्छ न किया जाय तो उनके मध्य में भोजनांश सञ्चित होकर सड़ने लगता है और वहाँ कृमि बढने लगते है। इन कृमियों के विष से और भोजन के सडने से मसूढ़ों में सूजन और दन्तमूलों में पूय पडने लगता है। जब दन्तवेष्टों मे अत्यधिक शोथ हो जाता है तथा अत्यधिक पूय पड जाता है तब दाँत हिलने लगते है। पूय भोजन के साथ मिलकर आमाशय व अन्त्रादि मे जाता रहता है जिससे उसमें विकृति उत्पन्न हो जाती है।

लक्षण

आरम्भ मे दन्तवेष्ट थोडे बहुत शोथयुक्त और लालवर्ण के होते हैं। थोड़ा-सा दबाने से या दन्तधावन करने से उनमें से रक्त निकलने लगता है। दाँतों पर मल जमा हुआ मालूम होता है, यदि इसको बढने दिया जाय तो दाँतों के मूल मे से थोडा-थोडा पूय आने लगता है। उसे दन्तवेष्टों को दबाकर निकाल सकते हैं। भोजन की सडन, कृमियों के विष और पूय के कारण मुख का स्वाद बिगडने लगता है और मुख से दुर्गन्धि आने लगती है। प्रात: समय मुख का स्वाद बहुत बुरा-सा रहता है। अत्यधिक लाला स्राव होता है, तीव्रावस्था में कभी-कभी मुख पक जाता है और मुख में छाले पड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त और कोई विशेष लक्षण नहीं होते हैं। प्रारम्भिकावस्था मे अतिदु:ख न

होने के कारण रोगी चिकित्सक के पास नहीं जाता है। किन्तु धीरे-धीरे जब पूय अन्दर जाने लगता है तो अन्त्र और आमाशय के रोग, यथा—अजीर्ण, परिणामशूल, उपान्त्र शोथ आदि रोग हो जाते हैं। इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि दिन में कीटाणु अन्नादि से मिश्रित होकर आमाशय में जाते हैं और आमाशय में उदहरिकाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) की उपस्थिति के कारण मर जाते हैं। परन्तु रात्रि के समय कीटाणु केवल लाला से मिश्रित होकर अन्दर आते हैं। दुर्भाग्यवश इस समय उदहरिकाम्ल भी उपस्थित नहीं रहता है। अतः रात्रि के समय अन्दर गये हुये कृमि ही उपद्रव उत्पन्न करते हैं।

कभी-कभी विष सीधा दन्तवेष्टों में ही लीन होकर रक्त में संचरण करता हुआ विविध प्रकार के रोग उत्पन्न कर देता है। यथा—वातरक्त, आमवात, दुष्टविलोहितता, ज्वर, कण्डू और पामा प्रभृति।

निर्णयतत्त्व

इस व्याधि का ज्ञान करना सुगम है किन्तु; उपद्रवावस्था में यह भ्रम रह जाता है कि यह स्वतन्त्र रोग है वा दन्तपूय के उपद्रव। इसलिये ऐसी अवस्था में दन्तपूय की चिकित्सा अवश्य ही करें। उपशयानुपशय द्वारा यह सन्देह दूर किया जा सकता है।

चिकित्सा

आरम्भ में चिकित्सा करने से दाँतों के निकालने के बिना भी दन्त-पूय प्रायः अच्छा हो सकता है। परन्तु पूय के अधिक पड़ जाने से जब दन्तवेष्ट दन्तमूल से पृथक् हो जाते हैं उस समय दाँतों के निकालने के सिवाय और कोई उपाय नहीं रहता है। वैक्सीन भी केवल प्रथमावस्था में ही कुछ लाभ करता है।

जब मल जमने लगता है और उस मल के कारण मसूड़े सूज जाते हैं और उनसे रक्त निकलने लगता है तो उसी समय ही मल (टारटर) को छील देना चाहिये और दाँतों को प्रतिदिन हाइड्रोजन पर औक्साइड से स्वच्छ करते रहना चाहिये। यदि मल थोड़ा हो, तो केवल टिञ्चर

आयोडीन (Tincture Iodine) चार भाग (रैक्टीफाइड् स्पिरिट निर्मित (Rect. spt 4 parts), टिञ्चर एकोनाइट १ भाग (Tincture aconit I part.) टिञ्चर मिर्ह दो भाग (Tincture myrrh 2 parts) दन्तवेष्टों पर लगाना ही पर्याप्त है।

मौलसिरी की छाल का प्रयोग भी अच्छा है। दाँतों की स्वच्छता की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। अतः जमे हुए मल को दूर किया जावे और अन्य मल जमने न पावे, पूय के अधिक हो जाने और दाँतों के हिलने पर इसके सिवाय और कोई उपाय शेष नहीं रहता है कि जिनके मूल में पूय पड जावे उनको निकाल दिए जावें। जब इस पूय के कारण अन्य शारीरिक और आन्त्रिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जावे, तो दाँतों के निकालने में विलम्ब करना अति हानिकारक है। वैद्यों का इस बात की प्रतीक्षा करना कि रोग की दशा कुछ सुधरने पर दाँत निकाले जावें, भूल है। इससे लाभ की अपेक्षा अधिक हानि ही होती है। अतः तत्काल प्राय. दाँतों को निकाल ही देवें। सब दाँत एक साथ न निकालकर एक-एक दो-दो दाँत कुछ दिनों के अन्तर देकर निकाले जाव, क्योंकि सब दाँत एक साथ निकालने से असह्य दुर्बलता आ जाती है और सद्योव्रण हो जाने से पूय के सहसा लीन होकर भयंकर उपद्रव होने का भय रहता है।

जहाँ तक हो सके रोगी को बेहोश करके दाँत निकालें। दाँत निकलवाकर कृत्रिम दाँत लगा लेवें। कृत्रिम दाँत लगाने के लिये ५-६ मास प्रतीक्षा करनी पडती है जिससे कि दन्तवेष्ट दृढ होकर कृत्रिम दाँतों की प्लेटों को सहने योग्य हो जावे। कृत्रिम दाँतों की शक्ति प्राकृतिक दाँतों की अपेक्षा अत्यल्प (लगभग पञ्चमांश) होती है। अतः जहाँतक संभव होवे वहाँ तक दाँत न निकालने की चेष्टा करें। अन्त मे ही दाँत निकालें। यह रोग चिरकालिक होकर दन्तवेष्टों को पार करके हन्वस्थि तक आक्रमण कर जाता है।

दन्तपूय (पायरिया) नाशक चिकित्सा

पायरिया रोग में रक्तान्तर्गत दोषों का विचार करके उसकी चिकित्सा करें। कैशोर गुग्गुल (शार्ङ्गधरोक्त) २ गोली, बृहन्मञ्जिष्ठादि क्वाथ

अथवा सारिवाद्यासव से प्रातः-सायंकाल लेवे। यदि उदर रोग हो, तो शोधन, शमन, लंघन प्रभृति अन्तः परिमार्जन उपायों का अवलम्बन करने से इस रोग मे विशेष लाभ होता है। खाली दाँतों को खुरचने से मल की सफाई आदि से स्थायी लाभ नहीं होता है।

पायरिया नाशक दन्तमञ्जन

काले शिरष के बीज भुने हुए एक छटाँक, रीठाके छीलके की भस्म एक छटाँक, तूतिया भस्म २ तोला, त्रिफला चूर्ण तीन छटाँक, अकरकरहा १ तोला, वायविडंग १ तोला, पतंग १ तोला, समुद्रफेन १ तोला, सोंठ १ तोला, मिर्चकाली १ तोला, माजूफल १ तोला, मस्तगी १ तोला, फिटकरी का फूला और जली हुई सुपारी दो छटाँक, कर्पूर १ तोला, सेन्धानमक दो छटाँक तेजबल के बीज (तुम्बुरू) २ तोला।

विधि—सब को कूट-पीस छानकर शीशी मे भर लेवें। प्रतिदिन २ बार दाँतों पर मञ्जन करना चाहिये। इससे पायरिया में बहुत लाभ होता है। इरिमेदादि तेल (शार्ङ्गधरोक्त) की मालिश दाँतों पर किया करें।

कृमिदन्त

परिचय—

कृष्णच्छिद्रश्चल. स्रावी ससंरम्भो महारुजः :
अनिमित्तरुजो वाताद् विज्ञेय. कृमिदन्तक. ॥

हेतु

दाँतों में भोजन के सडने से विष पैदा हो जाता है, जो धीरे-धीरे दाँतों को बाहर से खाकर दन्तमज्जा तक पहुंच जाता है। दन्तमज्जा में दन्त नाडी होती है, जब कोई वस्तु इस मज्जा मे चली जाती है; तो अत्यन्त पीडा होती है। यह रोग विशेषकर मुख से श्वास लेने वालों को होता है।

लक्षण

आरम्भ मे दाँत काले हो जाते है और इसके बाद जब दाँतों में खोल हो जाता है तब यदि कोई चीज इस खोल मे चली जाती है तो

अत्यन्त पीड़ा होती है। इसीलिये दन्त-रोगी इससे कार्य नहीं लेता है। वहाँ मल जमा होकर मसूड़ों में सूजन और दन्तपूय पैदा कर देता है। कभी-कभी ऐसे दाँतों से विष लीन होकर ग्रीवा की लसीका-ग्रन्थियों में सूजन पैदा कर देता है।

चिकित्सा

दाँतों को स्वच्छ रखें, उन पर मल कभी न जमने पावे। यदि मल जम जावे तो तुरन्त उतरवा देवें। श्यावदन्तों को भी छिलवाकर ठीक करा देवें। जब खोल हो जावे तो तत्काल ही उसको भरवा देवें। यदि दन्त खोल भरा न जा सके तो उसको निकलवा देवें।

प्रारम्भिक दशा में—लवंग तेल का पिचु (फाया) खोखल दाँत के मध्य में रखे। अथवा अकरकरा ६ माशा, कपूर ६ माशा, अफीम १ माशा और नीम की पत्ती ४ तोला—इनको जल में पीस कर मूँग के बराबर गोली बना दन्तछिद्र में रखें। इससे पीड़ा बन्द हो जाती है।

दाँतों के साबुन—कैस्टाइलसोप (Castilesoap) इस काम के लिये उत्तम है।

आधुनिक दन्तमञ्जन

बाइकारबोनेट ऑफ सोडा	½ औंस
प्रेसीपीटेटेड चाक (Precipitated chalk)	½ औंस
पलवेराईज्ड ओरिसरुट् (Pulverised orris root)	१ औंस
कैस्टाइल सोप	१ औंस

विधि—एकत्र सबको मिलाकर रक्खें। दातून करने के बाद इससे दाँत साफ करने से प्रायः रोगों से दाँत सुरक्षित रहते हैं। यह कृमिघ्न होने से प्रतिदिन के लिये उत्तम है।

लाइम्वाटर से कुल्ला करने पर वे तेजाब पैदा नहीं होते जिनसे कृमि आदि दाँतों में पैदा होते हैं।

अंग्रेजी मञ्जन—अंग्रेजी चाक या मैग्नेशिया कारबोनेट को पीसकर उसमें रंग मिलाया जाता है। (ओषधियों में रंग डालने के वास्ते

सब प्रकार के वानस्पतिक रंग मिलते हैं) साथ ही ५ तोला में १ माशा कार्बोलिक एसिड मिलाकर उसको डब्बियों में रख देव, कोई-कोई टैनिक एसिड भी मिलाते है। बढ़िया और सुगन्धित बनाने के लिये ओरिस रुट भी मिलावें।

स्ट्रावेरी का रस दातून या ब्रश पर लगाकर दाँतों पर मलें। यह टारटर के लिये बहुत उत्तम है और अच्छे से अच्छ मञ्जन का काम करता है। कोयला यद्यपि दाँतों को साफ करता है। किन्तु; मसूड़ों के के लिए हानिकारक है।

कीटाणुनाशक द्रव

थाईमोल (सत्त्व अजवाइन)	१ ग्रेन
बैञ्जोइक एसिड	१२ ग्रेन
यूक्लिप्टस टिञ्चर	१ ड्राम
यूडीक्लन	१ औंस
पेपरमेन्ट का तैल	१० बूँद

विधि—सबको मिलाकर पानी ६ औंस मिला दें, इससे कुल्ला करने पर मुख की दुर्गन्ध दूर होती और दाँतों मे कीड़ा नहीं होती है। अमृतधारा भी गुणकारी है।

कीकर की दातून एस्ट्रिन्जेन्ट प्रभाव करके दाँत को दृढ़ करता है। कीकर की दातून पाउडर का काम करती है। बाँस की दातून ब्रुशवत होती है।

दन्तमल नाशक मञ्जन

सेंधानमक, कर्पूर, श्वेतसुरमा की भस्म, फिटकरी का फूला, प्रत्येक सम भाग मिलावें। इसको अंगुलि से दाँत पर मलने पर दाँत साफ रहते हैं। टारटर जमा हो तो उसको उतार कर मलें तो दाँत बहुत साफ हो जाते हैं।

हिलते हुए दांतों का दृढ़कारक मञ्जन—तिल तेल में कालानमक मिलाकर गण्डूष करने से दाँत ठीक हो जाते हैं। अथवा कीकर की मूल की छाल ४ तोला, सुपारी ४ तोला, मौलसरी की छाल ४ तोला को एकत्र पीसकर रखें। इसे हिलते दाँतों के भीतर थोड़ा-थोड़ा छिड़क दिया करें।

श्वेत जीरा १ तो०, कालीमिर्च २ माशा, कत्था १ तो०, मस्तगी १ तो०, दालचीनी १ तोला, सोंठ ६ माशा, भुना तुत्थ ३ माशा, कसीस १ तो०, भुना धनियाँ १ तोला, सधा नमक १ तोला, कपूर १ तोला, कीकर की छाल १ तोला, संगजराहत १ तोला, सुपारी १ तोला, इलायची दाना १ तोला, बंशलोचन १ तोला, फिटकरी की खील १ तोला, इनको महीन पीसकर रखें—दाँतोन के पीछे अंगुली से लगावें। इससे दाँतों में पानी लगना, दाँतों से रक्त गिरना बन्द होता तथा यह दाँतों को पुष्ट भी करता है।

मुख-दुर्गन्धि

कभी-कभी दाँतों की खराबी अथवा आमाशय की खराबी के कारण मुख से दुर्गन्ध आने लगती है और यह ऐसी बुरी होती है कि कोई पास बिठलाना पसन्द नहीं करता है। केवल इलायची, सुपारी आदि चबाने से मुख की दुर्गन्धि दूर नहीं कर सकते। आमाशय को ठीक करें, कम खाएं, दुर्गन्धोत्पादक वस्तुएँ यथा—पियाज, लहसुन, तेज मसाला, बहुत अमीरी भोजन आचारादि-सेवन से बचते रहें। बीमारी का कारण भोजन है। जिस स्त्री के मुख से दुर्गन्ध आती है, उसका पति उसे प्लेगग्रस्त रोगी के समान छोड देता है।

यदि आमाशय निर्बल हो, तो उसे ठीक करें, यदि दाँतों के खराब होने और मैल जम जाने से फोडा, पीप आदि से दुर्गन्ध आती हो, तो दाँतों का इलाज करें।

कारबोनेट ऑफ सोडा एक चम्मच, छोटे गिलास में डालकर कुल्ला करें। लवण जल के कुल्ले भी गुणकारी हैं। टिञ्चर मिर्ह और मधु पानी में मिलाकर गण्डूष कराना भी अच्छा है।

क्लोरेट ऑफ पोटास की प्राय डाक्टरों ने बहुत प्रशंसा की है। एक ग्रेन लेकर रात्रि को मुख मे रखें, जिह्वा के द्वारा सब दांतों में लगावें यह हितकर है। प्रात समय उठने पर जो विरसता और दुर्गन्धि प्रतीत होती है वह दूर हो जाती है। एक-दो ग्रेन आधी छटाँक पानी में मिलाकर गण्डूष करना भी बहुत लाभकारी है, क्योंकि इससे मुख की दुर्गन्ध दूर होती, यह कीटाणुओं को भी नष्ट करता और मसूढ़ों को दृढ़

करता है। परन्तु पानी इसमें प्रतिदिन मिलाना चाहिये। क्योंकि पानी में मिलाकर रखा हुआ खराब हो जाता है।

सिट्रीन दो माशा भोजन के बाद खिलाना भी आधुनिक वैद्य अच्छा मानते हैं।

टिञ्चर लैविण्डर (Tinct. Lavender)—१ औंस

टॅानिक एसिड् (Tonnic Acid)—१ ड्राम

क्लोराइड् ऑफ पोटाश (Chloride of Potash)—½ ड्राम

विधि—२ औंस पानी में मिलाकर प्रातः सायं गण्डूप करना हितकारी है।

कर्पूरादि वटी

कपूर, जायफल, लवंग, इलायची श्वेत, दारुचीनी, कस्तूरी प्रत्येक ३॥ माशा लेकर गुलाब-अर्क मे खरल कर चने प्रमाण की गोली बनावें। इसमे से १ गोली मुख मे रखकर चूसें, इससे मुख में दुर्गन्ध नहीं आती है।

दुर्गन्धनाशिनी मस्तगी वटी

पनीर मायाशुतर एराबी १ तोला, कस्तूरी, मस्तगी और लवंग प्रत्येक ४ माशा, असली अम्बर आठ माशा, सालब आठ माशा, कुलञ्जन आठ माशा।

विधि—सबको कूट छानकर जङ्गली बेर के बराबर गोली बनावें। रोज एक गोली मुख में रखने से मुख की दुर्गन्ध दूर हो जाती है यह धातु और मस्तिष्क को बल देती हैं। अथवा इस गोली को खाकर ऊपर से अर्कबेदमुश्क पीवें।

स्कर्वी
(Scurvy)

टिञ्चर मिर्र १ तोला, अमृतधारा ३ माशा, मधु दो तोला, लैविण्डखार दो तोला मिलाकर थोड़े से पानी मिलाकर कुल्ला करें।

अखरोटवल्कल मलना

अखरोट की छाल दाँतों पर मलने से स्कर्वी रोग नहीं होता है। टारटर दाँतों पर नहीं जमता और नेत्रों पर भी इसका अच्छा प्रभाव

पडता है। दाँतों पर मलने से दाँत साफ होकर मोती के समान चमकने लगते हैं। पञ्जाब मे प्रायः स्त्रियाँ इसको दाँतों पर विशेष मलती हैं। इससे दाँतों मे कृमि उत्पन्न नहीं होते।

मुहाँसा

(Acne)

प्राय' मुख या ग्रीवा पर पृथक्-पृथक् या मिले हुये छोटे-छोटे नुकीले दाने उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी पेंदी कठोर और लाल होती है। जब ये पक जाते हैं तो इनसे कील निकल आती हैं। साथ में थोड़ी पीप भी आती है। ये तीन प्रकार के होते हैं।

यथोक्त सुश्रुते—

शाल्मली कण्टक प्रख्या' कफ मारुतरक्तजाः।

जायते पिडिकायूनां ज्ञेयास्ताः मुखदूषिका ॥

(१) साधारण मुहाँसे जो प्रायः युवा स्त्री-पुरुषों को निकला करते हैं, कपोल, माथा, नाक इनके मुख्य स्थान हैं। इनमें कभी स्याही भी होती है। इस दशा को अंग्रेजी मे (Black Road) कहते हैं।

(२) गहरे दोषों के कोप, रक्तकोप, मन्दाग्नि, कोष्ठबद्धता, मांस-मदिरा का अधिक सेवन और अर्श में रक्त के सहसा वन्द होने से, गरम पदार्थों के खाने से मुहाँसे उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि उनकी जड़ त्वचा के नीचे तक हो जाती है। साधारण कीलों का उचित इलाज न होने से भी ऐसा हो जाता है। इनको अंग्रेजी में इन्डयूरेटेड एकनी (Indurated Acne) कहते हैं। ये चर्म के नीचे ग्रन्थिवत् मालूम होते हैं।

पेरिस के डा० सीवाण्ड ने पता लगाया है, कि मुहाँसे एक प्रकार के कीटाणुओं के कारण होते हैं। अत. मालिश (मैसेज) करने से फैल जाते हैं। गहरे मुहाँसे कड़े हो जाते हैं। इलाज अनुचित हो, तो इनमे पीप पड जाती है। मुख पर छोटे-छोटे फोड़ों का चिह्न रह जाता है। कईयों मे एक दूर होकर दूसरा निकल आता है। वे बेचारे वर्षों कष्ट भोगते रहते हैं।

चिकित्सा

एक्सरे के द्वारा विलायत मे इनका इलाज आरम्भ किया गया है। कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, रक्त क्षीणता, रक्तदोष आदि को उचित औषधियों से दूर करें। मद्य, मांस, कालीमिर्च और ग्राही पदार्थों से बचे रहें।

आरम्भिक दशा मे—ईथर रेक्टीफाईड (Ether Rectified) १ औंस, लिन, सेपोनिस (Lin, Saponis) १ औंस।

विधि—दोनों को मिलाकर लगावें।

अन्य योग

लाइकर हाइड्रोजन पैरेक्साइड	१ औंस
वैसलीन	१ औंस
ऐनहाईड्रस लेनोलिन	२ औंस
एसेटिक एसिड	१ ड्राम

विधि—इन सबको मिलाकर लगाव।

डा० ब्वायड लैनर्ड के मत से साबुन से मुख धोकर खुरदरे तौलिया से साफ करना हितकारी है। जब मुहाँसे हो जाएं तब निम्नलिखित योग उत्तम लाभकारक होता है।

रेजोरसिन	२—५ भाग
ग्लिसरीन	१ भाग
नारङ्गी पुष्पार्क	२० भाग
अल्कोहल	८० भाग

विधि—सबको एकत्र मिलाकर रखें। इस दवा को दिन में लगाया करें और निम्न लिखित मलाई रात मे लगावें।

वेन्जुर्जिङ्क आयन्टमेन्ट	२ भाग
सल्फर प्रेसीपीटेट	१ भाग
सिलीशस अर्थ	२ भाग

जब मुँहाँसे से मुख श्वेत होकर पीप पड जावे, तो निम्नलिखित योग हितकारी होता है।

चूर्ण सल्फर हाइड्रोक्लोराइड	१ ड्राम
वेन्जुएटेड लार्ड	१ औंस

विधि—इन्हें मिलाकर रखें और लगाया करें।

यदि आवश्यकता हो तो खाने के लिये निम्नलिखित योग देवें।

एसिड आरसेनिक	½ ग्रेन
फ़ेराई सल्फास ऐक्सीकेटस	१२ ग्रेन
केलसियाई सल्फाइड	४ ग्रेन
एक्सट्रॉक्ट जेन्शन	२४ ग्रेन

विधि—सब को मिलाकर १२ गोलियाँ बनावें। इनमें से १ गोली प्रातः समय भोजन के पीछे देवें।

निम्नलिखित अर्क भी गुणकारी है।

सल्फर प्रेसीपीटेट	२ ड्राम
केम्फर	१० ग्रेन
पल्व अकेशिया	२० ग्रेन
लाइकर लैंक्स	२ औंस
अर्क गुलाब	२ औंस

विधि—इन्हे मिलाकर रखें और थोडा-सा मुख पर मल लिया करें।

(१) श्वेत गुञ्जा तिल तेल मे पीस कर लगाना हितकर है।

(२) पीली कौडी तीव्र सिरके मे मिट्टी के वर्तन मे ३ दिन तक रख छाया मे सुखा कर पीस कर लगावें।

(३) नीम की निंबोली छाछ के पानी में घिसकर लगाना हितकर है।

(४) हल्दी और समुद्रफेन पानी में पीस कर लगावें।

(५) नरकचूर, आंबाहल्दी, कांचिया नमक सबको एकत्र पीस कर लगाना भी गुणकारी है।

(६) भूने चने का चूर्ण ६ माशा, मुर्दाशंख ३ माशा, सफेदा काशगरी ४ माशा, बकरी के दूध में पीस कर रात्रि को मुहाँसे पर लगावें। प्रातः नीम के पत्तों के पानी से धोवें।

(७) मूली के बीज १ तोला, बाकला का चूर्ण २ तोला को सिरका में भिगोकर सुखावें। फिर चिरौंजी, कडवी, बादाम की गिरी, मीठी कूठ,

अकलील, जीरा प्रत्येक ६-६ माशा मिलाकर टिकिया बना कर रख छोड़ें। आवश्यकता होने पर १ टिकिया भेड के दूध में घिसकर रात्रि को मुहासे पर लगावें। प्रातः गरम पानी से धो देवें।

तीसरे प्रकार का मुहाँसा बहुत कष्टसाध्य है, नाक लाल, लाल चमकते हुये धब्बे प्रायः लोगों के देखें होंगे। ये लाल धब्बे जिनके साथ कभी-कभी रक्तवाहिनी नसें इकट्ठी उभरी हुई होती हैं प्रायः नाक पर होते हैं और ऐसे रोगी भी हैं जिनकी नाक या गालों या ठोडी पर ये चिह्न वर्षों तक बने रहते और कई इलाज कराने पर भी नहीं जाते, चिरकाल तक रहने पर चर्म कठोर और खुरदरा हो जाता है। इसको अंग्रेजी में Red nose या Acne Rosacia कहते हैं। आर्तवदोष, रक्तदोप या मांस-मद्य का अति सेवन प्राय इसका कारण होता है। शीत-उष्ण वायु आदि लगने से इसका रूप बुरा मालूम होता है। कभी छोटे-छोटे दाने चारों ओर हो जाते हैं और नाक बहुत मोटी वा भद्दी मालूम पड़ने लगती है।

रक्तदोष, आर्तव दोष, कोष्ठबद्धता, यकृत् रोग आदि से हो, तो उसे दूर करना चाहिये। मद्य का सर्वथा परित्याग करना अच्छा है, इसमें निम्न योग का प्रयोग कर।

सल्फ़रप्रेसीपीटेट	१ ड्राम
निशास्ता	२।। ड्राम
मरहम जिंक ऑक्साइड	१।। औंस
आयल रोज जिरेनियम	५ बूँद
कैम्फरेटेड अल्कोहल	३० ग्रेन
सल्फ़रप्रेसीपीटेट	३० ग्रेन
स्वच्छ जल	२५० ग्रेन

विधि—इनको मिलाकर लगावें।

जब रोग का वेग हो, लाली-चमक बढ़ गई हो, रक्त जम गया हो और आस-पास मे चर्म रोग न हो तो निम्नलिखित योग काम में लावें।

इचथीओल	१० भाग
रेक्टीफाइड स्प्रीट	१० भाग
ईथर सल्फ	१० भाग
तेजाब सेलीसिल	१ भाग

अथवा निम्नलिखित योग बनावे।

लाइकर एमोनिया	३०—५० बूँद
यूडी क्लोन	४०—५० बूँद
उश्नान वृक्ष की छाल का काढा	४ औंस

देशी इलाज—प्रथम मायउल्‌जुब्न कराना चाहिये। फिर मुहाँसे के योगों को लगावें। तारपीन तेल २ तोला, मद्य २ तोला और अमृतधारा ३० बूँद लगाना भी लाभ करता है।

वल्मीक पद (बिवाई)

(Madura Foot, Mycetoma, Maduro Mycosis)

निर्वचन—वल्मीक पद नामक रोग संक्रामक है। इसमें पैरों में कभी-कभी हाथों में तथा ग्रीवा और जत्रु के ऊर्ध्व भाग में वल्मीक (बाँबी) के समान काफी बढी हुई अनेक उभार युक्त और छिद्रयुक्त ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इनमें सूची वेधन के तुल्य वेदना, क्लेद, जलन, खुजली आदि लक्षण होते हैं। इसका मुख्य कारण अनेक प्रकार के छत्रकाणु (Fungi) हैं।

यथोक्त सुश्रुते—

ग्रीवांशकक्षा कर पाद देशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः।
ग्रन्थिः स वल्मीकवद् क्रियाणां जातः क्रमेणैवगतः प्रवृद्धिम्॥
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भिर्विसर्पवत् सर्पति चोन्नताग्रैः।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात्॥

कारण

यह रोग हिन्दुस्तान में मद्रास के मदुरा नामक जिले में बाहुल्यता से पाया जाता है। क्योंकि यह मदुरा जिले के समीप अधिक मात्रा में होता

है। अतः पश्चिमी चिकित्सकों ने इसका नाम मदुरापाद ही रख दिया है। इसका प्रधान कारण छत्रकाणु की एक जाति को मदूरेला (Maduıella) नाम भी रख दिया है। मदुरा प्रान्त के अतिरिक्त, पञ्जाब, काश्मीर, राजपुताना, देहली आदि स्थानों में भी उत्पन्न होता है। यह रोग गांवों मे अधिक तथा शहरों में कम होता है। नंगे पैर चलने वाले मनुष्यों मे इस रोग का अधिक आक्रमण होता है। इस रोग के कारणभूत छत्रकाणु, पाद के व्रणों तथा विपादिका की दरारों से शरीर में प्रविष्ट होते हैं। ये छत्रकाणु अनेक प्रकार के (Maduıella, Toıula, Aspergıllus, Actınomyce) होते हैं।

सम्प्राप्ति

शरीर मे प्रविष्ट होने के वाद इन छत्रकाणुओं की वृद्धि होती है। ये त्वचा के नीचे पैरों मे अनेक ग्रन्थियाॅ उत्पन्न करते है। ये ग्रन्थियाँ शनैः-शनैः आकार मे वढ़ जाती हैं और ऊपर की त्वचा गलकर अन्दर से पूय बहने लगता है। ये छत्रकाणुजन्य व्रण धीरे-धीरे पेशियों, कण्डराओं और हड्डियों तक फैल जाते हैं। इस भॉति पैरों मे अनेक नाडी व्रण वन जाते हैं। इन व्रणों और ग्रन्थियों के कारण पाद शोथयुक्त, स्थूल और विकृत हो जाता है। इनमे उपसर्ग पैरों तक ही सीमित रहता है। अन्दर के अङ्गों मे प्रविष्ट नहीं होता है। यहॉ तक कि यदि पूयजनक जीवाणुओं का संक्रमण व्रणों में न हो जावे, तो वंक्षण की लसीका ग्रन्थियॉ भी नहीं फूलती हैं। इन नाडी व्रणों से जो गाढा दुर्गन्धयुक्त पूय निकलता है उसमें सडी-गली धातुओं की सेल वद्ध्याकारी श्वेतकायाणु (Leukocytes) और छत्रकाणुओं में विविध रंगों के कण होते हैं। यथा—काले कण अधिकतर मदुरेला, टोरयुला, अस्पर्जिलस और पेनीसिलम के, पीतता लिये हुये श्वेत, एक्टिनोमाइस, मोनोस्पोरियम या किफालोस्पोरियम के, लालकण अस्पर्जिलस और मदुरेला जाति के छत्रकाणुओं के होते हैं। तान्तवधातुओं की प्रफलन (प्रोलीफिरेशन) विकृति अंगों की वृद्धि एवं रक्त मे श्वेतकायाणुओं की अधिकता द्वारा होती है।

लक्षण

रोग के आरम्भ में पाद पर एक ग्रन्थि होती है। कई महीने के बाद यह ग्रन्थि पक कर फूट जाती है और इस भाँति रोग और धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। स्थानिक विकृति के सिवाय और कोई लक्षण नहीं होता है। शनैः-शनैः व्याधि की वृद्धि के साथ-साथ ही पाद मोटा और भद्दा हो जाता है तथा उससे लगातार बदबूदार मवाद बहता रहता है जिससे पाद निष्क्रिय हो जाता है। परन्तु पाद अधिक विकृति होने पर भी पीडा और रक्तस्राव अधिकतर नहीं होता है। यह इस रोग की विशेषता है। प्रारम्भिक दशा में इस स्थानिक विकृति के प्रभाव से रोगी के स्वास्थ्य पर कुछ भी असर नहीं होता है। परन्तु रोग पुराना होने पर शनैः-शनैः रक्त तथा दुःस्वास्थ्य (Cachexia) होकर रोगी प्रस्थान कर जाता है।

रोगनिर्णय

सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से व्रण के स्राव में छोटे-छोटे कणों में छत्रकाणु दिखलाई देते हैं। अवशिष्ट ज्ञान पूर्वोक्त लक्षण एवं निदान देखकर निश्चय कर लेना चाहिये।

भावी फल

यह रोग कष्टसाध्य और असाध्य दोनों होता है। यद्यपि आयुर्वेद में क्षुद्र रोगों में इसकी गणना है, तो भी यह महाव्याधि है। यह चिरकालानुबन्धी रोग है जो रक्तक्षय, दुःस्वास्थ्य, अतिसार या अन्य उपद्रव होने पर घातक हो जाता है। इसकी अधिक से अधिक अवधि पन्द्रह से बीस वर्ष तक होती है।

यथोक्त सुश्रुते—

पाणिपादोपरिष्टात्तु छिद्रैर्बहुभिरावृतम्।
वल्मीक यत् सशोफत्वाद् वर्ज्यं तत्तु विजानत॥

उपक्रम

जहाँ पर यह रोग फैला हो, वहाँ नगे पैर कभी नहीं चलना चाहिये। जूता पहनकर कटक, पत्थर आदि से पैर की रक्षा करें

जिससे पैर में विपादिका न होने पावे। क्योंकि पाद के दरारों से ही इसके जीवाणु प्रविष्ट होते हैं।

शस्त्रचिकित्सा

वल्मीक रोग को अस्त्र से काटकर पैरों में उत्पन्न हुई गाँठों को निकाल देवें और जो नाडी व्रण होवे, उनको संक्रमण नाशक घोल से धो दें तथा लेखन शस्त्र (Curette) से खरोंचकर साफ कर दें। आजकल लेखनशस्त्र की अपेक्षा जाली (Gouze) का उपयोग अधिक लाभकारक होता है।

यथोक्तं सुश्रुते—

तत्र सशोधन कृत्वा शोणित मोक्षयेत् भिषक्।
सुस्निग्धैश्च सुखोष्णैश्च भिषक्समुपनाहयेत् ॥

पक्व यदा विजानीयादागती• सर्वां यथाक्रमम्।
अभिज्ञाय ततःच्छित्वा प्रदहेन्मतिमान् भिषक् ॥

सशोध्य दुष्ट मांसानि क्षारेण प्रतिसारयेत्।
व्रण विशुद्ध विज्ञाय रोपयेन्मतिमान् भिषक् ॥

एलोपैथिक ओषधियां—पोटाशियम आयोडाइड मात्रा ५ ग्रेन, दिन मे तीन वार से आरम्भ करके धीरे-धीरे प्रत्येक समम ६० ग्रेन तक बढ़ाई जाती है।

सल्फाड्रग्स की ओषधियां—सल्फाथायाजोल या सल्फाडायाझीन से अतीव लाभ होता है।

मात्रा—प्रति दिन ४ ग्राम क्रमशः एक मास से दो मास तक सेवन करें।

पेनीसिलीन का प्रयोग—आजकल पेनीसिलीन से अधिक लाभ होता देखा जाता है। इसके अतिरिक्त एक्सरे (क्ष-रश्मि) और तेजातु उपक्रम से भी अत्यन्त लाभ होता है।

वैक्सीनपद्धति—इसका प्रयोग अन्योपक्रमों के साथ प्रधान रूप से व्रणोपासन के साथ करने से लाभ होता है। आत्मजवैक्सीन से बहुत लाभ होता है। इसका प्रवन्ध न हो सके तो सग्रहीत वैक्सीन का प्रयोग करें। आरम्भिक मात्रा ५०,००००० लाख की होती है। ५ दिन के बाद इसका इञ्जेक्शन दें।

अवशिष्ट चिकित्सा-पद्धति—उपर्युक्त सब चिकित्साओं के असफल होने पर अभ्युच्छेदन (Amputation) का अवलम्बन करना चाहिये। इस रोग से विकृत अंग को काटकर निकाल देवें, इससे रोग की पुनरुत्पत्ति नहीं होती है।

लू लगना (अंशुघातरोग)

Sunstroke

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की अत्यन्त तप्त किरणों के प्रभाव से शिर के अधिक तप जाने पर मनुष्यों को यह रोग होता है। इसके सिवाय अग्नि ज्वालादि के लगने से भी होता है। जब छाया वाले स्थानों की गर्मी ११० डिग्री ताप से अधिक हो जाती है और स्तब्ध, छिन्न वायु होती है तब यह रोग होता है। जो मनुष्य ज्येष्ठ के महीने में विना छाता, जूता, नग्न शरीर घूमते-फिरते है, लगातार धूप में, इञ्जीनों मे, टीन की छत वाले मकानों में कार्य करते रहते हैं। किसान लोग ज्येष्ठ की कड़ाके की धूप में ईख के खेतों में पानी देते रहते हैं। उन्हे तथा गौ चराने वाले ग्वालों, मजदूरों को यह रोग अधिक होता है। कभी-कभी कैदियों, वा सैनिकों को भी यह रोग हो जाता है। ज्वर, दुर्बलता, क्षीणता आदि इसके सहायक हेतु हैं।

यथोक्तम्—

चण्डांशोश्चण्डकिरणैस्तप्ते मूर्ध्नि प्रजायते।
अंशुघाताभिधो व्याधिर्देहिनां देहमर्दन.॥
पादत्रच्छत्र हीनानां ग्रीष्मचण्डांशु सेविनाम्।
कारागार निबद्धाना सैनिकानाञ्च जायते॥

सम्प्राप्ति

तीक्ष्ण ताप से देह की कलों (सेल्स) का विश्लेपण होता है और विष पैदा हो करके रक्त में मिल जाता है। अथवा तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से सुतप्त सुषुम्ना काण्ड मे स्थित ताप केन्द्र उत्तेजित होकर लक्षण उत्पन्न करता है। अत्यन्त तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से उसी समय रोग उत्पन्न नहीं होता है। बल्कि उससे शरीर मे दोषों का सञ्चय होता रहता

है और फिर किसी समय सामान्य हेतु से भी रोग पैदा हो जाता है। तीक्ष्ण संताप से संतप्त हुआ सुषुम्ना का तापकेन्द्र उत्तेजित होकर के ताप सञ्चित करता रहता है जो समय पर रोग का कारण होता है।

लू के भेद

इसकी तीन अवस्था होती है। शैत्यावस्था, सामान्यावस्था और तीक्ष्ण संतापावस्था।

शैत्यावस्था

वहुत तीक्ष्ण सूर्य की संतप्त किरणों के शरीर मे लगने से, मूर्च्छित होकर रोगी गिर जाता है। इस अवस्था में त्वचा ठण्डी एवं गीली मालूम होती हैं, नाड़ी की गति तीक्ष्ण वा दुर्वल हो जाती है। ऐसी दशा में उसी समय चिकित्सा करने से रोगी अच्छा हो जाता है। किन्तु कभी-कभी हृदय की गति के अवराध से मृत्यु भी हो जाती है।

सामान्यावस्था

अचानक रोगी वेहोश हो जाता है और शरीर की गर्मी १०१-१०२ तापांश तक वढ जाता है। किसी-किसी स्थल मे रोग के आरम्भ होने के पहले ही शिर मे पीडा, वमन, वेदना प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। फिर पीडित दशा में त्वचा सूख जाती है। अथवा अत्यन्त गरम त्वचा हो जाती है। त्वचा की स्पर्श-शक्ति क्षीण हो जाती है। आक्षेप, भ्रम, रक्तनेत्र, हृल्लास, नाड़ी की गति दुर्वल, क्षीण वा तीव्र हो जाती है। श्वास की गति दुर्वल हो जाती है और हृदय अति दुर्वल हो जाता है। इस अवस्था मे हृदय की गति रुकने का सदा भय रहता है। किसी-किसी स्थल पर ज्वर का संताप ११० तापांश तक हो जाता है। कभी-कभी मूत्र का वेग भी होता है।

तीक्ष्ण संतापावस्था

सहसा ज्वर का संताप १०८-११० तापांश तक हो जाता है। कभी-कभी सामान्यावस्था के वाद भी यह दशा हो जाती है। रोगी वकने

लगता है, श्वास की गति बढ़ जाती है। शरीर का वर्ण नीला पड़ जाता है। कुछ घण्टों में ही संन्यास की अवस्था होकर रोगी चल बसता है।

यथोक्तानि संक्षेपतो रूपाणि—

तृष्णा तीव्रतरा मूर्च्छा भ्रमश्चारक्तनेत्रता।
हृल्लासो वमनं मूत्रवेगोऽर्थविषमाध्वरा॥
त्वचिरौक्ष्य स्वर्श हानिराक्षेपश्च प्रजायते।
एवमाद्यानि जायन्ते लक्षणानि विशेषत॥

अरिष्टलिङ्गानि—

क्षणाद्विलुप्यते नाडी नीलत्वं हस्तपादयो।
आक्षेपश्चैव गात्राणां मरणायांशुघातिन॥

भावी फल

अधिकतर शैत्यावस्था मे रोग साध्य होता है। सामान्यावस्था में तत्काल उपाय करने पर रोग साध्य हो जाता है। किन्तु, तीक्ष्ण सन्तापावस्था में रोग असाध्य हो जाता है। सामान्यावस्था और अति तीक्ष्ण सन्तापावस्था मे यदि रोग शान्त हो जाता है तो रोगी कई साल तक धूप को नही सह सकता है। सामान्य धूप के लगने से भी शिर मे पीडा होने लगती है और दूसरे आक्रमण का सन्देह रहता है। मस्तिष्क की दशा विषम हो जाती है, इससे उन्माद, अपस्मारादि के लक्षण पैदा हो जाते हैं, जबतक जानुओं की प्रत्यावर्तन क्रिया न होने लगे तबतक रोग के वेग का सन्देह रहता है।

चिकित्सा

प्रथम कर्त्तव्य—शरीर के वस्त्रों कोट-कमीज आदि की बटन खोल कर उनको उतार देव और रोगी को शीत स्थान, कमल या केला के पत्ते अथवा चारपाई पर बिछाकर उस पर लिटा देवें। वायु का आवागमन भी उस स्थान पर ठीक होना चाहिये। फिर ताड़ के पंखों वा कमल या केले के पत्रों के पंखों से हवा करें। रोगी के स्वेद को पोंछ देवें। शिर के बाल कटवा कर उस पर बरफ रख वा शीतल जल मे वस्त्र

भिगोकर रखें, बहुत दाह हो, तो गीले वस्त्र से सम्पूर्ण शरीर आच्छादित कर देवें। सहस्रधारा स्नान (Shower bath) करावें। इससे दाह शान्त होती है।

पिपासा की चिकित्सा—बरफ के टुकड़े चूसने के लिये देवें। प्यास की अधिकता में बार-बार बहुत जल नहीं पिलाना चाहिये, उस समय चन्दन से सिद्ध किया हुआ जल पिलावें। अमृतधारा की ५ बूंद गुलाब अर्क में डाल कर पिलावें। अथवा गाजवाँ और सौंफ का अर्क पिलावें। इससे तृष्णा शान्त होती है।

मूर्च्छान्तक प्रयोग—ऊन के मोटे कपड़े को अत्यन्त गरम पानी से भिगोकर निचोड़ देवें और कुछ बूंद तारपीन के तेल की डाल कर गरम-गरम ही गरदन पर रखें फिर उसके ऊपर दूसरा सूखा हुआ वस्त्र अथवा केले का पत्ता रखकर बांध देवें। कसकर इसे नहीं बाँधना चाहिये। इसको तभी तक बांधे रख जबतक दाह का अनुभव न होने लगे। इस प्रकार से रोगी की मूर्च्छा शीघ्र ही अच्छी हो जाती है।

दन्ती तैल—यदि विरेचन की आवश्यकता हो, तो दन्ती तैल ½—१ बूँद तक देवें। इससे विरेचन हो जाने पर इसमें बहुत लाभ होता है।

स्वेद-प्रयोग—जब शरीर की गर्मी कम हो जावे और नाड़ी की गति ठीक नहीं रहती हो उस समय अंगीठी में कोयले जला कर उसकी गर्मी से शरीर को गर्म करना चाहिये। अथवा बालुका स्वेद करें और पीने के लिये संजीवनी सुरा १५—२० बूँद तक देवें।

रत्नेश्वर रस

हीरा की भस्म २ माशा, वैक्रान्त भस्म २ माशा, अभ्रक भस्म २ माशा, रससिन्दूर २ माशा, स्वर्णमक्षिका भस्म २ माशा, रजतभस्म २ माशा, मुक्ता भस्म २ माशा, स्वर्णभस्म २ माशा लें।

विधि—ईख, शतावर और विदारी कन्द—इनके रस से भावना दे करके १-१ रत्ती की गोली बनावें।

मात्रा—१ गोली।

अनुपान—त्रिफला क्वाथ २॥ तोला। इससे अंशुघात के सब उपद्रव विशेष करके नाडी सम्बन्धी मस्तिष्क के विकार नष्ट हो जाते हैं।

महाशिशिर पानक

खाँड १६ तोला, घिसा हुआ श्वेत चन्दन १ तोला, जम्बीरी नींबू का रस ४ तोला, शतावर स्वरस ४ तोला, सौंफ का तेल ४ माशा लें।

विधि—१ सेर जल में मिलाकर आलोड़ करें। दुबले रोगी को थोडा-थोडा करके बार-बार पिलावें। इससे बहुत लाभ होता है।

आम्रपानक

कच्चे आम लेकर कण्डों की अग्नि मे भूनकर शीतल जल में छोड दें। जब शीतल हो जाय तब जल डालकर उनको हाथ से खूब मर्दन करके गुठली और वल्कल अलग कर देवें। फिर उसमें मिश्री मिलाकर पतला- पतला करके यह पानक चार-पॉच बार पिलावें। इससे लू के उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

आम्र का प्रभाव

ज्येष्ठ की तीक्ष्ण धूप मे लू चलने पर यदि आवश्यक कार्य के वश कहीं जाना हो, उस समय दो-चार कच्चे आम अपने साथ रहने से आम्र पर ही लू का प्रभाव होकर शरीर सुरक्षित रहता है।

संक्षिप्त चिकित्सातत्त्व

लू लगने पर मूर्च्छा और रक्तपित्तनाशक, हृदय के लिये हितकारी, शीतल और बलकारक तथा तर्पण चिकित्सा श्रेयस्कर है। अति तीक्ष्ण संतापावस्था में, ठंडे जल से भरे हुये पात्र में रोगी को लिटा दें, किन्तु शिर जल से बाहर रक्खें। शिर पर बर्फ की थैली रक्खें, सामान्य तीक्ष्ण ताप में शीतल जल की वस्ति वा बरफ के जल मे वस्त्र भिगो करके शरीर को बार-बार प्रक्षालन करें। ताप के न्यून हो जाने पर पूर्वोक्त चन्दन, खश, कपूर, पिपरमेण्ट इनको शीतल जल से पीसकर लेप करें। इससे रोग शान्त हो जाता है। रोग शान्त हो जाने पर शीत स्थान वा

पर्वतीय स्थानों में जाकर कुछ दिन ठहरना चाहिये। जबतक बल न आवे, तबतक हित आहार और मन को प्रसन्न करनेवाले कार्य करें। यदि मिथ्या आहार-विहार किया जाता है, तो अपस्मार, उन्मादादि रोग हो जाते हैं।

पथ्यापथ्य विवेचन

लू वाले रोगियों को बलकारक, विबन्ध को दूर करने वाले, सुख-पूर्वक मल को निकालने वाले, स्निग्ध, पुष्टिकारक अन्न-पान पथ्य है। इसके विपरीत अपथ्य है।

यथोक्तम्—

अन्नपानादिकं बल्यं सरं स्निग्धञ्च पोषणम्।
हितस्यादशुधातिभ्यो विपरीतं विवर्जयेत्॥

कृमिरोग

बाह्य मलजन्य कृमि का वर्णन

सहज कृमियों के अतिरिक्त २० प्रकार के कृमि होते हैं। ये कृमि बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमे बाह्य कृमियों की उत्पत्ति बाह्यमल से जो त्वचा और केशों मे लगा रहता है, होती है, स्वेद से भी कृमि की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति शुद्धता से नहीं रहते हैं उनके वस्त्रों, बालों, श्मश्रु, लोम, पक्ष्म आदि में ये कृमि-उत्पन्न हो जाते हैं।

आकृति—तिल के समान आकार और वर्ण वाले तथा अनेक पाद युक्त और सूक्ष्म होते हैं। उनके जूँ (यूका) और लिक्षा (लीख) नाम है। जूँ कृष्ण वर्ण का और लीख श्वेत वर्ण की होती है और एक जमजूँ (पिपीलिका) भी होती है।

जूँ की जीवनी

नारी जाति की जूएँ १० अण्डे प्रतिदिन देती है। एक जूँ अपने जीवनभर में ३०० अंडे तक दे सकती है। जूओं के अण्डे को लीख कहते हैं। अण्डे से सात दिन में लहर्वा (यदि कपड़े न पहने जावें तो कभी-कभी ३-५ दिन में) निकलता है। जिसकी शकल जूओं के समान होती है।

यह छोटा जूँ पैदा होते ही खून चूसने लगता है। यह तीन बार चोली बदलता है। प्रति चोली बदलने में ४-५ दिन लगते हैं। १२ दिन में जूँ प्रौढ़ हो जाता है। दो-तीन दिन पिछे (अर्थात् १५ दिन की आयु में नारी जूँ अण्डे देना शुरू कर देती है और जबतक जीती हैं ४-५-१० अण्डे प्रतिदिन देती हैं। प्रौढ नर की आयु २१ दिन की और प्रौढ नारी की आयु २८ दिन की होती है। कुल आयु ५-६ सप्ताह की होती है। ये रोगवाहक होते हैं। मस्तिष्कीय आन्त्रिक-ज्वर, पुनरावर्तक ज्वर, डेंगूफीवर आदि के जीनाणुओं के वाहक होते हैं।

प्रभाव

जब यह रक्त चूसते हैं तब कण्डू उत्पत्ति होती है और त्वचा पर चकत्ते पड़ जाते हैं तथा फुन्सियां पड जाती हैं।

चिकित्सा

इनको नष्ट करने के लिये निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन करें। सबसे पहले वस्त्रों को गरम जल में साबुन डालकर पकावें। फिर वस्त्रों को साबुन से साफ करें। वस्त्र शुद्ध रखना चाहिये और बालों को भी कार्बोलिक साबुन, निम्बपत्र के क्काथ से धोवें। शरीफा के पत्रों या बीजों को पीसकर शिर के बालों पर लगाने से जूँ तुरत मर जाता है।

पारद प्रयोग

धत्तूर के पत्रों का स्वरस निकाले, उसमे पारद मिलाकर लगाने से जूएँ मर जाते हैं। अथवा पान के रस में पारद मिलाकर लगाने और धत्तूर तैल की मालिश से भी जूएँ मर जाते हैं।

आभ्यन्तरिक प्रयोग

मलकारक पदार्थों का त्याग करना चाहिये और शरीर की आभ्यन्तरिक शुद्धि, वमन, विरेचन से करके विडङ्गारिष्ट का सेवन करें। इससे स्वेद और त्वचा का मल अधिक उत्पन्न नहीं होता है।

यथोक्तम् चरके—

चिकित्सितत्वेषां अपकर्पण मलोघातः मलकराणाञ्च भावानामनुपसेवनम् ।

जमजूएं (पीपिलिका) पैडीक्यूलस प्यूविस (Pediculus Pubis) वा कर्कटकाकृति जूआँ (Creblous) ।

प्रकृति—ये जमजूआँ अधिकतर गुह्यप्रदेश के वालों मे अधिक होते हैं। इनका वर्ण कुछ धूसर (Grey) होता है। ये १-५ मिलिमीटर लम्बे-चौड़े होते हैं। इनकी ६ टांगें होती हैं और ये वालों मे अण्डे देते हैं। ये कभी-कभी भौंह और कक्षा (वगल) के वालों पर भी संक्रमण करते हैं। संसार मे यह किम्वदन्ती है कि जव जमजूआँ पड़ते हैं तव मनुष्य का अनिष्ट होता है।

चिकित्सा

पूर्वोक्त अपकर्पण, मलोपघात और संशोधन करना चाहिये। अतः मिट्टी का तेल और सर्पप तैल मिलाकर वालों पर मलना चाहिये, फिर कार्वोलिक सावुन से वालों को धो देवें। पेट्रोल और तारपीन तेल भी काम मे आते हैं, किन्तु ये दहनशील होते हैं। अतः देर तक शिर या अन्य कोमल स्थान पर नहीं लगाना चाहिये और अग्नि या लैम्प से तवतक दूर रहें जव तक पेट्रोल, तारपीन तेल या मट्टी तेल लगा रहे।

आभ्यन्तरीय कृमि का निदान

अजीर्ण होने पर भोजन करना, अध्यशन, असात्म्य भोजन, विरुद्ध भोजन और दोषकारक अन्न का भोजन, अति गुरुपाकी, अतिस्निग्ध, और अति शीतल द्रव्य का भोजन, उड़द, मटर, पिष्टान्न, अनेक प्रकार की दाल, मसीड़ा, कमलकन्द, कशेरु, पत्र शाक, सुरा, सिरका, दधि, दुग्ध, गुड, गन्ना, तिलकल्क, आनूप मांस, चूडा आदि द्रव्यों का भोजन और स्वादु तथा अम्लद्रव पदार्थों का पीना, श्रमशून्यता और दिवा निद्रा प्रभृति कारण से श्लेष्मा और पित्त प्रकुपित होकर आमाशय और पक्वाशय मे अनेक प्रकार के कृमि उत्पन्न करते हैं।

उत्पत्ति के कारण

बीस प्रकार के कृमियों की तीन प्रकार से उत्पत्ति होती है। (१) पुरीषजन्य, (२) कफजन्य, और (३) रक्तजन्य कृमि।

पुरीषज कृमियों के कारण

उड़द, मटर, पिट्ठी की बनाई हुई वस्तुएँ, लवण, गुड़ और शाक, मांस, दुग्ध, दधि, शुक्त (सिरका) आदि सेवन करने से पुरीषजन्य कृमि उत्पन्न होते हैं।

पुरीषज कृमियों का आवास

पक्वाशय में पुरीषज कृमियों का स्थान है, जब वे बढ़ते हैं तब नीचे तक फैल जाते हैं। जब आमाशय की तरफ जाते हैं तब रोगी के उद्गार और निःश्वास में पुरीष के समान गन्ध आती है।

पुरीषज कृमियों का आकार और नाम

पुरीषज कृमियों का आकार, सूक्ष्म गोलाकार, परिणाह युक्त, श्वेतवर्णयुक्त लम्बे ऊन के तुल्य होते हैं। कोई-कोई स्थूल गोलाकार परिणाहयुक्त, कृष्ण, नील, हरित और पीले रंग वाले होते हैं। उनके नाम ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलाख्य, सौसुण्ड ये पाँच नाम हैं।

लक्षण

पुरीषजन्य कृमि रोग के उत्पन्न हो जाने पर शूल, अग्निमांद्य, पाण्डु वर्णता; पुरीषभेद, कृशता, परुषता और रोमाञ्च होता है और वे कृमि गुदा में पहुँच कर सूई चुभाने के तुल्य वेदना उत्पन्न करके कण्डू उत्पन्न करते हैं और गुदा के मुख पर पहुँच कर गुद से बाहर बार-बार निकलते हैं। मुख से जलका स्राव होता है, अरुचि और कभी हृदय रोग भी हो जाता है।

रक्तजन्य कृमियों की उत्पत्ति

विरुद्ध भोजन या अजीर्ण होने पर भोजन करने और रक्त को दूषित करने वाले आहारों से रक्तजकृमियों की उत्पत्ति होती है। इनका स्थान

रक्तवाहिनी शिराओं में होता है। इनका आकार सूक्ष्म, वृत्ताकार तथा पाद हीन होते हैं। ये इतने सूक्ष्म होते हैं, कि दिखलाई नहीं पड़ते, अतएव अदृश्य कहे जाते हैं।

आकार और नाम

इन कृमियों का आकार ताम्रवर्ण के तुल्य होता है। इन रक्तज-कृमियों के नाम केशाद, लोमाद, लोमद्वीप, सौरस, औदुम्बर, जन्तुमार ये छः नाम है।

प्रभाव

शिर के वाल, श्मश्रु, नख, लोम, पक्ष्म आदि विध्वंसक और व्रण में झनझनाहट, कण्डू, सूचीवेध के तुल्य वेदना और जब अधिक बढ़ जाता है तब त्वचा, मांस, सिरास्नायु और तरुणास्थियों का भक्षण होता है।

रोगोत्पत्ति

रक्त में कृमियों की उत्पत्ति हो जाने पर रक्ताश्रित सम्पूर्ण रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

कफजन्य कृमियों का कारण

क्षीर, गुड़, तिल, मत्स्य, मांस, आनूपदेशज मांस, पिष्टान्न, हविष्यान्न, कुसुम का तेल, अजीर्ण होने पर भोजन, दुर्गन्धित, पर्युषित, सड़ा हुआ पथ्यापथ्य मिश्रित भोजन, विरुद्ध भोजन और असात्म्य भोजन करने से कफजन्य कृमि उत्पन्न होते हैं।

आवास-स्थान

कफजन्य कृमि आमाशय मे रहते हैं। वहाँ से बढ़ कर ऊपर या नीचे की ओर अथवा दोनों तरफ फैल जाते हैं।

संस्थान वर्ण विशेष

कफज कृमियों का आकार चपटी, किसी-किसी का चर्म की रस्सी के समान होते हैं। कोई-कोई केचुवा के आकार के गोल, तथा परिणाहयुक्त, श्वेतवर्ण वा ताम्र के समान रक्तवर्ण के होते हैं।

कोई छोटे-छोटे, कोई-कोई लम्बी आकृति वाले, कोई-कोई तन्त्वाकृति वाले और कोई अंकुर के तुल्य होते हैं।

कृमियों के नाम

कफज कृमियों के सात नाम हैं। (१) आन्त्रादा (Hook worm) वा एम्फी लोस्टोमा, ड्यूडेनेली। (२) उदरादा (Tape worm) इसके चार भेद होते हैं; जिनका आगे वर्णन किया जावेगा। (३) हृदयादा, (४) चुरव (ऑक्स्यूरिस वर्मिकुलेरिस (Oxyuris vermicularis), (५) दर्भ पुष्पा, (६) सौगन्धिकः, और (७) महागुदाः (राउण्ड वर्म Round worm)।

प्रभाव

कफजन्य कृमि द्वारा मज्जा भक्षण की जाती है। उससे शिरोरोग, हृद्रोग, वमन और प्रतिश्याय उपस्थित होता है और हृल्लास, मुखस्राव, अरुचि, अविपाक, ज्वर, मूर्च्छा, जृम्भा, छींक, आनाह, अङ्गमर्द, कार्श्य और परुषता उत्पन्न होती है।

यथोक्तम्—

हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम्।
मूर्च्छाछर्दि ज्वरानाह कास क्षवथुपीनसान्॥

चिकित्सा

अपकर्षण—सबसे प्रथम यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि सब कृमियों को शरीर से बाहर निकाल दें, इसके बाद उनके नष्ट होने का उपाय करें। इसके अनन्तर जिन कारणों से कृमियों की उत्पत्ति हुई हो उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

अपकर्पण यन्त्र की सहायता से अथवा हाथ से ग्रहण करके शरीर से पृथक् करें। आमाशय, पक्वाशय और मलाशय मे व्याप्त कृमियों का अपकर्षण औषध से करना चाहिये।

चतुर्विध अपकर्षण

स्नेह स्वेद करके वमन, विरेचन, आस्थापन, वस्ति, शिरो विरेचन, इन चार विधियों से आभ्यन्तरिक कृमियों का अपकर्पण करना चाहिए।

प्रकृति विधान

कटु, तिक्त, कषाय, क्षारीय तथा उष्ण पदार्थों का सेवन और कफघ्न, तथा पुरीष प्रत्यनीक पदार्थों के सेवन से इनकी प्रकृति का विघात होता है।

पञ्चकर्म विधान

कृमिरोग में पहले रोगी को स्निग्ध और स्वेदित करें। इसके बाद वमन कराकर कफघ्न और तीक्ष्णवीर्य वाली विरेचक औषधों से विरेचन करावें। इसके बाद, निरूह वस्ति देवें। इसके बाद विडंगपक घृत से अनुवासन वस्ति देवें।

आभ्यन्तरिक प्रयोग

शिरीष की छाल का स्वरस १ तोला, अपामार्ग का रस १ तोला, मधु ६ माशा मिलाकर पिलावें। अथवा पारिभद्र (फरहद) के पत्रों का स्वरस, मधु के साथ पिलावें।

अश्वपुरीष का प्रयोग

अश्व की विष्टा लेकर उसको धूप में सुखाकर चूर्ण कर लेवें। फिर त्रिफला के क्वाथ की ७ भावना देवें। फिर वायविडंग के क्वाथ की १० भावना देकर सुखाकर चूर्ण कर लेवें।

मात्रा—१ तोला, मधु के साथ प्रातः चटावें। इससे कोष्ठस्थ कृमि नष्ट होते हैं।

देवदारु तेल

पाताल यन्त्र की विधि से देवदारु के अन्दर की तेल वाली गांठें लेकर उससे तेल निकाल कर १० बूँद की मात्रा में पानी के साथ पिलावें। इसी भाँति भल्लातक तैल का भी प्रयोग करें। परन्तु भल्लातक प्रयोग सावधानी से करें, इससे शोथ हो जाता है। अतः पित्त और रक्त व्याधि में इसका प्रयोग न करें।

यव मोदक

यव के आटा के साथ विडंग का चूर्ण मिलाकर मोदक बनावें। इनके खाने से कृमि नष्ट होते हैं।

तैल-पान

तिल लेकर उसमें वायविडंग के क्वाथ की सात भावना देवें। फिर तिल से तेल निकालकर कृमिरोगी को पिलावें। इससे कृमि नष्ट होते हैं।

लोहादि भस्म-प्रयोग

लोहभस्म ३ माशा, ताम्रभस्म ३ माशा, वङ्गभस्म ३ माशा; शीशा-भस्म ३ माशा।

विधि—विडंग के क्वाथ की सात भावना देकर त्रिफला के क्वाथ की सात भावना देवें।

मात्रा—१ रत्ती, अनुपान—मधु, समय—प्रातः-सायं।

गुण—इससे पुरीष और कफजन्य कृमि नष्ट होते हैं।

शिरोविरेचन-प्रयोग

मस्तिष्क, हृदय, नासिका, चक्षु आदि स्थानों में कृमि पैदा हो जाने पर शिरोविरेचन और अञ्जन का प्रयोग करें। अश्वपुरीष को सुखाकर चूर्ण करके विडग के क्वाथ की भावना देकर चूर्ण कर उसकी नस्य देवें। अथवा लोह भस्म में विडग के क्वाथ की भावना देकर सुखाकर प्रथम नस्य देव। अथवा तुलसी के क्वाथ, कल्क से तेल पकाकर उस तेल के साथ कांस्यभस्म मिश्रित कर नस्य देवें। इससे कृमि नष्ट होते हैं।

रक्तज कृमियों की चिकित्सा

रक्तज कृमियों की चिकित्सा कुष्ठ रोग के तुल्य करें। इसका वर्णन आगे किया जायेगा। इस सक्रामक रोग-विज्ञान का विषय ही रक्तज कृमिजन्य व्याधियों का है। उसकी चिकित्सा पृथक्-पृथक् वर्णन की गयी है, वहीं पर देखें।

पथ्य

साधारण कृमिज और कटु रसवाले द्रव्यों का प्रयोग करें तथा कुलथी के क्वाथ के साथ दुग्ध पान हितकारक है। दुग्ध, दधि, घृत अथवा पत्रशाक, अम्ल, मधु, मांस और शीतल द्रव्य का पान-भोजन कृमि-रोग में अनिष्टकारक है।

व्रध्न-कृमिरोग

कारण—यह रोग अनेक फीते के समान चपटे-लम्बे कृमियों के संक्रमण से होता है। इनके शरीर में एक ओर शिर (Scolex)

होता है और दूसरी तरफ उत्तरोत्तर वर्धिष्णु उभय लिंगीखण्ड होते हैं जिसको पर्वा (Proglottides) कहते हैं और जो मूर्धा के पीछे से आरम्भ होता है। उसमें अपक पर्व पहले होते हैं। पक तथा गर्भित पर्व सबसे पीछे रहते हैं। इन कृमियों मे निम्नलिखित लक्षण प्रधान रूप से मिलते हैं।

मत्स्यपट्टिका

(Toenia Lata)

इस कृमि को डायफैलो वा थ्रिअमलेटम् और बड़े को टेपवर्म कहते हैं। यह कृमि सबसे लम्बा ३०—३५ फुट तक हो सकता है। यह कृमि धूसर वर्ण का पारदर्शक होता है। यह क्षुद्रान्त्र मे गेण्डली मारे पड़ा रहता है। इसके शिर पर न तो चञ्चु और न अंकुशक (Hooklets) केवल दो लम्बे खात के तुल्य चूषक होते हैं। ग्रीवा पतली होती है। पर्वों की संख्या तीन हजार से चार हजार तक रहती है। अन्य स्फीत कृमियों के समान इसके पक पर्व मल मे नहीं निकलते हैं। केवल अण्डे निकलते रहते हैं जो अधिक संख्या मे होते हैं। इसके अण्डे भूरे वर्ण के दीर्घवृत्त होकर इनके एक टोंक पर ढकना (Operculum) होता है और जल मे जाने पर अण्डों का ढक्कन खुल कर उनमे से एक-एक लोमयुक्त षडंकुशक गोलाकृति का जीव निकलता है जो अपने लोमों के द्वारा पानी पर तैरता है। अधिकतर उसको अलवण जल मे रहनेवाले चक्राक्ष (Cyclops) जैसे शंखजीव खा जाते हैं। ये इसके प्रथम मध्यस्थ होते हैं। इनके आमाशय मे इनका परिवर्तन पूर्व डिम्भाभ (Procercoid) इल्ली मे होता है जो अण्डाकृति होती है। एक चक्राक्ष मे अधिक से अधिक दो इल्लियाँ हो सकती हैं जो इसका दूसरा मध्यस्थ होती है। इस मछली के शरीर मे पूर्वाडिम्भाभ का परिवर्तन पूर्णडिम्भाभ मे हो जाता है। पूर्ण डिम्भाभ मनुष्य के शरीर मे कृमि के रूप मे बदल जाता है।

कृमियों का वासस्थान

यह कृमि मनुष्य के क्षुद्रान्त्र में रहता है तथा यह पशुओं को भी यथा—कुत्ता, बिल्ली, भालू, लोमडी, नेवला और सूकर के अन्त्रों मे पाया जाता है। यह मछलियों मे भी पाया जाता है। इसकी प्राप्ति यूरोपीय देशों मे अधिक होता है। हिन्दुस्तान मे यह कृमि प्रायः नहीं देखा जाता है।

संक्रमण-मार्ग

इस भाँति अर्ध परिपक्व सक्रान्त मछलियाँ यदि मनुष्य खा जाता है, तो पूर्णडिम्भाभ आन्त्र मे जाकर कृमि रूप मे बदल जाते हैं। इसमे ३५—४२ दिन का समय लगता है। मनुष्य के शरीर मे जितने डिम्भाभ प्रविष्ट होते हैं उतने ही कृमि बनते हैं अर्थात् पूर्ण डिम्भाभ से केवल एक ही कृमि बनता है। ये कृमि आन्त्र मे ५—१२ साल तक रह सकते हैं।

लक्षण

इसके कोई प्रधान लक्षण नहीं हैं। कुछ रोगियों में इयोसिनोफिलिया (Eosinophilia) दिखाई देती है। कुछ रोगियों में माइक्रोसिटिक (Mycrocytic) पणवर्णिक (Hyperchromic) और रक्तक्षय उत्पन्न हो जाता है। यह रक्तक्षय कुछ रोगियों मे दिखाई देता है, जो इस कृमि की प्रधान विकृति है।

वामनस्फीत कृमि

इस कृमि को हेमोनोलेपिस नाना भी कहते हैं। यह कृमि जापान, स्पेन, सिसली आदि गरम देशों में अधिकतर पाया जाता है। भारतवर्ष में भी बहुत होता है। यह कृमि ४-४५ मिलीमिटर लम्बा होता है, इसके मूर्धापर चञ्चु होती है। अंकुशक २०-३० और चूषक ४ होते हैं। लम्बी ग्रीवा और शरीर मे एक सौ से दो सौ तक पर्व होते हैं जो आगे-आगे बढ़ते जाते हैं और अधिक चौडे रहते हैं। इसके कुछ दीर्घवृत्त और गोल अण्डे होते हैं। मोटाई ४०-५० मैक्रोन होती है और इसमे दो

आवरण होते हैं। मध्य में अंकुशकों के ३ युग्म रहते हैं। एक-एक पक्वखण्ड में ८—१८० तक अण्डे हो सकते हैं। रोगी के मल में पर्व और अण्डे दोनों पाये जाते हैं।

स्वतन्त्र संक्रमण

इस कृमि का जीवनचरित्र सीधा होता है; क्योंकि अन्य स्फीत कृमियों के तुल्य इसके अण्डों को परिवर्नित होने के लिये मध्यस्थ की जरूरत नहीं होती है। मल के साथ निकले हुए अण्डे भोज्य-पेय द्रव्यों के साथ अन्त्र में पहुंच जाते हैं। इसके बाद ४०-७० घंटों मे अण्डे से कृमि की मूर्धा निर्मित हो जाती है और ८०-९० घंटों में उसमें अंकुश का निर्माण हो जाता है जिस पर वह अंत्र की झिल्ली मे चिपट जाता है। इसके बाद पर्व बनने लगते हैं और १०-१२ दिन मे पूर्ण कृमिका निर्माण हो जाता है। सामान्य रूप से ३० दिन मे मल से अण्डे निकलने लगते हैं। इसके अण्डों को रोगी के शरीर के बाहर जाने की जरूरत नहीं होती है। कुछ अण्डे अंत्र मे ही बढ़ कर कृमि बन जाते हैं अतः शुरू का उपसर्ग अल्प होने पर भी कुछ काल के बाद अंत्र में इनकी संख्या सैकड़ों व हजारों की हो जाती है।

मूषक निवास

यह कृमि मूषकों मे अथवा चूहों मे भी पाया जाता है, जो एक प्रकार से इसके संचय के आधार माने जा सकने हैं। अतः यह कृमि चूहे से स्वस्थ मनुष्य पर संक्रमण करता है और उपसृष्ट पुरुष तो सक्रमित होता ही है।

लक्षण

इससे अधिकतर कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते हैं। परन्तु कभी-कभी उदर मे विह्वलता, प्रवाहिका और अपस्मार के तुल्य आक्षेप, तीर्यक् दृष्टि प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

विष का प्रभाव—इसके विष के कारण मस्तिष्कगत लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

रोग-निर्णय—मल का परीक्षण करने पर मल में अण्डे मिलते हैं।

शूकरपट्टिका (टीनिया सोलियम्)

यह कृमि क्षुद्रान्त्र के ऊपरी तिहाई हिस्से में रहता है। यह ६-१२-फुट तक प्राय: लम्बा होता है। कभी-कभी यह २५ फुट तक लम्बा देखा जाता है। शिर की मोटाई १ सहस्रिमान (मि० मि०) होती है। उसका आकार गोल होता है किन्तु जो ऊपर की ओर कुछ चौकोर बन जाता है उसपर चञ्चु के सदृश एक अंग होता है जिन पर दो रेखाओंवाले २०-२५ अकुश होते हैं, उनके नीचे चार चूसक मुख होते हैं। शिर के बाद पतली ग्रीवा होती है और उसके बाद पर्वयुक्त शरीर होता है, पर्वों की सम्पूर्ण संख्या एक सहस्र के लगभग होती है। अन्त्र के ८०—१०० पक होते हैं। प्रत्येक पक पर्व मे अण्डे उत्पन्न होते हैं। इस कृमि का निवास क्षुद्रान्त्र मे होता है और वह उण्डुक पुच्छ के अन्त तक आ जाता है। पक पर्व कृमि से स्वतन्त्र होकर मल के साथ बाहर निकलते हैं। इन पकपर्वों में गति होने के कारण वे स्वयं गुदा से मल के साथ बाहर आ जाते हैं अथवा अन्य प्रकार से शरीर के बाहर आने पर वियोजित होने से उनके अण्डे भी निकलते हैं, ये अण्डे भूमि, घास आदि मे रहते हैं। ये आकार मे गोल मोटाई मे ३०-६० मैक्रोन मध्य मे अधिक काले और दोहरे कवचदार होते हैं। कवच की मोटाई मे चक्र के आरे के समान रेखायें होती हैं तथा एक पक्व अण्ड के मध्य मे ६ अंकुशक जीव होते हैं। इसके अण्डे मनुष्य के पेट से निकल कर शूकर के शरीर में बढते हैं और शूकर का कच्चा मांस खाने से मनुष्यों में आते हैं। शूकर में ये उसके मांस यकृत्, मस्तिष्क और नेत्र प्रभृति स्थानों मे रहते हैं।

टीनिया सैजीनेटा

(Toenia saginata)

पर्याय—गोपट्टिका, महिषपट्टिका, टीनिया सैजिनेटा प्रभृति नाम है। यह कृमि भी पूर्वोक्त कृमि के समान ही होता है परन्तु ; इसमें निम्न-लिखित भेद होते हैं। इसकी लम्बाई टीनिया सोलियम से अधिक होती है

अर्थात् यह १५—२५ फुट लम्बा होता है। इसका शिर टी० सोलियम से अधिक बड़ा होता है और शरीर के पर्वों की संख्या एक हजार से २ हजार तक होती है और अन्त्र के दो सौ पर्व के करीब पक पर्व होते हैं। ये लम्बाई में टी० सोलियम के पक पर्वों से अधिक (¾ इञ्च) होते हैं। ये मल के साथ या स्वयं गुदा के बाहर आते हैं। इनके अण्डे टी० सोलियम के अण्डे के समान परन्तु कुछ मोटे और लम्बे होते हैं। ये मल के साथ भूमि, घास आदि पर अनुकूल परिस्थिति में कुछ दिनों तक रहते हैं।

कृमि का जीवन-चरित्र

इन कृमियों को अपने जीवन के लिये दो भिन्न प्रकार के प्राणियों की आवश्यकता होती है। मनुष्य दोनों के लिये साधारण है। टीनिया सोलियम के लिये शूकर और टीनिया सैजीनेटा के लिये गौ, बैल, भैंस की आवश्यकता है। मल अथवा घास-फूस के सेवन से ये शूकर अथवा गौ के आमाशय में जाने के बाद रस से उनका बाह्यावरण धुल जाता है जिससे ये स्वतन्त्र हो जाते है। इसके बाद ये अन्त्र की दीवाल में घुसकर रक्तवाहिनियों से या अन्य मार्ग से शरीर के विविध अंगों मे अवस्थित होते हैं। वहाँ पर इनकी वृद्धि होकर शिर और ग्रीवा बनती है, परन्तु इससे अधिक वृद्धि नहीं होती है। इसको कोष्ठडिम्ब (सिस्टीसेर्सस) कहते हैं। टीनिया सोलियम की अवस्था को सी० सिल्युलोसी (C. Cellulosce) और टीनिया सैजिनेटा की अवस्था को सी० वोविस कहते हैं। इसदशा में ये उनके शरीर मे महीनों तक रहते हैं। जब ये मर जाते हैं; तब उनके ऊपर खटिकाभरण होता है।

संक्रमणपथ

मासाहारियों के लिये शूकर, गौ और बैल का मांस आहार्य द्रव्य है। यदि इन कृमियों के कोष्ठडिम्ब से दूषित मांस अच्छी तरह न पकाकर सेवन किया जाता है तो मांस के साथ ये मनुष्य के आमाशय में पहुँच जाते हैं। वहाँ से ये अन्त्र में जाते हैं, इस स्थानान्तर में पाचकरसों से

उनका कोष्ठ गलकर वे स्वतन्त्र हो जाते हैं और अपने अंकुशों से आन्त्र की श्लेष्मल-कला पर चिपट जाते हैं। इसके बाद इनकी ग्रीवा से पर्व बनने लगते हैं और आठ सप्ताह की अवधि में पूर्ण प्रगल्भ कृमि बनकर मनुष्य की गुदा से मल के साथ पक्व पर्व और अण्डे निकलने लगते है। ग्रीवा से जो सबसे दूर होते हैं वे पर्व सबसे अधिक पक्व होते हैं और परिपक्व होने पर अलग होकर मल के साथ या स्वयं गुदा के बाहर आते हैं। इस तरह नष्ट हुये पर्वों की पूर्ति ग्रीवा से नये-नये पर्व उत्पन्न होकर की जाती है। इसका साराश यह निकला कि मनुष्यों पर इन कृमियों का संक्रमण शूकर, गौ-बैल के कोष्ठडिम्ब तथा दूषित मांस के सेवन से होता है।

सम्प्राप्ति

दोनों प्रकार के कृमि क्षुद्रान्त्र मे चिपटे रहते हैं। टीनियासैजिनेटा की सख्या कम होती है और टीनियासोलियम की संख्या अधिक होती है। इनकी उपस्थिति से अन्त्र में कुछ क्षोभ हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनसे कुछ रक्तनाशक विष भी बनता होगा जो रक्त मे मिलकर रक्तक्षयादि लक्षण उत्पन्न करता हो। यदि शूकर-कृमि के अण्डे जल, शाक-सब्जी से मनुष्य के शरीर मे प्रवेश करते हैं, तो वे शूकर के समान उसके शरीर मे कोष्ठडिम्ब बनाते हैं। ये कोष्ठडिम्ब मस्तिष्क तथा शरीर के अन्य अंगों में होते हैं। इस प्रकार शरीरगत विकृति कहीं पर भी हो सकती है। अन्त्रगत विकृति सामान्य है, टीनियासैजिनेटा से यह विकृति मनुष्यों मे नहीं होती है। रक्त मे इजोसिनोफिल की संख्या बढ़ती है।

लक्षण

अंतड़ी मे कृमि होने पर भी प्रायः लक्षण नहीं मिलते हैं। जो मिलते है वे भी रोग-ज्ञान में सहायक नहीं होते हैं। ऐसे समय निम्न-लक्षणों से अनेकों लक्षण मिलते हैं। उदरपीडा, शूल, विड्बंध या विड्भेद, क्षुधामांद्य, या क्षुधाधिक्य, मुखस्राव, नासा, गुदा के पास कण्डू, वमन, बालकों के शरीर का वजन बढना, शिर-शूल, आक्षेप, युवा पुरुषों की मानसिक दौर्बल्यता प्रभृति लक्षण होते है।

रोगनिर्णय

रोग का ज्ञान मल परीक्षण से होता है। रोगी की जाति, धर्मादि भी रोग-ज्ञान मे सहायता देता है। यथा—यवनों मे टीनिसैजिनेटा मिलता है, यूरोपियनों मे दोनों ही कृमि मिलते हैं। स्फीतकृमि चर्मकारादि अछूत जातियों मे कभी-कभी मिल सकते हैं। अन्य वर्ण के हिन्दुओं में यह रोग प्रायः नहीं होते हैं।

रक्तपरीक्षा करने से अम्लरंगेच्छु श्वेताणु वहुत वढ़े हुये देखे जाते हैं। यह स्वस्थावस्था मे दो प्रतिशत होते हैं और इस रोग में १०-२० प्रतिशत तक वढ़ जाते हैं। टीनियालेटा मे औरों की अपेक्षा रक्त कीन्यूनता और अधिक हो जाती है और मनुष्य दुष्टरक्त न्यूनता से पीड़ित प्रतीत होता है। इनकी परस्पर परीक्षा केवल मल मे अण्डों के निरीक्षण से ही होती है।

अपकर्षणमेवादौ कृमीणां भेपज स्मृतम्।
ततो विघातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम्॥ चरक

जव तक अण्डे या पर्व को देखकर निदान का निर्णय न हो जाय; तवतक निम्नलिखित ओपधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। ये ओषधियाँ कृमिघ्न होती हैं इसलिये कृमियों को तो मार देती हैं परन्तु सारक नहीं होती हैं। अतः इनके देने के वाद विरेचन देना अत्यावश्यक है। कृमि से इनका कार्य ठीक होने के लिये पहले एकाध दिन रोगी को लघु आहार देव और पूर्व रात्रि मे विरेचन देकर कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिये। दूसरे दिन प्रातःकाल औपध देवें।

कार्वनटेट्राक्लोराइड्—यह औषध ३ सी० सी० या ४८ विन्दु की मात्रा में मैग्नेसियम् सल्फेट के मिश्रण के साथ मिलाकर प्रातःकाल दी जाती है। कार्वन टेट्राक्लोराइड् ४८ वूँद, म्यागसल्फ ४ ड्राम, सैट्रिकएसिड ३९ ग्रेन, और पीपरमेन्ट का पानी २ औंस। सेवन करने के पहले मिश्रण को खूव हिलाकर वाद को लेना चाहिये।

टेट्राक्लोरेथिलेन—मात्रा ४ सी० सी० उपर्युक्त विधि से देवें।

फिल्क्सिमास—मात्रा ३० बूँद, अण्डे का रस पर्याप्त और नारङ्गी का शर्बत ४ ड्राम। अथवा एक औंस दूध में ३० बूँद फिल्क्सिमास अच्छी तरह मिलाकर उसमें थोडा क्लोरोफार्म का पानी डालकर देवें। अथवा १५ बूँद के दो कैपस्यूल (Capsule) देवें। इस भाँति तीन मात्रा देने के बाद फिर भी एक घण्टा के पश्चात् मैग्नेशियम सल्फेट ४-६ ड्राम पानी में मिलाकर देवें। पूर्व रात्रि में रोगी को विरेचन देकर कोष्ठ की शुद्धि करनी चाहिये। औषध सेवन करने पर आराम से शय्या पर विश्राम करना आवश्यक है।

स्नेह और मद्य-सेवन का प्रयोग

इन तीनों ओषधियों के सेवन करने पर स्नेह और मद्य का सेवन नहीं करें, क्योंकि ये ओषधियाँ स्नेह और मद्य में घुलने वाली हैं। इनके सेवन से ओषधियों का प्रचूषण होकर विषैलापन बढता है। अतः औषध सेवन के पूर्व दो-तीन दिन स्निग्धपदार्थ त्याग देवें तथा उसके बाद एरण्ड तेल का प्रयोग बिल्कुल नहीं करना चाहिये। मद्य सेवन भी निषिद्ध है। यदि आवश्यकता हो, तो एक मास बाद फिर दूसरी बार औषध सेवन करें।

दाड़िमत्वक् का प्रयोग

अनार के मूल या स्कन्ध की छाल काम में आती है। मूलत्वक् में अलक्लाइड (क्षाराभ) की राशि अधिक होने के कारण अधिक लाभ करती है। त्वक् में पेल्लीटिरीन (Pelletierin) नामक कृमिघ्न क्षाराभ होता है। त्वक् की मात्रा १०—२० रत्ती है। छाल में इसकी राशि अनिश्चित होने से तथा उसके सेवन करने से हृल्लास और वमन होने से उसके कार्य में कुछ अनिश्चितता पैदा होजाती है। अतः पहले विरेचन देकर दूसरे दिन प्रातःकाल इस औषध का चूर्ण, क्वाथ या क्षाराभ (अल्कलाइड) के रूप में देकर के आध घण्टे के बाद फिर विरेचन देवें तो बहुत लाभ होता है। औषध सेवन करने के बाद विश्राम करना आवश्यक है।

काशीफल-वीज का प्रयोग

कद्दू के वीज की मात्रा १-४ औंस है, इनको पीसकर काफी पानी और चीनी मिलाकर लेवें। इसके वीज एक मास से ज्यादा पुराना न हों। इसके प्रयोग के पूर्व और पश्चात् विरेचन देवें। यह औषध निर्विष है। इसका प्रयोग वालक, दुर्वल, वृद्ध और गर्भिणी सव रोगियों पर कर सकते हैं। जिन रोगियों मे फेलिक्सभास और सेन्टोनिन लाभ नहीं करती है, उनको भी यह ओषधि दी जाती है। लाल कद्दू के अभाव मे सफेद कोहड़ा (पेठा) के वीज का भी उपयोग किया जा सकता है।

इन ओपधियों के सेवन करने के पश्चात् रोगी को आराम से चारपाई पर लिटाये रक्खें। रोगी को पुरीपोत्सर्जन एक पात्र जो जल से आधा भरा होवे मे करावें। इसमे कृमियों को ढूढ़ना चाहिये। यदि कृमि का सिर मिल जावे तो अच्छा है। फिर औपध देने की जरूरत नहीं रहती है। यदि मल मे शिर न मिलकर केवल उसके पर्व या अण्डे मिलें तो फिर दो सप्ताह के वाद औषध देने की आवश्यकता होगी क्योंकि शिर से फिर कृमि वढ़ता है। यदि संदेह हो, तो ८-१० सप्ताह तक इन्तजार करें और इस समय मल मे पर्वों के ऊपर ध्यान देवें। यदि न मिले तो कृमिनाश समझे और यदि मिले तो आन्त्र में सिर सम्पूर्ण समझ कर फिर से चिकित्सा करें। टीनिया सैजिनेटा कृमि, प्रायः अकेला ही होता है और टीनिया सोलियम अनेक होते हैं। इसलिये पेल्लीटिरीन ट्यानेट का उपयोग २-८ ग्रेन की मात्रा मे किया जाता है। इसका प्रयोग करने के वाद कुछ दिन तक मल का परीक्षण करते रहे। परीक्षण से रोग निर्मूल होने का प्रमाण मिल जाता है।

हैमोनोलेपिस

सोस्टोल (Sostol) की ६ गोलियाँ (९ ग्रेन) प्रातः विना कुछ खाये दें। ३ घटे के वाद एरण्ड तेल वा मैगसल्फ का विरेचन देवें। यह हैमोनोलेपिस के लिये विशेष उपयोगी है।

विडंग का प्रयोग

विडङ्ग का चूर्ण ६ माशा, मधु १ तोला के साथ प्रातःकाल चाटे। इससे कृमि नष्ट होते हैं। अथवा विडग के क्वाथ में विडंग का चूर्ण ६ माशा मिला कर पीवे। यह औषध कृमिघ्न और विरेचक भी है। इसके सेवन करने पर बाद को विरेचन देने की आवश्यकता नहीं रहती है।

यथोक्तम्—

लिह्याद् विडग चूर्ण वा मधुना कृमिनाशनम्,
विडग शृतपानीय विडगेनावचूर्णितम्।
पीत कृमिहर दृष्ट कृमिजांश्च गदाञ्जयेत्॥

कम्पिल्लक-प्रयोग

कबीला ६ माशा, मधु १ तोला के साथ प्रातःकाल गरम पानी से देवें। इससे सब कृमि मल द्वार से बाहर निकल जाते हैं।

पलाशबीज-प्रयोग

पलाश के बीज ६ माशे का चूर्ण करके मधु के साथ चाटे। इससे भी कृमि नष्ट होते हैं।

कृमिमुद्गर रस की १ गोली, विडगारिष्ट २ तोला के साथ प्रातः-सायं लेवें। इससे कृमि नष्ट हो जाते हैं।

पथ्यापथ्य

दूध, दधि, घृत, पत्तेवाले शाक, मधुररस, अम्लरस की वस्तुएँ और मास आदि न खावे। इसके विपरीत लघु वीर्य वाले पदार्थ गेहूँ, जौ की रोटी, मूँग की दाल, परवल, लौकी आदि खावे।

यथोक्तं योगरत्नाकरे—

क्षीराणि मांसानि घृतानि चैव दधीनि शाकानि च पत्रवन्ति।
समासतोऽम्ल मधुरान् रसांश्च कृमीञ्जिघांसुः परिवर्जयेत्तु॥

गोपट्टिका (टीनिया सैजिनेटा)

इसमें प्रातःकाल कद्दू के बीज ४ तोला तक छीलकर चबा लेवें। इससे बहुत लाभ होता है। इसके एक घंटा के बाद कबीला २ तोला,

रेवन्द चीनी २ तोला, वायविडंग २ तोला, खुरासानी अजवाइन ३ माशा मिलाकर चूर्ण कर लेवें।

मात्रा—१ माशा, मधु के साथ देवें। एक सप्ताह तक औषध-सेवन करें। परन्तु पहले रोगी के कोष्ठ को एरण्ड तैल २॥ तोला पिलाकर कोष्ठ शुद्ध कर तो विशेष लाभ होता है।

सूकरपट्टिका, टीनियालेटा और कुक्कुरपट्टिका की चिकित्सा पूर्वोक्त प्रकार से ही करें।

गण्डूपद कृमि, (एस्केरीज लम्ब्रीकाइडीज)

परिचय—केचिद्वृत्त परिणाहा गण्डूपदाकृतयः श्वेतास्ताम्रावभासाश्च। (चरक)

प्रकृति—यह कृमि गण्डूपद (केंचुवा) के तुल्य होता है। यह सजीव कृमि कुछ पीताभ व रक्त होता और थोड़ा मोटा, श्लक्ष्ण, गोल तथा चमकदार होता है। इसके मुख में तीन खण्ड होते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों जाति के कृमि साथ-साथ रहते हैं। स्त्री जाति का कृमि १०—१६ इञ्च तक लम्बा होता है और पुरुष जाति का ९-१० इञ्च लम्बा होता है। पुरुष जाति की अपेक्षा स्त्री जाति का कृमि मोटा और संख्या में भी अधिक होता है। इसके अण्डे मल द्वार से बाहर निकलते हैं। ये अण्डे पीने के जल के साथ-साथ अथवा खाद्य द्रव्यों के साथ मनुष्य की अन्तड़ियों में पहुँच जाते हैं। ये क्षुद्रान्त्र में एक, दो, तीन, एकत्र मिलकर रहते हैं। कभी सौ-सौ की संख्या में कृमि बाहर निकल पड़ते हैं। ये गण्डूपद कृमि चिरकाल तक अन्तडियों मे नहीं रहते हैं। ये मल अथवा मुख द्वारा बाहर निकल जाते हैं और यकृत से फुफ्फुस में जाकर वृद्धि प्राप्त करके श्वास प्रणाली द्वारा गले मे होकर फिर अन्त्र मार्ग मे पहुँच जाते हैं और अन्त्र से यकृत और पित्त कोष मे अथवा अन्त्र मे क्षत होने से उस क्षत-पथ से उदर्याकला (पेरीटोनियम) में पहुँच जाते हैं। ऐसा रूप होने पर सब स्थानों मे स्फोट और प्रदाह (सूजन) हो जाती है।

लक्षण

अन्तड़ियों मे वेदना, अथवा जिस स्थान पर ये होते हैं वहाँ पर वेदना होती है। नाभि-प्रदेश मे विशेष पीड़ा होती है, वमनेच्छा, मुख मे दुर्गन्धि, क्षुधामान्द्य और समान्य आध्मान होता है।

एक वालिका के गले से आमाशय और क्षुद्रान्त्र के वारह अंगुल के प्रथम भाग (ग्रहणी मे) तक इन कृमियों के व्याप्त हो जाने से उसकी मृत्यु हो गई। इसमे अधिकतर कनीनिका फैल जाती है, पलकों मे सूजन, दोनों नेत्र आधे-आधे वन्द रहते हैं, मुखमण्डल और चक्षु मलीन हो जाते हैं और रोगी विह्वल प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

पारसीक यवानी का चूर्ण १॥ रत्ती से ३ रत्ती तक खाली पेट गरम पानी से देवें। अथवा सैन्टोनीन (Santonin) ३ ग्रेन से ६ ग्रेन मात्रा मे देव। इसके ६ घटे के वाद शुद्ध एरण्ड तेल २॥ तोला देव। इससे मरे हुये कीड़े वाहर निकलते हैं। यह कीडों के लिये वज्र स्वरूप है। सेन्टोनीन पारसीक यवानी का ही भेद है। वालकों के लिये वहुत न्यून मात्रा मे इसका प्रयोग करें। १ वर्ष के वालक के वास्ते आधा ग्रेन पर्याप्त है।

दाड़िम-क्वाथ

अनार की जड़ की छाल का क्वाथ पीवें। उससे भी कीड़े मर जाते है अथवा दाड़िम क्वाथ मे तिल का तेल मिलाकर पीवें। इसके तीन दिन पीने से ही कीड़े मल के साथ वाहर निकल पड़ते हैं।

यथोक्तं योगरत्नाकरे—

दाडिमत्वक्कृत· क्काथस्तिलतैलेन समायुत· ।
त्रिदिनात्पातयत्येव कोष्ठत· कृमिजालकम् ॥

खदिरादि क्वाथ

खदिर, इन्द्रजव, निम्व की छाल, मीठी वच, सोंठ, मिर्च, पीपल, आँवला, हरड़, वहेडा, निशोथ इन ओपधियों को समान भाग मे लेकर गोमूत्र मे क्वाथ वनावें। इसको सात दिन पीने से कृमि नष्ट हो जाते हैं।

रस-पुष्प संयुक्त सैंटोनीन की प्रयोग विधि

३ ग्रेन सेंटोनीन मे ४ ग्रेन कैलोमल मिला करके रात्रि को ९ वजे सेवन किया जाता है। वच्चों के लिये उसमे थोड़ी

चीनी मिलाकर देना उचित है। दूसरे दिन प्रातः ६ बजे मैगसल्फ देना चाहिये। संटोनीन देने के २४ घंटे पहले रोगी को यदि लघु तरल आहार दिया जावे, तो और भी अच्छा है। कैलोमल मिलाने से सैंटोनीन की कृमिघ्न शक्ति बढ़ती है। एक दो सप्ताह के बाद दूसरी बार संटोनीन का प्रयोग करने से प्रायः उदरस्थ केंचुओं का निर्मूलन हो जाता है। परन्तु विरेचन के लिये एरण्ड के तेल का प्रयोग न करें। संटोनीन एक तीव्र औषध है। अतः इसको खाली पेट नहीं लेना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो सके मल-परीक्षा द्वारा अथवा केंचुओं के उत्सर्ग से रोग का निर्णय हो जाने पर इसका उपयोग करें। केवल संदेह ही होने पर इसका प्रयोग न करें। ज्वर हो जाने पर भी सैंटोनीन का प्रयोग कर सकते हैं।

यथोक्तं चक्रदत्ते—

पारसीक यवानी पीता पर्युषितवारिणा प्रातः।
गुड़पूर्वा कृमिजात कोष्ठगतं पातयत्याशु॥

विवरण—किरमाणी (Artemisia Maritima) का पुष्पचूर्ण आयुर्वेद मे प्रयुक्त होता है। सैंटोनीन इसी वृक्ष के फूलों से निकाला जाता है। चूर्ण मात्रानुसार ही कार्य करता है। बच्चों के लिये चूर्ण की मात्रा १०–२० ग्रेन और युवा व्यक्तियों के लिये ३०–६० ग्रेन होती है।

चेनो पोडिअम-तेल का प्रयोग

चेनोपोडिअम के तेल की मात्रा १–२ सी० सी० तीन त्रिभागों मे विभक्त करके और कठिन जिल्याटिन कैप्स्यूल मे भर करके एक-एक घंटे के अन्तर से एक भाग दिया जाता है। यह ओषधि प्रातः काल दी जाती है। अन्तिम मात्रा के प्रयोग करने के एक घण्टे पश्चात् मैग-सल्फ का विरेचन दिया जाता है। बालकों के वास्ते मात्रा का प्रमाण प्रतिवर्ष के लिये एक बूँद के हिसाब से है।

संयुक्त प्रयोग

सैंटोनीन और चेनोपोडिअम इन दोनों का संयोग (३'५ ग्रेन सैंटानीन और १ सी० सी० चेनोपोडिअम कैप्स्यूल मे भर करके)

प्रातः समय में दी जाती है। यह संयुक्त पद्धति अधिक लाभकारक है।

वस्ति का प्रयोग

कृमि मलाशय में रहते हैं। जहाँ पर मुख द्वारा दी हुई ओषधि मलाशय में नहीं पहुँच कर अन्त्र से ही लीन हो करके रक्त में चली जाय वहाँ वस्ति द्वारा इसकी चिकित्सा करें। वस्ति में तिक्त कषाय (किरात तिक्त का कषाय या रसाञ्जन का क्वाथ या लवणजल (आधा सेर जल में १ तोला नमक) अथवा टिञ्चर फैराइपर क्लोर (Tincture ferri perchlor) आधा सेर जल में आधा तोला) प्रयुक्त कर सकते हैं। मलाशय में जितना समय जल रहेगा उतना ही अच्छा होगा। यह क्रिया प्रति तीसरे-चौथे दिन २–३ सप्ताह तक करें। फिर भी यदि कृमि अन्दर रह जाए, तो सैंटोनीन और विरेचन द्रव्य देना चाहिये।

बद्धान्त्रोदर की चिकित्सा

जब यह उपद्रव गण्डू पदों के कारण हो जाय, तब रोगी को बेलाडोना अथवा एट्रोपीन देवें। इससे अन्त्र विस्फारित हो जाता है जिससे कृमि नीचे को सरक जाता है। उसके बाद तरल पैराफीन या औलिव तेल की वस्ति देवें।

प्रतोद कृमि

परिचय—प्रतोद कृमि (Whip worm) का संक्रमण जब अंतड़ियों में होता है, तो उससे जो कृमि उत्पन्न होता है उसको प्रतोद कृमि-रोग कहते हैं।

इस रोग का प्रधान कारण प्रतोद कृमि (Whip worms Trichuris Trichiura. Tricocephalus dispar) है। शिर की तरफ का दो-तिहाई हिस्सा बहुत पतला तन्तु के समान होता है और पुच्छ की तरफ का एक-तिहाई भाग कुछ मोटा होता है।

यथोक्तं सुश्रुते—

तेषामेवापरे पुच्छैः पृथवश्च भवन्ति हि।

इसलिये इसका शरीर चाबुक की भाँति दिखाई देता है। स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न-भिन्न होते हैं। पुरुष कृमि की अपेक्षा स्त्री कृमि की संख्या बहुत अधिक होती है। पुरुष कृमि स्त्री कृमि की अपेक्षा लम्बाई मे कम होता है। यह १॥ से २ इञ्च लम्बी होती है। स्त्री कृमि से असंख्य अण्डे उत्पन्न होते हैं जो मल के साथ बाहर निकलते हैं। ये लम्बाई मे दीर्घवृत्त होकर उनके दोनों सिरे गांठदार होते हैं। क्षुद्रान्त्र का अन्तिम भाग, स्थूलान्त्र और आन्त्रपुच्छ की श्लेष्मकला में ये तन्तु सदृश अपने अगले भाग से लिपटे रहते हैं।

प्रसर

मल के साथ निकले हुये अण्डे शरीर के बाहर कुछ समय तक रहते हैं। यहाँ इनके अन्दर परिवर्तन होकर बच्चा पैदा होता है। ये अण्डे फिर आहार्य और पेय द्रव्यों के साथ मुख के द्वारा महास्रोत मे प्रविष्ट हो जाते है और उण्डुक मे आने पर आवरण से युक्त हो वहाँ कि श्लैष्मिक त्वचा में चिपट जाते हैं। मक्खियों के द्वारा भी खाद्य-पेय पदार्थ दूषित होते हैं। इससे छोटे-छोटे बालक संक्रान्त हुए देखे जाते हैं।

लक्षण

प्रतोद कृमि रोग में कोई प्रधान लक्षण उत्पन्न नहीं होता है। केवल कभी-कभी प्रत्याक्षेपजन्य लक्षण शीत-पित्त प्रभृति पैदा हो जाते हैं।

उपक्रम

इस रोग की मुख्यतया चिकित्सा करने की आवश्यकता हो तो चुन्नों के तुल्य चिकित्सा करें। इसका मूलरहित करना अत्यन्त कठिन है। चेनोपोडिअम तेल (गण्डूपदोक्रमोक्त) का उपयोग करने से अच्छा लाभ होता है।

चुरवः (चुन्ने)

Thread Worm

पर्याय—इनका दूसरा पर्यायवाची नाम आक्स्यूरिस, वर्मीक्यूलेरिस (Oxyuris Vermiculoris) हैं।

प्रकृति—ये चुन्नेकृमि छोटे-छोटे धागों के समान होते हैं। इनकी स्त्री जाति १॥ इञ्च लम्बी और पतली पूँछ वाली होती है। पुरुष केवल ¼ से ⅙ इञ्च तक लम्बा होता है। इसकी पूँछ मुड़ी हुई होती है। पुरुष समागम करते ही मर जाता है और सगर्भा स्त्री, मलाशय और अंत्र में चली जाती है, वहीं से इसके अण्डे बाहर निकलते हैं और फिर पेयादि पदार्थों के द्वारा मनुष्य के शरीर मे पहुँच जाते हैं। यह कृमि पहले क्षुद्रान्त्र मे बढता है। बढने के बाद मलाशय मे आकर ठहर जाता है। वहीं से कृमि और उसके अण्डे मलाशय से बाहर निकलते हैं। ये निकलते समय कण्डू उत्पन्न करते हैं। कण्डू इतनी तीव्र होती है कि रोगी खुजलाते-खुजलाते गुदा को छील डालता है। यह रोग प्राय: छोटे छोटे बच्चों को विशेष होता है और इसके सब लक्षण पूर्वोक्तानुसार ही होते हैं।

चिकित्सा

प्रथम कोष्ठ की शुद्धि करें। फिर विडंग का चूर्ण १ तोला, निम्ब की बीज १ तोला, इन्द्रयव १ तोला, सेंधानमक ३ माशा, हींगका फूला ३ माशा लें।

विधि—इनको कूट-पीस और छानकर चूर्ण बना लेवें।

मात्रा—२ माशा से ४ माशा तक है।

अनुपान—उष्णोदक। और सब चिकित्सा पूर्वोक्त करें। बस्ति से मलाशय को शुद्ध करें। इसमें सेन्टोनीन लाभदायक नहीं है।

पूर्वकर्म

रोगी को अलग शय्या पर लिटाना चाहिये। उसके नख कटवा देना चाहिये और रात्रि को सोते समय हाथों के लिये दस्ताने तथा पैरों के लिये नीचे की तरफ से बन्द किया हुआ पायजामा होना चाहिये। इससे कृमि और उनके अण्डे बिस्तरे पर नहीं गिरते तथा आत्म संक्रमण टल जाता है और खुजलाने पर भी गुदा के समीप की त्वचा नहीं छिलती है। भोजन के पूर्व हाथ और नाखूनों की

स्वच्छता पर विशेष ध्यान रक्खें। मलाशय तथा बृहदन्त्र की कुण्डलिका में स्थित कृमियों का नाश करने के लिये जानुकूर्परासन में स्थित रोगी को निम्न ओषधियों से एक की वस्ति प्रतिदिन या दो दिन के बाद एक बार महीना पर्यन्त या कृमियों के विनाश होने तक देवें।

यथोक्त चरके—

वमन-विरेचनमास्थापनञ्च तन्ययमपकर्मणविधि।

प्रकृतिविघातस्त्वेषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगः॥

वस्ति-प्रयोग

नमक एक औंस, सालिस्यालिक एसिड १५ से ३० ग्रेन, टिञ्चर फेरीक्लोर ४ ड्राम, कासीस ४ से १० ग्रेन और जल २० औंस प्रयोग करें।

सौभाग्य मलहर-प्रयोग

रात्रि में सोते समय गुदा के ऊपर बोरिक मलहम लगावें। अथवा पारद का मलहम लगावें। इससे कण्डू कम हो जाती है। अन्त्र के ऊपरी भाग में स्थित कृमियों का नाश करने के लिये सैंटोनीन और कैलोमल तीन दिन एक-एक दिन का मध्य मे अन्तर देकर प्रयोग करें और दूसरे दिन मेगसल्फ से विरेचन देवें। इसके अतिरिक्त पीने के लिये लोह, क्वासिया, क्यालम्बा, जेन्शन आदि कड़वी ओषधियाँ दें और मध्य-मध्य में विरेचन द्वारा कोष्ठ शुद्धि करते रहें।

जेनशनवायोलेट का प्रयोग

मात्रा—इसकी १ ग्रेन दिन मे तीन बार भोजन के पहले, लगातार १० अथवा आठ दिन तक क्रमशः प्रयोग करें और एक सप्ताह के बाद फिर आठ दिन तक प्रयोग करें।

कृमिकालानल रस

वायविडंग १६ तोला, मीठा विष शुद्ध किया हुआ आठ तोला, लोहभस्म ४ तोला, शुद्ध पारद और गन्धक की कज्जली दो तोला।

विधि—बकरी के दूध से घोट कर आधी रत्ती से एक रत्ती की गोली बनावें।

अनुपान—धनियाँ तथा जीरा। लाभ—इसके सेवन से कृमि नष्ट होते हैं। —भै० र०

पथ्यविवेचन

आस्थापनवस्ति, विरेचन, शिरोविरेचन, धूम्रपान, कफघ्न आहार, शरीर-परिमार्जन, पुराने शालि चावल, लहसुन, बथुआ, परवल और फल विशेषकर पथ्य हैं।

यथोक्तम्—

आस्थापन काय शिरोविरेचन।
धूम॰ कफघ्नानि शरीरमार्जनम्॥
तिक्त॰ कषाय कटुको रसोऽप्ययम्।
वर्गो नराणां कृमिरोगिणां सुखः॥

अपथ्य वर्ग

छर्दिञ्च तद्वेग विघातृणाञ्च।
विरुद्धपानाशनमह्नि निद्राम्॥
द्रवञ्च पिष्टान्नमजीर्णताञ्च।
घृतानि माषान् दधि पत्रशाकम्॥
मांस पयोऽम्ल मधुर रसञ्च।
क्रिमीन् जिघांसुः परिवर्जयेच्च॥

अन्त्रादा

(Hook worm)

पर्याय—एङ्कीलोस्टोमा, ड्यूडेनेली (Ankylostoma Duodenal)

प्रकृति—यह कृमि ½-¾ इञ्च तक लम्बा होता है और पेचक के धागे के बराबर मोटा होता है। इसका अगला सिरा मुड़ा हुआ होता है, इसलिये इसको अंकुसा (हुकवर्म) भी कहते हैं। इसका नर नारी से छोटा होता है।

वासस्थान और लक्षण

यह आँतों में, विशेषत क्षुद्रान्त्र और ग्रहणी मे रहता है। कीडे श्लैष्मिक-कला को अपने मुख से पकड़े रहते हैं और वहाँ का रक्त चूसते

हैं। अत' ये लालवर्ण के होते हैं। रोगी शोणितात्पता (एनीमिया), दौर्बल्य, अतिसार, क्षुधा का अभाव, अग्निमांद्य आदि से पीड़ित हो जाता है और अन्त में रोगी के हाथ-पैरों में सूजन आ जाती है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। कृमि जिस स्थान पर रक्तपान करते हैं वहाँ पर क्षत कर देते हैं। इसके सिवाय इसका विष रक्त में पहुंच कर अनेक रोग पैदा कर देता है। आँतों में नारी कृमि बहुत अण्डे देती है और ये अण्डे पाखाना मे लाखों की संख्या में निकलते हैं। जब तक शरीर से बाहर निकलने का समय आता है तब तक अण्डे की सेल के चार विभाग हो जाते हैं। कभी दो, कभी आठ, कभी सोलह, इस प्रकार इसका भ्रूण बढ़ता रहता है।

शरीर से बाहर आकर २४ घण्टे में अण्डे से एक लहर्वा (लार्वा) निकलता है। यह लहर्वा पाखाने और मिट्टी मे रहता है। दो चोली बदलने के बाद लहर्वा इस योग्य हो जाता है कि समय मिलने पर मनुष्य की त्वचा को भेद करके उसके शरीर में पहुँच जाये। ५० कीड़ों से मनुष्य को कोई हानि नहीं होती। १०० से अधिक कीड़े अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं और ५००-१००० तक होते ही इसका प्रभाव तीव्र रूप में बढ़ता है।

चिकित्सा

वमन-विरेचन से शरीर की शुद्धि कर पूर्वोक्त ओषधियों का सेवन करें। विशेषकर अजवायन का सत्त्व इसके लिये अमोघ औषध है।

मात्रा—दो रत्ती।

अनुपान—गरम जल से देवें।

एलवालुक का प्रयोग

एलुवा (मुसव्वर) १ तोला, वायविडंग २ तोला, पलास के बीज २ तोला, कबील १ तोला, हींग भुनी हुई ३ माशा।

विधि—जल से घोंटकर बेर के बराबर गोली बनावें।

मात्रा—१ गोली।

अनुपान—गरम जल।

समय—प्रातः-सायम् । लाभ—कृमिनाशक । भोजन के बाद दोनो शाम विडंगारिष्ट १॥-१॥ तोला पीवें ।

एलोपैथिक चिकित्सा

इस रोग मे दो प्रकार की चिकित्सा की जाती है। (१) कृमिहरण और (२) शोणित सवर्धन चिकित्सा । इस रोग में केवल कृमियों का नाश करने से रक्त की स्थिति मे कोई सुधार नहीं होता है। अत' रक्त क्षय की चिकित्सा करनी पडती है। परन्तु उदर में कृमि होने पर रक्त क्षय की चिकित्सा करने से रोगी की स्थिति से सुधार तो हो जाता है किन्तु फिर से वह रुग्ण हो जाता है। अत' पहले कृमियों का अपकर्षण करके बाद में रक्तक्षय की चिकित्सा करना जरूरी है। परन्तु यदि रक्तक्षय अधिक हो तो पहले रक्त की वृद्धि करके फिर कृमिनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। केवल एक प्रकार की चिकित्सा ठीक नहीं होती ।

कृमिनाशक पद्धति

पहले रोगी को लघु आहार दे फिर रात्रि को मैगसल्फ का विरेचन देने के बाद थाइमल (Thymol) का प्रयोग करे। इससे ९० प्रतिशत कृमि नष्ट हो जाते हैं और ९० प्रतिशत रोगी भी रोग से निर्मुक्त हो जाते हैं। प्रातःकाल अधोलिखित मात्रा दो या तीन भागों मे विभक्त करके दो-दो घण्टे के बाद मैगसल्फ का तीव्र विरेचन देकर देवें।

थाइमल का मात्रा-प्रमाण

५ वर्ष तक	७½ ग्रेन
५-१० वर्ष तक	१५ ग्रेन
१०-१५ वर्ष तक	३० ग्रेन
१५-२० वर्ष तक	४५ ग्रेन
२०-६० वर्ष तक	६० ग्रेन

मात्रा का ह्रास

६० वर्ष के पश्चात् ४५ ग्रेन और गर्भवती स्त्री को ३० ग्रेन देना चाहिये।

उपयोग विधि—कैप्स्यूल में भरकर दें। इसके सेवन करने से पूर्व कुछ भी सेवन न करें। प्रथम मात्रा सेवन के समय से अन्तिम मात्रा के पश्चात् कुछ घण्टे तक शय्या पर आराम करना चाहिये और अन्तिम विरेचन से कोष्ठ शुद्धि होने के बाद अन्न का सेवन करना चाहिये। परन्तु इस औषध के सेवन के समय मद्यसार तथा अन्य प्रकार के मद्य, ग्लिसरीन; क्लोरोफार्म, दूध, मक्खन तथा किसी प्रकार के तेलों का उपयोग न करें। निम्नलिखित रोगियों में इस औषध का सावधानी से प्रयोग करें। यथा—वृक्कशोथ, हृद्रोग; तीव्ररक्त क्षय, दुर्बलता, अतिसार, आमाशयशोथ प्रभृति तथा गर्भवती स्त्रियों में।

(२) चिह्नी तेल (Oil of chenopodium)—यह औषध उत्तम है। अन्य औषधियों के साथ मिलाकर प्रयोग करने पर इसकी कार्य क्षमता बढ़ जाती है। यह औषध अंकुशकृमि (हुकवर्म) के अरिरिक्त गण्डूपद कृमि में भी केंचुओं के मारने के लिये उपयुक्त होता है। इससे ८३ प्रतिशत कृमियों का अपकर्षण होता है।

औषध का प्रतिषेध—हृदय, वृक्क, यकृत् और आन्त्र के पुराने रोगों से पीड़ित रोगियों में इसका उपयोग न करें। यदि रोगी में शोणित क्षय हो तो इसके प्रयोग करने से पहले लोहभस्म, संखिया, यकृत्सत्त्व प्रभृति का प्रयोग करे, फिर बाद को औषध-सेवन करें।

सेवन विधि—पहले दिन लघु आहार देकर रात्रि को विरेचन देवें। फिर दूसरे दिन प्रातःकाल ३० बूँद औषध देवें। अथवा तीन भागों में विभक्त करके दो-दो घण्टे के बाद एक-एक भाग ग्लूकोजसिरप चीनी के साथ या कैप्स्यूल में भरकर देवें और दो घण्टे के बाद मैगसल्फ देवें। अथवा एरण्ड तेल देवें। दश वर्ष तक के बालकों के लिये प्रति वर्ष के हिसाब से १-१॥ बूँद की मात्रा में देवें। औषध-सेवन के समय विश्राम करना आवश्यक है।

रक्तक्षय की चिकित्सा

कृमियों का अपकर्षण करने के पश्चात् रक्तक्षय को दूर करने के लिये लोहासव, लोहभस्म, संखिया, ताम्रभस्म प्रभृति औषधों का सेवन कर

तथा दूध, पनीर (Cheese), अण्डा, गोभी, फूलगोभी, प्याज, हरी शाक सब्जी प्रभृति, सेव, बादाम, केला प्रभृति रोगी की अग्नि बलानुसार प्रयोग करें। एक सप्ताह के बाद चार सप्ताह तक रोगी के मल की परीक्षा करें। यदि इस अवधि मे मल में अण्डे मिल जायं तो फिर से कृमिघ्न औषध का व्यवहार करें।

आगन्तु बाधा प्रतिषेध

इस रोग से पीड़ित रोगियों के इधर-उधर मलोत्सर्जन करने से भूमि और जल दूषित हो जाते हैं और उनसे रोग का प्रसार होता है। अतः रोग प्रतिबन्ध के लिये निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

जहाँ यह रोग प्रारम्भ हो वहाँ लोगों के मल का परीक्षण कर उपसृष्टों की जाँच करके उनकी चिकित्सा करें और इनके लिए पृथक् शौच स्थानों का प्रबन्ध किया जाय, इधर-उधर मलोत्सर्जन की प्रथा को बन्द कर दिया जावे और घर के बाहर जाने पर जूता पहन कर जाना चाहिये। ऐसे समय में जल और दूध को गरम करके पीवें। बाजार के फल और शाक-सब्जी को पोटास के पानी से धोकर व्यवहार मे लाना चाहिये।

धनुस्तम्भ

निर्वाचन—देह की सम्पूर्ण पेशियों मे, अधिकतर निम्न हनु की पेशियों से आरम्भ होकर धीरे-धीरे ग्रीवा, मध्यभाग और हाथ-पैरों की वेदना युक्त स्थायी बलवती मांस-पेशियों मे सकोच पैदा करने वाली पीड़ा को धनुस्तम्भ कहते हैं। इसमें मनुष्य का शरीर धनुष की आकृति का हो जाता है। इससे शरीर मे क्षण-क्षण भर मे द्रुताक्षेप उपस्थित होता है। यह संक्रामक पीडा है।

यथोक्तं सुश्रुते—

धनुस्तुल्योनमेद्यस्तु स धनुस्तम्भसञ्ज्ञित

कारण

इसका प्रधान कारण शलाकाकार कीटाणु है और इस कीटाणु का नाम 'बैसिलस टटेनस' है। इन कीटाणुओं का निवास स्थान अश्व, गौ प्रभृति

पशुओंकी अंतड़ियाँ है। किन्तु ये कीटाणु घोड़े आदि पशुओं की अंतड़ियों में रहते हुए भी उन्हें कुछ हानि नहीं पहुचाते। ये कीटाणु उनकी विष्ठा के द्वारा बाहर निकलते हैं। इसलिये ये अस्तबलों मे जहाँ पर लीद पड़ी हुई रहती है विशेष होते हैं। अस्तबलों मे या रास्ते अथवा खेतों में लीद पड़ी हुई हो और वहां पर किसी मनुष्य को चोट लग जावे और उसमे किसी तरह से लीद का संसर्ग हो जावे, तो उस क्षत मे कीटाणु प्रविष्ट होकर रोग पैदा कर देते हैं। कभी-कभी मामूली क्षत होने पर भी कीटाणु से दूषित होने पर रोग का कारण हो जाता है।

सम्प्राप्ति

ये कीटाणु व्रण मे ही अपनी वृद्धि करते हैं और उसी स्थान से इनका विषजनक प्रभाव नाड़ियों द्वारा सुषुम्ना काण्ड मे; जहां से वात नाड़ी मण्डलों के जोड़े निकलते हैं, वहाँ पर पहुच सूजन पैदा कर देते हैं। यह सम्प्राप्ति काल १-२० दिन तक होता है।

रूप

प्रथम दशा मे ग्रीवा मे कड़ापन और हनुस्तम्भ के तुल्य लक्षण मालूम होते हैं। फिर धीरे-धीरे मांस पेशियों मे कडापन आ जाता है जिससे रोगी भोजन आदि करने मे असमर्थ हो जाता है। फिर ये लक्षण बढ जाते हैं—हनु मे अधिक कडापन हो जाने से रोगी जबड़ों को खोलतक नहीं सकता, यह संकोच प्रथम हनु (ठोढ़ी) की मांस पेशियों से प्रारम्भ होकर मुख की सम्पूर्ण पेशियों मे व्याप्त हो जाता है, जिससे भ्रूमण्डल ऊपर को तन जाता है और मुँह बाहर की तरफ खिचा हुआ प्रतीत होता है। पृष्ठ की पेशियों के ऊपर इसका अधिक प्रभाव पड़ता है जिससे पीठ कमान की तरह हो जाती है। केवल रोगी का शिर और पाव बिस्तर पर रहता है तथा सारा शरीर टेढ़ा हो जाता है। यदि इसका प्रभाव दाहिनी अथवा बाईं पसलियों की मांस पेशियों के ऊपर होता है, तो शरीर भी उधर को ही मुड़ जाता है। यदि उदर की पेशियों पर इसका प्रभाव होता है, तो शरीर आगे की ओर झुक जाता है। लेकिन यह बहुत कम होता है। मास पेशियों के संकोच के कारण शरीर मे असह्य वेदना होती है। ज्वर अधिक नहीं होता, यदि

होता भी है, तो बहुत कम। कभी-कभी १०२ डिग्री तक हो जाता है। इस रोग में ज्वर का अधिक होना मृत्यु का द्योतक है।

कभी-कभी मृत्यु के समय १०९-११२ डिग्री तक ज्वर हो जाता है। हृदय तथा श्वासीय मांस पेशियों का स्तम्भन होने लगता है और यही मृत्यु का भी कारण है। किसी-किसी रोगी की रोग प्रबलता के कारण दो-तीन दिन में ही मृत्यु हो जाती है और कोई रोगी ६-७ दिन तक चलता है।

रोग निर्णय

कुचिला और इसके सत्त्व (स्ट्रिकनीन्) के विष से भी इसी के तुल्य लक्षण होते हैं। उपरोक्त लक्षण, हनुस्तम्भ और मुखाकृति से रोग का निर्णय हो जाता है। दूसरा भेदक लक्षण यह है कि धनुस्तम्भ में हनुस्तम्भ से रोग प्रारम्भ होता है और कुचिला के विष से प्रथम हाथ-पैरों में स्तम्भ होता है। घाव के बाद यदि स्तम्भ हो, तो भी धनुस्तम्भ जानना चाहिये।

साध्यासाध्यावस्था

यदि लक्षण मृदु हो और चिकित्सा उसी समय प्रारम्भ कर दी जाय, तो रोग साध्य होता है। क्षत के बाद शरीर में स्तम्भ होने पर असाध्य समझना चाहिये। यदि रोगी चार दिन तक जीवित रह जाय, तो कभी-कभी अच्छा हो भी जाता है।

चिकित्सा

इस रोग में नाड़ीमण्डल के ऊपर बहुत उत्तेजना होती है। प्रत्येक उत्तेजना में बड़ा भयंकर कष्ट होता है। इसलिये रोगी को एकान्त स्थान में जहाँ पर अंधकारमय स्थान हो वहा पर विश्राम करावे जिससे उसके शरीर में उत्तेजना प्रकट न हो। इसमें शामक औषधों का प्रयोग करें, जो कि रोगी की उत्तेजना को दूर करे।

ऐसी अवस्था में निम्नलिखित वृहद् वातचिन्तामणि २ रत्ती की गोली, परिस्रुत द्राक्षासव १ तोला के साथ देवें। इससे नाड़ीमण्डल की उत्तेजना शान्त होती है। इसका प्रयोग तीन-तीन घंटे के बाद करें।

बृहद् वातचिन्तामणि रस

स्वर्णभस्म ३ माशा, चाँदी की भस्म २ माशा, अभ्रक भस्म २ माशा, लोह भस्म ५ माशा, मूँगा भस्म ३ माशा, मुक्ताभस्म ३ माशा, रससिन्दूर ७ माशा।

विधि—इन्हे घीकार के रस से घोटकर २ रत्ती की गोली बनावें। इससे धनुस्तम्भ का दौरा शान्त होता है।

यदि बृहद् वातचिन्तामणि न मिले, तो अफीम, कस्तूरी, केशर, जायफल इनको समभाग में लेकर २ रत्ती की मात्रा मे, अदरक के स्वरस के साथ देने से भी लाभ होता है।

एलोपैथी में—पुटैशियमब्रोमाइड्, क्लोरल हाइड्रस्, क्लोरोफार्म प्रभृति का उपयोग होता है।

सूचीवेध चिकित्सा

इस रोग मे ऐन्टीटैटेनिक सीरम् (रक्तरस) का त्वचोऽध. क्षेपण (हाइपोडर्मिक सिरिञ्ज) विधि से प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—पहले ४-५ दिन में २५००० यूनीट से ३०००० यूनीट तक दे सकते हैं। इससे कम मे असर नहीं होता है। इसके बाद लक्षणों के अनुसार मात्रा का प्रयोग करना चाहिये। अधिक गवेषणा के बाद यह निश्चय हुआ है कि रोग के प्रारम्भ मे इसके इञ्जेक्शन से पूरा लाभ होता है।

पथ्य—दूध, अनार, अंगूर, सेव आदि फलों का रस देंव। भोजन के लिए लघु, पाच्य और बलकारक द्रव्य पथ्य है।

आक्षेपहर चिकित्सा

बार-बार आक्षेप होने से रोगी की शक्ति क्षीण हो जाती है। विष का प्रसार अधिक होकर मस्तिष्क के साथ संयुक्त हो जाता है। इसमें अन्न सेवन, प्रश्वसन तथा हृदय के कार्य—इनमे कठिनाई होती है। अतः इसमें आक्षेपहर ओषधियाँ बहुत महत्त्व की होती हैं।

मुखद्वारा—पोटासब्रोमाइड् २० ग्रेन, क्लोरल हैड्रेट १५ ग्रेन, ल्यूमिनाल १ ग्रेन, ग्लूकोज २ ड्राम और पानी १ औंस प्रत्येक ३-४ घण्टे पर दें। क्लोरोटोन १०-१५ ग्रेन दें।

गुदा द्वारा—क्लोरोटोन ३०–४० ग्रेन ओलिव तेल मे मिलाकर एवर्टिंग ५ ग्राम ३% पानी मे घोल कर दें ।

त्वचा द्वारा—तीव्र रोग मे १/६ ग्रेन मार्फिया और १/१०० ग्रेन अट्रोपिन

पेशी, सिरा और सुषुम्णा द्वारा—मग्नेशियम सल्फेट २०% ५—१५ सी० सी० की मात्रा में सिरा द्वारा दिन मे दो बार और यदि उससे काम न चले तो तीव्र रोग मे तीन बार भी दे सकते हैं। इसका उपयोग पेशी मे और सुषुम्णा प्रणाली मे भी कर सकते हैं। इसका प्रभाव ३-४ घण्टे तक रहता है। साधारण मात्रा १० सेर के भार के पीछे १ सी० सी० के प्रमाण में होती है। रोग तीव्र होने पर इससे कुछ अधिक भी दे सकते हैं। इसका घोल १० मिनट तक उबाल कर पश्चात् सूचीभरण के काम में लावें।

नासाद्वारा—सूँघनेके लिए क्लोरोफार्म का उपयोग किया जाता है। जब आक्षेप के प्रवेग वेगवान हों, तब इसका प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों का अनुभव है कि क्लोरोफार्म मस्तिष्क कोशाओं के साथ मिले हुए विष को उनसे हटाने मे सहायता करता है इसलिए उनके अनुसार प्रति विष लसीका देने से पहले और उसके बाद क्लोरोफार्म से रोगी को बेहोश करने से लसीका-चिकित्सा की सफलता बढती है।

मलावरोध मे विरेचक औषध न देकर वस्ति का उपयोग करना चाहिए। इस रोग में कभी-कभी मूत्र भी बन्द हो जाता है। इसलिए वस्ति की ओर ध्यान देकर मूत्र रुक जाने पर सलाई से निकाले। रोगी के कमरे में एक परिचारक सदा रखना चाहिए। एक से अधिक लोगों को कमरे में न रक्खे। यदि हनुग्रह या ग्रसन कृच्छ्रता के कारण रोगी मुख द्वारा अन्न न ले सके, तो नासा द्वारा पेय पदार्थ देना चाहिए। यदि नासा द्वारा पोषण करने की क्रिया से रोगी को आक्षेप के वेग आते हों, तो क्लोरोफर्म द्वारा रोगी को पूर्ण बेहोश करके दोबार उसका पेट दूध तथा अन्य पेय पदार्थों से भर देवें। नासा के सिवाय गुदा और त्वचा द्वारा भी रोगी को आहार देना चाहिए। दिन भर में ४—१२ औंस तक ब्राण्डी देना भी हितकर होता है।

अलर्कविष रोग

(Hydrophobia Rabies)

पर्याय—हाइड्रोफोबिया, अलर्क विषजन्य रोग, रेवीज़।

निरुक्ति—मनुष्य के शरीर में विक्षिप्त कुत्ता, गीदड़ आदि प्राणियों के काटने से यह रोग होता है। यह तरुण सांक्रामक पीड़ा है।

निदान

पागल कुत्ते की लाला मे इसके कीटाणु होते हैं। जव वह मनुष्यों को काटता है, तव उसी घाव द्वारा उसकी लार मे उपस्थित कीटाणु मनुष्य के शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। घाव जितना गम्भीर होता है उतना ही रोग होने का अधिक भय रहता है। इसके कीटाणु वहुत सूक्ष्म होते हैं। इसलिये अभी तक अणुवीक्षण यंत्र से देखे नहीं गये हैं। यह रोग वस्तुतः कुत्ता, गीदड, विल्ली, अथवा अन्य पशुओं का समझना चाहिये उन्हीं के द्वारा मनुष्यों मे जाने पर मनुष्य के द्वारा भी यह रोग फैलता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि जिस आदमी को विक्षिप्त कुत्ता आदि प्राणी काट लेवे, तो उन सब को यह रोग हो ही जाए। अभी तक जितने आदमियों की चिकित्सा की गई है, उनकी गणनानुसार १६ प्रतिशत काटे हुए इस रोग से ग्रस्त होते हैं। कुत्तों मे यह रोग जव होता है, तव उसमें जो लक्षण उत्पन्न होते हैं वे नीचे लिखे जाते हैं।

पागल कुत्ता के लक्षण

शुनः श्लेष्मोल्वणा दोषाः सज्ञां संज्ञावहाश्रिताः।
मुष्णान्तः कुर्वते क्षोभ धातूनामतिदारुणम्॥
लालावानधवधिरः सर्वतः सोऽभिधावति।
स्रस्त पुच्छ हनुस्कन्धः शिरोदुःखी नतानन.।

सारांश

कुत्ते में यह रोग दो प्रकार से देखा जाता है। प्रथम कफोल्वणदोष कुपित होकर ज्ञानवाही स्रोतों में पहुँच कर कुत्ते के ज्ञान को नष्ट कर

देते हैं। रस-रक्तादि धातुओं के अन्दर दोष जाकर विषमता पैदा कर देता है। लाला टपकती है, आँखों से नहीं दीखता है, कानों से सुनाई नहीं पड़ता है। चारों तरफ दौड़ता है, पूँछ, हनु, स्कन्ध शिथिल हो जाते हैं और शिर मे बहुत पीडा होती है। अतः सदा नीचे को मुख रखना है। इस अवस्था में वह उन्मत्त रहता है। ऐसी अवस्था में अज्ञानता के कारण जो व्यक्ति उसके सामने पड़ जाता है उसको काट लेता है। ऐसे कुत्ते रोग फैलाने मे अधिक कारण होते हैं।

द्वितीय—इस दशा में कूकुर के मांसपेशियों में आघात हो जाता है और चलने-फिरने से असमर्थ होकर एकान्त स्थान में पड़ा रहता है। ये रोग के प्रसार मे समर्थ नहीं होते। किन्तु जब इनके ऊपर प्रेम किया जाता है उस समय यदि किसी घाव वाले स्थान को वे चाट ले, तो रोग का प्रसार हो सकता है।

सम्प्राप्ति

इस रोग के कीटाणु क्षत से नाड़ी तन्तुओं के द्वारा मस्तिष्क तक पहुच जाते हैं और वहाँ पर जा करके मस्तिष्क के कलों (सेल्स) में और उनके चारों तरफ सूजन पैदा कर देते हैं। सुषुम्ना काण्ड, लाला और सम्पूर्ण अश्रुग्रन्थियों में इसके कीटाणु स्थित रहकर वहाँ पर विकृति पैदा करते हैं।

गुप्तावस्था

गुप्तावस्था दो सप्ताह से दो मास तक रहती है। किन्तु तीस दिन से लेकर कई वर्ष तक भी रह सकती है। यह साधारणतया बारह दिन से लेकर एक वर्ष तक रहती है।

लक्षण

मनुष्य को जब उन्मत्त कुत्ता काटता है तो कुछ काल के बाद दंशस्थान पर पीड़ा और दाह मालूम होती है। कभी-कभी ४-६ सप्ताह के बाद शरीर में बेचैनी मालूम होती है। दंशस्थान मे खिंचाहट, एवं सूई चुभोने के तुल्य वेदना प्रतीत होती है। घाव के न सूखने पर वह फूल जाता है और इसमें उग्रता प्रतीत होती है तथा मन्द-मन्द ज्वर, शिर में दर्द, निद्रा-

नाश आदि लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। दो-तीन दिन के बाद विह्वलता बढ़ जाती है। चित्त में अति बेचैनी और मुख में मलीनता तथा भय युक्त स्वप्न देखता है। स्पर्श की असहिष्णुता बढ़ जाती है और गले की मांस-पेशियों का संकोच होने लगता है इसलिये जल पीने की चेष्टा करने पर गले की मांसपेशियाँ सिकुड़ जाती है। जिसके फलस्वरूप श्वासावरोध उत्पन्न हो जाता है। यहाँ तक कि रोगी जल भी नहीं पी सकता है। इस लक्षण के वेग उपस्थित होने पर रोगी दृढ़ हो कर पानी पीने की चेष्टा करता है। किन्तु पानी मुख के अन्दर जाते ही आक्षेप उत्पन्न हो जाता है। मुख लाल एवं नीला प्रतीत होता है, मुख का भाव भय, व्याकुलता और यंत्रणाव्यंजक होता है। सम्पूर्ण शरीर काँपने लगता है और मुख से पानी का बहुत कुछ अंश निकल जाता है तथा कुछ अंश गले के नीचे को चला जाता है। बाद को रोगी तेजहीन और क्षीण होने लगता है, श्वास चलने लगता है; रोगी पिपासा से बहुत छटपटाता है। किन्तु भय से कुछ चेष्टा नहीं कर पाता, अधिकतर कई आक्षेप के प्रकाश होने पर, तरल द्रव्य के देखने अथवा उसके नाममात्र से अथवा तरल द्रव्य के निगलने की इच्छा होने पर, आक्षेप का वेग उपस्थित हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है, कि रोगी जल को छोड़ कर अन्य तरल द्रव्यों को आवश्यकता के अनुसार पी सकता है। इस भाँति शरीर में धीरे-धीरे संकोचता व्याप्त होकर आक्षेप आने लगते हैं। स्वर यन्त्र (लेरिङ्क्स्) और गले की मांस पेशियों के सिकुड़ जाने से आतुर का स्वर भिन्न प्रकार का हो जाता है। अधिकतर ज्वर १०२-१०३ डिग्री तक हो जाता है।

पहले दो आक्षेपों में रोगी स्वस्थ रहता है। परन्तु; धीरे-धीरे अथवा किसी-किसी स्थल पर शीघ्र ही अन्य- लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। वह कभी-कभी प्रलाप करता है। किसी-किसी समय प्रलाप उन्मत्तता को धारण कर लेता है। कभी-कभी यह प्रलाप मृदु वा मतिविभ्रम को धारण कर लेता है। किसी-किसी स्थल पर प्रबल कामोन्माद के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके साथ अनेकों को द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है।

यह विराम से युक्त क्रोनिक आक्षेप अति सामान्य कारणों से उपस्थित हो जाता है। यथा—शरीर मे अधिक वायु के स्पर्श होने, मुख के समीप मे पंखा डुलाने, भयंकर शब्द के सुनाई पडने अथवा चक्षु में प्रकाश लगने से उद्दीप्त हो जाता है। गले की नाली मे कफ जमा हो जाता है जिसे रोगी बार-बार निकालने की चेष्टा करता है, प्यास अधिक लगती है, लाला अधिक निकलती है, मुख के मध्य मे लार अटक जाती है और रोगी सदा थू-थू करता रहता है। नाडी की गति तेज हो जाती है और कभी-कभी क्षीण भी हो जाती है। मुख मण्डल और गात्र की सम्पूर्ण कैशिक रक्त प्रणाली रक्तवेग से ग्रस्त हो जाती है। शरीर का सताप अधिक बढने और प्रबल आक्षेप के उपस्थित होने से श्वासावरोध उत्पन्न होकर रोगी बेहोश होकर सदा के लिये प्रस्थान कर देता है।

यथोक्तं वाग्भट्टे—

दशस्तेन विदष्टस्य सुप्त. कृष्ण क्षरत्यसृक्।
हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तभस्तृष्णा मूर्च्छोद्भवोऽनु च॥

असाध्य लक्षण

दष्टो येन तु तच्चेष्टाल्त कुर्वन्विनश्यति।
पश्यस्तमेव चाकस्मादादर्शं सलिलादिषु॥

जलसंत्रास के लक्षण

योऽद्भ्यस्त्रस्येद दष्टोऽपि शब्द सस्पर्श दर्शनै।
जलसत्रास नामान दष्ट तमपि वर्जयेत्॥

वक्तव्य—कुत्ता के काटे बिना ही जब किसी व्यक्ति को जल-संत्रास हो जाय तब उसको अरिष्ट समझें, क्योंकि जल के बिना जब जलसंत्रास होता है तो कफ के संचय से ही होता है। जब बुद्धि-स्थान में श्लेष्मा पहुँचता है तब श्लेष्मा से बुद्धि का अवरोध हो जाता है। जिससे रोगी जागते-सोते अपने को जल मे डूबता हुआ अनुभव करता है और जल से भयभीत हो जाता है।

चिकित्सा—श्लेष्मनाशक संशोधन-संशमन करें तो रोगी स्वस्थ हो जाता है। क्योंकि यह जल संत्रास कुपित कफजन्य होता है। यह रिष्ट नहीं होता है। अतएव शास्त्र में इसकी चिकित्सा लिखी है। परन्तु अगर स्वस्थ पुरुष जागते-सोते जल के विना ही जलसंत्रास से पीड़ित होवें तो दृष्टजन्य जलसंत्रास रिष्ट ही है। ऐसा समझना चाहिये। अतएवाह—

अदृष्टो वा जलत्रासी न कथञ्चन सिध्यति।
प्रछुप्तोऽथोत्थितो वापि स्वस्थस्त्रस्तो न सिध्यति॥

जल संत्रास और धनुस्तम्भ का प्रभेद तालिका

जल संत्रास	धनुस्तम्भ
पेशियों में आक्षेप, और हनु शिथिल हो जाता है। धीरे-धीरे नियमित रूप से जवड़े जकड़ जाते हैं और फिर खुल भी जाते हैं।	पेशियों में लगातार आक्षेप हो जाता है हनु की पेशी और हनु जकड़ जाता है। वलकारक आक्षेप होता है।
वमन, पक्वाशय मे वेदना, मानसिक उन्मत्तता और इन्द्रियों मे उत्तेजना असह्य होती है। मुख में अति उत्तेजना मालूम होती है। अतिवेदना, बेचैनी और कभी-कभी भयानक द्रुताक्षेप उपस्थित हो जाता है। प्यास अधिक लगती है। तरल पदार्थ से विराग उत्पन्न हो जाता है।	वमन, पक्वाशय मे वेदना और मन ठीक रहता है। नासिका ऊपर को खिंच जाता है। ललाट संकोच को प्राप्त हो जाता है। ओठ गालों की अस्थि की तरफ खिंच जाते हैं। तृष्णा अधिक नहीं लगती है। तरल पदार्थ की इच्छा होती है, लार वहुत निकलती है।

अलर्क दष्ट चिकित्सा क्रम

दशं ह्यलर्कदष्टस्य दग्धमुष्णेन सर्पिषा।
प्रदिह्यादगदैस्तैस्तैः पुराणञ्च घृत पिवेत्॥

भावार्थ—जब पागल कुत्ता काट लेवे तो उसी समय दंशित स्थान को चीरकर चारों तरफ से दबा कर विषैला रक्त निकाल देवें। फिर विषनाशक घोलों से अथवा नीमक के क्वाथ से धो देवें। घी गरम करके उससे दंशस्थान को दग्ध कर देवें। अथवा तप्त शलाका से ही दग्ध करें। इसके बाद विषनाशक लेप लगाकर पुराना घी पिलावें।

एलोपैथी में दाहक्रिया—दंशस्थान को कार्बोलिक एसिड् अथवा नत्रकाम्ल (नाइट्रिक एसिड) से दग्ध कर देवें। ऐसा करने से कीटाणु शीघ्र मर जाते हैं जिससे फिर रोग नहीं पैदा होता है। किन्तु सवा घड़ी काल व्यतीत हो जाने पर रोग पैदा होने की संभावना रहती है।

विरेचन-काल

यदि रोगी को विरेचन देने की आवश्यकता हो, तो अर्क दुग्ध से युक्त विरेचन देवें।

ज्वालामरिचोपनाह—लाल मिर्चों को पीस कर दंशस्थान पर तुरन्त ही बांध दें इससे विष नष्ट हो जाता है।

सूचीवेध चिकित्सा

इस चिकित्सा पद्धति के आविष्कार करने का सौभाग्य प्रो० पैष्टियर (Pasteur) महोदय को प्राप्त हुआ था। इन्होंने यह निश्चय किया था कि इस रोग के उत्पादक कीटाणु, सुषुम्ना काण्ड के ऊपर आक्रमण करता है। अत' रोग से आक्रान्त जन्तुका सुषुम्नाकाण्ड से नियमपूर्वक संग्रह करके नियमानुकूल प्रयोग करने पर विष की प्रवलता का ह्रास हो जाता है। इस रोग का एक ऐसा वैक्सीन प्रस्तुत किया जा सकता है जिसके द्वारा किसी जन्तु के देह के मध्य इस रोग का सांघातिक परिमाण मे विष प्रविष्ट होने पर—इस वैक्सीन के प्रयोग से इस जन्तु का रोगप्रकाशक-शक्ति निवारित हो सकता है। पैष्टियर ने विशेष परीक्षा द्वारा यह भी निश्चय किया है कि किसी व्यक्ति

को पागल कुत्ता, शृगाल आदि ने काट लिया है और उसमें सम्पूर्ण लक्षण प्रकाशित नहीं हुये हैं तो उस व्यक्ति में उस एन्टीरेबिक नामक अलर्क विषनाशक वैक्सीन की पिचकारी के प्रयोग से चिकित्सा करने पर रोग की उत्पत्ति नहीं होती है। उस चिकित्सा पद्धति का संसार में इतना प्रचार हुआ कि जगह-जगह पर पैश्चियर इंस्टिच्यूशन (Pasteur Institute) नामक अलर्क विषनाशक चिकित्सालय सस्थापित हो गया। भारतवर्ष में कसौली नामक स्थान में यह संस्था है। यहाँ पर इसी चिकित्सा पद्धति का अवलम्बन किया जाता है।

प्रस्तुत-प्रणाली—अलर्क विष के कीटाणुओं को खरगोश के शरीर में प्रविष्ट करके यह रोग पैदा किया जाता है। बीमार खरगोशों की सुषुम्नाकाण्ड निकाल कर वायु में शुष्क की जाती है। ये जितने दिन तक सूखेंगे उतने ही कीटाणु हीन होते जायेंगे। चौदह दिन तक सुखाने से कीटाणु बिल्कुल मर जाते हैं। इसी भाँति एक से चौदह दिन तक सूखी हुई सुषुम्ना नाडियों का अलग-अलग विलयन निर्माण किया जाता है। इन विलयनों का अन्तःक्षेपण (Injection) ही वस्तुतः अलर्क विष की प्रतिरोधक चिकित्सा हो सकती है। प्रथम दिवस में चौदह दिन की सूखी हुई सुषुम्ना का जो विलयन बनाया जाता है उसका अन्तःक्षेपण करें। फिर दूसरे दिन १३ दिन की सूखी हुई सुषम्नावाले विलयन का अन्तःक्षेपण करें। इसी भाँति क्रमशः घटाते जाना चाहिये। चौदहवें दिवस एक दिन की शुष्क सुषुम्नावाली विलयन का अन्तःक्षेपण करते हैं और इससे पूरा लाभ होता है। जिस समय पागल कुत्ता, शृगाल, आदि पशु काट लेवे उसी समय अन्तःक्षेपण विधि से उसका प्रतिकार करना चाहिये। इससे उत्कृष्ट लाभ होता है।

अन्य चिकित्सा-पद्धति

डा० टिजोनी और सेन्टानी महोदय ने भेड़ के शरीर में अधिक मात्रा से "एन्टीरेबिक् वैक्सीन" का प्रयोग करके रक्तरस (सीरम) प्रस्तुत किया था। उनका सिद्धान्त यह था कि यह सीरम रोगनिवारक

और रोगनाशक है। किन्तु परीक्षा द्वारा इस सीरम की प्रायोगिकता विशेष लाभदायक प्रमाणित नहीं हुई है।

सार्वाङ्गिक औषध-चिकित्सा

अलर्क विष प्रकाशित होने पर किसी औषध से लाभ नहीं होता है। अफीम सत्त्व (मार्फिया), क्लोरेल हाइड्रेट और क्लोरोफार्म का श्वास द्वारा प्रयोग करने पर लक्षण और उपद्रवों की क्षणिक शान्ति होती है। किसी-किसी चिकित्सक का मत है कि अफीम के सत्त्व (मार्फिया) का अल्प मात्रा से प्रयोग करने पर अपकार होता है। क्यूरारी, कैनेविस् इसीडसी, एट्रोपाइन् सैलोल, किनाइन एवं पारद प्रभृति ओषधियों का व्यवहार होता है। किन्तु विशेष लाभ नहीं होता। इसमें उष्ण स्नान, रोगी को अन्धेरे कमरे में रखना, तड़ित प्रयोग प्रभृति विविध उपाय किये जाते हैं। वाष्प स्नान से भी लाभ होता है क्योंकि इससे अधिक स्वेद निकलता है। बरफ का टुकडा चूसने के लिये देवें। पृष्ठवंश के ऊपर तडित प्रयोग करने से यंत्रणा शान्त होती है।

स्नायुक रोग

(Guinea Worm Disease)

परिचय—नहरुआ नामक कीडे के सक्रमण से स्नायुक रोग होता है जिसमें कृमि के वर्तमान होने से फोडा, उपत्वचा शोथ तथा सन्धिपीडा आदि स्थानिक विकार वमन, शीत पित्त, ज्वर इत्यादि सार्वाङ्गिक चिह्न होते हैं। आयुर्वेद मे इसका परिचय इस भाँति कराते हैं—शाखाओं अर्थात् हाथ-पैरों में कुपित हुआ दोष विसर्प के समान शोथ उत्पन्न करता है। फिर शोथ का भेदन करके तथा उष्णतायुक्त मास को सुखा कर उस क्षत में तन्तु के समान सूत्र पैदा कर देते हैं। उस सूत्र के ऊपर तक्र में पिसे हुए सत्तू के पिण्ड के बांधने से वह सूत्र धीरे-धीरे क्षत से वाहर निकल आता हैं। यदि तन्तु टूट जाये तो अधिक कोप होता है। अर्थात भारी शोथ उत्पन्न हो जाता है। परन्तु उसके भलीभाँति वाहर निकल जाने पर शोथ शान्त हो जाता है। यह रोग

एक स्थान के बाद फिर दूसरे स्थान में हुआ करता है। इसका नाम स्नायुक रोग है। यदि यह तन्तु प्रमाद से बाहु अथवा जंघा में टूट जावे तो हाथों में संकोच (लूलापन) और पाँवों मे खञ्जता (लंगड़ापन) उत्पन्न कर देता है।

यथोक्तं योगरत्नाकरे—

शाखासु कुपितो दोष· शोथं कृत्वा विसर्पवत्, ।
भिनत्ति तत्क्षते तत्र सोष्मा स्नायुं विशोष्य च ॥
कुर्यात्तन्तुनिभ जीव वृत्त श्वेतद्युतिवहिः ।
स स्नायुकेति विख्यातः ॥

जीवाणु कारणता

इस रोग का कारण स्नायुक (Guinea worm) नामक कृमि है। स्त्री-कृमि ३० से १२० सेन्टीमीटर तक लम्बी होती है। पुरुष-कृमि इससे छोटा होता है। यह कृमि गोल तन्तु सदृश श्वेत वर्ण और मृदु होता है। पूंछ नोकदार कुछ मुड़ी होती है। सिर मोटा और गोल होत है। अन्न प्रणाली बहुत छोटी होती है। स्त्री का शरीर गर्भप्रणाली से भरा रहता है जिसमे असंख्य अण्डे होते हैं। ये चपटे ५००—७५० म्यू० लम्बे और १५—२५ म्यू० चौड़ होते हैं। इनका सिर गोल, पूँछ नोकदार और शरीर रेखायुक्त होता है। ये अत्यन्त चंचल होते हैं। पानी में ठहर-ठहर कर तैरते हुए दिखाई देते हैं। पानी के साथ सम्बन्ध होने पर स्त्री-कृमि उसमें अण्डों का उत्सर्ग करती है। कृमि की वृद्धि के लिये पानी की आवश्यकता होने के कारण शरीर मे प्रवेश करने के बाद कृमि ऐसे स्थान पर निकलता है जहाँ पर पानी के साथ सम्बन्ध होने की अधिक सम्भावना होती है।

प्रसरण

पानी के साथ सम्बन्ध होने पर अण्डे उसमें चल देते हैं जो जलपिस्सू (Water flea) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। एक-एक जलपिस्सू के शरीर में १५-२० अण्डे मिलते हैं। उनके

शरीर मे इन अण्डों में परिवर्तन होता है, जिसके लिए ४-६ सप्ताह लगता है। इस अवस्था मे इसकी लम्बाई १ मिलीमीटर होती है। जिस पानी में ये पिस्सू होते हैं उस पानी के सेवन से अण्डों के साथ वे मनुष्य के आमाशय मे चले जाते हैं। वहाँ आमाशय के रस से पिस्सू का नाश होकर क्रमियों के बच्चे स्वतन्त्र होकर आमाशय की दीवाल में से उदर्यांकला के पीछे (Retro Peritoneal Tissue) पहुच कर वहां पर बढ़ते हैं। उसके बाद पुरुष-क्रमि स्त्री-क्रमि को गर्भित करके स्वय मर जाता है और स्त्री-क्रमि जिस अङ्ग के पानी के साथ अधिक सम्बन्ध होने की सम्भावना होती है उस अङ्ग की ओर चल देती है। साधारणतया शरीर में प्रवेश होने के बाद त्वचा मे क्रमि निकलने के लिये करीब एक वर्ष का समय लगता है। जब क्रमियुक्त अङ्ग पानी में जाता है तब उसके अण्डे उसमें गिरते हैं और इस तरह क्रमि का जीवन मनुष्य और जल-पिस्सू मे विभक्त हो जाता है। रोग का प्रसार दूषित जल पीने से होता है। जहाँ पर बावली और तालाब का पानी पीने के उपयोग में आता है वहाँ पर स्नायुक रोग से पीडित मनुष्यों का जल मे प्रवेश होने से वह जल दूषित हो जाता है।

रोग का स्थान

यह रोग भारत के पश्चिमी भाग, सीमाप्रान्त, पञ्जाब, राजपूताना मे अधिक होता है। यह मध्यभारत, बम्बई, मद्रास और मैसूर मे भी होता है। इसके अतिरिक्त अफ्रीका, एशिया माइनर एवं अरेबिया मे होता है।

सम्प्राप्ति

इस क्रमि से शरीर मे जो अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं उनके चार मुख्य कारण है। (१) क्रमिजन्य विष, (२) अण्डों का उत्सर्ग (३) पूयजनक जीवाणुओं का संक्रमण और (४) क्रमि की उपस्थिति। जब क्रमि त्वचा पर आने में समर्थ नहीं होता, तब अधिकतर मार्ग में ही कहीं पर मर जाता है। मृत क्रमि के चारों तरफ तान्तवधातु और खटिकाभरण हो जाता है।

जिस स्थान पर और जिस धातु में मृत कृमि का अवस्थान होगा। उसके अनुसार ही उसमें भिन्न-भिन्न लक्षण होंगे। यथा—नाड़ी में अवस्थान होने से नाड़ी शूल और सूजन और पेशी में स्थित होने से पेशी मे शूल और सूजन होती है। सन्धि में स्थित होने से सन्धि-पीड़ा और सन्धि-सूजन होती है। कृमि निकलने के समय जब कभी उसको अधिक जोर से खींचते हैं तो वह आधा टूट जाता है ऐसे समय उसके व्रण मे स्ट्रेप्टोकोकाय, स्टेफिलोकोकाय, वैसील कोलाई प्रभृति पूयजनक जीवाणुओं का संक्रमण हो जाता है और साथ ही अनेक उपद्रव भी होते हैं।

यथोक्तम् भावप्रकाशे—

वाह्योर्यदि प्रमादेन त्रुव्यते जवयोरपि।
सकोच खञ्जताञ्चापि छिन्नो नूनं करोत्यसौ॥

स्थानिक विकार

इस कृमि से अधिकतर स्थानिक विकार उत्पन्न होते हैं। जहाँ पर कृमि ठहरता है वहाँ उसके चारों ओर स्नायुतन्तुओं का कोश निर्मित हो जाता है और उसके मरने पर उसमे खटिकाभरण होता है। सन्धियों की विकृति होने से उनकी अस्थियाँ आपस मे मिलकर कार्य रहित हो जाती हैं और रक्त मे इओसिनोफाइल की संख्या वढ़ जाती है।

लक्षण

व्याधि का सचयकाल एक वर्ष के करीव होता है। इस अवधि में कोई लक्षण नहीं होते। जव कृमि कहीं पर त्वचा में से निकलने को आता है तव उत्क्लेश, वमन, प्रवाहिका, श्वासकृच्छ्र, शीतपित्त, भ्रमज्वर आदि सार्वाङ्गिक लक्षण उपस्थित हो जाते हैं फिर कुछ घण्टे के वाद ही कृमि निकलने लगता है।

कृमि निकलने के वाद उस स्थान पर कण्डू, जलन और पीड़ा होकर आन्त्र मे जलवटी और व्रण वन जाता है। इस व्रण से गाढा जलयुक्त श्वेतस्राव निकलता है जिसमें कृमि के अण्डे होते हैं। सामान्य रूप से सव अण्डों का उत्सर्ग होने के लिये

२१ दिन की अवधि आवश्यक होती है। पैरों का पानी से अधिक सम्बन्ध होने से ८०-९० प्रतिशत रोगियों मे कृमि पैरों के गुल्फ के पास से निकलता है। परन्तु कभी-कभी हाथ, पृष्ठवंश, नितम्ब तथा वृषण इन अङ्गों की त्वचा से भी निकलता है। भिश्तियों का पृष्ठवंश सदा पानी से तर रहने से कई वार उनके पीठ पर कृमि निकलता है। जिस अंग में कृमि होता है उसमें अधिकतर शोथ और वेदना होती है जिसके कारण रोगी चल नहीं सकता है। प्राय. एकाध कृमि ही निकलता है परन्तु कभी-कभी अनेक कृमि भिन्न-भिन्न स्थानों पर निकलते है। ऐसे समय रोगी की स्थिति वहुत कष्टदायक होती है।

यथोक्तं योगरत्नाकरे—

शनैः शनैः क्षयाद् याति छेदात्कोपमुपैति च।
तत्पाताच्छोफ शान्ति.स्यात्पुनःस्थानान्तरं व्रजेत् ॥

दोष-भेद से लक्षण

वात से अधिक वेदनायुक्त, श्याव और रूक्षतायुक्त तन्तु होता है। पित्त से अतिदाह और नीलिमा लिये हुए पीला तन्तु होता है। इसमें जलन अधिक होती है।

उपद्रव

कृमि के टूट जाने पर पूयोत्पादक जीवाणुओं के संक्रमण से विद्रधि, उपत्वचाशोथ तथा जीवाणुमयता आदि उपद्रव हो जाते हैं।

रोग-निर्णय

स्नायुक रोग-पीड़ित प्रदेश मे विशेपकर ग्रामों में अथवा प्रवास करने से पूर्ववृत्तान्त पैर के टकने के पास छाला पड जाना और उसके फूटने के वाद उससे श्वेतस्राव उत्पन्न होना ये सव सौत्रिक लक्षण होते हैं। कृमि जव त्वचा के पास होता है तव सूक्ष्म-रीति से देखने पर दिखाई देता है। उस जगह एथिल क्लोराइड का फुवारा करने पर कृमि आदि स्पष्ट त्वचा के नीचे एक सफेद लकीर के रूप में दिखाई देते हैं। जव कृमि त्वचा

के पास आने में असमर्थ होने अथवा अन्य कारणों से धातुओं के भीतर ही मर जाता है, तब खटिकावृत होने से एक्सकिरण (एक्सरे) से उसका निदान हो सकता है।

भावी फल

यह रोग स्वयं घातक नहीं है। किन्तु वेदनाजनक और विह्वलताकारक होता है। कृमि के सब अण्डे जिसके उत्सर्गित होने के लिये सामान्य रूप से २१ दिन की आवश्यकता होती है स्वयं बिना तकलीफ के निकल आते हैं। जब जल्दी निकालने से टूट जाता है तब पूयजनक जीवाणुओं के संक्रमण होने पर विद्रधि और उपत्वचा में शोथ आदि उपद्रव पैदा होकर उनमें जीवाणुमयता होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है। जब कृमि अपने स्थान पर स्थित रहता है, तब अङ्गों में विह्वलता होती है।

उपक्रम

जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उनको परित्याग कर देवें। स्नायुक रोग दूषित जल से होता है। अतः जल को सदा उबाल कर पीना चाहिये। कृमिवाहक जल-पिस्सू मोटा और दृष्टिपथगम्य होता है। अतः यदि जल को उबाला न जावे, तो महीन कपड़े से छानने पर दूषित जल दोषरहित हो जाता है। अतः पानी सदा छान कर पीवें।

यथोक्तं कुल्लुकभट्टेन—

दृष्टि पूत न्यसेत् पाद वस्त्र पूत पिबेत् जलम्।
सत्य पूत वदेत् वाच मनः पूत समाचरेत्॥
जलेषु क्षुद्रजन्त्वादि वारणार्थं वस्त्रशोधित जल पिबेत्।
घनवस्त्रपरि स्रावे क्षुद्रजन्त्वभि रक्षणम्॥

दूषित जल का परित्याग

जहाँ पर रोग फैला हो साथ ही जल दूषित हो गया हो, वहाँ जिन तालाबों में रोगग्रस्त व्यक्ति पानी भरने के लिये जा सकता है, उनका पानी पीना छोड़ दें और गहरा या नालीदार कुआँ (ट्यूबवेल) बनाकर उसका जल पीवें।

आयुर्वेदीय चिकित्सा

इसकी चिकित्सा विसर्प के तुल्य करें। देशादि का विचार करके स्नेह, स्वेद, प्रलेप आदि का प्रयोग करें। रक्त-शोधक और मृदु विरेचक ओषधि से शरीर को शुद्ध करें। फिर जलौका-प्रयोग करें तो अच्छा है।

एरण्ड के मूल का रस २ तोला, गोखरू २ तोला में मिलाकर पीवें। इससे स्नायुक रोग अच्छा हो जाता है।

स्नायुक रोग

मेढक को काँजी में पकाकर उसका श्वेद या बफारा देने से स्नायुक-जन्य पीड़ा शान्त हो जाती है। मेढक को काँजी मे पकाकर बाँधने से भी लाभ होता है।

वब्बूलादि प्रयोग

बबूल के बीज पीसकर लेप करने से नहरुआ नष्ट होता है।

निर्गुन्डीरस-प्रयोग

पहले तीन दिन गोघृत मिलाकर फिर तीन दिन निर्गुण्डी का रस पिलावें, इससे स्नायुक पीड़ा शान्त हो जाती है।

अतिविषादि योग

अतीस, नागर मोथा, भार्ङ्गी, सोंठ, पीपल और बहेड़ा इनका चूर्ण गरम पानी से देने पर नहरुआ नष्ट होता है।

अश्वदंष्ट्रा-प्रयोग

घोड़े का दाँत घिसकर पानी में लगाने से स्नायुक पीड़ा शान्त होती है। हिंस्रा की मूल पानी में पीस कर लगाने से नहरुआ निकल जाता है। बालछड़ पीस कर पत्थर पर पानी के साथ लगाने से स्नायुक कृमि निकल जाता है।

गण्डूपद-प्रयोग

केंचुवे को सुखाकर उसका चूर्ण बना करके उसको खिलावें, तो उससे स्नायुक रोग नष्ट होता है।

कोकिल व्याधि
(Anthracis)

निर्वचन—यह वेसिलस एन् थ्राक्स (B Anthracis) जन्य संक्रामक रोग गौ, बैल, भेड़, बकरी, गिनिपिग, मूषक आदि तृणभोगी पशुओं पर अधिक आक्रमण करता है, इनके मध्य में अनेक स्थल पर यह रोग व्यापक रूप से प्रकाशित होता है और पशुओं से सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्यों पर भी कभी-कभी आक्रमण करता है। अतः एनथ्राक्स नामक जीवाणुजन्य दारुण सांघातिक और जनपद व्यापक व्याधि का भी एनथ्राक्स ही नाम प्रचलित हो गया है।

प्राचीन नाम—इस व्याधि को "स्प्लीनिक फीवर ओल्सर्टसडिजीज" वा चार्वण कहते हैं। भारतवर्ष में लुधियाना प्लेग आदि नाम से पुकारते हैं।

जीवाणुओं का चरित्र

इस जीवाणु का निवास एनथ्राक्स पीड़ित प्राणियों की प्लीहा, रक्त, नासास्राव तथा मनुष्यों के रक्त, फुफ्फुस, थूक, व्रणस्राव आदि में यह वेसिलाय रहता है। इसके सिवाय पृथ्वी में तृण आदि में स्पोर्ट के रूप में भी रहता है। विकारी जीवाणुओं में यह सबसे बड़ा है। इसकी लम्बाई ५-१० कभी २० म्यू० तक होती है और चौड़ाई १-१'५ म्यू तक होती है। यह चतुष्कोण, दण्डाकार सीधा वेसिलस है जो माला के रूप में सदा इकट्ठा रहता है।

प्राणियों की धातुओं में ४-५ जीवाणुओं की माला होती है और रक्त में ५-१० और वर्धनकों में सैकड़ों की माला होती है। लम्बी माला में इनके दोनों सिरे कुछ निम्नमध्य होने से इनके बीच कुछ लम्बोत्तर भाग खाली दिखलाई देता है। माला के रूप में यह बाँस के समान दिखलाई देता है और प्रत्येक वैसिलस पोर के तुल्य प्रतीत होता है। इसका एक-एक संघ कईबार केवल एक ही लम्बी माला का बनता है। जब ये एक-एक या दो-दो मिलते हैं जैसे कि रक्त अथवा दैहिक धातुओं में तब इनके सिरे कुछ मध्य में उन्नत होते हैं। सिरे चाहे जैसे हों इसकी चतुष्कोणता में कोई अन्तर नहीं होता है।

कोष की प्राप्ति

(Capsule)

किसी-किसी समय प्राणियों के शरीर में जो जीवाणु मिलते हैं उनके शरीर पर कोष दृष्टिगोचर होता है। जिस समय अनेक वैसिलस माला के रूप में होते हैं उस समय सबके लिये केवल एक कोष होता है।

स्पोर

(Spore)

यह स्पोरजन्य जीवाणु है, परन्तु प्राणियों के शरीर मे स्पोर नहीं पैदा होता है। शरीर के वाहर आते ही स्पोर की उत्पत्ति होती है। इसका हेतु यह है कि स्पोर की उत्पत्ति के लिये जितनी प्राणप्रद (आक्सीजन) वायु की आवश्यकता होती है उतनी प्राणियों के शरीर में नहीं मिलती है। परन्तु कृत्रिमवर्धन द्रव्य में प्राणप्रद वायु प्रचुर होने से इनकी पूर्ण वृद्धि होने के पश्चात् स्पोर की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है।

स्पोर की उत्पत्ति के लिये पोषक तापक्रम ३०° सें० है। १८° सें० से कम और ४२° सें० से अधिक उष्णता पर स्पोर की उत्पत्ति वन्द हो जाती है। प्रत्येक जीवाणु में केवल एक स्पोर वनता है जो उसके शरीर के मध्य में होता है। उसका आकार दीर्घवृत्त (१×१५ म्यू०) है। इसकी पूर्ण वृद्धि होने के पश्चात् जीवाणु शरीर मे गल जाता है। इसके स्पोर की विशेषता यह है कि उसकी मोटाई जीवाणु-शरीर से अधिक नहीं होती है।

जीवन और वृद्धि—यह वातपी (Aerobes) और संभाव्य (Facultative) वातपी है। परन्तु अधिक वृद्धि और आकृति मे विशिष्टता होने के लिये आक्सीजन की आवश्यकता होती है। पोषक तापक्रम ३७°५° स० है। परन्तु १५-४५° सें० के मध्य में इसकी वृद्धि हो सकती है। साधारण वर्धनकों मे इसकी वहुत वृद्धि होती है। यह तन्तु पिच्छ रहित और निश्चल है।

संक्रमण

रोगग्रस्त प्राणी के नासिका, मुख, मूत्राशय और क्षत से विकृत क्लेद निकलता है। उसके रक्त मे लग जाने पर यह रोग उत्पन्न होता है। मनुष्यों में त्वचा के क्षत के द्वारा यह जीवाणु अन्दर प्रविष्ट होता है और प्रवेश-स्थान मे एक दिन के मध्य में दुष्ट विस्फोट पैदा करके तृणाणु दोषमयता से ५-६ दिन की अवधि मे मृत्यु हो जाती है। इस रोग का नाम दुष्ट स्फोटक (मैलिगनेन्ट पश्च्यूला) है। यह रोग प्रायः चमार, कसाई, मेपपालक और पशु चिकित्सकों को होता है। सभ्य मनुष्यों में हजामत तथा दाँतों के ब्रश से भी कभी-कभी यह व्याधि पैदा हो जाती है।

श्वास मार्ग—इसके स्पोर (अंकुर) जो पशुओं के ऊन मे लगे रहते हैं; श्वास द्वारा फुफ्फुस मे प्रविष्ट हो जाते हैं और दो-एक दिन के मध्य में अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं। जो लोग ऊन के कारखानों में काम करते हैं उनको यह रोग हो जाता है। उसको ऊर्णव्यापारजन्य व्याधि कहते हैं। मक्खी, कीड़े, पतंगे आदि से भी इसका संक्रमण होता है। रोगग्रस्त प्राणी के वाल, लोम और अधोलोम के संस्पर्श करने से भी यह रोग हो जाता है।

अन्न मार्ग—एनथ्राक्स ग्रस्त पशुओं के मांस अथवा क्षीर के साथ स्पोर अन्त्र में पहुँचते हैं। मनुष्यों में यह रोग अन्नमार्ग से कम होता है। किन्तु पशुओं मे अधिक होता है। इस रोग के जीवाणु-टीका (इनओक्यूलेशन Inoculation) द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाने पर प्रवेश-स्थान में वह शीघ्र ही वंश वृद्धि कर लेता है और सम्पूर्ण जीवाणु उसी भाँति उसके समीप के स्थान में आवद्ध रहते हैं। बाद को साधारण रीति से अधिक से अधिक चार दिन के बाद संपूर्ण जीवाणु रक्त प्रवाह के मध्य में आ जाते हैं। इस समय परीक्षा करने से देखा जाता है कि शरीर के रक्त में असंख्य परिमाण में ये जीवाणु विद्यमान हैं। इस रोग से आक्रान्त होने पर यदि यह रोग सांघातिक नहीं हो तो शुभ परिणाम होता है। इस रोग का पुनराक्रमण निवारित है।

मुख के अन्दर का भाग ग्रसनिका (फेरिङ्क्स) आदि स्थान फूल जाते हैं। रक्त विषाक्त होकर सार्वाङ्गिक लक्षण उत्पन्न करता है। इस रोग से जिसकी मृत्यु होती है उसकी प्लीहा बढ़ जाती और मृदु हो जाती है। कभी-कभी प्लीहा फट भी जाती है। अन्यान्य यन्त्रों में रक्तस्राव दिखलाई पड़ता है। ये जीवाणु रक्त में वर्तमान रहते हैं।

प्रकारभेद

(१) बाह्य अथवा स्थानिक—इसमें शरीर पर सांघातिक स्फोट (कार्वंक्यूलर) की स्फीति और उससे उत्पन्न हुए दैहिक लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

(२) आभ्यन्तरिक अथवा सार्वाङ्गिक—इसमें शरीर के आभ्यन्तरिक अंग आक्रान्त हो जाते हैं। शरीर मे पूय पिडिका प्रकाशित नहीं होती है।

स्थानिक एन्थ्राक्स अथवा सांघातिक स्फोट

Malignant Pustula

इसमें प्रायः मुखमण्डल, ग्रीवा, अग्रभुजा प्रभृति स्थानों पर सांघातिक स्फोट हो जाता है। इसकी जड रक्तवर्ण और कठिन होती है। सक्रमण प्राप्ति के बाद इसकी गुप्तावस्था साधारणतः कई दिन और अधिकतर १० दिन अथवा कभी-कभी कुछ घण्टे ही स्थायी रहती है। रोग-स्थान में दाह वा सूचीवेधनवत् पीड़ा मालूम होती है और शीघ्र ही घनवटी होकर जल पिडिका मे परिणत हो जाती है। फिर यह विस्तृत होकर बडे आकार को धारण कर लेती है।

जलवटी विदीर्ण होकर सूख जाती है और काले वर्ण के छाले पड जाते हैं। इसके चारों तरफ कभी-कभी छोटी-छोटी जलवटी उत्पन्न हो जाती है। इस समय वटी का तलभाग दृढ़, लाल वा बैंजनीवर्ण के मण्डल से युक्त होता है। बाद को समीप का स्थान लाल और शोथयुक्त हो जाता है। शोथ यहाँ तक फैल जाता है कि एक तरफ की सम्पूर्ण भुजा वा एक तरफ की ग्रीवा सूज जाती है।

कभी-कभी लसीका सम्बन्धी (लिम्फैटिक) प्रणाली प्रदाहयुक्त हो जाती है और साथ ही उनकी ग्रन्थि भी फूल जाती है। प्रथमावस्था में स्वास्थ्य में कोई परिवर्त्तन नहीं होता है। किसी-किसी को सामान्य दुःख मालूम होना है। किन्तु अधिकतर अड़तालिस घण्टे के बाद अधिक मात्रा में ज्वर, प्रलाप, दौर्बल्य, अतिसार, अतिस्वेद और हाथ-पैरों में अत्यन्त वेदना उपस्थित हो जाती है। बाद को पाँच से आठ दिन के मध्य पतनावस्था (कोलैप्स) उपस्थित होने के बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है।

आभ्यन्तरिक एन्थ्रक्स

इसको तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे—सार्वाङ्गिक, फुस्फुसीय और अन्त्र सम्बन्धी। इस रोग के आक्रमण काल में अत्यन्त दुर्बलता, मानसिक अवसन्नता, हाथ-पैरों में शीतलता, श्वासकृच्छ्रता तथा शीघ्र ही पतनावस्था (कौलेप्स) उपस्थित हो जाती है। शरीर का ताप बढ़कर १०५ डिग्री हो जाता है। साधारणतः अल्प मात्रा में ज्वर होता है। फुस्फुस के आक्रान्त होने पर श्वासनलीय प्रदाह (ब्रॉङ्काइटिस्) वा श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया) के लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं और अत्यन्त क्षीणता तथा गात्र मे नीलिमा उपस्थित हो जाती है। आन्त्रिक प्रकार के रोग में वमन, निगलने मे कष्ट, पेट में शूल एवं अतिसार प्रभृति लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

प्रायः सब प्रकार के एनथ्रक्स रोग मे बारह घण्टे के मध्य में तथा कभी-कभी दो-तीन दिन में ही रोगी की मृत्यु हो जाती है।

रोगनिर्णय

रोगी की रक्तपरीक्षा करने पर, अथवा रोगी का रक्त लेकर गिनपिग नामक पक्षी को टीका लगाने पर रोग के निर्णय में कोई भ्रम नहीं रहता है। कार्बङ्कल (स्फोटक) से इसका प्रभेद यही है कि कार्बङ्कल शरीर के वस्त्रावृत्त अंग (जैसे पीठ, स्कन्ध) में प्रकाशित होता है और एन्थ्रक्स अनावृत स्थान में उत्पन्न होता है। कार्बङ्कल रोग मे, रोग

स्थान मे झंझरा के तुल्य-अनेक छिद्र हो जाते हैं और सब छिद्र पूयपूर्ण हो जाते हैं तथा मध्यवर्ती स्थान ध्वस (निक्रोसिस्) ग्रस्त हो जाता है। एन्थ्रक्स मे पहले मध्य स्थल में काले रंग का छाला पड़ जाता है। संस्पर्शन द्वारा परीक्षा करने पर भिन्न-भिन्न दशा देखी जाती है।

प्रतिकार

यह जीवाणु औद्भिदावस्था में अन्य अस्पोरजन्य (Nonsporing) तृणाणुओं की अपेक्षा अल्प प्रतीकारक होता है। यह ५५ डिग्री सें० तापक्रम मे १० मिनट मे और १ प्र० श० कार्वोलिक घोल में ५ मिनट मे और शुष्कीकरण के कुछ मिनटों में ही मर जाता है।

परन्तु इसके स्पोर अत्यन्त प्रतिरोधक होते हैं और इनकी प्रतिकारक शक्ति आयुर्वृद्धि के साथ-साथ बढती जाती है। शुष्कावस्था मे और सूखी भूमि मे ये कई वर्ष तक जीवनक्षम रह सकते हैं और तीन घण्टे तक १४० डिग्री सें० की शुष्क उष्णता को सहन कर सकते हैं। १० मिनट तक १०० डिग्री सें० जलवाष्प को तथा १०० डिग्री सें० उबलते हुये जल को सहन कर सकते हैं। ५ प्र० श० कार्वोलिक घोल को ६ सप्ताह तक और १ : २००० रसकपूर के घोल को ५० मिनट तक सहन कर सकते है। फार्मलिन इनके लिये बहुत घातक है। अतः इसका उपयोग जीवाणु दूषित ऊन और चर्म विशोधनार्थ किया जाता है। प्रत्यक्ष सूर्य प्रकाश मे स्पोर बारह घण्टे में नष्ट हो जाता है।

शस्त्र चिकित्सा

रोग का निदान हो जाने पर सांघातिक स्फोट को काटकर निकाल दे। अथवा अग्नि से जला देवे, या आक्रान्त स्थान को लम्बा करके छेदन कर देवे। फिर उस पर कार्वोलिक एसिड् अथवा उग्र नाइट्रिक एसिड् प्रयोग करने से अच्छा फल होता है।

सार्वाङ्गिक चिकित्सा

निम्बादि चूर्ण (भावप्रकाशोक्त) ३-३ माशे की मात्रा में दिन भर मे तीन बार लेवे। भोजन के बाद—परिस्रुत द्राक्षासव १-१ तोला की मात्रा में देवें।

एलोपैथी में—सार्वाङ्गिक चिकित्सा के लिये, अमोनिया, ईथर और सुरा के साथ क्विनाइन का प्रयोग करना चाहिए।

गृह शोधन

निम्बपत्र, गन्धक और लोबान का धूम देवें तथा यूक्लिप्टस आइल अथवा कार्वोलिक एसिड् के स्प्रे से गृहवायु को शुद्ध रक्खें।

वैक्सीन का प्रयोग

वैक्सीन का उपयोग पशुओं में रोग निवृत्ति के लिये किया जाता है। टीका लगाने से एक वर्ष तक यह रोग नहीं होता है।

इन्जेक्शन का प्रयोग

स्कलावो (Sclavo) की लसीका का व्यवहार इस व्याधि के उपक्रम मे किया जाता है। २०-३० सी० सी० का अन्तः क्षेपण त्वचा के नीचे अथवा पेशी में उपयुक्त होता है। रोग के लक्षणों मे अन्तर न प्रतीत होने पर दूसरे दिन फिर लसीका का प्रयोग किया जाता है। तीव्र रोग में लसीका अधिक मात्रा मे शिराद्वारा प्रयुक्त की जाती है।

कनार रोग (ग्लैन्डर्स)
(Glanders)

निर्वचन—यह कनार नामक रोग (ग्लैन्डर्स) घोड़ा, खच्चर और गधा आदि पर आक्रमण करता है। इनके शरीर में इसके जीवाणुओं का प्रवेश दूषित जल और घास के द्वारा, अथवा त्वचा और श्लेष्म त्वचा के क्षतों के द्वारा होता है। इसमें श्वसनमार्ग के ऊपरी भाग में ग्रन्थियाँ बनकर उनके फूटने पर जीवाणुस्राव निकलता है। मनुष्यों में भी इस रोग का संक्रमण—सईस, अश्वपालक, कुम्हार, धोबी आदि पर विशेष होता है। अधिकतर संक्रमण त्वचा के व्रणों में जानवरों द्वारा जीवाणुयुक्त स्राव प्रविष्ट होने से होता है। अतः इस स्पर्शाक्रामक प्रदाह युक्त व्याधि को ग्लैंन्डर्स (ग्रन्थिक) कहते हैं।

कारण

इस रोग का प्रधान कारण वैसीलस मालाई (Bacillus Mallei) है। यह जीवाणु सरल अथवा किञ्चित् वक्र होता है। यह २-५

म्यू० तक लम्बा और ४ म्यू० तक चौडा होता है। इससे छोटे और लम्बे जीवाणु भी मिलते हैं। यह अधिकतर अकेला या दुकेला ही रहता है। यह निश्चल स्पोर रहित है। यह साधारण रंगों से रञ्जित हो जाता है और ग्राम त्यागी है। पूय या धातुओं मे रहने वाले जीवाणु रंजित करने पर बैसीलस रोहिणी के समान दिखलाई पडते हैं। यह वातपी और सम्भाव्य वातपी है। पोषक तापक्रम ३०° सं० है। यह सामान्यवर्धनों से बढता है। परन्तु उसमे अल्प मात्रा (५ प्र० श०) मे ग्लिसरीन मिलाने से अधिक बढता है। यह बहुत प्रतिकारक जीवाणु नहीं है। सूर्य प्रकाश मे एक दिन मे ६० म० तापक्रम पर १० मिनट में ही मर जाता है। परन्तु यह पानी में १-२ महीनों तक जीवित रहता है। अतः इस रोग का सक्रमण जल से हो सकता है। इससे केवल अन्तर्विष बनता है जिसको मालीन (Mallein) कहते हैं।

लक्षण

कनार (ग्लैण्डर्स) रोग के प्रारम्भ में सामान्य रीति से ज्वर प्रकाशित होता है। रोग का प्रारम्भ प्राय हाथ मे गांठ की उत्पत्ति से होता है। सन्धियों मे शोथ हो जाता है और त्वचा, पेशी, यकृत्, प्लीहा, फुफ्फुस आदि अङ्गों मे विद्रधियाँ उत्पन्न होकर पूयमयता के लक्षण दिखलाई देते हैं। विसर्प के तुल्य मुखमण्डल पर अक्षिवर्त्म रक्तवर्ण के हो जाते हैं और कभी-कभी बाह्य शरीर के अन्यान्य स्थानों पर रसपूर्ण छोटी-छोटी पिडिकायें निकल आती हैं। नासिका से दुर्गन्धयुक्त क्लेद निकलता है। मृत्यु के निकटवर्ती होने पर सम्पूर्ण लक्षण तीव्र हो जाते और अन्त्रिक ज्वर के तुल्य लक्षण पैदा हो जाते हैं।

फार्सी रोग

Farcy

निर्वचन—अश्वादि पशुओं के शरीर से उद्भूत, सक्रमणशील और स्पर्शाक्रमणशील विशेष जीवाणुजन्य विष से उत्पन्न हुई प्रादाहिक विकार को 'फार्सी' कहते हैं।

यह कनार रोग के तुल्य नहीं है। परन्तु श्वसनक मार्ग के बदले यह त्वचा और शोषक विधान अथवा लसीका-ग्रन्थियों पर आक्रमण करता है। इसका संक्रमण—इस रोग के जीवाणु का विष क्षत से शरीर में प्रविष्ट होने से होता है। इसमे भी ज्वर प्रकाशित होता है किन्तु नासिका से क्लेद नहीं निकलता है। नीचे के त्वचा मे पिडिकाएँ दिखलाई पड़ती हैं। ये पिडिकाएँ प्रदाहयुक्त होती हैं और पूय पड़ जाने पर फट जाती हैं। विकृत क्षत प्रकाशित होता है, लसीका ग्रन्थियाँ फूल जाती और पूय से भर जाती हैं। रोगी यन्त्रणा से वहुत दुर्बल हो जाता है। अधिक क्षीणता होने से मृत्यु भी हो जाती है।

निर्णायक प्रभेद

ग्लैण्डर्स और फार्सी रोग दो प्रकार का होता है। एक तरुण और दूसरा पुरातन। मृत्यु के वाद आभ्यन्तरिक यन्त्रों मे प्रबल पूयजन्य ज्वर के लक्षण देखे जाते हैं। उपदशीय प्रतिश्याय (कोराइजा) अथवा कण्ठमाला (स्क्रोफ्यूला) रोग से इसका प्रभेद कर लेना चाहिये।

चिकित्सा

सवसे पहले रोगी के शरीर का वमन विरेचन से संशोधन करना चाहिये। इसके वाद गन्धक को सात वार घृत में शुद्ध करके २ रत्ती की मात्रा से सेवन करना चाहिये। गन्धक के जल से रोगी को स्नान करावें। अथवा महागन्धक योग (रसेन्द्रसारोक्त) १ रत्ती शहद के साथ दिन में दो वार देवें। इससे बहुत लाभ होता है। अथवा मल्लसिन्दूर १ रत्ती, गिलोयसत्त्व १ माशा, सितोपलादि चूर्ण २ माशा मधु के साथ सायं-प्रातः सेवन कर। इससे वहुत लाभ होता है।

एलोपैथी में—आइयोडाइड् ऑफ पोटाशियम् का प्रयोग करते हैं। सल्फोकार्वलेट्, आइयोडीन, आर्सेनिक प्रभृति का आभ्यन्तरिक प्रयोग करते हैं।

सूँघने के लिए—क्रियोजोट, यूक्लिप्टस आइल और मेन्थल आदि दें। इससे नासिका के सूजन में विशेष लाभ होता है।

सीरम और वैक्सीन का प्रयोग

कनार रोग की चिकित्सा के लिये सीरम (रक्तरस) और वैक्सीन (लसीका रस) का प्रयोग करते हैं। किन्तु आशानुकूल सफलता नहीं मिलती है।

वाह्य प्रयोग

परमेङ्गनेट ऑफ पोटासियम्, कार्वोलिक एसिड्, आइयोडीन, आइजेल, हाइड्रोजन परआक्साइड् (रस कपूर) प्रभृति के द्रव से नासिका के आभ्यन्तर और क्षत को धोना चाहिये।

विसर्प

(Erysipelas)

विविध सर्पयति यतो विसर्पस्तेन सस्मृत.
परिसर्पोऽथवानाम्ना सर्वत परिसर्पणात् ॥

निरुक्ति—त्वचा और त्वचा में रहने वाली लसीकावाहिनियों को विशेष शोथ युक्त और तरुण संक्रामक ज्वर युक्त पीडा को विसर्प कहते हैं। यह विविध प्रकार से फैलता है, अतः इसको विसर्प कहते हैं अथवा चारों तरफ फैलने के कारण परिसर्प भी कहते हैं।

निदान

इस रोग का प्रधान कारण पंक्तिवद्ध विन्दुकाकृतीवाला ष्ट्रैप्टोकॉकस इरीसिपलिस् (Streptococcus Erysipelas) नामक कीटाणु है। यह कीटाणु गृह में रक्खी हुई चीजों में वहुत दिन तक लपटे रहते हैं। इनमें जीवन शक्ति अधिक होती है, यह सक्रामक और स्पर्शाक्रामक होता है। यह रोग व्यापक रूप से फाल्गुन, चैत्र आदि मासों में तथा ग्रीष्म प्रधान देशों में फैलता है। दुर्वल, वृक्क रोगी, प्रसूता स्त्री, मद्य पीने वालों को यह रोग अधिक होता है। इसका विसर्पाणु व्रण के द्वारा देह के अन्दर प्रविष्ट होकर रोग पैदा करता है। दूषित जल, वायु, दूषित स्थान प्रभृति स्वास्थ्य विघातक हेतु इसके सहायक कारण होते हैं।

सम्प्राप्ति

विसर्पाणु व्रण के द्वारा त्वचा में जाकर-भयंकर शोथ पैदा कर देता है और त्वचा मे जो लसीका वाहिनियाँ (Lymphatic Vessels) रहती हैं उनमें उत्कट सूजन हो जाती है। इससे यह रोग शरीर में अति शीघ्र ही फैल जाता है और इसका विप सूजनवाले स्थान में व्याप्त होकर ज्वरादि लक्षण प्रकट कर देते हैं।

लक्षण

विसर्पाणु का विप शरीर के अन्तर्गत होने के बाद एक सप्ताह व्यतीत हो जाने पर रोग के सब लक्षण साफ-साफ मालूम होने लगते हैं। इसको विसर्प की गुप्तावस्था मानते हैं। किस-किसी आचार्य का मत है १-३-४ दिन तक इसकी पूर्वावस्था स्थायी रहती है। इसके विप का टीका लगाने के १५ घण्टे बाद में रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

इस अवस्था मे योनि और त्वचा मे शोथजनक लक्षण दिखलाई देकर आक्रान्त स्थान मे परिवर्तन शुरू हो जाता है। किसी चिकित्सक का मत है कि मुखमण्डल मे विसर्प प्रकाशित होने के पहले ग्रीवा की लसीकाग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं। डा० ओप्टसन् का मत है कि विसर्प प्रकाशित होने के पूर्व मे सुख का अभाव, कम्प. आलस्य, तन्द्रा, क्षीणता प्रतीत होती है। नाडी की गति तीव्र हो जाती है, और उत्क्लेश, वमन, उदर रोग तथा कण्ठनली मे सूजन हो जाती है। किन्तु डा० वल्फमेन का मत है कि इसका कोई पूर्व रूप प्रकाशित नहीं होता है। जो सब स्थलों पर पूर्व रूप दिखलाई पड़ता है, वे उन स्थलों के अति गम्भीर अंश मे स्थानिक विकार आरम्भ होते हैं और साथ-साथ सहसा अत्यन्त कम्प, वमन, गात्रदाह होने लगता है। इसके बाद जहाँ पर दाह होता था वहाँ पर वेदना भी होने लगती है। रोग की प्रथम अवस्था मे गला मे क्षत हो जाता है और देह का विकार क्रमशः बढ़ जाता है। ज्वर का लक्षण प्रबल हो जाता है। यहां तक कि १०४-१०५ तक ज्वर बढ़ जाता है।

इसके वाद ज्वर का ह्रास अवश्य हो जाता है और साधारणतया ज्वर आरम्भ होते ही अथवा ज्वर के आरम्भ होने के कई घण्टे के वाद किसी स्थान की त्वचा में अधिकतर नेत्र के कोने में वा नासापक्ष के समीप मे लालिमा, दाह, सूजन और वेदना हो जाती है। लालिमा शीघ्र ही अधिक वढ़ जाती है। परन्तु दवाने से वह लालिमा लुप्त हो जाती है। किन्तु दवाव हटा लेने पर फिर प्रकाशित हो जाती है। यह सूजन धीरे-धीरे फैल कर दो-एक दिन के मध्य में सम्पूर्ण मुख सूज जाता है। क्रमश. जितनी दूर विसर्प फैलता है उसकी सीमा की रेखा मालूम हो जाती है। किनारे उठे हुये होते हैं और विस्तृत अंश को छोडकर अगुली से स्पर्श करने पर त्वचा के नीचे के तन्तुओं में प्रक्षिप्त प्रवर्धन प्रतीत होता है। यदि रोग फैलने वाला न हो, तो रोग-ग्रस्त अंश के उभरे हुये किनारे धीरे-धीरे स्वस्थ त्वचा के साथ मिल जाते है। नेत्र की पलकों की जहाँ पर त्वचा शिथिल हो जाती है वहाँ पर सूजन वढ़ जाती है। यहाँ तक कि पलके खुलती भी नहीं है। इससे देखना भी कठिन हो जाता है और रोगी की मुख की आकृति विकृत हो जाती है। इसके वाद छोटी-छोटी फुंसियाँ, अथवा वड़े-वड़े फफोले (स्फोट) उत्पन्न हो जाते हैं। जिन स्थानों पर वड़े-वड़े स्फोट नहीं दिखाई पड़ते हैं, उन स्थानों पर शीशा से देखने पर छोटी-छोटी जल पिडिकाएं दिखलाई पडती हैं।

तीन-चार दिन तक यह रोग मुखमण्डल से ग्रीवा मूल तक सव स्थानों मे फैल जाता है। ढोढ़ी की त्वचा के नीचे के सयोग तन्तु के गुच्छों की रचना विशेष से उसमें रोग स्पर्श नहीं करता है। अथवा रोगग्रस्त होने पर भी वह विकृत स्वरूप को धारण नहीं करता है। ऐसे ही उदर के नीचे भाग में अथवा उस आदि के विसर्प रोग मे जघनचूड़ा वा प्यूपार्टस् नामक स्नायु से विसर्प का विस्तार रुक जाता है। मस्तक और मुखमण्डल का विसर्प, वक्षःस्थल तक फैलता है। किन्तु देहकाण्ड, हाथ वा पैर का विसर्प सव शरीर में फैल जाता है। मुखमण्डल आदि स्थान जो खुले रहते हैं वे सव स्थान

इस व्याधि से आक्रान्त हो जाते हैं। मस्तक और मुख में जैसा विसर्प फैलता है वैसी ही मुख की विकृति और नेत्र की पलकों के फूलने के साथ-साथ कर्ण विकृत हो जाते हैं। वह स्थूल और मांस के पिण्ड के तुल्य मालूम होते हैं। किसी-किसी स्थल पर पहला फफोला फूट कर सदा उससे रस निकलता रहता है। अथवा किसी-किसी स्थल पर पूय मे परिणत हो जाता है।

पूर्वोक्त स्थानिक विकार के साथ ज्वर भी रहता है। देह की गर्मी कभी घट जाती कभी बढ़ जाती है अथवा बराबर रहती है। डारेनल्ड्स का कथन है कि अधिकतर प्रातः काल की अपेक्षा सायं काल में ज्वर कम होता है। नाड़ी तेज, कोमल और क्षीण, कभी-कभी दो बार झटका दे करके अथवा रुक-रुक करके चलती है। अधिकतर रात्रि मे प्रलाप और कभी-कभी प्रबल उन्मत्तता उपस्थित हो जाती है। सिर मे पीड़ा होती और नींद नहीं आती है तथा उजेला और आवाज अच्छी नहीं लगती है। क्षुधा का अभाव, प्यास और वमनेच्छा कहीं-कहीं पर बार-बार वमन होता रहता है। जिह्वा मैली रहती है। अनेक स्थलों पर अतिसार में दुर्गन्धित मल और थोड़ा मूत्र निकलता है। साधारणतया लाल अण्डों से युक्त, कहीं पर काष्टस् (Casts) और रक्त मिला हुआ निकलता है।

विसर्प एक स्थान पर प्रकाशित होने के बाद शरीर के अन्य स्थान में भी प्रकाशित हो सकता है। इसको परिभ्रमणशील विसर्प (एरिसिपेलस् माईग्रान्स) कहते हैं।

इस रोग के स्थायित्व मे स्थिरता नहीं है। किसी स्थल में १४ दिन और कहीं पर ६-८ दिन तक स्थायी रहता है। शरीर के जिस स्थान मे वा दोनों हाथों, पैरों मे जब परिभ्रमण करता है, तो उस स्थान पर कई सप्ताह वा कई मास तक स्थायी रहते हुये देखा जाता है। फिर रोग सहसा शान्त हो जाता है। कहीं एक घंटा के मध्य में शारीरिक ताप स्वाभाविक हो जाता है और विसर्प के स्थानिक लक्षण भी बहुत शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं। त्वचा की ललाई छिप जाती है

और त्वचा शिथिल तथा संकुचित हो जाती है। इस अवसर पर रोग की प्रक्रिया, देह के दूसरे स्थान पर परिणत अवस्था में अथवा आरम्भिक अवस्था में वर्तमान रह सकती है। जिस स्थान का रोग दब जाता है, उस स्थान की छोटी व बडी जलवटी सब सूख जाती है और पीला छाला पड़ जाता है। अन्त मे ऊपरी त्वचा स्तर रूप में वा सूक्ष्म चूने के तुल्य गिर पड़ती है। मस्तक की त्वचा आक्रान्त हो जाने पर तो खाज उठती ही है। परन्तु रोग की शान्ति के समय में भी खाज दूसरी बार फिर उत्पन्न हो जाती है।

सब स्थानों पर पूर्व मे वर्णन किया हुआ फल अच्छा ही होता हो ऐसा नहीं है। किसी स्थल में आँख की पलकें, लिङ्गाग्र की त्वचा, योनि का होंठ आदि कोमल स्थलों में सड़ने वाला घाव हो जाता है। अथवा किसी-किसी स्थान में सूजन के कम होने पर त्वचा के नीचे स्थान-स्थान पर फफोले पैदा हो जाते हैं। इसमे अस्त्रचिकित्सा की आवश्यकता होती है।

यह रोग एक बार होने पर बार-बार प्रकाशित हो सकता है। इसी कारण से नासिका, कान और अक्षिपुट आदि स्थान बार-बार रोग से आक्रान्त मोटे, दृढ और विकृत हो जाते हैं।

उपसर्ग

हन्विकचक्र (टेरिगाइड् प्लेगसस्), मस्तिष्कशिरा (कैवार्नस-साइनस्) के साथ मौखिक शिरा के विशेष सम्बन्ध से प्रयुक्त शिरोवरीय (सेरिब्रेल) केशिका और शिराकुल्या (साइनस्) में थ्रम्बोसिस् (शिरा मे रक्त का जमाट बन्धना) उत्पन्न हो जाता है। कण्ठ में रोग के फैल जाने से आन्तरिक कण्ठनाली प्रदाह (एडिमेटस् लेरिञ्जा-इटिस्) उत्पन्न हो जाता है और फुफ्फुस प्रदाह, परिफुफ्फुसीया कलाप्रदाह (प्लूरिसी) तथा मस्तिष्क कलाप्रदाह, हृदय की रक्तधरा कलाप्रदाह अधिक होते हैं।

विसर्प के भेद

(१) स्वयंजात (Idiopathio) अथवा आभ्यन्तरिक कारण जनित। (२) अभिघातज अथवा क्षतजनित। इसके अतिरिक्त विसर्प रोग के निम्न तीन भेद और होते हैं।

(१) सामान्य, (२) कठिन (प्लेगमोनस) अथवा प्रदाहयुक्त और पूयोत्पादक, शोथ त्वचा के नीचे तन्तुओं तक फैल जाता है। (३) व्यापक—इसमें शोथ अनिर्दिष्ट रूप से शरीर में व्याप्त रहता है।

परिणति

विसर्प तीन प्रकार से परिणत होता है। (१) शोथ अदृश्य हो जाता है अर्थात् शोथ का ह्रास हो कर शान्त हो जाता है। (२) फफोले पड़ जाते हैं और उनकी ऊपरी त्वचा सूख जाती है। (३) पूय की उत्पत्ति और गलित क्षत में परिणत हो जाता है।

शवच्छेदक परीक्षा

उपद्रवशून्य विसर्प रोगी की मृत्यु होने पर उसका शवच्छेदन करने पर प्रादाहिक शोथ (इडिमा) से भिन्न और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता है। सम्पूर्ण लसीका स्थान और शोथयुक्त मण्डल में विसर्पाणु मिलते हैं। लसीका प्रणालियों के मध्य मे भी विसर्पाणु पाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न उपद्रवों से युक्त विसर्प रोगियों की मृत्यु होने पर उनके अनुयायी अनेक चिह्न मिलते हैं।

रोगनिर्णय

ज्वर और स्थानिक लक्षणों के प्रति दृष्टि रखने पर रोग का निर्णय आसानी से हो जाता है। इरीथिमा (Erythema) के साथ इसका सादृश्य इसलिए मिलता है कि इसमें स्थानिक सूजन होती है। किन्तु वह विसर्प के समान फैलने वाली नहीं होती तथा इसमें अधिकतर कोई सार्वाङ्गिक लक्षण नहीं देखे जाते हैं। अनेक स्थान पर मसूरिका ज्वर आदि की पिडिका निकलने वाले ज्वर की प्रथम अवस्था के साथ इसका भ्रम हो जाता है। इन सब ज्वरों में मुखमण्डल के सिवाय शरीर के

अन्यान्य स्थानों में पिडिकाएँ निकल आती हैं। इस भाँति ज्वर की अवस्था और लक्षणों के प्रति दृष्टि रखने से विसर्प रोग का इससे सहज में ही निर्णय हो जा सकता है।

किसी-किसी स्थल पर विशेष कर बालकों के गलसुवा (मम्पस्) के साथ इसका भ्रम हो जाता है। परन्तु यह भ्रम बहुत कम दिखाई पड़ता है। गलसुवा मे कर्ण के मूल में जो शोथ और रक्तिमा होती है। वह फैलती नहीं है। कर्णमूल-ग्रन्थि के ऊपर लक्ष्य रखने पर गलसुवा रोग सहज मे ही जाना जाता है।

मुख्य परीक्षा—अणुवीक्षण यंत्र से इसका स्राव देखने पर विसर्पाणु देखे जाते हैं। जिससे अन्य रोगों का भ्रम नहीं होता है।

भावीफल

अति दौर्बल्य से वा मस्तिष्क की झिल्ली तक, वा गले के छिद्र तक शोथ हो जाने से रोग सांघातिक होता है। मस्तिष्क की झिल्ली में प्रदाह होने पर वैसा ही रस निकलता है और अचैतन्य होने से गले के छिद्र में शोथ होने के कारण श्वासावरोध होने पर मृत्यु हो जाती है।

साध्यदशा—रोगी मद्य पीने वाला न हो, आक्रान्त स्थान में सड़ा हुआ घाव वा नाडी व्रण होने पर थ्रम्बोसिस् (शिरा मे रक्त का जमाव) और कण्ठ में रोग के विस्तृत न होने पर प्रायः रोगी अच्छा हो जाता है।

चिकित्सा

रोगी को हवादार मकान मे रक्खें और किसी को रोगी के पास नहीं आने देवें। रोगी को पहले लंघन करावे, उसके साथ-साथ यदि रोगी बलवान हो तो वमन-विरेचन करावें। परन्तु स्नेहन न करावें। विरेचन के लिये निशोथ का चूर्ण त्रिफला क्वाथ से देवें और वमन के लिये परवल तथा निम्ब की छाल के क्वाथ से पिलावे। तथा निम्न दशाङ्ग लेप लगावें।

दशांग लेप

विधि—सिरस की छाल; तगर, बड़ी इलायची, हल्दी, कूठ, मुलेठी, लालचन्दन, जटामांसी, दारुहल्दी और नेत्रवाला इन्हें समान भाग में लेकर कूट-पीस छानकर गोघृत मिलाकर लेप करने से विसर्पजन्य शोथ नष्ट हो जाता है।

भूनिम्बादि क्काथ

चिरायता, कुटकी, लालचन्दन, वासा, पटोलपत्र, त्रिफला और निम्ब की छाल।

विधि—इसको क्काथ विधि से पीने पर दाह ,ज्वर, सूजन, कण्डू, विस्फोट, प्यास आदि शान्त हो जाते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा

विसर्प में पित्त का आधिक्य होता है। अतः उष्ण चिकित्सा हानिकारक होती है। रोगी के उपवास के दिनों में फलों का रस, लौकी आदि तरकारियों का रस अथवा थोड़ा गरम जल ही देवें। उपवास रोगी की अवस्था के अनुसार करावें। किन्तु जब तक ज्वर रहे तबतक ही लंघन कराना अच्छा है। यदि ज्वर आरम्भ से नहीं होवे, तो तीन दिन तक उपवास करावें। गरम जल की वस्ति प्रतिदिन दोनों समय जब तक उपवास करें, तब तक दें। आवश्यकता होने पर अधिक समय तक एनीमा का प्रयोग भी कर सकते हैं। उपवास के बाद एक सप्ताह तक फलहार करें; फिर धीरे-धीरे लघु आहार करें। रोगाक्रान्त-स्थान पर गीली मिट्टी का प्रयोग करें। जल में वस्त्र भिगोकर के भी प्रयोग कर सकते हैं। आवश्यकता होने पर मक्खन में कर्पूर मिलाकर भी लगा सकते हैं, ज्वरावस्था में विचार कर प्रयोग करें। ज्वर छूट जाने पर गरम जल से स्नान करें। तौलिया से अङ्गों को घर्षण कर पोछें। भोजन ऐसा होना चाहिये जिससे मल निकलता रहे। कब्जी न होने पावे। स्वास्थ्यकर नियमों का पालन करें। उपद्रवों की चिकित्सा उसके लक्षणों के अनुसार करें।

पाश्चात्य चिकित्सा

रोगी के वलवान होने पर पाइलोकार्पिन आठमाश से आधा ग्रेन की मात्रा मे हाइपोडर्मिक रूप से देव। यदि रोगी दुर्वल हो, तो इसका प्रयोग न करे। कोष्ठ शुद्धि के वाद टिञ्चर फेरीपर क्लोराइड् १०–१६ बूँद की मात्रा मे ४ घटा के अन्तर से प्रयोग करे। अनेक स्थल पर आयोडाइड् आफ् पोटाशियम से भी लाभ देखा जाता है। इस रोग मे लोह की अपेक्षा कुनैन अच्छी है। कीनाइन के साथ ⅙ ग्रेन की मात्रा मे वेलाडोनासार के प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। इस रोग मे विशेषकर गठिया की आशंका होने पर अन्यान्य ओपधियों के साथ कलचिकम् विशेष फलप्रद है। उदर में लोह का प्रयोग असह्य होने पर इसके वदले कीनाइन और अमोनिया का प्रयोग करें। इस रोग मे पूर्ण मात्रा में सल्फोकार्वनेट आफ् सोडियम्, वेञ्जायेट आफ् सोडा वा वोरिक एसिड्का आभ्यतरिक प्रयोग विशेष प्रशंसनीय है। हृदय की दुर्वलता में डिजेटेलिस के साथ वेलाडोना का प्रयोग अच्छा है।

रोगी को दौर्वल्यावस्था मे ब्राण्डी देवें, अनिद्रा दूर करने के लिये हाइड्रेट आफ् क्लोरेल अथवा हाइयोसायेमस का सार वा अरिष्ट का प्रयोग करें। ज्वर के अत्यन्त अधिक होने पर एण्टीपायरिन प्रभृति ज्वरघ्न औपधों का प्रयोग करें। आन्त्रिक ज्वर के लक्षणों से आक्रान्त होने पर बलकारक पथ्य के साथ सुरा का प्रयोग करें। रोग के अन्त मे दुर्वला-वस्था होने पर लोह और तिक्त बलकारक औषध देवें।

स्थानिक प्रयोग—पहले क्षत को सावुन से धोकर १००० अश में १ अंश वाईक्लोराइड् आफ् मर्करी के द्रव से धोवें। फिर तौलिया वा रूई से पोंछकर सम भाग इकूथायिल और वैसलीन मिला कर लेप करें, और उसके ऊपर एण्टीसेप्टिक का पट्टी वाध देवें। अथवा अक्साइड् आफ् जिङ्क वैसलीन का मलहम लगावें। एक चिकित्सक का मत है कि रुग्णस्थान पर कपडा लपेटे रखने और टिञ्चर आफ् आयोडीन दिन मे दो वार लगाने से इस रोग का विस्तार रुक जाता है।

अन्तःक्षेपण विधि

इस समय विसर्प रोग में एण्टी स्ट्रेप्टोकॉकस सीरम् (Anti strep-tococcus) का इञ्जेक्शन दें। किसी-किसी स्थल पर इससे आशानुरूप फल मिलता है। किसी-किसी आचार्य का मत है कि इस सीरम की अपेक्षा पोलवीलेन्ट स्ट्रेप्टोकाकस सीरम् (Palyvolent Anti strep-tococcus) अधिक फलप्रद है।

वर्तमानकालिक ओषधियाँ

पेन्सिलीन और सल्फोनामाइड् ये दोनों ओषधियाँ विसर्प मे वहुत लाभ करती हैं। उपद्रवयुक्त विसर्प मे पेन्सिलीन का प्रयोग अति लाभ-कारक है और उपद्रव रहित विसर्प मे सल्फोनामाइड् लाभदायक है। पेन्सिलीन पेशी मे अथवा शिरा मे सन्ततक्षरण पद्धति से अथवा सविराम पद्धति से दिया जाता है। साधारणतया रोग की तीव्रातित्रता के अनुसार १०-१५ सहस्र एकक प्रति तीन-चार घण्टे पर दिये जाते हैं। सन्तत-पद्धति में प्रति घण्टा दो-पॉच सहस्र एकक पेशी में अथवा शिरा में जाना चाहिये। लक्षण निवृत्ति के वाद दो-तीन दिन तक उसका लगातार २४ घण्टे उप्रयुक्त होना चाहिये।

स्थानिक चिकित्सा

पेन्सिलीन अथवा सल्फोनामाइड् का मलहम अथवा चूर्ण रूप में प्रतिदिन लगावें। विसर्प का विस्तार रोकने के लिये किनारे के चारों तरफ एक इञ्च स्थान त्याग कर सिल्वरनाइट्रेट १ औंस पानी में १-२ ड्राम या लिनिमेण्ट आयोडीन का लेप प्रति दिन करें। नेत्रों की रक्षा के लिये उनको वोरिक घोल से धोकर उनमे १०% आर्डि रोल के २-४ बूँद दिन में दो-तीन वार छोड दें।

कच्छू (खुजली)

Scabiosore Itch

यह एक संक्रामक रोग है। इस रोग का प्रधान कारण एक कीटाणु है जिसका नाम सारकोप्टेहोमीनिस (Sarcoptes Hominis)

है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई ई०ं इञ्च के लगभग है। त्वचा मे प्रवेश करते ही सर्षप के तुल्य छोटे-छोटे दाने निकल आते हैं। उस स्थान पर इतनी खुजली होती है कि रोगी विह्वल हो जाता है। अधिक खुजलाने से घाव हो जाता है अथवा त्वचा में दरारें पड़ जाती हैं और वहां से पूय निकल कर पपड़ी वन्ध जाती है। वालकों के नितम्व, हाथ और पैरों में खुजली होती है। युवा पुरुष के अगुलियों के मध्य में मणिवन्ध, उदर और जघन प्रदेश में फुन्सियाँ देखी जाती हैं। कभी-कभी लिङ्ग पर भी फुन्सियाँ निकल आती हैं और स्त्रियों के वक्षःस्थल के नीचे; कक्षा आदि मे भी ये पिडिकायें निकल आती हैं।

कीटाणु का जीवन चरित्र

इसके आठ पाद होते हैं। नर, नारी से वडा होता है। नारी जाति का कीटाणु स्वस्थ मनुष्य के त्वचा पर रख देने से १०-१५ मिनट के अन्दर त्वचा मे तिर्यक छेद वना कर तथा लम्वी सुरङ्ग वनाकर प्रविष्ट हो जाता है और सर्षप के तुल्य उठा हुआ गृह निर्माण कर वैठ जाता है। इसमें विशेषता यह है कि मार्ग में अण्डे देता हुआ अन्दर प्रविष्ट होता है। इन अण्डों की संख्या ४०-५० तक होती है। अण्डे से दो-तीन दिन में लहर्वा निकल आता है। जो धीरे-धीरे चोली वदलकर कीडा वन जाता है। खुजली का कीड़ा मवाद (पूय) में नहीं रहता सुरङ्ग में रहता है। सूई से खोदने पर सूई की नोक पर सफेद सूक्ष्म वस्तु लग जाती है जो कि ताल से दिखलाई देती है। इस कीटाणु के जीवन की अवधि तीन-चार मास है। इसके पश्चात् मर जाता है। परन्तु अण्डों से नवीन जीवाणु पैदा होते हुये अपना कार्य करते रहते हैं।

संक्रमण

इस रोगी के साथ उठने-वैठने-सोने और गात्रसंस्पर्श आदि से स्वस्थ मनुष्य के शरीर पर पूय का स्पर्श हो जाने से यह रोग होता है। यह अत्यन्त संक्रामक रोग है। गरीब, दीन, हीन, दरिद्र मनुष्यों में इस रोग का प्रकोप अधिक होता है।

चिकित्सा

प्रथम रोगी का कोष्ठ स्निग्ध करके मृदु विरेचन देकर कोष्ठ को शुद्ध करें। इसके लिये निम्नलिखित योग उपयुक्त है। अमलतास का गूदा १ तोला, हरीतकी १ तोला, गुलाव के फूल १ तोला, अञ्जीर १ तोला, मुनक्का तीन तोला और सनाय की पत्ती १ तोला।

विधि—इनकी तीन मात्रा बना लें। एक मात्रा दवा लेकर कुछ कूट लेवें, फिर इसको आध सेर जल में पकावें। दो छटॉक शेष रहने पर अग्नि से उतार कर छान कर पीवें। इस रीति से तीन दिन तक पीने के वाद तीन-चार दस्त होंगे। इसके वाद कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर नित्य-प्रति कैशोर गुग्गुल २ गोली खाकर ऊपर से सारिवाद्यासव १॥-१॥ तोला की मात्रा मे पीवें। अथवा मञ्जिष्ठादि क्वाथ (शाङ्गधरोक्त) पीवें।

वाह्य प्रयोग—मरिचादि तेल, या सोमराजी तेल की मालिश करें।

गन्धक का प्रयोग

इन कीड़ों को मारने के लिये गन्धक सबसे श्रेष्ठ है। अत. गंधक को ७ वार गो-घृत मे शुद्ध करके १-१ रत्ती की मात्रा मे प्रतिदिन सेवन करें और निम्नलिखित मलहम वनाकर लगावें।

नवनीत गन्धकादि मलहम

नवनीत गन्धक पीसा हुआ १ छटॉक, चूना १ पाव, पानी ४ सेर, सर्षप तेल १ सेर।

विधि—मिट्टी या कलई के पात्र मे चढावें, पकाते-पकाते अग्नि पर जव पानी आधा रह जाय तव उतार कर छान लें। खाज पर लगाने से सव प्रकार की खाज पर लाभदायक होता है। कार्वोलिक सावुन से प्रतिदिन साफ करते रहे।

स्नान—करैले के पत्तों को पानी में पकाकर के उस जल से स्नान करें तो वहुत जल्दी लाभ होता है।

शिशपादि तेल

विधि—शीशम की काली-लाल लकडी लेकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके एक मिट्टी के घडे मे पेंदी मे छेद करके उसमें वाल लगा देवें। उस घड़े मे लकडी भर दें फिर एक गढा खोदें। उस गढे में दूसरा छोटा गढा इतना खोदें जिसमे कटोरा आ जावे। नीचे कटोरा रख कर उसके ऊपर से घडा रख दें। घडे का मुख वन्द करके ऊपर से कण्डों की अग्नि देवें। इसमे से तेल नीचे टपकेगा। इस पाताल यन्त्र-विधि से तेल निकाल कर लगावें। यह खाज, छाजन आदि को नष्ट कर देता है। वहुत वार का अनुभूत है। देवदारु का तेल भी लाभदायक होता है।

पारद का प्रयोग

शुद्ध पारद १ तोला और निम्ब-जल से शतधौत मक्खन १ छटॉक लेकर इनको एक मे खूब मिलाकर के क्षत पर लगावें। इससे खाज के घाव वहुत शीघ्र अच्छे हो जाते हैं।

मनःशिलादि तेल

अर्क के पत्रों का स्वरस १ सेर, हरिद्रा कल्क १ छटॉक, मनःशिला का चूर्ण ३ तोला और सरसों का तेल एक पाव लें।

विधि—इनको तेलपाक विधि से पकाकर देह में मालिश करें। इस तेल की मालिश से कण्डू दूर होती है।

रोग से बचने के उपाय

यदि घर मे यह रोग किसी को हो जाय तो उसको पृथक् रक्खें। उसके वस्त्र, विस्तर और शय्या आदि को स्वस्थ व्यक्ति व्यवहार में न लावे। यहाँ तक कि उसकी स्पर्श की हुई वस्तुओं को भी अपने व्यवहार मे न लावे। यदि खुजली वाले रोगी को औषध लगाना पडे तो औषध लगाने के बाद कार्वोलिक सावुन से हाथों को धो डालें, इससे इसकी संक्रामकता नष्ट हो जाती है।

दद्रु (दिनाय-दाद)

(Ringworm or Tinea)

यह संक्रामक रोग है, इसमें त्वग् विकार का कृमि मोल्ड या फंग्स (Mould or Fungs) जाति का होता है। यह अनेक सेलों से बना हुआ तन्तु सदृश होता है। इसका नाम ट्रैचोफैटन इण्डोथ्रिक्स और ट्रैचोफैटन एक्टोथ्रिक्स (Trichophyton Endothrix, Trichophyton Ectothrix) है। यह शरीर के कई स्थानों पर होता है। स्थान के अनुसार इसका नाम रखा जाता है। इसमे खुजली और लालवर्ण की पिडिकाएँ होती हैं। इनमें उठे हुये मण्डल (चकत्ते) पड़ जाते हैं। सुश्रुतसंहिता मे इस दद्रु को महाकुष्ठ में इसकी भयंकर संक्रमणता के कारण ही परिगणन किया है किन्तु; चरक संहिता में क्षुद्र कुष्ठों में सम्मिलित किया गया है। इसमें पित्त और कफ के लक्षण मिले हुए रहते हैं।

यथोक्तम् चरके—

सकण्डू राग पिडिक दद्रुमण्डलमुद्गमम् ।

शिरो दद्रु

यह मलीन, निर्बल और गरीब बच्चों को अधिक होता है, कभी-कभी युवा पुरुषों को भी हो जाता है। इस रोग का संक्रमण रोगी के साथ बैठने-उठने, खाने-पीने आदि से होता है। उसके वस्त्रों का व्यवहार करने से भी हो जाता है। शिर पर गोलाकार, रक्तवर्ण और शुष्क भूसीदार और कुछ ऊपर को उठे हुये दाने, उत्पन्न हो जाते हैं। इन दानों में अधिक खुजली होती है। रोग की वृद्धि प्रतिदिन कीड़ों के कारण होती रहती है। शिर के बाल गिरने लग जाते हैं, शिर में चकत्ते बहुत समीप-समीप पड़ जाते हैं। चकत्ते कई रंग के होते हैं। किसी-किसी के बाल पूय में चिपक जाते हैं। शिर के स्थान-स्थान के बाल गिर जाने से अच्छा नहीं मालूम होता है।

टीनिया सरसीनेटा

यह दद्रु मुख, वक्षःस्थल और हाथ-पैरों में होता है। इसमें पहले-पहले गोलाकार दाने निकलते हैं। दाने चारों तरफ से उठे हुये और मध्य में निम्न होते हैं। इनमें अधिक खुजली होती है। चकत्ते के मध्य में दाने निकलते जाते हैं और पुराने दाने मुरझाते जाते हैं। कभी-कभी एक चकत्ता पड़ कर फैलते हुए बढ़ता जाता है। बालकों को यह ग्रीवा, मुख, हाथ आदि में होता है और साधारण उपचार से अच्छा हो जाता है। तरुण व्यक्ति के जघा, कटि और वंक्षण तथा गुह्य स्थानों पर अधिक होता है। इसमें खुजली और जलन अधिक होती है। कभी-कभी चकत्ते छिल्केदार अथवा दानेदार होते हैं। इन चकत्तों के किनारे उठे हुये होते हैं और इनमें से छिल्का निकलता रहता है। किसी-किसी में फुन्सियाँ पड जाती हैं जो खुजलाने से फूट जाती और इनमे से स्राव वहने लगता है। अधिक खुजलाने से घाव हो जाता है। इसको महिप दद्रु भी कहते हैं। यह मलीन और गरीब मनुष्यों को अधिक होता है। दद्रु प्राचीन हो जाने पर त्वचा मोटी, खुरदरी और दागयुक्त हो जाती है। यह कष्टसाध्य होता है। इसका पूय स्वस्थ मनुष्य को लग जाने पर उसे भी यह रोग हो जाता है। अथवा दद्रुवाले रोगी के वस्त्र का व्यवहार करने से भी यह रोग हो जाता है। यह चिरकाल स्थायी रोग है।

चिकित्सा

सबसे प्रथम दद्रु रोगी को वमन, विरेचन से शरीर की शुद्धि करें। फिर रक्त शोधक अर्क पीव अथवा खदिरारिष्ट प्रतिदिन १-१ तोला पीवें, फिर अधोलिखित स्थानिक चिकित्सा करें।

पारदादि मलहर

शुद्ध पारद १ तोला, चौकिया सोहागा १ तोला, नवनीत गन्धक १ तोला, बनारसी राई १ तोला लें।

विधि—नींबू के रस मे घोंटकर गोली बना लेवें फिर दद्रु को कण्डे

से खुजला कर निम्बू के रस के साथ दिन में दो बार लगावें। इससे बहुत लाभ होता है अथवा शिशपादि तेल का व्यवहार करें।

शिरोदद्रु की चिकित्सा—स्थानिक चिकित्सा कीड़ों को मारने वाली होनी चाहिये। यदि रोग का आरम्भकाल हो, तो पहले शिर के बाल बनवा दें। फिर सिरकाम्ल (एसिटिक एसिड्) रूई की फुरहरी में लगाकर लगावें। अथवा टिञ्चर आइयोडीन लगावें। यदि हो सके तो बालों को मूल से उखाड दें। फिर आइयोडीन ½ ड्राम और आइल आरटार १ औंस मिलाकर फुरेरी से लगावें। अथवा कार्वोलिक एसिड् १ भाग और ग्लिसरीन पाँच भाग मिलाकर लगावें।

बालक के सिर पर लगाने के लिये—सिटरन् आइण्टमेण्ट १ ड्राम, सकर १॥ ड्राम, कार्वोलिक एसिड् ४५ ग्रेन; मक्खन १ ड्राम।

विधि—इनको एक में मिलाकर लगावें।

टीनिया सरसीनेटा की चिकित्सा

पहले साफ करके सिरकाम्ल (एसिटिक एसिड्) लगावें। अथवा आइयोडीन का मलहम लगावें।

बालकों के लिये उपयोगी मलहम

कार्वोलिक आइण्टमेण्ट (१ ड्राम १ औंस वाला) अथवा हल्का सिटरन् आइण्टमेण्ट, डायल्यूट करके लगावें।

महिषदद्रुनाशक प्रयोग

क्राइसोफेनिक एसिड् २० ग्रेन, मक्खन अढाई तोला।

विधि—इनको एक में मिलाकर लगावें।

गन्धकादि योग—नवनीत गन्धक को तारपीन के तेल में मिलाकर लगावें। परन्तु दद्रु को पहले कण्डों से खुजला लेवें।

कुष्ठादि लेप

कूठ १ तोला, पवांड (चक्रमद) के बीज १ तोला, पीतसर्षप १ तोला, वायविडंग १ तोला, पलाश के बीज १ तोला, गन्धक १ तोला लें।

विधि—इनको कूट-पीस-छानकर शीशी में रख लेवें। फिर ८ माशा चूर्ण लेकर कागजी नींबू के रस में घोंटकर लेप लगावें, इससे बहुत लाभ होता है।

पर्पटी का प्रयोग

पर्पटी का स्वरस दद्रु को खुजला कर लगावें। यह बहुत तीक्ष्ण होता है, अतः दुर्बल मनुष्यों को नहीं लगाना चाहिए। इसके प्रयोग से फिर उस स्थान पर दाद नहीं होती है।

बालखोरा

(Ringworm of the Beard)

यह रोग दाढ़ी के बालों की मूल में होता है। रोग होने के पहले उस स्थान पर गर्मी और खाज मालूम होती है। फिर वह स्थान लाल होकर सूज जाता है। दबाने से पीड़ा होती है। उस स्थान से भूसी उठने लगती है। कभी-कभी बडे-बडे दाने निकल आते हैं। उनकी मूल कठिन और आगे के भाग में पूय रहता है। दानों के आगे का भाग फूट करके पतला पूय निकलता है जिससे पतली सफेद-काली दाग पड़ जाती है। चारों तरफ की शोषक ग्रन्थियाँ शोथ ग्रस्त हो जाती और उसमें पीडा भी होती है। बाल शिथिल हो करके गिर जाते हैं।

नखदद्रु

(ओनीकोमाइकोसिस्)

यह रोग अधिकतर हाथों की अङ्गुलियों के किसी-किसी नख में होता है। इससे नख मृदु खुरखुरा हो जाता है और मलीन पड जाता है। यह किनारे से आरम्भ होकर सम्पूर्ण नख में व्याप्त हो जाता है।

गंज

(Tinia Favosa)

यह रोग मलीन और दरिद्र बालकों के शिर पर होता है। इसको गंज कहते हैं। प्रथम छोटी-छोटी छिल्केदार फुंसियाँ शिर में (बालों के अन्दर) निकलती हैं जो बढ़ कर मटर के दाने के समान हो जाती है और उनके किनारे ऊँचे होकर सराव (सकोरा) के

सदृश पपड़ी वन्ध जाती है। इस कारण इसको फेवोसा (Favosa) कहते हैं। कभी-कभी तो वाल चिपट जाते हैं और कभी-कभी टूट करके गिर जाते हैं। जब पपड़ी समीप-समीप अथवा दूर-दूर पर पढ़नी है, तो मधुमक्षिका के छत्ता के समान मालूम होती है। परन्तु प्राचीन होने पर ऐसा लक्षण नहीं दिखलाई पड़ता है। केवल कृष्ण-रक्त मिला हुआ दाग दिखाई पड़ता है। दागों पर दो-एक वाल होते हैं जिनकी जड़ सूजी हुई मालूम पड़ती हैं और वे टूटे हुए मोटे दिखलाई पड़ते हैं। चूहे के समान एक विशेष प्रकार की गन्ध आती है। अणु वीक्षणयंत्र से देखने पर इस रोग में एक प्रकार का कीड़ा देखा गया है। इसका नाम एकोरियन् शन् लीनियाई है। यदि वालों की मूल का स्थान अधिक विकृत होता है, तो वहाँ पर फिर वाल नहीं निकलते हैं और रोगी सदा के लिये गंजा हो जाता है। इसमें कण्डू अधिक होती है।

गंज की चिकित्सा

शिर की त्वचा पर इस रोग से आक्रान्त हो जाने पर जो पपड़ी पड़ जाती है, उस पर वादाम का तेल, जलपाई का नेल, अथवा वैसलीन लगाकर कई घंटा भिगोये रखें। पश्चात् साबुन लगाकर गरम जल से धो डालें और पपड़ी निकाल देवें। इसकी खुजली को दूर करने के लिये शतवार धौत गौ का मक्खन ऽ– छटाँक मे वोरिक एसिड १ तोला मिलाकर लगावें।

निम्बू-पत्र-स्वरस का प्रयोग

कागजी निम्बू के पत्रों का स्वरस निकाल कर गंज के स्थान पर खूब मर्दन करके नीम के जल से धो देवें और वाल कटवा देवें तो वहुत शीघ्र लाभ होता है।

जीवाणुनाशक मलहम

करोसिव सव्लीमेट का द्रव (१ औंस में २ ग्रेन) अथवा ओलियेट आफ मर्करी (प्रतिशत १ अंश) विशेष लाभदायक है। इसके अतिरिक्त नाइट्रेट आफ मर्करी (१ औंस में १ ड्राम) एमोनियेटेड मर्करी

(१ औंस मे १ ड्राम) प्रभृति पारद के अन्यान्य प्रयोग उपयोगिता के साथ व्यवहृत होते हैं। हाइयो सल्फाइड् आफ सोडियम् का द्रव (१ औंस मे १ ड्राम) का प्रयोग श्रेष्ठ है।

दुर्वलतानाशक योग

यदि रोगी दुर्वल हो, तो लोहभस्म २ रत्ती, गिलोयसत १ माशा, शर्वत उन्नाव के साथ प्रातः-सायं चाटें। भोजन के वाद सारिवाद्यासव पीवें।

सिध्म

(Pityriasis Versicolor)

परिचय—यह रोग तरुण अवस्था में होता है। इस रोग में त्वचा पर कुछ पीलापन लिये हुये धव्वे पड़ जाते हैं। पहले-पहल छोटी-छोटी फुन्सियाँ पोस्ते के दाने के वरावर अथवा मटर के वरावर शरीर के उन स्थानों पर जो दाहिनी तरफ और वार्यी तरफ समान है जैसे कक्ष भाग आदि मे निकलती हैं और कुछ दिन के वाद परस्पर मे मिल जाती है। यह सम्पूर्ण वक्षः स्थल एव पृष्ठ वंश पर फैल जाती है। इसमें दाह, खाज के सिवाय अन्य कोई लक्षण नहीं होते हैं। अतः रोगी इसकी उपेक्षा करता है। जव रोग प्राचीन हो जाता है, तो त्वचा पर से श्वेत पतली भूसी-सी निकलती है। यह रोग हाथ-पैरों मे नहीं देखा जाता है। यह रोग मलीन ऊनी और सूती वस्त्र से अधिक फैलता है।

कारण

इस रोग का कारण माइक्रोस्पोरन फरफर (Microsporon furfur) नामक फंगस जाति का कृमि है। यह रोग छाती और ग्रीवा में अधिक होता है।

प्राच्य सिद्धान्त

वायु और कफ अपने कारणों से कुपित होकर सिध्म नामक कुष्ठ को उत्पन्न करते हैं। यह प्राय' वक्षः स्थल पर होता है। इसमे त्वचा का वर्ण अलावू (तुम्बी) पुष्प के समान होता है। इसमें श्वेत वर्ण से मिश्रित लाल वर्ण की त्वचा हो जाती है। और यह इतनी पतली हो जाती है, कि घर्षण से भूसी के समान निकल पड़ती है।

यथोक्तं चरके—

श्वेत ताम्रं तनु च यद् रजोघृष्टं विमुञ्चति।
अलाबुपुष्पवर्णं तत् सिध्म प्रायेण चोरसि॥

चिकित्सा

सबसे पहले कोष्ठ की संशुद्धि करें और मंजिष्ठादि अर्क पीवें। इससे आभ्यन्तरिक शुद्धि हो जाने पर स्थानिक चिकित्सा करे। उसके लिये पहले त्वचा को कार्बोलिक साबुन से खूब धो देवे। फिर कीटाणु नाशक पारदादि मलहम का प्रयोग करे। चिकित्सार्थ—हाइपोफस्फाइट आफ् सोडियम्, करोसिव सब्लीमेंट एवं टिञ्चर आफ् आइयोडीन का व्यवहार करें। सैलिसिलिक एसिड् का निम्नलिखित मलहम भी विशेष उपयोगी है।

एसिड् सैलिसिलिक्	१५ ग्रेन
सल्फर प्रिसिपिटेटा	१ ड्राम
लैनोलिन्	३॥ ड्राम
वैसलीन	३॥ ड्राम

विधि—इनको एक मे मिलाकर रोग के स्थान पर खूब रगडना चाहिये।

प्रपुन्नटादि योग

चक्रमर्द के बीज १ तोला, राल १ तोला, मूली के बीज १ तोला।

विधि—इनको काञ्जी से पीसकर लेप करें। इससे सिध्म अच्छा हो जाता है।

मरिच्यादि योग

कालीमिर्च १ तोला, मैनशिल १ तोला, कशीस १ तोला, कूठ १ तोला, तेजपात १ तोला।

विधि—इन औषधियों को पीसकर ताम्रपात्र में भर, ऊपर से उसमे सर्षप तेल दो छटॉक डाल देवें। फिर उसको सात दिन तक बन्द कर रख। इस तेल को लगाकर धूप में कुछ काल तक बैठना चाहिए। इससे सातदिन में सिध्म अच्छा हो जाता है।

कासमर्दादि योग

कासमर्द की मूल २ तोला, यवाक्षार १ तोला, अपामार्ग की जड़ १ तोला, गन्धक १ तोला, और हल्दी १ तोला लें।

विधि—इनको अपामार्ग की पत्तियों के स्वरस में घोंटकर गोली बनावें। फिर बकरी के दूध में गोली को घिस कर सिध्म-स्थान पर लगावें। इससे दस दिन में सिध्म अच्छा हो जाता है।

परिसर्प

(Herpes)

निर्वचन—इस रोग में त्वचा के (श्लेष्म त्वचा) संयोग समीपवर्ती स्थानोंपर जल पिडिकायें निकलती हैं। इन जल पिडिकाओं के पुञ्ज पृथक् पृथक् निकलती हैं। उनके मध्य स्थल की त्वचा स्वस्थ होती है। यह एक निष्यन्दनशील विषाणु से उत्पन्न होने वाला क्षुद्र रोग है। इसको हर्पिज (परिसर्प) कहते हैं।

साम्यभाव

हर्पिज शब्द का अर्थ रेंगने वाला रोग होता है। इस भाँति परिसर्प का भी यही अर्थ होता है। (परित सर्पणात् परिसर्पः) इस भाँति दोनों शब्दों का प्रायः एक-सा अर्थ होता है। क्योंकि धातुविकृति, क्षुद्रकुष्टता, ध्वनि, अर्थ प्रभृति से दोनों नामों में बहुत-सी सादृश्यता है। अतः हर्पिज को परिसर्प कहते हैं। सामान्यतया इसको 'मकडी मलन' कहते हैं। परन्तु मकडी से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तो भी मकडी के विष से जैसी जलपिडिकायें पड जाती हैं तत्सदृशता के कारण इसका 'मकडी मलना' नाम पड़ गया है।

यथोक्तं सुश्रुते—

शनैः शरीरे पीडिका स्रवत्य सर्पन्ति यास्त परिसर्पमाहु.।

अनुमानिक कारणता

इस रोग का मुख्य कारण एक प्रकार का विषाणु है।

सहायक कारण

इस व्याधि मे कुछ वंशज प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः परिवार के लोग अधिक पीड़ित होते हैं तथा इसमे कुछ निज प्रवृत्ति भी देखी जाती है, जिससे परिवार का एक व्यक्ति इससे बराबर पीड़ित रहता है। व्यवाय, रजोधर्म, मद्यसेवन, गरम मसालों का प्रयोग आदि करने से इसके पुनरावर्तन का सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसके सिवाय प्रतिश्याय, न्यूमोनिया, मस्तिष्कावरण शोथ, दण्डकज्वर, मन्थर ज्वर, विषमज्वर, श्लेष्म ज्वर प्रभृति ज्वरों मे अधिकतर यह रोग उत्पन्न हो जाता है। अतः इसको ज्वर-विस्फोट (Fever Blister) भी कहते हैं। ग्रामीण लोग इसको 'ज्वर मूत गया' कहते हैं शरीर की तापवृद्धि इसकी उत्पत्ति मे सहायता करती है। दंत, दन्तवेष्टक, गलतुण्डिका (टांसिल) तथा अंतडियाँ प्रभृति में कहीं भी दूपित (Septic) स्थान होने पर इसकी उत्पत्ति मे सहायता होती है। बालकों को यह व्याधि अधिक होती है। स्त्रियों में प्रथम विषयभोग का सम्बन्ध इसकी उत्पत्ति मे सहायक होता है।

मौखिक परिसर्प भेद

(Herpes Faciolis)

यह तरुण स्पर्शाक्रामक प्रादाहिक पीड़ा है। इसमें पुञ्जाकार जल-पिडिकाएँ होती हैं। साधारणतः यह कपाल के नीचे मुखमण्डल में, मुख के कोने और होंठ में निकलती है। इसे ओष्ठय् हर्पिज (H. Labialis) कहते हैं। कभी-कभी नासारन्ध्र मे और मुख की श्लैष्मिक झिल्ली मे भी प्रकाशित होती है। यह कभी-कभी यह अजीर्ण और वाह्य उग्रता से भी प्रकाशित होती है। और कभी कभी पूर्वोक्त ज्वरों मे लक्षणरूप से भी प्रकाशित होता है।

हर्पिज प्रोजेनिटेलिस

(Herpes Progenitalis)

पुरुषों की लिङ्गग्रन्थि और लिङ्गाग्रत्वक् इससे पीड़ित हो जाती है। इन जलपिडिकाओं का आकार आलपीन के मुण्ड से लेकर—छोटे मटर

के बराबर तक बढ़ी हुई देखी जाती है। यह दो-तीन से लेकर बारह तक निकलती है और शीघ्र ही फूट जाती है। यह रक्तवर्ण वाला मूल देश में स्थित गोलाकार क्षुद्र क्षत के रूप मे प्रकाशित हो जाती है। इस अवस्था मे उपदंश के क्षत का भ्रम हो जाता है।

सम्प्राप्ति

परिसर्प का वाहक विष होता है। रोग-विष गला और लाला में होता है। मोतिया, शीतला और कक्षा रोग की त्वचा पर जैसी प्रकृति होती है, उसी प्रकार इसमे भी होती है। इसके अतिरिक्त इसके विस्फोटकों की अपिस्तरीयसेलों के अन्तर्गत एक तरह के पिण्ड मिलते हैं। हर्पिज के दाने या पिडिकायें शरीर के दोनों तरफ समान रूप से प्रकाशित होते हैं तथा किसी नाड़ी के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

लक्षण

इसकी पिडिकायें प्रायः वाह्यत्वचा और श्लेष्मावरण के सायोगिक स्थान जैसे—होठ, मस्तक, कर्ण, नासिका, गाल, पुरुषों की जननेन्द्रिय और स्त्रियों के भगौष्ठ और भगशिश्निका, गर्भाशयग्रीवा प्रभृति स्थानों में निकलती है। इनके निकलने के पहले उस स्थान पर तनाव, खिचावट, चुनचुनाहट, जलन, पीड़ा आदि लक्षण होने लगते हैं। पिडिका निकलने के कुछ घंटे पहले उस स्थान पर सूजन और सुर्खी आ जाती है। उस पर छोटे-छोटे दो से बीस तक कभी पचीस तक पानीदार दाने निकल आते हैं। ये दानें अधिक होने पर आपस में मिल जाते हैं। पहले इसमें पानी होता है, जो दो दिन मे पूययुक्त हो जाता हैं। इनका आवरण कुछ दृढ होने से अचानक ये फूल जाती हैं। ८-१० दिन के वाद दाने सूखकर उन पर खुरण्ट वन जाता है जो पन्द्रह दिन के वाद उतर जाता है। अधिकतर इनके स्थान पर कोई चिह्न नहीं रहता है। कभी-कभी इनमे माला गोलाणु के संक्रमण होने से मवाद पड़ जाता है। पूय-पड जाने के वाद जब पपडी उतरती है, तब उनके स्थान पर चिह्न शेष रह जाते हैं।

रोग-निर्णय

इस रोग की पिडिकाओं के द्रव की आणुवीक्षणिक परीक्षा करने पर इसके विषाणु मिलने से रोग निश्चित हो जाता है। एक परीक्षा यह भी है, कि इसके द्रव को खरगोश की चक्षुओं मे रगड़ देने से उसे नेत्राभिष्यन्द हो जाता है और कृष्णमण्डल मे कोपान्तर्य पिण्ड दिखाई देता है।

छाजन परिसर्प-भेद

एक्ज़िमा मे विशेष प्रकार का स्राव होता है। इसमे पिडिकायें बहुत अधिक होती हैं जो आपस मे मिली रहती हैं। यह रोग शनैः-शनैः बढ़ता है और शोथ के कारण त्वचा मोटी हो जाती है। इससे विपरीत परिसर्प का स्वभाव होता है। उपदंश और फिरङ्ग के व्रणों पर ध्यान देने से उसका विनिश्चय हो जाता है।

चिकित्सा

इस रोग मे पहले रोगी का कोष्ठ संशोधन करके रक्त शोधक क्वाथ पिलावें। उसके लिये कैशोर गुग्गुल की २ गोली, सारिवाद्यासव १ तोला के साथ प्रातः-सायं काल लेवें।

स्थानिक प्रयोग—१०१ बार धौत मक्खन मे यशद का फूला मिलाकर पिडिकाओं पर लगावें अथवा घी मे कर्पूर मिलाकर लगावें। अथवा डस्टिङ्ग पाउडर (Dusting Powder) या कोलोडिन लगावें। इसके अतिरिक्त पिडिकाओं पर रूई के फाया (पिचु) से शुष्क स्वेदन भी लाभदायक होता है। दाने सूखने पर उनके ऊपर घृत या ग्लिसरिन लगावें। अथवा कार्वोनेट आफ मग्नेसिया, आइयोडोफार्म, विस्मथ, आक्साइड आफ जिङ्क प्रभृति गुह्यपरिसर्प (हर्पिज प्रोजेनिटेलिस) में स्थानिक प्रयोग करना चाहिये।

कक्षा

(Shingles, Herpes Zoster, Zoster, Zona)

निर्वचन—इस रोग मे यज्ञोपवीत के समान एक लाइन में पिडिकाओं की पंक्ति निकलती है। इसलिये इसका नाम कक्षा, हर्पिज जोस्टर

जोना रक्खा गया है। क्योंकि कक्षा और जोस्टर शब्द का अर्थ एक ही अर्थात् कमरबन्द होता है।

यथोक्तम् चरके—

यज्ञोपवीत प्रतिमाः प्रभूता' पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षः।

कारण

इस रोग का मुख्य कारण विषाणु माना जाता है। इसके विषाणु से मसूरिका (स्मॉलपॉक्स) के विषाणु का घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसलिये कभी-कभी कक्षा निकलने के एक अहोरात्रि पश्चात् मसूरिका की पिडिकायें निकल आती हैं और कभी-कभी मसूरिका के बाद कक्षा की फुन्सियाँ निकलती हैं। परिवार में युवा व्यक्ति को कक्षा निकलने पर उसके घर के बच्चों को मसूरिका निकल आती है। पूरक बन्धन (कम्प्लीमेण्ट फिक्जेशन) के निरीक्षण से भी दोनों की एकता सिद्ध होती है। कक्षा और मसूरिका इन दोनों की सूक्ष्म विकृति एक-सी होती है। कक्षा से पीड़ित होने पर मसूरिका और मसूरिका से पीड़ित होने पर कक्षा का अन्तररोपण (इनओक्यूलेशन) करने पर भी पैदा होती है। कक्षा सन्निवृत्त की लसिका, मसूरिका से रक्षा करती है, इन दोनों का संचयकाल एक-सा है। कुछ विद्वानों का मत है कि परिसर्प का विषाणु इससे सम्बन्धित देखा जाता है।

सहायक हेतु

इस रोग में न्यूमोनियाणु (न्यूमोकोकाय) और स्ट्रेप्टोकोकाय भी इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं। इसके सिवाय उपदंश, कुष्ठ और टी० बी० का विष, मल्ल, चपल (विस्मथ), पारद, मधुमेह, मुखदोष, सुरापान, आहार समवर्त के विकार (मेटाबोलिक फाल्टस्), सिर पर आघात या पृष्ठवंश पर आघात, पृष्ठवंश का पीडन, कटिवंध, पृष्ठव्रण और सुषुम्नावरणी-कला के अर्बुद प्रभृति इसके सहायक हेतु माने जाते हैं।

अज्ञातसंक्रमण

यह रोग किस तरह आक्रमण करता है यह अभी तक अज्ञानावस्था मे है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर आक्रमण करता है और यह प्रौढों मे अधिक होता है।

यथोक्तं सुश्रुते—

सक्रामति नरान्नरम्।

शारीरिक विकृतियुक्त सम्प्राप्ति

इस कक्षा रोग मे पश्चिम नाड़ीमूलकन्दिका, त्रिधार-ग्रन्थि (गैसेरियन गैंग्लियन) और जानुक-ग्रन्थि (जेनीक्यूलेट गैंग्लियन), इनमे रक्तस्राव, कोशिकान्तर्भरण (सेल्यूलर इन्फिल्ट्रेशन) प्रभृति विकृतियाँ होकर उनके पश्चिम नाड़ी मूल, पश्चिम नलिका और उनसे निकले हुये नाडियों से तान्तविकोत्कर्ष उत्पन्न हो जाता है और अपजनित नाडियों के प्रविभाग मे त्वचा पर पिडिकाएँ निकल आती हैं। इनकी उत्पत्ति हर्पिज के तुल्य ही होती है।

सामान्य लक्षण

रोग का आक्रमण सहसा होता है। आक्रमण के पूर्व बेचैनी, पीड़ा-संस्थान की ग्रन्थियों मे ग्रन्थियों की सूजन, सरसराहट और लालिमा हो जाती है। लाल स्थान पर छोटी-छोटी जल पिडिकाये निकल आती हैं। सब पिडिकाये एक साथ नही निकलती हैं। इन पिडिकाओं के समूह भिन्न-भिन्न स्थानों पर निकलते हैं।

विशिष्ट लक्षण

(Herpes Zoster, Zona)

यह त्वचा की तरुण पीड़ा है, प्रधानतः शरीर मे एक ओर विशेषतः दक्षिण भाग में पिडिकाये निकलती हैं। कभी-कभी मस्तक और दोनों हाथ-पैर इससे आक्रान्त हो जाते हैं। त्वचा के ऊपर सीमाबद्धस्थान पर पहले शोथ होता है और दलबद्ध पिडिकाये निकलती हैं फिर वे इससे पूर्ण हो जाती हैं। अनेक स्थलों पर ये जल पिडिकाये एक मे मिल

जाती है। इसके बाद वह रस पूय मे परिणत हो जाता है। बाद मे शुष्क होकर पपडी बन्ध जाती है और पपडी निकल जाने पर क्षत-चिह्न प्रकाशित होता है। ये जलपिडिकायें अधिकाश-स्थलों मे विशिष्ट नाड़ियाँ जिस स्थान की त्वचा मे रहती हैं उसी स्थान पर निकलती हैं। विशेषकर पर्शुका के मध्य की नाडियों के स्थान की त्वचा पर ये अधिक निकलती हैं। शोथ और पिडिकाओं के लुप्त होने के पहले नाडीशूल अधिक मात्रा मे होता है। किसी-किसी स्थल पर पिडिकाओं के तिरोहित हो जाने पर भी चिरकाल तक नाडीशूल उपस्थित रहता है। कभी-कभी अल्प स्थायी, स्थानिक पक्षाघात भी प्रकाशित हो जाता है, युवा व्यक्ति इस रोग से अधिक आक्रान्त होते हैं।

कक्षीय नाड़ी की विकृति

कक्षा रोग मे त्रिधारा की चाक्षुषी (Opthalmic) शाखा और पर्शुकान्तरीय नाड़ियों में अधिक विकृति हो जाती है। परन्तु इसके अतिरिक्त वक्र नाड़ी, नवमी-दशमी नाडी तथा मेरुदण्ड की कोई भी नाडी विकृति हो सकती है। नेत्र की नाडियों मे विकार होने से नेत्राभिष्यन्द, स्वच्छमण्डलीय व्रण तथा नेत्र के अन्य विकार उत्पन्न हो करके कभी-कभी चक्षु नष्ट भी हो जाते हैं। चक्षु के सिवाय रसना का पूर्व भाग कठिन और मृदुतालु, नासिका, मुख, कर्णपृष्ठ भाग, ग्रीवा प्रभृति स्थानों मे नाडी की विकृति के अनुकूल पिडिकाएँ निकलती हैं। वृद्धावस्था मे तीव्र वेदना और बाल्यावस्था मे अल्प वेदना कक्षा होने पर होती है। अधिकतर पिडिकायें जब सूखती हैं तब वेदना कम हो जाती है। किसी-किसी स्थल पर नाडी प्रविभाग की पीडा मास से लेकर वर्ष पर्यन्त तक होती रहती है, इससे रोगी बहुत दु:खी हो जाता है।

पेशी की विकृति

इस रोग मे सावेदनिक नाड़ी तन्तुओं के साथ चेष्टावह तन्तुओं की विकृति होने से पेशियों का आघात हो जाता है। यह दशा प्राय मौखिक, औदरिक और बाहु सम्बन्धी पेशियों मे दिखाई देती है।

अर्दित के साथ शिर और ग्रीवा पर पिडिकाएँ निकलती हैं। तब इसको सिन्ड्रोम (Syndrome) कहते हैं। कक्षा की अवधि ४-१० दिवस की होती है। इसमें वारवार होने की प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु शरीर में एकवार होने पर स्थायी क्षमता पैदा हो जाती है। नाड़ीकन्दों में विकृति होने पर भी इस रोग से शरीर मे कोई स्थायी विकार उत्पन्न नहीं होता है।

कक्षा और परिसर्प में भेद

(१) कक्षा रोग मे पिडिकायें क्रमशः पुञ्ज रूप में प्रकट होती हैं और परिसर्प में एक साथ ही सब जल पिडिकायें निकल आती हैं।

(२) कक्षा में पिडिकाओं के निकलने के पूर्व और पश्चात अत्यन्त नाड़ी शूल होता है। परन्तु परिसर्प में वेदना नहीं होती है।

(३) कक्षा-रोग जीवन में एक वार आक्रमण करता है और परिसर्प अनेक वार प्रकाशित होता है।

(४) कक्षा-रोग अधिकतर दाहिनी तरफ होता है और अधिक से अधिक पिडिकायें शरीर की मध्य रेखा से कुछ ही अधिक दूसरी तरफ वढ़ते हैं। परन्तु परिसर्प हमेशा दोनों तरफ वढ़ता है।

(५) कक्षा मे पिडिकाओं की उत्पत्ति सदा नाड़ी विभाग के साथ होती है परन्तु परिसर्प में ऐसा किसी प्रकार का नियम नहीं है।

(६) कक्षा का संक्रमण नगर के वहुत से व्यक्तियों तथा परिवार के कई व्यक्तियों पर एक साथ ही अथवा एक के वाद दूसरे को होता है परन्तु; परिसर्प इस भाँति नहीं फैलता है।

चिकित्सा

कक्षा रोग से पीड़ित रोगी की कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिये। इसके लिये पहले रोगी को तीन दिन खिचड़ी खिलाकर फिर मृदु शोधन करने वाला चूर्ण अथवा गोली देवें। चिकित्सार्थ तरुणी कुसुमाकर चूर्ण (भेपजमणिमाला प्रोक्त) ६ माशे की मात्रा मे गरम पानी से देवें। इससे २-३ पाखाना आ जाते हैं। अथवा मग्नेशिया साल्ट वा रसपुष्प (कैलोमल) देवें।

आर्द्र स्वेद प्रतिषेध—पिडिकाओं के ऊपर आर्द्र स्वेद, उपनाह, मलहर आदि आर्द्र वस्तुओं का प्रयोग नहीं करें। इससे उनके दूषित होने का भय रहता है। उसके ऊपर केवल वोरिक और टाक चूर्ण (Boro Talc Dusting Powder) डालना चाहिये। अथवा कोलोडियन का प्रलेप लाभदायक होता है। कक्षा में नाड़ी शूल प्रकाशित होने पर पृष्ठवंश के ऊपर व्लिष्टर अथवा तडित् प्रवाह का प्रयोग करने से रोग आंशिकरूप से अथवा सम्पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है। अथवा वेदना निवारण करने के लिये फेनस्टीन, एस्प्रीन, अथवा अन्य वेदना नाशक औषधों का प्रयोग करें। इस रोग में जहाँ तक हो सके अहिफेन सत्त्व (मार्फिया) का प्रयोग न करें।

आत्मशोणित-चिकित्सा

(Auto haemo Therapy)

रोग की तीव्रावस्था में रोगी का ५-१५ सी० सी० रक्त निकाल कर सूचीवेध द्वारा उसीकी पेशी मे देने से वहुत लाभ होता है। इससे रोग की वेदना कम होती है, पिडिकायें जल्दी शुष्क हो जाती हैं और रोग की अवधि भी कम हो जाती है। यदि आवश्यक होवे तो दो-चार दिन के वाद फिर एक वार आत्मशोणित चिकित्सा का प्रयोग करें।

क्विनीन-प्रयोग—इस रोग में वेदनाहरण के लिये २½ रत्ती की मात्रा में क्विनीन का प्रयोग दिन मे ४ वार करने से लाभ होता है। रोग दीर्घकाल-स्थायी होने पर सार्वाङ्गिक वल्कारक औषध का प्रयोग करें और आक्रान्त नाड़ी मे तडित्प्रयोग की व्यवस्था करें।

कुष्ठ रोग

(Diseases of the Skin)

दूषित दोषों के द्वारा त्वचा का वर्ण विकृत हो जाता है और इसकी उपेक्षा से सर्व शरीर मे विकृति पैदा हो जाती है। सम्पूर्ण धातुओं के नाश के कारण इसको कुष्ठ रोग कहते हैं। सव मनुष्य कुष्ठ रोगी से घृणा करते हैं। यह भयंकर औपसर्गिक रोग है।

यथोक्तमष्टाङ्गहृदये—

त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तम् ।

कालेनोपेक्षित यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपुः ।

निरुक्तिस्तु—कुत्सित तिष्ठतीति अथवा (अ. नि.)

कुत्सिते पापकर्मणि तिष्ठतीति कुष्ठः ।

कुष्ठं दीर्घरोगाणाम्, इति चरकः

महाकुष्ठ

(Leprosy)

कुष्ठ शब्द से सात महाकुष्ठों का ही जगत् में व्यवहार होता है इसके अतिरिक्त क्षुद्र कुष्ठों में अनेक त्वचागत रोग भी समाविष्ट है ।

कारण

(१) विरुद्ध भोजन यथा दुग्ध, मत्स्य-मांस सेवन, विरुद्ध खाद्य-पेय पदार्थ, द्रव-स्निग्ध गुरु पदार्थ, असात्म्य भोजन, अध्यशन और अपथ्य-भोजन, मत्स्य-मांस, नवीन अन्न, दधि, ग्राम्यौदकानूप मांस, अति-लवणाम्लरस सेवन, आती हुई छर्दि को रोकना, मूत्रपुरीपादि वेगों का अवरोध, भोजन के बाद अतिसंताप, अधिक वायु का सेवन, शीतोष्ण, लंघन आहारादिका विपरीत क्रम से सेवन यथा—धूप संतप्त होकर वा श्रम से अथवा भय से पीड़ित होकर शीताम्बु का सेवन, अजीर्ण में व्यवाय, दिवास्वप्न, ब्राह्मणादि पूज्य व्यक्तियों का तिरस्कार करना तथा पापात्मक कर्मों का विधान कुष्ठों का सहायक कारण है । नवीन अनुसन्धान के द्वारा विषमज्वर, काला आजार, फिरंग, अंकुश मुखकृमि (Hook worm Disease) और दौर्बल्यजनक रोग भी कुष्ठों की उत्पत्ति में सहायक होते हैं ।

यथोक्तं चरके—

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च ।

भजतामागतांछर्दि वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥

व्यायाममतिसतापमतिभुक्त्वानिषेविणाम् ।

घर्मश्रमभयार्तानां द्रुत शीताम्बु सेविनाम् ॥

अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम्।
नवान्नदधि मत्स्याति लिलवणाम्ल निषेविणाम्॥
माषमूलक पिष्टान्न गुड क्षीरतिलाशिनाम्।
व्यवायचाप्यजीर्णेऽन्ने निद्राञ्च भजतां दिवा॥
विप्रान् गुरून् घर्षयता पाप कर्म च कुर्वताम्। (च चि. अ. ७)

आदिबलप्रवृत्त व्याधि

आयुर्वेद कुष्ट को आदिबल प्रवृत्त (कुलज) मानता है। अर्थात् यदि माता-पिता कुष्ठी है तो उसकी सन्तान भी कुष्ठी होगी।

यथोक्तम्—

दम्पत्यो कुष्ठबाहुल्याद् यदपत्य तयोर्जातं तदपि कुष्ठितम्।

इसके विपरीत पाश्चात्य सिद्धान्त

पाश्चात्य विद्वानों ने निश्चय किया है कि कोई भी कीटाणुजन्य रोग कुलज नहीं होते हैं। कुष्ठ कीटाणुजन्य है अतः यह भी कुलज नहीं है। परन्तु; बहुत कुछ अनुसन्धान से यह सिद्ध हुआ है कि कुष्ठी माता-पिता के सम्बन्ध से यह रोग उनकी सन्तान में भी संचार करता है। यदि जन्म से उसको माता-पिता से सर्वथा अलग कर दिया जावे तो वह संतान कुष्ठी नहीं होगी।

प्रधान कारण

इसका प्रधान कारण कुष्ठाणु बैसिलस लैप्री (B Leproe) है। इसका आकार दण्डाकार होता है। यह क्षयाणु के समान ही परन्तु उससे अधिक लम्बा, सरल और मोटा होता है और यह प्रायः कुष्ठ सेलों के अन्दर तथा बीड़ी या सिगरेट के वण्डल के समान एकत्र हुआ अधिक संख्या में मिलता है। यह गतिरहित और तन्तुपिच्छ तथा स्पोर-रहित होता है, यह भी ग्रामग्राही और अम्ल-सा ही है। परन्तु क्षयाणु दुर्बल होता है। मद्यसहन की शक्ति इसमें कम होती है। अतः धातुछेदों (Section) को देखते समय सावधानी रखनी चाहिये। इसको वर्धनकों में सम्वर्धित करने में अभी तक सफलता नहीं मिली है। अतः

इसके जीवन-क्षमता के सम्बन्ध में विशेष वर्णन नहीं किया जाता है फिर भी यह सिद्ध है। इसके जीवाणु बाहर आकर वस्त्रादि में बहुत समय तक जीवन-क्षम उपसर्गकारी हो सकते हैं। अतः उनके उपसर्ग से कुष्ठ हो जाता है।

इससे कोई विष नहीं बनता है। अतः कुष्ठी के शरीर में असाध्य लक्षण होने पर भी उसमें कोई विषयुक्त लक्षण नहीं होते हैं। कुष्ठ की प्रतिक्रिया के समय कुष्ठी में दिखलाई देने वाले विषयुक्त लक्षण वस्तुतः कुष्ठविषजनित है की नहीं इसमें अभी सन्देह है। यह कुष्ठाणु मनुष्य में कुष्ठ उत्पन्न करता है। कुष्ठी के विकृत अंगों मे असंख्य जीवाणु उपस्थित रहते है, जो नासास्राव या ग्रन्थियों के फूटने और त्वचा के कणों द्वारा बाहर निकलते है। जीवाणु उग्र न होने के कारण कुष्ठी के साथ अधिक काल तक घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर ही स्वस्थ मनुष्य पर इसका संक्रमण होता है और उपसर्ग होने पर रोग प्रकट होने में वर्षों समय लग जाता है।

आक्रमण का समय

आयु—मनुष्य की सब आयु में इसका आक्रमण हो सकता है। विशेषकर बाल्यावस्था में अधिक आक्रमण होता है। फिर इसके बाद वर्धमानावस्था तथा युवावस्था में अपेक्षा से अधिक आक्रमण का समय रहता है अतः ५–३० वर्ष की आयु मे अधिक आक्रमण होता है। ५० प्रतिशत २० वर्ष की आयु तक इससे आक्रान्त होते हैं। ५ वर्ष से कम आयु वाले कुष्ठ से आक्रान्त नहीं होते हैं। किन्तु १० वर्ष के बादवाले अधिक आक्रान्त होते हैं।

लिङ्ग—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों पर अधिक आक्रमण होता है।

वंश-जाति—सब पर इसका आक्रमण होता है।

परिस्थिति—अधिक संख्या में एकत्र होना। जैसे—कुम्भ का मेला गन्दगी, प्रकाश और शुद्ध वायु की कमी।

सामाजिक कुरीतियाँ—एक साथ भोजन करना, एक बिस्तरे पर शयन करना, एक पात्र मे जलपान करना, हुक्कापीना, एक दूसरे का वस्त्र पहनना आदि।

व्यक्तिगत कुरीतियाँ—आहार-विहार की विकृति।

घनिष्ठ सम्बन्ध—कुष्ठी के साथ उठना-बैठना, खाना-पीना, रहना आदि से कुष्ठ का संक्रमण होता है।

यथोक्तम्—

प्रसङ्गाद्गात्र सस्पर्शात् निःश्वासात्सहभोजनात्।
एकशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च सङ्क्रामन्तिनरान्नरम्॥

—सु० नि० अ० ५

प्रवेशमार्ग

जीवाणु का प्रवेश मुखद्वारा और ग्राम्यधर्म के समय जननेंद्रिय द्वारा होता है। किन्तु इसमें कोई आनुभविक प्रमाण नहीं है। परन्तु त्वचा के द्वारा जीवाणु का प्रवेश सब विद्वान् अङ्गीकार करते हैं। त्वचा की सूक्ष्म विदीर्णता द्वारा जीवाणु अन्दर प्रवेश करता है। यह विदीर्णता अधिक अनावृत स्थानों पर यथा—शाखाओं तथा मुख पर और अधिक दवाव, संघर्ष के स्थान यथा नितम्बादि स्थानों पर होती है। फिर प्रवेश-स्थानों से अन्य स्थानों पर और लसीकावाहिनियों द्वारा तथा कण्डू के कारण नखों के द्वारा जीवाणुओं का प्रसार होता है और जिस स्थान पर जीवाणु प्रवेश करते हैं उसके चारों ओर चक्र के आरकों के समान प्रवेश करते हैं। जिससे विकृत-स्थान गोल वा दीर्घ हो जाता है। फिर ऐसे-ऐसे मण्डल आपस में मिलकर चकत्ते का स्वरूप धारण कर लेते हैं।

सम्प्राप्ति

(१) कुष्ठ रोग की गुप्तावस्था—इसमें जीवाणु की वृद्धि, त्वचा के नीचे लसीका-स्थानों में होती है और वे चारों ओर फैलते हैं। किन्तु इनके विष का परिणाम शरीर पर नहीं होता है। इनकी वृद्धि के साथ साथ एक गोंद के तुल्य चिपचिपा पदार्थ भी बनता है। जो सदा इनको इकट्ठा रखता है।

(२) प्रतिक्रिया अथवा प्रकोपकीय अवस्था—इसमें विकृत-स्थान पर शोथ पैदा होता है। केशिकायें विस्फारित हो जाती हैं और जीवाणु तथा विष रस-रक्तद्वारा सारे शरीर मे फैल कर नये-नये स्थानों पर विकृति प्रारम्भ करके ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न कर देते हैं।

(३) प्रशम-अवस्था—इसमें स्थानिक शोथ कम, त्वचा पतली सलवटदार तथा उसमे तान्तव धातु बनती है और ज्वरादि लक्षण कम हो जाते है। इस भाँति कुष्ठ ज्वर (लेप्रसी फीवर) के आक्रमण बार-बार आते हैं और रोग का प्रसरण होता रहता है।

संचय काल

जीवाणु के प्रवेश होते ही रोग की उत्पत्ति नहीं होती है। रोगोत्पत्ति मे अनिश्चित समय लगता है और व्यक्ति भेद से किसी में पाँच वर्ष, किसी मे दस वर्ष, किसी मे इससे भी अधिक वर्षों में रोग की अभिव्यक्ति होती है।

दोषज सम्प्राप्ति

उपर्युक्त कारणों से कुपित हुआ वायु, पित्त और कफ को साथ ले बाह्य रोगमार्ग में फैला देता है, फिर जहाँ-जहाँ विक्षिप्त हुआ दोष संचारण करता है वहाँ-वहाँ पर मण्डल (चकत्ते) पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार त्वचा मे प्रकट हुआ दोष वहाँ की वृद्धि पाकर प्रतीकार न करने से क्रम से रक्त-मांसादि धातुओं को दूषित करके भीतर प्रवेश करता है। चरकमतानुसार त्रिदोष और त्वचादि चार धातु युगपद् दूषित होकर कुष्ठ उत्पन्न होता है।

यथोक्त चरके—

वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग् रक्त मांसमम्बु च।
दूषयन्ति सकुष्ठानां सप्तको द्रव्य संग्रहः॥

सुश्रुत-मत—त्रिदोष पहले त्वचा को दूषितकर उपेक्षा करने से क्रमशः रक्तादि धातुओं को दूपित करता है। चरक की सम्प्राप्ति मे एक

महत्त्व की बात है कि प्रकुपित दोष अधिक काल तक त्वचादि में अवस्थित करके रोग उत्पन्न करते हैं। इस काल को सम्प्राप्ति काल कहते हैं। पाश्चात्य पद्धति में कुष्ठ रोग का सम्प्राप्तिकाल २ से ८-१० वर्ष से भी अधिक माना गया है।

यथोक्तं चरके—

दोषाः प्रकुपिताः स्थानमधिगम्य संतिष्ठमानाः तानेवत्वचादीन् दूषयन्त कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति।

पूर्वरूप

त्वचा कर्कश, अकस्मात् रोमाञ्च, कण्डु, स्वेद का निरोध वा अति स्वेद की प्रवृत्ति, अवयव विशेष में स्पर्श-ज्ञान का अभाव, विवर्णता, चकत्तों का पड़ जाना, सूचिवेधनवत् पीडा, श्रम, क्लम, व्रणों की शीघ्र उत्पत्ति, चिरकाल तक स्थिति और उनमें अधिक वेदना, दाह और रक्त, कृष्णवर्ण का होना ये लक्षण कुष्ठ के प्रकाशित होने के पूर्व होते हैं।

यथोक्तं चरके—

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो नवावैवर्ण्यमुन्नति।
कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमःक्लमः॥
व्रणानामधिकशूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः।
दाहसुप्ताङ्गताचेति कुष्ठलक्षणमग्रजम्॥ —च. चि अ ७

लक्षण

एलोपैथी में आश्रयभेद से इनके तीन वर्गीकरण किये गये हैं। यथा—
(१) त्वगाश्रित, इसको ग्रन्थिक Nadular Tubercular कहते हैं।
(२) नाड्याश्रित, इसको नाडी कुष्ठ वा वातिक कुष्ठ कहते हैं। और (३) उभयाश्रित।

त्वगाश्रित कुष्ठ

इसमें आरम्भ से ही त्वचा विकृत हो जाती है, त्वचा के नीचे मण्डल बन जाते हैं और त्वचा फूल जाती है। त्वचा का वर्ण विकृत हो जाता है और त्वचा के नीचे रहनेवाली स्वेद-ग्रन्थियों और स्पर्श ज्ञानोत्पादक सेलों

तथा वर्णोत्पादक सेलों पर इस रोग का असर धीरे से होने लगता है। जिससे त्वचा का रंग नष्ट हो जाता है, तथा स्वेद न आना और स्पर्श ज्ञान का अभाव ये लक्षण व्यक्त हो जाते हैं, त्वचापर मोटे-मोटे उभार हो जाते हैं, जिससे त्वचा का वह भाग देखने में बहुत भयजनक तथा भद्दा मालूम पड़ता।

ग्रन्थियाँ जब फूट जाती हैं अथवा फटने लगती हैं तब उनमें से स्राव निकलने लगता है। त्वगाश्रित कुष्ठाणु शरीर के अन्तर्गत-अवयवों पर प्रवेश कर जाते हैं जिससे लासा की तरुणास्थि (कार्टिलेज) और अंगुलियों की अस्थियों का ह्रास होने लगता है, नासिका बैठ जाती है, स्वरभंग हो जाता है, अंगुलियों के पोरवे गलकर गिर पड़ते हैं। अंगुलियों के शेष भाग मुड़ जाते हैं, व्रणस्राव और लासा-स्राव मे बहुत दुर्गन्धि आती है। भौंहों के बाल गिर पड़ते हैं। कर्णशष्कुली मोटी व लम्बी हो जाती है। कर्णपाली भी मोटी हो जाती है और शीत ज्वर, अजीर्ण, शिरोवेदना आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। यह त्वगाश्रित कुष्ठ प्रायः स्रावी होता है। त्वगाश्रित कुष्ठ हाथ, पैर, कान, नाक, ललाट आदि खुले हुए भागों पर अधिक होता है। जो लोग उष्णप्रदेश वासी हैं, उनके पृष्ठवंश, वक्षस्थल और उदर पर भी कुष्ठ पाया जाता है। जीर्ण रोगियों में ललाट की त्वचा बहुत मोटी हो जाती है और नेत्र भी विकृत हो जाते हैं, तथा त्वचा मे गाँठें उत्पन्न हो जाती हैं अतः इसको ग्रन्थिक कुष्ठ भी कहते हैं।

नाड्याश्रित वा वातिक कुष्ठ

नाड्याश्रित कुष्ठ में कुष्ठाणुओं का प्रभाव नाड़ीमण्डल पर विशेष रूप से पड़ता है। इसमें त्वचा पर जगह-जगह चकत्ते पड़ जाते हैं। त्वचा का वर्ण नष्ट हो जाता है अतः त्वचा का वर्ण काला, लाल-श्वेत आदि कई प्रकार के हो जाते हैं। त्वचा मे चकत्ते पैदा होने के बाद उसकी स्पर्शशक्ति भी कम होने लगती है, और त्वचा मे कई प्रकार की वातिक वेदना क्षण-क्षण में उत्पन्न हो जाती है। कुछ दिनों के बाद त्वचा की स्पर्शशक्ति बिल्कुल नष्ट हो कर त्वचा शून्य हो जाती है। त्वचा के बाल

मोटे होकर गिर जाते हैं। यह रोग इस अवस्था मे कई वर्ष तक चलता है। जिससे सब शरीर आक्रान्त हो जाता है, त्वचा की नाड़ियों पर इसका विशेष आक्रमण होता है और त्वचा मे कुष्ठजन्य नाड़ी शोथ हो जाने से शूल आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं, विशेषकर शाखाओं पर ये लक्षण अधिक होते हैं। नासिका और कर्ण की संज्ञा नष्ट हो जाती है। इसके बाद शाखाओं मे जानेवाली छोटी-छोटी मांसपेशियों की नाडियाँ भी ग्रस्त हो जाती हैं, जिससे हाथ की अंगुलियों की पेशियाँ गिरने लगती हैं अतः हाथ मुड़ जाता है और इनकी संज्ञा भी नष्ट हो जाती है तथा इन पर आघात लगने से व्रण बन जाता है। अंगुलियों के व्रण अच्छे न होने से अंगुलियों के पोरवे गल कर गिरने लगते हैं और शेष लक्षण पूर्वोक्त हो जाते हैं।

उभयाश्रित

उभयाश्रित कुष्ठ में दोनों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं।

आयुर्वेदोक्त कुष्ठ के भेद

आयुर्वेद में कुष्ठ अठारह प्रकार के माने गये हैं, इनमे सात प्रकार के महाकुष्ठ और ११ प्रकार के क्षुद्रकुष्ठ होते हैं।

महाकुष्ठ—यथा मण्डल, औदुम्बर, ऋष्यजिह्व, कपाल कुष्ठ, काकणक, पुण्डरीक और दद्रु कुष्ठ।

क्षुद्रकुष्ठ—यथा स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, एककुष्ठ, चर्मदल, विसर्प, परिसर्प, सिध्म, विचर्चिका, किटिभ, पामा और कच्छू।

दोषभेद से वर्णन

वायु की अधिकता से अरुणकुष्ठ और पित्त की अधिकता से उदुम्बर ऋष्यजिह्व, कपाल और काकणक कुष्ठ और कफ की अधिकता से पौण्डरीक और दद्रु कुष्ठ होता है। ये सम्पूर्ण कुष्ठ उत्तरोत्तर धातु समूह का अवलम्बन करके क्रमश. बढ़ते हैं और अन्तिम अवस्था मे असाध्य हो जाते हैं।

चरकोक्त क्षुद्रकुष्ठ—वात-कफ की अधिकता से, चर्माख्य, एककुष्ठ,

किटिभ, विपादिका, अलसक और पित्तश्लेष्मा की अधिकता से पामा, शतारु, विस्फोट, दद्रु, चर्मदल और कफ की अधिकता से विचर्चिका होती है। परन्तु सब कुष्ठ त्रिदोषजन्य होते हैं।

मतविभिन्नता

कुष्ठ के विषय मे चरक और सुश्रुत दोनों संहिताओं में बहुत भिन्नता है। यथा दद्रु को सुश्रुत ने महाकुष्ठ में परिगणन किया है किन्तु चरक मे क्षुद्र कुष्ठ मे वर्णन किया है।

यथोक्त डह्लनाचार्येण—

> दद्रुकुष्ठ द्विविधं सितमसितञ्च। असितस्यमहोपक्रमसाध्यत्वादनुवन्धित्वप्रकर्षाच्च महाकुष्ठेषुमध्ये सुश्रुते पाठः। सितदद्रुकुष्ठस्य सुख साध्यत्वादुत्तरोत्तर धात्वनुप्रवेशाभावात्तथाऽत्यर्थं पीड़ा रहित्वाच्च चरके क्षुद्रकुष्ठेषु मध्ये पाठ इत्यदोषः। तथा अवगाहसिध्म चरके महाकुष्ठम्, सिध्मपुष्पिकातुत्वग्मात्रगतासुश्रुते क्षुद्रकुष्ठम्, असितदद्रौ असितसिध्मतोऽवरोध इति गदाधर, जेज्जटस्त्वाह— चरकोक्त सिध्मैव सुश्रुते दद्रुशब्दाभिहित नामधेय. केवल नवस्तु-भेद किन्त्वियमाध्वी व्याख्या लक्षणवैलक्षण्यात्, कि चरकसुश्रुतयोः कुष्ठप्रति बहुप्रकार भेदः तस्मात् चरके केचित्, सुश्रुते केचिद् भिन्नाः कुष्ठाः प्रतिपादिता सन्ति। इति

आयुर्वेदोक्त सिद्धान्त से कुष्ठ कीटाणुजन्य भी है

सुश्रुताचार्य ने लिखा है कि सम्पूर्ण कुष्ठ में त्रिदोष के लक्षणों के साथ कृमिजन्य भी लक्षण होते हैं और यह कृमिजन्य हैं भी।

यथोक्तं—

> सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि, सकृमीणि च भवन्ति। उत्सन्नतस्तु दोषग्रहणमभिभवात्।

—सु० नि०

सात महाकुष्ठों के लक्षण

अरुणकुष्ठ—वाताधिक्य अरुणवर्ण, पतला, विस्तृतशील, सूची वेधनवत् और भेदनवत् पीडायुक्त तथा स्पर्शज्ञानशून्य होता है।

उदुम्बर कुष्ठ—पित्ताधिक्य पाकावस्था में उदुम्बर फल के तुल्य वर्ण और आकृतिवाला होता है।

ऋष्यजिह्वकुष्ठ—ऋष्यजिह्व (नीलाण्ड हरिण) नामक हरिण की जिह्वा के तुल्य खरस्पर्श और आकृति विशिष्ट होता है।

कपालकुष्ठ—कृष्ण, अरुणवर्ण विशिष्ट कपाल के तुल्य वर्णयुक्त और रूक्ष, कर्कश, तनु तथा सूची वेधन के तुल्य वेदना विशिष्ट विषम कपाल कुष्ठ होता है।

काकणकुष्ठ—गुञ्जाफल के सदृश रक्त कृष्णवर्ण विशिष्ट पाकरहित तीव्र वेदनायुक्त कुष्ठ को काकणक कुष्ठ कहते हैं। इन चार प्रकार के कुष्ठों में निकटस्थ अग्निसन्ताप के स्पर्श के तुल्य सन्ताप, चूषण के तुल्य यन्त्रणा, दाह और धूम निकलने के तुल्य अनुभव—ये सब लक्षण लक्षित होते हैं। ये शीघ्र उत्पन्न होकर पक जाते हैं और फूट जाते हैं। ये सब कुष्ठ कृमिजन्य हैं और उक्त लक्षण इनके सामान्य लक्षण हैं।

पुण्डरीक कुष्ठ—श्वेत-रक्तवर्ण विशिष्ट पुण्डरीक (लाल कमल) के सदृश उन्नत, लाल चकत्ते युक्त कुष्ठ को पुण्डरीक कुष्ठ कहते हैं।

दद्रु कुष्ठ—अलसी पुष्प के समान नील और ताम्रवर्ण विशिष्ट निःसरणशील पीडिकाव्याप्त, उन्नत, मण्डलाकार कण्डू विशिष्ट होता है। सुश्रुत में—ये दोनों कुष्ठ उन्नत मण्डलाकार, कण्डूविशिष्ट और विलम्ब से उत्पन्न होनेवाले माना है।

एकादश क्षुद्रकुष्ठ के लक्षण

स्थूलारुष्क कुष्ठ—इसके मूल प्रदेश में स्थूलता और सम्पूर्ण व्रण कठिनतायुक्त होते हैं। यह संधियों में उत्पन्न होता है और अतिशय कष्टसाध्य है।

महाकुष्ठ—इसमें त्वचा का संकोच, भेदन के तुल्य वेदना, स्पर्शज्ञान का अभाव और अङ्गों में असामर्थ्यता—ये सब लक्षण होते हैं।

एककुष्ठ—इसमें शरीर का वर्ण कृष्णारुण वर्ण का हो जाता है। यह कुष्ठ असाध्य होता है।

चर्मदल कुष्ठ—इस मे करतल और पादतल मे कण्डू, व्यथा, निकट में अग्निसन्ताप के स्पर्श के तुल्य अनुभव और चूषने के तुल्य वेदना उपस्थित हो जाती है और लाल स्फोट होकर फट जाते हैं। रोगी स्पर्श को नहीं सहन कर सकता है।

विसर्प कुष्ठ—इसमे त्वचा रक्त और मांस दूषित हो करके विसर्प रोग के तुल्य शरीर में फैल जाता है। मूर्च्छा, विदाह, अस्थिरता, सूचीवेधन के तुल्य वेदना और पाक ये सब लक्षण हो जाते हैं।

परिसर्प कुष्ठ—धीरे-धीरे शरीर मे स्रावविशिष्ट जो पिडिकाएं होती हैं उनको परिसर्प कुष्ठ कहते हैं।

सिध्म कुष्ठ—इसमें कण्डू होती है। यह श्वेतवर्ण तथा वेदनाहीन और सूक्ष्म संघर्षण से इसमें से रज के तुल्य त्वचा निकलती है। प्राय: यह ऊर्द्ध्वकाय मे होता है। इसकी भूसी मे शाखा-प्रशाखायुक्त जीवाणु (Microspron fur fur) देखे जाते जाते हैं।

विचर्चिका कुष्ठ—अतिशय कण्डू और वेदनायुक्त, अति रूक्ष रेखाएं शरीर मे उत्पन्न हो जाती हैं। इसको विचर्चिका कहते हैं।

विपादिका—इसमें पैर फट जाते हैं और कण्डू, वेदना अधिक होती हैं तथा दाह भी होता है। अर्थात् विचर्चिका के लक्षण भी पाद प्रदेश मे हो, तो उसको विपादिका कहते हैं।

किटिभ कुष्ठ—इसके स्रावयुक्त, गोलाकार, घन, उग्रकण्डूयुक्त, मसृण और कृष्णवर्ण--ये लक्षण होते हैं।

पामा—इसमे स्राव, कण्डू और दाह विशिष्ट अति सूक्ष्म-सूक्ष्म दो फुन्सियाँ निकलती हैं। इसको पामा कहते हैं।

कच्छु—जब पामा दाहयुक्त स्फोटों मे परिणत हो जाती है तब इसको कच्छू कहते हैं। यह हाथ, पैर और नितम्ब प्रदेश पर अधिक होती है।

रकसा—इसमे कण्डू विशिष्ट, स्रावशून्य फुन्सियाँ सम्पूर्ण शरीर मे निकल आती हैं। इसको रकसा (सूखी खुजली) कहते हैं।

कुष्ठगत दोषों के लक्षण

कुष्ठ मे वायु का प्रकोप अधिक होने पर वात वेदना, त्वचा का संकोच, स्पर्शशक्ति का अभाव, स्वेद, शोथ, भेदनवत् वेदना, करभङ्ग और स्वरभङ्ग हो जाता है। पित्त की अधिकता मे पाक, विदारण, अंगुलि पातन, नासाकर्ण भङ्ग, चक्षु की रक्तवर्णता और अन्तिम कृमि पड़ जाते हैं और कफ की अधिकता मे कण्डु, वर्णभेद, शोथ, अल्पस्राव और गुरुता उत्पन्न हो जाती है। पौण्डरीक और काकणक कुष्ठ के उत्पन्न होते ही त्रिदोष कुपित हो जाता है। इसलिये ये दोनों कुष्ठ प्रथम से ही असाध्य होते हैं।

श्वित्र कुष्ठ

(Leucoderma)

पर्याय—श्वेत कुष्ठ, अजीत वर्ण, धवल या सफेद दाग, पू० भा० वर्स एवंज और एलोपैथी मे ल्यूकोडर्मिया कहते हैं।

सज्ञा—इसको श्वित्र सज्ञा मानने का यह हेतु है कि इसमें त्वचा का वर्ण श्वेत हो जाता है। क्योंकि त्वचा के ऊपरी पर्त मे विशेष कारण से मैलेनिन नाम का जो रग होता है वह इस रोग मे नष्ट हो जाता है। इससे त्वचा श्वेतवर्ण की हो जाती है। अत इसे श्वित्रकुष्ठ कहते हैं।

यथोक्तम् काश्यपेन— (काश्यप चि०)

श्वित्रभावाच्च श्वित्रम्

मतान्तर

चरक, सुश्रुत ने १८ कुष्ठों से अतिरिक्त इस रोग को माना है और वाग्भट्टाचार्य ने स्पष्टत इसको वाह्य कुष्ठ माना है। काश्यप सहिता मे श्वित्र को क्षुद्र कुष्ठ माना है।

यथोक्तं वाग्भट्टे— (अ० नि०)

श्वित्रमस्माच्च वाह्यकुष्ठमुदाहृतम्

कारण

अतथ्य भाषण, विश्वासघात, देवनिन्दा, गुरुजन का अपमान तथा पूर्व जन्मकृत पापकर्म और विरुद्ध वीर्यवाले पदार्थों का सेवन इसके कारण हैं।

यथोक्तं चरके--

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा सुराणां गुरुप्रधर्षणञ्च।

पापक्रिया पूर्वकृतञ्च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधिचान्नम् ॥

श्वित्र कुष्ठ के भेद

श्वित्र और कुष्ठ मे यह भेद है कि कुष्ठ, त्वक् और रक्तादि धातु में अधिष्ठान करके प्रकाशित होता है और उसमें से स्राव होता है। परन्तु; किलास कुष्ठ केवल त्वचा का ही अधिष्ठान करके प्रकाशित होता है और यह स्रावहीन होता है।

एलोपैथी का विपरीत सिद्धान्त

एलोपैथी मे श्वित्र को कुष्ठ नहीं मानते हैं। क्योंकि प्रतीच्य विद्वानों का मत है कि इस रोग मे त्वचा के ऊपरी भाग मे मैलेनिन नाम का जो रंग होता है वह रंग नष्ट होकर त्वचा श्वेत हो जाती है। कुष्ठ के समान इसमे त्वचा मे सुन्नता नहीं आती है। अतः यह कुष्ठ नहीं है।

प्रकार भेद--किलास रोग तीन प्रकार का होता है वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक। इनके मध्य वातज किलास कुष्ठ, मण्डलाकार, अरुणवर्ण और कर्कश होता है। इसको वर्षण करने से भूसी-सी निकलती है। पित्तज किलास, पद्मदल के आकार के तुल्य आकार वाला और दाह विशिष्ट होता है। श्लेष्मज कुष्ठ मे श्वेत वर्णता, मसृणता, स्थूलता तथा कण्डू मालूम होती है। किलास के ये मण्डल परस्पर वर्धित होकर आपस मे मिल जाते हैं और उसके ऊपर स्थित रोम रक्तवर्ण का हो जाता है। जो किलास करतल, पादतल तथा गुह्य प्रदेश मे उत्पन्न होता है वह असाध्य है। अग्निदग्ध स्थान मे यदि किलास उत्पन्न हो जावे तो वह भी असाध्य हो जाता है।

चरक का सिद्धान्त

किलास के तीन नाम हैं। यथा—दारुण, चारुण और श्वित्र। ये अधिकतर त्रिदोषज होते हैं। जब दोष रक्त-धातु का आश्रय लेता है तब

रक्त वर्ण का होता है और जब मास-धातु का आश्रय लेता है तब ताम्र वर्ण विशिष्ट होता है तथा जब दोष मेदो-धातु का आश्रय लेता है तो श्वेतवर्ण का होता है और साथ ही यथोक्त गम्भीर लक्षण भी प्रकाशित होते हैं। जो दाग परस्पर मिले हुये हों और कई सालों के श्वेत वर्णवाले रोग हों, तो वह श्वित्र भी असाध्य होता है।

धातुगत कुष्ठ के लक्षण

त्वचा अथवा रसधातुगत कुष्ठ मे स्पर्शहानि, अल्पस्वेद, कण्डू, विवर्णता और रूक्षता होती है।

रक्तधातुगत कुष्ठ मे—स्पर्श-ज्ञान का अभाव, रोमाञ्च, अधिक स्वेद, कण्डू और पूय की अधिक उत्पत्ति होती है।

मांस-धातुगत कुष्ठ में—रोग की वृद्धि, मुख शोष, कर्कशता, फुंसियाँ, स्फोटों का उद्गम, सूचीवेधन के तुल्य पीडा और कुष्ठ मे कठिनता आ जाती है।

मेदोधातुगत कुष्ठ मे—दुर्गन्ध की अधिकता, अधिक पूय का पैदा हो जाना, कीड़े पड जाना और गात्र मे भेद—ये लक्षण हो जाते हैं।

अस्थिगत और मज्जागत कुष्ठ मे—नासाभग, चक्षु की रक्तवर्णता, कृमि पड़ना और स्वर भग हो जाता है।

शुक्रधातुगत कुष्ठ मे—स्वर भग, गतिशक्ति का नाश, अङ्गों मे वक्रता और घाव (क्षत) बढ जाते हैं।

चिकित्सा

निदान परिवर्जन—विरोधी पदार्थों का परित्याग करना ही सर्वप्रथम आवश्यक है।

प्रकृति विधान—लक्षणों से दोप का ज्ञान हो जाने पर कफजन्य कुष्ठ मे वमन और पित्तज कुष्ठ मे विरेचन देवे। वातिक कुष्ठ मे वातदोष और व्याधि-विपरीत द्रव्यों से साधित घृत पिलाना चाहिये।

धातुगत कुष्ठ की चिकित्सा—रसगत अथवा त्वचागत कुष्ठ मे वमन-विरेचन से शोधन करके प्रलेपो का प्रयोग करे।

रक्तधातुगत कुष्ठ में—संशोधन, प्रलेप, कषायों का पान और रक्त-मोक्षण करें।

मांसधातुगत कुष्ठ में—पूर्वोक्त संशोधनादि क्रिया करें और अरिष्ट, मन्थ और अवलेहों का प्रयोग करें।

मेदो धातुगत कुष्ठ में—यथा विधि चिकित्सा करने पर रोग याप्यावस्था मे रहता है। अतः इसमे वमन, विरेचन कराने के बाद रक्तमोक्षण करावें। इसके अतिरिक्त इसमे आभ्यन्तरिक औषधों का भी प्रयोग करें। यथा—शिलाजतु का प्रयोग, गुग्गुल का प्रयोग, भल्लातक-प्रयोग, खदिर-प्रयोग, असन-प्रयोग आदि लाभदायक है।

अस्थि, मज्जादि धातुगत कुष्ठ असाध्य होते हैं। इसमे चिकित्सा से लाभ नहीं होता है।

यथोक्तम् सुश्रुते—

कुष्ठमात्मवतः साध्य त्वग्रक्तपिशिताश्रितम्।
मेदोगत भवेद् याप्यमसाध्यमत उत्तरम्।
आहाराचारयोः प्रोक्तामास्थाय महती क्रियाम्।
औषधीनां विशिष्टानां तपसश्च निषेवणात्॥
यस्तेनमुच्यते जन्तु सपुण्यां गतिमाप्नुयात्।
नीचरोमनखोऽश्रान्तो हिताश्चौषध तत्परः।
योषिन्मांससुरावर्जी कुष्ठी कुष्ठमपोहति॥

वातिक कुष्ठ में—तुवरक तेल ५ बूँद से १ ड्राम तक मधु के साथ देवें और खदिरारिष्ट पिलावें। कफजन्य कुष्ठ में कुष्ठ-कुठार रस १ रत्ती की मात्रा मे शहद के साथ सायं-प्रातः देवे। बृहद्मञ्जिष्ठादि क्वाथ पिलाव और भोजन के बाद सारिवाद्यासव २ तोला की मात्रा मे पिलावें। पैत्तिक कुष्ठ मे चरकोक्त पञ्चतिक्त घृत मधु के साथ देवे और रात्रि मे पञ्चनिम्ब चूर्ण जल के साथ देवें।

विशेष चिकित्सा

अरुण कुष्ठ मे—शुद्ध पारद २ तोला, शुद्ध गन्धक ४ तोला, शुद्ध वत्सनाभ ७ माशा डेढ रत्ती।

विधि—पारा गन्धक की कज्जली करें। फिर शुद्ध वत्सनाभ का बारीक चूर्ण मिलाकर वाकुची तेल की भावना देकर तीन दिन घोंटे।

मात्रा और अनुपान—४ रत्ती से एक माशा तक मधु के साथ प्रातः-सायं सेवन करें।

लाभ—अरुण कुष्ठ मे बहुत लाभ करता है।

उदुम्बर कुष्ठ में कनक संकोच रस का प्रयोग

ताम्र भस्म १ तोला, अभ्रक भस्म १ तोला, पारद भस्म ४ तोला।

विधि—इनको खरल कर गोला वना लेवें। शुद्ध गन्धक ६ तोला लोह पात्र मे डालकर गलावें, उसी मे गोले को डाल कर पकावें और गन्धक जल जाने पर गोले को निकाल कर पीसे।

मात्रा—१ रत्ती मधु से चाटें।

सायं-प्रात दवा लेने के वाद निम्ब का पञ्चाग, त्रिफला, शुद्ध गुग्गुल, शुद्ध वत्सनाभ, अतीस, पटोल पत्र, खदिरसार और अमलतास—इन सब ओपधियों को सम भाग मे लेकर चूर्ण वनावें।

मात्रा—४ माशा जल से लेवें।

ऋष्यजिह्व कुष्ठ में शैलेन्द्ररस का प्रयोग

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, कान्तलोह भस्म, शुद्ध वत्सनाभ, वाकुची, त्रिफला, निम्बत्वचा और चित्रक गुडीची प्रत्येक १-१ तोला लें।

विधि—इनका चूर्ण वनाकर भंगरा के स्वरस और वाकुची के कपाय से एक-एक दिन मर्दन कर शुष्क कर लेवें।

मात्रा—२-२ माशा मधु से लेव।

प्रलेप—गुञ्जा और भल्लातक तेल में वाकुची चूर्ण मिलाकर लेप करें।

कपाल कुष्ठ मे सोमेश्वर रस देवे। इसका प्रयोग निम्नलिखित है।

शुद्ध पारद, अभ्रक भस्म, शुद्ध गन्धक।

विधि—इन सव को समान भाग मे लेकर संभालू के स्वरस से मर्दन करावें। फिर गोला वनाकर भूधर यंत्र से पकाकर निकाल, फिर वाकुची तेल और वाकुची कपाय से एक-एक दिन मर्दन करके धूप में सुखावें।

मात्रा—१ माशा ।

अनुपान—वाकुची, काकमाची और त्रिफला समान भाग मे लेकर चूर्ण बनावें। ४ माशा चूर्ण. ६ माशा मधु एवं ३ माशा घृत मिलाकर साय प्रातः चाटें।

काकण कुष्ठ में सूर्यकान्तरस का प्रयोग

ताम्रभस्म १२ तोला, पारद १ तोला, गन्धक २ तोला, त्रिकुटा ४ तोला, त्रिफला ४ तोला।

विधि—त्रिकुटा और त्रिफला का पहले बारीक चूर्ण बना लेवें, फिर पारा गन्धक की कज्जली बनावें। फिर सब दवा एक में मिलाकर निर्गुण्डी (सम्भालू) और आद्रक-चित्रक के स्वरस से एक-एक दिन भावना देकर घोटें, फिर इसका गोला बनाकर तुषाग्नि में एक दिन पकावें, बाद में वाकुची तेल मे तीन दिन तक मर्दन करें।

मात्रा—४ रत्ती से १ माशा ।

अनुपान—मधु ।

समय—प्रातः सायं।

अभ्यङ्ग प्रयोग—करञ्जतैल, चित्रक, सेंधा नमक—इनको एक मे मिला कर शरीर पर अभ्यङ्ग करें ।

पुण्डरीक कुष्ठ में सर्वाङ्ग सुन्दर रस का प्रयोग

शुद्ध पारद २ तोला लेकर विष्णुक्रान्ता, देवदाली, सर्पाक्षी, चौलाई, अगस्त्य, नील, ब्राह्मी और पलाश–इनके स्वरस से १-१ दिन मर्दन करें। फिर उसमे शुद्ध गन्धक ४ तोला मिलाकर कज्जली बनावें। फिर लोहपात्र मे डालकर इतनी ही देर पकावे जिससे दोनों एक मे मिल जावे। पिघलाकर फिर उसमे अभ्रक भस्म ३ माशा, ताम्र भस्म ३ माशा, कर्पूर ३ माशा मिलाकर मर्दन करें।

मात्रा—१ माशा।

अनुपान—मधु ।

समय—प्रात' सायं।

लाभ—पुण्डरीक कुष्ठ को नष्ट करता है।

नोट—दद्रु कुष्ठ की चिकित्सा आगे वर्णित है

क्षुद्रकुष्ठों का वर्णन चर्मरोग में प्रायः किया है। वहाँ पर उनकी चिकित्सा देखें। विशेषकर चर्मदल कुष्ठ मे लंकेश्वर रस की पर्पटी बनाकर १ माशा की मात्रा में वाकुची चूर्ण ४ माशा, मधु ६ माशा मिलाकर प्रातःकाल चटावें।

अलसक कुष्ठ में—लंकाधिपेश्वर रस १ रत्ती मधु से लेवें। ऊपर से त्रिफला, निम्ब की छाल, मञ्जिष्ठा, वच, परवल-मूल, कुटकी, हरिद्रा समान मात्रा में लेकर २ तोले का क्वाथ बनाकर पीवें।

विचर्चिका-कुष्ठ में—कुष्ठ निकृन्तनरस ४ रत्ती मधु से चटावें और ऊपर से शुद्ध भल्लातक, वाकुची, हरीतकी वायविडंग, चित्रक, जीरा, बेर की जड़—इनका चूर्ण समान मात्रा में लेकर बनावें।

मात्रा—६ माशा, सर्षपतेल और इङ्गुदी तेल से सेवन करें।

वैपादिक कुष्ठ में—महाकाल रस २ रत्ती मधु से चाटें। ऊपर से वाकुची क्वाथ पीवें। अथवा निम्ब, निर्गुण्डी, वाकुची, मुण्डी, पियावासा, चित्रक, सेमल-छाल और भंगरा इनको समान भाग में लेकर चूर्ण बनावें। ४ माशे की मात्रा में लेकर शहद ३ माशा, घृत ६ माशा मिलाकर चाटें।

किटिभ कुष्ठ में—वज्रपाणिरस तथा निम्न-लिखित हरिद्रादि चूर्ण का प्रयोग करें।

हरिद्रा १ तोला, पीपल २ तोला, सोंठ ३ तोला, मिर्च ४ तोला, चित्रक ५ तोला, स्वर्णमाक्षिक भस्म ६ तोला मिलाकर गोमूत्र से ३ दिन घोंटें।

मात्रा—२ माशा गोमूत्र ५ तोला के साथ प्रात.काल पीवें। विसर्प परिसर्प की चिकित्सा विसर्प रोग के तुल्य करें।

रसमाणिक्य (रसेन्द्रसारोक)—१ रत्ती मधु से चाटें। ऊपर से सारिवाद्यासव पीने से सब प्रकार के कुष्ठों मे लाभ होता है अथवा हरिताल भस्म आधी रत्ती मधु के साथ चाटें। ऊपर से वृहन्मञ्जिष्ठादि काथ पीवें। इससे पूर्ण लाभ होता है।

श्वित्र की चिकित्सा

प्रथम रोगी के शरीर का वमन-विरेचन से संशोधन करावें, फिर शोणित मोक्षण करावें। बाद को बाह्यान्तर चिकित्सा करें। यह कुष्ठ बड़ा भयंकर है। यह किसी पाप विशेष से होता है। अतः इसमें सूर्योपासना करें। रविवार को व्रत करें। सूर्यशतक प्रतिदिन पाठ किया करे। श्री मयूरकवि का कुष्ठ मयूरशतक से शान्त हुआ था। गंगाजल में स्नान करने से भी यह नष्ट हो जाता है ऐसा अनुभव है। एक पण्डित को श्वित्र कुष्ठ हो गया था। वे ऋषिकेश में निवास करने लगे और प्रतिदिन गंगास्नान करने लगे। इससे उनका कुष्ठ नष्ट हो गया। यह प्रत्यक्ष फल देने वाला है।

यथोक्तं चरके

श्वित्रं कस्यचिदेव शाम्यति क्षीणपापस्य।

आभ्यन्तरिक चिकित्सा

काष्ठोदुम्बरिका रस-प्रयोग—पहले वमन-विरेचन से रोगी को शुद्ध करें। फिर कठगूलर के स्वरस में गुड मिलाकर पीवें। इस भाँति तीन दिन पीवें और अपनी शक्ति के अनुसार धूप में बैठे। जब प्यास लगे तब पेया पीवें। इससे श्वित्र-स्थान पर स्फोट निकलेंगे, उनको कण्टक से भेदन कर देवें। ऐसा करने से स्राव निकलेगा। फिर प्रातःकाल कठगूलर, विजयसार, फूलप्रियङ्गु, सौंफ इनको समान भाग में लेकर क्वाथ बनाकर पीवें। अथवा पलाश का क्षार, राब (फाणित) के साथ सेवन करे।

पानार्थ जल

खदिर का क्वाथ जल के रूप में पीवें। उसके क्वाथ से भोजन बनाकर सेवन करें। खदिरारिष्ट १ तोला भोजन के बाद पीवें। रसमाणिक्य १ रत्ती मधु के साथ प्रातः-सायं सेवन करें।

बाह्य चिकित्सा

मैनशिल, विडंग, कसीस, गोरोचन, सत्यानाशी, सधानमक, बाकुची।

विधि—इनको समान भाग में लेकर कूट-पीसकर चूर्ण बना लेवें। बाद को गोमूत्र के साथ श्वित्र स्थान पर लेप लगावें।

गर्दभास्थि-प्रयोग

गदहे की अस्थि को पुट में रखकर भस्म कर लेवें, फिर हाथी के मूत्र में मिलाकर श्वित्र पर लेप करें।

हस्ति विष्ठा-प्रयोग

हाथी की विष्ठा लेकर जला लेवें। फिर उस राख को आठ गुने हस्तिमूत्र में घोल देवें, फिर उस पानी को निथार लेवें। फिर उस जल में चतुर्थांश बाकुची चूर्ण मिलाकर अग्नि पर पकावें। मूत्र जल जाने पर उसको उतार लेवें।

प्रयोग—श्वित्र के दागों को खुरच कर जल के साथ लेप करें। इससे श्वित्र अच्छा होता है।

श्वित्रारि लेप

बाकुची ऽ— छटाँक और गेरू १ तोला मिलाकर चूर्ण कर लेवें। फिर गोमूत्र से इसको लगावें। इससे भी लाभ होता है। परन्तु, रक्त-शोधक क्वाथ साथ में ही पीने को देवें।

आमलकादि क्वाथ

आँवला के क्वाथ में कत्था १ माशा, बाकुची का चूर्ण ३ माशा मिला कर पीवें। इससे श्वित्रकुष्ठ दूर होता है।

सोमराजी प्रलेप

बाकुची के बीज १६ तोला, हरताल ४ तोला, मैनशिल ६ माशा, गुञ्जा ६ माशा, चित्रक की जड ६ माशा।

विधि—इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करें। इससे श्वित्र नष्ट होता है।

विष्णुक्रान्ता प्रलेप

विष्णुक्रान्ता की मूल पीसकर लेप करने से बहुत शीघ्र ही लाभ होता है।

हस्तिदन्त-प्रयोग

हाथी के दाँत को घिसकर उसमें मालती का क्षार मिला कर लेप करें। इससे श्वित्र नष्ट होता है।

अर्कादि प्रलेप

आक, धतूरा, करञ्ज, चमेली, थूहर।

विधि—इनके हरे पत्ते को गोमूत्र मे पीसकर लेप करें। इससे श्वित्र कुष्ठ दूर होता है।

पथ्यापथ्य

पुरातन शालि, षष्टिक चावल, यव, गोधूम, कोद्रव, श्यामाक, अरण्यकोद्रव प्रभृति अन्न और मूँग-अरहर की दाल अथवा निम्बपत्र, मण्डूकपर्णी, सोमराजी, वासापत्र और अर्कपुष्प इनके पत्तों का शाक, घी वा सर्षप तेल के साथ पकाकर सेवन करें। तिक्तवर्गोक्त समस्त तिक्त पदार्थ कुष्ठ मे हितकर है। मांसभोजी के लिये जांगलमृगादि का मांस देवें। पीने, स्नान करने एवं भोजन के वास्ते खदिरक्वाथ का प्रयोग करें।

अपथ्य

मांस, वसा, दुग्ध, दधि, तेल, कुलत्थ, मटर, उड़द, गुड़, मधुर रसवाले पदार्थ, अम्लरस, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अपक्व पदार्थ, विदाही और अभिष्यन्दी द्रव्य-भोजन, मद्यपान, दिवानिद्रा और मैथुन प्रभृति का परित्याग करना आवश्यक है।

यथोक्तम् चरके—

लघूनिचान्नानि हितानि विद्यात्, कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि।
भुक्त्वा न गुर्वम्लपयोदधीनि नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च॥

(च० चि०)

तुवरक तैल

(Hydnocarpus oil)

कुष्ठ रोग का विस्तार सम्पूर्ण जगत मे प्राचीन काल से चला आया है। उसकी चिकित्सा का ज्ञान सब देशों के चिकित्सकों को था।

आयुर्वेद में कुष्ठचिकित्सा के लिये तुवरक तेल का उपयोग प्राचीन काल से चला आता है। इसका प्रमाण यह है कि कई सहस्र वर्ष पहले ऋषिप्रणीत सुश्रुत संहिता में इसका वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है।

यथोक्तं सुश्रुते—

वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्णव भूमिषु।
वीचीतरङ्ग विक्षेप मारुतोद्धूतपल्लवा॥
तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे।
मज्जांतेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च॥
तिलवत् पीडयेद् द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत्।
तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोय संक्षयात्॥
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत्।
स्निग्धस्विन्नो हृतमलः पक्षादूर्ध्वं प्रयत्नवान्॥
चतुर्थभक्तान्तरितः शुक्लादौ दिवसे शुभे।
मन्त्रपूतस्य तैलस्य पिबेन्मात्रां यथा बलम्॥
तत्र मंत्रं प्रवक्ष्यामि येनेदमभिमन्त्रयेत्।
मज्जसार महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय॥
शंखचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युत।
तेनास्योर्द्ध्वमधश्चापि दोषा यान्त्यसकृत्ततः॥
अस्नेहं लवणं सायं यवागूं शीतलां पिबेत्।
पञ्चाहं प्रपिबेत्तैलमनेन विधिना नरः॥
पक्षं परिहरेद्वापि मुद्गयूषौदनाशनः।
पञ्चभिर्दिवसैरेव सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते॥
तेनाभ्यक्त शरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम्।
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम्॥
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम्।
महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः॥

विवरण

आज कल भी पश्चिम समुद्र समीपवर्ती, कोंकण, मंगलोर, मालाबार के प्रदेशों में जो तुवरक जाति पाई जाती है; उसका नाम (Hydnocarpus wightiana) है। आसाम, बंगाल, और ब्रह्मदेश में जो उपजाति पाई जाती है; उसका नाम हिडनोकार्पस कुर्जी (Hydnocarpus Kurzii) है। इसी के तेल को चालमुँगरा तेल कहते हैं। स्याम, चीन में जो उपजाति मिलती है; उसका नाम (Hydnothalmentica) है।

यूरोप के चिकित्सकों को जब तक तुवरक का ज्ञान नहीं था तब तक वे कुष्ठ मे मल्ल, पारद, आयोडाइड, अंजन प्रभृति औषधों का ही प्रयोग किया करते थे। परन्तु वे सब व्यर्थ प्रयोग होते थे। भारतवर्ष में प्रवेश होने के बाद भारतीय वैद्यों द्वारा अंग्रेजों को कुष्ट मे तुवरक तेल के उपयोग का ज्ञान हुआ और उससे लाभ देखकर मौआर्ट नामक वैज्ञानिक ने सन् १७५४ ई० मे तुवरक का प्रवेश यूरोप के चिकित्सा-शास्त्र मे किया। तब से इसका उपयोग बराबर होता रहा है और उसमे अनुसन्धान से बहुत सुधार भी हो गया है जिसका वर्णन आगे किया जावेगा। आजकल तुवरक (चालमोगरा) तेल का प्रयोग मुख्य रूप से तैल और उनके प्रलवणों (एस्टर) के रूप मे और सूचिकाभरण के रूप मे किया जाता है।

तुवरक तैल का प्रयोग

तुवरक वृक्षों की विविध जातियों के पक्व फलों से इसका तेल निकाला जाता है। तैल का वर्ण, किंचित्पीत अथवा पीलापन लिये हुए हरा रंग, उग्रगन्ध और तीक्ष्ण स्वाद युक्त होता है। इसका प्रयोग कुष्ठ मे अतीव लाभदायक है। वैज्ञानिकों का मत है कि यह तैल निम्नलिखित प्रकार से लाभ पहुँचाता है।

(१) इस तेल में उच्च श्रेणी के असंतृप्त स्नेहीय (Unsaturated fatty) अम्ल बहुत होते हैं जो पाचन प्रचूषण होने के बाद रक्त में पैत्तव मे परिवर्त्तित होकर उसकी मात्रा को बढ़ाते हैं। पैत्तव

(Choles Terosis) विनाशक होने से शरीरस्थ धातुओं की रक्षा कुष्ठ-विष से करता है।

(२) तुवरक तेल के सेवन से रक्त मे पैत्तव (Choles Terosis) तथा उष्ण श्रेणी के जो अन्य द्रव्य बनते हैं, वे सूर्य की-नील लोहितातीत रश्मियों से विटामिन डी (Vitamin D) में परिवर्तित हो जाते हैं। यह विटामिन शरीर की उन धातुओं के विकास के लिये आवश्यक होता है; जो कुष्ठ के उपसर्ग से विकृत होती है। अर्थात् इस कार्य के लिये तुवरक-सेवी कुष्ठी को प्रतिदिन घण्टा-दो घण्टा धूप में काम करना चाहिये।

(३) तुवरक मे धातुदारक (Tissue Breaking) धर्म भी है। इसका कार्य सबसे पहले कुष्ठ-कोषों पर होकर वे विदीर्ण हो जाती हैं और उनके अन्दर के कुष्ठाणु शरीर मे स्वतन्त्र हो जाते हैं। इस प्रकार तुवरक कुष्ठाणुओं की रक्षा के दो साधनों (कुष्ठ सेल और उनके अन्दर गोंदतुल्य पिच्छिलपदार्थ) का नाश कर देते हैं। इसी धर्म के कारण यह तेल कुष्ठार्बुदों को शनैः-शनैः अन्दर से गलाकर कम कर देता है। इसलिये यह कुष्ठार्बुदांशिक (Lepro malytic) भी कहलाता है।

(४) तुवरक के सेवन करने से रक्त मे लिपेस (Lipase) नामक द्रव्य अधिक मात्रा मे बनता है जिसमे कुष्ठाणुओं के ऊपर के स्नेहीय वेष्टन (Envelope) को नष्ट करने का धर्म होता है। इस प्रकार उनकी रक्षा के तीसरे साधन को भी तुवरक नाश कर देता है।

(५) इस प्रकार शनैः-शनैः स्वतन्त्र होने वाले कुष्ठाणु कुष्ठार्बुद के द्वारा शरीर मे प्रविष्ट किये जाने पर कुष्ठाणुओं के समान प्रतिजन (Antigen) का कार्य करते रहते हैं। जिससे प्रतियोगी द्रव्यों की उत्पत्ति होकर शरीर में कुष्ठ की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तथा स्वतन्त्र हुए कुष्ठाणु प्रतियोगियों के द्वारा तथा भक्षकायाणु (Phagocyte) नष्ट किये जाते है। इसका साराश यह निकलता है कि तुवरक तैल आत्म वैक्सीनेशन (Anto-Vaccination) के तुल्य कार्य-सम्पादन करता है।

तुवरक तैल का गुण-दोष विवेचन

इसका तेल स्वय जीवाणुओं का विनाश नहीं करता है। वह एक ओर शरीर के अन्दर जीवाणुओं के गढ़ों (कुष्ठार्बुद) को तथा उसके रक्षक साधनों को तोड करके उन्हें नष्ट कर देता है और दूसरी ओर उन्हीं से शरीर की प्रतिकारिता को जागृत करके उसी के द्वारा उनका सहार कराता है। इसलिये इसमें निम्न दोष विद्यमान हो जाते हैं।

(१) कुष्ठ का संक्रमण रोकने के लिये अर्थात् उसके प्रतिबन्धन वा पूर्वावधानता के लिये तुवरक तेल का व्यवहार नहीं किया जा सकता है।

(२) दुर्बलातुरों में उपद्रवकारक—दुर्बल और अप्रतिकारक रोगियों मे इसका प्रयोग करने पर हृल्लास, वमन, अक्षुधा, भ्रम, दृष्टिमन्दता, रक्तमेह, शुक्तिमेह (अल्व्यूमिन्यूरिया) प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं जिससे रोग कम होने के बदले बढ जाता है। परन्तु रोगी के बलवान और प्रतिकारक होने पर तुवरक तैल का उपयोग किया जा सकता है।

(३) चिरकालिक व्यवस्था—तुवरक तैल का सेवन चिरकाल तक करना चाहिये। परन्तु यह ओषधि अप्रियता के कारण मुख के द्वारा अथवा सूचिकाभरण के द्वारा, अधिक संख्यक रोगियों मे चिरकाल तक नहीं सेवन की जा सकती है और इसके द्वारा रोगों का समूल विनाश नहीं होता है।

वास्तव में कुष्ठ की अनेक प्रधान औषध होते हुए भी परिणाम बहुत ही गौण होता है। यदि कुष्ठ की चिकित्सा मे सामान्य और औषध-चिकित्सा की तुलना करके दोनों के लिये उचित स्थान का निर्णय करना हो तो कुष्ठ चिकित्सकों के मत से १५ प्रतिशत रोगियों मे ओषधि-चिकित्सा से लाभ होता है और ८५ प्रतिशत मे सामान्य चिकित्सा से।

यथा—आहार, विहार, व्यायाम, आतप-सेवन, स्वच्छता, सहवर्ती और पुरोवर्ति रोगों की चिकित्सा प्रभृति के द्वारा लाभ होता है।

तुवरक फलबीज-चूर्ण का प्रयोग

आजकल फलबीज के चूर्ण का अत्यल्प प्रयोग किया जाता है। इसका कारण यह है कि इससे जल्दी फायदा पहुँचाने वाले योगों का अनुसन्धान इस समय हो गया है। परन्तु चूर्ण-प्रयोग की विधि सरल सस्ती और सुखसाध्य प्रणाली है। जो सूचीवेधन की पीडा को नहीं सहन कर सकते हैं ऐसे बालकों के लिये यह अच्छा है। जिन युवा पुरुषों को सूचीवेध चिकित्सा अप्रिय है, जिन रोगियों से चिकित्सालय अथवा चिकित्सक दूर रहते हैं, उनके लिये इस चूर्ण का प्रयोग बहुत अच्छा है।

मात्रा—ताजे फल का चूर्ण १ माशा से १५ रत्ती तक। उसमें तिहाई भाँग मिलाकर भोजन के उपरान्त दिन में दो बार लेवे।

तुवरक तैल की प्रयोग-विधि

बाह्य प्रयोग—इसके तैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये, विशेष कर विकृत स्थानों पर अधिक मर्दन करें। यह तैल त्वचा पर ३-६ घंटा तक लगा रहना चाहिये, इसके बाद १-२ घंटा सूर्य के प्रकाश में बैठना चाहिये, यदि अधिक विकृत त्वचा हो तो बहुत जोर से तैल की मालिश नहीं करें नहीं तो त्वचा छिल जाती है। अन्त में साबुन लगाकर गरम जल से वा निम्ब के जल से स्नान करें।

आभ्यन्तरिक प्रयोग—इस तैल में यह दोष है कि अधिक मात्रा में चिरकाल तक सेवन करने से उदर में विकृति उत्पन्न हो जाती है किन्तु, यह दोष पुराने तैल की अपेक्षा नवीन पक्वफलों के तैल में बहुत कम होता है, इसलिये नवीन तैल का ही प्रयोग करें। हृल्लास, वमन, ज्वर प्रकोप प्रभृति के लक्षण उत्पन्न न होने पावें अत. अल्प मात्रा में ही इसका उपयोग प्रारम्भ करना चाहिये। यदि उपद्रव उत्पन्न हो जावें तो मात्रा कम कर देवें अथवा कुछ कालतक इस तैल का उपयोग बन्द कर देवें।

सेवन विधि—प्रथम १-२ बूँद दूध के साथ या जिलेटिन कैपस्यूल (Gilatin capsule) मे भर करके भोजन के बाद दिन मे १ बार लेवे। शनैः-शनैः यही मात्रा दिन मे तीन वार देवें। इसके बाद एक-एक दिन के पश्चात् प्रत्येक समय की मात्रा एक-एक बूँद बढ़ावें। इस प्रकार दिन भर मे तीन वार मिला कर ३०० बूँद तक वढा सकते है। शरीर की अवस्था के अनुसार मात्रा की वृद्धि-ह्रास करनी चाहिये। जो रोगी आमाशय मे प्रकोप न होते हुए भी इसकी अधिक से अधिक मात्रा सेवन कर सकते हैं उन्हे इसके सेवन से अधिक लाभ होता है।

सूचिकाभरण विधि

इसमें रोगी की त्वचा के नीचे सूची से तेल प्रविष्ट किया जाता है। सामान्य रूप से विकृत त्वचा के नीचे सूची-प्रयोग से विशेष लाभ होता है। परन्तु अन्य स्थानों की त्वचा के नीचे भी सूची-प्रयोग होता है। प्रारम्भ मे मात्रा आधा सी० सी० होती है और धीरे-धीरे प्रति सप्ताह आधा सी० सी० से वढायी जाती है। वातिक कुष्ठ मे चौथाई सी० सी० तक मात्रा वढ़ाने से काम हो जाता है परन्तु; ग्रन्थिक कुष्ठ मे १० सी० सी० मात्रा वढाने की आवश्यकता होती है।

सूचिकाभरण-प्रयोग के पालनीय नियम

प्रथम—एक स्थान पर १-२ सी० सी० से अधिक तेल न प्रविष्ट करें। यदि इससे अधिक तेल प्रविष्ट करना हो, तो भीतर गई हुई सूई को आधी पीछे को खींचकर रुख परिवर्तन करके फिर से पूरी प्रविष्ट करें और तेल को भीतर डाल देवें। इसी भाँति जितनी वार आवश्यकता हो उतनी वार करें।

द्वितीय—तेल गाढ़ा होने के कारण सूई के अन्दर जाने और वाहर आने मे कठिनाई होती है, इसके सिवाय सूची के स्थान मे पीडा, ग्रन्थि-विद्रधि प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। यदि तेल मे ४ प्रतिशत क्रियोजोट (Creosote) मिलाया जावे तथा सूई लगाने के पहले तेल को

४५ तापांश (सें०) तक गरम किया जावे तो सूई लगाने में आसानी होती है और कोई उपद्रव भी नहीं होता है।

प्रत्येक समय सूई लगाने का स्थान बदलना चाहिये तथा सूई लगाने के बाद उसको हल्के हाथ से मालिश करना चाहिये और रात्रि को एक बार सेंकना भी चाहिये। यदि रोगी तेल सूई को सहन कर ले, तो सप्ताह में दो बार सूई लगावे अन्यथा नहीं लगाना चाहिये।

चर्मान्तर्य प्रणाली

(Intradermal method)

इस प्रणाली में त्वचा के मध्य मे अनेक स्थान पर सूची से बूँद-बूँद करके तेल प्रविष्ट किया जाता है, यह कार्य चकत्तों की त्वचा मे किया जाता है। इससे स्थानिक तथा सार्वदैहिक परिणाम होता है। निम्नलिखित दो प्रणालियों से तेल प्रविष्ट किया जाता है।

प्लाञ्चा प्रणाली

(Plancha)

प्रथम प्रणाली—इसमें त्वचा में २-३ मिलीमिटर गहराई तक सूची प्रवेश कर अढाई बूँद तेल प्रविष्ट किया जाता है, जिससे चणक-दल के बराबर एक चकत्ता पड जाता है। इस भाँति समीप-समीप एक के पश्चात् दूसरे स्थान मे सूची प्रवेश कर तेल प्रविष्ट किया जाता है, इसको प्लाञ्चा प्रणाली कहते हैं।

द्वितीय प्रणाली—इस प्रणाली के लिये लम्बी-पतली सूची की जरूरत होती है, यह सूची उसके पीछे के आधार तक या ओखली(Soket) तक त्वचा मे प्रविष्ट कर दी जाती है और सूची को निकालते समय शनैः-शनैः तेल त्वचा मे प्रविष्ट किया जाता है। अतः सूचीपूर्णपथपर एक लम्बा उभार निर्मित हो जाता है। जिस स्थल पर इन प्रणालियों से एक वार तेल प्रविष्ट किया जाय, वहां पर उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया ग्रन्थि का जबतक पूर्ण शमन न हो जावे तवतक उस स्थान पर पुनः सूचीवेध न करे अथवा एक मास के बाद द्वितीय वार तेल सूचीवेध करना चाहिये।

पेश्यन्तः क्षेपण विधि

इस मार्ग का उपयोग प्रारम्भ से न करके जब त्वचा में वा त्वचा के नीचे देने की मात्रा (२, सी० सी०) से अधिक मात्रा रोगी को देना हो, तब उर्वरित मात्रा के लिये इसका अवलम्बन करना चाहिये ।

तुवरक का मिश्रित प्रयोग

इस पद्धति में कुष्ठ की अव्यर्थ औषध अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है । प्रतीच्य चिकित्सक भी तुवरक तेल (चालमोगरा आइल) का प्रयोग प्रधान औषध मानते हैं और इसका इञ्जेक्शन भी देते हैं इञ्जेक्शन का प्रयोग निम्नलिखित है ।

चालमोगरा आइल	६० बूँद
कपूर तेल	६० बूँद
रिसोर्सिन	४ ड्राम

एक सी० सी० का प्रति सप्ताह इञ्जेक्शन देना चाहिये । एक सी० सी० १६ बूँद की होती है ।

वैक्सीन का प्रयोग

कुष्ठ में कुष्ठीन (Leprolin) नामक वैक्सीन का उपयोग त्वचा के नीचे इञ्जेक्शन के लिये किया जाता है और पोटासियम आयोडाइड से जो लाभ होता है, वह वैक्सीन चिकित्सा के समान होता है । इसका कारण यह है कि इसके प्रयोग से कुष्ठ सेलों के अन्दर वैसीलाय स्वतन्त्र होकर स्वजनित वैक्सीन (Auto-Vaccination) के समान शरीर की क्षमता को बढाते हैं ।

नैस्टीन का इञ्जेक्शन

नैस्टीन के इञ्जेक्शन से कुष्ठ के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं । नैस्टीन का उत्पादक एक कीटाणु है जिसको स्ट्रैप्टोथैक्स प्रोइडूस कहते हैं ।

इस कीटाणु के शरीर में एक तरह की चिकनाई रहती है । उस एकत्रित चिकनाई का संशोधित रूप ही नैप्टीन है । नस्टीक के मिलाने के लिये बझोलक्लोराइड की आवश्यकता होती है । यह

इञ्जेक्शन साधारण स्थिति के कुष्ठों की वृद्धि को रोक देता है। कुष्ठ के प्रारम्भ में इसका प्रयोग करने से कोई-कोई रोगी अच्छे भी हो जाते हैं। लेकिन इसका परिणास अभी तक सन्तोषजनक नहीं पाया गया है।

डाक्टर (लिओवर्डएजस), ने एक अन्य इञ्जेक्शन निकाला है। वह इंजेक्शन सोडियमगायनोकार्डेट के घोल का है, जो कि शिरा में दियाजाता है। यदि सोडियमगायनोकार्डेट के साथ-साथ सोडियममोरहुण्ट का मिश्रण कर इसका संयुक्त इजेक्शन दिया जावे, तो अधिक लाभ होता है। इस समय कुष्ठ-चिकित्सा में इसका प्रयोग अधिक किया जाता है। इंजेक्शनों का क्रम विशेष रूप से उपयोग किया जाता है। पहले दिन केवल सोडियमगायनोकार्डिट का शिरा में इजेक्शन दिया जाता है। तीसरे दिन इसके साथ-साथ सोडियममोरहुण्ट के मिश्रण के सहित शिरा मे इंजेक्शन देवें। पाँचवें दिन सोडियममोरहुण्ट का मांसपेशी मे इजेक्शन देवें। दूसरे सप्ताह में इसी क्रम से इंजेक्शन देवे। लेकिन उनकी औषध-मात्रा में कुछ वृद्धि कर दी जाती है। मात्रा का आरम्भ चौथाई सी० सी० से आरम्भ कर ५ सी० सी० तक वढ़ाया जा सकता है। चिकित्सक को ध्यान रखना चाहिये कि इंजेक्शन से कोई उपद्रव न हो।

तुवरक तेल के लवण-प्रलवण—ये तुवरक के तेल सोडियम (Sodium) के लवण (Salts), अथवा इथल इस्टेर्स (Ethyl easters) है। इनमे निम्नयोग महत्त्व के हैं।

(१) एण्टीलेप्रोल (Antileprol), (२) आलेपोल (Alepol), (३) मूग्रोल (Moogrol) और (४) ई० सी० सी० ओ० (E. C. C. O)।

आयोडीनयुक्त तुवरक का प्रयोग

किसी-किसी कुष्ट चिकित्सक का मत है कि आयोडीन (Iodine) का सेवन तुवरक के साथ करने से अधिक सफलता मिलती है। अत आयोडाइज्ड (Iodized) मूग्रोल का उपयोग त्वचा मे १ सी० सी० की मात्रा से प्रारम्भ करके ५ सी० सी० तक किया जाता है। कुछ चिकित्सक मूग्रोल के साथ आयोडीन मिश्रित करने के वदले उसके

प्रयोग के साथ मुख द्वारा कैलसियम आइडोरीसिनोलेट (Calcium Iodoricinoleate) की गोली दिन में तीन बार सेवन कराना पसंद करते हैं।

तुवरक तेल की श्रेष्ठता

इस समय तक सब प्रकार के कुष्ठों मे तुवरक तेल और उसके यौगिक को सर्वश्रेष्ठ ओषधि मानी जाती है अतः इसका प्रयोग करें।

सल्फाड्रग्स वर्ग की औषधों का प्रयोग

(Sulpha Drugs)

आजकल चालमोगरा तेल (तुवरक तेल) के सिवाय संम्मिश्रण की हुई अनेक रासायनिक ओषधिमाँ कुष्ठ में दी जाती हैं, जिनमें कुछ नीचे लिखी जाती हैं।

सोलूथायाझामाइड

(Soluthia Zamide)

इस औषध का ४'५' ३% का घोल काम में लाया जाता है।

मात्रा—१ सी० सी० से प्रारम्भ करके १० सी० सी० तक धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये। ५ सी० सी० से अधिक मात्रा होने पर रोगी को कुछ ग्लूकोज भी दिया जाता है। औषध सप्ताह मे रविवार को छोड़कर ६ दिन सिरा मे दी जाती है। इसका चिकित्साक्रम तीन सप्ताह का होता है। उसके बाद एक सप्ताह तक औषध बन्द कर बाद में दूसरा क्रम शुरू किया जाता है। यह रसायन शुल्वौषधवर्ग (सल्फाड्राग्स) का होने के कारण इसके सेवन के पहले और बाद में १० दिन के बाद रक्त का परीक्षण किया जाता है। यदि चिकित्सा काल मे रुधिरकायाणु (Erythrocyte) ४० लक्ष तक न्यून हो जाते हैं, तो उसके साथ लोह दिया जाता है। यदि ३० और ४० लक्ष के मध्य मे होते हैं तो यकृतसत्त्व दिया जाता है। यदि ३० लक्ष से भी रुधिरकायाणु न्यून हो जाते हैं तो औषध कुछ समय तक बन्द करके रक्तक्षय की चिकित्सा की जाती है और रक्त पूर्वावस्था में हो जाने पर

फिर अल्प मात्रा में औषध प्रारम्भ करके शनैः-शनैः वृद्धि की जाती है। यदि मूत्र में आल्व्यूमिन वा रक्त मिले तो भी औषध कुछ समय तक वन्द कर देवें।

प्रोमीन का प्रयोग

(Promin)

यह भी शुल्वौषधवर्ग (सल्फाड्रग्स) की औषध है। इसका उपयोग १ ग्राम की मात्रा मे सिरा द्वारा किया जाता है। सप्ताह में ६ दिन तक सुई दी जाती है। शनैः-शनैः इसकी मात्रा पाँच ग्राम तक वढाई जाती है। १४ दिन के बाद ७ दिन औषध वन्द रक्खी जाती है। इस भाँति कई मास तक चिकित्सा जारी रहती है। मध्य-मध्य में रक्त और मूत्र की परीक्षा करनी चाहिये। रंजक (Dyes), मेथीलिन्सब्लू (Methylens blue), इसका प्रयोग दो वार तिर्यक् पातित जल १% के घोल के रूप में किया जाता है। प्रारम्भिक मात्रा पाँच सी० सी० होकर धीरे-धीरे ४०-५० सी० सी० तक वृद्धि की जाती है। सप्ताह में एक वार सूची का प्रयोग सिरा में किया जाता है।

एक ही सूची मे त्वचा के चकत्ते गौरवर्ण वालों मे नीले रंग के दिखाई देने लगते हैं। अतः इसका व्यवहार निदान की दृष्टि से भी उनमें हो जाता है। इसके सिवाय पारद वर्ण (Mercuro Chrome), फ्लू-ओरेसिन, ट्रियनव्ल्यू प्रभृति अनेक रंजक काम मे आते हैं। इन ओषधियों के सिवाय विजातीय प्रोटीन चिकित्सा (दूध, टी० ए० वी० वैक्सीन वैकोलाय वैक्सीन प्रभृति) आत्मजनित वैक्सीन या संग्रहीत कुष्ठार्वुद, कुष्ठान्तक (Antilepia), लसीका एक्सरे प्रभृति अनेक ओषधियाँ कुष्ठ चिकित्सा मे प्रयुक्त होती हैं।

उपक्रम कालावधि वर्णन

कुष्ठ महाव्याधि और चिरकालिक होने के कारण इसकी चिकित्सा भी चिरकाल तक करनी चाहिये। इसकी चिकित्सा भी अति पीड़ादायक होती है अतः रोगी जल्दी विह्वल हो चिकित्सा की पूरी आशा

न मानकर मध्य में ही चिकित्सा छोड़ देता है। फिर रोग का निर्मूल करना कठिन हो जाता है। यदि प्रारम्भ में चिकित्सा शुरू कर दी जावे, तो तीन मास में पर्याप्त सुधार रोगी में हो सकता है। ६--१२ मास तक चिकित्सा करने पर बाह्य लक्षण प्रायः नष्ट हो जाते हैं। विलम्ब से चिकित्सा प्रारम्भ करने पर १-२ वर्ष से भी अधिक समय लग जाता है। नाड़ी कुष्ठ मे तीन मास मे त्वचा के चकत्ते अच्छे हो जाते हैं। ग्रन्थिक कुष्ठ में नाड़ी कुष्ठ की अपेक्षा अधिक समय लगता है।

चिकित्सा समाप्तिकाल का निर्णय

जब ग्रन्थि वैवर्ण्य, अस्वेदन, मण्डल प्रभृति रोग के लक्षण शान्त हो जाएँ और सूजी हुई नाड़ियाँ वेदना रहित होकर पूर्वावस्था मे आकर पतली हो जाएँ, अनेक वार परीक्षा करने पर भी नासा तथा त्वचा मे कुष्ठाणु न दिखाई देवें और चिकित्सा के समय शरीर पर कोई नवीन लक्षण न पैदा होवें।

जब चिकित्सा करने से उपयुक्त अवस्था हो जावे तव चिकित्सा बन्द कर देवें। इस स्थिति को तूष्णीक (Quiescent) अवस्था कहते हैं। परन्तु इसके बाद भी तीन-तीन मास के पश्चात् रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। यदि चिकित्सा बन्द करने पर उपर्युक्त लक्षण २ वर्ष तक स्थित रहे तो रोगी को निर्मुक्त समझना चाहिये और परीक्षा आदि बन्द कर देनी चाहिये।

कुष्ठ प्रतिरोधक–चिकित्सा

(१) स्वच्छता—शरीर और वस्त्रों की सफाई ठीक न रखने से यह व्याधि होती है। इसलिये इनको साफ रक्खें, तथा प्रतिदिन स्नान करें।

(२) व्यायाम—प्रत्येक कुष्ठी को खुली हवा मे व्यायाम करना चाहिये। शारीरिक परिश्रम के लिये खेत और बगीचों में काम करें। व्यायाम मे प्रत्येक अंगों का संचालन होना चाहिये, इससे कोई खराबी नहीं होती।

(३) आहार—कुष्ठी प्राय: दरिद्री, अर्धभुक्त और कमजोर होते हैं। उचित आहार न मिलने से और उचित चिकित्सा न होने से कष्ट पाते हैं। गेहूँ की रोटी, मूँग की दाल, विविध प्रकार की सब्जी, तरकारी, फल, दूध, मट्ठा, मक्खन, घी आदि देना चाहिये। चावल कम खायँ, मद्य एवं धूम्रपान वर्जित है।

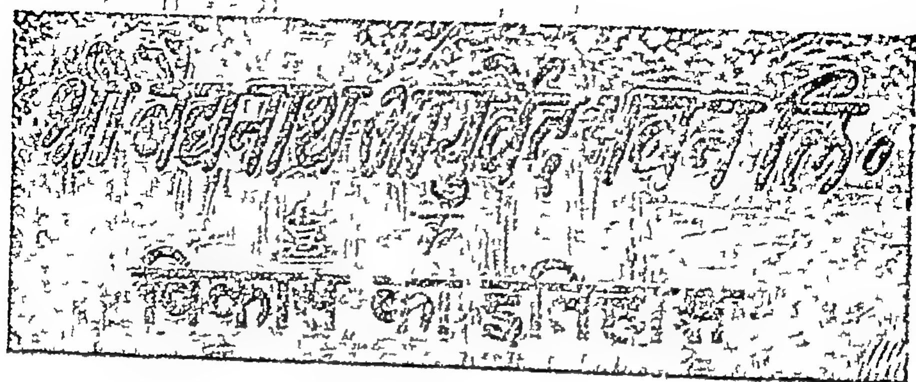
(४) स्वतन्त्र जीवन और मानसिक स्वास्थ्य—कुष्ठी के संसर्ग से समाज में कुष्ठ फैलता है। अत रोग प्रतिषेध तथा अपने स्वास्थ्य की दृष्टि से कुष्ठी के लिये स्वतन्त्र हवादार प्रकाशयुक्त स्थान में रहना हित-कारक है। इसके सिवाय समाज कुष्ठी से घृणा करता है। इससे कुष्ठी के मन में सदा दुःख रहता है, इससे रोग और बढ़ता है। अत कुष्ठी को अलग रखना ही श्रेयष्कर है।

कुष्ठाश्रम पृथक् बनाना चाहिये। इस तरह कुष्ठ रोग से समाज बच सकता है। वहाँ पर कुष्ठियों के रहने के लिये स्वास्थ्यप्रद गृह होना चाहिये, साथ ही निर्वाहोपयोगी साधन भी होना चाहिये जिससे कुष्ठी अपना व्यवसाय करके स्वास्थ्य वृद्धि और जीवन निर्वाह कर सकें। वहाँ धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था भी होनी चाहिये। परन्तु इस प्रकार के कुष्ठाश्रम चलाने के लिये अधिक धन की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष गरीब देश है और कुष्ठियों की संख्या १ लाख पचास हजार से भी अधिक है। अत भारत में अनेक कुष्ठाश्रम होते हुये भी उनमें सम्पूर्ण कुष्ठियों का समावेश न होने के कारण कुष्ठ रोग धीरे-धीरे बढ़ता ही जा रहा है। इन कुष्ठाश्रमों में आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति से चिकित्सा करने के लिये प्रबन्ध होना चाहिये। उससे बहुत कुछ सफलता होने की आशा की जा सकती है।

अन्तिम निवेदन

सर्वे च सुखिन: सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग् भवेत॥

* समाप्त *



स्थापन-काल—हमारे देव-स्थानो में सिद्धपीठ नाम से सुप्रसिद्ध तीर्थ-स्थान, श्री वैद्यनाथधाम (देवघर) में, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड की स्थापना आज से ३५ वर्ष पूर्व हुई थी। आधि-व्याधि-नाशक श्री बाबा वैद्यनाथ के सम्मुख की गई मानव-कल्याण की कामना कभी विफल नही होती। आयुर्वेद के इष्टदेव भगवान शकर के शुभाशीर्वाद, तथा हमारे अथक परिश्रम, श्रेष्ठ अध्यवसाय तथा विशुद्ध लगन के कारण, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का काम बडी तेजी से आगे बढा।

संघर्ष-काल—राज्य की उपेक्षा, हमारे शिक्षित-समाज पर विदेशी आचार-विचार का प्रभाव एव अपनी प्राचीन सस्कृति के प्रति उनकी उदासीनता के साथ जबर्दस्त सङ्घर्ष, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के इतिहास की प्रारम्भिक विशेषता है। करीब-करीब यही वक्त था, जब कि हमारे देश मे राष्ट्रीय चेतना का आना और आजादी की लहर का उठना प्रारम्भ हुआ। हमारे समाज के प्रत्येक अग पर, विदेशी आचार-विचार और सत्ता का जो प्रभुत्व था, एक अन्धकार का आवरण था, उसके खिलाफ एक सुरसुराहट-सी होने लगी। महात्मा गान्धी के नेतृत्व मे, धीरे-धीरे, हमारे समाज के मृतप्राय शरीर में प्राणवायु का सचार हुआ। इसके बाद हमारा राष्ट्रीय कारवाँ जिन-जिन बाधाओ, कठिनाइयो और तूफानो का सामना करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढता रहा, वह हमारे देश के इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण अध्याय है।

राष्ट्रीय ह्रास या समृद्धि, केवल राजनीतिक ही नही होती, बल्कि, व्यक्तिगत और समष्टिगत रूप में वह समाज की सस्कृति, साहित्य, कला, उद्योग, व्यापार, कृषि आदि—सभी अङ्गो के सार्वभौमिक ह्रास और विकास पर निर्भर करती है। और चूँकि आयुर्वेद—हमारा राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान—हमारी सस्कृति, साहित्य और कला का एक सर्वोच्च ज्ञान-भाण्डार है, अतएव राष्ट्र के जीवन के साथ इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध कोई नयी और आश्चर्यजनक बात नही।

इसीलिये, जब हम श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के पिछले ३५ साल के संघर्षमय जीवन और उसके फलस्वरूप प्राप्त उत्तरोत्तर उन्नति की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें गर्व और प्रसन्नता, दोनो ही होती हैं। गर्व इसलिये कि एक कर्त्तव्य-परायण सिपाही की तरह राष्ट्रीय पुनरुद्धार का एक जबर्दस्त मोर्चा—राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान—आयुर्वेद के प्रति अपने कर्त्तव्य का हमने हरेक कठिनाई और बाधा मे भी, खूबी के साथ पालन किया है, और प्रसन्नता इसलिये कि हमारे राष्ट्रीय-सग्राम के नेताओ और सेनानियो ने हमारे इस काम की सराहना की, सहयोगियो ने प्रशसा की और सर्वसाधारण ने स्वागत किया। आज नवराष्ट्र-निर्माण के प्रारम्भ में, जब कि प्रकाश की दो-एक किरणे अन्तरिक्ष पर दिखायी पड़ने लगी हैं, हमारे उत्साह और आनन्द का सर्वोच्च कारण, एकमात्र वही अनुभूति है, जो राष्ट्रीय सघर्ष के हर आघात और उसकी आग की प्रत्येक लपट का अपना हिस्सा प्राप्त करने का सौभाग्य हमें मिला है।

उत्कर्ष-काल—अपनी जिन तीन विशेषताओ के कारण, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० बराबर सङ्घर्ष में विजयी होता आया, वे है—(१) शुद्ध ओषधियो के निर्माण, (२) आयुर्वेदोन्नति के लिये ठोस कार्य और (३) वैज्ञानिक ढङ्ग से इनका प्रचार।

आज श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का जो स्वरूप है, उसे विस्तृत रूप से बतलाने की यहाँ कोई आवश्यकता नही है। भारतवर्ष भर में ओषधि-निर्माण के चार बडे-बडे कारखाने, बडे-बडे शहरो मे वैद्यनाथ-दवाओ के १०१ विक्री-केन्द्र (डिपो) तथा १५ हजार से ऊपर एजेन्सी (एजेण्ट) आदि इसकी विशालता को प्रकट करने के लिये पर्याप्त हैं। आज नगर-नगर और गाँव-गाँव में श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का जो साइन बोर्ड आप देखते हैं, तथा घर-घर में वैद्यनाथ ओषधियाँ देखी जाती हैं, उनके मूल में जो तथ्य है, वे नीचे लिखे विवरण से आपकी समझ मे अच्छी तरह आ जायँगे।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के भिन्न-भिन्न विभाग

१—अनुसन्धान (रिसर्च) विभाग

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने अपने स्थापन-काल से ही इस कार्य की ओर विशेष ध्यान दिया है। काशी-विश्वविद्यालय आदि सस्थाओ को आर्थिक सहायता देकर वह शोध (रिसर्च) का कार्य कराता रहा है। किन्तु, अब वह इस स्थिति मे है कि इस महत्वपूर्ण काम को स्वय अपने निरीक्षण में भी सम्पादित करे। इसलिये गत वर्ष से इस कार्य के लिये पचास हजार रुपये प्रति वर्ष खर्च करने का उसने निश्चय किया है। चालू वर्ष के पचास हजार रुपये

मिला कर, करीब एक लाख की लागत से इस वर्ष आयुर्वेद विज्ञानशाला तैयार हो जायगी जिसमें प्रयोगशाला (Research Laboratory) और रुग्णालय (Indoor Hospital) भी होगे। इस वर्ष मकान बनवाकर आवश्यक उपकरण सग्रहीत कर लिये जायँगे और आगामी वर्ष से उनमे नीचे लिखे अनुसार कार्य होगे।

(क) वनस्पति—वनस्पतियो के शोध का कार्य गत वर्ष से ही विशद रूप में चल रहा है और वह भविष्य में भी चालू रहेगा। इस विभाग में, आयुर्वेदिक औषधियो में काम आनेवाली वनस्पतियो का स्वरूप-निर्णय, नई चमत्कारिक औषधियो को प्राप्त करने और उसके द्वारा समग्र भारतीय वैद्यो को लाभ पहुँचाने के कार्य होते हैं।

(ख) विश्लेषण—औषधियो के काम में आनेवाले मूलद्रव्यो की असलियत को मालूम करना तथा तैयार औषधि की यथार्थ गुणकारिता की विश्लेषण (Analysis) द्वारा जाँच करना, इस विभाग का कार्य है।

(ग) गुण-धर्म-निर्णय—आयुर्वेद-वर्णित वनस्पतियो एव सिद्धौषधियो के गुण-धर्म के निर्णय करने के लिये यह विभाग होगा। इसके लिये रुग्णालय (Indoor Hospital) स्थापित किया जायगा, जिसमें २० शय्या (Beds) रहेगी। इस रुग्णालय-द्वारा रोगियो पर शतश अनुभूत की गई वनस्पतियो तथा योगो का गुण-धर्म-निश्चय होगा। आयुर्वेद में मानव-शरीर पर होनेवाले सफल औषध-परीक्षण को ही यथार्थ असदिग्ध गुण-धर्म माना गया है। वह कार्य चार्ट एव रिपोर्ट के आधार पर इस रुग्णालय-द्वारा सम्पादित होगा।

(घ) शास्त्र-निर्माण-विभाग—उल्लिखित विभागो का शास्त्रीय निरूपण, आयुर्वेदीय सिद्धान्त से किया जायगा। त्रिदोष, पचमहाभूत, रस, विपाक, वीर्य-प्रभाव पर ही इन ग्रन्थो का निर्माण होगा। वर्तमान विज्ञान (Modern Science) को भी, इन्ही सिद्धान्तो के आधार पर आत्मसात् करके, समन्वयात्मक रूप में प्रकाशित किया जायगा।

इन विभागो के कार्य का विवरण, समय-समय पर, हमारे मासिक पत्र 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित होता रहता है। स्वतन्त्र रिपोर्ट अगले साल प्रकाशित हो जायगी—ऐसी आशा है।

(ङ) रिसर्च कार्य की प्रगति—आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार, आयुर्वेद का सशोधन और परिवर्द्धन कोई सामान्य कार्य नही है। प्राय भारत भर में स्वय भ्रमण करके हमने देखा कि इस कार्य को कही भी क्रियात्मक रूप नही दिया गया है। अभी अपनी राष्ट्रीय सरकार की योजनाएँ भी बन ही रही है। इस पर कोई रचनात्मक उद्योग वहाँ भी नही हुआ। क्रियात्मक रूप के अभाव

एव द्रव्य और समय के अपव्यय की शका से हमने आयुर्वेदीय शोध-कार्य की समस्या
को अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद-शास्त्र-चर्चा के समक्ष उपस्थित किया।
अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद-शास्त्र-चर्चा का अधिवेशन, विगत वर्ष, श्री वैद्यनाथ-
आयुर्वेद भवन लि० के व्यय से पटना-स्थित वैद्यनाथ-निर्माणशाला में लगातार
दस दिनो तक होता रहा। इस परिषद में देश भर के प्रधान वैद्यो ने भाग लिया
था और आयुर्वेद-हितैषी डॉक्टर और वैज्ञानिक भी इसमें सम्मिलित हुए थे।
परिषद् में भाग लेनेवाले कतिपय प्रमुख वैद्यो और डॉक्टरो के नाम ये हैं —

१—आयुर्वेद-वाचस्पति श्री यादव जी त्रिकमजी आचार्य, वर्तमान सभापति अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामण्डल, वम्बई।

२—आचार्य श्री मणिराम जी, वर्तमान सभापति, अ० भा० सा० विद्यापीठ।

३—आयुर्वेद-पचानन श्री जगन्नाथ प्रसादजी जी शुक्ल, इलाहाबाद।

४—भिषक्-केशरी श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी, नागपुर।

५—आचार्य श्री रामरक्ष पाठक, वेगूसराय (विहार)।

६—डॉ० डी० एन० मुखर्जी, एफ० आर० सी० एस०, कलकत्ता।

७—स्व० डॉ० नृसिंहहरि पराजपे।

उपर्युक्त विद्वानो के वीच भी इस आयुर्वेदीय रिसर्च की रूप-रेखा पूर्ण रूप से
निश्चित नही हो सकी। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के व्यय पर, इसी
वर्ष (मई ५३ में) हरिद्वार में पूर्व निर्धारित विषय 'द्रव्य के रस गुण-वीर्य-विपाक-
प्रभाव के निर्णय का स्वरूप क्या है ? पर विवेचनार्थ परिषद् की दूसरी वैठक
भी निर्विघ्न सम्पन्न हुई।

विशेष सूचना—इस कार्य में गत वर्ष जो प्रगति हुई, उसे पत्र लिखकर
जाना जा सकता है।

२—औषधि-निर्माण-विभाग

आयुर्वेदीय औषधि-निर्माण पर ही उसकी चिकित्सा-पद्धति की उत्तमता और
लोक-प्रियता निर्भर करती है। आयुर्वेदीय औषधियो का निर्माण कठिन,
अनुभवगम्य और प्रभूत उपकरण साध्य कार्य है। प्राचीन समय से केवल चिकित्सक
ही इस कार्य को करते आये हैं। अव भी हजारो वैद्यवन्धु ऐसा ही कर रहे
हैं। पर वर्तमान युग में, इससे सर्वाङ्गपूर्ण औषधि तैयार नही हो पाती।
औषधियो के मूल द्रव्यो को उत्पत्तिस्थानो से प्राप्त करना, पसारियो पर
निर्भर न रहना, जो लोग निरन्तर औषधियो का निर्माण करते है, उन्ही अनुभवी
आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा स्वय अपनी देख-रेख में अत्यन्त कुशलता और स्वच्छता-
पूर्वक औषधि-निर्माण करना, अत्यन्त कठिन और उत्तरदायित्वपूर्ण काम है।
केवल वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ही, औषधि-निर्माता होने के कारण, इस कार्य

को पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कर रहा है; और इसी आधार पर वैद्यनाथ औषधियो को प्रसिद्धि और लोकप्रियता भी प्राप्त हुई है।

वैद्यनाथ-औषधियो की उत्कृष्टता के तीन कारण है —(१) मूल द्रव्यो का उत्कृष्ट होना और जाँचकर उनको व्यवहार में लाना (२) कुशल और अनुभवी आयुर्वेदाचार्यों द्वारा शास्त्रीय रीति से औषधि तैयार करना, और (३) वैद्यनाथ-आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टरो का सतत् निरीक्षण करना एव उनका औषधि-निर्माण-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता और अनुभवी होना।

निर्माण की इस विशुद्धता और उत्कृष्टता के कारण, वैद्यनाथ-दवाओ की इतनी व्यापक माँग वढी कि हमें क्रमश झाँसी, पटना और नागपुर में भी औषधि-निर्माण केन्द्र खोलने पडे। आज इन चारो निर्माण-केन्द्रो द्वारा निरन्तर औषधियाँ तैयार होती रहती है, फिर भी जनता की वढती हुई माँग की पूर्ति करने में हमें कठिनाई होती है। वैद्यनाथ-औषधि-विक्रेताओ को नम्वरवार और क्रमश दवाएँ भेजी जाती है तथा हर साल कार्यकर्त्ताओ की सख्या वढानी पडती है। कार्यकर्त्ताओ मे करीव २० हजार रुपये प्रतिमास, वेतन के रूप मे वितरित होते है।

३—विक्रय-विभाग

४ निर्माण-केन्द्र, १०० से अधिक विक्री-केन्द्र और १५ हजारसे ऊपर एजेन्सियो (एजेंटो) द्वारा वैद्यनाथ-दवाओ की निरन्तर विक्री होती है। देश भर में सर्वत्र एक ही (आगे लिखे) मूल्य पर विक्री होती है। वैद्यनाथ-दवाओ के अधिकार-प्राप्त औषधि-विक्रेताओ को उचित कमीशन दिया जाता है। जनता के लाभ के लिये हिन्दुस्तान के प्रमुख शहरो मे, एजेण्टो के अतिरिक्त १०० से ऊपर स्वतन्त्र विक्री-केन्द्र भी है, जहाँ केवल वैद्यनाथ-दवाएँ ही विकती है। जैसे देहली, आगरा, कानपुर, इलाहावाद, काशी, गोरखपुर, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, गया, रायपुर, जव्वलपुर, अकोला, अमरावती, इन्दौर, उज्जैन आदि। प्रत्येक निर्माण-केन्द्र में एजेंसी-विभाग के मैनेजर अलग है, जिनके पास एजेंट वनने की इच्छावाले लोगो के पत्र (और ये स्वय भी) वरावर आते रहते है। एजेंसी के लिए स्वयं कार्यालय में आनेवाले महाशय पहले पत्र-व्यवहार करके दर्याफ्त कर लेंगे, तो उत्तम होगा। दवाओं के साथ-साथ वनस्पति की भी थोक विक्री होती है। खुदरा वनस्पति की विक्री नही होती।

४—आयुर्वेद-सेवा-विभाग

इस विभाग में आयुर्वेद की समुन्नति के कार्य सेवा-भाव से होते है।

(क) आयुर्वेद विद्यालय—श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का, विगत

६ वर्षों से, एक स्वतन्त्र आयुर्वेद-विद्यालय, सफलता के साथ चल रहा है, जिसमें निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ की आयुर्वेदाचार्य और राजस्थान की आयुर्वेद-शास्त्री तक की शिक्षा दी जाती है। इसके अतिरिक्त भारत के अन्यान्य विभिन्न आयुर्वेद-विद्यालयों को भी आर्थिक सहायता दी जाती है।

(ख) छात्रवृत्तियाँ—जो छात्र आर्थिक अभाव के कारण आयुर्वेद पढ़ने में कठिनाई का अनुभव करते हैं, वैसे १५ योग्य छात्रों को प्रति वर्ष छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं।

(ग) धर्मार्थ औषधालय—हमारे सभी धर्मार्थ औषधालयों में सुयोग्य आयुर्वेदाचार्य पास वैद्यों द्वारा मुफ्त निदान होता है और रोगी को अच्छी-से-अच्छी औषधियाँ दी जाती हैं। और भी बहुत से अन्य आयुर्वेदीय धर्मार्थ औषधालयों को औषध मुफ्त दी जाती है तथा बहुतों को रियायती मूल्य पर दी जाती है।

(घ) स्वास्थ्य-प्रचार—भारतीय जनता को आयुर्वेदीय शिक्षा द्वारा स्वस्थ और सबल बनाना हमारा प्रधान लक्ष्य रहा है। इसके लिये छोटे-छोटे ट्रैक्ट, पुस्तिका, हैण्डबिल आदि प्रकाशित कर समय-समय पर प्रचारित किये जाते हैं।

(ङ) धन्वन्तरि-जयन्ती—यह जयन्ती, वैद्यों में भ्रातृभाव और जनसेवाभाव की वृद्धि के लिये हमारे निर्माण-केन्द्रों, बिक्री-केन्द्रों तथा एजेन्सियों में प्रति वर्ष मनाई जाती है। इसमें लगभग १० हजार रुपया प्रति वर्ष खर्च होता है।

५—प्रकाशन-विभाग

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का आरम्भ से ही यह सत्प्रयत्न रहा है, और रहेगा, कि आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों के आधार पर सुयोग्य विद्वानों द्वारा निर्मित तथा अनुवादित प्रामाणिक ग्रन्थ सरल भाषा और सुलभ मूल्य में जनता को प्राप्त हों, जिससे आयुर्वेद का प्रचार और प्रसार बढ़े। हमारे यहाँ से अबतक दर्जनों ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जो आज आयुर्वेद-ग्रन्थ-भाण्डार के अमूल्य रत्न समझे जाते हैं। 'सचित्र आयुर्वेद, नामक एक मासिक पत्र भी गत पाँच वर्षों से प्रकाशित हो रहा है।

६—दातव्य-विभाग

आयुर्वेदीय सेवा के अतिरिक्त श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड और भी बहुत से जन-हितकारी कार्य कर रहा है। पाठशाला खोल कर निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध, आश्रमों को सहायता देकर धार्मिक, नैतिक और चारित्रिक भावना तथा साहित्य का प्रचार, देवालय, कूप आदि का निर्माण, सार्वजनिक पुस्तकालय, चक्षु दान यज्ञ आदि ऐसे अनेकों लोकोपकारी कार्य हैं, जो केवल हमारे ही खर्च से चल रहे हैं तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में मुक्तहस्त से निरन्तर सहायता की जाती है।

वैद्यनाथ की विशेषता

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० अपने स्थापन काल से ही जो कार्य विशेषता रखता आया है, वह विशेषता, जनता-जनार्दन की सेवा का उसका अधिकाधिक सत्प्रयत्न है। संस्था की वृद्धि के साथ-साथ, इसके सेवा-क्षेत्र भी बढ़ते गये और भविष्य में भी बढ़ते रहेंगे—इसमें रत्ती भर सन्देह नहीं। इस संस्था का प्रधान उद्देश्य—असली दवा तैयार करके सुलभ मूल्य में जनता को देकर इन दवाओं का महत्त्व प्रगट करना है। इस व्यापार से जो लाभ हो, वह व्यक्तिगत भोग-विलास के कार्य में खर्च न होकर सर्वसाधारण के लाभ में खर्च हो, इससे आयुर्वेद की उन्नति हो, देश सुखी, सम्पन्न और आरोग्ययुक्त हो—हमारा स्थापन-कालीय वह पवित्र उद्देश्य आज भी बना हुआ है।

देश स्वतन्त्र हो गया है। अब हमलोगों को अपने आचरण से यह सिद्ध करना होगा कि हम वास्तव में स्वतन्त्रता के योग्य हैं। विदेशी लोगों ने व्यापारिक ईमानदारी द्वारा जो प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, वह सब हम भारतवासियों को भी अवश्य प्राप्त करनी होगी। नहीं तो फिर गुलामी में पड़ना होगा। ईमानदारी के बिना हम स्वतन्त्र नहीं रह सकते। हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है।

जनतन्त्र में जनता की इच्छा ही सर्वोपरि रहती है। हम राज्य को 'कर' देते हैं तो कोई कारण नहीं कि राज्य हमारी इच्छा (आयुर्वेदीय चिकित्सा की मांग) को पूरी न करे। हमलोगों को बहुत शीघ्र, दृढ़तापूर्वक, आयुर्वेद को अग्रसर करना है। प्राचीन-विज्ञान-राशि को वर्तमान विज्ञान-द्वारा अधिक उपयोगी बनाना है। हम भारतीयों की स्वास्थ्य-रक्षा तो आयुर्वेद द्वारा ही हुई है और आगे भी होगी। हमको यह सिद्ध करना है कि आयुर्वेद के बिना किसी का समूल नीरोग रहना नामुमकिन है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का प्रयत्न, आयुर्वेद को समुन्नत करके, भारतीयों को स्वस्थ्य और सबल बनाना है। आज तक भारतीय जनता ने हमारे प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया है। जब तक हमारा पवित्र उद्देश्य बना रहेगा, तब तक आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि सभी भारतवासी हमें प्रोत्साहन देते रहेंगे। परम पिता से प्रार्थना है कि वह हमें आयुर्वेद-द्वारा जनता की सेवा करने का और अधिक सुअवसर दें।

सर्वे च सुखिन: सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया:।



हमारा कारखाना केवल औषधि-निर्माता ही नही है। यह शुद्ध अर्थ में आयुर्वेदीय सस्था है। इसका प्रथम उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद को प्रतिसस्कार कर उसके स्वाभाविक मानव-कल्याणकारी गुणो, उसकी विशेषताओ और चिकित्साओ की जानकारी जनता को करा देना। औषधि और ग्रन्थ, दोनो इसके साधन है। इसलिये एक ओर जहाँ हम उत्तमोत्तम औषधि निर्माण-द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करते है, वहाँ दूसरी ओर इसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थो के प्रकाशन का भी समुचित प्रबन्ध करते है। जिन ग्रन्थो का प्रकाशन कर हम आयुर्वेद का भाण्डार भर रहे है उनकी प्रशसा मुक्तकण्ठ से समस्त देश की विद्वन्मण्डली ने की है। राजकीय शिक्षण-सस्थाओ तथा विश्वविद्यालयो ने हमारे आयुर्वेदीय-प्रकाशन को पाठ्यक्रम-पुस्तको मे श्रेष्ठ स्थान दिया है। साथ-ही-साथ (कम-से-कम)—यानी लागत-मात्र, मूल्य पर ऊँचे दर्जे के आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार-प्रसार करना वैद्यनाथ आयुर्वेदीय-प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है। यही कारण है कि वैद्यनाथ-प्रकाशन से निकली हुई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तको का आज घर-घर में प्रचार है। हमारे "आरोग्यप्रकाश" को तो जनता ने इतना पसन्द किया है कि इसके नौ सस्करणो में ८३००० प्रतियाँ छप कर बिक चुकी हैं और दसवाँ सस्करण में १५००० फिर छापा गया है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों के भी कई-कई सस्करण छप चुके है।

आरोग्य प्रकाश—(आरोग्य, स्वच्छता और चिकित्सा पर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ) भारत-प्रसिद्ध श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर वैद्यराज प० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्ष में बडी मेहनत से स्वय इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारो रुपयो का काम करता है। व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वार्द्ध के विषयो को पढ कर और तदनुसार चलकर सदा बीमार रहने वाला रोगी भी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगो की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बडी ही सरल भाषा में लिखे है, जिनको पढकर विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे, दोनो, समानरूप से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओ के जो नुस्खे लिखे गये हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी भी फेल न होनेवाले और

शास्त्रानुमोदित है। शहर हो या देहात—सब जगह, इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुंचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक मे बहुत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता है। इसके नौ संस्करणों में ८३००० प्रतियां छप कर बिक चुकी है और दसवाँ संस्करण १५ हजार का फिर छापा गया है। इससे इसकी लोक-प्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नही है, यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४८० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य सिर्फ २), डाक खर्च ।।=), हमारी चार निर्माणशालाओ, १०१ बिक्री-केन्द्रो एवं १५००० एजेंसियो से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाक खर्च नही लगेगा।

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर—(सचित्र रॉयल अठपेजी, विलायती पेपर) लेखक—वैद्य रणजितराय, वाइस प्रिन्सिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित "शरीर-क्रिया-विज्ञान" का देश में सर्वत्र ही समादर हुआ था और प्राय समस्त हिन्दुस्तान के आयुर्वेदिक कॉलेजो के पाठ्य-क्रम में पुस्तक नियत हो गयी थी। उसी ग्रन्थ का यह संशोधित और परिवर्द्धित तृतीय संस्करण है।

आयुर्वेद की इस पुनरुत्थान-वेला मे वैद्य रणजितराय, जो स्तुत्य और ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य कर रहे है, उसे आज हिन्दुस्तान में कौन नही जानता ? आयुर्वेद के संशोधन को दृष्टि मे रख कर उन्होने जो अनेक ग्रन्थ लिखे है, उन्ही में से एक ग्रन्थ **आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर** है।

प्रस्तुत संस्करण में पाठ्य विषय में तो पहले संस्करण की अपेक्षा बहुत परिवर्तन किये ही गये है, अनेक एकरंगे चित्रो की भी संख्या मे वृद्धि कर विषय को अधिक सुबोध बनाकर पुस्तक की उपयोगिता में और भी अधिक वृद्धि कर दी गयी है। मूल्य—११)

आयुर्वेद-सार-संग्रह—(दूसरा संस्करण) हिन्दी मे ऐसी आयुर्वेदीय पुस्तको की बहुत कमी थी जिनमे एकत्र-रोग-विचार के साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझा कर, सरल भाषा मे, दिया गया हो। इससे सर्वसाधारण पाठको के सामने बहुत दिक्कतें आती रहती थी। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेदीय साहित्य की इसी कमी को दूर करने का सफल प्रयत्न किया गया है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा बनायी जानेवाली सभी दवाओ की निर्माण-विधि तथा उनके गुण-धर्म और प्रयोग-विधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातो का सविस्तार वर्णन सरल हिन्दी भाषा में किया

गया है। रस-रसायन, अर्क आदि वनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं जिनके देखने से औषध-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। डिमाई साइज के ११०० पेज के ग्रन्थ का मूल्य—७) रु० मात्र है।

आयुर्वेदीय-पदार्थ-विज्ञान—लेखक वैद्य रणजितराय, वाइस प्रिन्सिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत। आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान में अन्य दर्शन ग्रन्थों से क्या विशेषता है और क्यों है, इस पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेदीय-पदार्थ-विज्ञान के सभी विषय सरल भाषा में समझाये गये हैं।

आधुनिक अन्वेषित मूल तत्त्वों के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वों का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिये, का यथास्थान विद्वान् लेखक ने स्वमत-प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय-पदार्थ विज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयों का आधारभूत है, अत उसका अध्यापन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विशद विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है। मूल्य—६)

उपचार-पद्धति—(पचम सस्करण) सर्व-साधारण गृहस्थ के सैकडो रुपये प्रति वर्ष वच सकते है, यदि उन्हें उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान भी हो जाय, इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर इस पुस्तक का प्रकाशन हमने किया है। इसमें रोगियों की परिचर्या का विवेचन दिया गया है। मूल्य—।=)

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य—किशोर बालकों को हस्तमैथुन-रूपी सर्वस्व नाशकारी व्याधि से वचाने के लिये सफल उद्योग किया गया है। पृष्ठ सख्या ११०, मूल्य—।≡)

त्रिदोष तत्त्व-विमर्श—लेखक-आयुर्वेद-वृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव-शरीर के अनेकानेक द्रव्यों में वात-पित्त-कफ प्रधान है, इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोष-तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के वाद त्रिदोषतत्त्व और पचमहाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के-जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक उपादेय है। मूल्य—२॥=)

पदार्थ-विज्ञान—(देश भर की आयुर्वेदीय सस्थाओं एव परीक्षा-समिति के पाठ्यक्रम मे स्वीकृत) लेखक—आयुर्वेद-वृहस्पति प० रामरक्ष पाठक, प्रिन्सिपल अ० शि० आयुर्वेदिक कॉलेज, वेगूसराय। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और द्वितीय अध्याय में स्वास्थ्य-सरक्षण तथा रोग के प्रतीकारार्थ उपयोग में आनेवाले पदार्थों का विवेचन

किया गया है। तृतीय अध्याय मे आयुर्वेद के मूल-भूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत-तत्त्वो की छानबीन की गयी है। चतुर्थ अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्व जन्मकृत पापो का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार आत्मा भिन्न-भिन्न योनि में प्रवेश कर अपने कर्मों का भोग करती है। मूल्य—३।।)

मानस-रोग-विज्ञान—इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक स्वर्गीय डा० बालकृष्ण-अमर जी पाठक ने बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय के आयुर्वेदिक कॉलेज के अध्यक्ष एव प्रधानाध्यापक के रूप में काफी कीर्ति प्राप्त की थी और एक उच्च कोटि के विचारक और उद्भट मनीषी के रूप मे आप सम्पूर्ण भारत मे सुप्रसिद्ध हो गये थे।

इस ग्रन्थ की रूप रेखा पूज्यपाद यादवजी ने तैयार की थी और इस विषय पर आयुर्वेदीय साहित्य मे खटकनेवाली जबर्दस्त कमी को पूरा करने के लिए डॉ० पाठक जैसे अनुभवी विद्वान् वैद्य को यह ग्रन्थ लिखने के लिए उत्साहित किया था।

आज के युग मे, जब कि काम, क्रोध आदि तथा मिरगी (अपस्मार), उन्माद, न्यूरेस्थीनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि मानसिक-रोग मनुष्य-जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे है, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देनेवाली है। अग्रेजी-भाषा के ज्ञाताओ का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अग्रेजी में है वैसा अन्यत्र नही है। किन्तु इस पुस्तक से उनके भ्रम का निवारण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। मूल्य—५।।) मात्र।

यूनानी-सिद्धयोग-संग्रह—यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते है। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे, आयुर्वेदीय नुस्खो की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते है। एक अनुभवी चिकित्सक से आयुर्वेदीय ढग से सस्कृत के विद्वान् वैद्यो के लिए हिन्दी मे यह ग्रन्थ लिखवाया गया है। चिकित्सको तथा सर्वसाधारण दोनो के लिये बहुत उपयोगी पुस्तक है। कीमत—२।।)

यूनानी-चिकित्सासार—ले० ठा० दलजीत सिंह वैद्य। यूनानी-चिकित्सा का हिन्दी भाषा मे विशद विवेचनयुक्त पुस्तक। मूल्य—४।।)

सिद्धयोग-संग्रह—(तीसरा सस्करण) आयुर्वेदोद्धारक वैद्यवाचस्पति श्री यादव जी त्रिकम जी आचार्य के कर-कमलो से लिखा हुआ यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ-रत्न के पढने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नही है। डिमाई ८ पेजी २०० पेज के ग्रन्थ का मूल्य—२।।।)
